दक्षिण भारत का इतिहास

(६०० से १३०० ई. प. तक)

डॉ. विशुद्धानन्द पाठक





वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग
मानव संसाधन विकास मंत्रालय
(माध्यमिक शिक्षा और उच्चतर शिक्षा विभाग) भारत सरकार

हिन्दी ग्रन्थ अकादमी ग्रन्थांक : ३११

दक्षिण भारत का इतिहास

(६००-१३०० ई. प. तक)

डॉक्टर विशुद्धानन्द पाठक
पूर्व प्रोफेसर, इतिहास
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान
(हिन्दी ग्रन्थ अकादमी प्रभाग)
राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन, हिन्दी भवन
६, महात्मा गांधी मार्ग, हजरतगंज, लखनऊ

प्रकाशक
डॉ. सुधाकर अदीब
निदेशक
उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान,
लखनऊ

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग मानव संसाधन विकास मंत्रालय (माध्यमिक शिक्षा और उच्चतर शिक्षा विभाग) भारत सरकार की विश्वविद्यालय स्तरीय ग्रन्थ निर्माण योजना के अन्तर्गत हिन्दी ग्रन्थ अकादमी प्रभाग, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान द्वारा प्रकाशित।

प्रथम संस्करण : २००६ ई.
द्वितीय संस्करण : २०१३ ई.
तृतीय संस्करण : २०१५ ई. ~~2001~~ 2015

प्रकाशित प्रतियाँ : ५००

मूल्य : ₹ २१०=००

ISBN : 978-93-82175-55-1

मुद्रक
रोहिताश्व प्रिण्टर्स
२६८, ऐशबाग रोड, लखनऊ
फोन : २६६२६७३

प्रकाशकीय

एक बड़े क्षेत्रफल में फैला यह भारत देश विभिन्न संस्कृतियों और परम्पराओं का देश है। क्षेत्र विशेष की संस्कृति की जानकारी दूसरे क्षेत्रवासियों को भी हो इस दिशा में और संस्कृतियों के सम्बन्ध में जानकारी के आदान-प्रदान हेतु अनेक साधन उपलब्ध कराने का प्रयास भी किया। स्वतंत्रता के बाद से ही राष्ट्र निर्माताओं ने इस दिशा में गहराई से विचार किया। ऐसी समस्त गतिविधियों का लक्ष्य एक ही था और है कि देश के विभिन्न प्रदेशों के नागरिक न केवल एक दूसरे की संस्कृति, इतिहास, परम्परा और साहित्य के बारे में अधिकाधिक जानें, बल्कि इस महान कार्य में अपना योगदान भी दे सकें।

इस क्रम में जाने-माने इतिहासकार डॉ. विशुद्धानन्द पाठक ने अत्यन्त सराहनीय कार्य किया है और दक्षिण भारत का इतिहास (६०० से १३०० ई. प. तक) जैसी पुस्तक लिखकर उत्तर भारत के जागरूक पाठकों और शोधछात्रों को देश के उस क्षेत्र के बारे में अधिकाधिक जानकारी उपलब्ध करायी, जिसके बारे में अरसे तक हिन्दी में किसी स्तरीय पुस्तक का लगभग पूरी तरह अभाव था। यह अभाव कितना गम्भीर था, इसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि १६२६ में प्रो. नीलकान्त शास्त्री ने 'ए हिस्ट्री ऑफ साउथ इण्डिया' नामक जो पुस्तक लिखी थी, देश के विश्वविद्यालयों में अगले कई दशकों तक उसी को मानक पुस्तक के रूप में मान्यता मिलती रही। हिन्दी में कोई स्तरीय पुस्तक न होने के कारण हिन्दी भाषा भाषियों को विशेष रूप से इस अभाव का दंश झेलना पड़ा। वास्तव में डॉ. विशुद्धानन्द पाठक द्वारा विरचित पुस्तक 'दक्षिण भारत का इतिहास' से उत्तर और दक्षिण के बीच हिन्दी में एक ऐसा सेतु तैयार हुआ है, जिससे सभी को एक दूसरे के बारे में सुगमतापूर्वक सारगर्भित जानकारी उपलब्ध होती है।

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान की हिन्दी ग्रन्थ अकादमी प्रकाशन योजना के अन्तर्गत प्रकाशित दक्षिण भारत का इतिहास पुस्तक १६ अध्यायों में विभक्त है जिसके माध्यम से इतिहास की गहराई और समय की सच्चाई को जाना समझा जा सकता है। पुस्तक का पहला संस्करण जिज्ञासु पाठकों और शोध छात्रों के बीच सराहा गया, लोकप्रिय हुआ। उसी के परिणामस्वरूप पुस्तक का यह तीसरा संस्करण आपके समक्ष है। आशा है कि विद्वतजनों के बीच दक्षिण भारत का इतिहास पुस्तक का यह तीसरा संस्करण भी पूर्व की भाँति उपयोगी पाया जाएगा और सराहा जायेगा।

डॉ. सुधाकर अदीब
निदेशक

निवेदन

भारत विभिन्न धर्मों, संस्कृतियों, भाषाओं और रीति-रिवाजों का देश है और इसी के कारण हमारी संस्कृति अनेकता में एकता के लिए पहचानी जाती है। इसके विकास में विभिन्न संस्कृतियों ने असाधारण योगदान दिया है और हमारे संविधान में इसीलिए सभी के प्रति समान रूप से आदर भाव व्यक्त किया गया है, उन्हें अपनाया गया है और उनके बीच किसी भी तरह का भेदभाव नहीं किया गया है। जो इसमें मिल गई नदियाँ वे दिखायी नहीं देतीं, महासागर बनाने में मगन एहसान सबका है।

एक भारतीय होने के नाते हमें सभी संस्कृतियों, धर्मों और रीतिरिवाजों के सम्बन्ध में हमारी जिज्ञासु प्रवृत्ति होना स्वाभाविक है। दक्षिण भारतीय इतिहास और संस्कृति के बारे में अभी पिछली शताब्दी के अंत तक तथ्यपूर्ण जानकारी हिन्दी में उपलब्ध नहीं थी। विशेषकर उच्च शिक्षा के क्षेत्र में यह अभाव हिन्दीभाषी लोगों को बहुत व्यथित करता रहा है। यहाँ तक कि सुप्रसिद्ध इतिहासकार विंसेंट स्मिथ ने १६२४ में लिखी गयी अपनी चर्चित पुस्तक 'अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया' में लिखा है कि इतिहासकारों ने प्राचीन भारत के बारे में इस तरह लिखा है मानो उनके लिए दक्षिण भारत का अस्तित्व ही न हो। बहरहाल, बाद में यह जड़ता टूटी और आज समान रूप से दक्षिण भारत का इतिहास भी हिन्दीभाषी छात्रों, विद्वानों और जागरूक पाठकों के बीच प्रचुरता में उपलब्ध है।

दक्षिण भारत के इतिहास को हिन्दी में उपलब्ध कराने के लिए विशेष रूप से जाने-माने इतिहासकार डॉ. विशुद्धानन्द पाठक ने स्तुत्य कार्य किया है। उन्होंने उत्तर भारत का राजनीतिक इतिहास (६०० से १२०० ई.) लिखकर विद्वतजनों के बीच जब पिछली शताब्दी के अन्तिम दशकों में अपार लोकप्रियता बटोरी थी, तभी उन्होंने यह निश्चय कर लिया था कि दक्षिण भारत के इतिहास पर भी ऐसी ही पुस्तक सामने आनी

चाहिए। 'दक्षिण भारत का इतिहास' (६०० से १३०० ई. प. तक) के रूप में यह पुस्तक उनकी अन्तिम दिनों की साधना का प्रतिफल है। निश्चय ही उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान के लिए इसका प्रकाशन एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।

उल्लेखनीय है कि ६०० से १३०० ई. प. तक का कालखण्ड वह कालखण्ड था, जब दक्षिण भारत के साथ उत्तर भारत के सम्बन्ध विशेष रूप से विकसित हुए और दोनों संस्कृतियों ने एक दूसरे से बहुत कुछ सीखा। डॉ. विशुद्धानन्द पाठक ने अपनी इस पुस्तक दक्षिण भारत का इतिहास (६०० से १३०० ई. प. तक) में जिस तरह से दक्षिण भारतीय कन्नड़, तमिल और तेलुगु जैसी भाषाओं के विकासक्रम को ही नहीं, विभिन्न धर्मों और समाज के विभिन्न क्षेत्रों को संक्षिप्त रूप से ही सही, इस पुस्तक में संजोया है वह प्रशंसनीय है। डॉ. विशुद्धानन्द पाठक की इस पुस्तक को भी उनकी अन्य पुस्तकों की तरह अपार लोकप्रियता मिली और परिणामस्वरूप इस पुस्तक का यह तीसरा संस्करण प्रकाशित हो रहा है। आशा है, विद्वतजनों के बीच यह तीसरा संस्करण भी लोकप्रिय होगा, उनकी ज्ञानवृद्धि में और अधिक सहायक होगा।

उदय प्रताप सिंह

कार्यकारी अध्यक्ष

प्राक्कथन

लगभग तीन-चार दशकों पूर्व (१९७३ ई० में) "उत्तर भारत का राजनीतिक इतिहास ६००-१२०० ई०" नामक कृति के प्रकाशित होने के बाद ज्यों-ज्यों पाठकों द्वारा उसकी मांग बढ़ती गयी, त्यों-त्यों हम लोगों से ये आग्रह भी बढ़ते गये कि ठीक उसी तरह की एक कृति दक्षिण भारतीय इतिहास पर भी प्रस्तुत की जाय। इन दोनों ही क्षेत्रों का सम्बद्ध इतिहास प्राय: सभी विश्वविद्यालयों की स्नातक और स्नातकोत्तर कक्षाओं के पाठ्यक्रमों में संस्तुत है। किन्तु छात्रों और अध्यापकों की कठिनाई यह है कि दक्षिण भारतीय इतिहास के पठन-पाठन हेतु कोई भी बढ़िया पाठ्यपुस्तक उपलब्ध ही नहीं है। १९२९ ई० में स्वर्गीय प्रोफेसर नीलकान्त शास्त्री ने "ए हिस्ट्री ऑफ् साउथ इण्डिया" लिखी थी, जो सभी विश्वविद्यालयों में प्राय: एकाकी तौर पर पाठ्यपुस्तक के रूप में संस्तुत होती रही है। किन्तु प्रथमत: तो उसकी कालसीमा बहुत ही दीर्घावधिवाली है— प्रागैतिहासिक काल से विजयनगर साम्राज्य तक और दूसरे, उसके विषयों की व्यापकता इतनी अधिक है कि उसके ब्यौरे किसी भी एक विषय पर छात्रों के लिए आधे-अधूरे से अधिक नहीं प्रतीत होते। अत: वह न तो छात्रोपयोगी रह जाती है और न अध्यापकोपयोगी। पुन:, उत्तर भारतीय विद्यार्थिओं के सामने अंग्रेजी से दूर होते जाने की भी समस्या है। यद्यपि उस पुस्तक का हिन्दी अनुवाद (पटना) हो चुका है, वह अनुवाद न तो त्रुटिहीन है और न बोधगम्य ही है। १९वीं सदी में जॉन् फेथफुल् फ्लीट और रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर ने क्रमश: "डाइनेस्टीज़् ऑफ् दि कनारीज़ डिस्ट्रिक्ट्स् ऑफ् दि बाम्बे प्रेसीडेन्सी" तथा "दि हिस्ट्री ऑफ दि अर्ली डेकन" नामक दो पुस्तकें लिखी थीं। किन्तु तबतक स्रोतों का पूरा ज्ञान ही नहीं हो पाया था। अत: इन दोनों कृतियों का भी पाठ्यक्रमों में सस्तुत होना बहुत लाभप्रद अथवा विषयोचित नहीं रह पाता।

दक्षिण भारतीय इतिहास का लेखन मद्रास (चेन्नई) विश्वविद्यालय से तथा भारतीय पुरातत्त्व विभाग के दक्षिणी चक्रवाले सर्वेक्षणों और अभिलेखों के प्रकाशन के साथ प्रारंभ हुआ। इस क्षेत्र में अग्रणी थे प्रोफेसर कृष्णस्वामी अयंगार (आयंगर), नीलकान्त शास्त्री, वी० रामचन्द्र दीक्षितार और टे० वे० महालिंगम् आदि। पुरातत्त्व विभाग के हुल्ट्ज़् तथा वेंकैय्या आदि ने दक्षिण भारत से प्राप्त संस्कृत और तमिल आदि दक्षिण भारतीय भाषाओं में प्राप्त अभिलेखों का 'साउथ इण्डियन् इन्स्कृप्शन्स्' नामक प्रसिद्ध शोध पत्रिका के विभिन्न जिल्दों में प्रकाशन प्रारंभ किया। चेन्नई के अतिरिक्त एक दूसरा केन्द्र मैसूर में भी था, जो कर्नाटक और कुन्तल का एक अत्यन्त प्राचीन और जाग्रत विद्याकेन्द्र था। वहाँ से भी अभिलेखों का प्रकाशन लुई राइस और सिवेल आदि ने बहुत

बड़ी मात्रा में किया। कुछ ही दिनों पश्चात् 'ऐनुअल् रिपोर्ट्स् आन् साउथ इण्डियन् एपिग्राफी' नाम से एक दूसरा प्रकाशन भी मद्रास (चेन्नई) से प्रारंभ हुआ। उपर्युक्त सभी के माध्यम से स्रोतों की भरमार सी उपस्थित हुई।

दक्षिण भारतीय विद्वानों का सबसे बड़ा गुण यह था कि वे अंग्रेजी, संस्कृत, तमिल, तेलुगू और कन्नड़ आदि अनेक भाषाओं में, यहाँ तक कि उनके साहित्य में भी, पारंगत थे। अत: सभी प्रकार के स्रोतों के उपयोग में उन्हें महारत हासिल थी। नीलकान्त शास्त्री को दक्षिण भारतीय **इतिहासरूपी महाभारतलेखन** का वेदव्यास कहा जा सकता है। वहाँ का ऐसा कोई क्षेत्र नहीं, इतिहास–सम्बद्ध कोई विषय नहीं, जिनपर उन्होंने कोई न कोई ग्रंथ न लिखे हों। १९३३ ई० में प्रोफेसर अ० स० अल्तेकर ने "राष्ट्रकूटज़् ऐण्ड देयर टाइम्स्" नामक अपनी प्रसिद्ध कृति लिखी, जो आज भी प्रमुख संदर्भ बनी हुई है। १९६० ई० में गुलाम याजदानी के संपादकत्त्व में "दि अर्ली हिस्ट्री दि डेकन' नामक एक अत्यन्त ही प्रामाणिक और अद्यतन स्रोतों से भरा हुआ महाग्रंथ आया, जो महाराष्ट्र, कर्नाटक, आन्ध्र प्रदेश और कुन्तल का प्रामाणिक इतिहास उपस्थित करता है। किन्तु इन सभी ग्रंथों का समवेतरूप में ऐसा कोई एकीकृत ग्रंथरूप अभी भी न तो अंग्रेजी में आया है और न किसी भारतीय भाषा में, जो सारे ज्ञान को एक जगह समाहित करता हो। प्रस्तुत प्रयत्न हिन्दी भाषा के माध्यम से इस शून्य को दूर करने का ही एक उपक्रम है, जो विश्वविद्यालयीय और प्रतियोगी छात्रों के उपयोग हेतु है।

विषयों की पूर्णता की दृष्टि से इसमें प्रत्येक राजवंश के राजनीतिक इतिहास के बाद उसके प्रशासन और संस्कृति से सम्बद्ध ज्ञान को भी समाहार रूप में उपस्थित किया गया है। सम्बद्ध इतिहास को उपस्थित करते समय भरसक तैथिक क्रम के साथ ही साथ भौगोलिक क्रम का भी ध्यान रखा गया है। प्रारंभ में दक्षिणापथ–महाराष्ट्र, कर्नाटक, कुन्तल और आन्ध्रप्रदेश के राजवंशों के इतिहास को तिथिक्रमानुसार देने के बाद उन राज्यों के इतिहास के विवरण हैं, जो सुदूरदक्षिण-आधुनिक तमिलनाडु-में उत्पन्न हुए और कई सौ वर्षों तक वहाँ शासन करते रहे। पुस्तक में कुल १६ अध्याय हैं। दक्षिण भारत भारतीय कला का अजायबघर है। अत: पुस्तक का १५ वाँ अध्याय "दक्षिण भारतीय स्थापत्य और कला" के वर्णन की ओर उद्दिष्ट है। भारतवर्ष के इस प्रायद्वीपी भाग के सारे राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास के मूल में जो "आर्थिक और व्यापारिक गतिविधियाँ" थीं, उनका एक समाहार अन्तिम अध्याय में दिया गया है। पुस्तक के बीच में तीन परिशिष्ट हैं—एक परिशिष्ट रविकीर्त्ति रचित अहिहोड़ अभिलेख के मूल संस्कृत पाठ और उसके हिन्दी अनुवाद से सम्बद्ध है। दूसरा परिशिष्ट राष्ट्रकूट शासक प्रथम अमोघवर्ष के संजान ताम्रफलक के मूल संस्कृत पाठ और उसके हिन्दी रूपान्तर पर है। तीसरा परिशिष्ट ६००-१३०० ई० के बीच सम्बन्धित क्षेत्रों के मध्य उत्पन्न और विकसित कन्नड़, तेलुगू और तमिल भाषाओं के विकास और उनके प्रमुखग्रंथों का परिचय कराने के उद्देश्य से दिया गया है।

पुस्तक प्रणयन में लेखक किसी नयी शोध का दावा नहीं करता । उसका प्रयत्न इतना मात्र रहा है कि जो भी शोधकार्य अबतक हुए हैं, उनका, जहाँ तक संभव हो, अधिक से अधिक उपयोग करके विषय को बोधगम्यरूप में उपस्थितमात्र कर दिया जाय । तथापि, अनेक स्थलों पर की व्याख्याएँ लेखक की निजी हैं । जिन पूर्व लेखकों के अवदानों के उपयोग किये गये हैं, उन सबके नामसहित, संदर्भपूर्वक, उल्लेख स्थान-स्थान पर प्राप्त होंगे । अन्यों के मत देते हुए उनके नामोल्लेख अवश्य किये गये हैं । लेखक उन सभी पूर्वसूरियों के प्रति कृतज्ञ है । यदि विज्ञ पाठकों को प्रस्तावित विषय का क्रमबद्ध, तैथिक पूर्वापर सहित, संदर्भ प्रेरित, व्यतिरेकहीन, अपेक्षाकृत संपूर्ण परिचय, सिंहावलोकीरूप में प्राप्त हो सका तो हम अपना प्रयास सफल समझेंगे ।

पुस्तक की रचना के प्रेरक रहे हैं उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ के निदेशक श्री छेदालाल जी, संस्थान के ही संपादक श्री राजेश कुमार बैजल जी तथा प्रकाशन अधिकारी श्री अनिल मिश्र जी । विशेषत:, श्री बैजल जी के तथा श्री अनिल जी के तगाजे तो अनगिनत थे । मैं उन सबका आभारी हूँ । श्री बैजल जी और श्री अनिल मिश्र जी तो इससे पूर्व भी संस्थान से छपने वाली मेरी दो अन्य पुस्तकों ('प्राचीन भारतीय आर्थिक इतिहास') और ('प्राचीन भारत की आर्थिक संस्कृति') के प्रकाशन के समय से ही बहुत कर्त्तव्यशील रहे हैं । अत: उन्हें पुन: साधुवाद ।

लेखन के समय अनेक कठिनाइयाँ भी आयीं । यद्यपि लेखक के पास निजी रूप में अनेक संदर्भग्रंथ थे, तथापि अनेक पुराने ग्रंथों को विभिन्न पुस्तकालयों से ढूंढ़कर निकालना एक कठिन कार्य साबित हुआ । अधिकांश पुस्तकें ५० से ७५ साल पूर्व प्रकाशित हुई थीं, वे बाजार में उपलब्ध नहीं थीं और पुस्तकालयों के नियमानुसार या तो बाहर ले जायी नहीं जा सकती थीं अथवा वहाँ ही बेतरतीब, उपेक्षित रूप में, पड़ी थीं । पुरानी शोध पत्रिकाएँ तो बाहर दी ही नहीं जातीं । किन्तु इन्हें आवश्यकतानुसार प्राप्त करने का काम किया मेरी पुत्री डॉ० शुभा पाठक ने । विभिन्न पुस्तकालयों में बार बार जाकर, स्वयं खोजकर, कई पुस्तकों को उन्होंने विशेष अनुमति से प्राप्त किया । उन्होंने ही इस पुस्तक की शुद्ध प्रूफ रीडिंग भी की । प्रूफ रीडिंग के समय मेरी दृष्टि से ओझल हुई अनेक बातों की ओर भी उन्होंने ध्यान दिलाया । उनके इस परिश्रम हेतु धन्यवाद । डॉ० विभा त्रिपाठी, अध्यक्षा, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति और पुरातत्त्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, ने अपने विभागीय पुस्तकालय की कुछ प्राचीन शोध पत्रिकाओं से अभिलेखों की कुछ फोटो प्रतियाँ हमें उपलब्ध करायीं–अपनी विशेष अनुमति से । अत: हम उनका विशेषरूप से धन्यवाद करते हैं । इस अवसर पर मैं 'अमेरिकन् इन्स्टीट्यूट ऑफ् इण्डियन् स्टडीज़' नयी दिल्ली (गुड़गांव) के पुस्तकालयाध्यक्ष डॉ० जगदीश सिंह यादव जी का विशेष स्मरण करता हूँ । हमारे आग्रह पर उन्होंने एक अलभ्य पुस्तक की लगभग २५० पृष्ठों की फोटो प्रतियाँ मेरे पास भेज दीं । उनका तथा उनके पुस्तकालय

निदेशक श्री आर० महेन्दिदत्त तथा उपनिदेशक श्री यू० एस० मूर्ति के प्रति उचित आभार प्रदर्शन हेतु हमारे पास पर्याप्त शब्द नहीं हैं। यादव जी ने यदि मेरी सहायता न की होती, तो पुस्तक कदाचित् अपूर्ण ही रह जाती। अत: उन सभी का बार बार अभिनन्दन।

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान लखनऊ तथा महावीर प्रेस, वाराणसी के प्रबन्धक श्री राजकुमार जैन ने पुस्तक की बढ़िया और त्वरित छपाई की व्यवस्था की तथा इसे अत्यन्त शीघ्र प्रकाशित किया, इस हेतु उन्हें साधुवाद। श्री अनिल मिश्र, प्रकाशन अधिकारी, उ० प्र० हिन्दी संस्थान, ने वाराणसी में ही इसकी छपाई का प्रबन्ध कराकर भी मुझे उपकृत किया। अत: उन्हें पुन: धन्यवाद।

४७ ए, रवीन्द्रपुरी,
वाराणसी-५

विशुद्धानन्द पाठक

विषय सूची

(६००-१३०० ई० प०)

●

संकेत सारिणी

आर्के० सर्वे	—	दि आर्केलॉजिकल् सर्वे ऑफ् इण्डिया
आसरि०	—	ऐनुअल् रिपोर्ट ऑफ् दि आर्केलॉजिकल् सर्वे ऑफ् इण्डिया
इऐ०	—	इण्डियन् ऐण्टीक्वेरी
इलियट ऐण्ड डाउसन्	—	हिस्ट्री ऑफ् इण्डिया ऐज टोल्ड बाई इट्स् ओन् हिस्टोरियन्स्
इहिक्वा०	—	इण्डियन् हिस्टॉरिकल् क्वार्टर्ली
एइ० अथवा एपि० इण्डिका	—	एपिग्राफिया इण्डिका
एपि० कर्नाटिका	—	एपिग्राफिया कर्नाटिका
ऐनुअल् रिपोर्टस् या ऐनुअल् रिपोर्टस् ऑन् एपिग्राफी	—	ऐनुअल् रिपोर्टस् ऑन् साउथ इण्डियन् एपिग्राफी, मद्रास
कार्पस्	—	कार्पस् इन्स्कृप्शनम् इण्डिकेरम
चाऊ-कु-जुआ	—	चाऊ-कु-जुआ, हर्थ एफ् एण्ड रॉकहिल डब्ल्यू० डब्ल्यू०
जडिले०	—	जर्नल ऑफ् दि डिपार्टमेण्ट ऑफ् लेटर्स, कलकत्ता विश्वविद्यालय
पाटेसो०	—	पालि टेक्स्ट् सोसायटी, लण्दन
वाटर्स या टॉमस् वाटर्स	—	ऑन् यूवान्-च्वाङ्गस् ट्रैवेल्स् इन् इण्डिया
प्रचिद्वि	—	प्रबन्धचिन्तामणि, हिन्दी अनुवाद, हजारी प्रसाद द्विवेदी।

●

अध्याय १

प्रास्ताविक

दक्षिण भारतीय इतिहास का महत्त्व

भारतीय इतिहासलेखन का प्रथम क्रम ईस्ट इण्डिया कम्पनी और उसके बाद के वाइसरायों द्वारा चलायी जानी वाली प्रत्यक्ष अंग्रेजी हुकूमत के नौकरशाहों को यहाँ के प्रशासन को चलाने हेतु प्रशिक्षण के रूप में ही शुरू हुआ। अत्यन्त प्रारंभ में विलायत में बैठे बैठे विद्वानों द्वारा जो पुस्तकें लिखी गयीं, उनकी सोच साम्राज्यवादी पूर्वाग्रह की ही थी। क्रमश: यहाँ प्रशासन चलानेवाले अंग्रेज नौकरशाहों ने अपने को कुशल बनाते हुए यहाँ की संस्कृति, प्राचीन सभ्यता और साहित्य के ज्ञान द्वारा जो ग्रंथ लिखे, उनमें कुछ दृष्टि-परिवर्तन अवश्य हुए। संस्कृत, पालि और प्राकृत साहित्य के प्रकाशन, मूलग्रंथों की खोज और उनके अंग्रेजी अनुवादों के क्रम में वह सारा कुछ उजागर करने का प्रयत्न हुआ, जो इस देश की प्राचीन सभ्यता और इतिहास को विवृत करने में सहायक साबित हुआ। फिर भी जोर उत्तर भारतीय इतिहास पर ही अधिक रहा। प्राचीन भारतीय इतिहास की प्रथम पाठ्यपुस्तक विंसेण्ट स्मिथ ने १९२४ ई० में लिखी–**अर्ली हिस्ट्री ऑफ् इण्डिया**। उन्होंने कहा–''प्राचीन भारत के अबतक के इतिहासकारों ने इतिहास यों लिखा है, मानों दक्षिण का अस्तित्व ही न हो।'' कारण बताते हुए उन्होंने मुख्यत: स्रोतों के अभाव का उल्लेख किया। कहा कि ''उत्तर भारत के अभिलेख दक्षिण भारत के मुकाबले अधिक पूर्ण हैं। दक्षिण भारत के सम्बन्ध में छठीं शताब्दी से पूर्व का वृत्तान्त निश्चितरूप से बहुत ही कम ज्ञात है, जब कि हिन्दुस्तान का इतिहास उससे १२ शताब्दियों पूर्व तक जा सकता है।''

किन्तु स्मिथ ने अपनी पुस्तक आज से लगभग एक सौ वर्षों पूर्व लिखी थी। तबसे हिमालय और विन्ध्याचल जैसे पर्वतों से निकलने वाली सैकड़ों नदियों का न जाने कितना पानी अरब और हिन्द महासागरों में समा चुका है। दक्षिण भारत सम्बन्धी ज्ञान का एक महान् पुञ्ज उपस्थित हो चुका है और वहाँ के भी हजारों-हजार अभिलेखों का अंग्रेजी, तमिल, तेलुगू, कन्नड़ और मलयालम में सम्पादन और प्रकाशन भी हो चुका है। किन्तु संभवत: जितने प्रकाशित हुए हैं, उतने ही अब भी अप्रकाशित रहते हुए सरकारी और राजकीय लेखागारों में छिपे हुए अन्धकार के गर्त में हैं। भारतीय भूक्षेत्र के दक्षिणापथ और सुदूर दक्षिण वाले भूभाग इस देश के सर्वाधिक प्राचीन बसने वाले क्षेत्रों में हैं। वहाँ का प्रागैतिहास, आद्यैतिहास और प्राचीन पाषाणयुगीन, मध्य पाषाणयुगीन एवं नूतन पाषाणयुगीन एवं महापाषाणीय इतिहास अब भारी मात्रा में उद्घाटित हो चुका है। उस क्षेत्र का विदेशी

व्यापार कदाचित् युगों से अरब, फारस, मध्यपूर्व, अफ्रीका और उनसे होते हुए योरोप तक प्रारंभ हो चुका था। दक्षिण भारत को प्राप्त होने वाले साल भर में दो बार के मानसूनों- दक्षिण-पश्चिमी और दक्षिण–पूर्वी- ने उसकी नदियों और तालाबों को भरते हुए पश्चिमी और पूर्वी तटों की उपजाऊ भूमि को शस्यसम्पदा से युक्त किया तथा तीनों तरफ सुलभ समुद्रों से प्राप्त रत्नों ने व्यापार और अन्तरदेशीय सम्बन्धों को आसान बना डाला था।

६००ई० पश्चात् के इतिहास का महत्त्व

उत्तर भारत में महान् गुप्त साम्राज्य के अवसान के साथ राजनीतिक प्रभाव का परिदृश्य धीरे-धीरे विंध्याचल के आगे दक्षिणापथ वाले क्षेत्रों में खिसकने लगा, जहाँ बादामी और कल्याणी के चालुक्यों और मान्यखेट के राष्ट्रकूटों की सत्ताओं ने अनेक नयी राजनीतिक और सांस्कृतिक प्रवृत्तियों को जन्म दिया। विंध्यक्षेत्र के दक्षिण-पश्चिम की दोनों ही दिशाओं में जहाँ साम्राज्यवाद के बीज पनपते रहे, वहीं संस्कृत के साथ-साथ कन्नड़, तेलुगू और तमिल जैसी स्थानीय भाषाओं का विकास भी प्रारंभ हो गया। वे धीरे-धीरे वहाँ की आम बोलचाल की भाषाएँ हो गयीं। एक ओर संस्कृत और दूसरी ओर ये स्थानीय अथवा देशज भाषाएँ उत्तर और दक्षिण के बीच अनेक प्रकार के सांस्कृतिक आदान-प्रदानों की वाहक बनीं। प्रायः इसी समय विंध्यक्षेत्रों में ही मंदिर निर्माण की वह बेसर (मिलीजुली) शैली पनपी, जो उत्तर भारतीय नागर शैली और दक्षिण भारतीय द्राविड़ शैली के बीच वास्तुकला के क्षेत्र में एक सेतु के रूप में उभरी। स्पष्टतः, स्थानीय संस्कृतियों का संगम संस्कृति वाली संस्कृति के साथ होने लगा। इसका सर्वाधिक स्पष्टरूप दक्षिण भारतीय उन चार भाषाओं के उद्गम और विकास में दिखायी देता है, जिनका प्रवाह संस्कृत भाषा के साथ साथ ही दक्षिणापथ और सुदूर दक्षिण में दिखायी देता है–कर्नाटक में कन्नड़, आंध्र में तेलुगू और वहाँ के चोड़ शासकों के अधीन तमिल, केरल के क्षेत्रों में मलयालम और धुर दक्षिण के चोड़, पाण्ड्य और पल्लव क्षेत्रों में तमिल। छठीं शती के बाद इन भाषाओं में लिखे जाने वाले अभिलेखों और साहित्यिक कृतियों से यह स्थिति स्पष्ट हो जाती है।

यहाँ यह आवश्यक प्रतीत होता है कि दक्षिणापथ और दक्षिण भारत के गुप्तोत्तर राजनीतिक परिदृश्य की कुछ बहिर्रेखाएँ खींची जाँय। सबसे पहले तो यह दिखायी देता है कि दक्षिणापथ और सुदूर दक्षिण की राजनीतिक सत्ताएँ राजनीतिक वर्चस्व के लिए प्रायः सर्वदा ही आपस में भिड़ती रहीं। इन्हें दो साम्राज्यों के बीच संघर्ष और कभी तीन-तीन साम्राज्यों के बीच संघर्ष की संज्ञाएँ दी गयी हैं। बादामी के चालुक्य शासक द्वितीय पुलकेशिन् ने काञ्ची के पल्लव शासकों के विरुद्ध अनवरत युद्धों का जो क्रम प्रारंभ किया, वह लगभग एक सौ वर्षों तक चलता रहा और अन्ततः उस प्रथम चालुक्य सत्ता के अवसान का वही संघर्ष एक प्रमुख कारण भी बना। पूर्व दिशा में आन्ध्र के बहुत बड़े भागों सहित धुर दक्षिण में पाण्ड्यों और चोड़ों की सत्ताएँ थीं। दसवीं शताब्दी के बाद

तो चोड़ सत्ता बहुत ही शक्तिशाली हो गयी और पल्लवों को उनसे भी लोहा लेना पड़ा। इस प्रकार पल्लव उत्तर और दक्षिण दोनों ही दिशाओं से होने वाले आक्रमणों से त्रस्त रहने लगे। वास्तव में इन युद्धों की पृष्ठभूमि वहाँ की भौगोलिक बनावट में छिपी थी। पश्चिम दिशा में समुद्र को छूने वाले चालुक्य क्षेत्र पठारी और पहाड़ी थे, जहाँ विदेशी व्यापार की थोड़ी बहुत सुविधाएँ तो थीं, किन्तु खेतीबारी वाले उद्योगों की संभावनाएँ कम थीं। इसके विपरीत पूर्वी और दक्षिणी समुद्र तट के वे क्षेत्र थे जो धान सहित कृषिक उत्पत्ति के विशाल केन्द्र थे और पश्चिम दिशा से निकलकर पूर्वी समुद्र में गिरने वाली, तुंगभद्रा, कृष्णा, गोदावरी और कावेरी जैसी नदियों द्वारा लायी गयी मिट्टी से बने उपजाऊ मैदानों के कारण शस्यश्यामल और धनसम्पन्न थे। गोदावरी और कृष्णा नदियों के खालों को आत्मायत्त करने की कोशिशें ही उपर्युक्त सत्ताओं के बीच सैनिक टकरावों के कारण सिद्ध होती थीं। वेंगी का राज्य इन दोनों नदियों के बीच में पड़ता था और वह रायचूर के प्रसिद्ध दोआब और भीतर के जमीनी प्रदेशों के बीच में स्थित था। इस प्रकार इन तीनों राज्यों के बीच होने वाले संघर्षों का स्वरूप जितना राजनीतिक था, उतना ही आर्थिक भी था। इसी कारण वह संघर्ष सदियों तक चलता भी रहा। भारतीय उपमहाद्वीप का पूर्वी सामुद्रिक किनारा ताम्रलिप्ति से लेकर नागपट्टिनम् और कन्याकुमारी तक दक्षिणपूर्व एशिया के अन्यान्य देशों तथा चीन से होने वाले व्यापार का भी केन्द्र था, जिससे होने वाली आय और समृद्धियाँ सभी राज्यों को ललचाती थीं।

वाकाटक राजाओं के बाद दक्षिणापथ में जिन शासक वंशों ने अपने पाँव जमाये, उनमें बादामी से शासन करने वाले चालुक्य पहले थे। किन्तु उनका मुख्य अधिकार क्षेत्र पहाड़ी और पठारी दक्षिण-पश्चिमी समुद्री तट के पास था, जो आधुनिक महाराष्ट्र और कर्नाटक में पड़ता था, उनके पूर्व में सालंकायनों का राज्य था तथा बाद में पूर्वी चालुक्यों का राज्य हुआ करता था, जो कृष्णा और गुण्टूर जिलों (आंध्र प्रदेश) में अधिकारस्थ थे। वहीं के एक छोटे से क्षेत्र पर ऐक्ष्वाकुओं ने भी शासन किया। इन क्षेत्रों के मुख्य नगर थे नागार्जुनिकोण्डा और धरणिकोट्ट, जो प्रसिद्ध बौद्धकेन्द्र थे। कर्नाटक के निचले भागों पर कदम्बों, नोल(ड़)बों और गंग राजाओं के अधिकार थे। उड़ीसा में पूर्वी गंगों का राज्य था। इन शासकों में अनेक अपने को मूलतः ब्राह्मण होने का दावा करते थे, जो क्षत्रिय कर्मों में लग जाने के कारण **ब्रह्मक्षत्र** नामक एक नवीन जातिपरंपरा और सामाजिक सम्मिश्रण अथवा गतिमानता (मोबिलिटी) के जनक माने जा सकते हैं।

पूर्वी दिशा का समुद्री किनारा और कृष्णा एवं गोदावरी नदियों के मुहाने के पास पड़ने वाला क्षेत्र पहले वाकाटकों के अधिकार में था। पर बाद में वह ऐक्ष्वाकुओं के कब्जे में चला गया। पुनः, उसपर काञ्ची के पल्लवों ने अधिकार कर लिया। उन्होंने बादामी के चालुक्य क्षेत्रों के दक्षिण में पड़ने वाले कदम्ब क्षेत्रों को भी अपने राज्यक्षेत्र में आत्मसात कर लिया।

काञ्ची से शासन करने वाले प्रारंभिक पल्लवों का राज्य बहुत छोटा था। तमिलनाडु पर उनका अधिकार बाद में ही स्थापित हुआ। उनकी उत्पत्ति क्या थी, इसपर बहुत से विवाद हैं। परन्तु उनके संस्कृत भाषा में प्रकाशित किये जाने वाले अभिलेख तथा उनके द्वारा अश्वमेध यज्ञों के सम्पादन के उल्लेख जैसी बातें इस बात की ओर इंगित करती हैं कि उनका मूल स्थानीय होते हुए भी वे उत्तरी भारत की संस्कृत वाली संस्कृति के रंग में रंगे हुए थे। इक्ष्वाकु राजाओं की तरह उन्होंने जंगलों को साफकर कृषि विस्तार को उत्साहित किया और धीरे-धीरे उनका राज्य क्षेत्र एक संपन्न क्षेत्र हो गया। इसी कारण पल्लव राज्य अन्य शक्तिशाली राज्यों की गृद्धदृष्टि का शिकार होता रहा और उसपर बराबर कई ओर से धावे होते रहे।

बाद के पल्लव राजाओं में प्रथम महेन्द्रवर्मन् (६००-६३० ई० प०) के समय से पल्लव साम्राज्य का वह युग प्रारंभ हुआ जो राजनीति, शासन, कला और वास्तु के उन्नयन, साहित्यिक कर्तृत्त्व में अगुआ और तत्कालीन अन्तरराज्यीय राजनीति में प्रमुख हिस्सेदार साबित हुआ। प्रारंभिक तमिल संस्कृति के भी वे उन्नायक थे। उत्तर में बादामी के चालुक्य शासक द्वितीय पुलकेशी और कनौज के हर्षवर्धन उसके समकालिक थे, जिनमें पुलकेशी उसका सैनिक प्रतिद्वन्द्वी सिद्ध हुआ। इन दोनों के संघर्ष का मूल कदाचित् वेंगी पर अधिकार बनाये रखने की इच्छा में निहित था। चालुक्य-पल्लव सैनिक टकराव का यह प्रारंभ अगली कई पुश्तों तक चलता रहा। कभी चालुक्य राजे काञ्ची पर चढ़कर उसे लूटते और अस्थायी रूप से अधिकृत करते रहे और कभी पल्लव शासक वातापी पर अस्थायी अधिकार करते रहे।

बादामी के चालुक्य शासकों के उत्तराधिकारी हुए मान्यखेट के राष्ट्रकूट, जिनके प्रथम शासक दन्तिदुर्ग ने लगभग ७५३ ई० के आसपास इस राज्य की स्थापना की। आगे चलकर ध्रुव, तृतीय गोविन्द, अमोघवर्ष, द्वितीय इन्द्र और तृतीय कृष्ण जैसे शक्तिशाली राष्ट्रकूटों की एक ऐसी सरणि इस वंश में आगे बढ़ी, जो बार-बार अपने सैनिक धावों के माध्यम से उत्तर भारतीय राजनीति में हस्तक्षेप करती[१] रहीं और बंगाल-बिहार के पाल शासकों और कनौज के गुर्जर प्रतीहार शासकों को सैनिक चुनौतियाँ देती रही। उद्देश्य संभवत: यह था कि उपर्युक्त दोनों ही उत्तर भारतीय सत्ताओं को दबाते हुए अवन्ति-गुजरात के उन क्षेत्रों का जो सारा व्यापार पश्चिम के देशों-अरब, फारस और उत्तरी अफ्रीका अथवा-दक्षिणी योरोप, से होता था उस व्यापार मार्ग को अपने लिए सुरक्षित रखा जाय। यह इस तथ्य से भी समझा जा सकता है कि अरबों ने राष्ट्रकूट राज्य के समुद्रतटीय क्षेत्रों में अपनी बस्तियाँ बसा ली थीं, अपनी मस्जिदें बना ली थीं, अपनी व्यक्तिगत (धार्मिक) विधियों का वे पालन करते थे और उन्हें राष्ट्रकूट शासकों की ओर से पूरी धार्मिक

१. विशुद्धानन्द पाठक, उत्तर भारत का राजनीतिक इतिहास, अध्याय ५, पृष्ठ १३५ और आगे।

स्वतंत्रताएँ प्राप्त[१] थीं। राष्ट्रकूटों के उत्तर भारतीय धावे आगे चलकर कल्याणी के परवर्ती चालुक्य शासक षष्ठ विक्रमादित्य के सैनिक अभियानों या फिर बहुत आगे होने वाले मराठों के सैनिक धावों और उनके द्वारा **चौथ** और **सरदेसमुखी** नामक करों के रूप में आर्थिक उगाही के पूर्व और प्राथमिक रूप ही थे।

नवीं शताब्दी के आते–आते पाण्ड्यों और उनके सामन्त अथवा करद चोड़ों की सामूहिक सत्ता ने पल्लवों को धराशायी कर दिया। धीरे–धीरे दक्षिण की प्रमुख सत्ता चोड़ों के हाथ में चली गयी और चोड़मण्डलम् उनका केन्द्र बन गया। पूर्वी तट पर बसे हुए तंजाऊर से पश्चिम में कोरोमण्डलम् के किनारों तक उनका क्षे‌त्र फैल गया। इस समय इनके संघर्ष मान्यखेट के राष्ट्रकूटों और पश्चिमी चालुक्यों से होते रहे, जो कल्याणी की राजधानी से शासन करते थे और जिनका सर्वशक्तिशाली शासक था षष्ठ विक्रमादित्य (१०७६-११२६ ई०)। देवगिरि के यादव और आन्ध्र प्रदेश के काकतिय शासक भी उनसे झगड़ते रहे। दोरसमुद्र के होयसड़ शासक तथा मदुरै के पाण्ड्य शासक भी उनके शत्रु ही थे तथा चोड़ सत्ता के साम्राज्य रूप धारण करने के पूर्व इन सबसे चोड़ों के सतत् संघर्ष चलते रहे। किन्तु उत्तर में कल्याणी के चालुक्य शासकों एवं राष्ट्रकूट शासकों के आपसी संघर्षों के कारण चोड़ों को बहुत राहत मिली और उन्होंने अपने वे पैतृक क्षेत्र पुन: वापस पा लिये, जिन्हें राष्ट्रकूटों ने उनसे छीन लिया था। अन्तत:, प्रथम राजराज (९८५-१०१४ ई०) के समय चोड़ सत्ता की साम्राज्य के रूप में स्थापना के साथ चोड़ वर्चस्व का वह अध्याय प्रारंभ हुआ जो उत्तर प्राचीन भारतीय इतिहास का एक क्लासिकी (शास्त्रीय) अध्याय है। उस साम्राज्य सत्ता की चर्चा आगे के सम्बद्ध अध्यायों में प्राप्त होगी।

दक्षिण भारतीय भाषाएँ

भारतीय भाषाओं में संस्कृत नि:सन्देह सबसे पुरानी है। किन्तु तमिल कदाचित् उससे कम पुरानी नहीं है। पाणीनीय संस्कृत (क्लासिकल् = शास्त्रीय संस्कृत) सभी उत्तर भारतीय भाषाओं की जननी है। किन्तु तमिल मूलत: संस्कृत से प्रभावित होते हुए भी सुदूर दक्षिण की शुद्ध उपज है। उसका मूलरूप संगम साहित्य के प्रथम दो युगों से ज्ञात है, जो पारंपरिक और अतैथिक है। किन्तु उस संगम साहित्य का तृतीय युग पूर्णत: ऐतिहासिक है और लगभग दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व से प्रारंभकर तीसरी-चौथी ईसा पश्चात् तक का है[२]। तमिल परंपरा यह है कि कैलाशपर्वत पर प्रसन्न होकर नर्तन करते हुए शिव

---

१. विशुद्धानन्द पाठक, प्राचीन भारत की आर्थिक संस्कृति, पृष्ठ १२९-१३०; अ०स० अल्तेकर, दि राष्ट्रकूटज़ ऐण्ड देयर टाइम्स्, पृष्ठ २७६; इलियट और डाउसन ने, जिल्द १, पृष्ठ १,२,३ तथा २१,२६, ३८ आदि पर अरबों के अनेक उद्धरण इस सम्बन्ध में दिये हैं। विशेष उल्लेख योग्य है, इष्टख्री और इब्न–हौकल के वक्तव्य।

२. देखें ह्वी कनकसभाई, तमिलस् एटीन हंड्रेड इयर्स् एगो; आगे देखें, अध्याय १२-मदुरै का पाण्ड्य राज्य, पृष्ठ १।

के डमरू या ढक्वा (ढाक) से जो १४ सूत्र बने, वे ही अगस्त्य ऋषि द्वारा दक्षिण भारत ले जाये जाकर मूल तमिल के सर्जक बने। इसी कारण तमिल के प्रथम व्याकरण को **अगस्त्यम्** अथवा **अगट्टियम्** कहा जाता है। इस प्रकार संस्कृत (क्लासिकल्=शास्त्रीय संस्कृत) और तमिल दोनों के एक समान उद्गम की परंपराएँ तो हैं, किन्तु दोनों के आगे विकसित होने वाले स्वरूपों में तथा उनकी वर्तनियों और लिपियों में बहुत अधिक अन्तर उत्पन्न होता गया। फिर भी, आज तमिल के लगभग ४० प्रतिशत शब्द संस्कृत उद्गम के ही हैं। इसी प्रकार अन्य दक्षिणी भाषाओं–तेलुगू, मलयालम और कन्नड़ में भी अधिकाधिक शब्द संस्कृत के ही हैं। तथापि इन चारों की लिपियाँ द्राविड़ हैं। किन्तु संस्कृत की लिपि ब्राह्मी या नागरी है। उत्तर और दक्षिण भारत का अन्तर इन दो लिपियों के माध्यम से ही समझा जा सकता है। तथापि यह सत्य है कि दक्षिण और उत्तर के अनेक भाषायी, नृतात्त्विक और सांस्कृतिक तत्त्वों से मिलकर ही सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति का स्वरूप निश्चित हुआ है। अठारहवीं-उन्नीसवीं सदियों के योरोपीय विद्वानों का वह सिद्धान्त अब मान्य नहीं है कि 'आर्य' नाम का कोई नृतात्त्विक तत्त्व उत्तर भारतीय संस्कृति का जनक था, जिसने हरप्पायी संस्कृति के क्षेत्रों पर आक्रमण कर क्रमशः भारतवर्ष के एक बड़े भूभाग पर आदिवासिओं सहित अन्याय स्थानीय मूल के लोगों पर भी अधिकार कर लिया और द्रविड़ों को दक्षिण की ओर ढकेल दिया। वास्तव में इस सिद्धान्त का सारा महल ही कोरी कल्पनाओं की बालू पर खड़ा था और इसका कोई ऐतिहासिक-लिखित या पारंपरिक-आधार था ही नहीं।

तथापि उत्तर और दक्षिण भारत के संपर्क अत्यन्त प्राचीन काल से ही प्रारंभ हो चुके थे। प्राचीनतम तमिल (संगम युगीन) संस्कृति के जो अध्ययन इधर उपस्थित किये गये हैं, उनसे यह ज्ञात होता है कि सर्वप्रथम उत्तर भारतीय ब्राह्मणों ने ही जाकर कावेरी के पूर्वी मुहानों के बन्दरगाहों के पास और विभिन्न नदी दुकूलों में खेती, विशेषतः धान की खेती, का प्रारंभ किया था[१]।

दक्षिण भारतीय इतिहास का लिखित प्रारंभ बहुत कुछ सातवाहन काल से ही प्रारंभ हुआ। सातवाहन मूलतः आंध्र देश के ही निवासी थे और उसी कारण उन्हें आन्ध्र सातवाहन भी कहा जाता है। उन्होंने कुल मिलाकर लगभग ५०० वर्षों तक शासन किया, जो तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व में ही कभी प्रारंभ हो चुका था। उन्हें "तीन महासमुद्रों का अधिपति" कहा गया है, जिससे दक्षिण भारतीय प्रायद्वीप पर उनका अधिकार पूर्णतः स्पष्ट है। उनके समय सामुद्रिक व्यापार और विदेशी औपनिवेशीकरण की प्रक्रिया जोरों से आगे बढ़ी, पश्चिमी भारत के गुफा मंदिरों, अमरावती, गोली, नागार्जुनिकुण्ड (कोण्डा) और

---

१. देखें, विशुद्धानन्द पाठक, प्राचीन भारत की आर्थिक संस्कृति, पृष्ठ १०६-१०८; रीसेष्ट पर्सपेक्टिवस् ऑफ् अर्ली इण्डियन् हिस्ट्री, सं० रोमिला थापर, पृष्ठ २५० और आगे तथा पृष्ठ २६६-२६९।

कृष्णा घाटी के अनेक क्षेत्रों में उस काल के बने बौद्ध स्तूपों के ध्वंसावशेष आज भी उनकी यशोगाथा का बखान करते हैं। किन्तु दुर्भाग्य यह है कि उनके बाद लगभग तीन सौ वर्षों (३००-६०० ई० प०) तक के दक्षिणापथ या सुदूर दक्षिण की जानकारियाँ हमें बहुत ही कम प्राप्त होती हैं। "दुष्ट" कहे जाने वाले कलभ्रों ने इस समय इन क्षेत्रों पर आक्रमण करके लूटपाट मचायी। इस स्थिति का अन्त पाण्ड्य-पल्लव-चालुक्य शासनों के प्रारंभ होने के बाद ही हुआ। यद्यपि उनके पूर्व भी अनेक छोटी-छोटी सत्ताएँ विभिन्न भागों में अपना–अपना शासन चलाती रहीं।

दक्षिण भारतीय इतिहास के स्रोत

दक्षिण भारतीय इतिहास के मुख्य ज्ञातस्रोत के रूप में वहाँ का आभिलेखिक साहित्य ही मुख्य है। सातवाहन शासकों ने अपने दानपरक अभिलेख प्राकृत भाषा में निबद्ध कराकर ताम्रफलकों पर प्रकाशित कराया, जिनमें उल्लिखित दानों के अलावा राजाओं के शासन वृत्तान्त और विजयों के भी उल्लेख हैं। उनके बाद शासन करने वाले प्रारंभिक पल्लवों ने भी अपने अभिलेखों की भाषा प्राकृत ही रखी। ये भी ताम्रफलकों पर ही खुदे हुए हैं। इन प्राकृत अभिलेखों का समय प्राय: २५०-३५० ई० पश्चात् के मध्य में स्वीकृत किया गया[१] है। किन्तु उसके बाद शासन करने वाले प्रारंभिक पल्लवों ने अपने अभिलेख संस्कृत भाषा में प्रकाशित कराये, जिनका औसत काल ३५० ई० पश्चात् से ६०० ई० प० तक रहा। किन्तु ६०० ई० पश्चात् के बाद वाले युग के अभिलेख ताम्रफलकों और पत्थरों-दोनों–पर ही प्रकाशित किये जाने लगे। इसे किसी वंश विशेष अथवा वंश विशेषों के साथ न जोड़कर प्राय: सभी राजवंशों के साथ जोड़ा जाना चाहिए। उत्तर और दक्षिण भारत दोनों में ही पहले दानों, विशेषत: भूमिदानों, के प्रकाशन की आधार-वस्तुएँ या तो पीटकर पतले किये गये तांबे के फलक (पत्र=पत्तर) अथवा कपड़े अथवा रेशमी वस्त्र और भूर्जपत्र हुआ करते थे। यद्यपि उस समय भी उन दानों को "यावत् चन्द्रदिवाकरौ" अर्थात् जबतक चन्द्र और सूर्य उगते और डूबते रहे, तबतक के लिए अर्थात् स्थायी तौर पर निर्बाध रूप में दिये जाने के उल्लेख सम्बद्ध दानपत्रों में मिलते हैं, इस स्थायित्व पर और अधिक जोर देते हुए आगे उन्हें नष्ट न होने वाले पत्थरों पर खुदवाया जाने लगा।

प्रारंभिक पल्लवों में शिवस्कन्दवर्मन् का एक प्राकृत अभिलेख प्रमुख स्थान रखता[२] है। उसका शासन कदाचित् चौथी शताब्दी का प्रथम चरण था। इस काल के अभिलेख प्रकाशन और बाद में संस्कृत अभिलेखों के प्रकाशन के बीच की कड़ी के रूप

---

१. आर० सतियनाथियेर, दि क्लासिकल् एज. पृष्ठ २५७।

२. हुल्ट्ज़, एपि० इण्डिका, जिल्द ६, पृष्ठ ८४। लेख का प्राप्तिस्थान था मयिदवोलु, कृष्णा जिला, आंध्र प्रदेश।

में काञ्ची (पल्लव राजधानी) से शासन करने वाला शासक विष्णुगोप था, जिसे अपनी धर्मविजय के सिलसिले में समुद्रगुप्त द्वारा पराजित किये जाने का उल्लेख उसकी प्रयाग प्रशस्ति में प्राप्त होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि महान् गुप्त शासकों के समय से प्रारंभ होने वाला संस्कृत भाषा और साहित्य का वर्चस्व उत्तर भारत से प्रारंभकर दक्षिण भारत की ओर पूरी तरह व्याप्त हो गया। ऐसा नहीं कि प्राकृत लुप्त हो गयी। आगे भी उसमें विभिन्न प्रकार के साहित्यिक ग्रंथों का प्रणयन होता रहा, किन्तु अभिलेखों में प्राकृत का प्रचलन बन्द सा हो गया, यह दिखायी देता है। लगभग ४०० ई० पश्चात् के बाद लगभग दो-तीन शताब्दियों तक कदम्ब, गंग और पल्लव शासकों ने अभिलेखों के लिए संस्कृत भाषा को ही अपनाया। बाद में लिखे जाने वाले अभिलेख द्विभाषी होने लगे, जिनके प्रारंभ और अन्त में संस्कृत के प्रयोग किये गये। किंतु कभी-कभी लेखों के बीच में तेलुगु, अथवा कन्नड़ अथवा तमिल भी अपनायी जाने लगी। अभिलेखों के ये मध्यवर्ती भाग प्रायः भूमिदानों से सम्बद्ध दानदाता के परिचय, दानग्रहीता के परिचय, दानदत्त भूमि की सीमाओं आदि के उल्लेख करते हैं। साहित्यसर्जन में प्राकृत का प्रयोग पूर्ववत् जारी रहा। ९वीं–१०वीं शती के प्रसिद्ध कवि राजशेखर प्राकृत के बहुत ही प्रसिद्ध लेखक थे। जैन आचार्यों ने भी संस्कृत और प्राकृत दोनों ही भाषाओं में अपनी रचनाएँ कीं।

दक्षिण भारत में स्थानीय भाषाओं का प्रसार अब पूरी तरह हो चुका था। लाट, कोंकण, कर्नाटक, तथा महाराष्ट्र के कुछ भागों में कन्नड़, आंध्र प्रदेश में तेलुगू, केरल में मलयालम और तमिलनाडु में तमिल फलने-फूलने लगीं। वहाँ के अनेक शासकों ने अपने कुछ लेख जहाँ संस्कृत माध्यम से प्रकाशित किये, वहीं अनेक लेखों को स्थानीय भाषाओं में भी प्रकाशित किये। साम्राज्यभोगी राष्ट्रकूटों और पल्लवों के संस्कृत अभिलेख बहुत ही लम्बे–लम्बे हैं और उनमें बहुत सी ऐसी बातें भी हैं, जो ऐतिहासिक महत्त्व की नहीं हैं। उनसे भी अधिक लम्बे अभिलेख वे हैं जो राजराज चोड़, प्रथम राजेन्द्र चोड़ और उनके उत्तराधिकारी चोड़ शासकों द्वारा प्रकाशित कराये गये। चोड़ राज्यपालों और महासामन्तों द्वारा भी बहुत से अभिलेख प्रकाशित कराये गये। ये प्रायः सभी के सभी अभिलेख मंदिरों की दीवारों, उनके सभामण्डपों की दीवारों, उनके स्तंभों, प्राचीरों, तोरणों अथवा जमीनी पत्थरों पर खुदवाये गये, अथवा किसी कारणवश नष्ट हो जाने पर दुबारा खुदवाये गये। ये अभिलेख या तो प्रशासकीय शासनों और व्यवस्थाओं के प्रकाशन हेतु अथवा **देव-दानों** अथवा **ब्रह्मदेयों** से सम्बद्ध विविध उल्लेखों हेतु अथवा कुछ मंदिरों के प्रशासनों के नियमन हेतु प्रकाशित किये गये थे। इनमें उत्तरमेरूर और उत्तरमल्लूर नामक ग्रामों की स्थानीय प्रशासन व्यवस्था से सम्बद्ध अभिलेख[१] तो ऐसे हैं, जिनकी तुलना वाली व्यवस्था शायद विश्व के कहीं के भी प्राचीन इतिहास में प्राप्त न हो सकेगी। इसी प्रकार

---

१. टे०वे० महालिंगम्, साउथ इण्डियन् पॉलिटी, पृष्ठ ३४९ और आगे; साउथ इण्डियन् इन्सकृप्शन्स्, जिल्द ६, पृष्ठ १६७।

तिरुवालंगाडु से प्राप्त प्रथम राजेन्द्रचोड़ के अभिलेख (ग्रंथलिपि, संस्कृत भाषा; शासन का नवाँ वर्ष; चेन्नई जिला; साउथ इण्डियन् इन्सकृप्शन्स् जिल्द ३, पृष्ठ ३८३) और अन्बिल से प्राप्त सुन्दर चोड़ के वे लम्बे अभिलेख (नीलकान्त शास्त्री, दि चोड़ज्, पृष्ठ ५७७) भी हैं, जो चोड़ शासन और दान व्यवस्था का अच्छा परिचय देते हैं। चोड़ और पल्लव अभिलेखों में कुछ तो शुद्ध संस्कृत भाषा के हैं, किन्तु अनेक केवल तमिल भाषा में हैं। कुछ ऐसे भी हैं जो द्विभाषायी हैं–प्रारंभ में तमिल, बीच में कुछ छोटे अंश संस्कृत में और अन्त में लम्बे–लम्बे अंश पुनः तमिल में। यद्यपि इनमें से कुछ के प्रकाशन (हुल्ट्ज़ और वेंकैय्या, साउथ इण्डियन् इन्स्कृप्शन्स्) हो चुके हैं, इनमें से अधिकांश अब भी अप्रकाशित ही हैं। चोड़ों के समय अभिलेखों के प्रकाशन केवल राजदरबारों द्वारा अथवा प्रशासन की निचली इकाइयों मात्र द्वारा नहीं किये जाते थे, अपितु वे मंदिरों को दान देते समय, उनके विभिन्न प्रकार के खर्चों को चलाने हेतु, ग्रामीण भूमि के प्रबन्धन हेतु अथवा व्यापारिक क्रियाकलापों के सम्बन्ध में व्यक्तिगत लोगों द्वारा, स्वयं मंदिरों और मठों द्वारा तथा निगमों और व्यापारिओं द्वारा भी प्रकाशित किये जाते थे। ये दानदाता संख्या में एक अथवा अनेक लोग भी हो सकते थे; व्यक्ति अथवा संस्थाएँ हो सकती थीं, यानी राज्य और राजाओं के अतिरिक्त कोई भी हो सकता था, यथा, वणिक्, व्यापारी, व्यावसायिक संघ, बाजार हाट के मालिक, **उर**, **सभा**, अथवा **मण्डपम्**। तमिल लिपि और भाषा के माध्यम से प्रकाशित हजारों अभिलेख तो ऐसे भी हैं जो मंदिरों में घी, दीप, बत्ती, पूजन सामग्री, अन्न, वस्त्र और पठनपाठन की सामग्री जुटाने हेतु ग्रामीणों पर लगाये जाने वाले करों के विवरण के रूप में हैं। ये कर भूमि-उपज की वस्तुओं के रूप में, धान्यरूप में, घी, दही, दूध आदि के रूप में तो होते ही थे, भेड़ों, गायों, अथवा अन्यान्य छोटे-मोटे पशुओं के रूप में भी होते थे, जो प्रतिवर्ष सम्बद्ध वर्गों से संख्या के आधार पर लिये जाते थे अथवा एकमुश्त मंदिरों का खर्च चलाने हेतु दे दिये जाते थे।

अभिलेखों के वर्ण्य विषय

दक्षिण भारत के इतिहास में यों तो चोड़ों के शासन का प्रारंभ बहुत पहले तृतीय संगम के युग में ही हो चुका था और परंपराओं के अनुसार उनका प्रारंभिक महान् शासक करिकाल था, चोड़ साम्राज्य की सत्ता का विस्तार और उसका अन्तिम प्रस्फुटन प्रथम राजराज (९८५-१०१४ ई० प० तक) के साथ ही प्रारंभ हुआ और प्रथम कुलोत्तुंग (१०७०-११२० ई० प० तक) तक चलता रहा। इस अवधि के बीच चोड़ों की सत्ता ने एक विशाल साम्राज्य का रूप धारण कर लिया; उसकी प्रशासन प्रक्रिया और नौकरशाही पूरी तरह सुगठित होकर एक सशक्त केन्द्र को स्थापित करने में समर्थ हुई; तमिल क्षेत्रों के बाहर तथा दक्षिण–पूर्व के कुछ एशियायी देशों में उसका साम्राज्य स्थापित हुआ; उसके पास एक अत्यन्त शक्तिशाली समुद्री जहाजों का बेड़ा तैयार हो गया और विदेशी व्यापार में उसके जबरदस्त हस्तक्षेप और उनकी साझीदारी होने लगी। इन सबके

प्रमाण उस युग के हजारों अभिलेखों से प्राप्त होते हैं, जिनमें तिरुवालंगाडु से प्राप्त होने वाले, बहुत बड़ी संख्यावाले, अभिलेख तो बहुत ही लम्बे–लम्बे हैं। इन अभिलेखों के प्रारंभ में लगभग एक समान की लम्बी प्रस्तावनाएँ होती[१] हैं जो प्राय: तमिल भाषा में हैं। इन प्रस्तावनाओं में प्रकाशक राजा की अन्यान्य उपलब्धियों के विवरण तो होते ही हैं, उसके पूर्वजों के क्रियाकलापों के साथ ही वंश की उत्पत्ति आदि के उल्लेख भी अत्यन्त कवितामय और आलंकारिक भाषा के माध्यम से प्राप्त होते हैं। ज्यों–ज्यों राज्यशासन अथवा वंशगत इतिहास आगे बढ़ता जाता है, त्यों–त्यों इनमें नये–नये विवरण और जुड़ते जाते हैं। इस प्रकार एक ही अभिलेख के और नये–नये प्रकाशन आगे किये जाते रहे। इनमें तमिल भाषा का प्रयोग इस कारण ही किया जाता था कि सर्वसाधारण लोग उसे समझ सकें और सम्बद्ध दानपत्रों की अधिक से अधिक लोगों को जानकारी प्राप्त हो जाय। इन दानपत्रों को **शासनम्** (राजाज्ञाएँ) कहा जाता था जो सम्बद्ध दानों का सम्पूर्ण विवरण उपस्थित करते थे। इनके प्रकाशन प्राचीन स्मृतियों और धर्मशास्त्रों की अनुशंसाओं के अनुरूप ही किये गये। चूंकि बाद में समय–समय पर इन **शासनों** में और भी जुड़ाव-घटाव किये जाते रहे, इस बात की संभावनाएँ बराबर उपस्थित थीं कि प्रशस्तिकारों की कल्पनानुसार कभी–कभी एक ही शासक के क्रिया–कलापों के परस्पर विरोधी विवरणों का भी उनमें समावेश हो जाय। किन्तु इन प्रस्तावनाओं में सभी की सभी ऐतिहासिक तथ्यों को उपस्थित करने में सर्वदा सहायक या सत्यपरक ही हों, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

इन अभिलेखों के वर्ण्यविषयों में प्राय: दानों से सम्बन्धित उल्लेख मुख्य हैं। ये दान राजाओं द्वारा, राजपरिवारी व्यक्तिओं द्वारा, प्रशासकीय अधिकारिओं द्वारा, व्यक्तिगत लोगों द्वारा, **नगरम्,** ग्राम सभाओं और निगमों द्वारा, देशी और विदेशी व्यापारिओं द्वारा अथवा ऐसे ही विभिन्न सामाजिक वर्गों द्वारा दिये जाते थे। मुख्य दान प्राप्तकर्ता होते थे ब्राह्मण, मंदिर, ग्रामसभाएँ, मठ, विहार आदि, जिनके प्रति दान की सभी शर्तें, दानदत्त भूमि के पूरे विवरण, सम्बद्ध अधिकारिओं को उनकी सूचनाएँ, दान प्राप्तकर्ता के अधिकार और कर्त्तव्य तथा सरकारी देयों से उनको मिलने वाली विमुक्तियों के पूरे उल्लेख इन दानपत्रों में किये जाते थे। यद्यपि अब भी दानपत्रों को तांबे के पीटे हुए पत्तरों (फलकों) पर प्रकाशित करने की प्रथा बहुत हद तक चलती रही, उनके अधिकांश प्रकाशन अब पत्थरों पर किये जाने लगे। इनमें अधिकांश मंदिरों की दीवारों, उनके सभामण्डपों, मंदिरस्तम्भों, तोरणों, प्राचीरों, पदस्थलों जैसे स्थानों पर खुदवाये गये। तंजौर (तंजाऊर) के राजराजेश्वर का मंदिर एक ऐसा भवन साबित हुआ, जिसका कोई भी भाग ऐसा नहीं है, जिसपर कोई न कोई अभिलेख न खुदा हुआ हो। यहाँ तक कि चोड़ों से युद्धकर अपनी-अपनी विजयों का दावा करने वाले चालुक्य और पल्लव राजाओं के भी अभिलेख

१. नीलकान्त शास्त्री, दि चोड़ज् १९५५, पृष्ठ ४-५।

उसपर खुदे हुए[१] हैं। ऐसे उल्लेख प्राप्त होते हैं[२] कि जब अभिलेखयुक्त निर्माण या तो पुनर्निर्माण हेतु गिरा दिये जाते थे अथवा स्वत: भङ्ग हो जाते थे तो उनके आलेखों को ध्यानपूर्वक नकल करके लिख लिया जाता था और पुन: उन्हें नवनिर्मित भवनों पर उत्खचित करा दिया जाता था।

उपर्युक्त चोड़ अभिलेखों में कुछ मात्र ही ऐसे हैं, जिन्हें शुद्धरूप से ऐतिहासिक महत्त्व का कहा जा सकता है। ऐसे ऐतिहासिक महत्त्व वाले अभिलेखों में तिरुवेन्दिपुरम् से प्राप्त एक वह आलेख्य है जो तृतीय राजराज की तात्कालिक कठिनाइयों का विवरण देता है तथा उसके समकालिक होयसड़ शासक द्वारा उसको पहुँचायी जाने वाली सहायता का उल्लेख करता[३] है। अधिकांश अभिलेख ऐसे हैं जो जनमहत्त्व से सम्बद्ध राजाज्ञाओं अथवा समझौतों को शाश्वत स्वरूप देने के उद्देश्य से प्रकाशित किये गये। ऐसे भी अनेक अभिलेख हैं जो करों के निर्धारण, पुनर्निधारण तथा परिवर्तित किये जाने वाले भूमिकरों का उल्लेख करते हैं। ग्राम सभाओं के प्रस्तावों, उनके ग्राम शासन संबंधी निर्णयों, सांविधानिक ढांचों के निश्चयीकरण, विभिन्न पक्षों से सम्बद्ध मुकद्दमों के निर्णयों, जातियों अथवा व्यावसायिक संघों के बीच उठने वाले प्रश्नों के निर्णयों तथा सामाजिक दोषों और अपराधों के संबंध के निर्णयों को प्रकाशित करने के उद्देश्य से खुदवाये गये थे। ग्राम सभाओं की भूमियों के हस्तान्तरण, अनुबन्धन, बिक्री, गिरवी तथा उद्देश्य विशेषों की पूर्ति हेतु दान आदि को विधिगत बनाने हेतु भी अभिलेख प्रकाशित किये जाते थे।

यहाँ कन्नड़ इतिहास पर प्रकाश डालने वाले उन हजारों-हजारों अभिलेखों पर कुछ विशेष प्रकाश डालने की आवश्यकता है, जो उस इतिहास के प्रमुख स्रोत हैं। ये संस्कृत और कन्नड़ दोनों ही भाषाओं में हैं और अनेक अभिलेख तो साहित्यिक गुणों से इतने ओत-प्रोत हैं कि उनकी गिनती साहित्यिक कृतियों में की जा सकती है। कन्नड़ साहित्य के अनेक लब्धप्रतिष्ठ कवि और लेखक ही इनके रचनाकार थे—यथा पम्प और रन्न नामक कवि। इन अभिलेखों की संख्याएँ कितनी हैं, इनका अनुमान भी लगाना कठिन है। एक अनुमान[४] के अनुसार ये लगभग ४० हजार की संख्याओं में हो सकते हैं, जिनमें से लगभग आधे तो न अबतक खोजे जा सके हैं और न प्रकाशित किये जा सके हैं।

आधुनिक कर्नाटक का भौगोलिक आयत्त प्राचीन काल में बोली जाने वाली कन्नड़

---

१. देखिए, बादामी के शासक द्वितीय विक्रमादित्य सम्बन्धी विवरण, आगे पृष्ठ ५०।

२. आसरि०, १९०९-१०, पृष्ठ १२८-१२९; १८९५ का ९२।

३. एपि० इण्डिका, जिल्द ७, पृष्ठ १६१; १९०२ का १४२।

४. पी.बी. देसाई. ए हिस्ट्री ऑफ् कर्नाटक, १९७०, पृष्ठ ४। एक जापानी विद्वान्—नोबोरू करसिम (साउथ इण्डियन् हिस्ट्री ऐण्ड सोसायटी फ्राम् इन्स्कृप्शन्स् ८००-१८००) ने तो चोड़ों के केवल दो जिलों से मिलने वाले अभिलेखों (संस्कृत और तमिल) की संख्या लगभग दस हजार आंकी है।

भाषी क्षेत्रों की तुलना में बहुत सिकुड़ा हुआ है। प्रारंभ में कन्नड़ बोली जाने वाले क्षेत्र थे– दक्षिणी गुजरात, सारा का सारा महाराष्ट्र, संपूर्ण विदर्भ, दक्षिण-पूर्वी मध्य प्रदेश, उत्तरी आन्ध्र प्रदेश, वर्तमान कर्नाटक तथा दक्षिणी और उत्तरी मैसूर। इन सारे प्रदेशों से कन्नड़ अभिलेख प्राप्त हुए हैं। अतः यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि कर्नाटक की सीमाएँ आजकल बहुत सीमित हो गयी हैं।

इन क्षेत्रों से प्राप्त होने वाले अभिलेखों की कुछ निश्चित विशेषताएँ हैं। यद्यपि अन्यान्य क्षेत्रों की तरह ही उनके भी उद्देश्य मुख्यतः दान सम्बन्धी विविध वर्णनों को अंकित करने वाले ही थे, तथापि अधिकांशतः उनमें प्रकाशन अथवा दान की तिथियाँ– वर्ष, सम्वत्, मास, दिन, तिथि, दान के अवसर और उद्देश्य सहित सम्बद्ध दानकर्ताओं और उनके पूर्वजों के विरुद, राजनीतिक और सांस्कृतिक क्रिया कलापों के साथ दान प्राप्त-कर्ताओं के परिचय, दानदत्त भूमि की सीमाएँ, शासन से सम्बद्ध अधिकारिओं के उल्लेख तथा विभिन्न करों और राजकीय देयों से दान प्राप्तकर्ता को मिलने वाली विमुक्तियों जैसे अनेक विषयों के उल्लेख हैं। ये सभी उल्लेख सम्बद्ध राजनीतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, सामाजिक और राजस्व सम्बन्धी इतिहास के बहुमूल्य स्रोत हैं।

तथापि ये प्रशस्तियाँ ही हैं, जिनमें अतिरंजन के पुटों के होने से अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इनमें विभिन्न राजवंशों की जो उत्पत्तियाँ बतायी गयी हैं, वे प्रायः काल्पनिक और मनगढ़न्त प्रतीत होती हैं। तथापि ऐतिहासिक घटनाओं के पूर्वापर, उनकी विवरण-सत्यता और असत्यता तथा विभिन्न तिथियों और तिथिक्रमों को कुछ थोड़े से किये गये प्रयत्नों और पारस्परिक मिलान की पद्धति से बड़ी आसानी से निश्चित किया जा सकता है। कन्नड़ अभिलेखों की एक विशेषता है उनके विवरणों के सही–सही तैथिक क्रम। वे प्रायः शक सम्वत् का प्रयोग करते हैं और राजाओं के शासन वर्षों की वास्तविक संख्याओं का उल्लेख करते हैं। प्रथम पुलकेशिन् का बादामी पहाड़ी से प्राप्त अभिलेख वह पहला अभिलेख है, जिसमें शक सम्वत् (४६५ = ५४३ ई० प०) का प्रयोग हुआ है। उसके बाद रविकीर्त्ति विरचित अहिहोड़ अभिलेख कलि सम्वत् ३७३५ और साथ ही शक सम्वत् ५५६ (=६३४-३५ ई०) का उल्लेख करता है।

किन्तु वेंगी के पूर्वी चालुक्यों और काञ्ची के पल्लव राजाओं के अभिलेखों में ऐसी तिथियों के उल्लेख न होने से उनके काल की विभिन्न घटनाओं के तैथिक क्रम को निश्चित करने में कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। उनका निश्चय केवल तुलनात्मक आधारों पर ही किया जा सकता है।

दक्षिण भारतीय अभिलेखों के प्रकाशन समय-समय पर निम्नलिखित शोध पत्रिकाओं में होते रहे, जिन्हें संदर्भों हेतु अवश्य देखना चाहिए :—

१. ऐनुअल् रिपोर्ट्स् ऑन् साउथ इण्डियन् एपिग्राफी-आर्केलाजिकल् सर्वे ऑफ् इण्डिया, मद्रास वृत्त, (१८८७ के बाद)।

२. एपिग्राफिया कर्नाटिका, १६ जिल्दों में, मैसूर, आर्के० डिपार्टमेण्ट, मद्रास और बेंगलूर (१९१४ से १९५५ तक)।
   पुनर्प्रकाशित (संशोधित संस्करण), मैसूर विश्वविद्यालय, १९६२।
३. एपिग्राफिया इण्डिका, आर्के० सर्वे ऑफ् इण्डिया का प्रकाशन, कलकत्ता, दिल्ली (१८९२ से)।
४. जर्नल ऑफ् आंध्र हिस्टारिकल् रिसर्च सोसायटी, राजमुहुन्द्री, (१९२६ से)।

लिपियाँ और संवत्

संस्कृत भाषा वाले अभिलेखों में तो दक्षिणी ब्राह्मी लिपि का ही प्रयोग हुआ, किन्तु स्थानीय लिपियों में अनेक परिवर्तन हुए। नीलकान्त शास्त्री कहते[१] हैं कि "लिपि में अनेक परिवर्तन हुए और उसने दकन (दक्षिणापथ) में आधुनिक तेलुगू और कन्नड़ लिपियों की पूर्वज लिपियों का रूप लिया। अधिक दक्षिण में इसने पहले ग्रंथलिपि का प्रारंभिक रूप लिया, जो सातवीं और आठवीं शताब्दियों के पल्लव शिलालेखों से ज्ञात होता है। इसके बाद तमिल वर्णमाला के दो रूपों–तथाकथित वास्तविक तमिल और वट्टेलुट्टु या गोल लिखावट के प्रभाव के अधीन इस लिपि में और भी हेरफेर हुए।"

समस्त प्राचीन भारतीय अभिलेख न तो किसी एक प्रचलित संवत् में प्रकाशित किये गये और न सभी में उनके प्रकाशन के वर्षों को बताने वाले संवतों के नाम ही दिये गये हैं। बहुतों में तो प्रकाशक राजाओं के शासन वर्षों की गिनती के आधार पर उनके प्रकाशन वर्ष बताये गये हैं। अशोक के अभिलेखों से ज्ञात होता है कि शासन वर्षों की गिनती से अभिलेख प्रकाशनों की परिपाटी उसी ने शुरू की थी। दक्षिण भारतीय अभिलेखों में जहाँ आंध्र, कर्नाटक और महाराष्ट्र से प्राप्त अधिकांश अभिलेखों में शक संवत् का उल्लेख हुआ है, वहीं अधिकांश चोड़ अभिलेख राजाओं के शासन वर्षों का ही उल्लेख करते हैं। अपवादस्वरूप प्रथम परांतक का एक ऐसा अभिलेख है जिसमें कलि संवत् का उल्लेख किया गया[२] है। साथ ही कीलहार्न[३] ने ऐसे १८ चोड़ अभिलेखों का हवाला दिया है, जिनमें शक संवत् का उल्लेख किया गया है। दक्षिणापथ का एक बहुत ही प्रसिद्ध अभिलेख रविकीर्त्ति विरचित अहिहोड़ अभिलेख है, जो कलि संवत् के साथ ही साथ शक संवत् (५५६ = ६३४ ई०) का प्रयोग करता है। किन्तु बादामी के चालुक्य अभिलेखों में प्रयुक्त होने वाला शक संवत् वाला सर्वप्रथम अभिलेख ४६५ = ५४३ ई० का है, जिसे प्रथम पुलकेशी ने प्रकाशित कराया था।

---

१. 'ए हिस्ट्री ऑफ् साउथ इण्डिया' का हिन्दी अनुवाद (वीरेन्द्र वर्मा और अनुग्रह नारायण, पटना), पृष्ठ १४।
२. एपि० इण्डिका, जिल्द सप्तम, पृष्ठ २६१।
३. वहीं।

पीछे हम देख चुके हैं कि तमिल क्षेत्रों में तमिल अभिलेख लिखे गये। उसी प्रकार अन्य क्षेत्रों में कन्नड़, तेलुगू और मलयालम का प्रयोग हुआ। बादामी और कल्याणी के चालुक्य क्षेत्र और वहाँ के शासक दक्षिणापथ में शासन करते हुए भी उत्तर और दक्षिण के सेतुरूप में ही बने रहे। उनके, कुछ कन्नड़ अभिलेखों के अपवाद सहित, प्राय: सभी अभिलेख संस्कृत भाषा में ही हैं। प्रारंभिक चोड़ों का शासन तेलुगू प्रदेशों पर ही था। अत: उनके अभिलेख तेलुगू में ही हैं।

साहित्यिक स्रोत

उपर्युक्त से स्पष्ट है कि दक्षिण भारतीय इतिहास के सर्वप्रमुख स्रोत वहाँ से प्राप्त होने वाले अभिलेख ही हैं। तथापि कुछ साहित्यिक ग्रंथ भी हैं, जिनकी अनदेखी नहीं की जा सकती। यद्यपि ऐतिहासिक सत्यता की दृष्टि से वे पूरी तरह विश्वास्य नहीं हैं, अभिलेखों से मिलान करते हुए तथा उनका सहारा लेकर तत्कालीन अनेक प्रवृत्तियों और तथ्यों को उजागर किया जा सकता है। ऐसे ग्रंथों में बिल्हण रचित **विक्रमाङ्कदेवचरित** और चालुक्यराज तृतीय सोमेश्वर रचित[१] **विक्रमांकाभ्युदय** और रण्ण नामक कन्नड़ कवि द्वारा अपने संरक्षक चालुक्य सत्याश्रय की प्रशंसा में लिखे गये **गदायुद्ध** जैसे कुछ ग्रंथों के नाम प्रमुख रूप से लिये जा सकते हैं। इन ग्रंथों की पूरी विश्वसनीयता में सन्देह करने के अनेक कारण हैं।

रण्ण लिखित **गदायुद्ध,** अपने आश्रयदाता **सत्याश्रय** चालुक्य (द्वितीय पुलकेशिन्) की प्रशंसा में लिखा हुआ ग्रंथ, चालुक्य वंश के इतिहास की अनेक बातों की जानकारी देता है। इसी प्रकार **कविराजमार्ग्ग** के कन्नड़ लेखक (अमोधवर्ष ?) की लेखनी से हमें राष्ट्रकूटों के समय की कर्नाटक की सामाजिक अवस्थाओं का एक बढ़िया चित्र प्राप्त होता है। लिंगन्न लिखित **अमुक्तमाल्यद** और **चाउण्डरायपुराण** से हमें क्रमश: केलदि और गंग वशों के इतिहास की कुछ जानकारी होती है।

कर्नाटक के इतिहास की सबसे प्रारंभिक जानकारी तो **पेरिप्लस् ऑफ् दि इरीथ्रियन् सी** तथा **टॉलेमी के भूगोल** नामक उन दो विदेशी ग्रंथों से ही होती है, जो क्रमश: ईसवी संवत् की प्रथम शताब्दी में किसी अज्ञातनामा मिस्री-यूनानी नाविक ने तथा टॉलेमी नामक भूगोलवेत्ता ने लिखी थी। इन दोनों में कर्नाटक के उन समुद्रतटीय बन्दरगाहों से पश्चिम के अरब, फारस, मिस्र और अफ्रीका जैसे देशों से होने वाले व्यापार और बन्दरगाहों, बाजार-हाटों और आयात-निर्यात की वस्तुओं के विविध विवरण हैं। विदेशी लेखकों में आगे अरब और फारस के वे अनेकानेक व्यापारी-यात्री सम्मिलित किये जा सकते हैं, जो राष्ट्रकूटों के समय से प्रारंभकर चोड़ों के काल तक भारत के सारे पश्चिमी समुद्री तट पर छा गये थे और जिनके उद्धरणों को इलियट और डाउसन ने अपनी बहुश:

---

१. विश्वंभरशरण पाठक, ऐंश्येण्ट हिस्टोरियन्स् ऑफ् इण्डिया, तीसरे तथा चौथे अध्याय।

उद्धृत कृति **हिस्ट्री ऑफ् इण्डिया ऐज़् टोल्ड बाई इट्स् ओन् हिस्टोरियन्स्** के विभिन्न जिल्दों में समाहित किया है।

चीनी धर्मयात्री, श्वान्-च्वाङ्ग, चालुक्य सम्राट् द्वितीय पुलकेशी की हर्ष पर सैनिक विजय के साथ साथ अपनी आँखों से देखी हुई महाराष्ट्र की भूमि, खेती, मानवस्वभाव, उसके गुणों और वहाँ के लोगों की विशेषताओं का एक मनोरम विवरण देता है।

कश्मीर का मूल निवासी, सारस्वतकुलीन ब्राह्मण बिल्हण अपने पैतृक देश में अपने लिए कोई भविष्य न देखते हुए, वहाँ से चलकर मथुरा, वृन्दावन, कान्यकुब्ज, प्रयाग, वाराणसी और सोमनाथ होते हुए; यहाँ तक कि दक्षिण में रामेश्वर तक की यायावरी यात्रा कर चुकने के बाद, अन्ततः कल्याणी के चालुक्य शासक षष्ठ विक्रमादित्य के दरबार में पहुँचा और वहाँ का राजकवि बनकर उसने उसकी प्रशंसा में **विक्रमाङ्कदेव-चरित** नामक अपने प्रसिद्ध काव्यग्रंथ की रचना की। वास्तव में यह युग एक संक्रमण का युग था, जब राजा, राजदरबारी, राजकवि, नवोदित क्षत्रिय राजवंश, आश्रयहीन ब्राह्मण, सामन्त-महासामन्त-ये सभी एक दूसरे की सहायता, आश्रय और प्रशंसा पाने को लालायित थे। सभी के सभी राजदरबार आशंकित और उपद्रवग्रस्त थे। कविओं, लेखकों और राजाओं की अन्योन्याश्रिता का यह समय था।

विक्रमाङ्कदेवचरित में अपने बड़े भाई द्वितीय सोमेश्वर (कल्याणी के चालुक्य शासक १०६८-१०७६ ई०) को मारकर राजगद्दी पर बलात् अधिकार कर लेने की घटना का पक्ष लेते हुए विक्रमादित्य (षष्ठ) का पक्ष लेने वाले बिल्हण को विश्वंभरशरण पाठक नरहत्या के किसी अपराधी की न्यायालय में "बचाव करने वाले वकील" की संज्ञा देते हैं[1]। यद्यपि संस्कृत साहित्य में **चरित** नामक काव्यों के सर्वप्रथम प्रणेता थे **हर्षचरित** के लेखक बाणभट्ट, किन्तु **हर्षचरित** में पुष्यभूति वंश अथवा हर्षवर्धन के इतिहास की जो बातें उपस्थित की गयी हैं, वे आभिलेखिक और श्वान्-च्वाङ्ग के कथनों से प्रायः पूर्णरूप में मेल खातीं हैं। **विक्रमाङ्कदेवचरित** की यथावत् सत्यता सन्देहास्पद ही है। कश्मीरी इतिहास का निबंधन करने वाले, **राजतरंगिणी** के लेखक कल्हण ने सत्यासत्य का जिस तरह नीरक्षीरविवेक उपस्थित किया, वैसा इस कश्मीरी (बिल्हण) कवि में दिखायी नहीं देता। वास्तव में उत्तर प्राचीन कालीन "राजदरबारी कविओं और लेखकों ने अपने राजपरिवारी संरक्षकों की प्रशंसामात्र की और उनके सभी कार्यों को सही ठहराया। राजे और राजकुमार ही उनके उत्साही लेखन के स्त्रोत थे और वे ही उनके भरणपोषण के आधार थे। फलतः, कविगण राजकीय प्रचार (प्रोपेगैण्डा) के वाहक बन गये।" यहाँ तक कि षष्ठ विक्रमादित्य का एक अन्य राजदरबारी लेखक विज्ञानेश्वर भी याज्ञवल्क्य रचित **याज्ञवल्क्यस्मृति** की अपनी **मिताक्षरा** नामक टीका में अपने स्वामी, उसकी राजधानी

---

१. पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ५८ और आगे।

कल्याणी और स्वयं अपनी प्रशंसा में कहता है कि ''विक्रमादित्य जैसा न कोई राजा हुआ, न है और न होगा; कल्याणी जैसा न कोई नगर हुआ, न है और न होगा तथा मुझ (विज्ञानेश्वर) जैसा न कोई कवि (पण्डित) हुआ, न है और न होगा, इनकी तो कोई तुलना ही नहीं है'' । यहाँ **विक्रमाङ्कदेवचरित** की इस पृष्ठभूमि मात्र की चर्चा उसके ऐतिहासिक मूल्यांकन की दृष्टि से पर्याप्त है । उसके विषयों का विवेचन विक्रमादित्य (षष्ठ) के इतिहास की उपस्थिति के समय होगा । बिल्हण ने ऐतिहासिक तथ्यों को तोड़-मरोड़कर कैसे उन्हें काव्यात्मक रूप दिया, इसका विवेचन सम्बद्ध अभिलेखों में वर्णित तथ्यों से मिलान करके ही किया जा सकता है । निष्कर्षत:, कहा जा सकता है कि **''विक्रमाङ्कदेवचरित** का अध्ययन न तो ऐतिहासिक तथ्यों के एक प्रामाणिक स्रोत के रूप में किया जा सकता है और न इसे एक पूर्णत: काव्यात्मक मनगढ़ंतता के रूप में त्याज्य ही माना जा सकता है ।''---''स्पष्टत: ग्रंथ का सारतत्त्व यह है कि इसका जोर समय के संदर्भों, मनोद्देश्यों और व्याख्याओं की उपस्थिति में निहित[१] है'' ।

षष्ठ विक्रमादित्य के पुत्र और उत्तराधिकारी तृतीय सोमेश्वर रचित **मानसोल्लास** नामक ग्रंथ का ऐतिहासिक महत्त्व केवल इस बात तक सीमित है कि उसमें राजाओं के अपेक्षित कार्यों तथा उनके कर्त्तव्यों के बारे में उपदेशात्मक बातों के उल्लेख हैं । साथ ही उसमें राजाओं के भोजन की सामग्रियों के भी उल्लेख हैं, जिनसे उस समय की खेतीबारी और कृषिक उपज की अच्छी जानकारी प्राप्त होती है । वास्तव में **मानसोल्लास** का अधिक वास्ता दण्डनीति के सिद्धान्तों से है, न कि राजनीतिक घटनाओं से ।

तमिल साहित्य अत्यन्त धनी और प्राचीन है । किन्तु इसके प्राचीनतम अंश-संगम साहित्य-से जो जानकारियाँ सुदूर दक्षिण के इतिहास के बारे में मिलती हैं, वे बहुत स्पष्ट नहीं हैं । ''किन्तु नियति के एक विचित्र व्यंग्य से इनकी तैथिक उलझन इस तरह गड़बड़ वाली है'' कि उसका निर्धारण हो ही नहीं सकता । तथापि अभिलेखों के तुलनात्मक अध्ययन से चोड़ों के प्रारंभिक इतिहास की बहुत सी बातें उनसे ज्ञात होती हैं[२] ।

शेक्किड़ार के **पेरियपुराणम्** से दक्षिण भारतीय शैव सिद्धान्तों तथा समकालिक सामाजिक प्रथाओं की अच्छी जानकारी प्राप्त होती है । यह द्वितीय कुलोत्तुंग के समय की रचना है । इसी के बराबर महत्त्व वाली वैष्णव सिद्धान्तों की रचनाएँ हैं **दिव्यसूरिचरित** और **गुरुपरंपरै** जो **आल(ड़) वार** नामक वैष्णव संतों के जीवन और उनके उलझे हुए तैथिक क्रम का उल्लेख करती हैं । इन धार्मिक रचनाओं के विपरीत वे लौकिक तमिल

---

१. विश्वंभरशरण पाठक, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ८२ ।
२. नीलकान्त शास्त्री, दि० चोड़ज्, पृष्ठ ११-१२ । प्रस्तुत तमिल संबंधी विवरणों हेतु लेखक प्रोफेसर नीलकान्त शास्त्री का ऋणी है ।

रचनाएँ हैं जो तमिल इतिहास के अनेक पक्षों को उजागर करती[१] हैं। उनमें बुद्धमित्र रचित **वीरशोरि(ड़ि)यम्, जयंगोंडार** कृत **कलिंगत्तुप्परणि** और **ओट्टकुट्टन** कृत **कुलोत्तुंगन पलै(ड़ै)त्तम्** बहुत ही प्रसिद्ध हैं। ये सभी व्याकरण से सम्बद्ध रचनाएँ हैं, जिनमें सबसे पहली तो वीरराजेन्द्र चोड़ नामक शासक के काल में लिखी गयी थी। किन्तु इनमें कुछ ऐसी ऐतिहासिक सूचनाएँ भी प्राप्त होती है, जो आभिलेखिक सूचनाओं की समर्थक हैं। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, **कलिंगत्तुप्परणि** प्रथम कुलोत्तुंग द्वारा उसके एक सेनापति की कलिंग-विजय का उल्लेख करती है। इसकी प्रसिद्धि के कारण इसके लेखक जयगोंडार को **कविचक्रवर्ती** की उपाधि मिली। इसमें चोड़ वंश के राजाओं की वंशावली का क्रम एक बढ़िया रूप में प्राप्त होता है[२]। ओट्टकुट्टन नामक एक अन्य लेखक ने तमिल काव्यों की **उला** शैली के माध्यम से प्रथम कुलोत्तुंग के क्रमशः तीन उत्तराधिकारिओं की प्रशंसाएँ लिखीं। इस पद्धति की रचनाओं में किसी युद्ध अथवा विजय का वर्णन न होकर राजाओं के दरबार, दरबारिओं, नित्यप्रति की क्रियाओं तथा उन साधारण व्यवहार की बातों के उल्लेख मिलते हैं, जो नित्यप्रति के राजसी जीवन के ऐतिहासिक स्वरूप की वास्तविकता उपस्थित करते हैं।

दक्षिण भारत के मंदिर और मंदिरों का संस्थात्मक स्वरूप

यदि भारत को मंदिरों का देश कहा जाय तो अत्युक्ति नहीं होगी। घरों में, गांवों में, राहों और पथों में, हाटों-बाजारों में, नगरों और तीर्थों में, पहाड़ों और मैदानों में, समुद्री और नदी किनारों पर, वनों और गुहाओं में–चाहे जहाँ बने, वहीं धर्मभावना अथवा स्वार्थवश व्यक्तिशः अथवा राजाओं और राजपरिवारों द्वारा मंदिर बनवाने-बनाने की प्रथा इतनी बद्धमूल है कि उसका संपूर्ण विवरण असंभव ही है। इसके अच्छे और बुरे परिणाम अपनी-अपनी दृष्टि से तौले जा सकते हैं।

चालुक्य, पल्लव, हैहय, पाण्ड्य होयसड़ और चोड़ सत्ताओं के प्राबल्य के साथ दक्षिण में जहाँ साम्राज्यवाद की लहर चली, संस्कृत भाषा और साहित्य का प्रचार-प्रसार बढ़ा, वहीं या तो मैदानी भागों में अथवा पर्वतों को काटकर कुछ पर्वतीय और कुछ थोड़े स्वतंत्र (स्थलीय) मंदिरों के निर्माण की वह परंपरा भी विकसित और पल्लवित हुई, जिसे द्राविड़ शैली के मंदिरों का नाम दिया गया है। किन्तु उसके पूर्व भी सांस्कृतिक और धार्मिक गतिविधियाँ थमी नहीं थीं। उत्तर भारत में जन्म लेने वाले जैन और बौद्ध धर्मों ने दक्षिणापथ और सुदूर दक्षिण में पूरी तरह अपने पैर पसार लिये और भरपूर उन्नति करते हुए वहाँ की कलाओं-विशेषतः चित्रकला-का विकास किया। अजन्ता, इलोरा, अमरावती,

---

१. वहीं, पृष्ठ १३।

२. 'तमिल्स् एटीन हंड्रेड इयर्स् एगो' के लेखक ह्वी० कनकसभाइ ने इस पुस्तक के कुछ अंशों का अंग्रेजी अनुवाद 'इण्डियन् एण्टीक्वेरी' नामक शोध पत्रिका में किया था।

एलीफेण्टा जैसे स्थान अपनी गुफाओं में चित्रकारी के बेजोड़ नमूनों को संजोने वाले सारी दुनियाँ के पर्यटकों और धर्मप्राण लोगों के लिए तीर्थस्थान बन गये। अनेक शासकों ने जैन अथवा बौद्ध धर्म स्वीकार किये और जो वैष्णव अथवा शैव धर्म अपनाये भी रहे, उन्होंने भी जैनों अथवा बौद्धों के प्रति न तो कोई दुराव रखा और न उनपर कोई अत्याचार किये। ईसा की कुछ प्रारंभिक शताब्दियों में ही भारतीय संस्कृति के प्रसार और हिन्दू राज्यों की स्थापना के क्रम दक्षिणपूर्व एशियायी देशों में प्रारंभ हो चुके थे और वहाँ भी संस्कृत अभिलेख लिखे जाने लगे थे तथा हिन्दू और बौद्ध धर्मों के प्रचार के साथ उन दोनों धर्मों के देवी देवता और मंदिर तथा विहार उकेरे और बनाये जाने लगे थे। इन सभी क्रिया-कलापों में दक्षिण भारत की ही प्रमुख भूमिकाएँ रहीं।

चालुक्य और राष्ट्रकूट शासकों ने दक्षिण भारतीय मंदिर स्थापत्य कला का वह अध्याय प्रारंभ किया, जिसमें पहाड़ों को काटकर और तराशकर पर्वत मंदिरों के निर्माण का एक महान् उपक्रम शुरू हुआ इलौरा के कैलाशनाथ मंदिर से प्रारंभकर महाबलिपुरम् के **रथों** का निर्माण करने वाले राष्ट्रकूट राजा कृष्ण और पल्लवराज प्रथम महेन्द्रवर्मन् तथा उसके पुत्र नरसिंहवर्मन् इस शैली के जनक और उन्नायक थे। पल्लवों ने द्राविड़ शैली के इन मंदिरों को महाबलिपुरम् (चेन्नई से ६० मील = लगभग १०० किलोमीटर दूर) में दक्षिण समुद्र में घुसी हुई पहाड़ियों को काटकर जिस सुन्दरता, निर्माण कुशलता, आकार महिम्नता, महान् पच्चीकारी तथा देवी-देवताओं, पशु-पक्षियों और अन्याय प्रकार की चित्रकारी से युक्तकर इन्हें बनवाया, वह उनके कारीगरों, संगतराशों, मंदिरों की कल्पनाओं और कारीगरी के पूर्णरूपों की कल्पना करने वाले वास्तुविदों एवं शास्त्रकारों के महत्तम गुणों को सहज ही प्रकाशित करता है। महाबलिपुरम् नाम प्रथम नरसिंहवर्मा की उपाधि **महामल्ल** पर आधारित महामल्लपुरम् का ही आधुनिक रूप है, जो उपर्युक्त शासक द्वारा विकसित किये गये तन्नामक नगर का द्योतक है। एक बढ़िया **पहलवान** होने के कारण ही वह **महामल्ल** कहलाता था। महाबलिपुरम् के इन प्रस्तर मंदिरों को सप्तरथ (सेविन् पैगोडाज़) कहा जाता है। इन सभी मंदिरों के निर्माण में लगभग एक सौ वर्षों का (६१०-६९० ई.) तक समय लगा था।

द्राविड़ शैली के मंदिरों के निर्माण के मुख्य क्षेत्र तमिलनाडु और आंध्र प्रदेश बने। तंजौर, मदुरै, श्रीरंगम्, चिदम्बरम्, काञ्ची, रामेश्वरम् और पट्टडकल जैसे स्थानों में ये मंदिर आगे लगभग १००० वर्षों तक बनते रहे। आगे के अध्यायों में यथास्थान इनकी शैलियों, विधाओं और विशेषताओं के कुछ वर्णन अवश्य प्राप्त होंगे। दक्षिण भारत में निर्मित इन मंदिरों में अधिकांशतः अभी भी ध्वंस से बचे हुए हैं। ये संपूर्ण मंदिर स्वयं अथवा चित्रकारी और पच्चीकारी से युक्त उनके प्रांगण, उनके स्तंभ तथा उनके अन्यान्य भाग उत्तर प्राचीन सुदूर दक्षिणी इतिहास की जानकारी के उतने ही अच्छे स्रोत हैं, जितने वहाँ की विभिन्न भाषाओं में लिखे हुए अभिलेख अथवा साहित्यिक ग्रंथ। साथ ही उन

मंदिरों में देवी-देवताओं आदि की कांस्य प्रतिमाएँ बनीं, जो वहाँ के कलात्मक इतिहास का तो परिचय देती ही हैं, धार्मिक और सांस्कृतिक इतिहास की भी वे प्रमुख स्रोत हैं।

ये मंदिर वास्तुकला, चित्रकला, मूर्तिकला और धार्मिक परंपराओं की जानकारी के जितने बढ़िया स्रोत हैं, उतना ही महत्त्वपूर्ण है उनसे ज्ञात होने वाला सामाजिक इतिहास का वह पक्ष, जिसके अध्ययन पर आजकल बहुत जोर दिया जाता है। वास्तव में दक्षिण भारतीय मंदिरों ने धर्म-सामाजिक (रेलिजियो–सोशल) संस्थाओं का एक ऐसा स्वरूप धारण कर लिया है, जिसके भूत और वर्तमान का अध्ययन बड़ा ही रुचिकर है। ऐसे बहुत से अध्ययन हुए भी हैं, जो विभिन्न दृष्टियों से बड़े उपयोगी हैं। यहाँ मंदिर संस्था के इतिहास के मोटामोटी स्वरूप मात्र को ही उपस्थित किया जा सकता है।

अन्यान्य सभी देशों, जातियों और धर्मोपासकों की धार्मिक भावनाओं, विश्वासों और आस्थाओं के प्रतीक रूप में जैसे उनके मंदिर हैं, वैसे ही हिन्दुओं के भी हैं। दक्षिण भारतीय मंदिरों में वहाँ के शैव और वैष्णव संप्रदायों, शिव और विष्णु जैसे देवताओं और उनके परिवारी देवी-देवताओं, सांप्रदायिक विश्वासों, पूजा-पाठ और स्तोत्र की पद्धतियों, वैष्णव और शैव संत-परंपराओं और उनकी गीतिक रचनाओं से सम्बद्ध विभिन्न पक्षों के दर्शन तो होते ही हैं, वैदिक यज्ञों और वैदिक साहित्य के संपादन और अध्ययन-अध्यापन के साथ सभी प्रकार के स्मार्त्त और पौराणिक तथा **रामायण** और **महाभारत** की सांस्कृतिक धाराओं के शाश्वत प्रवाह भी दिखायी देते हैं। वे उत्तर और दक्षिण की संस्कृतियों के अद्भुत संगम और मेल हैं। इन मंदिरों के अधिकांश निर्माता वे विभिन्न राजवंशों वाले शासक थे जो **अश्वमेध, वाजपेय, अग्निष्टोम** और **हयमेध** जैसे वैदिक यज्ञों के संपादन में विश्वास करते थे, मंदिरों और ब्राह्मणों को **देवदान** (**देवदेय**) और **ब्रह्मदेय** नाम से बड़े-बड़े ग्रामों का दान करते थे और उन्हें सभी राजकरों से मुक्त कर देते थे। इनमें सभी राजवंशों-चालुक्य, राष्ट्रकूट, पल्लव, चोड़, हैहय, होयसड़ और पाण्ड्य के शासक निरपवाद रूप में सम्मिलित थे।

मंदिर, ब्राह्मण और दान ऐसे तीन तत्त्व थे, जिनका आपस में एक सम्मिश्रण जैसा हो गया तथा जिनके पोषक तत्त्व थे राज्य और राजाओं द्वारा दानदत्त भूमि। यों, कुछ आधुनिक विद्वान्[१] दान प्रथा को **उपहारपरक अर्थतंत्र** (गिफ्ट इकानामी) का ही एक स्वरूप मानते हैं। किन्तु इसमें सर्वदा ही कुछ दिये जाने के बदले कुछ पाने की भावना ही छिपी हो, ऐसा स्वीकार करना बहुत आसान नहीं है। यह कहना कि जंगली और पहाड़ी सरदारों ने सैनिक शक्ति से अपने लिए बड़े-बड़े राज्यों की स्थापनाएँ कर लीं और धार्मिक मान्यता प्राप्त करने के लिए उन्होंने "स्वार्थी" ब्राह्मणों को बड़े-बड़े दान दिये तथा बदले में उन "स्वार्थी" ब्राह्मणों ने उन्हें बड़ी-बड़ी पदवियाँ और प्रतिष्ठाओं के साथ ही सूर्य और

---

१. एम् माउस, दि गिफ्ट।

चन्द्रवंशों से जोड़ते हुए क्षत्रियों का ऊँचा पद दे दिया, कुछ सतही कथन ही प्रतीत होता है। यदि विश्व इतिहास को देखा जाय तो प्राचीन से आधुनिक समय तक कदाचित् ही कोई बढ़िया शासन ऐसा दिखायी देगा, जिसने किसी न किसी रूप में शासितों के कुछ निश्चित वर्गों को सहायता, कुछ सेवाओं के बदले अथवा गरीबी दूर करने हेतु अथवा लोककल्याण की भावना से, न दी हो अथवा न देता हो। दान–प्रथा की कुछ चाटु-कारितापूर्ण और कुत्सित रूपों के बावजूद भी दान–प्राप्तकर्ता ब्राह्मण अपने घरों में, मंदिरों में, मठों में और अनेक स्थापित संस्थाओं (विद्यालयों) में पाठशालाएँ चलाते थे, अंतेवासी विद्यार्थियों को अपने घरों और परिसरों में ही रखकर उन्हें विद्यादान देते थे[१] और पारिश्रमिक के नाम पर या तो कुछ नाममात्र की व्यक्तिगत सेवा अथवा सम्पन्न विद्यार्थिओं (यथा राजपुत्र, राजकुमार या सेठ–साहूकार) से वस्तु, अन्न, वस्त्र अथवा द्रव्य रूप में कुछ साधारण दक्षिणाएँ भी प्राप्त करते थे। राज्य, राजा अथवा शासन ऐसे ही समाजसेवी ब्राह्मणों को दान देते थे। अभिलेखों से ऐसे भी उदाहरण प्राप्त होते हैं, जिनमें दान की शर्तों का पालन न करने वालों से दानदत्त सुविधाएँ छीन ली जाती थीं। विद्यालयों में प्राय: वैदिक शिक्षाएँ ही दी जाती थीं।

मंदिरों को दिये जाने वाले दान **देवदान** अथवा **देवदेय** कहलाते थे, जिनमें प्राय: उनके खर्चों को चलाने हेतु राज्य की ओर से अथवा धनी सेठ-साहूकारों—निगमों, नगरम् वणिकों, बाजार-हाटों—यहाँ तक कि विदेशी व्यापारिओं द्वारा भी, भूमि के माध्यम से, निगमों की आय से निश्चित मात्राओं में, बाजार-हाटों के मालिकों और व्यापारिओं के मुनाफों से और व्यापारिक लाभ से निश्चित अंशों में दान देने की प्रथा प्राय: सारे भारतवर्ष में प्राचीन और उत्तरप्राचीन काल में एक परंपरा सी बन गयी थी, जो लोगों के बद्धमूल विश्वासों का ही परिचायक है। प्राय: मंदिर धनसम्पन्न होते थे। इसी प्रकार साधारण लोग भी धर्मभावनाओं से प्रेरित होकर अपनी सामर्थ्य के अनुसार मंदिरों के छोटे-मोटे खर्चों को चलाने हेतु स्वेच्छया दान देते थे। मंदिरों में नित्यप्रति की छोटी-मोटी आवश्यकताओं की पूर्ति, यथा-तेल, घी, दीप, रूई, मिट्टी के पात्र, अक्षत आदि जैसी वस्तुओं को अनवरत और अबाध रूप से प्राप्त करने हेतु मंदिरों द्वारा दान में प्राप्त अपने गांवों के लोगों पर नियमित देयों का भार लगा देना भी प्रचलन में था। ये निश्चित कर या देय अधिकतर तेलमिलों, रूई के व्यापारिओं, ग्वालों, गड़ेरियों, और अन्य पशुपालकों तथा कृषकों को ही देने होते थे। अनेक मंदिर ऐसे भी थे जो सूद पर धन चलाते थे, निक्षेप और निधियाँ रखते थे और यदि सुविधा हो तो देशी और विदेशी व्यापार में हिस्सेदारी भी करते थे। लेकिन, साथ ही, ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं, जिनसे उनकी आर्थिक कठिनाइयों का परिचय प्राप्त होता है और उन्हें अपनी भूमि सूद पर गिरवी रखते हुए जाना गया है। इन

---

१. देखें १८९८ का १८वाँ और १९३८-३९ का २१०वाँ और २६८वाँ, उद्धृत, नीलकान्त शास्त्री, दि चोड़ज्, पृष्ठ ६२९ और ६३०।

लौकिक क्रियाकलापों के क्षेत्र में सर्वमान्य और राज्यसम्मत विधियों का उल्लंघन करने वालों के दण्डित किये जाने के उल्लेख भी मिलते हैं।

दक्षिण भारत में मंदिरों की समकालिक, बहुत हद तक समतुल्य और संलग्न संस्थाओं में **मठों** और **सत्रों** अथवा **क्षेत्रों** के नाम भी लिए जा सकते हैं, जो उन सभी लोगों के आश्रय और भोजन स्थल का काम करते थे, जिनको पूछने वाला कोई नहीं होता था–यथा–साधु-संन्यासी, अपाहिज, अनाथ छात्र, पठन-पाठन में रत विद्यार्थी[१], वैखानस, राही-बटोही और यायावर भिक्षु। धनीमानी लोगों और कुछ हद तक राज्य की ओर से ही इनके स्थापन और नित्यप्रति होने वाले खर्चों की व्यवस्था होती थी, जिन्हें पुण्यकाज माना जाता था। मठों में प्राय: वैदिक विद्याओं के विद्यालय भी चलाये जाते थे, जहाँ मुफ्त भोजन की व्यवस्थाएँ थीं। **सत्रों (क्षेत्रों)** में भी मुफ्त भोजन मिलता था और विद्यार्थीगण प्राय: इन्हीं दोनों में रहकर अपना विद्याध्ययन करते थे।

दक्षिण भारतीय मंदिरों का प्रबंधन ब्राह्मणों के हाथ में ही रहता था। ये वे ब्राह्मण थे, जिनके पूर्वज अत्यन्त प्राचीन काल से ही अपनी सांस्कृतिक और धार्मिक यात्राओं के सिलसिले में उत्तर भारत से दक्षिण की ओर चले गये थे और सांस्कृतिक गतिविधियों के साथ-साथ खेती में भी विशेष दक्षता हासिल कर चुके थे। उन्होंने वहाँ के जंगलों को साफकर और वहाँ के काकतिय एवं पल्लव जैसे राजाओं को वैसा ही करने-कराने की प्रेरणा देकर कृषि के विकास को बहुत बड़ी मात्रा में उत्साहित किया। दक्षिण में धान की खेती की रोपनी परंपरा उन्होंने ही उत्तर भारत (गंगा के मध्यवर्ती मैदानों) से प्रथमत: कावेरी नदी के डेल्टा क्षेत्रों में स्थापित की, जिससे उनकी कृषिकार्य कुशलता प्रमाणित होती[२] है। मंदिरों को दान में मिलने वाले ग्राम तो सभी राजकरों से मुक्त होते ही थे, वहाँ के निवासिओं से विभिन्न प्रकार की सेवाएँ लेने का भी उन्हें अधिकार मिल जाता था। ये वे सेवाएँ थीं, जिन्हें दानपूर्व की स्थिति में राज्य अथवा राजा प्राप्त करता था। मंदिरों के विशाल प्रांगण होते थे, जिनमें बड़े-बड़े अन्नकोठार भी बने होते थे। ये कोठार मंदिर की भूमियों से उत्पन्न अन्नों तथा दानदत्त ग्रामों के निवासिओं द्वारा नियमत: प्रदत्त अन्नों अथवा उनकी निजी भूमियों पर उत्पन्न अन्नों के अधिशेषों से भरे जाते थे। ग्रामवासिओं द्वारा मंदिर की विभिन्न प्रकार की सेवाएँ की जाती थीं–यथा सफाई-दफाई, फूल-मालाओं की सेवा, आगन्तुकों की देख-रेख और सुरक्षा के कार्य आदि। मंदिरों के इन सेवकों के भी दो वर्ग थे, जो शूद्र अथवा अत्यज वर्ग के थे। जो शूद्रवर्ग मंदिरों की भीतरी सेवाओं में लगा होता था वह तो पूरी तरह स्पृश्य था और मंदिरों में रहता भी था, जहाँ उनके घर बने रहते थे। किन्तु कुछ ऐसे

---

१. तिरुवाडुतुरै से प्राप्त ११२१ ई० का विक्रम चोड़ का अभिलेख; देखें १९२५ का १५९वाँ, (ऐनुअल् रिपोर्ट्स् ऑन् एपिग्राफी)।

२. देखें, रोमिला थापर, दि पेंगुइन हिस्ट्री ऑफ् अर्ली इण्डिया, पृष्ठ ३३७।

भी निम्न माने जाने वाले लोग थे जो मंदिरों से सम्बद्ध होते हुए भी उत्तर भारतीय अन्त्यजों जैसे थे और जिन्हें अपवित्र माना जाता था । वे मंदिरों के भीतर निवास नहीं बना सकते थे । ऐसे वर्गों में कुम्हार, भंगी और चर्मकार आदि थे, जो अस्पृश्य थे और यज्ञ की कोई भी सामग्री छू नहीं सकते थे ।

मंदिरों में स्तोत्र पाठ करने वाले और पुजारी ब्राह्मण थे, जो प्राय: वैदिक कर्मकाण्ड में निष्णात थे । गर्भगृहों तक प्रवेश उन्हीं तक सीमित था । मंदिरों में दीप-प्रज्वालन और देवस्तुतियों के गायन स्पृश्य शूद्रों के हाथ में था । धीरे–धीरे मंदिरों के आकार, उनकी आय के साधन और उनकी धनसंपत्ति इतनी बढ़ गयी और कर्मचारिओं की संख्याएँ भी इतनी हो गयीं कि उन सबके प्रबन्ध हेतु, वहाँ चलने वाली पाठशालाओं और सत्रों के प्रबन्ध हेतु, आगन्तुक साधुओं-सन्यासिओं, भिक्षुकों और तीर्थयात्रिओं की भोजन-व्यवस्थाओं के हेतु प्राय: सभी मंदिरों को प्रबन्धकारिणी समितियों[१], मैनेजरों और कर्मचारिओं-जैसी संस्थाओं को स्थापित करना पड़ा । इस कार्य में स्थानीय प्रशासन और राज्य द्वारा नियुक्त अधिकारिओं की मदद और कभी–कभी अव्यवस्था होने पर उनके हस्तक्षेप के अनेक आभिलेखिक प्रमाण चोड़ अभिलेखों से प्राप्त होते हैं[२] । इन समितियों में ब्राह्मणों के अतिरिक्त वेल्लर (वेड्ड़र) कहलाने वाले स्थानीय भूमिपति तथा शूद्र लोग भी सम्मिलित होते थे ।

समय बीतते जाने के साथ तमिल कविओं ने भक्तिगीतों द्वारा इन मंदिरों को अपनी वीणाओं के माध्यम से सर्वदा गुंजायमान रखने की प्रथा प्रारंभ की । **आल(ड़)वार** और **नायनार** नामक वैष्णव और शैव संतों ने भी अपनी रचनाओं के गान वहाँ प्रारंभ कर दिये । नृत्य और गीत मंदिरों के अभिन्न अंग हो गये और नर्तकियाँ शाश्वत रूप से उनमें निवास करने लगीं, जो भक्तिगीत तो गाती ही थीं, मंदिर के विविध सेवाकार्यों में भी भाग लेती थीं । धीरे-धीरे **देवदासी** नामक उनका एक वर्ग ही बन गया, जिसके कुछ सामाजिक दुरुपयोग भी किये गये ।

दक्षिण भारतीय, विशेषत: चोड़ कालीन, मंदिरों के सामाजिक महत्त्व और योगदान के सम्बन्ध में नीलकान्त शास्त्री[३] कहते हैं : 'इसका वह स्वरूप समाप्त हो गया, जब वे ईंट और गारे मात्र के छोटे-छोटे निर्माण मात्र थे और ग्रामीणों के पूजास्थल मात्र थे । पत्थरों द्वारा बनाये जाने वाले मंदिरों का नया विचार सौन्दर्य और कुशलनिर्माण के गुणों को बढ़ाने वाला सिद्ध हुआ । फलत: प्रत्येक मंदिर में भूमि और स्वर्ण जैसी दान की वस्तुओं के भंडार बढ़ने लगे और उनके रखरखाव के प्रबन्धन के स्वरूपों का विस्तार

---

१. चोड़ शासक वीरराजेन्द्र का तिरुमुक्कूडल अभिलेख, १०६७ ई०, एइ० जिल्द २१, पृष्ठ २२१ और आगे ।

२. वहीं ।

३. दि चोड़ज़् १९५५, पृष्ठ ६५२-६५३ ।

हुआ–एक ऐसा स्वरूप और प्रबन्धन जिससे हम अब अपरिचित से हो चुके हैं। मंदिरों में इकट्ठा किया जाने वाला अकूत धन उन्हें पार्श्ववर्ती निवासिओं से अधिकाधिक सहयोग और साहचर्य्य में लाता गया"। "तंजौर के राजराजेश्वर मंदिर के निर्माता प्रथम राजराज की आंखों के सामने ही उसके निर्माण ने तो ऐसा भव्य और विशाल स्वरूप प्राप्त कर लिया, जिसका कोई प्रतिरूप ही नहीं है। इसके प्रबन्ध हेतु जो बहुत ही व्यापक व्यवस्थाएँ की गयीं और उनके ब्यौरे मंदिर की दीवारों पर आभिलेखिक रूप में खुदवाये गये, वे अगली पुश्तों के लिए आदर्श बन गये। मंदिर को साधारण लोगों के जीवन से अधिक से अधिक नजदीक लाने और उन सबके घुलने मिलने का जो जानाबूझा उपक्रम किया गया, वह सब कुछ इन (उपर्युक्त) आभिलेखिक व्यवस्थाओं में स्पष्ट होता है।"

मठों का जनोपयोगी और जनतांत्रिक स्वरूप क्या था, इसका प्रमाण १२४८ ई० के गोविन्दपुत्तार से प्राप्त[१] एक अभिलेख से होता है। तदनुसार, चिदंबरम् के निवासी सुब्रह्मण्यम् शिव ने कई लोगों से भूमि खरीदकर एक मठ का निर्माण कराया और यह व्यवस्था की कि उस भूमि की आय से धर्मयात्रिओं को अरण्डी तेल और नमक की व्यवस्था होगी। साथ ही, जिन छात्रों को देखने वाला कोई नहीं होगा, उनकी बीमारी के समय दवा आदि का भी प्रबन्ध होगा। उसने यह व्यवस्था भी की कि उसके उत्तराधिकारी भी, उसी की भांति, भविष्य में उस मठ के प्रबन्धक होंगे और स्थापित व्यवस्थाओं को वे जारी रखेंगे।

आर्थिक–राजनीतिक-सैनिक प्रतिद्वन्द्विताएँ

यद्यपि ६०० ई० पश्चात् के बाद भारतीय राजनीति के मुख्य केन्द्र के रूप में उत्तर भारत में केवल कनौज नगर और उसके अधीन के क्षेत्र मात्र बचे रहे, दक्षिणापथ और सुदूर दक्षिण में अनेक नये राजनीतिक और सैनिक केन्द्रों का प्रादुर्भाव हुआ, जो सभी आपस में सतत् प्रतिद्वन्द्विता करते रहते थे, जो हर्ष-पुलकेशी के समय से प्रारंभ होकर कल्याणी के शासक षष्ठ विक्रमादित्य और तंजाऊर के चोड़ शासक तृतीय राजेन्द्र चोड़ के समय के आते–आते अपने उच्चतम बिन्दु को छूने लगी थी। बार-बार एक दूसरों के विरुद्ध सैनिक धावों-प्रतिधावों और एक दूसरे की राजधानियों पर चढ़ जाने, अल्पकाल के लिये उनपर अधिकार कर लेने और पुनः लौटकर दूसरी ओर मुड़ जाने के महत्त्वाकांक्षी सैनिक अभियानों के रूप में ये प्रतियोगिताएँ चलती रहीं। इसे उत्तर प्राचीन भारतीय इतिहास की एक मुख्य प्रवृत्ति कहा जा सकता है। नीलकान्त शास्त्री ने इस युग को "तीन साम्राज्यों के संघर्ष" और "दो साम्राज्यों के संतुलन" की संज्ञा दी है।[२]

यह देखना आवश्यक है कि इनके पीछे उद्देश्य क्या थे, लक्ष्य क्या थे और

१. १९२९ का १९२, नीलकान्त शास्त्री, दि चोड़ज्, पृष्ठ ६५१।
२. ए हिस्ट्री ऑफ् साउथ इण्डिया का हिन्दी अनुवाद, आठवें और नवें अध्याय, बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, पटना।

प्रतिस्पर्द्धिओं को किन उपलब्धियों की प्राप्ति की आशाएँ थीं। तत्युगीन राजनीति की एक सैद्धान्तिक प्रवृत्ति यह थी कि प्रत्येक बड़ा शक्तिशाली शासक बिना किसी हिचक के छोटे क्षेत्रों पर अपना प्रशासकीय और सैनिक अधिकार कर लेने की इच्छा रखता था। 'विजिगीषु' होने की ललक, 'चक्रवर्ती' कहलाने का मोह और 'असुरविजयी' एव 'धर्मविजयी' होकर **अश्वमेध** यज्ञ सम्पन्न कराने के राजनीतिक सिद्धान्त शक्तिशाली शासकों के मन में हिलोरें मारते रहते थे। किन्तु यदि इस सारे युग की आर्थिक भूमिकाओं की परीक्षा की जाय तो व्यापार और कृषि के विभिन्न स्त्रोतों और क्षेत्रों पर अधिकार कर लेने या उसे बनाये रखने की इच्छाएँ ही इन सभी प्रतिद्वन्द्विताओं के मूल में दिखायी देंगी। हर्ष-पुलकेशिन् युद्ध के पीछे मालवा, लाट और गुजरात के प्रदेशों पर अपना-अपना आधिपत्य बनाये रखना ही मूल कारण प्रतीत होता है। समस्त गांगेय प्रदेशों का बाह्य व्यापार उज्जयिनी (मालवा) से होकर गुजरात होता हुआ पश्चिमी समुद्रों के माध्यम से ही होता था। पुलकेशिन् के पास एक कुशल नौबेड़ा था, जिसके बल पर ही उसने पुरी अर्थात् एलीफैण्टा (पश्चिमी समुद्र की लक्ष्मी) और गोवा (रेवतीद्वीप) के समुद्रतटीय द्वीपों और बन्दरगाहों पर कब्जा किया था[१]। उसे 'तीन महाराष्ट्रों का स्वामी' कहा गया है जो महाराष्ट्र से लेकर उत्तरी मैसूर तक के समुद्री किनारों पर उसके आधिपत्य का द्योतक है। दक्षिण दिशा में स्थित काञ्ची के पल्लवों के विरुद्ध उसने जो चालुक्य–पल्लव संघर्षों की एक लम्बी कड़ी प्रारंभ की उसमें मात्र 'दिग्विजय' की इच्छा ही प्रबल रही हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता। वास्तव में उसका मूल राज्यक्षेत्र, महाराष्ट्र, एकदम पठारी और पहाड़ी था, जहाँ कृषिक उत्पत्ति बड़ी कठिनाई से ही प्राप्त होती थी। अत: उसकी दृष्टि पूर्वी समुद्र में गिरने वाली तुंगभद्रा, कृष्णा और कावेरी नदियों के उन डेल्टों पर रही होगी, जिसे आजकल रायचूर का दोआब और 'धान के कटोरो' के रूप में जाना जाता है। यह प्रदेश अधिकांशत: पल्लव शासकों के अधीन था जो सहज ही उसपर से अपना अधिकार खोने को तैयार नहीं थे। फलत: पल्लव शासक प्रथम नरसिंहवर्मन् और पुलकेशिन् (द्वितीय) के बीच पल्लव–चालुक्य सैनिक संघर्षों का जो तांता शुरू हुआ, वह आगे तीन पल्लव राजाओं और वातापी के सभी चालुक्य शासकों के मध्य कई पुश्तों तक (लगभग एक सौ वर्षों तक) अनवरत चलता रहा। द्वितीय पुलकेशिन् की मृत्यु, उसकी राजधानी वातापी पर अल्पकाल के लिए पल्लवों का अधिकार (पल्लवराज की **वातापीकोण्डा** की उपाधि) और अन्तत: चालुक्य राज्य के पतन में ये युद्ध बहुत बड़े कारक सिद्ध हुए। इन घटनाओं की चर्चा आगे के अध्यायों में यथास्थान की जायगी।

पल्लव राज्य के दक्षिण-पश्चिम में मदुरै का पाण्ड्य राज्य पड़ता था। दोनों राज्यों की स्थापाना लगभग समकालिक ही थी। पाण्ड्यों का प्रारंभिक इतिहास तो सैनिक दृष्टि

---

१. रविकीर्त्ति रचित अहिहोड़ अभिलेख, श्लोक १३, एपि० इण्डिका, जिल्द ६, पृष्ठ १-१२।

से बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं सिद्ध हुआ, किन्तु उनकी एक बड़ी उपलब्धि थी उन कलभ्र आक्रामकों पर विजय पाना, जिन्होंने सारे दक्षिण भारत में इस समय अपने धावों से तबाही और उत्पात मचा रखा था। पाण्ड्य राजा अरिकेसरिन् (६७०-७१० ई० प०) महान् योद्धा था। उसकी उपाधि **मानवर्मन्** थी। उसने संभवत पल्लवों के विरुद्ध चालुक्यों से मित्रता स्थापित की थी। आगे भी कई बार पल्लव-पाण्ड्य मुठभेड़ें होती रहीं।

'तीन साम्राज्यों के संघर्ष' का अगला दौर मान्यखेट के राष्ट्रकूट शासकों के समय प्रारंभ हुआ। द्वितीय पुलेकशिन् के समय जैसे चालुक्यों ने उत्तर और दक्षिण दोनों ही दिशाओं में शक्ति संतुलन के सिद्धान्तों को कार्यान्वित किया, वैसे ही महाराष्ट्र में बादामी के चालुक्यों के उत्तराधिकारी राष्ट्रकूटों ने भी दोनों दिशाओं की राजनीति में हस्तक्षेप किया। किन्तु राष्ट्रकूटों के उत्तर भारतीय राजनीति में हस्तक्षेप अधिक गम्भीर और दीर्घकालिक सिद्ध हुए। वास्तव में हर्ष और शशांक की मृत्यु के बाद उत्तर भारत की राजनीति में एक शून्य और अंधकार की स्थिति उत्पन्न हो गयी थी, जिसे बौद्ध इतिहासकार तारानाथ एक 'अराजक' (**मात्स्यन्याय**) अवस्था का नाम देता है। ऐसी ही दशा में **'प्रकृतियों'** ने बंगाल में पालवंश के संस्थापक गोपाल को अपना राजा [1]चुना। इसी समय मालवा और राजस्थान से पूर्वोत्तर की ओर बढ़ते हुए गुर्जर प्रतीहारों ने कनौज पर अधिकार कर लिया और उत्तर भारत में उनकी शक्ति का विस्तार होने लगा। बंगाल के धर्मपाल और देवपाल जैसे शासक भी अत्यन्त महत्त्वाकांक्षी थे और कनौज के पार्श्ववर्ती क्षेत्रों पर अपना अधिकार कर लेने के प्रयत्न में बार-बार प्रतीहारों से भिड़ते रहे[2]। किन्तु कुछ प्रारंभिक सफलताओं के होते हुए भी कनौज पर अधिकार करने में वे सफल नहीं हो सके और प्रतीहार शासक उत्तरी, मध्य तथा पश्चिमी भारत पर पूरी तरह अधिकार कर कनौज को अपनी राजधानी बनाकर तत्कालीन भारत की सर्वप्रमुख राजनीतिक शक्ति बन गये। यह स्थिति महाराष्ट्र के राष्ट्रकूटों को पसन्द नहीं थी और पहले तो उन्होंने पालों और प्रतीहारों-दोनों को-कभी बारी–बारी से और कभी एक ही साथ, अपने सैनिक आक्रमणों द्वारा तोड़ने का प्रयत्न किया। किन्तु बाद में मुख्य रूप से प्रतीहार क्षेत्रों को ही अपना निशाना बनाया। वत्सराज प्रतीहार (७७५-८०० ई०) और धर्मपाल (पाल शासक) (७७०-८१० ई०) प्रथमत: ध्रुव **निरूपम** के आक्रमण से त्रस्त हुए और वत्सराज को अपने पैतृक क्षेत्रों (राजस्थान की मरुभूमि) में भागना पड़ा। परन्तु ध्रुव के लौट जाने के बाद द्वितीय नागभट्ट (८००-८३३ ई०) स्थायी रूप से कनौज साम्राज्य का **महाराजाधिराज** हो गया। किन्तु

१. खालिमपुर अभिलेख, श्लोक २, एपि० इण्डिका, जिल्द ४, पृष्ठ २४८; इ० ऐ० जिल्द ४, पृष्ठ ३६६।

२. देखें, विशुद्धानन्द पाठक, उत्तर भारत का राजनीतिक इतिहास, आठवें और नवें अध्याय।

उसे भी तृतीय गोविन्द के आक्रमणों का मुकाबला करना पड़ा[१]। प्रतीहारों पर राष्ट्रकूटों के आक्रमण मिहिरभोज (८३६-८८५ ई०) तथा प्रथम महीपाल (९१२-९४३ ई०) के समय भी क्रमश: अमोघवर्ष (८१४-८७८ ई०) तथा तृतीय इन्द्र के नेतृत्त्व में होते रहे। प्रथम महीपाल के समय तो राष्ट्रकूटों ने कनौज की राजगद्दी के लिए होने वाले उत्तराधिकार के युद्ध में भी हस्तक्षेप किया था।

इसके विपरीत जैसे हर्ष ने नर्मदा के तीर तक चढ़कर द्वितीय पुलकेशिन् पर आक्रमण किया था, वैसा राष्ट्रकूटों के विरुद्ध उनके शासित क्षेत्रों पर चढ़ जाने का कोई भी प्रयत्न न तो पालों ने किया और न प्रतीहारों ने ही किया। इन सत्ताओं के बीच होने वाले संघर्ष बाद में तो केवल राष्ट्रकूटों और प्रतीहारों के बीच ही सीमित हो चुके थे। वास्तव में इन संघर्षों का भी कारण वही था (व्यापारिक और कृषिक) जो हर्ष–पुलकेशी संघर्ष का कारण था। मालवा के उपजाऊ कृषिक क्षेत्रों और पश्चिमी तट के बन्दरगाहों से होकर भारत का पश्चिमी जगत, विशेषत: अरब और फारस, से होने वाला व्यापार मालवा और गुजरात से होकर ही होता था। सुलेमान सौदागर, इल्बहौकल तथा अल्-मसूदी जैसे अरब व्यापारयात्री प्रतीहारों को अरबों का शत्रु[२] और राष्ट्रकूटों (बलहर = बलभद्र = बल्लभेन्द्र) को यदि अपना मित्र बताते हैं तो इन कथनों को भी उनकी व्यापारिक प्रतिद्वन्द्विता के परिप्रेक्ष्य में ही समझा जा सकता है। यही कारण था कि राष्ट्रकूट राज्य के पश्चिमी (समुद्री) किनारों पर अरबों ने अपनी बस्तियाँ बसा ली थीं, वे अपना व्यक्तिगत कानून चलाते थे और उन्होंने अपनी मस्जिदें भी बना ली थीं[३]। इसी कारण जब-जब राष्ट्रकूटों ने उत्तर भारत पर धावे मारे तब-तब उन्होंने मालवा (महाकाल की नगरी उज्जयिनी = पश्चिमी भारत का मार्ग अथवा द्वार) से होकर ही अपनी सेनाओं का नेतृत्व किया। एक मत यह[४] है कि राष्ट्रकूटों ने (तृतीय गोविन्द ने) मालवा को अपने लाट वाले क्षेत्र का ही अंग बना लिया था।

राष्ट्रकूट तृतीय गोविन्द के समय कुछ काल तक कदाचित् भारतवर्ष की सर्वोच्च

---

१. एपि० इण्डि०, जिल्द २३, पृष्ठ २१६ और आगे तथा पृष्ठ २७६ और आगे।

२. अरब व्यापारी और यात्री प्रतिहारों को अपना शत्रु क्यों कहते हैं, इस सम्बन्ध में केवल अनुमान मात्र ही लगाये जा सकते हैं। वास्तव में ७वीं-८वीं शती के बाद अरबों ने सामुद्रिक व्यापार ही नहीं अपितु भारत के भीतरी प्रदेशों में भी व्यापार को हथिया लिया था। राष्ट्रकूटों ने तो इसका कोई प्रतीकार नहीं किया, परन्तु प्रतीहारों को कदाचित् भीतरी व्यापार में अरब अतिक्रमण स्वीकार नहीं था और उन्होंने अरबों के सैनिक बढ़ाव के साथ ही साथ उनके व्यापारिक अतिक्रमण को भी रोका।

३. इलियट ऐण्ड डाउसन्, जिल्द १, पृष्ठ ३,१३,२१ और ३४ आदि। इब्न-हौलक कहता है, "इसके (बलहर के) शहरों में मुसलमान रहते हैं, और मुसलमानों को छोड़कर और दूसरा कोई शासन नहीं करता। उनमें जामा मस्जिदें हैं, जहाँ मुसलमान इकट्ठा होकर प्रार्थना (नमाज) करते हैं"। इलियट ऐण्ड डाउसन्, जिल्द १, पृष्ठ ३४।

४. नीलकान्त शास्त्री, ए हिस्ट्री ऑफ् साउथ इण्डिया, हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ १५८)।

सत्ता के रूप में उभर चुके थे। उन्होंने जैसे उत्तर भारतीय राजनीति में बार–बार हस्तक्षेप किये, वैसे ही वे दक्षिण भारतीय राजनीति में भी सतत् हस्तक्षेपों से बाज नहीं आये। इसका क्रम दन्तिदुर्ग के समय से ही प्रारंभ हो चुका था। उसने वेंगी के चालुक्य शासक प्रथम विजयादित्य (७५५-७७२ ई०) के विरुद्ध अपने **युवराज** द्वितीय गोविन्द के नेतृत्व में एक सेना भेजी और उसे अधीनता स्वीकार करने को विवश किया। बाद में द्वितीय ध्रुव ने भी वेंगी के राजा चतुर्थ विष्णुवर्धन के राज्य के कुछ हिस्सों को युद्ध में जीत लिया। ध्रुव के उत्तराधिकारी तृतीय गोविन्द को तो बारह राजाओं का विजेता कहा गया है। किन्तु उसकी सबसे बड़ी विजय काञ्ची के पल्लव शासक दन्तिवर्मन् (७९६-८४६ ई०) के विरुद्ध थी, जिसकी राजधानी में प्रवेशकर वहाँ सिंहल (लंका) के शासक के राजदूत से उसने भेंट की और उसके माध्यम से लंका के राजा द्वारा अपनी अधीनता स्वीकार करवायी। तत्पश्चात् गोविन्द ने तुंगभद्रा के तीर पर रामेश्वरम् में अपना शिविर स्थापित किया। वेंगी के चालुक्य राज्य के उत्तराधिकार के मामलों में भी उसने हस्तक्षेप किया।

तृतीय गोविन्द के आक्रमण और दूसरी ओर से पाण्ड्यों के आक्रमण के कारण दन्तिवर्मन् के अधीन पल्लव राज्य की सत्ता क्षीण होने लगी। उसका उत्तराधिकारी हुआ तृतीय नन्दिवर्मन् (८४६-८६६ ई०), जो कुछ अधिक योग्य था। उसने राष्ट्रकूटों को मिलाकर एक सैनिक संघ तैयार किया और पाण्ड्यों को पराजित किया। किन्तु उसकी यह सफलता अल्पकालिक ही रही और कुछ ही समय के अन्तराल के बाद ८५९ ई० में कुम्भकोणम् के युद्ध में पाण्ड्य सेनाओं के हाथों उसे पुनः हार झेलनी पड़ी।

तथापि नन्दिवर्मन् (तृतीय) अपनी पुरानी प्रतिष्ठाओं और राज्य सीमाओं को अक्षुण्ण बनाये रखने में अन्ततः सफल सिद्ध हुआ। उसने पल्लवों के पूर्वगौरव को वापस पा लेने में कुछ हद तक सफलता पायी और वह विद्या, विद्वानों, कला और साहित्य का उदार-आश्रयदाता सिद्ध हुआ। उसके पास एक अच्छी नौसेना थी और दक्षिणपूर्व एशियायी देशों से होने वाले भारतीय व्यापार में उसकी अच्छी हिस्सेदारी भी थी। थाईलैण्ड (स्याम) की खाड़ी के तट पर स्थित तकुआ-पा नामक द्वीप में पाया जाने वाला उसका एक अभिलेख उसके समुद्रपारीय सम्बन्धों का परिचय देता है। उस अभिलेख में एक विष्णु मंदिर तथा अवनिनारायणम् नामक तालाब के उसके द्वारा निर्माण का उल्लेख मिलता है। उसकी स्वयं की एक उपाधि थी **अवनिनारायण**।

राष्ट्रकूट शासक प्रथम अमोघवर्ष के समय वेंगी के चालुक्यों ने विद्रोह कर दिया किन्तु युद्ध में उन्हें पराजित कर उसने पुनः उनपर राष्ट्रकूट आधिपत्य स्थापित किया।

राष्ट्रकूटों और चालुक्यों बनाम पल्लवों के बीच सतत् होने वाले इन युद्धों के मुख्य कारण भी आर्थिक, कृषिक और व्यापारिक ही प्रतीत होते हैं। उनके बीच में आंध्र प्रदेश और तमिलनाडु के पूर्वी समुद्री किनारों पर अथवा उनके भीतर और पिछले प्रदेशों पर के

छोटे–छोटे राज्य भी इन आक्रामकों के बीच पिसते रहते थे। इनमें वेंगी के चालुक्य, बाद के काकतिय तथा पूर्वी तट के वनवासी के गंग जैसे राज्य मुख्य रूप से गिनाये जा सकते हैं। ये उपजाऊ प्रदेशों पर स्थित थे और पूर्वी तटों के अनेक बन्दरगाहों से संलग्न थे, जहाँ से विदेशी व्यापार होता था। दक्षिण भारतीय बड़ी सत्ताओं के मध्य होने वाले संघर्षों में आर्थिक पहलू वाले इस तथ्य की अनदेखी नहीं की जा सकती। काकतिय राज्य तो ऐसा था, जो समुद्री व्यापार के उपयुक्त अपने बन्दरगाहों का पूरी तरह लाभ उठाता था। वहाँ के शासक गणपतिदेव (११९९-१२६२ ई०) का मोतुपल्ली अभिलेख[१] एक ऐसा आलेख है, जो केवल व्यापार सम्बन्धी सूचनाएँ देता है; विदेशी जहाजों को बन्दरगाह के भीतर होने वाले शोषण और जबरदस्ती का उल्लेख करता है और पुन: गणपतिदेव द्वारा नये नियम बनाकर उनकी सुरक्षा और सुविधा का विधान उपस्थित करता है।

ऊपर वर्णित 'तीन साम्राज्यों के संतुलन' के युग के बाद दक्षिण में चोड़ो की संप्रभुता का ९वीं शताब्दी के मध्य से लगभग ४ शताब्दियों आगे तक का एक ऐसा काल प्रारंभ हुआ, जो भारतीय इतिहास में कई दृष्टियों से अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है। इस बीच कुछ समय तक तो राष्ट्रकूट सत्ता महाराष्ट्र में जीवित रही, किन्तु शीघ्र ही उनका स्थान कल्याणी के चालुक्यों ने ले लिया और उसके अनेक शक्तिशाली शासकों ने उत्तर भारत और सुदूर दक्षिण, दोनों ही दिशाओं, में अपनी राजनीतिक और सैनिक शक्ति का अहसास कराया। चोड़ शासकों ने धीरे-धीरे पूरे पल्लव क्षेत्रों पर अपना सैनिक और प्रशासकीय अधिकार फैला लिया और उनकी राज्यसीमाएँ चालुक्य सीमाओं से टकराने लगीं। चोड़ों ने पाण्ड्यों को भी जीतकर **मदुरैकोण्डा** की उपाधि धारण की (९०१ ई०)। साथ ही, वेंगी का पूर्वी चालुक्य वंश भी विवाहसूत्र के माध्यम से उनके प्रभाव क्षेत्र में आ गया और अन्तत: चोड़ साम्राज्य का एक अभिन्न अंग बन गया। निष्कर्षत:, तुंगभद्रा नदी के दक्षिण का सारा क्षेत्र चोड़ सत्ता के अधीन चला गया। चोड़ों की ये अधिकांश उपलब्धियाँ प्रथम राजराज (९८५-१०१४ ई०) के शासन काल में तथा उसके बाद ही प्राप्त हुईं। उसी के समय से कल्याणी के चालुक्य सम्राटों से भी, वे सतत् चलने वाले युद्ध प्रारंभ हुए जो षष्ठ विक्रमादित्य (१०७६-११२६ ई०) और द्वितीय राजेन्द्र (१०१४-१०४५ ई०) चोड़ का समय आते-आते विकराल रूप धारण कर चुके थे। इन दोनों सत्ताओं के बीच युद्ध का मुख्य कारण रायचूर के दोआब पर अधिकार तथा वेंगी के पूर्वी चालुक्य राज्य पर प्रथमत: अधिसत्ता और बाद में पूर्ण अधिकार की दोनों तरफ से प्रयत्न और इच्छाएँ ही थीं। अन्तत:, दोनों क्षेत्रों ने चुपचाप तुंगभद्रा नदी को अपनी–अपनी सीमाएँ मान लीं और वेंगी चोड़ों के प्रभाव क्षेत्र में चला गया।

कल्याणी के षष्ठ विक्रमादित्य (१०७६-११२६ ई०) ने अपने बड़े भाई

---

१. एपि० इण्डिका, जिल्द १२, पृष्ठ १४५।

२. देखें, आगे पृष्ठ ३९२-३९३।

सोमेश्वर के विरुद्ध विद्रोह कर तथा उसे मारकर राजगद्दी हथिया ली थी । अत: अपने शासन के कुछ प्रारंभिक वर्षों तक सामन्तों, राज्याधिकारिओं और पार्श्ववर्ती राज्यों के प्रति उसने मित्रता बरती । परन्तु उसकी महत्त्वाकांक्षाएँ इतनी बड़ी थीं कि उसकी मित्रता का स्वांग बहुत दिनों चलने वाला नहीं था । इसके पूर्व चालुक्यों और चोड़ों के बीच वैवाहिक सम्बन्ध भी स्थापित हो चुके थे, किन्तु उन दोनों की मित्रताएँ बहुत दिनों तक चल नहीं सकीं । दोनों का टकराना स्वाभाविक था । किन्तु दोनों ही इतनी बड़ी-बड़ी सैनिक महत्त्वाकांक्षाओं के शिकार थे कि केवल दक्षिण में ही नहीं, उत्तर भारतीय मैदानों को भी कई बार उनकी सेनाओं ने रौंदा और बंगाल तथा उड़ीसा तक चोड़ सेनाएँ धावे मारने लगीं । उन्हीं आक्रमणों के साथ अनेक दक्षिण भारतीय और कर्णाट ब्राह्मण भी बंगाल और उड़ीसा गये और वहाँ प्रतिष्ठापूर्वक बस गये । कुछ ने वहाँ अपने राज्य स्थापित कर लिए और **ब्रह्मक्षत्र** परंपरा की नींव मजबूत की ।

●

अध्याय २
बादामी के चालुक्य

गोदावरी और कावेरी नदियों के बीच में बसा हुआ कर्नाटक का प्रदेश एक भौगोलिक इकाई के रूप में अत्यन्त प्रारंभ से ही भारतीय इतिहास में अपनी छाप छोड़ने में समर्थ रहा। 'कर्नाटक' शब्द की उत्पत्ति कैसे हुई और इसका मूल क्या है, यह तो विवाद का विषय है, किन्तु भारतीय इतिहास के उत्तर प्राचीन युग में छठीं से १३वीं शताब्दियों के बीच अन्यान्य भारतीय क्षेत्रों की तुलना में इसकी भूमिकाएँ कभी भी नगण्य नहीं रहीं। वें भूमिकाएँ बादामी से शासन करने वाले चालुक्य वंश की स्थापना के साथ ही प्रारंभ हुईं। चालुक्य शासक कदम्बों के बीजापुर के क्षेत्रों से उठने वाले उनके राजनीतिक उत्तराधिकारी थे।

चालुक्यों की उत्पत्ति अन्धकार और किंवदन्तियों के गर्त में छिपी हुई है। स्वयं बादामी के चालुक्यों के अभिलेख इस प्रश्न पर कोई विशेष प्रकाश नहीं डालते। इनके बारे में जो कुछ भी ज्ञात होता है, वह अपने को इन्हीं का वंशज कहने वाले, कल्याणी से शासन करने वाले, पश्चिमी चालुक्यों के कुछ अभिलेखों और बिल्हणकृत **विक्रमाङ्कदेव-चरित** जैसे बहुत बाद वाले साक्ष्यों से ही ज्ञात होता है। इनके मूल पुरुष अथवा वंशनाम में भी कोई एकरूपता नहीं दिखायी देती। अभिलेखों में इस नाम के कई रूप दिखायी देते हैं, यथा–चल्कि, चुलुकि, चलुक्य, चालुक्य और चौलुक्य। नागार्जुनिकोण्डा से प्राप्त तीसरी शताब्दी के एक अभिलेख में खण्ड चलिकि रम्मड़तक नाम प्राप्त होता है, जिससे भी कुछ लोगों ने चालुक्य नाम को मिलाया है[१]। बिल्हण के अनुसार (११वीं शती) इन्द्र की प्रार्थना पर ब्रह्मा ने राक्षसों के विनाश हेतु अपने चुलुक (चुल्लू) में रखे हुए पवित्र जल से एक वीर को उत्पन्न किया जिसका नाम चौलुक्य पड़ा। दूसरी किंवदन्ती यह[२] है कि चालुक्यों के वंशज अयोध्या के क्षत्रियवंशी लोग थे, जो बाद में दक्षिणापथ चले गये[३]। किन्तु ये सारी कथाएँ चालुक्य वंश की अवनति के बहुत बाद की हैं और उनपर विश्वास करना कठिन है।

वर्तमान समय में कर्नाटक के लेखक चालुक्यों की उत्पत्ति का मूल वहाँ की ही किसी मूल निवासी जाति में ढूँढ़ते हैं, जो किसी प्रतिकारक साक्ष्य के अभाव में स्वीकार्य

---

१. नीलकान्त शास्त्री, दि अर्ली हिस्ट्री ऑफ् दि डेकन, पृष्ठ २०४।

२. कौथेम अभिलेख (विक्रमादित्य पञ्चम, इण्डियन् ऐण्टीक्वेरी, जिल्द ८, पृ०२९) के अनुसार:— समस्तभुवनसंस्तुत्यमान मानव्यगोत्राणां हारीतिपुत्राणां कौशिकीवरप्रसादलब्ध---।

३. इस सम्बन्ध की पूरी प्रशस्ति द्वितीय पुलकेशी के ६१३ ई० के हैदराबाद प्रशस्ति में प्राप्त होती है। देखें, ईस्टर्न चालुक्यज़ ऑफ् वेंगी, भवराजुवेंकटकृष्णराव, पृ० ५१।

प्रतीत होता है। इस सिद्धान्त के पक्ष में तर्क देते हुए वे कहते[१] हैं कि चालुक्यों ने भी कदम्बों की ऐतिहासिक परंपरा को कायम रखा, उनके राजाओं और वंशनाम पूर्णतः कन्नड़ हैं–जैसे पुलकेशी (सिंह के बालों वाला) और बिट्टरस। जो चालुक्य वंश कर्नाटक से बाहर जाकर शासन करने लगे, उन्होंने ने भी अपने कन्नड़ नामों को नहीं छोड़ा; उन्होंने कन्नड़ साहित्य को प्रोत्साहित किया; उनकी सेना कर्णाटबल कहलाती थी तथा कदम्ब और चालुक्य दोनों ने ही अपने को हारितिगोत्री और मानव्यवंश का माना।

अतः चालुक्य वंश को कन्नड़ क्षेत्र की किसी मूलजाति से उत्पन्न हुआ स्वीकार करते हुए उनका बहुत बाद में उपस्थित किया जाने वाला यह दावा काल्पनिक ही माना जाना चाहिए कि उनके पूर्वज अयोध्या के रहनेवाले सूर्यवंशी (हारितिवंशी, मानव्यगोत्री) क्षत्रिय थे, जो कालान्तर में दक्षिणापथ के कर्नाटक क्षेत्र में जाकर अपने लिए एक स्वतंत्र राज्य स्थापित करके शासन करने लगे। किन्तु उस मूल कन्नड़ जाति के ऊपर उत्तर भारतीय वैदिक संस्कृति और संस्कृत का प्रभाव स्थापित हो चुका था और वे **वल्लभ, श्रीवल्लभ** और **पृथिवीवल्लभ** उपाधियों को धारण करने वाले वैष्णव धर्मावलम्बी और अनेक प्रकार के वैदिक यज्ञों का सम्पादन करने वाले हो चुके थे।

बादामी से शासन करने वाले चालुक्य शासकों में प्रथम नाम जयसिंह और रणराग के प्राप्त[२] होते हैं। यद्यपि बहुत बाद में कल्याणी से शासन करने वाले पञ्चम विक्रमादित्य के कौथेम अभिलेख और अन्य परवर्ती चालुक्य अभिलेखों में जयसिंह को राष्ट्रकूट शासक कृष्ण के पुत्र इन्द्र का विजेता कहा गया है, इस कथन को बहुत महत्त्व नहीं दिया जा सकता। डॉ० अल्तेकर इसे पूरी तरह अविश्वसनीय मानते हैं। किन्तु ऐसा नहीं प्रतीत होता कि वे बहुत प्रसिद्ध थे। वंश का वास्तविक संस्थापक तो प्रथम पुलकेशी[३] ही था (५४०-५६६ ई०), जिसने एक स्वतंत्र राज्य की स्थापना की। शक सम्वत् ४६५ (५४३ ई०) का उसका बादामी पहाड़ी अभिलेख यह सूचित करता[४] है कि उसने बादामी में एक पर्वतदुर्ग निर्मित कराया और अपनी विजयों के उपलक्ष्य में **अश्वमेध** सहित अनेक यज्ञों का सम्पादन कराया। इस प्रकार बीजापुर के क्षेत्रों पर चालुक्य वंश का अधिकार संपुष्ट हो गया। उसने **महाराज** की उपाधि धारण की। उसे **सत्याश्रय** और **रणविक्रम** भी कहा गया है। भगवान् विष्णु में उसके धार्मिक विश्वास की सूचक उपाधियाँ भी ज्ञात होती हैं, यथा-**श्रीपृथिवीवल्लभ, श्रीवल्लभ** अथवा **वल्लभ**। उसके पुत्र प्रथम कीर्त्तिवर्मा के

---

१. पी०बी० देसाई, ए हिस्ट्री ऑफ् कर्नाटक, पृष्ठ ९१; और देखें, नीलकान्त शास्त्री, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ २०४-२०५।

२. अहिहोड़ अभिलेख, श्लोक संख्याएँ ५ और ६।

३. इस नाम के कई रूप प्राप्त होते हैं, यथा—पुलिकेशिन् (व्याघ्र के बालों वाला), पोलिकेशि-न् तथा पोलेकाशिन्। कन्नड़ भाषा में व्याघ्र को पोलि कहा जाता है।

४. पी०बी० देसाई, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ९२-९३।

अभिलेखों में उसे **हिरण्यगर्भ, अग्निष्टोम** तथा **वाजपेय** यज्ञों का कर्ता बताया गया है। बादामी और कल्याणी के चालुक्य अभिलेखों में उसे ही बीजापुर जिले में स्थित बादामी नगर की स्थापना का श्रेय दिया गया है[१]। कुछ विद्वानों की यह मान्यता है कि प्रथम पुलकेशिन् ने स्वयं किसी युद्ध में नेतृत्व नहीं किया था, अपितु उसके पुत्र प्रथम कीर्त्तिवर्मन् ने ही सेनापति के रूप में उसकी सेनाओं का नेतृत्त्व करते हुए उसकी ओर से विजयें की थीं।

प्रथम पुलकेशिन् का शासन काल ५४० से ५६६ ई० पश्चात् तक निश्चित किया गया है[२]। चालुक्य वंश का सबसे पहला अभिलेख बादामी की एक पहाड़ी पर उसी ने शक सम्वत् ४६५ अर्थात् ५४३ ई० में लिखवाया, जो इस दृष्टि से अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है कि शक संवत् के प्रयोग के साथ वह कन्नड़ भाषा में प्रथम लिखित अभिलेख है। अभिलेखों में कन्नड़ भाषा का यह प्रथम प्रयोग कर्नाटक के सांस्कृतिक और राजनीतिक उदय और महत्त्व का परिचायक है।

प्रथम पुलकेशिन् के दो पुत्र थे पूगवर्मा और कीर्त्तिवर्मा। किन्तु ऐसा जान पड़ता है कि पूगवर्मा अपने पिता के सामने ही दिवंगत हो चुका था। अत: प्रथम कीर्त्तिवर्मा उसका ५६६ ई० में उत्तराधिकारी हुआ।

प्रथम कीर्त्तिवर्मा (५६६-५९७-८ ई० प०)

प्रथम कीर्तिवर्मा **कीर्त्तिराज** भी कहलाता था। अपने पिता द्वारा धारण किये गये अनेक विरुदों को उसने भी धारण किया-यथा, **सत्याश्रय, वल्लभ,** और **पृथिवीवल्लभ**। इनके अतिरिक्त उसने **पुरुरणपराक्रम** नामक उपाधि भी धारण की। कई अभिलेखों में उसे वातापी का प्रथम निर्माता कहा गया है, जो इस तथ्य का सूचक हो सकता है कि या तो वही उस नगर का वास्तविक संस्थापक था अथवा वह उस नगर की साज-सज्जा, उसके विस्तार और उसके वैभवीकरण का प्रथम प्रणेता था। उसके छोटे भाई मंगलेश के महाकूट[३] स्तंभलेख में कीर्त्तिवर्मा को बंग, अंग, कलिंग, वट्टूर, मगध, माद्रक, केरल, गंग, मूषक, पाण्ड्य, द्रमिड, चुलुक और मूलक देशों का विजेता कहा गया है। यह एक कोरी अनैतिहासिक प्रशस्ति है, जिसका कोई वास्तविक आधार ज्ञात नहीं होता। किन्तु उसके पुत्र पुलकेशी (द्वितीय) के अहिहोड़ अभिलेख का यह कथन ऐतिहासिक प्रतीत होता है कि उसने नलों, मौर्यों और कदम्ब शासकों का नाश किया[४]। इन विजित राजाओं में

---

१. द्वितीय पुलकेशी, का अहिहोड़ अभिलेख उसे 'वातापीपुरवधूवर' कहता है। श्लोक ७, एपि० इण्डिका, जिल्द ६, पृष्ठ १-१२।
२. पी० बी० देसाई, पूवनिर्दिष्ट, पृष्ठ ९३।
३. इऐ०, जिल्द १९, पृष्ठ ३६।
४. नलमौर्य्यकदम्बकालरात्रिस्तनयस्तस्य बभूव कीर्तिवर्मा। श्लोक ९, ए० इ०, जिल्द ६, पृष्ठ १-१२।

नलों का राज्य क्षेत्र बेल्लारी-कर्नूल क्षेत्रों में स्थित नलवाड़ि था[१] । मौर्य लोग कोंकण में स्थित थे और कदम्ब लोगों की एक शाखा कर्नाटक के दक्षिणी भागों में कहीं शासनस्थ थी, जिसकी राजधानी वनवासी थी । कोंकण के मौर्यों को समाप्त कर कीर्त्तिवर्मा ने अपने सम्बन्धी वप्पूरवंशी ध्रुवराज इन्द्रवर्मा को वहाँ अपने गवर्नर के रूप में नियुक्त कर दिया । इनके अतिरिक्त कीर्त्तिवर्मा ने तलक्काड़ के गंगों और दक्षिणी कर्नाटक के आलूपों को भी जीतकर अपने अधीन कर लिया । पूर्व में कदम्बों की अधिसत्ता के भीतर रहने वाले सेन्द्रक लोगों ने भी कीर्त्तिवर्मा की अधिसत्ता स्वीकार कर ली और उनकी एक राजकुमारी कीर्त्तिवर्मा से ब्याह दी गयी । उसी से कीर्त्तिवर्मा के वे चार पुत्र पैदा हुए, जिनमें द्वितीय पुलकेशी सर्वप्रमुख साबित हुआ ।

मंगलेश (५९८ ई० राज्यारोहण)

मंगलेश कीर्त्तिवर्मा का पुत्र न होकर उसका छोटा भाई था और कीर्त्तिवर्मा के पुत्र पुलकेशी (द्वितीय) की अल्पवयस्कता के कारण ही उसे राजगद्दी प्राप्त हुई थी । यह कहना कठिन है कि उसे पुलकेशी का संरक्षक माना गया था अथवा सचमुच स्वतंत्र शासक । तथापि, उसमें शासन सम्बन्धी योग्यताओं का अभाव नहीं था, जिनका परिचय उसने अपनी विजयों और शासकीय कार्यों के माध्यम से दिया । उसके नाम के कई स्वरूप ज्ञात होते हैं–यथा मंगलेश, मंगलीश, मंगलराज और मंगलीश्वर । **पृथ्वीवल्लभ** अथवा **श्रीपृथिवी-वल्लभ** के अतिरिक्त **रणविक्रान्त** और **उरुरणविक्रान्त** जैसे विरुद भी उसने धारण किये । **परमभागवत** नामक उपाधि से उसकी विष्णुभक्ति परिलक्षित होती है । रविकीर्त्ति विरचित अहिहोड़ प्रशस्ति तथा बाद के कल्याणी वाले चालुक्यों के कौथेम दानपत्र में उसके विजितों में कलचुरिओं (कटच्छुरि) और रेवतीद्वीप के शासकों की गिनती की गयी है । कलचुरि शासक उस समय मध्यभारत के बघेलखण्ड वाले क्षेत्रों में उत्तर भारत की एक शक्तिशाली सत्ता के रूप में उभर चुके थे । वे मालवा, गुजरात, महाराष्ट्र और विदर्भ पर काबिज हो चुके थे । मंगलेश द्वारा पराजित कलचुरि शासक बुद्धराज था, जो शंकरवर्मन् का पुत्र था (एइ० जिल्द २, पृष्ठ २१; जिल्द ९, पृ० २९६) । इस युद्ध का समय ६०१ ई० के आसपास स्वीकार किया गया है । रेवतीद्वीप अरब सागर का एक द्वीप[३] था, जिसे जीतकर मंगलेश ने वहाँ स्वामिराज नामक अपने वाइसराय को वहाँ का शासक नियुक्त कर दिया । किन्तु उसने विद्रोह कर दिया और उसके स्थान पर मंगलेश को अपने ननिहाल वाले वप्पूर (वटपूर) वंशी इन्द्रवर्मन् को वहाँ का दूसरा वाइसराय नियुक्त करना पड़ा[४] । पीछे हम देख चुके हैं कि कीर्त्तिवर्मा ने कोंकण देश को जीतकर

---

१. फ्लीट, डाइनेस्टीज़् ऑफ् दि कनारीज़ डिस्ट्रिक्ट्स्, पृ० ३४५ ।

२. पी०बी० देसाई, पूवनिर्दिष्ट, पृष्ठ ९३; और देखें, नीलकान्त शास्त्री, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २०९ ।

३. इसे या तो एलीफैण्टा द्वीप अथवा जंजीबार के पास के किसी द्वीप से मिलाया गया है ।

४. पी. बी. देसाई, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ९५; नीलकान्त शास्त्री, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २९० ।

इन्द्रवर्मा को वहाँ का गवर्नर नियुक्त किया था। इस प्रकार कोंकण और रेवतीद्वीप वाले दोनों ही क्षेत्र एक शासन के भीतर ला दिये गये। आगे चलकर इस स्थिति का प्रभाव यह हुआ कि जब पुलकेशिन् (द्वितीय) ने मंगलेश के विरुद्ध युद्ध छेड़ा तो स्वामिराज ने पुलकेशी का ही साथ दिया।

मंगलेश को **परमभागवत** कहा गया है, यह हम देख चुके हैं। भगवान् विष्णु में अपनी गहन भक्ति का परिचय देते हुए उसने बादामी में महाविष्णुगृह नामक गुहामंदिर का निर्माण कराया, जिसके सभी अंशों की उपयुक्तता और समानुपातिक संयोजन की कलापारखिओं ने बड़ी प्रशंसा की है। उसकी समानुपातिकता उसके **भूमिभाग** (जमीनी अंश), उपभाग (सम्बद्ध अंश) और **उपरिपर्यन्त** (ऊपर की गोलाई) में स्पष्टतः परिलक्षित होती है। जब मंदिर तैयार हो गया तो उसने उसके रख-रखाव हेतु भी पूरी व्यवस्था की। साथ ही उसने सांप्रदायिक उदारता का परिचय देते हुए शिव भक्तों के लिए भी मकुटेश्वर नामक एक अन्य मंदिर का निर्माण कराया, जिसका उल्लेख महाकूट स्तम्भलेख में प्राप्त होता है। उसने दोनों मंदिरों को भूमिदान दिये।

द्वितीय पुलकेशिन् (६१०-६११-६४२ ई० प०)

मंगलेश के अन्तिम वर्ष शान्तिपूर्वक नहीं बीत सके। उसे अपने बड़े भाई कीर्त्तिवर्मा के पुत्र, और अपने भतीजे, द्वितीय पुलकेशिन् से राजगद्दी के लिए उत्तराधिकार के एक संघर्ष का सामना करना पड़ा। मंगलेश के महाकूट अभिलेख के अनुसार[१] उसने उत्तर भारत की विजय और गंगा नदी के किनारे अपने एक कीर्तिस्तंभ की योजना बनायी थी। किन्तु उसका वह कार्यान्वयन नहीं कर सका। कदाचित् इसका कारण उत्तराधिकार का यह आसन्न युद्ध ही था। यदि अहिहोड़ अभिलेख[२] का विश्वास किया जाय तो यह लगेगा कि मंगलेश अपने बाद राजगद्दी अपने पुत्र के लिए सुरक्षित रखना चाहता था। किन्तु कीर्त्तिवर्मा के बड़े पुत्र होने के कारण पुलकेशिन् बादामी की राजगद्दी पर अपना स्वाभाविक अधिकार समझता था। आगे चलकर उसने सैनिक, प्राशासनिक और वैदेशिक

१. पी.बी. देसाई, पूवनिर्दिष्ट, पृष्ठ ९४।

२. सासूयमात्मनि भवन्तमन्तः पितृव्यं ज्ञात्त्वापरुद्धचरितव्यः सायबुद्धिः।
स यदुपचित(म) न्त्रोत्साहशक्तिप्रयोगक्षपितबलविशेषो मङ्गलेशसमन्तात् ॥
स्वतनयगतराज्यारम्भयत्ने सार्धं निजमतनु राज्यञ्जीवितोज्झति स्म ॥
अहिहोड़ अभिलेख, श्लोक संख्याएँ १४-१५। एइ। जिल्द ६, पृष्ठ १-१२।
किन्तु पुलकेशिन् के इस अभिलेख और बाद वाले बादामी के चालुक्य राजाओं के अभिलेखों से भी इस समय की राजनीति पर पूरा पूरा प्रकाश नहीं पड़ता है। उनकी तो राजवंशावली में मंगलेश का नाम तक नहीं है। वह तो कल्याणी के चालुक्य अभिलेखों से ही पूरी तरह शासक के रूप में ज्ञात होता है। देखें, नीलकान्त शास्त्री, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ २११।

सम्बन्धों के क्षेत्र में जो उपलब्धियाँ हासिल कीं, उनसे तो यही निष्कर्ष निकलता है कि गद्दी के दोनों दावेदारों में वही अधिक योग्य और स्वाभाविक रूप से पात्र था। उसमें संगठन शक्ति, सैनिक दक्षता, वीरता, महत्त्वाकांक्षा, कूटनीतिक और राजनीतिक प्रतिभा तथा साम्राज्य निर्माता होने के सभी चिह्न मौजूद थे। पहले तो पुलकेशिन् ने मंगलेश के भय से स्वयं राज्य सीमाओं से बाहर चले जाने का मन बना लिया था, किन्तु तुरंत उसने लड़ने की ठान ली। उत्तराधिकार के इस युद्ध में मंगलेश को राज्यसहित अपनी जान से भी हाथ धोना पड़ा और उसके पुत्र को **महाराजश्रीपृथ्वीवल्लभ** (पुलकेशी) की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी।

पुलकेशिन् का बहुप्रचलित अभिधान **सत्याश्रय** था। उसके अन्य विरुदों में **वल्लभ, बल्लभराज, बल्लभेन्द्र, पृथिवीवल्लभ** और **श्रीपृथ्वीवल्लभ** अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। बाद के अमिलेखों में उसे **परमेश्वर** का विरुद भी दिया गया है, जिसका विश्लेषण हम आगे उसकी हर्ष पर होने वाली विजय के संदर्भ में करेंगे। इनके अतिरिक्त **महाराजाधिराज** और **परमभट्टारक** जैसे विरुदों को भी वह धारण करता था। वास्तव में इन विरुदों को उस समय के सभी शक्तिशाली राजाओं अथवा उभरती हुई सत्ताओं के सामन्तों जैसे शासक भी महत्त्वाकांक्षावश धारण कर लिया करते थे। ऐसा करना धीरे-धीरे एक राजनीतिक फैशन सा बन गया। ६३० ई० के लोहनरा अभिलेख में पुलकेशिन् को **परमभागवत** अर्थात् विष्णु भगवान का परमभक्त कहा गया है। स्पष्ट है, वह अपने वंश के अधिकांश शासकों की तरह ही विष्णु भगवान् का पूजक था।

द्वितीय पुलकेशिन् के प्रारंभिक शासकीय वर्ष शान्तिमय नहीं सिद्ध हुए। प्रथमतः तो उत्तराधिकार के युद्ध के समय के शासकों और सामन्तों तथा अधीनस्थ बनाये जा चुके राजाओं ने ही विद्रोह कर दिया और दूसरी ओर उत्पन्न राजनीतिक अव्यवस्था का लाभ उठाकर आप्यायिक और गोविन्द नामक दो शत्रुओं ने भीमा नदी को पारकर बादामी (बीजापुर) के पास पड़ने वाले चालुक्यों के पैतृक क्षेत्रों पर ही धावा बोल दिया। सौभाग्य से नवजवान पुलकेशी ने इस विपदा का वीरतापूर्वक सामना किया। उसने **भेद** और **दण्ड** अर्थात् फूट डालने और सैनिक शक्ति के प्रयोग द्वारा क्रमशः गोविन्द को अपनी ओर मिला लिया और आप्यायिक पर आक्रमणकर उसे कुचल डाला, जिसे हारकर भागना पड़ा[१]। अहिहोड़ अभिलेख में उपर्युक्त दोनों शत्रुओं के चालुक्यराज्य पर किये गये इस आक्रमण को "शत्रुओं द्वारा उत्पन्न अन्धकार में समूचे विश्व का डूब जाना" बताया[२] गया है। ये

---

१. लाध्वकालं भुवमुपगते जेतुमाप्यायिकाख्ये, गोविन्दे च द्विरदिनिकरैरुत्तराभौमरथ्याः ॥
यस्मानीकैयुधिभयरसज्ञा ज्ञात्वमेकं प्रयात, स्तत्रातामृभ्फलमुपकृतस्यापरेणापि सद्यः ॥
अहिहोड़ अभिलेख, श्लोक १७, ए० इ० जिल्द ६, पृष्ठ १-१२।

२. वहीं, श्लोक १६।

दोनों आक्रामक कौन थे, इसकी ठीक-ठीक पहचान नहीं की जा सकी है। कुछ विद्वान्[१] गोविन्द को राष्ट्रकूट शासक दन्तिदुर्ग (७२४-७५७ ई०) के प्रपितामह गोविन्द से मिलाते हैं, किन्तु यह पहचान सर्वमान्य नहीं हो सकी है।

पुलकेशिन् की विजयें

द्वितीय पुलकेशी अपने वंश का सबसे बड़ा विजेता शासक सिद्ध हुआ। उसके समय बादामी के राज्य का विस्तार, कलात्मक वास्तुनिर्माणों की प्रचुरता, साहित्यिक अभिवृद्धि और धार्मिक सहिष्णुता ने अपनी चरम बिन्दु प्राप्त कर ली। उसके समय का सर्वमुख्य कवि था रविकीर्त्ति, जो स्वयं तो जैन मतावलम्बी था, किन्तु **परमभागवत** पुलकेशिन् के राजदरबार का प्रमुख कवि था। उसने अहिहोड़ नामक नगर में जिनेन्द्र (जैन तीर्थंकर = महावीर) की प्रतिष्ठा में ६३४-६३५ ई० में एक जैन मन्दिर का निर्माण कराया और उसकी एक दीवार पर चालुक्य वंश, विशेषत: पुलकेशी, की प्रशंसा में एक प्रशस्ति की रचना कर उत्खचित कराया। आजकल इस मंदिर को मेगुति अथवा मेगुटि का मंदिर कहा जाता है। यद्यपि यह अब अपनी जीर्णशीर्ण अवस्था मात्र में बचा है, यह दक्षिण भारत में मंदिर निर्माण की प्रारंभिक अवस्था का एक पूर्ण विकसित नमूना है। इसके "निर्माण की गुणात्मकता तकनीक और इसके निर्माण के अन्तिम स्वरूप की ऋजुता और उसके अलंकरण" देखते ही बनते हैं[२]। अहिहोड़ अभिलेख की काव्यमय भाषा, उसकी अलंकृत शब्दावली और प्रवाहमय शैली के माध्यम से तत्कालीन साहित्य का एक बढ़िया उदाहरण उपस्थित होता है। प्रशस्तिकार रविकीर्त्ति अपनी समानता कालिदास और भारवि जैसे प्राचीन और प्रसिद्ध कविओं से करता है। यह उसके पाण्डित्य और गौरव का परिचायक है। वास्तव में बादामी के चालुक्यों के इतिहास की जानकारी हेतु यह अभिलेख एक प्रमुख स्रोत के रूप[३] में उपस्थित होता है।

यह कहना कठिन है कि अहिहोड़ अभिलेख में पुलकेशिन् की विजयों का जो विवरण दिया गया है, वह तैथिक आधार पर क्रमागत है अथवा नहीं। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उस तैथिक क्रम का ध्यान रविकीर्त्ति को अवश्य था। यदि यह अनुमान सही हो तो ऐसा प्रतीत होता है कि सर्वप्रथम तो पुलकेशिन् का ध्यान अपने मूल क्षेत्रों के आसपास पड़ने वाले उन छोटे-मोटे राजे-रजवाड़ों पर ही घूमा, जो संभवत: उसके उत्तराधिकार के युद्ध का लाभ उठाकर अपनी स्वतंत्रता का सिर उठाने लगे थे। उसके पिता ने वनवासी को राजधानी बनाकर शासन करने वाले कदम्बों को जीता था। किन्तु

---

१. फ्लीट, इ० ऐ०, जिल्द १२, पृष्ठ १५८ और आगे; रा० गो० भण्डारकर, दि अर्ली हिस्ट्री ऑफ् दि डेकन, सुशील प्रकाशन, पृष्ठ ६०।
२. एस्० के० सरस्वती, दि क्लासिकल् एज, पृष्ठ ५०६।
३. इस दृष्टि से इस अभिलेख का मूलपाठ और उसका हिन्दी रूपान्तर इस अध्याय के बाद एक परिशिष्ट के रूप में दिया गया है।

पुलकेशिन् को उनपर आक्रमण करके पुनः उनको दबाना पड़ा। उसके बाद बारी थी मैसूर के दक्षिणी भागों में स्थित गंग राजाओं की तथा वहीं मैसूर के कुछ अन्य क्षेत्रों में स्थापित अलूप नामक राज्य क्षेत्र की। ऐसी कल्पना की गयी है कि इन दोनों ही क्षेत्रों के शासक सरदारों ने कदम्ब राजाओं का चालुक्यों के प्रति विद्रोह में साथ दिया था। किन्तु ये सभी पराजित और वशीभूत कर लिये गये। दुर्विनीत कोंगनिवृद्ध नामक गंग राजा को अपनी पुत्री का विवाह पुलकेशिन् से करके उसकी अधिसत्ता स्वीकार करनी पड़ी[१]। कोंकण क्षेत्र पर शासन करने वाले मौर्य वंशी शासक भी पुलकेशिन् के पिता द्वारा पराजित किये जा चुके थे, किन्तु उन्हें भी पुनः विजित किया गया। "समुद्र में स्थित उनकी पुरी नामक राजधानी को पुलकेशिन् की सैकड़ों नावों वाली जलसेना ने घेरकर उसपर अधिकार कर लिया[२]"। पुरी नामक इस द्वीप की पहचान कोंकण के समुद्र के किनारे कुछ दूरी पर स्थित एलीफैण्टा से की गयी है।

अन्य विजयें

अहिहोड़ अभिलेख का कथन है कि पुलकेशिन् के प्रताप के कारण लाट, मालवा और गुर्जर के राजाओं ने उपनत अर्थात् झुके हुए राजाओं की तरह व्यवहार करना प्रारंभ कर दिया (प्रतापोनता यस्य लाटमालवगुर्ज्जराः, एपि इण्डिका, जिल्द ६, पृष्ठ एक और आगे)। ये तीनों ही क्षेत्र नर्मदा नदी के उत्तरपश्चिम की दिशा में स्थित थे, जो गुजरात की समुद्री सीमा तक विस्तृत था। संभवतः उन सभी ने चालुक्य शासक की बढ़ती हुई शक्ति के आगे झुक जाना ही श्रेयस्कर समझा। किन्तु यह स्थिति कब और किस कारण उत्पन्न हुई, यह विद्वानों में विवाद का विषय है। रमेशचन्द्र मजूमदार का मत (जविओरिसो, जिल्द ९, पृष्ठ ३१९-२०) है कि वास्तव में कनौजराज हर्ष के विरुद्ध द्वितीय पुलकेशिन् ने इन छोटे राज्यों को अपनी ओर मिलाकर एक सैनिक संघ तैयार कर लिया था, जिससे मुकाबला होने पर हर्ष की पराजय हुई। इस मत का आधार अहिहोड़ अभिलेख का यह कथन है कि पुलकेशी की शक्ति की चकाचौंध से लाट, मालव और गुर्ज्जर मानों यह बात औरों को सिखाने लगे कि शक्ति द्वारा पराजित होने पर कैसा व्यवहार किया जाता[३] है। इस कथन के आधार पर कीलहार्न जैसे विद्वानों ने यह माना कि पुलकेशिन् की शक्ति के भय से लाट, मालव और गुर्जर स्वतः ही उसकी अधिसत्ता स्वीकार कर उसकी प्रभाव सीमा में समा गये। कुछ विद्वानों की यह मान्यता भी है कि सैनिक संघ से भयभीत होकर

---

१. एन्. वेंकटरमनैय्या, दुर्विनीत ऐण्ड विक्रमादित्य फर्स्ट, त्रिवेणी, जिल्द १, पृष्ठ ११२-१३०–उद्धृत नीलकान्त शास्त्री, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ २१३।

२. अपरजलेर्लक्ष्मी यस्मिन् पुरीपुरभृत्प्रभैः।
मद्गजघटाकारैर्नावां शतैरवमृदन्ति ॥श्लोक२१॥
अहिहोड़ अभिलेख, एइ०, जिल्द ६, पृष्ठ १-१२।

३. दण्डोपनतसामन्तचर्य्याचर्य्या इवाभवन् ॥ श्लोक २२ ॥

ही हर्ष ने बादामी नरेश पर आक्रमण किया था, किन्तु उसकी लज्जाजनक पराजय हुई। इस संबंध में कुछ भी अन्तिम रूप से निश्चय करना इस कारण असंभव जान पड़ता है कि न तो हमें स्पष्ट रूप से यही ज्ञात है कि हर्ष-पुलकेशी युद्ध उस तथाकथित चालुक्यलाटमालवगुर्जर संघ के निर्माण के बाद हुआ अथवा उसके पूर्व। किन्तु इतना स्पष्ट सा लगता है कि लाट, मालवा और गुर्जर क्षेत्रों की भौगोलिक स्थितियाँ ऐसी थीं कि वे मिलकर या अकेले-अकेले भी हर्ष या पुलकेशिन् दोनों को ही एक दूसरे के विरुद्ध कठिनाई में डाल सकते थे। संभवत: यही समझते हुए कनौजराज हर्ष ने वलभी के राजा को युद्ध द्वारा हराकर भी उससे अपनी पुत्री का विवाह करके एक राजनीतिक चाल द्वारा अपने वशीभूत कर लिया।

गुजरात के कुछ क्षेत्रों पर चालुक्यों का आधिपत्य एक अन्य अभिलेख से भी प्रमाणित होता है। खेड़ा ताम्रपत्र (६४३ ई०) से ज्ञात होता है कि चालुक्य राजा (सामन्त) विजयराज ने पारियाय नामक ग्राम को जम्बूसर (बड़ौदा जिला) के धर्मरत विद्यार्थिओं को दान में दिया। यह विजयराज बादामी के शासकों द्वारा ही वहाँ का शासन चलाने को नियुक्त किया गया होगा।

वलभी के साथ हर्ष के युद्ध का प्रमाण हमें तृतीय जयभट्ट के नौसारि से प्राप्त ७०६ ई० के एक अभिलेख से प्राप्त होता है। उसमें कथित है कि "परमेश्वर श्रीहर्षदेव द्वारा पराजित वलभी नरेश का परित्राण करने के कारण" (अर्थात् शरण देने के कारण) "प्राप्त यश का वितान श्री दद्द के ऊपर निरंतर झूलता रहता[१] था।" इस लेख का दद्द भडौंच के गुर्जर राज्य का राजा द्वितीय दद्द (६३९-६४७ ई०) उर्फ प्रशान्तराज था और वलभी नरेश द्वितीय ध्रुवभट्ट अथवा ध्रुवसेन था, जिसे श्वान्-च्वाङ्ग तु-लो-पो-पो-त (ध्रुवभट्ट) कहता है। लेख से स्पष्ट है कि युद्ध में ध्रुवभट्ट हार गया था और उसे भागकर गुर्जर नरेश के यहाँ शरण लेनी पड़ी थी। श्वान्-च्वाङ्ग का कथन[२] है कि हर्ष ने अपनी पुत्री का विवाह ध्रुवभट्ट से किया था। अपनी युद्धजनित विजय के बाद भी यह विवाह ध्रुवभट्ट से इस हेतु किया गया था कि छोटा राज्य होने के बावजूद भी वलभी का सामरिक महत्त्व था और दक्षिणापथ में पुलकेशिन् जैसे शक्तिशाली प्रतिद्वन्द्वी की महत्त्वाकांक्षाओं के परिप्रेक्ष्य में ध्रुवभट्ट को मित्र बनाकर रखना ही हर्ष के लिए बुद्धिमानी की बात थी। इसी कारण हर्ष ने वलभी को अपने साम्राज्य का हिस्सा कभी भी नहीं बनाया।

द्वितीय पुलकेशिन् की सबसे बड़ी सफलता उत्तरी भारत के सम्राट् हर्ष के विरुद्ध प्राप्त होने वाली उसकी विजय के रूप में थी। इसकी चर्चा रविकीर्त्ति बड़ी आलंकारिक भाषा में अहिहोड़ अभिलेख में करता है। वहाँ कथित है कि "अपरिमित समृद्धि से युक्त

---

१. परमेश्वरश्रीहर्षदेवाभिभूत श्रीवलभीपति परित्राणोपजातभ्रमदभ्रविभ्रमयशोवितानः श्रीदद्दः, जराएसो, बम्बई शाखा, जिल्द ६, पृष्ठ १।

२. बाटर्स, जिल्द २, पृष्ठ २४६ और आगे।

जिसके चरण कमलों पर सामन्तों की सेना नतमस्तक होती थी, उस हर्ष का हर्ष (आनन्द = प्रसन्नता) युद्ध में मारे गये अपने हाथियों का बीभत्स दृश्य देखकर विगलित (चूर) हो गया[१] ।'' श्वान्-च्वाङ्ग ने लिखा है कि ''अपने सेनापतिओं की सर्वदा सफलता और अपने कौशल की डींग मारते हुए आत्मविश्वास के साथ शीलादित्यराज ने सेना का स्वयं नेतृत्व करते हुए'' पुलकेशी के ''विरुद्ध युद्ध के लिए अभियान किया। किन्तु न तो वह उसको हरा सका और न अपने अधीन कर सका''[२] ।

श्वान्-च्वाङ्ग के निजी कथनों[३] से भी यह स्पष्ट होता है कि हर्ष अपने समकालिक दक्षिणापथ के शासक (पुलकेशी) को पराजित नहीं कर सका ।

इस बात को लेकर बड़ा विवाद है कि हर्ष और पुलकेशी के बीच युद्ध कब हुआ। चूंकि कल्याणी के परवर्ती चालुक्य राजाओं के अनेक अभिलेखों में यह कथित है कि पुलकेशी को **सकल उत्तरापथेश्वर** हर्ष को पराजित करने के बाद ही **परमेश्वर** नामक उपाधि प्राप्त हुई (समरसंसक्तसककृलउत्तरापथेश्वर श्री हर्षवर्धनपराजयोपलब्ध परमेश्वरापरनामधेय:); तथा उसके (पुलकेशिन् के) ६१२ ई० के हैदराबाद वाले अभिलेख में ही उसे **परमेश्वर** कहा गया है, यह निश्चय होना चाहिए कि इन दोनों सम्राटों के बीच का युद्ध ६१२ ई० के पूर्व ही लड़ा जा चुका था[४] । किन्तु हर्ष ६०६ ई० में शासनस्थ हुआ था और पुलकेशिन् भी ६१०-११ई० में ही गद्दी पर बैठा था और दोनों ही राज्यों में विद्रोहिओं और अन्यान्य शत्रुओं ने अपने-अपने सिर उठाकर उन दोनों के लिए अनेक प्रकार की विपत्तियाँ खड़ी कर रखी थीं, ऐसी दशा में अपना-अपना शासन प्रारंभ कर चुकने के शीघ्र ही भीतर वे दोनों सैनिक महत्त्वाकांक्षी आपस में भिड़ गये होंगे, यह काल्पनिक ही प्रतीत होता है। हैदराबाद वाला (६१२ ई०) पुलकेशी का अभिलेख उसके सैकड़ों युद्धों में भाग लेने और शत्रुओं को हराकर **परमेश्वर** की उपाधि धारण करने का उल्लेख तो करता है, किन्तु हर्ष के ऊपर उसकी विजय का कोई उल्लेख नहीं करता। यह भी स्वीकार नहीं किया जा सकता कि वह उस तिथि (६१२ ई०) के पूर्व ही सैकड़ों युद्धों में भाग ले चुका था। अत: यह प्रशस्तिकार द्वारा की गयी कोरी प्रशंसा मात्र प्रतीत होती है ।

चूँकि हर्ष की पराजय का सर्वप्रथम उल्लेख ६३४-३५ ई० के अहिहोड़ अभिलेख में ही पुलकेशी का राजदरबारी कवि रविकीर्त्ति करता है और पुलकेशी के ६३० ई० वाले

---

१. अपरिमितविभूतिस्फीत सामन्तसेनामुकुटमणिमयूखाक्रान्तपादारविन्दः ।
युधिपतितगजेन्द्रानीकबीभत्सभूतो भयविगलित हर्षोयेन चाकारिहर्षः ॥
एइ०, जिल्द ६, पृष्ठ १०, श्लोक २३ ।

२. सेमुअल् बील, जीवनी, पृष्ठ १४७; टामस् वाटर्स, जिल्द २, पृष्ठ २५९ ।

३. वाटर्स्, जिल्द २, पृष्ठ २३९ ।

४. नीलकान्त शास्त्री, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ २१४ ।

लोहनरा अभिलेख में उसकी कोई चर्चा नहीं है, अतः यह निश्चित है कि इन्हीं दोनों तिथियों के बीच में कभी **उत्तरापथेश्वर** हर्ष और दक्षिणापथस्वामी पुलकेशी की सेनाएँ आपस में नर्मदा नदी के किनारे टकरायी होंगी। फिर भी, इन चार-पाँच वर्षों के बीच में इस युद्ध की वास्तविक तिथि क्या थी, यह ज्ञात नहीं हो सकता। परवर्ती चालुक्य अभिलेखों में पुलकेशिन् की उपाधि **परमेश्वर** को जो उसकी हर्ष पर होने वाली विजय के साथ जोड़ दिया गया, वह युद्ध की वास्तविक घटना के बहुत बाद में उन अभिलेखों के लिखे जाने के कारण ही हुआ होगा। संभवतः कालक्रम के प्रवाह में हर्ष की पराजय और पुलकेशिन् की **परमेश्वर** नामक उपाधि का आपस में जोड़ा जाना वंश की एक अनैतिहासिक परंपरा के रूप में आगे प्रशस्ति रूप में बढ़ती चली गयी।

अहिहोड़ अभिलेख में पुलकेशिन् की जिन अन्य विजयों के उल्लेख किये गये हैं, उनका स्वरूप केवल **दिग्विजय** मात्र का था। उनके फलस्वरूप उसकी निजी राज्य सीमाओं का कोई विस्तार नहीं हुआ। वहाँ उसे ९९ हजार गांवों वाले तीनों महाराष्ट्रों का स्वामी कहा गया[१] है। तीन महाराष्ट्रों से यहाँ तात्पर्य महाराष्ट्र, कोंकण और कर्नाटक से है, जो पश्चिमी समुद्र के किनारे गुजरात से प्रारंभकर दक्षिणी मैसूर तक फैले हुए थे। पूर्वी दक्षिणापथ में पुलकेशिन् ने कोसलों (दक्षिण कोसल के पाण्डुवंशी शासकों) और कलिंगों को अपदस्थकर पिष्टपुर (पीठापुरम्) के दुर्ग पर अधिकार कर लिया, वहाँ के राजवंश को उखाड़ फेंका[३] और अपने छोटे भाई कुब्ज विष्णुवर्धन को पूर्वी समुद्र के क्षेत्रों का शासक नियुक्त किया। इसी सामन्त वंश के शासक आगे चलकर पूर्वी चालुक्य कहलाये। पहले तो उन्होंने बादामी के चालुक्य वंश की अधिसत्ता स्वीकार करना जारी रखा, पर बाद में वे स्वयं स्वतंत्र हो गये और अन्ततः प्रथम कुलोत्तुंग के राज्यारोहण (१०७० ई०) के साथ उनका तंजाऊर और गंगैकोण्डचोड़पुरम् के चोड़ साम्राज्य में विलय हो गया।

सुदूर दक्षिण में कावेरी नदी के किनारे तक पुलकेशिन् के पहुँचने और पल्लव शासक प्रथम महेन्द्रवर्मन् (६००-६३० ई०) को पराजित करने के उल्लेख भी अहिहोड़ अभिलेख में प्राप्त होते हैं। वहाँ कहा गया है कि पल्लव नरेश को अपने को बचाने के लिए अपनी ही राजधानी की प्राचीरों (परकोटों) के पीछे छिपना पड़ा[४]। किन्तु पुलकेशिन् काञ्ची को जीत सका, ऐसा नहीं जान पड़ता। पल्लव अभिलेखों से ज्ञात होता है कि

---

१. अगमदधिपतित्वं यो महाराष्ट्रकाणाम्।
नवनवतिसहस्रग्रामभाजां त्रयाणाम्॥ श्लोक २५, एइ० जिल्द ६, पृष्ठ १-१२।

२. अभवन्नुपजात भितिलिङ्गाः यदनीकेन सको (स) लाः कलिंगाः। श्लोक २६, वहीं।
पिष्टं पिष्टपुरम् येन यातं दुर्गमदुर्गमम्। श्लोक २७, वहीं।

३. नीलकान्त शास्त्री, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ २१५।

४. आक्रान्तात्मबलोन्नतिम्बलरजछन्न काञ्चीपुरः।
प्राकान्तरितप्रतापमकोद्यः पल्लवानां पतिम्॥ श्लोक २९-३०। वहीं

चालुक्य और पल्लव सेनाओं का काञ्ची के पास ही पड्डलूर नामक स्थान में आमना-सामना हुआ, जिसमें पल्लवों की विजय[1] हुई।

पुलकेशिन् द्वारा कावेरी नदी को पारकर चोड़, केरल और पाण्ड्य राजाओं से मित्रता स्थापित करने के उल्लेख भी प्राप्त होते[2] हैं। संभवतः पल्लवों के विरुद्ध एक मोर्चा बनाने का ही यह एक चालुक्य प्रयत्न था। किन्तु पुलकेशिन् ने कावेरी नदी को पार किया, इसपर भी सन्देह व्यक्त किये गये हैं। कथित है कि अपनी **दिग्विजय** के बाद पुलकेशिन् अपनी राजधानी वातापी लौट आया। उसके लोहनरा वाले अभिलेख में उसे "पूर्वी और पश्चिमी जलनिधियों" का स्वामी कहा गया है जो पूर्व में बंगाल की खाड़ी से पश्चिम में अरब सागर के बीच पड़ने वाले क्षेत्रों पर उसके या तो प्रत्यक्ष अधिकार अथवा अधिसत्ता का द्योतक है।

किन्तु पल्लव राज्य पर आक्रमण तथा उनके पड़ोसिओं-चोड़, केरल और पाण्ड्य राज्यों-को अपनी ओर कर लेने के पुलकेशिन् के प्रयत्नों के परिणाम न केवल चालुक्य साम्राज्य बल्कि स्वयं पुलकेशिन् के लिए विनाशक सिद्ध हुए। स्वयं महेन्द्रवर्मा ने अपनी पुरानी हार का बदला लेने के लिए तो चालुक्य राज्य पर कोई धावा नहीं बोला, किन्तु उसके पुत्र और उत्तराधिकारी प्रथम नरसिंहवर्मन् ने बदला लेने की ठान रखी थी। उसकी पुलकेशी से पेरियल, मणिमंगलम् और शूरमार में तीन लड़ाइयाँ हुईं, जो तीनों ही पल्लव क्षेत्रों में ही लड़ी गयी[3]। स्पष्ट है, पुलकेशी ने दुबारा भी पल्लव राज्य पर धावा बोला था, किन्तु उसमें उसकी पराजय[4] हुई। नरसिंहवर्मा चालुक्य सेनाओं का पीछा करता हुआ, सारे चालुक्य क्षेत्रों को रौंदता हुआ वातापीनगर (चालुक्य राजधानी) तक चढ़ गया, उसे जीत लिया और उसने पुलकेशी को जान से ही मार दिया। अपनी विजय के उल्लास में उसने बादामी में ही अपना एक लेख खुदवाया तथा **वातापीकोण्डा** (वातापी के विजेता) की उपाधि धारण[5] की। फ्लीट के मत में यह घटना ६४२ ई० में घटी और चालुक्य राज्य के लिए इतनी भयावह सिद्ध हुई कि अगले लगभग १२-१३ वर्षों तक उसपर कोई चालुक्य राजा ठीक से राजगद्दी का भोग ही नहीं कर सका। कदाचित् उस बीच पल्लव सेनाओं का उसपर अधिकार बना रहा।

पुलकेशिन् ने अपनी पूर्वी दिशाओं की विजयों के बाद वेंगी में अपने गवर्नर के रूप में अपने छोटे भाई कुब्ज विष्णुवर्धन को नियुक्त किया था, यह पीछे हम देख चुके हैं। इसी प्रकार अपने एक अन्य भाई **धाराश्रय** जयसिंह को उसने पश्चिम दिशा में नासिक

---

१. नीलकान्त शास्त्री, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ २१६।
२. चोलकेरलपाण्ड्यानां योभूत्तत्रमहर्द्धये पल्लवानीकहार तुहिनेतर दीधितिः ॥
   अहिहोड़ अभिलेख, श्लोक ३१, एइ० जिल्द ६, पृष्ठ १-१२।
३. स्टडीज़ इन् कर्नाटक हिस्ट्री, वसन्थासेट्टि० पृ० ३४।
४. पी०बी० देसाई, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ९९।
५. वहीं, पृ० १००।

का गवर्नर नियुक्त किया था। अल्तेकर ने चालुक्य राज्य के प्रांतों को **राष्ट्र** नाम से अभिहित बताया है और उनके ही शासकों को **राष्ट्रकूट** (गवर्नर) शब्द से मिलाया है।

पुलकेशिन् (द्वितीय) की उपलब्धियाँ

पुलकेशिन् ने अपनी विजयों के माध्यम से कुछ समय के लिये अपने शासित अथवा आधिराज्य वाले क्षेत्रों की सीमाएँ दक्षिण में कावेरी नदी के बायें किनारे (पूर्वी मुहाने की ओर से) से लेकर नर्मदा नदी के दक्षिणी-पश्चिमी पार्श्व में स्थित लाट, गुर्जर और मालव क्षेत्रों तक बढ़ा ली थीं। ३२ वर्ष के अपने लम्बे शासन काल में उसने दक्षिण भारत के सर्वशक्तिशाली शासक होने का गौरव प्राप्त किया। यद्यपि उसके प्रशासन के स्वरूप की कोई विशेष जानकारी तो प्राप्त नहीं होती, चीनी यात्री श्वान्-च्वाङ्ग के महाराष्ट्र से सम्बन्धित विवरणों से फारस के मुसलमान शासकों के साथ उसके दूत-सम्बन्धों तथा गुजरात और महाराष्ट्र से अरब देशों के व्यापार सम्बन्धी अरब लेखकों के उल्लेखों से यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि वह सैन्यकला में जितना दक्ष था, शान्ति-कालीन कार्यों में भी उतना ही प्रवीण था। **'उत्तरापथेश्वर'** हर्षवर्धन से उसकी सैनिक भिड़न्त का कारण कदाचित् पश्चिमी भारत स्थित समुद्र तट से होकर भारत-अरब व्यापार ही था, जिसका लाभ दोनों ही लेना चाहते थे। अरब देशों, मध्य एशिया और योरोप का उत्तरी भारत का होने वाला सारा व्यापार उज्जैन (मालवा) से होकर ही संभव था। अत: पश्चिमी तट के भृगुकच्छ से प्रारंभकर कोंकण तट के सभी बन्दरगाहों तक पहुँच व्यापार की दृष्टि से दोनों ही पक्षों के लिए बड़ी आकर्षक रही होगी। इसी कारण लाट, मालवा और गुर्जर क्षेत्रों में पड़ने वाले छोटे-छोटे राज्यों पर दोनों ही पक्षों द्वारा अपनी-अपनी अधिसत्ता स्थापित कर लेने के प्रयत्न दोनों के बीच की सैनिक प्रतिस्पर्द्धा के कारण सिद्ध हुए। इन सभी क्षेत्रों को स्वदेशी और विदेशी व्यापार से होने वाले लाभ और उनकी धनसम्पत्ति के उल्लेख श्वान्-च्वाङ्ग प्रशंसात्मक शब्दों में करता है। तदनुसार, उज्जयिनी की "जनसंख्या घनी थी और लोग धनी थे।" सुराष्ट्र के बारे में वह कहता है कि "चूंकि यह पश्चिम की ओर जाने वाले समुद्री मार्ग पर स्थित है, यहाँ के सभी निवासी समुद्र से ही अपनी जीविका चलाते हैं और व्यापार द्वारा क्रय-विक्रय का काम करते हैं।" वल-भी की "जनसंख्या घनी थी और लोग धनसम्पन्न थे। दूर-दूर से बहुमूल्य वस्तुएँ वहाँ लायी जाकर इकट्ठी की गयी थीं। वहाँ लगभग एक सौ ऐसे परिवार थे, जिनके पास करोड़ों की सम्पत्ति थी[१]।" स्पष्ट है, पुलकेशिन् द्वारा शसित महाराष्ट्र, गुजरात और कोंकण के लोगों की धनसम्पत्ति और सुखोपभोग के पीछे एक सशक्त शासन द्वारा स्थापित स्थायी शान्ति ही मुख्य कारक रही होगी।

---

१. देखें-वाटर्स, जिल्द २, पृष्ठ २३७-२४५ तक।

पीछे रविकीर्त्ति द्वारा अहिहोड़ में जिनेन्द्र (जैन तीर्थंकर) के मंदिर (मेगुति अथवा मेगुटि के मंदिर) के निर्माण का उल्लेख हम कर चुके हैं। वास्तव में दक्षिणापथ में परवर्ती गुप्त कालीन मंदिरों के निर्माण के क्रम में यह एक प्रारंभिक प्रयत्न ही था। किन्तु इसके बावजूद भी आज की अपनी जीर्णशीर्ण अवस्था में भी, "अपनी भव्य कल्पना, उस निर्माण कल्पना को मूर्तरूप प्रदान करने और कारीगरी की कुशलता में यह बेजोड़ दिखायी देता[१] है।" अहिहोड़ प्रशस्ति का रचयिता रविकीर्त्ति संस्कृत का एक बढ़िया कवि था, जो उस प्रशस्ति की उत्तम शैली, काव्यमय प्रवाह, प्राञ्जल भाषा और उच्चकोटि के वर्णन से स्पष्ट है। अत: यह आश्चर्य नहीं कि वहाँ वह अपने को भारवि और कालिदास जैसे महान् संस्कृत कविओं के समतुल्य रखते हुए अपना गर्व प्रदर्शित करता है। जैन होते हुए भी वह **श्रीवल्लभ** और **परमभागवत** जैसी उपाधियों को धारण करने वाले विष्णुभक्त पुलकेशिन् के दरबार का सर्वादृत कवि था[२], जो भारतीय इतिहास की सतत् वर्तमान धार्मिक सहिष्णुता और भारतीय राजाओं की काव्यगुणग्राहकता का परिचायक है। श्वान्-च्वाङ्ग के शब्दों में "महाराष्ट्र के लोग विद्या और विद्वानों का आदर करते थे और बौद्ध तथा अबौद्ध दोनों ही प्रकार के साहित्य पढ़ते थे। वहाँ लगभग १०० संघाराम थे जिनमें हीनयानी और महायानी दोनों ही प्रकार के ५०० भिक्षु रहते थे। यहाँ विभिन्न प्रकार के हिन्दू संप्रदायवादिओं के लगभग १०० देवमंदिर भी थे।" यद्यपि महाराष्ट्र, गुजरात और कोंकण के क्षेत्रों में बहुत बड़ी संख्या में रहने वाले निर्ग्रंथों (जैनिओं) का वह कोई उल्लेख नहीं करता, दक्षिण में मैसूर से लेकर उत्तर में गुजरात और राजस्थान तक जैनिओं के गढ़ थे और उनकी तुलना में बौद्धों की संख्या अत्यल्प ही थी।

६४१ ई० में श्वान्-च्वाङ्ग ने महाराष्ट्र की यात्रा की थी और वहाँ के शासक (पुलकेशिन्) एवं निवासिओं की जितनी प्रशंसा उसने की है, उतनी प्रशंसा उसने कनौजराज हर्ष और वहाँ के लोगों के अतिरिक्त अन्य किसी भी भारतीय प्रदेश की नहीं की है। उसके विवरणों[३] से वहाँ के लोगों के चरित्र, स्वभाव, गुणग्राहकता और उत्तम स्वरूप का जो स्वरूप उभरा है, वह सचमुच बड़ा आकर्षक है। साथ ही वहाँ की उपजाऊ भूमि, खेती के लिए उसकी उपयुक्तता और तत्प्रभावजन्य वहाँ के लोगों के स्वभाव की कोमलता का एक मनोरम चित्र उपस्थित होता है। वह कहता है—"भूमि उपजाऊ और सम्पन्न है। इसपर नियमित रूप से खेती द्वारा अन्न उत्पन्न किये जाते हैं। जलवायु गरम

---

१. एस्० के० सरस्वती, दि क्लासिकल् एज, पृष्ठ ५०६।

२. रविकीत्ति कहता है कि उसे सत्याश्रय (द्वितीय पुलकेशिन्) का परम प्रसाद (कृपा और आदर प्राप्त था। –सत्याश्रयस्य परमाप्तवतां प्रसादम्॥

अहिहोड़ अभिलेख, श्लोक ३५।

३. देखें–पाँचवीं-सातवीं शताब्दियों का भारत-विशुद्धानन्द पाठक, पृष्ठ १३६-१३७; टॉमस् वाटर्स्, जिल्द २, पृ० २३९-२४१ तक।

है। लोग ईमानदार और सरल स्वभाव के हैं। वे ऊँचे कद के, सरल और प्रतिशोधी हैं। अपने उपकारकों के प्रति वे कृतज्ञ हैं और शत्रुओं को कभी छोड़ते नहीं। यदि कोई उनका अपमान कर दे तो वे अपने प्राणों की बाजी लगाकर भी अपना बदला लेते हैं। यदि किसी कठिनाई में कोई उनकी सहायता की प्रार्थना करता है तो उसकी सहायता करने की उतावली में वे अपने को भूल से जाते हैं। यदि वे किसी से बदला लेना चाहते है तो पहले से उसे बता देते हैं और तब दोनों ही अपने-अपने भालों को लेकर मैदान में आ डटते हैं। यदि उनमें से कोई भाग जाता है तो दूसरा उसका पीछा तो करता है किन्तु उसे मारता नहीं। यदि उनका कोई सेनापति युद्ध में हार जाता है तो उसे दण्डित नहीं करते, अपितु उसे स्त्रियों के कपड़े पहना देते हैं और वह लज्जा के मारे स्वयं ही मृत्यु का खोजी हो जाता है। कई सौ की संख्या में सर्वजेताओं (सैनिकों) के जीवनयापन की व्यवस्था सारा प्रदेश करता है। जब-जब वे युद्ध पर जाते हैं, वे मदिरा के नशे में अपने को आविष्ट कर लेते हैं और उस समय हाथ में भाला लिए एक ही व्यक्ति दस हजार व्यक्तिओं को चुनौती दे डालता है।---जब भी वे जाते हैं, उनके आगे ढोल बजते हैं। अपने हाथियों को भी मदिरा से मत्तकर ही युद्धभूमि में ले जाते हैं और स्वयं मदिरामत्त होकर जब वे बड़ी संख्या में आगे बढ़ते हैं तो उनके सामने कोई भी टिक नहीं सकता।''

द्वितीय पुलकेशिन् की कनौजराज हर्ष से सैनिक प्रतियोगिताएँ तो थी हीं, वे राजनीतिक और कूटनीतिक क्षेत्रों में भी एक स्वस्थ प्रतियोगिता में रत थे। जहाँ कनौजराज हर्ष ने चीनी राजदरबारों से कई दूतमण्डलों का आदान-प्रदान किया, वहीं पुलकेशिन् ने फारस के शाही राजदरबार से अपने दूत सम्बन्ध स्थापित किये। इतिहासकार टबरी (टबारी) का कथन[१] है कि फारस के द्वितीय खुसरू (खुसरू परवेज़) के यहाँ उसने अपना एक दूतमण्डल भेजा था। ऐसा उसने खुसरू के शासन के ३६वें वर्ष अर्थात् ६२५-६२६ ई० में किया। टबारी दूत भेजने वाले इस भारतीय राजा का नाम प्रमश या प्रमेश (परमेश्वर) बताता है, जो द्वितीय पुलकेशिन् की उपाधि थी। चूँकि यह उपाधि भारतवर्ष के अन्य राजाओं-यथा हर्ष, की भी थी, कुछ विद्वानों ने प्रमेश की पहचान को पुलकेशिन् के साथ जोड़ने को अस्वीकार भी किया[२] है। अजन्ता की गुफा नम्बर एक में भी एक ऐसा चित्र उकेरा गया है, जिसे कुछ विद्वानों ने द्वितीय खुसरू और उसकी बेगम शीरीन के रूप में पहचानते हुए द्वितीय पुलकेशिन् के दरबार में किसी फारसी दूतमण्डल के भेजे जाने की कल्पना की[३] है। परन्तु इस पहचान पर भी विवाद है। इन विवादों के बीच यहाँ इस तथ्य पर ध्यान दिया जा सकता है कि आगे चलकर चालुक्य शासक विनयादित्य के

---

१. देखें—रमेशचन्द्र मजूमदार, दि० क्लासिकल् एज, पृ० ६२७।
२. देखें—नीलकान्त शास्त्री, फारेन नोटिसेज़् ऑफ् साउथ इण्डिया, पृष्ठ ९७।
३. याजदानी, अजन्ता, फलक १, पृष्ठ ४६-४९; नीलकान्त शास्त्री, फॉरेन नोटिसेज़् ऑफ् साउथ इण्डिया, पृष्ठ ९।

दरबार में फारस की राजधानी में मची उथल-पुथल के कारण किसी फारसी राजकुमार ने शरण ली थी। इससे प्रमाणित होता है कि दोनों दरबारों में आपसी संबंध थे।

इसे क्या केवल संयोग ही कहा जाय या कुछ और कि जहाँ पुलकेशिन् के प्रतिद्वन्द्वी हर्ष के राजनीतिक और सैनिक इतिहास के अतिरिक्त, उसकी अनेक सांस्कृतिक और व्यक्तिगत विशेषताओं की चर्चा करते बाणभट्ट और श्वान्-च्वाङ्ग अघाते नहीं, वहीं रविकीर्त्ति उसकी विजयों को छोड़कर उसकी किसी भी व्यक्तिगत विशेषता का कोई परिचय नहीं देता। तथापि जो कुछ भी उसके और उसके उत्तराधिकारिओं के अभिलेखों से ज्ञात है, उससे यह सिद्ध हो जाता है कि वह अपने वंश का ही नहीं, अपितु अपने समय के महत्तम शासकों में एक था और कुछ समय तक उसका सैनिक वर्चस्व सर्वोपरि था।

किन्तु पुलकेशिन् की सैनिक सफलताओं के भीतर ही चालुक्य सत्ता के अन्तिम पतन के बीज भी छिपे हुए थे। पल्लव राज्य के विरुद्ध उसके आक्रमण का एक स्थायी परिणाम यह निकला कि दोनों वंशों के बीच युद्धों का एक लम्बा तांता प्रारंभ हो गया, जो अन्ततः चालुक्य सत्ता के अन्त का ही एक प्रमुख कारण बना। पुलकेशी का पल्लवों पर पहला आक्रमण प्रथम नरसिंहवर्मा के समय हुआ था। विद्वानों को अहिहोड़ के लेख के इस कथन पर सन्देह है कि चालुक्य सेनाएँ विजयी रहीं। काकुण्डी अभिलेख यह कहता है कि प्रथम महेन्द्रवर्मा ने चालुक्यों को उखाड़ फेंका। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पुलकेशिन् अपने जीवनपर्यन्त पल्लवों से युद्धरत ही रहा। किन्तु उसका दुष्परिणाम यह हुआ कि महेन्द्रवर्मन् के पुत्र नरसिंहवर्मन् ने उसे पेरियाल, मणिमंगलम् और शूरमार जैसे स्थानों पर कई बार युद्धों में हराया। अन्ततः उसने चालुक्य राजधानी वातापी पर ही आक्रमण कर दिया। इस बार पुलकेशी स्वयं मारा गया और वातापी पर कुछ वर्षों के लिए पल्लवों का अधिकार हो गया। नरसिंहवर्मा ने वहाँ अपनी विजय के उपलक्ष्य में एक कीर्त्तिस्तंभ स्थापित किया और **वातापीकोण्डा** की उपाधि धारण[१] की।

द्वितीय पुलकेशिन् के उत्तराधिकारी

द्वितीय पुलकेशी के दक्षिणी धावों का कोई स्थायी परिणाम उसके साम्राज्य के किसी विस्तार के रूप में निकला, यह नहीं कहा जा सकता। वास्तव में यह **दिग्विजय** जैसा ही अभियान था, जो छोटे-मोटे राजाओं को हराकर अथवा उनसे अपनी अधिसत्ता स्वीकार कराकर दिग्विजयी द्वारा अपनी राजनीतिक और सैनिक शक्ति का प्रदर्शन मात्र करने के उद्देश्य से ही प्रेरित होता है। वास्तव में पुलकेशिन् ने न तो काञ्ची को अपनी सेनाओं से घेरा और न चोड़ों के विरुद्ध ही उसका कोई अभियान हुआ। अधिकांश इतिहासकारों ने इस बात को स्वीकार नहीं किया है कि उसने कावेरी नदी को पारकर अपना सैनिक अभियान आगे बढ़ाया, यद्यपि यह संभव दीखता है कि पल्लव सत्ता थोड़े समय

---

१. दि अर्ली हिस्ट्री ऑफ् दि डेकन, पृष्ठ २१८।

के लिए झकझोरी अवश्य गयी। कोप्पारम् दानपत्र से यह साबित होता है कि इस दक्षिणी अभियान का समय कभी ६३१ ई० प० के पूर्व ही था।

किन्तु इन सुदूर दक्षिण के सैनिक अभियानों में चालुक्य सत्ता को जो भी थोड़ा-बहुत लाभ हुआ हो, उसका अन्तिम परिणाम उसके पराभव के रूप में ही परिलक्षित हुआ। पल्लवों के विरुद्ध चालुक्य धावों के परिणामस्वरूप ही आगे चलकर इन दोनों सत्ताओं के मध्य सैनिक टकरावों का एक ऐसा तांता चला, जो अन्त में चालुक्यों के लिए हानिकारक सिद्ध हुआ। पल्लवों के काकुण्डी दानपत्र में कथित है कि प्रथम महेन्द्रवर्मा ने अपने चालुक्य समकालिक (पुलकेशिन्) को उखाड़ फेंका[१]।

जैसा अक्सर दिखायी देता है, अत्यन्त सफल और महान् शासकों के उत्तराधिकारी कमजोर साबित होते हैं। पुलकेशिन् के कई पुत्रों में कोई भी बहुत योग्य नहीं था। उन्होंने राजगद्दी के लिए आपस में ही उत्तराधिकार की लड़ाई प्रारंभ कर दी। यह परिस्थिति पल्लवों द्वारा संभवत: चालुक्य राजधानी बादामी सहित अनेक क्षेत्रों पर अपना अधिकार जमा लेने हेतु उनके लिए एक सुअवसर के रूप में उपस्थित हुई। पुलकेशिन् का "सबसे प्रिय" किन्तु छोटा पुत्र प्रथम विक्रमादित्य (६५५-६८१ ई० प०) उसकी मृत्यु के कई वर्षों बाद राजगद्दी पर बैठा, जो उत्तराधिकार के युद्ध का ही परिणाम प्रतीत होता है। अनेक चालुक्य प्रांतों के शासक भी स्वतंत्र होने का प्रयत्न करने लगे और सम्राट् के उल्लेख के बिना भी अपने अभिलेखों का प्रकाशन करने लगे[२]। कुछ इतिहासकारों का तो यहाँ तक मानना है कि ६४२ से ६५५ ई० पश्चात् के बीच तो बादामी की राजगद्दी पर कोई शासक शासनस्थ ही नहीं था[३]। संभवत: यह वही समय था, जब पल्लवों ने बादामी पर भी अधिकार कर लिया था। बादामी पर पुन: अधिकार प्राप्त करने में प्रथम विक्रमादित्य को पुलकेशिन् की मृत्यु (६४२ ई० प०) के बाद १२-१३ वर्ष लग गये और उसी कारण उसे ६५५ ई० प० में राजगद्दी प्राप्त हुई। उस हेतु उसे अपने वंश के सामन्त, गंग शासक दुर्विनीत, की सहायता लेनी पड़ी। एक गंग अभिलेख इस गंग शासक को **काडुवेट्टि** अर्थात् पल्लव शासक पर विजय प्राप्तकर उसे पकड़ने का श्रेय देता[४] है।

चालुक्य अभिलेखों में प्रथम विक्रमादित्य की अनेकानेक उपाधियों के साथ यह कथित है कि उसने अपने अनेक शत्रुओं पर विजयें प्राप्त कीं। ये शत्रु थे पल्लव आक्रामक और उत्तराधिकार के लिये लड़ने वाले उसके अपने ही भाईगण। तीन पल्लव राजाओं-प्रथम नरसिंहवर्मन्, उसके पुत्र द्वितीय महेन्द्रवर्मन् और उसके पुत्र (प्रथम नरसिंहवर्मन् के

---

१. देखें, दिनेशचन्द्र गांगुली, दि क्लासिकल् एज, पृ० २४०-२४१।
२. नीलकान्त शास्त्री, दि अर्ली हिस्ट्री, ऑफ् दि डेकन, पृष्ठ २१९-२२०।
३. पी०बी० देसाई, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ १००।
४. दि क्लासिकल् एज, पृष्ठ २४२।

पौत्र) प्रथम परमेश्वरवर्मन् के विरुद्ध उसके युद्धों के उल्लेख यह साबित करते हैं कि चालुक्यों के विरुद्ध इन दक्षिणी शत्रुओं के आक्रमण बार-बार होते रहे। यह विवरण कि उसने अपने पूवर्जों की प्रभुसत्ता वापस पा ली, इस बात का द्योतक है कि पल्लवों ने बादामी पर अपना अधिकार जमा लिया था। स्पष्ट है, चालुक्य-पल्लव सैनिक टकराव उसके शासन के प्राय: पूर्व से प्रारंभ होकर उसके बाद के पल्लव शासकों की तीन पुश्तों वाले दीर्घ काल तक चलता रहा। किन्तु बाद के अभिलेखों[१] के ये कथन अतिरंजित और केवल प्रशंसात्मक ही प्रतीत होते हैं कि उसने स्वयं पल्लव, चोड़, पाण्ड्य और केरल क्षेत्रों में प्रवेश कर उनपर विजयें प्राप्त कीं। यह भी कोरी प्रशंसा मात्र ही प्रतीत होती है कि उपर्युक्त विजयों के फलस्वरूप उसने तीन समुद्रों के बीच पड़ने वाले (पूर्वी समुद्र, पश्चिमी समुद्र और दक्षिणी समुद्र) सारे त्रिभुजाकर प्रायद्वीप पर अपनी विजयपताका फहरा दी थी। कथित है कि उसके इन युद्धों में उसकी सहायता उसके पुत्र विनयादित्य और पौत्र विजयादित्य ने की थी।

पल्लव अभिलेखों[२] और कुछ तमिल ग्रंथों से यह ज्ञात होता है कि पल्लव शासक प्रथम परमेश्वरवर्मन् ने चालुक्य शासक को कुछ फटे हुए कपड़ों में ही अपनी राजधानी बादामी से भाग जाने को विवश किया था। आक्रामक पल्लव सेनापति का नाम शिरटोण्ड था। संभवत: इसी पल्लव आक्रमण को प्रतिवारित करने में विजयादित्य (विक्रमादित्य के पौत्र) ने अपनी वीरता दिखायी थी।

बादामी के चालुक्य और काञ्चीपुरम् के पल्लव शासकों के बीच चलने वाले इन संघर्षों का पूर्वापर बैठाना एक अत्यन्त ही जटिल समस्या है। तथापि नीलकान्त शास्त्री ने उसका जो संक्षेप किया है और उसके तिथिक्रमों का जो खाका खींचा है, उसे यहाँ दिया जाना अनुचित नहीं होगा। तदनुसार[३], नरसिंहवर्मन् के विरुद्ध विक्रमादित्य ने जो सैनिक सफलताएँ प्राप्त कीं, वे उसके शासन के प्रारंभ के पूर्व ही (६५५ ई० प०) सम्पन्न हो चुकी थीं और उसी सफलता के कारण वह बादामी की राजगद्दी प्राप्त कर सका था। नरसिंहवर्मन् का उत्तराधिकारी द्वितीय महेन्द्रवर्मन् अल्पशासी और कमजोर था तथा उसके समय विक्रमादित्य के पल्लवों के विरुद्ध आक्रमण जारी[४] रहे। विक्रमादित्य ने यह आक्रमण गंग राजा की सहायता से उसके राज्य से होकर ही किया था, जहाँ गंगराज माधव के कहने पर उसने मल्लियूर के सैन्यशिविर से अपना एक अभिलेख प्रकाशित कराया। इसी आक्रमण को प्रतिवारित करने हेतु परमेश्वरवर्मन् (पल्लव शासक) ने अपने सेनापति शिरुटोड्डूर को चालुक्य क्षेत्रों पर आक्रमण कर देने की आज्ञा दी। फलस्वरूप

---

१. केन्डूर अभिलेख, एइ०, जिल्द ९, पृष्ठ २०२।
२. इहिक्वा, जिल्द २८, पृष्ठ ६३-६४।
३. दि अर्ली हिस्ट्री ऑफ् दि डेकन, पृष्ठ २२३ और आगे।
४. इहिक्वा०, जिल्द ५, पृष्ठ ३२५।

पेरुवड्ड्न्लूर (त्रिचनापल्ली जिले) में युद्ध हुआ (६७४ ई), जिससे विवश होकर चालुक्य सेनाओं को वापस लौटना पड़ा।

इस बीच विक्रमादित्य को दक्षिण दिशा में अपनी राजधानी से बहुत वर्षों बहुत दूर रहना पड़ा था और उसकी अनुपस्थिति में मूल चालुक्य क्षेत्रों की देख-रेख, प्रशासन और असन्तोषों के दमन का कार्य उसके पुत्र विनयादित्य और पौत्र विजयादित्य भक्तिपूर्वक करते रहे[१]। उन्होंने पल्लव सेनापति शिरुत्तोड्ड्र के आक्रमण का सफलतापूर्वक सामना किया। यह युद्ध चालुक्य राजधानी वातापी के पास ही लड़ा गया था।

इन्हीं आक्रमणों और प्रत्याक्रमणों के सम्बन्ध में आगे दोनों वंशों के अभिलेख और कुछ ग्रंथ अपने-अपने शासकों की प्रशस्तियाँ बढ़ाचढ़ा कर गाते[२] हैं।

विनयादित्य और विजयादित्य

विनयादित्य ने अपने पिता विक्रमादित्य के जीवित रहते ही शासन संभाल लिया था, किन्तु उसका राज्यारोहण पिता की मृत्यु के बाद ६८१ ई० प० में ही हुआ। उसने वंश के राजाओं द्वारा धारण किये जाने वाले उन सभी विरुदों को धारण किया, जो एक परिपाटी जैसी हो चुकी थी। उसके पिता के समय पल्लवों के विरुद्ध किये गये उसके युद्धों और उसकी विजयों के उल्लेख ऊपर किये जा चुके हैं। किन्तु उसके बाद प्रकाशित होने वाले अनेक अभिलेखों के वे विवरण अतिशयोक्ति ही प्रतीत होते हैं[३], जो पल्लवों, कलभ्रों, केरलों, हैहयों, मालवों, चोड़ों, पाण्ड्यों, आलूपों और गंगों पर उसकी विजयों और उनमें कुछ के द्वारा उसकी सेवकाई (सामन्ती) करने के उल्लेख करते हैं। इसी प्रकार के वे उल्लेख भी हैं, जो यह दावा करते हैं कि उसने अनेक बाहरी देशों से भी भेटें वसूलीं। यह सच है कि सिंहल और फारस के दरबारों में इस समय उथल-पुथल मची हुई थी और वहाँ के कुछ राजकुमारों ने बादामी के राजदरबार में शरण ली थी। उत्तरापथ के किसी अनामांकित शासक को हराकर उसने उसका पालिध्वज (राज्यपताका) छीन लिया था[४], इस कथन का भी कोई वास्तविक आधार प्रतीत नहीं होता।

विनयादित्य का ''प्रिय पुत्र'' विजयादित्य (६९६-७३३ ई०प०) उसका उत्तराधिकारी हुआ। अपने वंश की परंपरागत उपाधियों के अतिरिक्त उसने **सत्याश्रय, समस्तभुवनाश्रय,** और **परमभट्टारक** जैसी उपाधियाँ भी धारण कीं। उसका पूरा शासन काल पल्लव राजाओं के विरुद्ध युद्ध करते ही बीता। ७३०-३१ ई० के उल्छल प्रस्तर अभिलेख से

---

१. जेजुरि ताम्रफलक, एइ०, जिल्द १९, पृष्ठ ६२; नेरूर ताम्रफलक, इऐ०, जिल्द ९, पृष्ठ १२६।

२. एइ०, जिल्द ९, पृष्ठ २०२; एपि० कर्नाटिका, जिल्द ११, (डीजी.) सं० ६६।

३. दि अर्ली हिस्ट्री ऑफ् दि डेकन, पृष्ठ २२५।

४. इऐ०, जिल्द १४, पृष्ठ १०४।

प्रतीत होता है कि उसके शासन के प्राय: अन्तिम वर्षों में चालुक्यों ने ही इस संघर्ष की पहल की थी। कथित है कि **युवराज** विक्रमादित्य ने काञ्ची को जीता और पल्लव नरेश (द्वितीय) परमेश्वरवर्मन् से भेटें वसूलीं। वह इतने से ही संतुष्ट नहीं हुआ और आगे उसने दो बार और भी पल्लवों पर धावे बोले।

विजयादित्य वास्तनिर्माता भी था। बीजापुर के पट्टडकल में स्थित भगवान् शंकर को निमित्त करके उसने अपने नाम से ही विजयेश्वर का भव्य मंदिर बनवाया, जिसे अब संगमेश्वर का मंदिर कहा जाता[1] है। उसके समय में कर्नाटक के क्षेत्रों में जैनधर्म पूरी तरह फला-फूला। स्वयं संभवत: वैष्णव अथवा शैव होते हुए भी उसने जैन आचार्यों को ग्रामदान दिये। संभवत: कुंकुम महादेवी नामक उसकी छोटी बहिन ने लक्ष्मेश्वर में स्थित अनेसेजेय्य बसदि नामक जैन मंदिर का निर्माण कराया। विजयादित्य कुछ राजसी दुर्गुणों से भी ग्रसित रहा प्रतीत होता है। बीजापुर जिले के महाकूट नामक स्थान[2] में बने एक मंदिर के अभिलेख से ज्ञात होता कि वीणापोटिगल नामक नर्तकी (वेश्या) उसके "हृदय की प्यारी" थी। उसने उपर्युक्त मंदिर को दान दिया था।

द्वितीय विक्रमादित्य और द्वितीय कीर्त्तिवर्मन्

७३४-७३५ ई० प० में विजयादित्य का 'प्रियपुत्र' द्वितीय विक्रमादित्य सिंहासनस्थ हुआ और लगभग ११ वर्षों (७३४-७४५ ई० प०) तक शासन चलाता रहा। उसने अपने पूर्वजों के सभी राजकीय विरुद धारण किये। उसका भीम नामक एक छोटा भाई था, जिसे परवर्ती चालुक्य शासक अपना आदिपुरुष मानते हैं। हैहयवंशोत्पन्न उसकी लोकमहादेवी नामक रानी ने पट्टडकल में लोकेश्वर नामक शिव के मंदिर का निर्माण कराया और इस मंदिर के वास्तुकार गुण्डन अनिवारिताचारी को उस चालुक्यराज ने बहुप्रकार से पुरस्कृत और आदृत करते हुए पट्ट और चिह्न (बैज) से अलंकृत[3] किया। लोकमहादेवी की सगी छोटी बहिन **राज्ञी** त्रैलोक्यमहादेवी द्वितीय विक्रमादित्य की दूसरी रानी थी और उसने भी त्रैलोक्येश्वर नामक एक दूसरा शिवमंदिर निर्मित कराया।

द्वितीय विक्रमादित्य के समय भी चालुक्य-पल्लव युद्धों का तांता चलता रहा। कथित है कि द्वितीय परमेश्वरवर्मन् के पुत्र, **पल्लवमल्ल** उपाधिधारी, द्वितीय नन्दिवर्मन् के विरुद्ध आक्रमण कर इस चालुक्यराज ने उससे उसके कोटुमुख नामक वाद्ययन्त्र, खट्वाङ्ग नामक ध्वज, उसके हाथियों और रत्नों को हर लिया। पल्लवराज के युद्धस्थल से भाग जाने के भी विवरण प्राप्त होते हैं। किन्तु विक्रमादित्य ने काञ्ची में प्रवेश कर जाने के बाद भी उसे नष्ट नहीं किया[4]। साथ ही उसने वहाँ द्वितीय नरसिंहवर्मन् द्वारा निर्मित

---

१. एइ, जिल्द ३, पृष्ठ १ (पट्टडकल इन्सक्रृप्शन् ऑफ् कीर्त्तिवर्मन् सेकेण्ड)
२. ऐनुअल रिपोर्ट्स् ऑन् एपिग्राफी, जिल्द २, सं० १९५; इऐ०, जिल्द १८, पृ० ३८।
३. इऐ०, जिल्द १०, पृष्ठ १६४-१६७।
४. पी०बी० देसाई, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १०४; इऐ०, जिल्द १०, पृष्ठ १६४-१६५।

राजसिंहेश्वर मंदिर को ढेरों स्वर्ण का दान किया। यह कहा गया है कि उसके बाद विक्रमादित्य ने पाण्ड्य, चोड़, केरल, कलभ्र और अन्य राजाओं की शक्ति को नष्ट किया और दक्षिण समुद्र के तीर पर अपना एक कीर्त्तिस्तम्भ स्थापित किया। चालुक्यराज की उपर्युक्त विजयों के उल्लेख चालुक्य अभिलेखों में तो प्राप्त होते ही हैं, काञ्चीवरम् (काञ्ची) के राजसिंहेश्वर मंदिर के एक खण्डित अभिलेख से भी उनकी पुष्टि होती है। यह कहा गया है कि द्वितीय विक्रमादित्य के **युवराज** द्वितीय कीर्त्तिवर्मन्[१] ने भी 'कुल के इन शत्रुओं' (पल्लवों) के विरुद्ध इस युद्ध में भाग लिया था, जिसमें शत्रु शासक खुले युद्धों में लड़ने की बजाय अपने किले में घुस गया था। उस **युवराज** ने शत्रु की शक्ति का हनन कर पल्लव सेना के हाथियों सहित बहुत से स्वर्ण और बहुमूल्य रत्नों को लूटा और अपने पिता को उपहाररूप उन्हें समर्पित कर दिया।

द्वितीय विक्रमादित्य का उत्तराधिकारी उसका पुत्र द्वितीय कीर्त्तिवर्मन् हुआ और उसने वंश की अनेक उपाधियाँ धारण कीं। किन्तु चालुक्य वंश की सत्ता क्षीण होती ही गयी और अन्ततः उन्हीं के अनेक सामन्तों में से एक सामन्त वंश ने उन्हें उखाड़ फेंका। वही नया वंश राष्ट्रकूट नाम से प्रसिद्ध हुआ, जिसका प्रथम संस्थापक दन्तिदुर्ग अथवा दन्तिवर्मन् था। यह घटना आठवीं शताब्दी के मध्य में घटी।

बादामी के चालुक्य वंश की अवनति के बीज द्वितीय पुलकेशी ने सुदूर दक्षिण के अपने अनावश्यक अभियानों के साथ ही डाल दी थी। उसके बाद चालुक्य-पल्लव संघर्षों का एक ऐसा दौर लगभग एक सौ वर्षों तक चला, जो धीरे-धीरे चालुक्य शक्ति को भीतर ही भीतर खोखला करता चला गया। रही-सही कसर चालुक्य उत्तराधिकार के अनेक संघर्षों ने पूरी कर दी और अनेक राजकुमार आपस में लड़ने में ही अपनी उर्जा गंवाते रहे। फलतः, वे छोटे-छोटे सामन्त राजवंश अब स्वयं स्वतंत्र होने का प्रयत्न करने लगे जो चालुक्य विजेताओं द्वारा भिन्न-भिन्न प्रांतों में अधीनस्थ शासकों के रूप में नियुक्त किये गये थे। पिष्टपुर में द्वितीय पुलकेशी का छोटा भाई कुब्ज विष्णुवर्धन् तो पहले ही स्वतंत्र हो चुका था। उत्तरी दक्षिणापथ के सतारा–रत्नागिरि के क्षेत्रों में राष्ट्रकूटों की दो छोटी-छोटी शाखाएँ चालुक्यों के सामन्त रूप में शासन करती थीं। किन्तु आठवीं शताब्दी के मध्य में चालुक्यों की राजनीतिक शिथिलता का लाभ उठाकर वे भी स्वतंत्र हो गयीं। मंगलराज के छोटे भाई की लाट देश के एक भाग में सामन्ती थी और जब उसने वीरता दिखाते हुए ताजिक अरबों के एक भारी आक्रमण को अकेले ही प्रतिवारित कर दिया तो स्वयं चालुक्य शासक द्वितीय विक्रमादित्य को उसे अनेक विरुदों से सुशोभित करना पड़ा। इस सामन्त का नाम था **अवनिजनाश्रय**[२] पुलकेशिन्। यह उसकी बढ़ती हुई शक्ति का

---

१. वहीं, पृ० १०४-१०५।

२. फ्लीट, डाइनेस्टीज़् ऑफ् दि कनारीज़् डिस्ट्रिक्ट्स्, पृष्ठ ३७५-३७६; रा० गो० भण्डारकर दि अर्ली हिस्ट्री ऑफ् दि डेकन, पृष्ठ १८७-१८८।

द्योतक है । बाद में इस छोटे से चालुक्यवंश को भी दन्तिदुर्ग राष्ट्रकूट ने उखाड़कर वहाँ अपनी सत्ता स्थापित कर ली ।

पश्चिमी चालुक्यों के सांस्कृतिक अवदान

चालुक्यों के समय जो शासन पद्धति थी, उसका पूर्ण निखार तो हमें राष्ट्रकूटों के समय में ही दिखायी देता है, किन्तु राष्ट्रकूट शासन के जो उद्देश्यपरक मानदण्ड थे, उन सभी मानदण्डों का बीजारोपण बादामी के चालुक्य शासकों के समय ही स्पष्ट रूप से हो चुका था । उन मानदण्डों में प्रमुख थे, सम्पूर्णभाव वाली धार्मिक सहिष्णुता और उदारता; सभी संप्रदायों को बराबर का प्रश्रय, सभी धर्मों के मंदिरों के निर्माण और उनके खर्चों को चलाने हेतु पूरी-पूरी राजकीय सहायताएँ; मंदिरों के जनकल्याणकारी स्वरूप; विद्या और कलाकेन्द्रों के रूप में उनका विकास तथा राजपरिवारों में विभिन्न धर्मों को माननेवाले सदस्यों का एक साथ रहना आदि । इन सारी प्रवृत्तियों के मध्य में विभिन्न देवताओं और संप्रदायों के मंदिरों का निर्माण सबसे प्रमुख तत्त्व के रूप में दिखायी देता है । यों तो दक्षिण भारतीय मंदिरों के कलात्मक, गुणात्मक तथा प्रकार सम्बन्धी विभिन्न पक्षों का वर्णन क्रमागत रूप में आगे १५वें अध्याय में प्राप्त होगा, यहाँ बादामी के शासकों द्वारा उनके प्रोत्साहन मात्र की चर्चा पर्याप्त होगी ।

यद्यपि अधिकांश चालुक्य शासक वैष्णव धर्मानुयायी थे, उनके द्वारा बनवाये गये मंदिर केवल विष्णु के निमित्त ही नहीं, अपित शिव के निमित्त भी थे । उनमें से अनेक की रानियों ने जैन मंदिर भी बनवाये और उन्हें भूमिदान दिया । अहिहोड़ नगर तो मंदिरों का नगर ही कहा जाने लगा । इसके अतिरिक्त पट्टडकल सहित और भी स्थान मंदिर केन्द्रों के रूप में उभरे । प्रथम पुलकेशी को अश्वमेधयाजी तथा वातापी के दुर्ग का निर्माता कहा गया[१] है । उसके पुत्र प्रथम कीर्त्तिवर्मन् ने वातापीनगर की साज-सज्जा तथा उसके सौन्दर्य में चार चांद और जोड़े । उसने **अग्निष्टोम** और **बहुसुवर्ण** नामक यज्ञों का संपादन किया । उसके छोटे भाई मंगलेश ने महाकूट नामक पहाड़ी पर विष्णु के लिए एक सुन्दर गुहामंदिर का निर्माण कराया[२] । साथ ही, पूरी धार्मिक सहिष्णुता का परिचय देते हुए उसने वहीं मुकुटेश्वर नामक एक शिव मन्दिर भी बनवाया और दोनों मन्दिरों के खर्चों के लिए भूमिदान दिये । द्वतीय पुलकेशिन् **परमभागवत** था, किन्तु उसके दरबार में रहने वाला प्रसिद्ध कवि रविकीर्त्ति जैन था, जिसने प्रसिद्ध अहिहोड़ अभिलेख की ६३४-६३५ ई० में रचना की । उसमें कथित है कि उसने अहिहोड़ नगर की पहाड़ी पर जिन (महावीर जैन) का प्रसिद्ध मंदिर बनवाया जो आजकल बेगुति का मंदिर कहा जाता है । यह उत्तरी भारत की नागर शैली और दक्षिण भारत की द्राविड़ शैली के मध्य वाली बेसर शैली का एक

---

१. इऐ०, जिल्द ६, पृष्ठ ३५४ ।

२. महाकूट स्तंभलेख; इऐ०, जिल्द ६, पृष्ठ ३५४ ।

अनुपम नमूना[1] है।

विजयादित्य और उसके पुत्र द्वितीय विक्रमादित्य वास्तुनिर्माण में सबसे आगे थे। विजयादित्य शैव था और पट्टडकल में उसने अपने ही नाम पर विजयेश्वर नामक एक शैव मंदिर बनवाया, जो द्वितीय कीर्त्तिवर्मन् का समय आते-आते संगमेश्वर का मंदिर कहलाने लगा। चालुक्य वास्तुकला के सर्वप्रमुख नमूनों में वह एक है। इसके एक स्तंभ पर कीर्त्तिवर्मन् का एक अभिलेख खुदा हुआ है जो हर-गौरी मिलन की प्रशंसा में रचित है। विजयादित्य के समय का एक अतैथिक लेख भी वहाँ लिखा है, जो उसकी प्रेयसी वीणापोटिगल द्वारा **हिरण्यगर्भ** महादान दिये जाने का उल्लेख करता है। उसने वहाँ के देवता को रत्नजटित पादुका तथा रजतछत्र भेंट किया तथा उसके साथ मंगलूड़े नामक भूमिखण्ड का भी दान किया। विजयादित्य की बहिन कुंकुमदेवी संभवत: जैन धर्मानुयायी थी, जिसने लक्ष्मेश्वर में स्थित अनेसेजेय्य बसदि नामक जैन मंदिर बनवाया। विजयादित्य का पुत्र द्वितीय विक्रमादित्य था। लोकमहादेवी नामक उसकी रानी ने पट्टडकल में ही लोकेश्वर नामक शिव मंदिर बनवाया[2]। इसे आजकल विरूपाक्ष मंदिर कहा जाता है। उसकी छोटी बहिन त्रैलोक्यमहादेवी विक्रमादित्य की दूसरी रानी थी और उसने भी त्रैलोक्येश्वर नामक एक अन्य शिव मंदिर का निर्माण कराया। इन शिव मंदिरों के नाम निर्माता राजाओं अथवा रानियों के नाम पर जो रखे गये, वे आगे चलकर, विशेषत:पूर्वी चालुक्य राजाओं के समय, एक प्रचलित प्रथा का रूप धारण करने लगे। लोकमहादेवी ने लोकेश्वर मंदिर का संभवत: जीर्णोद्धार भी कराया, जो इस उल्लेख से स्पष्ट होता है कि वहाँ के गन्धर्वों को दी गयी पूर्व की सुविधाओं (**पूर्वमर्यादिगड़**) को पुन: चालू करा दिया गया। इस मंदिर के वास्तुकार का नाम था श्री गुण्डन अनिवारिताचारी, जिसका भरपूर आदर और सम्मान किया गया। लोकमहादेवी ने मंदिर को नरेनगल्ल ५० नामक **विषय** का दान भी दिया था। इन तीनों मंदिरों के निर्माण तथा उनको दिये गये दान का वर्णन करने वाला एक अभिलेख [3]उनके बीच वाले (विजयेश्वर) मंदिर की पश्चिम की ओर के एक स्तंभ पर उत्खचित है, जिसकी रचना ज्ञानशुभाचार्य नामक उस उत्तर भारतीय ब्राह्मण ने की थी, जो उत्तर भारत से (गंगा के किनारे से) वहाँ जाकर बस गया था। संभवत: वही उस मंदिर का पुजारी भी था।

चालुक्य कालीन ये मंदिर केवल धार्मिक पूजापाठ और स्तोत्रगान मात्र के स्थान न होकर लोकमंगल के अनेक कार्यों का भी संपादन करते थे। उनका निर्माण करने में लगे अनगिनत मजदूरों, संगतराशों, चित्रकारों, मूर्तिकारों और स्थपतिओं को रोजगार तो

---

१. नीलकान्त शास्त्री (याजदानी) दि अर्ली हिस्ट्री ऑफ् दि डेकन, पृष्ठ २११।
२. देखें, पीछे पृष्ठ ४९।
३. एइ०, जिल्द ३, पृष्ठ १-७।

मिलते ही थे, उनके माध्यमों से विभिन्न कलाओं का पोषण और उन्नयन भी होता था। वे गरीब विद्यार्थिओं को मुफ्त भोजन देते थे, साधु-सन्यासिओं और अनाथों के लिए **अन्नसत्र** चलाते थे, विभिन्न शास्त्रों के अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था करते थे तथा नर्तक, वादक और गायक समूहों (गांधर्वों) द्वारा ललित कलाओं को प्रोत्साहन देते थे। मंगलेश के बादामी वाले अभिलेख[१] से ज्ञात होता है कि उसने नवनिर्मित विष्णुगृह (मंदिर) को लञ्जीश्वरम् के गांव का दान इस उद्देश्य से किया कि वहाँ मंदिर में **नारायणबलि** (पूजा) के अतिरिक्त प्रतिदिन सोलह ब्राह्मणों को मुफ्त भोजन तथा परिव्राजकों (चलायमान साधुओं) को यथासंभव भोजन कराया जाता रहेगा। द्वितीय विक्रमादित्य के लक्ष्मेश्वर अभिलेख[२] तथा द्वितीय कीर्त्तिवर्मन् के आडूर[३] अभिलेखों में भी **दानशाला** के उल्लेख मिलते हैं। पट्टडकल में लोकमहादेवी ने जो शिव मंदिर बनवाया उसमें उसने गायक गायिकाओं (**गांधर्वर**) हेतु विनयादित्यराज द्वारा दी गयी सुविधाओं को पुनः चालू करने का उल्लेख एक अभिलेख में कराया।

इन मंदिरों के वास्तुकारों की उच्च कला-शिक्षा और उनके कार्यों की प्रशंसा के विवरण भी कुछ अभिलेखों के वर्ण्य विषय हैं। लोकेश्वर मंदिर (अब विरूपाक्ष मंदिर नाम से ज्ञात) के वास्तुकार श्री गुण्डन अनिवारिताचारी तो **त्रिभुवनाचारी** (तीनों लोकों के आचार्य) तक कहे गये हैं। उनके कहने पर ही मंदिर के श्रेष्ठ शिल्पिओं को कई प्रकार के राजकीय करों से मुक्त कर दिया गया था। श्री गुण्डन अनिवारिताचारी ने इस मंदिर के निर्माण के अतिरिक्त अनेक नये नगरों को बसाने और उन्हें सजाने में भी नेतृत्व किया था। उन्हें **अनेकपुरवास्तु पितामह** और **वास्तुप्रासाद [४]आसनशयनमणिमकूट रत्नचूड़ामणि** जैसे विशेषण दिये गये हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि उन्हें मंदिरों, महलों, राज्यासनों, शयनगृहों तथा राजमुकुटों आदि रत्नजटित मूल्यवान् राजकीय वास्तुओं और वस्तुओं को बनाने-बनवाने में महारत हासिल थी। वे सचमुच **रत्नचूड़ामणि** थे। विरूपाक्ष मंदिर में देवी-देवताओं और **रामायण** आदि प्राचीन ग्रंथों के पात्रों के जो सुन्दर चित्र बने हुए हैं, उन्हें निर्मित कराने में उनका हाथ अवश्य रहा होगा। कीर्त्तिवर्मन् के अभिलेख[५] में वास्तुकारों और चित्रकारों (रूपकारों) की तीन पुश्तों के शाण्डिल्यगोत्री ब्राह्मणों (शिववर्धमान, शिव तथा शुभदेव, क्रमशः पितामह, पिता और पुत्र) के प्रशंसामय उल्लेख प्राप्त होते हैं, जिन्होंने वहाँ के मंदिरों को सुन्दर वास्तु, चित्रों और मूर्तियों से सजाया था।

---

१. इऐ०, जिल्द ६, पृष्ठ ३६३।
२. इऐ, जिल्द १०, पृष्ठ १६६।
३. पञ्चमुखी, कर्नाटक इन्सकृप्शन्स्, जिल्द १, पृष्ठ ७-८।
४. इऐ० जिल्द १०, पृष्ठ १६६।
५. वहीं, पृष्ठ १६४-१६५।

चालुक्यों के अधीन ब्राह्मण (द्विज विद्वानों) द्वारा वैदिक विद्याओं के अध्ययन की परंपरा अबाध गति से चलती रही। इस हेतु उन्हें प्रदत्त ग्राम दानों के उल्लेखों का विवरण यहाँ आवश्यक नहीं है विजयादित्य के एक लेख[1] में वातापीनगर को चतुर्दश विद्याओं में निष्णात हजारों ब्राह्मणों के निवास का केन्द्र बताया गया है। एक अन्य अभिलेख में वहाँ के **श्री महाचातुर्विद्यासमुदायम् इच्व्र्छासिरि** का उल्लेख है, जो संभवत: एक विद्या संस्थान अथवा अकादमी थी। जिन चतुर्दश विद्याओं का उल्लेख विजयादित्य के अभिलेख में हुआ है, वे थीं—चार **वेद,** छह **वेदांग**, **पुराण**, **मीमांसा**, **न्याय** और **धर्मशास्त्र** । चार विद्याओं में **आन्वीक्षिकी**, **त्रयी, वार्ता** और **दण्डनीति** सम्मिलित थीं।

चालुक्यों की सांस्कृतिक उपलब्धियों की चर्चा उनके द्वारा अथवा उनके समय में कन्नड़ भाषा के उदय और विकास के विवरण के बिना अधूरी ही होगी। दक्षिण भारत की कन्नड़ जैसी वे प्रान्तीय अथवा देशज भाषाएँ (तेलुगू, तमिल और मलयालम) ही हैं, जो उत्तर भारत और दक्षिण भारत के भाषायी ताने-बाने और नक्शे में मध्यरेखा का निर्माण करती हैं और भारतीय इतिहास के प्राचीन युग को उत्तर प्राचीन युग (कुछ की दृष्टि में पूर्वमध्ययुगीन) के द्वार पर ले जाती हैं। इस युग का प्रारंभ ६ठीं-७वीं शताब्दी-द्वय में ही हुआ था, जो प्रस्तुति कृति का प्रारंभिक युग है। कन्नड़ को **प्राकृत भाषा** कहा गया है अर्थात् साधारण लोगों की बोलचाल वाली भाषा, जो संस्कृत अर्थात् संस्कारित (साहित्यिक) भाषा से अलग मानी गयी। पश्चिमी चालुक्य शासक संस्कृत और कन्नड़ दोनों के ही पोषक थे और उन्हीं के प्रथम शासक प्रथम पुलकेशिन् ने ५४३ ई० में बादामी की एक पहाड़ी पर पहला कन्नड़ अभिलेख लिखवाया[2] था। चालुक्य शासकों के कन्नड़ के प्रति स्वाभिमानी प्रेम का परिचय द्वितीय कीर्त्तिवर्मन् के उस लेख से भी ज्ञात होता है जो उसने काञ्ची के राजसिहेश्वर मंदिर (कैलाशनाथ मंदिर) में पल्लवों के ऊपर अपनी सैनिक विजय के उपलक्ष्य में खुदवाया[3] था। वह कन्नड़ भाषा में ही है। तमिऴ भाषायी क्षेत्र में कन्नड़ भाषा में लिखित यह लेख चालुक्यों के भाषा स्वाभिमान का ही द्योतक स्वीकार किया जाना चाहिए।

●

---

१. पञ्चमुखी, कर्नाटक इन्स्कृप्शन्स्, जिल्द १, पृष्ठ ३।
२. इऐ०, जिल्द ६, पृष्ठ ३५४।
३. एइ०, जिल्द ३, पृष्ठ ३६०।

अध्याय २ का परिशिष्ट

रविकीर्त्ति रचित अहिहोड़ प्रशस्ति

रविकीर्त्ति चालुक्य (बादामी) दरबार के जैन कवि और प्रशस्तिकार थे। उन्होंने आधुनिक कर्नाटक के बीजापुर जिले के हुंगुण्ड तालुका में स्थित अहिहोड़ में जिनेन्द्र का एक मंदिर बनवाया, जिसे आजकल मेगुटि का मंदिर कहा जाता है। उसकी पूर्वी दीवार पर उन्हीं द्वारा विरचित एक प्रशस्ति लिखी हुई है, जो चालुक्य वंश का इतिहास, विशेषत: द्वितीय पुलकेशी **सत्याश्रय** का, इतिहास प्रस्तुत करती है।

इस प्रशस्ति का प्रथम प्रकाशन जॉन फेथफुल् फ्लीट ने **इण्डियन् ऐण्टीक्वेरी**, जिल्द ५, पृष्ठ ६७ और आगे में किया था और पुन: उसे संशोधित रूप में उसी पत्रिका के आठवें जिल्द (पृष्ठ २३७ और आगे) में मूलपाठ और अंग्रेजी अनुवाद सहित उसे प्रकाशित किया था। किन्तु बाद में उन्हीं के आग्रह पर एक अन्य संशोधित पाठ एफ्० कीलहार्न ने **एपिग्राफिया इण्डिका** के ६ठें जिल्द (पृष्ठ १-१२) में उपस्थित किया। आगे इसी पाठ का सहारा लेते हुए प्रशस्ति का मूलपाठ और हिन्दी भाषानुवाद देने का प्रयत्न उपस्थित है। जहाँ तक मेरी जानकारी है, भारतीय विद्वानों ने अनेक अभिलेखों का देवनागरी लिपि में मूलपाठ तो उपस्थित कर दिया है, किन्तु उनका हिन्दी अनुवाद कहीं भी नहीं मिलता। अन्य भारतीय भाषाओं का हाल क्या है, इसकी जानकारी प्रस्तुत लेखक को नहीं है। यहाँ हिन्दी रूपान्तर देने का तात्पर्य केवल इतना मात्र है कि जो लोग मूल संस्कृत अथवा उसके अंग्रेजी अनुवाद का लाभ नहीं उठा सकते, वे भी भारतीय इतिहास के मूल स्रोतों तक अपनी पहुँच बना सकें। हिन्दी रूपान्तर में यदि अशुद्धियाँ दिखायी दें, तो वे इस लेखक की ही हैं, अभिलेख के अंग्रेजी अनूदक अथवा उसका मूल संस्कृत पाठ देने वाले का उसमें कोई उत्तरदायित्व नहीं है।

प्रशस्ति की भाषा संस्कृत है और उसके अक्षर उसके दक्षिण-भारतीय वर्ग वाले हैं। पूरा अभिलेख पद्यमय है, जिसमें कुल श्लोकों की संख्या ३७ है। अलग-अलग श्लोकों में अलग-अलग छन्दों-अनुष्टुप, आर्या, आर्यागीति, उपजाति, इन्द्रवज्रा, रथोद्धता, वंशस्थ, द्रुतविलम्बित, प्रहर्षिणी, वसन्ततिलका, मालिनी, हारिणी, मन्दाक्रान्ता, शार्दूलविक्रीड़ित, मत्तेभवक्रीड़ित और स्रग्धरा के प्रयोग किये गये हैं। प्रथम और तृतीय पदों में संधि के नियमों के पालन नहीं किये गये हैं। अभिलेख का उद्देश्य चालुक्य वंश के प्रशस्तिमूलक इतिहास, विशेषत: द्वितीय पुलकेशी की उपलब्धियों, का विवरण उपस्थित करना है। प्रशस्ति के मूल संस्कृत पाठ और उसके अनुवाद से इसके विषयवस्तु की पूरी तरह जानकारी हो सकेगी।

प्रशस्ति के ३७ वें श्लोक में रविकीर्त्ति अपने को कालिदास और भारवि जैसे कविओं की कोटि में रखता है, जो आत्मश्लाघात्मक होते हुए भी उसके काव्यगुण की महत्ता को कम नहीं करता। कीलहार्न कहते हैं : 'मेरे मत में यह प्रशस्ति उसे (रविकीर्त्ति को) प्रशस्तिकार, राजदरबारी लेखकों और कविओं की प्रथम पंक्ति में' रखती है। "वह अलंकार शास्त्र के नियमों से पूरी तरह परिचित है और एक सम्पूर्ण दाक्षिणात्य की नाईं **उत्प्रेक्षा** (के प्रयोग) में तो वह अद्वितीय है।"

प्रशस्ति का मूल पाठ कीलहार्न ने अंग्रेजी भाषा में प्रयुक्त होने वाली रोमक लिपि में दिया है। यहाँ वही पाठ देवनागरी लिपि में दिया जा रहा है। हिन्दी अनुवाद में उनके अंग्रेजी में किये गये अनुवाद का सहारा लिया गया है, किन्तु मूल संस्कृत पाठ के शब्द-प्रयोग कहीं-कहीं हिन्दी रूपान्तर में भी मिलेंगे। कीलहार्न ने अपने अनुवाद में नीचे की पादटिप्पणियों द्वारा कुछ व्याख्यात्मक उद्धरण और संस्कृत ग्रंथों-विशेषत: रघुवंश–के विषय अथवा शब्द सम्बन्धी उल्लेख भी किये हैं, जो उतने ही विद्वत्तापूर्ण हैं, जितने मॉनियर विलियम्स् द्वारा तैयार किये गये 'संस्कृत अंग्रेजी कोष' के हजारों उद्धरण हैं। धन्य थे ये सभी अथवा वैसे सभी महापुरुष और वृहस्पतिपुत्र। अंग्रेजी वाली पादटिप्पणियाँ अथवा पाठभेद सम्बन्धी टिप्पणियाँ यहाँ नहीं दी गयी हैं। मूलपाठ में जहाँ कोष्ठक ( ) के बीच में कोई मात्रा अथवा वर्ण दिया गया है, वह पाठभेद अथवा शुद्धपाठ का सूचक है और जहाँ कुछ नहीं है वह इस बात का सूचक है कि वहाँ मूल प्रशस्ति (प्रस्तर पर लिखित अंश) खण्डित हो चुकी है।

प्रशस्ति श्लोकबद्ध है और दीवार पर १९ पंक्तियों में लिखित है। कुल श्लोक ३७ हैं। यहाँ बायीं ओर जो संख्याएँ दी गयी हैं, वे पंक्तियों की सूचक हैं और दाहिनी ओर की संख्याएँ श्लोक संख्याएँ हैं। एक–एक पंक्ति में दो या चार पदों वाले एक से अधिक श्लोक भी निबद्ध हैं।

मूलपाठ

१. जयति भगवान्जिनेन्द्रो (वी) त-ज (राम) रणजन्मनो यस्य,
ज्ञान समुद्रान्तर्गतमखिल जगदन्तरपमिव [१]
तदनुचिरपरिमेयश्चलुक्यकुलविपुलजलनिधिर्जयति,
पृथिवीमौलिलाम्नां य: ( ) प्रभव: पुरुषरत्नाम् [२]
शूरे विदुषि च विभजन्दानंमानञ्च युगपदेकत्र,
२. अविहितयथासं (ख) यो (ो) जयति च सत्याश्रयस्सुचरितम् [३]
पृथिवीबल्लभशब्दोयेषामन्वयथाञ्चिरञ्जात:,
तद्वंशेषु विजिगीषु बहुष्वप्यतीतेषु [४]

नानाहेति शताभिघातपतितभ्रान्तशवपतिर्द्विपे
नृत्यत्भीम (कब) न्धखड्गकिरणज्वाला सहस्त्रं (ा) रणे ।
३. लक्ष्मीर्भावितचापलापि च कृता शौर्य्येण येनात्मसात्,
त्रा (द्रा) जासीज्जयसिहं वल्लभ इति ख्यातश्चलुक्यान्वयः ॥ [५]
तदात्मजोभूतरणरागनामा दिव्यानुभावो जगदेकनाथः,
अमानुषत्वं किल यस्य लोकः स्सुपृस्य जानाति वपु ( ) प्रकर्षात् [६]
तस्याभवत्तनूजः पोलोकेशि (शी) यः श्रितेन्दुकान्तिरपि,
४. श्रीवल्लभोप्यासीद्वातापीपुरीवधूवरताम् [७]
यस्त्रिवर्ग्गपदन्वीमलं क्षितौ नानुगन्तुमधुनापि राजकम्,
भूयश्चयेन हयमेधिना प्रापितमवभृथमज्जना बभौ [८]
नलमौर्य्यकदम्बकालरात्रिः स्तनयस्तस्य बभूव कीर्त्तिवर्म्मा,
परदारनिवृत्तचित्तवृत्तेरपि धीर्यस्यरिपुश्री यानुकृष्टाः [९]
५. रणपराक्रमलब्धजयश्रिया सपदि येन विरुग्न (णं),
नृपतिगन्धराजेन महौजसापृथुकदम्बकदम्बकमशेषतः [१०]
तस्मिन् सुरेश्वर विभूति गताभिलाषे राजाभवत्तजनुजः किलमंगले ( ) श;
य पूर्व्वपश्चिमसमुद्रतटोषिनावसेनारजपटश्वविनिर्मिताविग्वितानः ()
स्फुरन्मयूरवैसिदिपीकाशतैः [११]
६. व्यदुस्यमातंग तमिस्त्रासंचयम् ( )
अवाप्तवान्यो रणरंगमंदिरे करच्छुरि श्री ललनापरिग्रहम् (१२)
पुनरपि च जिघृक्षौरसैन्यमाक्रान्तसालम्,
रुचिरबहुपताकं रेवती द्वीपमाशु ।
सपदि महदुदन्य संक्रान्तबिम्बम्,
वर (रु) णबल मिवा भूतागतं यस्य वाचा [१३]
तस्यागतस्य तनये नहुषानुभागे ।
७. सायूयमात्मनि भवन्तमतः पितृव्यम्
ज्ञात्त्वापरुद्धचरितव्यः सायबुद्धि [१४]
स यदुपचित (म) न्त्रोत्साहशक्तिप्रयोग-
क्षपितबलविशेषो मङ्गलेशसमन्तात् ।

स्वतनयगतराज्यारम्भ यत्नेन सार्धं
निजमतनु च राज्यञ्जीवितञ्चोज्झति स्म ॥ [१५]
तावत्तच्छत्रभंगे जगदखिलमरात्यन्धकारोपरुद्धम्,
८. यस्यासह्यप्रतापद्युतितितिमिरिवाकान्तमासीत्प्रभातम् ।
नृत्यद्विद्युतपताकै () प्रजविनि मरुतिचुण्पर्यन्तभागै,
ग्गर्ज्जद्भिर्व्वारिवासैरलिकुलमलिनं व्योम यातं कदावा ॥ [१६]
ल (ध्व) कालं भुवभुपगते जेतुमाप्यायिकाख्ये,
गोविन्दे च द्विरदनिकरैरुत्तरां भौमरथ्याः ।
यस्यानीकैर्युधि भयरसज्ञात्त्वामेकं प्रयात-
स्तत्रावाप्तम्फलमुपकृतस्यापरेणपि सद्यः ॥ [१७]
९. वरदातुरंगतरंगरंगविलसद्धसावलीमेखलां,
वनवासी भवमृदनतत्सुर पुरप्रस्य (ि)र्द्धनी सम्पदा ।
महता यस्य बलार्णवेन परितस्सच्छादितोर्व्वीतलम्,
स्थलदुर्ग जलदुर्गतामिव गतं तत्क्षणे पश्यताम् ॥ [१८]
गंगालुपेन्द्रा व्यसनानि सप्तहित्वा पुरोपार्जित सम्पदोपि ।
१०. यस्यान्नुभावोपनतास्सदासन्नासन्न सेवामृतपान शौण्डः ॥ [१९]
कोंकणेषुयदादिष्ट चण्डदण्डाम्बुव्रीचिभिः ।
उदस्तरसा मौर्यपल्लवलाम्बुसमृद्धये ॥ [२०]
अपरजलेर्लक्ष्मी यस्मिन्पुरीपुरभृत्प्रभेः
मद्भजघटाकारैर्न्नावां शतैरवमृदन्ति ।
जलदपटलानीक (की) र्ण्णम् नवोत्पलमेचकाञ्,
जलनिधिरिव व्योम व्योम्नसमोभवदम्बुभिः (धिः) ॥ [२१]
११. प्रतापोपनता यस्य लाटमालवगुर्ज्जराः ।
दण्डोपनतसामन्तचर्य्या च (।) र्य्या इवाभवन् ॥ [२२]
अपरिमितविभूतिस्फीतसामन्तसेना,
मुकुटमणिमयूखाक्क्रान्तपादारविन्दः ।
युधिपतितगजेन्द्रानीक बीभत्सभूतो,
भयविगलितहर्षो येन चाकारि हर्षः ॥ [२३]
१२. भुवगुरुभीनीकैश्शासतो यस्य रेवा, विविधपुलिन शोभावन्ध्य विंध्योपकण्ठः ।
अधिकतरमराजत्स्वेन तेजोमहिम्ना शिखरिभिरिभवर्ज्या (ज्यों)व(र्मणां स्पर्द्धयेव) [२४]

विधिवदुपचिताभिश्शक्तिभिश्चशक्रकल्प
स्तिसृभिरपि गुणौधरैवैश्च महाकुलाद्यैः ।
अगमदधिपतित्त्वं यो महाराष्ट्रकाणां
नवनवतिसहस्त्रग्रामभाजां त्रयाणां ॥ [२५]

१३. गृहीणां स्वस्वगुणैस्त्रिवर्गतुंगाः विहितान्यक्षितिपालमानभङ्गाः ।
अभवन्नुपजात भीतिलिङ्गाः यदनीकेन सको (स) लाः कलिङ्गाः ॥ [२६]
पिष्टं पिष्टपुरं येन जातं दुर्ग्गमदुर्ग्गमम् ॥
श्चित्रं यस्यकलेर्वृत्तम् जातं दुर्ग्गमदुर्ग्गमम् ॥ [२७]
सन्नद्धवारणघटा स्थगितमन्तरालम्,
नानायुधक्षतनरक्षतजाङ्गरागम् ।
आसीज्जलं यदवमर्दितमदभ्रगर्भम् कौनालम्बर,
मिर्वा (ज) जातसान्ध्यरागम् ॥ [२८]

१४. उद्यूतामलचाव (ग)रध्वज शतच्छ (त) व्रान्धकारैर्ध्वं (र्व्ब) लैः,
शौर्योत्साहरसोद्धतारिमथनैर्म्मौल (ला) दिभिश्च षड्विधैः ।
आक्रान्तात्मबलोन्नतिम्बलरजच्छन्न काञ्चीपुरः,
प्राक्रान्तरित I प्रतापमकरोद्यः पल्लवानाम्पतिम् ॥ [२९]
कावेरी दृतशफरी विलोलनेत्रा चोलानां सपदि जयोद्यतस्य यस्य,
प्रश्च्योतन्मदगजसे तुरुद्ध नीराः,

१५. संस्पर्शं परिहरतिस्म रत्नराशेः ॥ [३०]
चोलकेरलपाण्ड्यानां योभूत्तत्रमहर्द्धये, पल्लवानीकनीहार तुहिनेतरदीधितिः [३१]
उत्साहप्रभुमंत्रशक्तिसहिते यस्मिन् समस्तादिशो,
जित्वा भूमिपतीन् विसृज्यमहितानाराद्धय देवद्विजान् ।
वातापी नगरम्प्रविश्य नगरीमेकामिवोम्वी (र्व्वी) मिमाम्,
चाञ्चन्नीरधी (धि) नीलनीरपरिखां सत्याश्रये शासति ॥ [३२]

१६. त्रिंशत्सु त्रिसहस्त्रेषु भारतादाहवादितः ।
सत्पाब्दशतयुक्तेषु सागतेष्वव्देषु पञ्चसु ॥ [३३]
पञ्चाशतत्सु कलौ काले षट्सु पञ्चशताषुच
समासु समतीताषु शाकानामपि भूभुजाम् ॥ [३४]
तस्याम्बुधित्रयनिवारितशासनस्य

१७.　सत्याश्रयस्य परमाप्तवतां प्रसादं ।
शैलजिनेन्द्रभवम्मवनम्महिम्ना,
निर्मापितमता रविकीर्त्तिनेदम् ।। [३५]
प्रशस्तेर्व्वसतेश्चास्या: जिनस्य त्रिजगदगुरो
कर्त्ता कारयिता चापिरविकीर्त्ति कृतीस्वयम् ।। [३६]
येनायोजि नवेश्मस्थिरमर्त्थविधौ विवेकिना जिनवेश्म
१८.　स विजयताम् रविकीर्त्ति कविताश्रितकालिदासभारविकीर्त्तिः ।। [३७]
मूलवल्लिवेल्मदितकवाड (ग) च्चूनर्ग्गग पूर्व्वलिंगेरे-
गण्डवग्राम (मा) इति अस्य भुक्तिः गिरि (रे) स्त
सि (सी) मां उत्तरत: दक्षिणतो
१९.　------------ग-----------------म ।

हिन्दी रूपान्तर

भगवान जिनेन्द्र (महावीर) की जय हो । वह जो वृद्धत्व, मृत्यु और जन्म से मुक्त है, जिसके ज्ञानसमुद्र में सारा जगत् एक द्वीप की तरह स्थित है ।१।

चालुक्य कुल का विशाल समुद्र अप्रतिम और विजयी है, जो पृथिवी के मुकुट में आभूषण के समान रत्नपुरुषों का जन्मस्थल है ।२।

अनन्तकाल तक **सत्याश्रय** के सुचरित की जय हो–जो वीरों और विद्वानों को दान देता है—चाहे उन्हें अकेले अकेले अथवा साथ-साथ, संख्या की गिनती न करते हुए ।३।

पृथिवीवल्लभ नाम (शब्द) से जिस वंश (अन्वय) की प्रतिष्ठा चिरकाल से चली आ रही है, उसी विजिगीषु वंश में बाद में पृथिवी उचित रूप में ही स्थिर हो गयी (चली गयी) ।४।

जयसिंह **वल्लभ** नामक राजा चलुक्य वंश में पैदा हुआ, उसने ऐसे युद्ध में चञ्चला लक्ष्मी को आत्मीकृत (अपने अधीन) किया, जिसमें अश्व, पदाति और हस्ति सेना सैकड़ों शस्त्रों से आहत होकर गिरती रही (मारी जाती रही) और हजारों शिरविहीन हस्तिशुण्ड (हाथियों के सूंड़) और चमकती हुई तलवारों के टुकड़े इधर-उधर गिर रहे थे ।५।

उसका पुत्र **रणराग** हुआ, जो दिव्यानुभाओं (दिव्य लक्षणों) वाला और जगत् का एकनाथ (अकेला स्वामी) था । उसके सोते रहने के समय ही लोगों ने उसके दैवी स्वरूप (अमानुषत्त्व) का अनुभव कर लिया ।६।

इसका पुत्र हुआ **पोलकेशिन्,** जो चन्द्रमा की कान्ति (सौन्दर्य) वाला था । वह लक्ष्मीपति (राज्यलक्ष्मी के स्वामी = प्रिय) होते हुए भी वातापीपुरी रूपी वधू का वर (पति) बना ।६।

त्रिवर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ और काम का पालन (प्राप्ति) करने में आज भी शासकगण जिसकी बराबरी (अनुगमन) नहीं कर सकते; जिसने अश्वमेघ यज्ञ के सम्पादन के बाद अवभृथ स्नान किया और पृथिवी चमत्कृत हो उठी ।८।

नोट–यज्ञ संपादन के बाद **अवभृथ** स्नान का तात्पर्य यह है कि यज्ञकर्ता (शासक) अपना सबकुछ दान कर चुका होता है और स्नान के बाद उसे पहनने हेतु वस्त्र भी दूसरों से लेने होते हैं । कालिदास ने **रघुवंश** में रघु द्वारा **अवभृथ** स्नान का वर्णन किया है ।

उसका पुत्र कीर्त्तिवर्मा हुआ, जो नलों, मौर्यों और कदम्बों के लिए कालरात्रि (मारक) सिद्ध हुआ । दूसरों की स्त्रियों में किसी भी प्रकार के चित्त लगाने की वृत्ति से हीन (परस्त्रीकामना से विरत) होते हुए भी वह शत्रु की लक्ष्मी (राज्यलक्ष्मी) के प्रति आकृष्ट रहता था ।९।

युद्ध में अपने कौशल और शौर्य को दिखाते हुए जिसने विजयलक्ष्मी (युद्ध में विजय) प्राप्त की, जो राजाओं में गन्धगज के समान था और जिसने अपने महद् ओज (शक्ति) से कदम्बराज (कदम्ब देश के राजा) को कदम्ब के वृक्ष की तरह तोड़ दिया ।१०।

जब उसे ईश्वर की विभूति (मृत्यु) प्राप्त हो गयी तब उसका छोटा भाई (अनुज) मङ्गलेश राजा हुआ । उसने पूर्व पयोधि से पश्चिम पयोधि तक को अपने (सैन्य) घोड़ों की टापों से उठी हुई धूलि से मानों ऐसे आच्छादित कर दिया जैसे दोनों दिशाओं के बीच एक चादर तान दी गयी हो ।११।।

जिसने सैकड़ों तलवारों की चमक (दीपिका) के कारण चमकती हुई किरणों के बीच अपने हाथियों की दौड़ से उत्पन्न अन्धकार के मध्य रणरंगमंदिर (युद्धभूमि) में कटच्छुरि । कलचुरि शासक) की ललना (राज्यलक्ष्मी) का पाणिग्रहण (परिग्रह) किया । (अर्थात् कलचुरि शासक को पराजित किया) ।१२।।

पुन:, रेवतीद्वीप को जीत लेने की इच्छा से अनेक पताकाओं को फहराती हुई, उसकी सेना ने समुद्र में प्रतिबिम्बित होती हुई परछाइयों वाले दुर्ग के प्राकारों (दीवारों) पर चढ़ते हुए उसपर तुरंत आक्रमण कर दिया; वही सेना जो वरुणसेना के समान लग रही थी ।१३।।

उसके बाद नहुष की नाईं लक्ष्मी द्वारा अभिलषित (राज्यलक्ष्मी का प्रेय), उसके पोलिकेशी नामक भ्रातृज (बड़े भाई के पुत्र) ने अपने चचा की अपने प्रति असूया (ईर्ष्या) विरुद्धचरित (व्यवहार) तथा बुद्धि (विचार) को जानकर बाहर (राज्य के बाहर) भ्रमण करने का मन बना लिया ।१४।।

तब मन्त्र और उत्साह (सही परामर्श और शासन योग्य शक्ति) की चतुर्दिक् कमी

हो जाने के कारण अपने पुत्र को सिंहासन पर बैठाने की इच्छा और प्रयत्न को मङ्गलेश ने त्याग दिया तथा अपने राज्य के साथ-साथ अपना प्राण भी खो दिया (अर्थात् पुलकेशी द्वारा मार डाला गया) ।१५।।

शत्रु समूहजनित अन्धकार में डूबे हुए उस (मङ्गलेश) के शासन से मुक्त होते ही सारे विश्व में एक ऐसी चमक (प्रकाश किरण) फैली, जो उस (पुलकेशी) के सद्यः प्रकटित (एकाएक उठे हुए) प्रकाश के कारण मानों एक रात्रिबिहान (सबेरे = प्रकाशकाल) के समान सिद्ध हुई । वह प्रभात ऐसा था मानों भ्रमरों के काले-काले झुण्डों के कारण तिमिरित हुए (अन्धकार में डूबे हुए) आकाश में भयंकर हवाओं के झंझावातों के बीच पताकाओं की तरह चमकती हुई आकाशीय बिजली चमत्कृत हो उठी हो ।१६।।

और पुनः मौका पाकर आप्यायिक और गोविन्द अपनी हस्तिसेनाओं के साथ भीमरथी नदी के उत्तर की ओर चालुक्य राज्य को जीतने की इच्छा से आगे बढ़े तो एक को उस (पुलकेशी) के भय का स्वाद युद्ध से भाग जाने में ही प्राप्त हो गया और दूसरे ने उपकृत होकर अपनी (पुलकेशी के प्रति) सेवा का पुरस्कार ही प्राप्त कर लिया (अर्थात् पुलकेशी की अधीनता स्वीकार कर ली) ।१७।।

वरदा नदी के क्रीड़ागृह में उसकी उत्ताल तरंगों पर क्रीड़ाएँ करते हुए हंसपक्षियों द्वारा निर्मित मानों एक मेखला के बीच वह स्थलदुर्ग वाला तथा सुरपुर (इन्द्रनगरी) की तुलना करने वाला वनवासी नगर उसकी (पुलकेशी की) विशाल सेना द्वारा घेर लिये जाने के बाद एक जलदुर्ग के समान दिखायी देने लगा ।१८।।

पहले से उपार्जित (पूर्वराजाओं द्वारा उपार्जित) अपनी सारी सम्पदा को (अपने) सात व्यसनों के कारण नष्ट कर देने वाले गंग और आलूपों (तद्वंशी राजाओं) ने (पुलकेशी) की अधीनता स्वीकार कर ली और अपने दासों सहित उपनत हो गये (उसके सामने झुक गये) और उसकी सेवारूपी शराब का अमृतपान करने लगे (सामन्त बन गये) ।१९।।

नोट—यहाँ सात व्यसनों की व्यञ्जना सात प्रकार के निम्नलिखित दोषों से है— द्यूत (जुआ), मांस, सुरा, वेश्यागमन, आखेट, चोरी और पराङ्ग (व्यभिचार ?)

सम्बद्ध श्लोक है :-

द्यूतं मांसं सुरावैश्याखेटचौर्यपराङ्गः ।
महापापानि सप्तैव व्यसनानि तजेद्बुधः ।।

उसकी (पुलकेशी की) सेनाओं के आक्रमण के भीषण ज्वार में कोंकण देश के मौर्यों (मौर्य वंश के राजा) की छोटी-छोटी लहरें विलीन हो गयीं ।२०।।

पुरंभेत्ता (इन्द्र) के वैभव वाले उस (पुलकेशी) ने पश्चिम पयोधि की लक्ष्मीरूपी पुरी (नामक) नगरी को मद्रस्रावी हाथियों की जमात जैसी लगने वाली अपनी जहाजी सेना

से जब घेरा तब मानों एक नवप्रफुल्लित कमल की तरह घने बादलों की परतों में छिपा हुआ कृष्णनील समुद्र मानों आकाश के रूप में परिवर्तित हो गया और आकाश समुद्र की तरह दिखायी देने लगा।२९॥

नोट–यहाँ कीलहार्न ने पुरंभेत्ता का अर्थ शिव किया है, किन्तु यह नाम तो वैदिक संहिताओं के समय से ही इन्द्र का है।

जिसके प्रताप को सुनकर अथवा जिसके प्रताप के सामने लाट, मालवा और गुर्ज्जर के शासक तथा सामन्तगण स्वयं ही झुक गये अथवा दण्ड द्वारा झुकाये जाकर (चंक्रमित) नाचने लगे।२२॥

जिस हर्ष की बढ़ती हुई अपरिमित विभूति के कारण सामन्तसेनाओं की मुकुटमणियों की चमक से उसके (हर्ष के) चरणकमल प्रकाशमान होते रहते थे, उस (हर्ष) की सेनाओं के मारे गये हाथियों के बीभत्सरूप के कारण उस (पुलकेशिन्) ने हर्ष के हर्ष को चूर (विगलित) कर डाला।२३॥

पृथिवी पर अपनी विशाल सेनाओं द्वारा उसके शासन करते समय रेवा (नर्मदा नदी) के तट के बालुकामय दुकूलों (उपकण्ठों) से युक्त विंध्य पर्वत उस (पुलकेशी) के व्यक्तित्व के प्रकाश में मानों और भी अधिक चमकता था (अर्थात् उसके शासन में था)। वह विंध्याचल उस (पुलकेशी) के हाथियों को दूर ही रहने को इस कारण प्रेरित करता था कि उनकी ऊँचाई विंध्यशिखरों से भी अधिक थी।२४॥

शास्त्रोक्त विधियों से उपार्जित (त्रिविध गुणों (मन्त्र, उत्साह और शक्ति) से उपार्जित) तत्त्वों से युक्त, मानों इन्द्र की तुलना करने वाले, अन्यान्य विशिष्ट गुणों से युक्त उस (पुलकेशी) ने तीनों महाराष्ट्रकों को उनके ९९ हजार गाँवों सहित अपने अधिकार में कर लिया।२५॥

अपनी प्रजाओं (गृही लोगों) द्वारा जीवन के त्रिवर्गों (धर्म, अर्थ और काम) की प्राप्ति हेतु प्रयत्नरत रहते हुए, पृथिवी के अन्य शासकों का मानमर्दन कर चुके कलिंगों और कोसलों (कलिंग और कोसल के शासकों) को उस (पुलकेशी) की सेनाओं के भय सताने लगे।२६॥

उसने पिष्टपुर (पीठापुरम्) को पीस दिया और अब उसके दुर्ग को पा सकना कठिन हो गया, । यह भी अवर्णनीय ही है कि कलि (युग) के दोष तो उसके पास पहुँच ही नहीं सकते थे।२७॥

अनेक शस्त्रों द्वारा व्यापादित (मारे गये) लोगों के रुधिरों से रंजित कुणाल (कोलेरु झील) का पानी उसके आक्रमण के कारण लाल रंग का हो गया; उसके भीतर का तल हाथियों के झुण्डों द्वारा मर्दित होते हुए लालिमामय गोधूलि में मानों बादलों से आच्छादित आकाश की तरह (काला) दिखायी देने लगा।२८॥

जो अपने षड्विध शक्ति (षाड्गुण्य) तथा मौल (परंपरया पिता-पुत्रक्रम से) राजसेवा में लगी हुई सेनाओं सहित अन्य प्रकार के बलों (सेनाओं) से युक्त था; जिसके ऊपर अत्यन्त शुभ्र चंवर, सैकड़ों पताकाएँ और छत्र झूलते थे, जिसकी सेना के प्रयाण से धूलिकण के अन्धकार (रजोअन्धकार) उपज जाते थे; जिसने शौर्य और उत्साह वाले गुणों द्वारा गर्वित शत्रुओं को मथ डाला था; उस (पुलकेशी) ने अपनी सत्ता का विरोध करने वाले पल्लवराज के वैभव को अपनी सेना द्वारा उड़ायी गयी धूलि में फीका कर दिया तथा उसे काञ्चीपुर की दीवारों (प्राकारों = परकोटों) के पीछे छिप जाने को विवश कर दिया ।२९।।

और जब उसने सीधे-सीधे चोड़ों को जीतने हेतु प्रयाण किया तो मछलियों जैसी अपने कातर नयनों से युक्त कावेरी नदी की धारा उस (पुलकेशी) के अपने-अपने गण्डस्थलों से हो रहे मदस्राव वाले हाथियों द्वारा एक पुल जैसा निर्माण कर देने (स्वरूप धारण कर लेने) के कारण समुद्र तक पहुँचने से मानों विरत हो गयी ।३०।।

पल्लव सेनाओं के बर्फ को पिघला देने वाले ऊष्ण रश्मि वाले सूर्य के समान उस (पुलकेशी) ने चोड़ों, केरलों, पाण्ड्यों को प्रभूत सुख (सम्पत्ति) प्रदान की ।३१।।

नोट—संभवत: इसका यहाँ यह अभिप्राय है कि पल्लव सेनाओं और पल्लव राजाओं के आक्रमणों के भय से उस समय ये सभी कमजोर दक्षिणी राज्य आतंकित रहते थे और पुलकेशिन् ने पल्लवों को हराकर उन्हें भयमुक्त कर दिया ।

मंत्र, उत्साह और शौर्य की त्रिविध शक्तियों से युक्त, सभी राजाओं (उन मित्र राजाओं और सामन्तों को, जिन्होंने पल्लवों के विरुद्ध युद्ध में भाग लिया था) को आदर और भेंट देकर बिदा करने के बाद, देवताओं और ब्राह्मणों को प्रणाम करके उस **सत्याश्रय** (पुलकेशी) ने वातापी (अपने राजधानी नगर) में प्रवेश किया । (वह नगर) अपनी कृष्णनील जल की एक खाई से चतुर्दिक घिरा हुआ किसी समुद्रावेष्ठित नगर की तरह लगता था, जिसपर वह शासनस्थ था ।३२।।

जब भारत युद्ध (महाभारत का युद्ध) हुए ३७०५ वर्ष बीत चुके हैं और जब शक संवत् के ५५६ वर्ष बीत चुके हैं, उस कलियुग में जिनेन्द्र के, सभी प्रकार की महत्ताओं से युक्त, इस वेश्म (मंदिर) की स्थापना उस बुद्धिमान् रविकीर्त्ति ने की, जिसने तीनों समुद्रों से घिरे हुए साम्राज्य पर शासन करने वाले **सत्याश्रय** के परम प्रसाद और आदर को प्राप्त किया है । ३३-३५ ।

तीनों लोकों के आचार्य (गुरु) जिन (जिनेन्द्र = महावीर) के इस वेश्म (मंदिर) तथा इस प्रशस्ति (दोनों के) संस्थापक और रचयिता बुद्धिमान् रविकीर्त्ति हैं ।३६।।

उस रविकीर्त्ति की जय हो, जिसने पूरी तरह विचारकर जिनवेश्म (जिनेन्द्र के मंदिर) को सशक्त पत्थरों से निर्मित कराया है और जो अपने काव्यगुण की विशेषताओं के कारण कालिदास और भारवि के यश की बराबरी करता है ।३७।।

नोट—मूल प्रशस्ति की १८वीं पंक्ति तथा १९वीं पंक्ति को कीलहार्न ने मूलपाठ में तो दिया है, किन्तु यह मानते हुए कि वे बाद में उसमें जोड़ी गयीं, वे उनका अनुवाद नहीं देते। उनका कथन है कि उनमें उन छह गांवों के नाम दिये गये हैं तथा उनकी चौहद्दियाँ दी गयी हैं जो मंदिर के खर्चों को चलाने हेतु दान में दिये गये थे। (देखें–एपि० इण्डिका, जिल्द ६, पृष्ठ १२, नोट ३)

ये ग्रामदान किसने दिये, कब दिये, यह ज्ञात नहीं है।

यदि प्रशस्ति के विषयों का समाहार किया जाय तो यह ज्ञात होगा कि रविकीर्त्ति का उद्देश्य मुख्यत: द्वितीय पुलकेशिन् की उपलब्धियों का विवरण देना मात्र ही था। उतना ही प्रमुख उद्देश्य उसका यह भी था कि जिस जिनवेश्म (मंदिर) का उसने निर्माण कराया उसकी भी कीर्त्ति उसकी दीवार पर खुदी हुई इस प्रशस्ति के माध्यम से स्थायी रूप से बनी रहे। सर्वप्रथम प्रशस्ति के दो श्लोकों में जिनेन्द्र की प्रशंसा है। तीसरा श्लोक **सत्याश्रय** उपाधिधारी द्वितीय पुलकेशिन् के सुचरित की प्रशंसा करते हुए प्रस्तावना रूप में है। वंश का नाम यहाँ सर्वत्र **चलुक्य** दिया गया है, जिसके वंश के विरुद के रूप में **वल्लभ** का उल्लेख है। तीसरे से तेरहवें श्लोकों तक चलुक्यवंशी प्रारंभिक राजाओं के इतिवृत्त हैं। १३वें से १५वें श्लोकों तक द्वितीय पुलकेशिन् के चचा मंगलेश की चर्चा है और द्वितीय पुलकेशिन् के प्रति उसके शत्रुत्व और ईर्ष्याभाव, उसके द्वारा अपने पुत्र को राजगद्दी दिये जाने की इच्छा और प्रयत्न और अन्तत: (पुलकेशी द्वारा) उसके मारे जाने की घटनाओं के विवरण हैं।

१६वें से ३४ वें श्लोकों में **सत्याश्रय** (द्वितीय पुलकेशी) की विजयों, उसके गुणों और उपलब्धियों के विवरण हैं। रविकीर्त्ति चालुक्य वंश के प्रथम पुरुष को चालुक्य और वंश को चलुक्यवंश तथा पुलकेशी को पोलेकेशिन् कहता है।

३५वें से ३७वें श्लोकों में रविकीर्त्ति पुलकेशी से प्राप्त होने वाले आदर सत्कार, जिन के मंदिर की स्थापना, जिन की प्रशंसा, कालिदास और भारवि के समान अपने में कवित्वगुण के होने आदि का उल्लेख करते हुए अभिलेख की लेखन तिथि देता है।

कीलहार्न का मत है कि कालिदास और भारवि से अपनी तुलना के माध्यम से वह कालिदास रचित **रघुवंश** में रघु की दिग्विजय के अनुरूप पुलकेशी की दिग्विजय की कल्पना करता है। उन्होंने इस प्रशस्ति के उद्धरणों को **रघुवंश** और **किरातार्जुनीय** से मिलाया है।

●

अध्याय ३

मान्यखेट के राष्ट्रकूट

कन्नड़ प्रदेश पर शासन करने वाले राष्ट्रकूट वंश का भारतीय इतिहास में एक बहुत ही प्रमुख सत्ता के रूप में स्थान है। किन्तु इनके पूर्वज कौन थे; अर्थात् उनकी उत्पत्ति क्या थी; इनके प्रारंभिक शासकों के मूल शासन क्षेत्र कहाँ स्थित थे; मान्यखेट से शासन करने वाले प्रथम राष्ट्रकूट शासक दन्तिदुर्ग के निकटवर्ती पूर्वज कौन थे अथवा कहाँ के थे तथा उनके पूर्वेतिहास से सम्बद्ध प्रश्नों पर न तो मतैक्य है और न अबतक कोई निश्चयात्मक निर्णय हो सका है। वास्तव में जिन भारतीय वंशों के इतिहास आज से लगभग १२५ वर्षों पूर्व लिखे गये, उनमें राष्ट्रकूटों का इतिहास प्रथम विवरणों में से एक था। उसके बाद हुल्टज़्, फ्लीट, रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर आदि ने कर्नाटक, महाराष्ट्र, आन्ध्र और मध्य प्रदेश से सम्बद्ध प्राचीन अभिलेखों और पुस्तकों का प्रकाशन किया और उनके मतवैभिन्र्य सामने आये। इन सब का समवेत अध्ययन करके १९३४ ई० में अ०स० अल्तेकर ने अपनी पुस्तक **राष्ट्रकूटज़् ऐण्ड देयर टाइम्स्** में अनेक महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले, जो प्राय: स्वीकृत हैं और आज भी उद्धृत होते रहते हैं।

प्रथम प्रश्न यह है कि राष्ट्रकूटों के मूल क्षेत्र कहाँ थे। यदि कल्याणी के परवर्ती चालुक्य शासक पञ्चम विक्रमादित्य के कौथेम अभिलेख[१] का साक्ष्य सही और ऐतिहासिक माना जाय तो यह मानना होगा कि दन्तिदुर्ग के पूर्वज या तो मध्य महाराष्ट्र अथवा उत्तरी कर्नाटक के किन्हीं भागों में रहते थे। जॉन फेथफुल् फ्लीट के मत में उनका मूल स्थान कर्नाटक में ही कहीं गुण्टूर जिले के पास था[२]। हुल्टज़् ने उन्हें आन्ध्र प्रदेश के सलेम और कोयम्बटूर जिलों से जोड़ा, जहाँ ५०० ई० के पास दन्तिदुर्ग के पूर्वज निवास करते थे[३]। अल्तेकर का निष्कर्ष यह है कि चूंकि दन्तिदुर्ग और उसके पिता की प्रारंभिक विजयों में किसी चालुक्य राजकुमारी का खेड़ा से बलात् हरण प्रमुख था, उत्तरी महाराष्ट्र और गुजरात के क्षेत्र ही उनके मूल स्थान ठहरते हैं। उनके सम्बन्ध में यह भी कथित है कि उन्होंने सिंध, मालवा और कोसल के राजाओं को पराजित किया। इससे यह निर्दिष्ट होता है कि प्रारंभिक राष्ट्रकूट शासक, सामन्तों के रूप में दन्तिदुर्ग के ७४५ ई० में उदय के पूर्व, मध्य प्रदेश के उत्तरी और मध्य क्षेत्रों में कहीं निवास करते रहे होंगे।

---

१. इ० ऐ०, जिल्द १६, पृष्ठ १५१ और आगे।

२. एपि० इण्डि०, जिल्द ५, पृष्ठ २९५।

३. उद्धृत, अ० स० अल्तेकर, राष्ट्रकूटज़् ऐण्ड देयर टाइम्स्, पृ०४।

यहाँ यह भी विचारणीय है कि राष्ट्रकूटों की उत्पत्ति सम्बन्धी मूल क्या था। उनके बहुत बाद में प्रकाशित होने वाले अभिलेखों में उन्हें यदुवंशी क्षत्रियों के कुल का बताया गया है और कहीं-कहीं तो सूर्यवंशी भी कहा गया है। किन्तु उनके प्रारम्भिक अभिलेखों में इसका कोई उल्लेख नहीं है। सर्वप्रथम उनके यदुवंशी होने का उल्लेख ८७१ ई० के प्रथम अमोघवर्ष के अभिलेख[१] में ही हुआ है। उसके पूर्व तृतीय गोविन्द के ८०८ ई० वाले वनि-दिन्दोरी अभिलेख में भी गोविन्द की तुलना यदुकुल में उत्पन्न कृष्ण से की गयी[२] है। अ० स० अल्तेकर के मत में गोविन्द की कृष्ण (मुरारि) से यह तुलना ही संजान अभिलेख में राष्ट्रकूट वंश को यादववंशी दिखाये जाने का कारण है। दूसरी ओर कर्हाट और देवली अभिलेखों में राष्ट्रकूट वंश के मूल पुरुष को तुंग कहा गया है, जिसका पुत्र अथवा वंशज रट्ट नामक व्यक्ति था। किन्तु ये दोनों ही नाम काल्पनिक माने गये हैं। वास्तव में राष्ट्रकूटों के पूर्वज वे **रठिक** लोग थे, जिनका उल्लेख अशोक के शिलालेखों में हुआ है और जिनमें रट्ट लोगों का भी मूल खोजा जा सकता है। अशोक के अभिलेखों में **रठिक** लोगों को पश्चिम भारत के भोजक लोगों के साथ रखा गया है, जो संभवत: महाराष्ट्र और बरार (विदर्भ) के कुछ भागों पर अवस्थित[३] थे। ये ही **रठिक** आगे चलकर **महारठी** कहलाये, जिनके क्षेत्र महाराष्ट्र में ही नहीं अपितु कर्नाटक में भी थे।

अल्तेकर के मतानुसार मान्यखेट (मालखेद) से शासन करने वाले राष्ट्रकूट वंश का सम्बन्ध एलिचपुर में शासन करने वाले राष्ट्रकूट वंश से ही था। किन्तु दन्तिदुर्ग और उसके पूर्वज बरार (विदर्भ) से सम्बद्ध नहीं थे। उनकी भाषा मराठी नहीं, अपितु कन्नड़ थी, जो विदर्भ की भाषा नहीं थी। स्वयं प्रथम अमोघवर्ष कन्नड़ भाषा में सर्वप्रथम लिखे जाने वाले काव्य शास्त्रीय ग्रंथ **कविराजमार्ग्ग** के लेखक माने गये हैं। अत: यह स्वीकार करते हुए भी कि राष्ट्रकूट मूलत: कन्नड़ देश के ही निवासी थे और उनकी भाषा कन्नड़ थी, यह स्वीकार किया जा सकता है कि उनके पूर्वजों के अधिकार में विदर्भ के वे भाग भी रहे हों, जो मराठी बोलने वालों के क्षेत्र थे। **कविराजमार्ग्ग** में यह कथित[४] है कि कन्नड़ भाषा गोदावरी और कावेरी नदियों के बीच में बोली जाने वाली भाषा है। अत: वही मूल कन्नड़ क्षेत्र ठहरता है। दिनेशचन्द्र सरकार के मत[५] में राष्ट्रकूट नाम का कारण यह था कि वह एक प्राशासनिक शब्द था और उनके कुछ पूर्वज बादामी के चालुक्य शासकों

---

१. तदीय वीर्य्यायतयादवान्वये क्रमेण वार्द्धाविव रत्नसंचय:। वभूव गोविन्दमहीपतिर्भुव:। श्लोक ३, एपि० इण्डिका, जिल्द १८, पृ० २४३।

२. इण्डियन् ऐण्टीक्वेरी, जिल्द ११, पृष्ठ १५७ और आगे।

३. अ० स० अल्तेकर, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ १९। पी०बी० देसाई ने अल्तेकर के इन्हीं निष्कर्षों को अपनी कृति 'ए हिस्ट्री ऑफ् कर्नाटक', पृष्ठ ११२-११३ में स्वीकार किया है।

४. प्रथम, ४६।

५. क्लासिकल् एज्. पृ० १९८।

के अधीन प्रांतों या जिलों के शासक के रूप में **राष्ट्रकूट** कहे गये हैं। इनका उल्लेख ६३० के लोहनेर अभिलेख और ७४२ ई० के इलौरा अभिलेख में मिलता है। वास्तव में आजकल के कर्नाटक की सीमाएँ बहुत छोटी हो गयी हैं। कन्नड़ भाषा के प्राचीन अभिलेख हैदराबाद, उत्तरी तमिलनाडु, गुजरात और महाराष्ट्र के अनेक क्षेत्रों से मिले हैं।

दन्तिदुर्ग के पूर्व के शासक

मान्यखेट के राष्ट्रकूटों में सबसे पहला नाम दन्तिवर्मन् का ज्ञात होता है। वह नन्नराज (वंश का प्रथम नाम) का या तो भाई था अथवा पुत्र। दन्तिवर्मन् का शासन काल संभवत: ६५० से ६७० ई० पश्चात् तक था। अगले दो शासक इन्द्र और प्रथम गोविन्द हुए, जिनके बारे में कोई विशेष जानकारी नहीं प्राप्त होती। उनका समय ६७० से ६९० ई० पश्चात् तक निश्चित किया जा सकता है। जॉन फेथकुल् फ्लीट और रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर ने इस गोविन्द की पहचान उस गोविन्द से की है, जिसने आप्यायिक के साथ मिलकर द्वितीय पुलकेशी के उत्तराधिकार युद्ध का लाभ उठाकर चालुक्य राज्य पर भीमा नदी के उत्तर से आक्रमण किया था[१] और जिसका उल्लेख रविकीर्त्ति रचित अहिहोड़ अभिलेख में हुआ है। किन्तु तैथिक क्रम की उलझनों के कारण यह मत स्वीकृत नहीं हो सका है।

अगला शासक प्रथम कर्क था। उसके तीन पुत्रों में (प्रथम) इन्द्र (दन्तिदुर्ग का पिता) सबसे जेठा था और सर्वाधिक महत्त्वाकांक्षी भी। उसके सम्बन्ध में संजान ताम्रफलक का कथन है कि उसने चालुक्यराज की पुत्री को विवाह मण्डप के खेटक रूपी रणक्षेत्र से राक्षस विवाह द्वारा (बलात्) छीन लिया[२]। इस चालुक्य राजकुमारी का नाम भवनागा था। चूंकि इसका पुत्र दन्तिदुर्ग ७५० ई० पश्चात् में शासन प्रारंभ कर चुका था, इस राक्षस विवाह (जबरदस्ती बलपूर्वक हरकर विवाह कर लेने) का समय ७२५ ई० के आसपास माना जा सकता है।

इस काल में उत्तर भारतीय तथा दक्षिण भारतीय दोनों ही क्षेत्रों की राजनीतिक अवस्थाएँ बहुत ही अस्त व्यस्त थीं, जब किसी भी अकेली शक्तिशाली सत्ता का अभाव स्पष्टत: दिखायी देता है। बंगाल गोपाल के नेतृत्व में किसी-किसी प्रकार अराजक अवस्था (**मात्स्यन्याय** की स्थिति) से बाहर निकल रहा था; कनौज में आयुध वंश के शासक

---

१. अर्ली डाइनेस्टीज़ ऑफ् दि कनारीज डिस्ट्रिक्ट्स्, पृ० ३८६-३८७; दि अर्ली हिस्ट्री ऑफ् दि डेकन, पृष्ठ ६० (सुशील प्रकाशन, कोलकाता) १९५७ ई०।

२. इन्द्रराजस्ततोगृहणात् यथाचालुक्यनृपात्मजाम्
राक्षसेन विवाहेन रणेखेटकमण्डपे ॥ श्लोक ७, एपि० इण्डिका, जिल्द १८, पृष्ठ २४३। यह चालुक्य शासक बादामी का न होकर गुजरात में शासन करने वाली शाखा का कोई शासक था।

(वज्रायुध और इन्द्रायुध) अन्य शासकों की राजनीति का केवल मोहरा मात्र बने हुए थे; बादामी के चालुक्यों का जोर द्वितीय पुलकेशी की मृत्यु (६४२ ई०) के बाद से ही लगातार पतनोन्मुख था और वे अपनी सारी ऊर्जा काञ्ची के पल्लवों के साथ लगभग एक सौ वर्षों तक चलने वाले युद्धों में बिल्कुल ही व्यर्थ गँवा रहे थे। यह स्थिति राष्ट्रकूटों के उत्थान हेतु एक अपूर्व सुअवसर के रूप में उपस्थित हुई। यही नहीं, सिन्ध पर शासन करने वाले अरबों ने भी सिन्ध के पूर्व और दक्षिण में दबाव बढ़ाना प्रारंभ कर दिया था। अल्-बिलाधुरी[१] से ज्ञात होता है कि सिन्ध के गवर्नर जुनैद ने मारवाड़, भड़ौच, उज्जैन, मालवा और भीनमाल के क्षेत्रों पर आक्रमण हेतु अपनी सेनाओं को भेजा था।

बादामी के चालुक्य शासक, द्वितीय पुलकेशिन्, के न तो अन्तिम वर्ष ही शान्ति के साथ बीते और न उसकी मृत्यु के बाद लगभग डेढ़ दशकों तक चालुक्य साम्राज्य में ही पूरी शान्ति और व्यवस्था बनी रही। उसके द्वारा पल्लवों पर किया गया आक्रमण असफल सिद्ध हुआ था और उसके बदले में पल्लव शासक प्रथम नरसिंहवर्मन् द्वारा किये गये पल्लव आक्रमण में ही उसकी भी लड़ते हुए मृत्यु हो गयी[२] और वातापी पर पल्लवों का अधिकार हो गया। फलत:, बादामी १२-१३ वर्षों तक कदाचित् शासक विहीन थी। यहीं से चालुक्यों का पतन प्रारंभ हो गया। इस समय राष्ट्रकूटों की अनेक शाखाओं के प्रतिनिधि गवर्नरों (**राष्ट्रकूट**) के रूप में चालुक्य शासकों के अधीन शासनस्थ थे। कदाचित् आगे चलकर जिस राष्ट्रकूट वंश ने अपनी स्वतंत्रता का झण्डा बुलन्द कर दिया, वह भी कहीं कन्नड़ के उत्तरी क्षेत्र में चालुक्यों की गुजरात शाखा के गवर्नर रूप में शासन चला रहा था। धीरे-धीरे सभी सामन्त शाखाएँ अपने शक्तिसंवर्धन में लग गयीं।

तथापि राष्ट्रकूटों ने चालुक्य अधिसत्ता की चादर को कुछ और समय तक ओढ़े रहना ही बुद्धिमानी समझी। दन्तिदुर्ग की अनेक प्रारंभिक विजयें तो चालुक्य शासक द्वितीय विक्रमादित्य के सामन्त रूप में ही की गयीं। इसके युद्धों में सर्वप्रमुख था गुजरात प्रदेश पर सिन्ध के अरबों के गवर्नर जुनैद द्वारा भेजी गयी आक्रामक सेना के विरुद्ध युद्ध, जिसमें गुजरात शाखा का चालुक्य शासक पुलकेशिन् दन्तिदुर्ग के साथ-साथ लड़ा था। उन दोनों द्वारा नवसारि के युद्ध में विजय प्राप्त कर लेने के फलस्वरूप द्वितीय विक्रमादित्य इतना प्रसन्न हुआ कि उसने पुलकेशिन् को तो **अवनिजनाश्रय** और **चालुक्यकुलालंकार** की पदवियों से विभूषित किया[३] और दन्तिदुर्ग को **पृथिवीवल्लभ** और **खड्गावलोक** की

---

१. इलियट ऐण्ड डाउसन, जिल्द १, पृष्ठ १०९।

२. पुलकेशिन् पर अपनी विजय के फलस्वरूप नरसिंहवर्मन् ने वातापीकोण्डा की उपाधि धारण की और अपनी राजधानी काञ्ची में एक कीर्तिस्तम्भ निर्मित किया। देखें, पी०बी०, देसाई, ए हिस्ट्री ऑफ् कर्नाटक, पृष्ठ १००।

३. दि एज ऑफ् इम्पीरियल् कनौज, पृष्ठ २।

उपाधियाँ दीं। उसके बाद भी दन्तिदुर्ग ने ७४२ ई० में काञ्ची पर किये गये द्वितीय विक्रमादित्य के आक्रमण में उसकी ओर से भाग लिया और पल्लवों पर चालुक्यों की विजयश्री का हिस्सेदार बना।

दन्तिदुर्ग महात्त्वाकांक्षी होने के साथ ही साथ काफी बुद्धिमान् भी था। ७४७ ई० में द्वितीय विक्रमादित्य की मृत्यु के बाद उसने स्वतंत्र रूप से अपनी शक्तिविस्तार हेतु विजयें प्रारंभ कर दीं। किन्तु अभी भी उसने सीधे-सीधे चालुक्य सत्ता पर कोई प्रहार नहीं किया। तथापि नान्दीपुरी से शासन करने वाले गुर्ज्जर राज्य को उखाड़ कर उसने अपने भतीजे कर्क को वहाँ का अपना प्रतिनिधि (गवर्नर) नियुक्त कर दिया। पुन:, उसने मालवा और पूर्वी मध्य प्रदेश को जीतकर अपनी विजयों के फलस्वरूप तथा अपनी बढ़ती हुई शक्ति का प्रदर्शन करते हुए मालवा की राजधानी उज्जयिनी में **हिरण्यगर्भ** यज्ञ का सम्पादन किया[१]। कथित है कि उस यज्ञ में उसने गुर्जरेश आदि राजाओं को यज्ञमण्डप के द्वारपालों (प्रतीहारी कृत) के रूप में कार्य करने को विवश किया। दन्तिदुर्ग द्वारा किये गये इस **हिरण्यगर्भ** यज्ञ के उल्लेख आगे राष्ट्रकूटों के सामानगढ़ अभिलेख[२] और इलौरा से प्राप्त दशावतार अभिलेख[३] में भी प्राप्त होते हैं। इस संदर्भ का गुर्जरेश प्रथम नागभट्ट था, जिसे अपनी राजधानी उज्जयिनी में ही दन्तिदुर्ग से हार जाने के बाद विवश होकर उसके प्रतीहार का कार्य करना पड़ा[४]। इस घटना की तिथि क्या थी, यह जानने का अबतक कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं उपलब्ध हो सका है।

बादामी का चालुक्य शासक द्वितीय कीर्त्तिवर्मन् यह सब कुछ चुपचाप देख सकता, यह असंभव था। फलत: उसने दन्तिदुर्ग के विरुद्ध मोर्चा खोल दिया। दोनों ओर की सेनाएँ कहीं खानदेश में भिड़ीं और उसमें भी दन्तिदुर्ग को विजयश्री हाथ लगी[५]। इस प्रकार ७५३ ई० तक वह सम्पूर्ण महाराष्ट्र का स्वामी हो गया और उसने **परमभट्टारक महाराजाधिराज** और **परमेश्वर** की पूरी साम्राज्य सूचक उपाधियाँ धारण कर लीं। ७५८ ई० में उसकी मृत्यु हो गयी और उसके बाद उसका चचा प्रथम कृष्ण शासक हुआ।

प्रथम कृष्ण (७५८-७७२ ई० प०)

दन्तिदुर्ग अपुत्रक था। उसके शासन करते समय उसके भाइयों और चचा कृष्ण ने उसकी निश्छलभाव से सेवा की थी। संभवत: उसकी अनेक विजयों में कृष्ण ने उसकी

---

१. हिरण्यगर्भं राजन्यैरुज्जयन्यां यदासितम्।
प्रतीहारी कृतं येन गुर्जरेशादिराजकम्॥ श्लोक ९, संजान अभिलेख, एपि० इण्डिका० जिल्द १८, पृष्ठ २४३।

२. इण्डियन् ऐण्टीक्वेरी, जिल्द ११, पृष्ठ १११ और आगे, २१-२२ वीं पंक्तियाँ।

३. आर्के० सर्वे, पश्चिमीवृत्त, जिल्द ५, पृष्ठ ८७-८८, २३वाँ श्लोक।

४. वि० पाठक, उत्तर भारत का राजनीतिक इतिहास, पृष्ठ १३०।

५. अ०स० अल्तेकर, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ३६; ४०-४१।

सेनाओं का नेतृत्व भी किया था। कदाचित् इसी कारण प्रथम अमोघवर्ष के संजान ताम्रफलक तथा चतुर्थ गोविन्द के सांगली और खम्भात ताम्रफलकों में चालुक्यों को उखाड़ फेंकने का श्रेय दन्तिदुर्ग के स्थान पर कृष्ण को दिया गया है। किन्तु इन ताम्रफलकों के प्रकाशित होने का समय घटना के बहुत बाद का था। अत: इनके साक्ष्यों को प्रामाणिक नहीं स्वीकार किया गया है। उनके कथनों की असत्यता स्वयं प्रथम कृष्ण के ७५८ ई०, ७७० ई० और ७७४ ई० के दानफलकों से सिद्ध हो जाती[१] है। यह मत व्यक्त किया गया है कि दन्तिदुर्ग की विजयों के बावजूद भी बादामी की चालुक्य सत्ता पूरी तरह समाप्त नहीं की जा सकी थी। प्रमाणस्वरूप, यह कथित है कि दन्तिदुर्ग की मृत्यु के बाद भी, ७५७ ई० तक कीर्त्तिवर्मा कर्नाटक में ही कहीं जीवित था। अत: यह अनुमानित है कि उसका अन्तिम सफाया प्रथम कृष्ण ने ही, उस तिथि के बाद, कभी स्वयं राजसत्ता संभाल लेने के बाद किया था। ७६० ई० के आते-आते चालुक्य साम्राज्य का नामोनिशान समाप्त हो गया।

अपनी सत्ता को कुछ ही वर्षों के भीतर पूरी तरह संगठित कर लेने के पश्चात् कृष्ण ने कुछ विजयी सैनिक अभियान प्रारंभ किये। उसके तालेगांव (७६८ ई०) अभिलेख से ज्ञात होता है कि उस वर्ष उसने गंगवाडि राज्य के अभियान के समय मण्णे में अपना सैनिक शिविर लगाया था। मण्णे गंग राज्य की राजधानी थी और वहाँ से इस लेख का प्रकाशन[२] यह सिद्ध करता है कि मैसूर का वह प्रदेश अब राष्ट्रकूट राज्य का भाग बन चुका था। राष्ट्रकूटों के सैनिक अभियान की दूसरी दिशा अब पूरब की ओर समुद्री किनारे पर स्थित वेंगी के पूर्वी चालुक्य वंश के राज्य की ओर थी। इस समय वहाँ का शासक था चतुर्थ विष्णुवर्धन्,जिसके विरुद्ध अभियान पर भेजा गया कृष्ण का पुत्र गोविन्द। वह उस समय **युवराज** पद पर आसीन हो चुका[३] था। गोविन्द विजयी हुआ और आधुनिक आन्ध्र प्रदेश का बहुत बड़ा भाग तथा मध्य प्रदेश का सारा मराठी बोलने वाला भाग राष्ट्रकूट राज्य में ७७२ ई० तक समाहित कर लिया गया। इसके अतिरिक्त कृष्ण ने दक्षिण कोंकण में भी अपने शिलाहारवंशी करद षणफुल्ल को राज्यासीन करके वहाँ राष्ट्रकूट सत्ता स्थापित कर ली। इन विजयों के अतिरिक्त कृष्ण ने राहप्प नामक किसी अन्य शासक को भी पराजित किया था, जिसकी सही-सही पहचान नहीं की जा सकी है।

किन्तु कृष्ण की सर्वाधिक प्रतिष्ठा का कारण उसकी सैनिक विजयें नहीं है। उसकी प्रसिद्धि को स्थायी बनाने वाला उसका कार्य तो था इलौरा की पहाड़ियों को पूरी

---

१. वहीं, पृष्ठ ३६।
२. एपि० इण्डिका, जिल्द १३, पृष्ठ २७५ और आगे।
३. वहीं, जिल्द ६, पृष्ठ २०८ और आगे।

तरह काटकर बनाया जाने वाला वह शिव देवता वाला कैलाशनाथ का मंदिर, जो एक आश्चर्यजनक कलाकृति के रूप में दक्षिण भारतीय वास्तु की एक अनुपम धरोहर है। उसके साथ राष्ट्रकूटों का यश सर्वदा वर्तमान रहेगा। बड़ौदा अभिलेख (रा०गो०भण्डारकर, दि अर्ली हिस्ट्री ऑफ् दि डेकन, सुशील, प्रकाशन, पृष्ठ ७१-७२) में कथित है कि देवताओं ने आकाश से जब इसके सौन्दर्य को देखा तो वे आश्चर्यचकित रह गये। उन्होंने कहा–"यह शिवालय आत्मनिष्ठित है, क्योंकि यह सौन्दर्य प्रस्तरकला में अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं है। स्वयं उसके वास्तुकार ने इसे जब अन्त में देखा तो वह भी आश्चर्यचकित था। उसने कहा कि अब मैं भी ऐसा कोई दूसरा वास्तु नहीं बना सकता। इसकी कलात्मक विशेषताओं हेतु आगे दक्षिण भारतीय स्थापत्य और कला वाला अध्याय देखें।

द्वितीय गोविन्द (७७२-७८० ई०प०)

शुभतुंग और **अकालवर्ष** की उपाधियों को धारण करने वाले प्रथम कृष्ण की मृत्यु ७७२ ई० के कुछ ही दिनों बाद हो गयी। तत्पश्चात् उसका गोविन्द नामक पुत्र **प्रभूतवर्ष** तथा **विक्रमावलोक** की उपाधियों के साथ शासनस्थ हुआ। वह पहले से ही **युवराज** नियुक्त किया जा चुका था तथा वेंगी के पूर्वी चालुक्यों पर विजय भी प्राप्त कर चुका था। किन्तु राजा हो जाने के बाद उसे आमोद-प्रमोद और व्यसनों की लत लग गयी और उसने अपने छोटे भाई ध्रुव को शासनभार करीब-करीब पूरी तरह सौंप दिया। इसका लाभ उठाकर ध्रुव ने स्वयं अपने नाम से कई अभिलेख प्रकाशित करा लिये। द्वितीय गोविन्द को जब तक अपनी भूल का अन्दाज हुआ तबतक ध्रुव ने राष्ट्रकूट राज्यलक्ष्मी की रक्षा के नामपर विद्रोह कर देने का निश्चय ठान लिया था। अब दोनों के बीच युद्ध अवश्यम्भावी हो गया। गोविन्द ने काञ्ची, वेंगी, गंगवाडि और मालवा के राजाओं से सहायता[१] प्राप्त तो की, किन्तु ध्रुव को इस सैनिक संघ को हराने में सफलता प्राप्त हुई और ७८० ई० के आसपास उसने राष्ट्रकूट राजगद्दी विद्रोह के माध्यम से हथिया ली।

ध्रुव धारावर्ष (७८०-७९४ ई० प०)

जैन कवि जिनसेन अपने **हरिवंश पुराण** की रचना तिथि ७८३ ई० में तत्कालीन अनेक राजाओं के शासनों का हवाला देते हुए कहते हैं कि उस समय दक्षिण दिशा में **श्रीवल्लभ** का शासन[३] था। चूँकि **श्रीवल्लभ** ध्रुव की उपाधि थी, यह निश्चित माना गया है कि ध्रुव उसके पूर्व राष्ट्रकूट राजगद्दी पर आसीन हो चुका था। यद्यपि उसका शासन

---

१. जर्नल ऑफ् दि बाम्बे ब्रांच ऑफ् रॉयल एशियाटिक सोसायटी, जिल्द १४, पृ० १९।

२. अ० स० अल्तेकर, पूर्वनिर्दिष्ट पृष्ठ ५१। के०बी० सुब्रह्मण्य अय्यर के मत में दोनों भाइओं-गोविन्द और ध्रुव, के बीच कोई युद्ध नहीं हुआ, अपितु स्वयं गोविन्द ने ही राजगद्दी सौंप दी। देखें, पी०बी० देसाई, ए हिस्ट्री ऑफ् कर्नाटक, पृ० ११७।

३. ६ठाँ, ५३।

काल बहुत छोटा था, उसकी उस बीच की सैनिक विजयें महत्त्वपूर्ण रहीं, जो उसकी **कलिवल्लभ** नामक उपाधि से प्रकट है। राजगद्दी धारण करने के पूर्व उसे अपने बड़े भाई, द्वितीय गोविन्द, के शासक रहते हुए भी राजनीति, कूटनीति और शासन का प्रचुर अनुभव प्राप्त हो चुका था। आयु की दृष्टि से भी वह काफी परिपक्व हो चुका था। अपने अत्यल्प शासन काल के भीतर भी जो उपलब्धियाँ उसने प्राप्त कीं, उनकी महत्ता बहुत ही आंकी गयी है। उसी के समय से उत्तर भारतीय राजनीति में राष्ट्रकूट शासकों का लगभग डेढ़ सौ वर्षों तक चलता रहने वाला वह हस्तक्षेप प्रारंभ हुआ, जिसे सत्ता का त्रिकोणात्मक संघर्ष कहा जाता है। उसने **कलिवल्लभ** के अतिरिक्त **श्रीवल्लभ** और **धारावर्ष** की उपाधियाँ भी धारण कीं।

ध्रुव **धारावर्ष** ने शासक होने के बाद सर्वप्रथम तो उन माण्डलिकों और सामन्तों की ओर दृष्टि फेरी, जिन्होंने उसके भाई से होने वाले उसके संघर्ष के समय उस युद्ध का लाभ उठाकर स्वतंत्र हो जाने का प्रयत्न प्रारंभ कर दिया था। पुनः, उसने उन पड़ोसी राजाओं के विरुद्ध अभियान छेड़ा, जिन्होंने उसके विरुद्ध उसके भाई द्वितीय गोविन्द का साथ दिया था। ये पड़ोसी राज्य थे तलवाड़, काञ्ची, वेंगी और मालवा के और इनके विरुद्ध ध्रुव अपने शासन के अधिकांश वर्षों में सैन्यरत होकर लगा रहा। ध्रुव का प्रथम आक्रमण गंगराज द्वितीय शिवमार के विरुद्ध हुआ। यह शिवमार उस मुत्तरस श्रीपुरुष का पुत्र और उत्तराधिकारी था, जिसे प्रथम कृष्ण ने हराकर गंग राज्य को अपनी अधिसत्ता स्वीकार करने को विवश किया था। किन्तु द्वितीय शिवमार राज्यकार्यों में उतना निपुण नहीं था, जितना विद्याध्ययन और पुस्तक लेखन में निपुण था। उसकी नाट्यशास्त्र, व्याकरण और **पातञ्जलमहाभाष्य** के अध्ययन में विशेष रुचि थी और उसने हस्तिविद्या पर एक पुस्तक भी लिखी[१] थी। किन्तु जब ध्रुव ने अपनी हस्तिसेना के साथ उस पर धावा बोला तो उसका सारा हस्तिसेना का ज्ञान धरा का धरा रह गया और वह पकड़ा गया तथा राष्ट्रकूटों के बन्दीगृह में डाल दिया गया[२]। उसकी अनुपस्थिति में उसका छोटा भाई गंगवाडि की राजगद्दी संभालता रहा। किन्तु उसे हटाकर ध्रुव ने गंग राज्य पर अपने सबसे जेठे पुत्र स्तम्भ को बैठाकर उसपर राष्ट्रकूट अधिकार जमा लिया।

तत्पश्चात् काञ्ची का पल्लवराज दन्तिवर्मन् ध्रुव का अगला निशाना बना। तृतीय गोविन्द के राधनपुर अभिलेख से ज्ञात होता है कि पल्लवों के शासक को विवश होकर

---

१. अ० स० अल्तेकर, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ५४।

२. वनि–दिन्दोरी अभिलेख, इऐ०, जिल्द ११, पृष्ठ १५७। यह मत मूलतः अल्तेकर ने अपनी पुस्तक 'राष्ट्रकूटज़' में व्यक्त किया था। किन्तु बाद में 'दि एज ऑफ् इम्पीरियल् कनौज' (पृष्ठ ४) में उनका कथन था कि मुत्तरस श्रीपुरुष अभी जीवित था, वह हारा और उसका युवराज शिवमार पकड़ा जाकर जेल में डाल दिया गया।

समर्पण करना पड़ा और तत्स्वरूप उसे ध्रुव को कई हाथियों को भी भेंट रूप में समर्पित करना पड़ा।

इस प्रकार दक्षिण की दिशा में अपनी राज्यसीमा कावेरी नदी के किनारों तक पहुँचा देने में सफल होने के बाद उसने उत्तर की ओर कूच किया। मालवा सहित कनौज के आसपास के क्षेत्रों पर प्रतीहार शासक वत्सराज का अधिकार था। यह वत्सराज मालवा (अवन्ति) का वही शासक था, जिसके पूर्वज प्रथम नागभट्ट को दन्तिदुर्ग ने उज्जयिनी में किये गये अपने **हिरण्यगर्भ** महादान वाले यज्ञ में प्रतीहारी (द्वारपाल) का कार्य करने को विवश किया था। स्वयं वत्सराज ने द्वितीय गोविन्द और ध्रुव **धारावर्ष** के बीच होने वाले राजगद्दी के लिए युद्ध में द्वितीय गोविन्द का साथ दिया था। अत: मालवा पर ध्रुव द्वारा किये गये आक्रमण के पीछे प्रतिशोध की भावना तो थी ही, राष्ट्रकूट राज्य की उत्तरी सीमाओं पर एक शक्तिशाली सत्ता को कुचल डालने का एक प्रयत्न भी था।

यहाँ थोड़ा विचार नर्मदा नदी के उत्तर वाले उत्तर भारतीय क्षेत्रों की उस राजनीतिक अवस्था पर भी किया जाना चाहिए, जो हर्ष की मृत्यु के बाद की लगभग सवा सौ वर्षों की राजनीतिक शून्यता को पारकर गुर्जर प्रतीहार और पाल वंशों की आपसी प्रतिद्वन्द्विता के रूप में उभर रही थी। कनौज पर अत्यन्त शक्तिहीन आयुध कुल के शासक इन्द्रायुध का अधिकार था और उसे या तो अपने वशीभूत रखने अथवा सीधे कनौज पर अधिकार कर सारे उत्तरी भारत की अधिसत्तात्मक सत्ता बन जाने का प्रयत्न पश्चिम-दक्षिण से गुर्जर प्रतीहार और पूर्व से पाल राजाओं-वत्सराज और धर्मपाल–ने प्रारंभ कर दिया था। वत्सराज राजपूताना और अवन्ति पर काबिज था और उसने पूर्वोत्तर में बढ़ते हुए धर्मपाल की सेनाओं को कहीं दोआब में पराजित कर दिया। इसके विवरण ध्रुव के उत्तराधिकारी तृतीय गोविन्द के राधनपुर (८०८ ई०), वनि-दिन्दोरी (८०८) और बड़ौदा से प्राप्त होने वाले (८१२ ई०) अभिलेखों से ही ज्ञात होते हैं। कथित है कि "मदान्ध वत्सराज ने गौड (देश) की राज्यलक्ष्मी को आसानीं से हस्तगत करके उसके दो राजछत्रों को छीन लिया था[१]"। इस युद्ध में चाहमान शासक दुर्लभराज ने वत्सराज की ओर से सामन्त रूप में भाग लिया था[२]। यह युद्ध कहीं दोआब में लड़ा गया था।

उत्तर भारत में एक शक्तिशाली सत्ता के उदय को ध्रुव जैसा महत्त्वाकांक्षी शासक आसानी से स्वीकार लेने को तैयार नहीं रहा होगा और उसने स्वयं एक तीसरी शक्ति के रूप में युद्ध में कूद जाने का निश्चय कर लिया। यों तो धर्मपाल रण्णादेवी नामक किसी राष्ट्रकूट राजकुमारी से विवाहित था, किन्तु उसकी सहायता में आने की उत्सुकता से ध्रुव

---

१. हेलास्वीकृतगौडराज्यकमलां मत्तं प्रवेश्याचिरात्। इऐ०, ११वाँ, पृष्ठ १५७ तथा एइ०, ६ठाँ, पृष्ठ २४८। देखें, उत्तर भारत का राजनीतिक इतिहास, पृष्ठ १३३-१३५।

२. पृथ्वीराजविजय, पञ्चम, २०; इहिक्वा०, जिल्द १४, पृष्ठ ८४४।

ने उत्तरी युद्धों में भाग लिया, ऐसा प्रतीत नहीं होता। वास्तव में उसका उद्देश्य वत्सराज और धर्मपाल दोनों को ही सैनिक रूप से उलझाये रखना ही जान पड़ता है। प्रथम अमोघवर्ष के संजान ताम्रफलक से ज्ञात होता है कि ध्रुव ने "गौडराज की कमला अर्थात् राज्यलक्ष्मी के प्रतीक रूप में उसके (धर्मपाल के) श्वेत राजछत्रों को तब छीन लिया जब वह (धर्मपाल) गंगा-यमुना के बीच कहीं भाग रहा[१] था।" स्पष्ट है, धर्मपाल के विरुद्ध यह युद्ध कहीं दोआब में ही लड़ा गया था।

किन्तु इसके पूर्व ध्रुव वत्सराज को भी कहीं दोआब में ही पराजित कर चुका था, क्योंकि प्रतीहार सेनाओं को मालवा और कनौज के आसपास पराजित कर लेने के पूर्व वह धर्मपाल के विरुद्ध अभियान छेड़ने की भूल नहीं कर सकता था। तृतीय गोविन्द के वनि-दिन्दोरी और राधनपुर के दो अभिलेखों का हवाला पहले दिया जा चुका है। तदनुसार, ध्रुव ने वत्सराज को हराकर[२] उसे भागकर मरुदेश अर्थात् अपनी पैतृक भूमि राजपूताना में शरण लेने को विवश कर दिया था। यही नहीं, उसने "वत्सराज के यश के साथ ही उन दो राजछत्रों को भी छीन लिया था, जिन्हें उसने गौडराज से छीना था[३]"। ध्रुव के उत्तर भारतीय आक्रमण का समय अ०स० अल्तेकर के मत में ७८९-७९० था और इस आधार पर वि० प्र० सिनहा (डिल्काइन ऑफ् दि किंगडम् ऑफ् मगध, पृष्ठ ३३८) ने धर्मपाल पर वत्सराज की विजय का समय ७८५-८६ ई० निश्चित किया है। किन्तु ध्रुव की नीयत इस अभियान के पीछे चाहे जो भी रही हो, वह अपने राष्ट्रकूट राज्य की सीमाओं से इतना दूर था कि उसके लिए यह असंभव था कि वह उत्तर भारत में बहुत दिनों तक टिक पाता। उसे तो लौट जाना ही था[४]।

ध्रुव को इस उत्तर भारतीय अभियान से कोई वास्तविक लाभ नहीं हुआ। अल्तेकर के मत में यह केवल एक **दिग्विजय** मात्र था। किन्तु इसे **दिग्विजय** भी कहना पूर्णतः ठीक नहीं है। दिग्विजयी सम्राट् तो विजितों से भेंट, कर अथवा अधिसत्ता की स्वीकृति प्राप्त कर ही लौटता है। ऐसा कुछ ध्रुव को प्राप्त हुआ, इसका कोई प्रमाण नहीं है। न

---

१. गंगायमुनयोर्मध्ये राज्ञो गौडस्य नश्यतः।
लक्ष्मीलीलारविन्दानि श्वेतछत्राणि यो हरेत् (योऽहरत्), एपि० इण्डि०, जिल्द १८, पृष्ठ २४४।

२. रा० गो० भण्डारकर ने इस वत्सराज की पहचान वत्सदेश के राजा अर्थात् कौशाम्बी में शासन करने वाले किसी शासक से की थी। ऐसा उस समय तक (जब पुस्तक लिखी गयी) सभी तथ्यों के अभाव में ही हुआ। देखें, दि अर्ली हिस्ट्री ऑफ् दि डेकन, सुशील प्रकाशन, पृष्ठ ७२-७३।

३. गौडीयं सरदिन्दुपादधवलं छत्रद्वयं केवलम्।
तस्मानाहृतत्यशोऽपि ककुभं प्राप्तेस्थितं तत्क्षणात्। राधनपुर अभिलेख, श्लोक ८।

४. वि० पाठक, उत्तर भारत का राजनीतिक इतिहास, पृष्ठ १३२-१३४।

तो उसकी सीमाओं का उससे कोई विस्तार हुआ और न वह वत्सराज के राजपूताना और अवन्ति वाले क्षेत्रों पर और न तो धर्मपाल के बंगाल और बिहार वाले क्षेत्रों पर काबिज हो जाने की कोई हिम्मत जुटा सका। उसका धावा दोआब पर एक सैनिक धावा मात्र था, जो एक आंधी की तरह आया और वैसे ही चला गया। उसे इस धावे को किसी परिणामकारी अंजाम तक न ले जाने में संभवत: अपने ही राज्य और राजधानी में किसी अनिष्टकारी स्थिति की कल्पना का आभास था। वह कल्पना उसके बाद राजगद्दी का उत्तराधिकारी कौन होगा, इस सम्बन्ध के उत्तराधिकार के किसी युद्ध की थी। वह काफी वृद्ध हो चला था और अपने पुत्र गोविन्द को अपना उत्तराधिकारी बनाना चाहता था। संभवत: इसी चिन्ता में वह अपने राज्य को वापस लौट गया।

तथापि ध्रुव की गिनती राष्ट्रकूट वंश के महान् शासकों में अवश्य ही की जायगी। उसने राष्ट्रकूटों को अपने समय की महत्तम सत्ताओं में एक बनाया। दक्षिण दिशा में वनवासी के गंगों को समाप्त कर अपनी राज्यसीमा कावेरी नदी तक उसने बढ़ा ली और पल्लवों से भी हाथियों की भेंट पाकर उन्हें अपनी अधिसत्ता मानने को विवश कर दिया। पूरब में वेंगी के पूर्वी चालुक्य भी उससे भयभीत रहने लगे।

तृतीय गोविन्द (७९४-८१४ ई०)

ध्रुव **धारावर्ष** के चार पुत्र थे और चारों ही योग्य थे। उसका सबसे जेठा पुत्र स्तम्भ गंगवाडि का गवर्नर था। द्वितीय पुत्र कर्क खानदेश का गवर्नर था। तृतीय पुत्र था गोविन्द और चतुर्थ था इन्द्र। ध्रुव की दृष्टि में इन चारों पुत्रों में गोविन्द सर्वाधिक योग्य तथा राज्याधिकारी होने लायक था। आगे गोविन्द ने जो राजकीय कार्य और विजयें सम्पन्न कीं, उनसे उसका यह आकलन सही साबित हुआ। ध्रुव ने स्वयं अपने बड़े भाई के विरुद्ध विद्रोह करके ही राजगद्दी पर अधिकार किया था और उसे अपने बाद उत्तराधिकार के किसी युद्ध की आशंका जरूर सता रही थी। अत: उसने पहले तो गोविन्द को **युवराज** बना देने का निश्चय किया[१] और वह पद उसे सौंप भी दिया। किन्तु गोविन्द के दो बड़े भाइयों के रहते हुए और प्राचीन भारतीय राजविधि में यह व्यवस्था होते हुए कि पहले जन्म होने वाले सिद्धान्त के अनुसार राजा का सबसे बड़ा पुत्र ही राज्य का उत्तराधिकारी होता है, उसे स्तंभ या कर्क द्वारा उत्तराधिकार-युद्ध का कोई युद्ध छेड़ दिये जाने का भी भय सता रहा था। अत: थोड़े दिनों बाद ही उसने अपनी राजगद्दी स्वयं त्याग कर गोविन्द को ही राजगद्दी सौंप देने का निश्चय कर लिया[२]। सम्बद्ध अभिलेखों से ज्ञात होता है कि अपनी पारिवारिक प्रेमभावना के वशीभूत होकर पहले तो गोविन्द ने इस प्रस्ताव को मानना नहीं चाहा, किन्तु

---

१. राधनपुर अभिलेख, एइ०, जिल्द ४, पृष्ठ २४२ और आगे।

२. राज्याभिषेककलशैरभिषिच्य दत्ताम्।
राजाधिराजपरमेश्वरताम् स्वपित्रा॥ श्लोक ३०, कर्क का सूरत अभिलेख।

अन्ततः इस प्रस्ताव को उसे स्वीकार करना ही पड़ा और वह विधिवत् शासक घोषित कर दिया गया । इस समय इस योजना में गोविन्द का छोटा भाई इन्द्र उसके साथ था और पारितोषिक स्वरूप उसे गोविन्द ने शासक हो जाने के बाद गुजरात प्रांत का गवर्नर नियुक्त कर दिया ।

तृतीय गोविन्द के सम्राट् घोषित किये जाने तक (**राजाधिराजपरमेश्वरतां स्वपित्रा**) तो कोई समस्या नहीं उत्पन्न हुई और उसके बाद भी एक वर्ष तक वह शान्तिपूर्वक शासन करता रहा । उसी बीच उसने पैठन (प्राचीन प्रतिष्ठान) का दानपत्र प्रकाशित किया । किन्तु गोविन्द का जेठा भाई स्तंभ[१] भीतर ही भीतर अपने उत्तराधिकार के वास्तविक दावे के तिरस्कृत हो जाने से प्रतिशोध की आग से झुलस रहा था और उसने गोविन्द के विरुद्ध लड़ने के लिए १२ राजाओं का एक सैनिक संघ तैयार कर लिया । इस सैनिक संघ में कौन-कौन से शासक सम्मिलित थे, यह तो पूरी तरह ज्ञात नहीं है, परन्तु अनुमानतः यह कहा जा सकता है कि पास-पड़ोस के राजे और कुछ सामन्तगण इसमें सम्मिलित रहे होंगे । संजान ताम्रफलक से ज्ञात होता है कि राज्य के कई बड़े-बड़े अधिकारी भी इसमें शामिल हो गये थे[२] । गोविन्द ने साम-दाम का सहारा लेते हुए गंगवाडि के उस राजकुमार को जेल से मुक्त कर दिया, जो उसके पिता द्वारा पराजित किये जाने पर पकड़ कर बन्दीगृह में डाल दिया गया था । शायद उसको यह लालच दिया गया था कि उसे पुनः अपना पैतृक राज्य लौटा दिया जायगा । किन्तु मुक्त होने के बाद उसने स्तंभ का ही साथ देना प्रारंभ कर दिया । फलतः, वह पकड़ कर पुनः राष्ट्रकूटों की कैद में डाल दिया गया ।

इस विद्रोह में गोविन्द ने अपने शत्रुओं को अपने युद्ध कौशल से परास्त तो किया ही, उसने उन सबको क्षमादान की नीति से भी शान्त कर देने में सफलता पायी । उसके छोटे भाई इन्द्र ने उसका भरपूर साथ दिया था और उसे गुजरात में गवर्नर नियुक्त कर दिया गया । इसी प्रकार स्तंभ और कर्क भी क्षमा प्राप्त करते हुए अपने-अपने पुराने सूबों-गंगवाडि और खानदेश की गवर्नरी प्राप्त करने में सफल रहे । स्तंभ युद्ध में हार चुका था और उसे गोविन्द की अधीनता विवश होकर स्वीकार करनी पड़ी । उत्तराधिकार के इस युद्ध का क्षेत्र कर्नाटक का वह गंगवाडि वाला प्रदेश ही रहा होगा, जहाँ पर स्तंभ प्रान्तपति के रूप में नियुक्त था और जहाँ का पूर्व गंग शासक (राजकुमार) मुत्तरस श्रीमार राष्ट्रकूटों

---

१. फ्लीट ने इसकी पहचान रणावलोक कम्भदेव से की है । देखें, अर्ली डाइनेस्टीज़, ऑफ् दि कनारीज़् डिस्ट्रिक्ट्स्, बम्बई गजेटियर, जिल्द १, भाग २, पृष्ठ ३९५ । और देखें, एइ० जिल्द ६, पृष्ठ १९५ ।

२. श्लोक १७, एइ० जिल्द १८, पृष्ठ २४४ के अनुसार-दुष्टांस्तावत्स्वभृत्यांझटिति विघटिता स्थापितोन्येशपाशाम् ।

के बन्दीगृह से मुक्त हो जाने के बाद गोविन्द के प्रति कोई उपकार न मानते हुए[१] उसके शत्रु स्तंभ से मिल गया था।

संभवत: काञ्ची के शासक ने भी स्तंभ का साथ दिया था, जिसके परिणामस्वरूप उसे गोविन्द के आक्रमण का अगला निशाना होना पड़ा। गोविन्द के ८०४ ई० के ब्रिटिश संग्रहालय अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसने काञ्ची के विजयी अभियान से लौटते समय रामेश्वरम् के तीर्थ में निवास किया था।

तत्पश्चात् गोविन्द ने अपने वंश के पुराने शत्रुओं–वेगी के पूर्वी चालुक्यों-के विरुद्ध अपना अभियान छेड़ा। राष्ट्रकूट अभिलेखों में इस युद्ध का क्रम १२ वर्षों तक चलने वाला बताया गया है और उनके कई अभिलेखों में यह कथित है कि वेंगीराज (द्वितीय विजयादित्य) को पराजित होने की दशा में राष्ट्रकूट विजेता द्वारा अपमानित होना पड़ा–यहाँ तक कि उसकी घुड़साल हेतु जमीन साफ करनी पड़ी तथा गोविन्द के शिविर की सफाई भी करनी पड़ी[२]। वेंगी राज्य की यह हीन स्थिति गोविन्द की मृत्यु के समय तक जारी रही।

नर्मदा नदी के दक्षिण में स्थित प्राय: सभी राज्यों को या तो विजित कर लेने अथवा उनपर अपनी अधिसत्ता स्थापित कर लेने के बाद गोविन्द ने पुन: उत्तर भारतीय राजनीति में वैसे ही हस्तक्षेप करने का निश्चय किया, जैसे उसके पिता ध्रुव **निरूपम** ने किया था। ध्रुव के उत्तर भारत से लौट जाने के बाद वत्सराज के पुत्र द्वितीय नागभट्ट ने पुन: मालवा पर अधिकार कर लिया था और कनौज पर भी अधिकार कर लेने हेतु प्रयत्नशील था। किन्तु कनौज पर अपनी अधिसत्ता स्थापित करने में पहले धर्मपाल (पाल शासक) ही सफल हुआ। वहाँ उसने इन्द्रायुध के पुत्र चक्रायुध को अपने नामांकित के रूप में राजगद्दी पर बिठा दिया और उस उपलक्ष्य में वहाँ एक दरबार भी लगाया, जिसमें अनेक देशों के राजाओं ने अनेक नदियों के पवित्र जल से चक्रायुध का अभिषेक किया[३]। गोविन्द उत्तरी दिशा में इन दो सत्ताओं की शक्ति और क्षेत्र विस्तार को आसानी से पचा जाने को तैयार नहीं था और उसने उत्तर में प्रयाण का निश्चय कर लिया। परन्तु मालवा में गुर्जर-प्रतीहारों के जमे होने की स्थिति में उसे अपने पार्श्वों को सुरक्षित कर लेना आवश्यक दिखायी दिया। उसके ८०७ और ८१२ ई० के सिसरो और लोहर अभिलेखों से ज्ञात होता है कि उसका विदर्भ के कुछ भागों पर पहले से ही अधिकार था[४]। गोविन्द ने पश्चिमी

---

१. इसी कारण अमोघवर्ष का संजान अभिलेख (श्लोक १८) उसे कृतघ्न कहता है। उपगताविकृति: कृतघ्नगङ्गः। एइ० जिल्द १८, पृष्ठ २४४।

२. इऐ०, जिल्द १३, पृष्ठ ५६ और आगे;

३. देखें, खालिमपुर अभिलेख, एइ०, जिल्द ६, पृष्ठ २४८, श्लोक १२।

४. एइ०, जिल्द २३, पृष्ठ २७६ और आगे तथा पृष्ठ २१६ और आगे।

दिशाओं को सुरक्षित करने के लिए अपने भाई इन्द्र को गुजरात का राज्यपाल पहले ही नियुक्त कर रखा था। अन्त में जब उसने द्वितीय नागभट्ट पर आक्रमण किया तो नागभट्ट की पराजय हुई, जिसका ज्ञान हमें अमोघवर्ष के संजान अभिलेख से प्राप्त होता है। वहाँ कथित[1] है कि गोविन्द ने "नागभट्ट के सुयश को युद्ध में हर लिया।" परबल के पथरी अभिलेख से ज्ञात होता है कि 'कर्कराज ने नागावलोक को शीघ्र ही वापस जाने को विवश कर दिया।" इस कर्कराज को मालवा की रक्षा हेतु गोविन्द ने वहाँ नियुक्त कर रखा था। अल्तेकर सहित अन्य विद्वानों ने नागभट्ट पर गोविन्द की इस विजय का समय ८०२ ई० निश्चित किया[2] है। अल्तेकर का पुन: कथन है कि यह युद्ध कहीं बुन्देलखण्ड में लड़ा गया[3] था और वहीं से आगे बढ़कर गोविन्द ने चक्रायुध और धर्मपाल को भी आत्मसमर्पण करने को विवश किया[4] था।

नागभट्ट को पराजित करने के बाद गोविन्द की सेनाएँ उत्तर की ओर बढ़ीं, जहाँ कनौज में ही चक्रायुध ने उनके सामने आत्मसमर्पण कर दिया। उसकी प्रेरणा उसे अपने अधिराज धर्मपाल से ही प्राप्त हुई थी। धर्मपाल ने भी यह जानते हुए कि गोविन्द की सेनाएँ उत्तर भारत में बहुत दिनों तक टिकी न रह सकेंगी, उसके आक्रमण का व्यर्थ मुकाबला न कर समर्पण कर देना ही बुद्धिमानी समझी। इस राष्ट्रकूट आक्रमण से जो भी तात्कालिक नुकसान किसी को हुआ, वह केवल नागभट्ट को हुआ, जिसे दोआब छोड़कर "इस प्रकार भयभीत होकर भागना पड़ा, जहाँ उसे स्वप्न में भी युद्ध (का भय) न दिखायी दे[5]।" किन्तु किसी भी राष्ट्रकूट साक्ष्य से यह नहीं ज्ञात होता कि गोविन्द की सेनाओं ने कनौज नगर को भी जीता। अत: संजान अभिलेख का यह कथन (श्लोक २३) अतिरंजित ही जान पड़ता है कि हिमालय पर्वत के झरनों में स्नान करने वाली "राष्ट्रकूट सेनाओं के उठते हुए कोलाहल से हिमालय की कन्दराओं में भी उनकी आवाज गूंजने लगी[6]।" वास्तव में इतना ऊपर की ओर आगे जाकर वे हिमालय तक पहुँच गयीं, यह कवि की एक कल्पना मात्र प्रतीत होती है, जिसमें कोई ऐतिहासिक सच्चाई नहीं हो सकती। गोविन्द कहीं प्रयाग के आसपास के दोआब तक जाकर वहीं से लौट गया।

---

१. एइ०, जिल्द १८, पृष्ठ २४५। वहाँ कथित है–स नागभटचन्द्रगुप्तनृपयोर्यशौर्य्यं रणे स्वाहार्यपपहार्यधैर्यं विकलानथोन्मीलयत्॥

२. एइ०, जिल्द २३, पृष्ठ २९३-२९५; वि.प्र. सिनहा, पूर्वनिर्दिष्ट पृष्ठ ३५३; र० च० मजूमदार, हिस्ट्री ऑफ् बेंगाल जिल्द १, पृष्ठ १७८।

३. दि एज ऑफ् इम्पीरियल् कनौज, पृष्ठ ७।

४. स्वयमेव उपनतौ धर्मचक्रायुधौ।

५. गुर्जरो नष्ट: क्वापि भयात् तथा न समरं स्वप्नेऽपिपश्येद्यथा। संजान अभिलेख, एइ० जिल्द १८, श्लोक १५।

६. संजान अभिलेख, श्लोक २३।

जैसे ध्रुव **निरूपम** के द्वारा किये गये प्रथम उत्तर भारतीय सैनिक अभियान से राष्ट्रकूटों को कोई स्थायी (अथवा तात्कालिक) लाभ नहीं हुआ था, वैसे ही गोविन्द द्वारा किये गये इस दूसरे अभियान से भी उन्हें कोई लाभ नहीं हुआ। अल्तेकर महोदय इसे भी केवल एक **दिग्विजय** मात्र की संज्ञा देते हैं। तथापि उनका अनुमान[१] है कि गोविन्द ने नागभट्ट, चक्रायुध और धर्मपाल से भारी भेंटे (ट्रिब्यूट्स्) अवश्य वसूल की होंगी। किन्तु ऐसा यदि हुआ होता तो राष्ट्रकूट अभिलेखों में कहीं न कहीं तो उनका उल्लेख हुआ ही होता। उनका यह भी मत है कि मालवा पर राष्ट्रकूटों का अधिकार हो गया। परन्तु यह भी एक अनुमान मात्र ही है।

संजान अभिलेख (श्लोक २४) के अनुसार गोविन्द ने अपने उत्तरी अभियान से लौटते हुए नर्मदा नदी के उत्तरी तीर को पकड़कर पूर्व की ओर बढ़ते हुए मालवा, कोसल, कलिंग, वंग, डाहल और ओड्रक (उड़ीसा) के राज्यों को भी जीता। इसे उसकी **दिग्विजय** का ही एक भाग माना जायगा।

इस बीच द्रविड़ देश के राजाओं ने आपस में मिलकर गोविन्द के विरुद्ध एक मोर्चा तैयार कर लिया था। इस मोर्चे में गंगवाड़ि, केरल, पाण्ड्य, चोड़ और काञ्ची के शासक सम्मिलित थे। किन्तु वे सभी के सभी पराजित किये गये[२]। इसी क्रम में कलिंग और मगध की भी गिनती की गयी है। लगता है, ये केवल प्रशस्तियाँ मात्र हैं। इतना मात्र सत्य प्रतीत होता है कि गंग राज्य की कई टुकड़ियों का सफाया हो गया और राष्ट्रकूट सेना ने तेजी से गंग राज्य के दक्षिणी मित्रों को काञ्ची में कुछ दिनों तक अपने कब्जे में रखकर भयभीत कर दिया। फलतः लंका का राजा भी भयभीत हो गया और उसने अपनी अधीनता स्वीकार करते हुए एक अपनी और दूसरी अपने मंत्री की मूर्ति गोविन्द के पास भेजी, जिसे उसने काञ्ची की पल्लव राजधानी में निर्मित एक मंदिर के सामने अपने कीर्त्तिस्तम्भ के रूप में स्थापित करवा दिया[३]।

तृतीय गोविन्द की उपलब्धियों की प्रशंसा करते हुए अल्तेकर का कथन है—"गोविन्द राष्ट्रकूट सम्राटों में कदाचित् सर्वाधिक योग्य था। उसने केवल उस सैनिक संघ को ही नहीं हराया, जो उसका उत्तराधिकार रोकने को उद्यत हुआ था, प्रत्युत् अपने राज्य की प्रतिष्ठा और सीमाओं में वृद्धि भी की। उत्तर में मालवा और दक्षिण में गंगवाड़ि उसके राज्य में मिला लिये गये------उसके बाद कभी भी राष्ट्रकूटों की प्रतिष्ठा उसके समय की

---

१. राष्ट्रकूटज़, पृष्ठ ६८।

२. संजान अभिलेख (श्लोक ३२) के अनुसार—नस्यत् केरलपाण्ड्यचौलिकनृपस्मंपल्लवं पल्लवं प्रन्नानिं गमयन्तकलिंगमगध प्रायासको यासक:। एइ० जिल्द १८, पृष्ठ २४६; ब्यौरे हेतु देखें, पी.बी.देसाई, ए हिस्ट्री ऑफ् कर्नाटक, पृष्ठ ७१।

३. लंकात: किल तत्प्रभुप्रतिकृती काञ्चीपुरमुपेतौ तत:।
कीर्तिस्तम्भानिभौ शिवायतनके येनेह संस्थापितौ। वहीं, श्लोक ३४।

चोटी तक नहीं पहुँच सकी। वनि-दिन्दोरी ताम्रफलक का यह कथन कि तृतीय गोविन्द के आगमन के बाद राष्ट्रकूट वंश शत्रुओं के लिए अजेय हो गया, केवल एक प्रशस्तिकार की कोरी बड़बोली नहीं है अपितु वह वास्तविक तथ्य का ही उल्लेख है'' (राष्ट्रकूटज़, पृष्ठ ७०)।

गोविन्द की सफलता के मूल में थी उसकी वीरता, कूटनीतिक सूझबूझ और प्रशासन का बढ़िया संचालन। अपने बड़े भाई स्तंभ के विरुद्ध उसके सैनिक संघ का जिस वीरता और बुद्धिमानी से उसने मुकाबला किया तथा हारे हुए शत्रुओं को भी ऊँचे-ऊँचे ओहदे (गवर्नरी) देकर उसने उन्हें अपनी अधीनता मानने को जैसे विवश कर दिया, वह उसकी उच्चस्तरीय राजनीति तथा साम, दाम, दण्ड, भेद के कुशल प्रयोग का परिचायक है। उसका भ्रातृज कर्क अपने बड़ौदा (बड़ोदरा) से प्रकाशित किये जाने वाले अभिलेख में उसकी तुलना अर्जुन (पार्थ) से करता है और उसी का नवसारि ताम्रफलक इस बात का खुलासा करता है कि गोविन्द बिना किसी भय और परिणाम की चिन्ता से मुक्त रहते हुए, भयंकर युद्ध में भी कूद पड़ने को तैयार रहता था।

तृतीय गोविन्द की अनेक उपाधियाँ थीं। **परमेश्वर**, और **महाराजाधिराज** की उपाधियाँ तो उसने अपने पिता से ही राजगद्दी प्राप्त करते समय प्राप्त कर ली [१]थीं। इनके अतिरिक्त उसके अन्य विरुद थे **त्रिभुवनधवल, कीर्त्तिनारायण, विक्रम, प्रभूतवर्ष** और **जगत्तुंग**। **कीर्त्तिनारायण** और **विक्रम** के विरुद उसने क्रमश चक्रायुध और धर्मपाल को पराजित कर चुकने के बाद हिमालय पर्वत तक पहुँच जाने तथा मालव, कोसल, कलिंग, वंग, डाहल और ओड्रक राज्यों को विजित करने के उपलक्ष्य में धारण किये[२] थे। अन्य अभिलेखों में उसे **पृथिवीवल्लभ** और **श्रीवल्लभ** की भी उपाधियाँ दी गयी हैं, जो राष्ट्रकूट वंश के अन्य शासकों की तरह उसके वैष्णव होने की ओर निर्देश करती हैं।

सर्व अमोघवर्ष (८१४-८८० ई० प०)

तृतीय गोविन्द की ८१४ ई० में मृत्यु के समय अमोघवर्ष कदाचित् केवल छह वर्षों की आयुवाला एक बालक मात्र था। उसका असली नाम सर्व था। उसके वयस्क होने के समय तक के लिए गोविन्द ने एक संरक्षक समिति **(रीजेन्सी कौंसिल)** की स्थापना कर दी थी। उसका प्रधान नियुक्त किया गया था कर्क **सुवर्णवर्ष,** जो गोविन्द के छोटे भाई और गुजरात प्रान्त के गवर्नर इन्द्र का पुत्र था। चूंकि इन्द्र गोविन्द का जन्मभर विश्वासपात्र बना रहा, तृतीय गोविन्द को यह आशा अवश्य रही होगी कि कर्क भी उस

१. कर्क का सूरत अभिलेख, श्लोक २३ के अनुसार–
राज्याभिषेककलशैरभिषिच्यदत्ताम्।
राजाधिराज परमेश्वरताम् स्वपित्रा॥
२. संजान अभिलेख, एइ०, जिल्द १८, पृष्ठ २४०-२४१।

विश्वास को कायम रखते हुए उसके पुत्र (अमोघवर्ष) की संभावित शत्रुओं अथवा गद्दी के दावेदारों से रक्षा करेगा। कर्क उस विश्वास पर खरा उतरा और अमोघवर्ष के राजगद्दी के धारण करने के बाद कुछ वर्षों तक न तो कोई विद्रोह हुआ और न कहीं कोई अशान्ति हुई। कर्क ने अमोघवर्ष की पूरी साम्राज्य सूचक उपाधियों के साथ ८१६ ई० में नवसारि से एक अभिलेख भी प्रकाशित किया, जिससे किसी विद्रोह की कोई जानकारी नहीं होती।

किन्तु जैसे इसके पूर्व भी राष्ट्रकूट वंश में अनेक बार राजगद्दी के लिए विद्रोह और युद्ध हो चुके थे, अमोघवर्ष को भी इस समस्या का सामना करना पड़ा। राजपरिवार में फूट पड़ गयी, उसमें कई दल बन गये और बड़े-बड़े राज्याधिकारी भी षड्यन्त्र रचने लगे। गंगवाड़ि का राजा जेल से मुक्त कर दिया गया और वह एक बार और राजभक्ति त्यागकर विद्रोह का मन बना चुका था। देखादेखी अन्य सामन्त सरदारों ने भी राष्ट्रकूट अधिकारिओं की हत्या करके अपनी-अपनी स्वतंत्रता के प्रयत्न प्रारंभ कर दिये। यहाँ तक कि अमोघवर्ष कुछ दिनों के लिए राजगद्दी से च्युत[१] भी कर दिया गया था। किन्तु तुरंत उसे अपनी राजगद्दी पुन: प्राप्त हो गयी[२]। तथापि इसकी जानकारी किसी भी प्रकार नहीं होती कि इस अल्पकालिक उथल-पुथल का समय क्या था, तथा यदि कोई युद्ध हुआ तो वह कहाँ और किनके बीच में हुआ। संभवत: दावेदारों में ही फूट पड़ चुकी थी। वास्तव में इस विद्रोह को दबाये जाने का सबसे पहला उल्लेख ८३५ ई० के कर्क के पुत्र ध्रुव के बड़ौदा से प्रकाशित होने वाले अभिलेख में ही हुआ है। यह संघर्ष लम्बा रहा प्रतीत होता है, जो अमोघवर्ष के संजान ताम्रफलक के कई श्लोकों वाले विवरणों से परिलक्षित होता है। किन्तु कर्क **प्रतापमल्ल** (अमोघवर्ष के संरक्षक) के सफल प्रयत्नों से सभी विद्रोह दबा दिये गये। अल्तेकर के मत में यह स्थिति तीन-चार वर्षों तक बनी रही, और ८२१ ई० के पूर्व इसको संभालने में कर्क को सफलता हासिल हो चुकी थी। उस वर्ष उसने अपना एक अभिलेख सूरत से प्रकाशित कराया[३] था। उस समय तक अमोघवर्ष अभी १२-१३ वर्षों का ही था। संजान अभिलेख में उसे **वीरनारायण, परमभट्टारक, महाराजाधिराज, परमेश्वर, पृथिवीवल्लभ** और **वल्लभेन्द्रदेव** की उपाधियाँ दी गयी हैं।

अमोघवर्ष वयस्क होने पर भी बहुत क्रियाशील, कर्तृत्वशक्तिसम्पन्न और कुशल प्रशासक रहा हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता। प्रत्युत् वह एक आध्यात्मिक और धार्मिक प्रवृत्तियों वाला और विद्याव्यसनी प्रकृति का व्यक्ति था। वह स्वयं वंश के वैष्णव धर्म को कदाचित् त्यागकर जैनधर्म अपना चुका था, जिसका अहिंसाधर्म राज्यशासकों की प्रवृत्तियों के अनुकूल नहीं बैठता है। ऐसे में उससे यह अपेक्षा करना कि ध्रुव **निरूपम**

१. संजान अभिलेख, एइ० जिल्द ८, पृष्ठ २४७, श्लोक संख्याएँ, ३९-४१।

२. वहीं, श्लोक ४१; और देखें एइ० जिल्द १, पृष्ठ ५४ और आगे।

३. राष्ट्रकूटज़, पृष्ठ ७४।

और तृतीय गोविन्द ने जिस शौर्य और शक्ति का प्रदर्शन करके राष्ट्रकूट वंश की राजनीतिक और सैनिक प्रतिष्ठा चतुर्दिक् फैलायी थी, वैसा ही कुछ उसके समय भी हुआ होगा, बेमानी सा लगता है। वास्तविकता तो यह है कि उस प्रतिष्ठा में उत्तरोत्तर कमी ही होती गयी। तृतीय गोविन्द के समय वेंगी के पूर्वी चालुक्य वंश के जिस द्वितीय विजयादित्य को राष्ट्रकूट सेनाओं ने परास्तकर अपने वशीभूत कर लिया था, उसी विजयादित्य ने अमोघवर्ष के समय राष्ट्रकूटों के विरुद्ध मोर्चा खोल दिया। उस वंश के बाद में होने वाले एक अम्म नामक शासक के ईदर से प्राप्त एक अभिलेख की सूचना है कि विजयादित्य ने १२ वर्षों तक रट्ट और गंग सेनाओं के विरुद्ध लगातार युद्ध किया[१]। संभवतः १२ वर्षों तक चलने वाले इस युद्ध का प्रारंभ तृतीय गोविन्द के समय ही हो चुका था, जो अमोघवर्ष के समय तक चलता रहा। संभव है, विजयादित्य ने अमोघवर्ष के विरुद्ध होने वाले उस संघर्ष और षड्यन्त्रों में भी भाग लिया हो, जो अमोघवर्ष को कुछ दिनों तक राजगद्दी से हाथ धो देने के भी कारक बने थे। पीछे हम देख चुके हैं कि तृतीय गोविन्द ने विजयादित्य को पराजितकर काफी अपमानित किया था–यहाँ तक कि उसे तृतीय गोविन्द की घुड़साल को बुहारने और उसके शिविर हेतु जमीन साफ करने तक को विवश किया गया[२] था। इसके मलाल और मन ही मन प्रतिशोध की आग से विजयादित्य अवश्य जल रहा होगा। फलतः, राष्ट्रकूट राजनीति में हस्तक्षेप करके उसकी बदला लेने की भावना सहज प्रतीत होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि जबतक वह जीवित रहा, अमोघवर्ष उसे वशीभूत नहीं कर सका।

तथापि अमोघवर्ष के बाद शासन करने वाले शासकों के कई अभिलेख यह साबित करते हैं कि अन्ततः पूर्वी चालुक्यों को एक बार और हारकर राष्ट्रकूट अधिसत्ता स्वीकार करनी पड़ी थी। उन अभिलेखों में स्वयं ८६६ ई० में अमोघवर्ष द्वारा प्रकाशित सिरूर अभिलेख[३], चतुर्थ गोविन्द के सांगली अभिलेख[४] (९३३ ई०), तृतीय कृष्ण के कर्हाट अभिलेख[५] (९५८ ई०) तथा द्वितीय कृष्ण के कर्दा वाले अभिलेख मुख्य रूप से उल्लिखित किये जा सकते हैं। ८६० ई० तक अमोघवर्ष को यह सफलता प्राप्त हो चुकी थी। उस समय के पूर्वी चालुक्य शासक का नाम गुणग विजयादित्य था।

दक्षिण दिशा में गंग राज्य पर अधिकार कर लेने के प्रयत्न राष्ट्रकूटों की ओर से हमेशा ही होते रहे। तृतीय गोविन्द ने उसे अपने वशीभूतकर अपने बड़े भाई स्तंभ को

---

१. इऐ०, जिल्द १४, पृष्ठ १९७ और आगे; और देखें, साउथ इण्डियन् इन्स्कृप्शन्स्, जिल्द १, सं० ३६, पृष्ठ ३६।
२. देखें, पीछे पृष्ठ-७८।
३. इऐ०, जिल्द १२, पृष्ठ २१८।
४. एइ०, जिल्द ४, पृष्ठ २८१ और आगे।
५. इऐ०, जिल्द १२, पृष्ठ २४९ और आगे।

वहाँ का गर्वनर भी नियुक्त कर रखा था। किन्तु उसकी मृत्यु के बाद अमोघवर्ष के विरुद्ध जो राजदरबारी और सामन्ती संघर्ष प्रारंभ हुए, उनमें कदाचित् वेंगी और गंगवाड़ि के पूर्व शासकों ने ही अगुआई की। परिणामतः, गंग राज्य और राष्ट्रकूट संघर्षों का एक लम्बा दौर पुनः चला, जो बीस वर्षों तक चलता रहा। अमोघवर्ष ने गंगवाड़ि को पुनः जीत लेने का कोई प्रयत्न भी नहीं किया, प्रत्युत् ८६० ई० में उसने अपनी चन्द्रोबलब्बे नामक पुत्री का विवाह भी बटुग नामक गंग राजकुमार से कर दिया[१]।

सिरूर अभिलेख[२] में कथित है कि अंग वंग, मगध, मालव और वेंगी के शासकों ने उसके प्रति अपना प्रणाम निवेदित किया। किन्तु यह एक कोरी प्रशस्ति मात्र प्रतीत होती है। मालवा अर्थात् अवन्ति के लिए गुर्जर प्रतीहारों और राष्ट्रकूटों के बीच सर्वदा ही संघर्ष होते रहते थे, किन्तु अन्ततः उसपर प्रतीहारों का ही शासन स्थापित रहा। उस समय कनौज की गुर्जर प्रतीहार की साम्राज्य-सत्ता अपनी उन्नति के शिखर पर विद्यमान थी और उसका सम्राट् था शक्तिशाली मिहिरभोज। अपने ही राज्य की अनेक समस्याओं में फंसा रहने वाला **अमोघवर्ष** भोज के विरुद्ध कोई सफलता अर्जित कर सका, ऐसा स्वीकार करने का कोई अकाट्य प्रमाण नहीं दिखायी देता। अंग और वंग पाल शासक देवपाल के अधिकार में थे। वह भी बहुत शक्तिशाली था और उसके अभिलेखों से ज्ञात होता है कि उसने द्रविड़ों पर विजय प्राप्त की। बादाल स्तंभलेख[३] में देवपाल की प्रशंसा में कथित है कि उसने 'उत्कलों को उखाड़ फेंका, हूणों का दर्प चूर किया, एवं द्रविड़ तथा गुर्जर राजाओं के घमण्ड को बिखेरकर समुद्र से घिरी हुई सारी पृथिवी का उपभोग किया।'' रमेशचन्द्र मजूमदार ने तो उसके द्वारा भारतवर्ष के दक्षिणी छोरों तक प्रयाण करने की बात कही[४] है। अतः ऐसा प्रतीत नहीं होता कि सिरूर अभिलेख का यह कथन सही है कि अंग और वंग के राजा को **अमोघवर्ष** के सामने झुकना पड़ा। संभव है, पाल आक्रमण के समय ही द्रविड़ों (राष्ट्रकूटों) से उनकी भिड़न्त से सम्बन्धित राष्ट्रकूट अधिसत्ता का यह संदर्भ हो।

---

१. दि एज़् ऑफ् इम्पीरियल् कनौज, पृष्ठ ९।

२. इऐ०, जिल्द १२, पृष्ठ २१९ और आगे; देखें, उत्तर भारत का राजनीतिक इतिहास, पृष्ठ १४७-१४८।

३. उत्कीलितोत्कलकुलं हृतहूणगर्वं खर्व्वीकृतद्रविडगुर्जरनाथदर्प्पम्। एइ, जिल्द २, पृष्ठ १६०, श्लोक १३।

४. हिस्ट्री ऑफ् बेंगाल, जिल्द १, पृष्ठ १२१। यहाँ द्रविड़ शब्द पर विचार करने की आवश्यकता है। यह प्रायः तमिलों का बोधक है। राष्ट्रकूट लोग कन्नड़ थे। क्या द्रविड़ शब्द यहाँ सभी दाक्षिणात्यों के लिए प्रयुक्त है? यदि देवपाल तमिल क्षेत्रों तक पहुँच गया तो भी उसे कर्नाटक को तो पार करना ही पड़ा होगा।

राष्ट्रकूटों की गुजरात शाखा

अमोघवर्ष के शासन का अन्त होते-होते गुजरात में राष्ट्रकूट सम्राटों की ओर से प्रान्तपतिओं के रूप में शासन करने वाली उस वंश की शाखा भी विद्रोह करके स्वतंत्र हो गयी। पीछे हम देख चुके हैं कि तृतीय गोविन्द का छोटा भाई इन्द्र उत्तराधिकार के संघर्षों में उसका विश्वासपात्र सहायक रह चुका था। उसी सेवा के पुरस्कार स्वरूप वह गुजरात प्रान्त का गवर्नर नियुक्त किया गया था। उसने गुर्जर प्रतीहार और पाल शासकों के विरुद्ध किये जाने वाले सैनिक अभियानों के समय भी तृतीय गोविन्द की ओर से गुजरात में मोर्चा संभाला था। इन्द्र का पुत्र कर्क **सुवर्णवर्ष** भी गोविन्द का विश्वासपात्र बना रहा और उसी कारण गोविन्द ने अमोघवर्ष की अल्पवयस्कता में उसे (कर्क को) उसका संरक्षक नियुक्त किया था। उसके विश्वास पर खरा उतरते हुए कर्क ने अमोघवर्ष की सभी विद्रोहिओं और शत्रुओं से रक्षा की और जब थोड़े दिनों के लिए अमोघवर्ष को राजगद्दी से च्युत होना पड़ा, तो पुन: कर्क ने उसे राजगद्दी प्राप्त करने में पूरी सहायता की।

कर्क **सुवर्णवर्ष** के बाद प्रथम ध्रुव **धारावर्ष** ८३० ई० में गुजरात का गवर्नर हुआ। थोड़े दिनों तक तो वह अमोघवर्ष को अपने सम्राट् के रूप में स्वीकार करता रहा। और ८३५ ई० में प्रकाशित किये जाने वाले एक अभिलेख में अमोघवर्ष को अपने अधिपति के रूप में उल्लिखित किया[१]। किन्तु उसके बाद ही कदाचित् उसने विद्रोह कर दिया। गुजरात शाखा के अनेक अभिलेखों[२] से यह ज्ञात होता है कि वल्लभ नाम के किसी राजा के विरुद्ध उसका लम्बा युद्ध छिड़ गया, जो उसके बाद भी तीन पुश्तों तक चलता रहा। प्रथम ध्रुव युद्ध में मारा गया। किन्तु उसके पुत्र द्वितीय ध्रुव ने युद्ध जारी रखा। अ० स० अल्तेकर ने इस संदर्भ के वल्लभराज की पहचान अमोघवर्ष से ही[३] की है। इन युद्धों के पहले दौर में तो अमोघवर्ष अपने विश्वस्त सेनापति वंकेय (वेंक्कैया) की वीरता के कारण सफल रहा। उपहार स्वरूप, वंकेय गंगवाड़ि का गर्वनर बना दिया गया। किन्तु तुरंत ही गुजरात में वंकेय को पुन: बुलाना पड़ा तथा द्वितीय ध्रुव और उसके सहायक **अकालवर्ष** के विरुद्ध युद्ध छेड़ना पड़ा। किन्तु ८६७ ई० के आसपास उत्तरी दिशा से मिहिरभोज के नेतृत्व में मालवा और गुजरात की ओर गुर्जर प्रतीहारों के दबाव बढ़ने लगे। संभवत: उसी दबाव को देखते हुए अमोघवर्ष को गुजरात शाखा के विरुद्ध अपना अभियान बन्द कर देना पड़ा और धीरे-धीरे वह शाखा पूर्णत: स्वतंत्र हो गयी। ध्रुव के सामने अब

---

१. द्वितीय ध्रुव का बड़ौदा ताम्रपत्र, इऐ० जिल्द १४, पृष्ठ १९७। वहाँ अमोधवर्ष की सभी साम्राज्य सूचक उपाधियाँ प्रयुक्त की गयी हैं।

२. उसी का वागुम्ब्रा ताम्रफलक, इऐ० जिल्द १२, पृष्ठ १७९।

३. राष्ट्रकूटज़, पृष्ठ ८४। पी० बी० देसाई, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १२७ इस प्रस्तावित पहचान से मतभेद प्रकट करते हैं। उनकी राय में वल्लभ नामक ध्रुव का शत्रु कोई चालुक्य सरदार था, न कि स्वयं अमोघवर्ष। वल्लभ चालुक्यों के भी विरुद थे।

गुर्जर प्रतीहारों के विरुद्ध ध्यान देने की आवश्यकता उत्पन्न हो गयी, जिसमें अकेले ही विजय प्राप्त करने का उसका एक अभिलेख दावा करता है[१]। किन्तु ८८८ ई० के बाद उस स्वतंत्र शाखा के किसी भी शासक का कोई उल्लेख नहीं मिलता। संभवत: उसपर या तो मिहिरभोज अथवा प्रथम महेन्द्रपाल के समय गुर्जर प्रतीहारों ने अधिकार कर लिया। **स्कन्दपुराण** के **प्रभासखण्ड** के **वस्त्रापथमाहात्म्य** से यह ज्ञात[२] होता है कि भोज का अधिकार क्षेत्र सुराष्ट्र-काठियावाड़ तक फैला हुआ था।

अमोघवर्ष की अन्तिम ज्ञात तिथि ८७८ ई० है। अ०स० अल्तेकर का अनुमान है कि उसके शासन का अन्तिम वर्ष ८८० ई० माना जाना चाहिए। कुल मिलाकर, उसका लम्बा शासन काल ६४ वर्षों का था। सैनिक दृष्टि से उसके शासन काल को बहुत सफल अथवा चमत्कारपूर्ण नहीं कहा जा सकता। पूर्वी चालुक्य शासक विजयादित्य पर विजय प्राप्त करने के अतिरिक्त उसकी कोई सैनिक विजय नहीं ज्ञात होती। उत्तर दिशा में गुर्जर प्रतीहारों और पालों से भिड़ने हेतु उसे अपने ही राज्य की समस्याओं में फंसे रहने के कारण कोई अवसर ही नहीं था और उस दिशा के समकालीन शासक (मिहिरभोज और देवपाल) भी उसकी अपेक्षा अधिक कर्मठ और शक्तिशाली थे। अपने शासन के अन्तिम वर्षों में तो वह सुराष्ट्र-काठियावाड़ पर विस्तृत होते हुए प्रतीहार अधिकार को चुपचाप देखता रहा, जिसके विरुद्ध हस्तक्षेप करने का वह कोई साहस जुटा ही नहीं सका।

किन्तु युद्धकला में निपुण न होने के बावजूद शान्ति कालीन क्रियाओं में अमोघवर्ष राष्ट्रकूट वंश के अगुआ शासकों में एक था। वह स्वयं कन्नड़ भाषा और काव्यशास्त्र का पण्डित था और अनेक विद्वानों की मान्यता है कि उसी ने कन्नड़ का **कविराजमार्ग्ग** नामक काव्यशास्त्रीय ग्रंथ लिखा था। विद्वानों के बहुत बड़े आश्रयदाता होने के उससे संबंधित उल्लेख आगे चलकर अनेक ग्रंथों में प्राप्त होते हैं। उसके ८७१ ई० वाले संजान ताम्रफलक में उसकी उस गुप्तवंशी राजा (विक्रमादित्य) से तुलना की गयी है, जो दानवीरों में अग्रणी था, परन्तु जिसके माथे पर यह भी कलंक लगा था कि उसने अपने ही भाई को मारकर उसकी रानी सहित उसकी राजगद्दी को भी हड़प लिया[३] था। **अमोघवर्ष** उपाधि ही उसकी दानवीरता की द्योतक है। **आदिपुराण** का लेखक जिनसेन

---

१. वागुम्ब्रा अभिलेख, इऐ०, जिल्द १२, पृष्ठ १५४।

२. इहिक्वा० जिल्द ५, पृष्ठ १२९-१३३।

३. हत्वा भ्रातरमेवराज्यमहरत् देवीं च दीनस्त तो।
लक्षं कोटियलेखनम् किल(ददौ) दाता स गुप्तान्वय:। एइ०, जिल्द १८, पृष्ठ २४८। यह संदर्भ उस घटना का है, जब विदेशी आक्रमणकारिओं के सामने रामगुप्त को समर्पण करते हुए अपनी ही रानी (ध्रुवदेवी) को उन्हें सौंपने को विवश होना पड़ा था और चन्द्रगुप्त ने इस स्थिति से मुक्ति के लिए रामगुप्त को मारकर गद्दी हथिया ली और ध्रुवदेवी से विवाह कर लिया। देखें देवी-चन्द्रगुप्तम् नाटक, विशाखदत्त।

अमोघवर्ष का गुरु होने का दावा करता है और कहा जाता है कि उसी के प्रभाव में आकर अमोघवर्ष जैन धर्म की ओर उन्मुख भी हो गया था। उसी के समय महावीराचार्य ने **गणितसारसंग्रह** नामक गणित सम्बन्धी पुस्तक लिखी, जिसमें वह अमोघवर्ष को जैन धर्म वाले **स्याद्वाद** के सिद्धान्त का अनुयायी बताता है। **अमोघवृत्ति** के रचयिता शाकटायन भी उसके ही दरबार में रहते थे। किन्तु जैनधर्म के प्रति इस सारी रुझान के बावजूद भी जब राज्य पर एक बड़ी विपत्ति अथवा महामारी आयी तो उसने महालक्ष्मी (दुर्गा) को अपनी अंगुली ही काटकर भेंट कर दी, ताकि उसकी कृपा से राज्य की जनता आयी हुई विपत्ति में मुक्त हो जाय (संजान अभिलेख, श्लोक ४७, एइ०, जिल्द १८, पृष्ठ २४८)। इस त्याग हेतु प्रशस्तिकार ने सर्पराज की रक्षा हेतु अपना ही शरीर न्योछावर कर देने वाले जीमूतकेतु से, कबूतर की प्राणरक्षा हेतु अपने शरीर से बधिक द्वारा मांस कटवा देने वाले शिविराज उशीनर से और वज्रनिर्माण हेतु अपनी ही हड्डी को दान कर देने वाले दधिचि से भी **अमोघवर्ष** को ऊपर ठहराया है। यह उल्लेख केवल काल्पनिक नहीं है, प्रत्युत् भट्टकलंक नामक लेखक के **कर्नाटकशब्दानुशासनम्** में आये संदर्भों से भी संपुष्ट होता है (अ.स. अल्तेकर, राष्ट्रकूटज् पृ० ८८)।

मान्यखेट नगर का निर्माण और राष्ट्रकूट राजधानी के रूप में उसकी स्थापना[१] अमोघवर्ष की सर्वप्रथम उपलब्धियों में एक है। शोलापुर से लगभग ९० मील की दूरी पर उसके दक्षिण-पूर्व में स्थित यह नगर आधुनिक मालखेद है। यहीं से ७९३ शक सम्वत् (८७१ ई०) में उसने अपना सर्वप्रसिद्ध संजान अभिलेख प्रकाशित कराया[२] था। जिसमें चार ब्राह्मणों को संजान ग्राम के पास स्थित झरिवल्लिका ग्राम के दान का उल्लेख है। इसका उद्देश्य यह था कि **बलि, चरु, विश्वदेव, अग्निहोत्र** और **अतिथितर्पण** की सतत् व्यवस्था चलती रहे। मान्यखेट की स्थापना के पूर्व राष्ट्रकूट राज्य की राजधानी कहाँ थी, इसकी ठीक-ठीक जानकारी नहीं है। तत्सम्बन्धी अनेक नगरों के नाम लिये गये हैं–यथा मयूरखिण्डी (नासिक जिले का मोरखिन्द), नासिक, शूलूमञ्जन (इलौरा की पहाड़ियों के पास) और एलिचपुर। परन्तु इनके सम्बन्ध में कोई पक्का प्रमाण नहीं है।

द्वितीय कृष्ण (८८० ई०–९१५ ई०प०)

सांसारिकता में बहुत अधिक रुचि न रखने वाले अमोघवर्ष के ८७१ ई० वाले संजान ताम्रफलक की बातों पर यदि ध्यान दिया जाय तो यह प्रतीत होगा कि उसने अपनी

---

१. किन्तु कर्दा से प्राप्त एक अभिलेख से यह प्रतीत होता है (रा०गो० भण्डारकर, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ७६) कि अमोघवर्ष के पूर्व ही मान्यखेट एक समृद्ध नगर बन चुका था। अत: यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि अमोघवर्ष ने ही उसे स्थापित किया था।

२. ग्रामकूटयुक्तनियुक्ताधिकारिकमहत्तरादी समादिशत्यस्तु। वस्मं विदितं यथा मान्यखेटराजधान्यात्स्थितेन मया मातापित्रोरात्मन (क) श्चैहिकासुत्रिकपुण्य शोभिवृद्धये। एइ० जिल्द १८, पृष्ठ २४९।

वास्तविक मृत्यु के पूर्व भी कई बार राजगद्दी का त्यागकर राज्य का भार अपने **युवराज** द्वितीय कृष्ण के कन्धों पर छोड़ दिया था। **प्रश्नोत्तरमालिका** नामक ग्रंथ से भी ज्ञात होता है कि सांसारिकता से ऊबकर अमोघवर्ष ने स्वयं ही राज्यत्याग कर दिया था। इसी कारण उसके जीवित रहते हुए भी कृष्ण को ८७५ में शासक बताया गया है।[१] द्वितीय कृष्ण का यह सौभाग्य था कि उसे अन्य कई राष्ट्रकूट शासकों की तरह उत्तराधिकार हेतु कोई संघर्ष नहीं करना पड़ा। वैवाहिक सम्बन्धों में बंधे हुए चेदि वंश के शासकों से उसे अपने शत्रुओं से निपटने में बहुत ही सहायता मिली। उसके शत्रु थे दक्षिण दिशा के गंग और नोलम्ब देशों के शासक; वेंगी के पूर्वी चालुक्य; उत्तर में गुर्जर प्रतीहार और गुजरात में राष्ट्रकूटों की ही एक शाखा के शासक।

वेंगी के पूर्वी चालुक्य शासक तृतीय विजयादित्य (८४४-८८८) से उसके राजनीतिक अथवा सैनिक रिश्तों की सही-सही व्याख्या कठिन ही है। कई चालुक्य अभिलेख राष्ट्रकूटों पर अपनी विजयों का दावा करते हैं। अन्य राज्यों पर भी उसकी विजयों के उल्लेख[२] प्राप्त होते हैं। अमोघवर्ष की मृत्यु के बाद कृष्ण अपने साले संकुल (संकिल) = शंकरगण के साथ मिलकर चक्रकूट और किरणपुर के युद्ध क्षेत्रों में तृतीय विजयादित्य से भिड़ा, जिसमें विजयादित्य अपनी विजय का दावा करता[३] है। विजयादित्य की मृत्यु के बाद भी कृष्ण (वल्लभ) को कोई सफलता नहीं प्राप्त हो सकी। विजयादित्य के पुत्र भीम ने पुनः लाट और कर्नाटक की सेनाओं को उनकी मित्र सेनाओं सहित हराया।

अपने राज्यारोहण के थोड़े दिनों के भीतर ही, कभी ८८८ ई० के आस-पास ही, कृष्ण को गुर्जर प्रतीहार सेनाओं से गुजरात प्रदेश में उलझना पड़ा। राष्ट्रकूटों के कम से कम तीन अभिलेख[४] गुर्जर सेनाओं पर राष्ट्रकूट विजय का दावा करते हैं। इस युद्ध में आक्रामक प्रतीहार शासक ही था और युद्ध मालवा में उज्जैन के पास लड़ा गया। वागुम्ब्रा अभिलेख का कथन है कि लेख की प्रकाशन तिथि ९१४ ई० तक ऐसे वृद्ध लोग जीवित थे, जो पूरी तरह उस युद्ध की स्मृति संजोये हुए थे। इन युद्धों में **युवराज** जगत्तुंग के साथ चेदि देश का मित्र राजा भी सम्मिलित हुआ था। चतुर्थ गोविन्द के एक अभिलेख[५] में कथित है कि किसी प्रबल शत्रु से खेटकमण्डल (खेड़ा, गुजरात) को छीनकर द्वितीय कृष्ण ने वहाँ अपने किसी शासक को नियुक्त किया था। इससे साबित होता है कि प्रथम

---

१. पृथ्वीवर्मा का सौन्दत्ति अभिलेख, जर्नल् ऑफ् दि बाम्बे ब्राञ्च ऑफ् दि रायल एशियाटिक सोसायटी, जिल्द १०, पृष्ठ २००।

२. राष्ट्रकूटज़्, पृष्ठ ९२-९३।

३. वहीं, पृष्ठ ९६।

४. भावनगर संग्रहालय अभिलेख, एइ० जिल्द १९, पृष्ठ १७४-१७७; इऐ०, जिल्द १३, पृष्ठ ६६ और गुजरात शाखा के कृष्ण का वागुम्ब्रा अभिलेख, एइ०, जिल्द ९ पृष्ठ २४।

५. इहिक्वा, जिल्द ३४, पृष्ठ १५०।

भोज अथवा प्रथम महेन्द्रपाल ने गुजरात पर पूर्व में अपना जो अधिकार कर लिया था, वह अल्पकालिक ही साबित हुआ। किन्तु गुजरात शाखा के राष्ट्रकूटों का कोई भी अता-पता ८८८ई० के बाद प्राप्त नहीं हो सका है और कृष्ण की भी ऐसी शक्ति नहीं थी कि वह ध्रुव **निरूपम** अथवा तृतीय गोविन्द की तरह उत्तर भारतीय राजनीति में हस्तक्षेप कर सके। उन दोनों राज्यों की जो भी भिड़न्ते हुई होंगी, वे केवल सीमाओं पर होने वाली भिड़न्तें ही थीं।

द्वितीय कृष्ण भी अपने पिता की तरह ही जैनधर्मोन्मुख था। **उत्तरपुराण** के अन्तिम पाँच अध्यायों के रचयिता गुणभद्र उसके राजदरबारी कवि थे[१]। उसके सामन्त पृथ्वीराम ने ७९७ शक सम्वत् में एक जैन मंदिर को ग्रामदान किया तथा विकर्य नामक वणिक् ने ८२४ शक सम्वत् में मूलगुण्ड में एक अन्य मंदिर बनवाया।

द्वितीय कृष्ण के समय की सहिष्णुतापूर्ण धार्मिक स्थितियों का ज्ञान इस बात से होता है कि अरबों ने गुजरात पर अपने एक असफल आक्रमण के उपरांत राष्ट्रकूटों से मित्रतापूर्ण सम्बन्ध स्थापित कर लिये थे और अच्छी संख्या में आकर गुजरात में बस गये थे। तृतीय इन्द्र के अभिलेख से प्रकट होता है कि द्वितीय कृष्ण के समय एक ताजिक (अरब का मुसलमान) उसकी ओर से ही संजान के क्षेत्रों पर गवर्नर नियुक्त कर दिया गया था और उसने एक हिन्दू को अपना गवर्नर बना रखा था[२]।

कृष्ण के चेदि राजदरबार से मित्रतापूर्ण संबंध थे। उसकी रानी कलचुरि (चेदि) शासक कोक्कल्लदेव की पुत्री और शंकरगण की बहिन थी। शंकरगण की दो पुत्रियों-लक्ष्मी और गोविन्दाम्बा-का विवाह कृष्ण के पुत्र जगत्तुंग से हुआ था, जो दुर्भाग्यवश अपने पिता के जीवित रहते ही दिवंगत हो गया।

कृष्ण ने स्वयं अपनी पुत्री का विवाह चोड़राज प्रथम आदित्य से किया था, जिसकी सत्ता का विस्तार पल्लवों की उस समय प्रारंभ हो जाने वाली अवनति के फलस्वरूप हो रहा था। कृष्ण की दो उपाधियाँ थीं **शुभतुंग** और **अकालवर्ष**।

तृतीय इन्द्र (९१४ ई०-९२७ ई०)

द्वितीय कृष्ण का पुत्र जगत्तुंग पहले ही मर चुका था। अतः उसके बाद जगत्तुंग का पुत्र तृतीय इन्द्र शासक हुआ। उसका शासन काल तो बहुत छोटा ही था[३], किन्तु

---

१. रा० गो० भण्डारकर, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ७७।

२. पी. बी. देसाई, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ १३१।

३. यह मत मूलतः अल्तेकर का था कि इन्द्र ने केवल ५ वर्षों तक ही शासन किया। किन्तु बाद में ज्ञात कुछ अभिलेखों से यह प्रकट होता है कि कम से कम ९२६ ई० तक तो वह जीवित था ही। देखें, प्रोसीडिंग्स, ऑफ् ऑल् इण्डिया ओरियण्टल् कांफ्रेस, १९५९, भाग १, पृष्ठ १७६-१७७।

इस बीच उसकी उपलब्धियाँ अनेक रहीं। अपने राज्यारोहण के पूर्व ही वह उपेन्द्र नामक किसी शासक को मेरु नामक स्थान पर पराजित कर चुका था। अ०स० अल्तेकर ने इस उपेन्द्र की पहचान परमारराज कृष्ण से की है, जो वाक्पतिराज अथवा मुञ्जराज का प्रपितामह था। परमार लोग गुर्जर प्रतीहार वंश के सामन्त थे और संभवत: उनके ही आदेश पर उपेन्द्र ने नासिक जिले के गोवर्धन पर आक्रमण किया था, जिसमें तृतीय इन्द्र से उसे पराजित होना पड़ा था। इस कारण परमारों को राष्ट्रकूटों की अधिसत्ता स्वीकार करनी पड़ी।

तृतीय इन्द्र ध्रुव **निरूपम** और तृतीय गोविन्द के प्रकार ही महत्त्वाकांक्षी, सैनिक दक्षता से युक्त और अत्यन्त क्रियाशील था। शासनसूत्र अपने हाथ में आने के कुछ ही वर्षों के भीतर उपर्युक्त अपने दोनों पूर्वजों की तरह उसने उत्तर भारत पर आक्रमण करने की योजना बना डाली। उसका निशाना हुआ कनौज का शासक प्रथम महीपाल, जो न तो बहुत कमजोर था और न किसी प्रकार असुरक्षित। तथापि उसपर इन्द्र की सेनाओं का आक्रमण इतना अचानक और तेजी से हुआ कि उसे संभलने का मौका ही नहीं मिला। चतुर्थ गोविन्द के खम्भात अभिलेख में कथित[१] है कि "मद्रस्रावी हाथियों के दांतों की चपेट से कालप्रिय (उज्जैन) के महाकाल के मंदिर का मण्डप क्षेत्र उबड़-खाबड़ हो गया; उसके घोड़ों ने सिन्धुस्पर्द्धिनी और तलहीन यमुना नदी को पार किया और उसने कुशस्थल नाम से प्रसिद्ध महोदयनगर (कनौज) को समूल उखाड़ फेंका।" इस संदर्भ में महोदय अर्थात् कनौज को अरिनगर अर्थात् शत्रुओं (प्रतीहारों) का नगर कहा गया है। इस उल्लेख का समर्थन पम्प (कन्नड़ भाषा के सर्वप्रसिद्ध कवि) के **पम्पभारत** (**विक्रमार्जुनविजयकाव्य**[२]) द्वारा अपने आश्रयदाता अरिकेसरिन् की प्रशंसा में लिखे गये ग्रंथ से भी होता है। इस ग्रंथ का वास्तविक उद्देश्य अरिकेसरिन् के पिता नरसिंह की प्रशंसा करना है। ये दोनों ही इन्द्र और चतुर्थ गोविन्द के वेलुम्बवाड़ क्षेत्र में सामन्त रूप में शासनस्थ थे। तदनुसार, नरसिंह ने "घूर्ज्जरराज की सेनाओं को पराजित कर भगा दिया और अपनी विजय द्वारा विजय अर्थात् अर्जुन को भी मात कर दिया।" यह भी कथित है कि "महीपाल को मानों बिजली मार गयी, वह भयभीत होकर भाग गया, यहाँ तक कि आराम करने, भोजन करने और सोने तक के लिए नहीं रुका। उसका पीछा करते हुए नरसिंह ने अपने घोड़ों को गंगा के समुद्र से होने वाले संगम में स्नान कराया।" आगे कहा गया है कि नरसिंह ने "गुर्जरराज की बाहुओं से वह राजलक्ष्मी छीन ली, जिसे उसने चाहते हुए भी बहुत कसकर नहीं पकड़ रखा था।"

---

१. यस्माद्विपदन्तघाटविषमं कालप्रियप्राङ्गणम्।
तीर्णा यत्तुरगैरगाधयमुना सिन्धुप्रतिस्पर्द्धिनी॥
येनेदं हि महोदयारिनगरम् निर्मूलमुन्मुलितम्।
नाम्नाद्यापि जनैः कुशस्थलमितिख्यातिं परां नीयते॥

२. लुइ राइस द्वारा १९१८ में बिब्लियोथिका कर्नाटिका में प्रकाशित पृष्ठ ३-४; कर्नाटक शब्दानुशासन, पृष्ठ २६।

इन दोनों कथनों के समवेत साक्ष्यों के आधार पर कुछ स्पष्ट निष्कर्ष निकलते हैं। प्रथमत: तो यह कि कन्नौज नगर को इन्द्र की सेनाओं ने जबरदस्त ढंग से लूटा; नरसिंह ने उसके सामन्त के रूप में इस युद्ध में भाग लिया और जबरदस्त वीरता दिखायी। महीपाल केवल बुरी तरह पराजित ही नहीं हुआ, अपितु राजधानी छोड़कर उसे भागना पड़ा और राष्ट्रकूट सेनाएँ गंगासागर तक पहुँच गयीं। जहाँ तक राष्ट्रकूट सेनाओं के गंगासागर (गंगा के समुद्र से संगम होने वाले स्थान) तक पहुँच जाने का उल्लेख है, यह अतिरंजित ही प्रतीत होता है। संभव है, यहाँ गंगासागर के नामपर गंगा और यमुना के संगम अर्थात् प्रयाग से उल्लेख का तात्पर्य हो। महीपाल की विपत्तियाँ चाहे कितनी ही अधिक क्यों न रही हों, इन्द्र जैसा कुशल योद्धा प्रतीहारों के सारे क्षेत्रों, बिहार और बंगाल को पीछे छोड़कर, अपने पैतृक राज्य को पूर्णत: अरक्षित करते हुए, इतनी दूर आगे पूरब में कूचकर जाय, यह उसके लिए मूर्खतापूर्ण ही होता।

खम्भात अभिलेख में राष्ट्रकूट सेनाओं के प्रयाण मार्ग में जिस कालप्रिय मंदिर का उल्लेख है, उसे सर्वप्रथम अल्तेकर महोदय ने मालवा के उज्जैन से समीकृत किया[१] था। किन्तु वा०वि० मीराशी, दशरथ शर्मा और स्वयं अल्तेकर भी अब यह मान[२] चुके हैं कि राष्ट्रकूटों ने बन्देलखण्ड होकर कालपी (कालप्रिय) के आगे यमुना नदी को पारकर कनौज पर आक्रमण किया था। वहीं से उसकी सेनाएँ प्रयाग पहुँची होंगी[३], और पुन: वे वहाँ से दक्षिण की ओर लौट गयी होंगी। इस आक्रमण की तिथि प्रथमत: अल्तेकर महोदय ने ९१७-९१८ ई० निश्चित की थी, जो प्राय: सभी विद्वानों द्वारा स्वीकार कर ली गयी है।

इस राष्ट्रकूट आक्रमण का कनौज राज्य पर प्रभाव एक झंझावात की तरह कनौज को झकझोर देने मात्र तक सीमित रहा। उसका कोई स्थायी प्रभाव पड़ा, ऐसा दिखायी नहीं देता। जैसे ध्रुव **निरूपम** और तृतीय गोविन्द को खाली हाथ लौटना पड़ा था, वैसे ही इन्द्र को भी किसी लाभ के बिना ही लौटना पड़ा। कारण सभी बार एक समान था– इन राष्ट्रकूट अभियानों की मूल राष्ट्रकूट क्षेत्रों से अत्यधिक दूरी और संभवत: अपने क्षेत्रों की नजदीकी शत्रुसीमाओं की ओर से आने वाले भय। इनके कारण ही इन्द्र को भी लौटना पड़ा। किन्तु महीपाल को कुछ दिनों तक कनौज से रहित हो जाने की दशा में पुन: अपनी

---

१. राष्ट्रकूटज़् पृष्ठ १०२।

२. भारती (का.हि.वि. १९५१), पृष्ठ ३४-३६; दशरथ शर्मा, राजस्थान थ्रू दि एजेज़्, भाग १, पृष्ठ १७६-१७७; एज ऑफ् इम्पीरियल् कनौज, पृष्ठ १३; राष्ट्रकूटज़, पृष्ट १०२, नोट ४४।

३. राष्ट्रकूटज़्, पृष्ठ १०१-१०२; र० च० मजूमदार, जडिले० जिल्द १०, पृष्ठ ६६; धी, च० गांगुली, इहिक्वा, जिल्द १०, पृष्ठ ६१९।

राजगद्दी वापस पाने में गुर्जर प्रतीहार राजवंश के अपने ही चन्देल सामन्त हर्ष की सहायता लेनी पड़ी। चन्देलराज धंग का खजुराहो अभिलेख [१]कहता है कि हर्ष ने "क्षितिपालदेव को पुन: सिंहासन पर स्थापित किया।" इस क्षितिपालदेव की पहचान प्रथम महीपाल (गुर्जर प्रतीहार) से ही प्राय: सर्वसम्मतरूप में की गयी है। इस सारे घटनाक्रम से यह साबित होता है कि महीपाल को थोड़े दिनों के लिए ऐसी विपत्तियों में फँसना पड़ा कि उसे अपने ही सामन्त की सहायता से अपनी राजगद्दी पुन: वापस पाने हेतु विवश होना पड़ा।

तृतीय इन्द्र के सेनापति श्रीविजय ने दक्षिण दिशा में उसके शत्रुओं को पराजित किया, जिसके उल्लेख कुछ अभिलेखों में प्राप्त[२] होते हैं। यद्यपि श्रीविजय स्वयं जैनधर्मानुयायी था, वह शस्त्रधारण करने और युद्धों में भाग लेने से विरत नहीं था।

द्वितीय अमोघवर्ष और चतुर्थ गोविन्द (९२७-९३४ ई०)

९२७ के आसपास कभी तृतीय इन्द्र की मृत्यु के बाद द्वितीय अमोघवर्ष राजगद्दी पर आसीन हुआ। किन्तु उसका शासन काल एक वर्ष से अधिक का नहीं रहा। राजदरबार में गोविन्द और उसके छोटे भाई चतुर्थ अमोघवर्ष के बीच अनबन के कुछ पारिवारिक कारण रहे प्रतीत होते हैं, जिनके बारे में स्पष्ट रूप से कोई निर्णय निकालना कठिन है। किन्तु चतुर्थ गोविन्द का भी शासन कुछ विशेष रूप से सफल नहीं रहा प्रतीत होता है। वह बहुत सुन्दर बताया गया है और कदाचित् वह आमोद-प्रमोद तथा व्यसन में अधिक रत था। फलत:, राष्ट्रकूट राज्य के द्वारा पीछे विजित किये गये राज्यों और सामन्तों के विद्रोह प्रारंभ हो गये। इन विद्रोहिओं में पूर्वी चालुक्य शासक विजयादित्य सबसे आगे था।

ऐसी ही परिस्थितियों में चतुर्थ गोविन्द का चचा तृतीय अमोघवर्ष शासक हुआ। किन्तु वह भी धार्मिक प्रवृत्ति वाला ही व्यक्ति था। उसका राज्यारोहण भी किसी सामान्य परिस्थिति में न होकर संभवत: राज्यपरिवार में बिखराव, मनमुटाव और संघर्ष की स्थितियों के बीच ही हुआ था, जिसमें उसके श्वसुर चेदिराज युवराजदेव ने उसकी सहायता की थी। यह संघर्ष चतुर्थ गोविन्द के विरुद्ध ही था।

तृतीय अमोघवर्ष (९३५-९४० ई०)

चतुर्थ गोविन्द की अन्तिम ज्ञात तिथि ९३४ ई० है और तृतीय अमोघवर्ष की प्रथम ज्ञात तिथि ९३६ ई० है। इसी बीच कभी इन दोनों के बीच उत्तराधिकार का युद्ध लड़ा गया होगा और तृतीय अमोघवर्ष राष्ट्रकूट राजगद्दी पर काबिज हुआ होगा।

---

१. पुनर्येन क्षितिपालदेव नृपति: सिंहासने स्थापित: एइ०, जिल्द १, पृष्ठ १२२।
२. राष्ट्रकूटज़, पृष्ठ १०३।

इस सारे संघर्ष में तृतीय अमोघवर्ष का प्रेरक और उसका सबसे बड़ा सहायक था उसका पुत्र (तृतीय) कृष्ण। चूंकि अमोघवर्ष सांसारिक विषयों में कम रुचि लेने वाला एक धार्मिक प्रवृत्ति का व्यक्ति था, राजकार्यों की अधिक से अधिक जिम्मेदारी उसके पुत्र कृष्ण पर ही थी, जिसने अपनी महत्त्वाकांक्षाओं सहित अपनी योग्यताओं का भी पूरा-पूरा परिचय दिया। वह संभवतः अपने पिता द्वारा शासन ग्रहण के ४-५ वर्षों के भीतर वास्तविक शासक हो चुका था, जो इस बात से स्पष्ट है कि ९४० ई० में उसने अपना प्रथम ताम्रपत्राभिलेख देवली से प्रकाशित कराया[१]।

तृतीय कृष्ण (९४०-९६८ ई०)

तृतीय कृष्ण ने सर्वप्रथम गंगराज राचमल्ल को, मित्रों सहित मारकर, अपने बहनोई (राचमल्ल के भाई) बूटुग को गंग देश का राजा बना दिया। तत्पश्चात् उसने चेदि देश पर आक्रमण किया। यद्यपि चेदि देश की कई राजकुमारियों के विवाह राष्ट्रकूट राजाओं और उनके राजकुमारों से हुए थे, अपनी राजनीतिक और सैनिक महत्त्वाकांक्षाओं के आगे तृतीय कृष्ण के मन में इन सम्बन्धों का कोई मूल्य नहीं था। चेदि क्षेत्र से आगे बढ़कर उसकी सेनाओं ने चन्देल राज्य के बीचोबीच स्थित कालंजर और चित्रकूट के दुर्गों को जीत लिया[२]। इन दुर्गों पर चन्देलों के अधिकार तो गुर्जर प्रतीहारों की अधिसत्तात्मक सत्ता को स्वीकार करने के कारण ही थे। मैहर के जूरा नामक स्थान से प्राप्त कन्नड़ भाषा में लिखा गया एक प्रस्तर अभिलेख[३] तृतीय कृष्ण की प्रशंसा का गीत गाता है। यह सचमुच तबतक असंभव था जब तक चित्रकूट और कालञ्जर पर राष्ट्रकूटों का वास्तविक अधिकार न हो गया रहता। उन दोनों पर पुनः चन्देलों का अधिकार आगे लगभग १० वर्षों बाद तभी स्थापित हुआ जब ९५३ ई० में यशोवर्मा चन्देल ने उन्हें पुनः अपने अधिकार में कर लिया। देवली से प्राप्त कृष्ण के अभिलेख के विभिन्न पदों के आधार पर अल्तेकर का यह मत[४] है कि उपर्युक्त सारी विजयें तृतीय कृष्ण ने अपने वास्तविक रूप से शासक होने के पूर्व ही, **युवराज** रूप में, प्राप्त की थीं। उस अभिलेख में यह भी कथित है कि पूर्व पयोधि से पश्चिम पयोधि के बीच वाले सभी अधीन सामन्त शासक कृष्ण की आज्ञाएँ शिरोधार्य करते थे।

अपने राज्य की उत्तरी दिशा में कलचुरिओं, चन्देलों और गुर्जर प्रतीहारों का

---

१. एपि० कर्नाटिका, जिल्द ५, पृष्ठ १९०।

२. राष्ट्रकूटज़, पृष्ठ ११३। तृतीय कृष्ण का कर्हाट अभिलेख, एइ० जिल्द ४, पृष्ठ २८९ के अनुसार–यस्य परुषेक्षिताखिलदक्षिणदुर्गविजयमाकर्ण्य गलितागुर्ज्जरहृदयात्काञ्लजरचित्रकूटाशा।

३. इस सम्बन्ध के ब्यौरों के लिए देखें, वि. पाठक, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ३८५ की पादटिप्पणी के विवरण।

४. राष्ट्रकूटज़् पृष्ठ ११३-११४; विपरीत मत, वि. पाठक, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ३८६।

मानमर्दन कर लेने तथा दक्षिण में गंगवाडि में अपने बहनोई बूटुग को राजगद्दी पर स्थापित कर उसे अपना कृतज्ञ मित्र बना लेने के बाद तृतीय कृष्ण ने अपना सारा ध्यान उस समय की शक्तिशाली सत्ता तंजाऊर से शासन करने वाले चोड़ो के विरुद्ध लगाया । पहले राष्ट्रकूटों की दक्षिण-पूर्वी सीमा पर पल्लवों का अधिकार था । किन्तु धीरे-धीरे उनकी सत्ता क्षीण होने लगी और उनके चोड़ शत्रुओं, प्रथम आदित्य तथा उसके पुत्र परान्तक के समय, लगभग सारे तोण्डैमण्डलम् (नेल्लोर, उत्तरी और दक्षिणी आर्काट और चिंगलपुत्त के जिलों) पर चोड़ लोग अपना अधिकार कर लेने में सफल हो [१]गये । अब चोड़ो और राष्ट्रकूटों की सीमाएँ आपस में टकराने लगीं । परांतक ने चतुर्थ गोविन्द को तृतीय कृष्ण के पिता (तृतीय अमोघवर्ष) के साथ होने वाले (राजगद्दी वाले) युद्ध में मदद भी पहुँचायी थी ।

इस मनमुटाव और दो शक्तिशाली राजाओं के बीच की आपसी महत्त्वाकांक्षाओं के बीच तृतीय कृष्ण ने चोड़ राज्य पर आक्रमण कर देने की ठान ली । किन्तु चोड़ शासक परान्तक भी तैयार था और उसने अपने **युवराज** राजादित्य तथा अपने दूसरे पुत्र अरिकुलकेसरी के नेतृत्व में युद्ध का निमंत्रण स्वीकार कर लिया । दोनों सेनाएँ कोप्पारम् के मैदान में भिड़ीं, जहाँ कृष्ण की सेनाएँ विजयी[२] रहीं । इस युद्ध का परिणाम चोड़ राज्य के लिए भयावह हुआ । राष्ट्रकूट सेनाओं ने काञ्ची से लेकर तंजाऊर तक का सारा प्रदेश अपने अधिकार में कर लिया[३] । तृतीय कृष्ण ने काञ्ची और तंजाऊर[४] के विजेता (**काञ्चीतञ्जैउणकोण्ड**) की उपाधि धारण की (९४३ ई०) और दक्षिण में रामेश्वरतीर्थ तक जाकर वहाँ अपना एक कीर्त्तिस्तम्भ स्थापित किया । मार्ग में पड़ने वाले पाण्ड्य और केरल के राज्यों को भी उसने पराजित[५] किया तथा लंका से कर वसूला । इन विजयों के उपरान्त भी उसने आर्काट जिले के मेलपाडि में शिविर लगाकर निवास करते हुए विजित क्षेत्रों पर अपने शासन को सुदृढ़ करने में कुछ समय बिताया । बूटुग से इन युद्धों में मदद प्राप्त करने के बदले उसे वनवासी, बेलवोला और पुरिणेरी वाले क्षेत्रों का सूबेदार बनाया गया । तृतीय कृष्ण के सारे शासन के भीतर प्रकाशित किये गये तोण्डैमण्डलम् के अनेक क्षेत्रों से प्राप्त उसके अभिलेख राष्ट्रकूटों की चोड़ों के प्रति संहारक विजय का स्पष्ट प्रमाण उपस्थित करते हैं । अल्तेकर के मत में दोनों पक्षों के बीच होने वाला निर्णायक युद्ध तो

---

१. पी०बी० देसाई, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ १३७ ।
२. एइ०, जिल्द ६, पृ० १९५ ।
३. सिद्धलिंगमादम् अभिलेख, मद्रास एपिग्राफिकल् कलेक्शन, १९०९, ३७५वा; अल्तेकर, राष्ट्रकूटज़् पृष्ठ ११७-११८ ।
४. अल्तेकर, राष्ट्रकूटज़्, पृष्ठ ११८ ।
५. देखें कर्हाट ताम्रपत्र, एइ०, जिल्द ४, पृष्ठ २७८ ।

तक्कोलम् में ९४९ ई० में ही लड़ा गया और उनके मत में राजादित्य उसी युद्ध में मारा गया[१]।

किन्तु दक्षिण दिशा में बहुत ही व्यस्त हो जाने के कारण तृतीय कृष्ण को उत्तर दिशा में अपने शासन के अन्तिम दिनों में हानियाँ उठानी पड़ीं। उसने अपने विवाह-सम्बन्धों से बंधे हुए कलचुरि (चेदि) सम्बन्धिओं को पहले ही अप्रसन्न कर रखा था। उधर धंग और उसके पिता यशोवर्मा के नेतृत्त्व में चन्देल गुर्जर प्रतीहारों की अधिसत्ता का जुआ उतारकर स्वयं एक शक्तिशाली सत्ता के रूप में उदित हो चुके थे। शीघ्र ही यशोवर्मा ने कालञ्जर और चित्रकूट के दुर्गों को पुनः राष्ट्रकूटों से छीन लिया (९५३-९५४ ई०)।

कृष्ण राष्ट्रकूट वंश के महत्तम शासकों में एक था। यद्यपि अपने उत्तर भारतीय अभियानों में उसे वे सफलताएँ नहीं प्राप्त हो सकीं, जो ध्रुव **निरूपम,** तृतीय गोविन्द अथवा तृतीय इन्द्र ने प्राप्त की थीं, दक्षिण दिशा की उसकी उपलब्धियाँ उन सभी से बढ़कर और बेहतर थीं। उसने **सकलदक्षिणदिगाधिपति** की जो उपाधि धारण की, वह बिल्कुल ही उचित थी। चोड़ों से उसने सारे तोण्डैमण्डलम् (नेल्लोर, उत्तरी और दक्षिणी आर्काट तथा चिंगलपुत्त जिले) पर जो एक बार अधिकार प्राप्त किया तो वे सारे प्रदेश उसके जीवनपर्यन्त उसके अधिकार में बने[२] रहे और उन क्षेत्रों से उसके एक नहीं अपितु कई अभिलेख प्राप्त होते हैं। उन सब पर उसने अपने गवर्नरों की नियुक्ति की। गंगवाडि में उसका प्रान्तपति था उसका सहायक और सेनापति बूटुग। तक्कोलम् के युद्ध में इसी बूटुग ने चोड़ राज्य के **युवराज** को उसके हाथी के हौदे पर चढ़कर (कूटकर) मार डाला था और यद्यपि राजादित्य का छोटा भाई वहीं राजा घोषित किया गया, चोड़ सत्ता इसके कारण एक बार पूरी तरह हिल गयी। जिस राष्ट्रकूट सत्ता को काबेरी तक के क्षेत्रों को अपने वशीभूत रखने में पहले कठिनाई होती थी, वही अब काबेरी को पारकर मूल तमिल क्षेत्रों (तोण्डैमण्डलम्) में काबिज हो गयी। तृतीय कृष्ण ने रामेश्वरम् तक की विजय यात्रा की और वहाँ उसने अपनी सफलताओं के उपलक्ष्य में एक कीर्त्तिस्तंभ के अतिरिक्त कृष्णेश्वर और गोण्डमार्त्तण्डादित्य नामक दो मंदिरों का निर्माण कराया। उसके शासन के अन्त में परमार शासक राष्ट्रकूट अधिसत्ता से स्वतंत्र होने का प्रयत्न करने लगे और तृतीय कृष्ण को उनके विरुद्ध अपने सामन्त मारसिंह को भेजना पड़ा। संभवतः यह पराजित शासक सीयक परमार था, जिसका शासन मालवा और उत्तरी गुजरात पर था। डॉ० अल्तेकर के मत में कृष्ण ने अपने शासन का अन्त होते-होते वेंगी के पूर्वी चालुक्य राज्य पर भी अधिकार कर लिया था[३]।

---

१. पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ११८-११९।
२. अल्तेकर, वहीं, पृष्ठ ११९।
३. वहीं पृष्ठ १२२।

खोट्टिगः राष्ट्रकूट सत्ता का अन्त

तृतीय कृष्ण की मृत्यु ९६८ ई० में हो चुकी थी और उसके बाद उसका छोटा भाई खोट्टिग शासक हुआ। कृष्ण का एकमात्र पुत्र उसकी मृत्यु के पूर्व ही मर चुका था। किन्तु खोट्टिग के समय से राष्ट्रकूट सत्ता का पतन प्रारंभ हो गया। ९७२ ई० में तृतीय कर्क राजा हुआ। उसी वर्ष मालवा के परमार शासक सीयक ने मान्यखेट को लूटा[१]। यद्यपि तृतीय कर्क की खर्दा प्रशस्ति में उसकी बड़ी-बड़ी विजयों के उल्लेख किये गये हैं, वे सभी के सभी काल्पनिक ही जान पड़ते हैं। ९७३-९७४ ई० में द्वितीय तैलप (चालुक्य) के हाथों राष्ट्रकूट लोग उखाड़ फेंके गये और उनका स्थान परवर्ती चालुक्य सत्ता ने ले लिया। इस प्रकरण की चर्चा आगे पश्चिमी चालुक्य वंश (कल्याणी) के इतिहास के संदर्भ में की जायगी।

●

१. एइ०, जिल्द १३, पृष्ठ १३०;

अध्याय ४

राष्ट्रकूट प्रशासन और संस्कृति

अभिलेखों, समसामयिक ग्रंथों और पास-पड़ोस में पड़ने वाले राज्यों से सम्बद्ध साक्ष्यों के आधार पर राष्ट्रकूट प्रशासन का एक बढ़िया खाका खींचा जा सकता है। राष्ट्रकूटों का शासन क्षेत्र बहुत विस्तृत था तथा उनका शासन काल भी आठवीं शती के मध्य से प्रारंभ होकर १०वीं शताब्दी के मध्य के बीच लगभग दो सौ वर्षों का था। इसमें उन्होंने अपने शासन का एक निजी स्वरूप स्थापित कर लिया था। आगे उसी स्वरूप का एक समाहार उपस्थित किया जायगा।

प्राशासनिक इकाइयाँ

राष्ट्रकूट जैसे किसी भी बड़े साम्राज्य का शासन केवल किसी केन्द्रीय सत्ता मात्र के भरोसे नहीं चल सकता। अत: उसकी विभिन्न प्रशासकीय इकाइयाँ हों, यह स्वाभाविक है। पूरे साम्राज्य को राष्ट्रकूटों के समय कई प्रान्तों में बांटा गया था, जिन्हें **राष्ट्र** कहा जाता था, और वे कई **विषयों** में विभक्त थे। किन्तु कलचुरिओं और प्रारंभिक चालुक्यों के शासन में **विषय** बड़ी इकाई को और **राष्ट्र** छोटी इकाई को कहा जाता था। स्पष्ट है, अलग-अलग राज्यों में इन प्राशासनिक इकाइयों के अलग-अलग नाम थे। **राष्ट्र** के लिए अनेक समकालिक राज्यों में **मण्डल** शब्द का प्रयोग किया जाता[१] था। ये **मण्डल** प्राय: आजकल की कमिश्नरियों के समान और **विषय** जिलों के समान होते थे। अभिलेखों में इनके नामों के साथ जो अनेक संख्याओं के उल्लेख मिलते हैं, वे संभवत: उनकी सीमाओं के भीतर रहने वाले गांवों की संख्याओं को इंगित करते हैं। अ० स० अल्तेकर के मत में प्रत्येक **विषय** में लगभग २००० गांवों का समावेश होता[२] था।

विषय की अगली निचली इकाई **भुक्ति** कहलाती थी, जिसका प्रधान **भोगिक** या **भोगपति** होता था। यद्यपि गुप्तों के साम्राज्यत्व काल में **भुक्ति** का तात्पर्य प्रान्त से होता था, राष्ट्रकूटों के समय इसका आयत्त छोटा हो गया था। **भुक्तियों** में पड़ने वाले ग्रामों की संख्याएँ अभिलेखों में अलग-अलग दी गयी हैं–यथा दस, बारह अथवा बीस। प्रत्येक **भुक्ति** में अनेक ग्राम हुआ करते थे, जिनके प्रधानों को **ग्रामकूट** कहा जाता था।

छोटे अथवा बड़े नगरों की अपनी स्वतंत्र प्रशासन-इकाइयाँ होती थीं, जिनके प्रधान **पुरपति** अथवा **नगरपति** कहलाते थे।

---

१. चोड़ साम्राज्य कई मण्डलों (मण्डलम्) में बंटा हुआ था।

२. राष्ट्रकूटज़, पृष्ठ १३७।

ग्रामों, भुक्तियों अथवा विषयों के सम्बन्ध में अभिलेखों में भिन्न-भिन्न संख्याओं के उल्लेख किये गये हैं। उनके वास्तविक तात्पर्य क्या हैं, इसके बारे में बहुत ही विवाद हैं, जिनमें उलझने की यहाँ आवश्यकता नहीं है। अधिकांश विद्वानों के मत हैं कि वे संख्याएँ उन इकाइयों में आने वाले ग्रामों की संख्याओं की ओर निर्देश करती हैं[१]। पुलकेशिन् की विजयों का उल्लेख करते हुए अहिहोड़ अभिलेख में कथित[२] है कि उसने ९९ हजार गांवों वाले तीनों महाराष्ट्रों (कर्नाट, कोंकण और लाट) पर अधिकार कर लिया था। वहाँ 'ग्रामभाजाम्' पद का प्रयोग यह सिद्ध करता है कि जहाँ भी ऐसी संख्याएँ दी गयी हैं, वे ग्रामसंख्याओं की ही बोधक हैं। एक राष्ट्रकूट अभिलेख[३] में **आन्ध्रमण्डल** को **द्वादशसहस्त्रग्रामसम्पादित सप्तार्धलक्षविषय**, अर्थात् १२ हजार गावों वाला तथा साढ़े सात लाख की आय देने वाला कहा गया है। किन्तु यह उल्लेख एक अपवाद मात्र है। उस समय राजकीय राजस्व प्राय: अन्न या वस्तु के रूप में वसूल किया जाता था, न कि सिक्कों अथवा द्रव्य के रूप में। अत: ग्रामों, भुक्तियों, अथवा मण्डलों के साथ जहाँ भी संख्याएँ दी गयी हैं, उनका तात्पर्य ग्रामसंख्याओं से ही लगाया जाना चाहिए।

केन्द्रीय प्रशासन

राष्ट्रकूट राज्य की विभिन्न प्राशासनिक इकाइयों की गिनती के बाद यह विचारणीय है कि उन विभिन्न इकाइयों के प्रशासनों के ढांचे क्या थे। ऊपर से नीचे जाते हुए हम यदि केन्द्रीय प्रशासन को देखें तो यह स्पष्ट होगा कि राष्ट्रकूटों का काल आते-आते प्राचीन भारतीय गणतंत्रों, संघों और गणों का अब कोई नामलेवा नहीं था। राज्य का एक ही प्रकार था और वह था नृपतंत्रात्मक। राजा राज्य का प्रधान होता था और राष्ट्रकूट सम्राटों की तरह यदि वह शक्तिशाली हुआ तो **महाराजाधिराज, राजाधिराज, परमभट्टारक** और **परमेश्वर** की उपाधियाँ धारण करता था। राष्ट्रकूटों ने अपने धार्मिक (वैष्णव) विश्वासों की सूचक **वल्लभ, श्रीवल्लभ, पृथिवीवल्लभ, श्रीपृथिवीवल्लभ, श्रीनारायण** और **कीर्त्तिनारायण** जैसी उपाधियाँ भी धारण की थीं। उस काल में एक प्रथा यह भी थी कि जब कोई शासक अपने किसी बड़े शत्रु पर अथवा उसकी राजधानी पर विजय प्राप्त कर वहाँ काबिज हो जाता था तो वह विजयसूचक उपाधियाँ भी धारण करता था–यथा तृतीय कृष्ण ने पल्लवों और चोड़ों पर अपनी विजय के उपलक्ष्य में **काञ्चीतञ्जैउणकोण्ड** (काञ्ची और तंजाऊर का विजेता) नामक विरुद अपनाया था। इसी प्रकार पल्लव शासक प्रथम नरसिंहवर्मन् ने अपने को चालुक्य राजधानी बादामी पर अधिकार कर लेने के बाद **वातापीकोण्ड** और प्रथम राजेन्द्र (चोड़) ने गंग देश को जीतने के बाद **गंगैकोण्ड** कहना

---

१. अ.स. अल्तेकर, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ १३८-१३९; १४७।
२. एपि० इण्डिका, जिल्द ६, पृष्ठ १-१२, श्लोक संख्या २५।
३. इऐ०, जिल्द १५, पृष्ठ १७२।

प्रारंभ कर दिया था। दान की अपनी प्रवृत्तियों की परिचायक **धारावर्ष**, **प्रभूतवर्ष** तथा **अकालवर्ष** जैसी उपाधियाँ भी विभिन्न राष्ट्रकूट राजाओं ने धारण कीं। तृतीय गोविन्द ने तो **विक्रम, जगत्तुंग** और **त्रिभुवनधवल** की उपाधियाँ भी धारण[१] कीं।

राज्याधिकार आनुवांशिक होता था और प्राय: दिवंगत राजा का जेठा पुत्र ही राजगद्दी का उत्तराधिकारी माना जाता था। तथापि महत्त्वाकांक्षाओं के कारण उत्तराधिकार के युद्ध होते रहते थे[२] और इन परिस्थितियों से बचने हेतु शासकगण अपने जीवित रहते ही अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर देते थे तथा उन्हें **युवराज** का पद देकर अपने साथ शासन में सहयुक्त कर लेते थे। ऐसा नहीं है कि **युवराज** के रूप में नियुक्ति सबसे जेठे पुत्र की ही होती हो। उसमें योग्यता और विशिष्टता का ध्यान रखा जाता था। ध्रुव **निरूपम** को अपने बाद उत्तराधिकार के युद्ध की आशंका प्रबल रूप से थी और चूंकि उसके चार पुत्रों में सर्वाधिक योग्य और कुशल तृतीय गोविन्द ही दिखायी दिया, उसने गोविन्द को ही अपना **युवराज** नियुक्त कर दिया तथा सबसे जेठा पुत्र इन्द्र गुजरात का और बाद में तीसरा पुत्र कर्क वेंगी का गवर्नर बनाया गया। राजकुमारों को विभिन्न प्रांतों का गवर्नर बनाने के पीछे उन्हें राजधानी से दूर रखकर षड्यन्त्रों और विद्रोहों की संभावनाओं से बचना केवल एक ही कारण था। दूसरा प्रमुख कारण यह भी था कि राजवंशीय गवर्नरों के कारण दूरस्थ प्रांतों को साम्राज्य के भीतर सर्वदा बनाये रखने में भी सुविधा होती थी। **युवराज** लोग प्राय: सर्वदा ही राजधानी में रहा करते थे, ताकि उनके उत्तराधिकार को कोई प्रतिस्पर्द्धी चुनौती न दे सके तथा वे राजकार्यों के पूरी तरह अनुभव स्वयं राजगद्दी पर बैठने के पूर्व ही प्राप्त कर लें। वे राज्य की लड़ाइयों में सेना का नेतृत्व कर अपनी सैनिक क्षमता को बढ़ाते थे और अन्तरराज्यीय राजनीति का अनुभव प्राप्त करते थे। युवराजों को **पञ्चमहाशब्दसामन्त** की उपाधि प्राप्त थी और **युवराज** पद के सम्मान स्वरूप एक **कण्ठिका** (माला) पहनायी जाती थी[३]।

प्रथम अमोघवर्ष अपने पिता तृतीय गोविन्द की मृत्यु के समय अभी नाबालिग ही था। चूंकि वही गोविन्द का एक मात्र पुत्र था, उसकी संरक्षकता हेतु गोविन्द ने अपने विश्वासपात्र छोटे भाई इन्द्र के पुत्र कर्क **सुवर्णवर्ष** को उसका संरक्षक नियुक्त किया था और उसने उस विश्वास पर अपने को खरा सिद्ध किया। यह तो स्पष्ट रूप से ज्ञात नहीं है कि उसकी सहायता में कोई संरक्षक समिति भी थी या नहीं, पर इसकी संभावना से

---

१. केरल, मदुरा और सिंहल की विजयों के उपलक्ष्य में राजेन्द्र चोड़ ने केरलान्तक, मधुरान्तक और सिंहालान्तक की उपाधियाँ भी धारण कीं।

२. राष्ट्रकूटों के समय तो ऐसा प्राय: होता था। ध्रुवनिरूपम तृतीय गोविन्द, प्रथम अमोघवर्ष और तृतीय अमोघवर्ष जैसे अनेक शासकों को अपनी राजगद्दी हेतु युद्ध लड़ने पड़े थे।

३. एइ०, जिल्द ६, पृष्ठ २४२।

इनकार नहीं किया जा सकता। आगे चलकर कनौज के गाहड़वाल राज्य में मदनपाल की अल्पवयस्कता के समय एक संरक्षक समिति के होने का स्पष्ट प्रमाण ज्ञात होता[१] है।

राजदरबार की शान शौकत तो होती ही थी, उसमें यह व्यवस्था भी होती थी कि कब-कब किनको उसमें प्रवेश दिया जाय। राजा अपनी पूरी शान से, पूरे राजकीय वस्त्रों को पहनकर, युवराज, मंत्रिओं, राजकविओं, राजगुरुओं, द्वारपालों, कञ्चुकी तथा बड़े-बड़े सैनिक और प्रशासकीय अधिकारिओं के साथ ही उसमें उपस्थित होता था और सभी शासनकार्य उसकी आज्ञा से बारी-बारी से ही निपटाये जाते थे–यहाँ तक कि कभी-कभी बड़े-बड़े सरदारों, सामन्तों और विदेशी दूतों को भी जबतक उसकी आज्ञा प्राप्त न हो जाय, भीतर प्रवेश नहीं कराया जाता था।[२]

यद्यपि विभिन्न प्राचीन भारतीय राजशास्त्रीय ग्रंथ इस बात का उल्लेख करते हैं कि राजा की सहायता और उसे सही परामर्श देने के लिए एक मंत्रिमण्डल होना चाहिए, यह जानने का कोई साधन नहीं है कि राष्ट्रकूट राज्य में कोई मंत्रिमण्डल होता था या नहीं। यदि ऐसा था तो मंत्रिओं की योग्यताएँ क्या होती थीं, इसकी भी कोई जानकारी नहीं प्राप्त होती। अत: इस निष्कर्ष को स्वीकार करने में कोई कठिनाई प्रतीत नहीं होती कि उत्तरोत्तर प्राचीन भारतीय राज्यों में मंत्रिपरिषद् का प्रचलन और उसका महत्त्व कम हो गया था[३] और मंत्रिओं का राजाओं पर उतना प्रभाव नहीं रह गया था जितना मौर्य काल में था अथवा स्मार्त्त ग्रंथों के प्रभाव वाले पूर्वयुग में था। **मंत्री** शब्द का अर्थ अब राज्य के किसी विशेष कार्य में लगे हुए किसी विशेष कर्मचारी के रूप में बदल गया था।

इन बड़े केन्द्रीय कर्मचारिओं के उल्लेख शिलाहारवंशी राजाओं के अभिलेखों में हुए हैं। चूंकि शिलाहार वंश राष्ट्रकूटों का ही सामंत वंश था, ऐसा माना जा सकता है कि वे ही केन्द्रीय कर्मचारी राष्ट्रकूट शासन में भी विद्यमान रहे होंगे। शिलाहार अभिलेखों में इन्हें **मंत्री** कहा गया है और उनकी संख्या पाँच बतायी गयी है। अलग-अलग वंशों के अभिलेखों में इन्हें **महाप्रधान, सर्वाधिकारिन्, सर्वदर्शीप्रधान, प्रधान, पुराणामात्य** अथवा **महामात्य** जैसे विरुद दिये गये हैं। **सान्धिविग्रहिक** अथवा **महासांधिविग्रहिक** आधुनिक विदेश मंत्री की तरह था। वही राजकीय आज्ञाओं (शासनों) को लिखता भी था और आगे सम्बद्ध अधिकारिओं तक उन्हें भेजता था। राष्ट्रकूट अभिलेखों में **महासांधिविग्रहिक** के बार-बार उल्लेख आते हैं, विशेषत: उस समय जब राजा गांवों का दान करता था और सम्बद्ध दान की विविध बातों को **महासान्धिविग्रहिक** नोट करके सभी सम्बद्ध राजस्व अधिकारिओं को उन्हें भेजता तथा दानपत्र तैयार कर दान प्राप्तकर्ता को

---

१. वि. पाठक, उत्तर भारत का राजनीतिक इतिहास, पृष्ठ ३५१।
२. याजदानी सं० दि अर्ली हिस्ट्री ऑफ् दि डेकन भाग १-६, पृष्ठ ३०९।
३. अ०स० अल्तेकर, स्टेट ऐण्ड गवर्नमेण्ट, पृष्ठ १८३ और आगे।

सौंपता[१] था।

राष्ट्रकूट साम्राज्य की विशालता के कारण उसमें कई **सांधिविग्रहिकों** की नियुक्तियाँ हुई थीं, जिन सबके ऊपर एक **महासांधिविग्रहिक** होता था। ये **सांधिविग्रहिक** अलग-अलग विजित प्रांतों अथवा सामन्ती प्रदेशों की अन्तरराज्यीय नीतियों और निर्णयों के लिए उत्तरदायी होते थे। चूंकि शिलाहार अभिलेखों में दो **सांधिविग्रहिकों** के उल्लेख हैं, अल्तेकर[२] महोदय की कल्पना है कि राष्ट्रकूट राज्य में कम से कम छह **सांधिविग्रहिक** रहे होंगे, जो कदाचित् **प्रतीहारमहासांधिविग्रहिक, गौडमहासांधिविग्रहिक** और **पल्लवमहासांधिविग्रहिक** जैसे पदों पर विद्यमान रहे होंगे। इस पद की महत्ता को देखते हुए कहा जा सकता है कि उनकी योग्यताएँ भी विशिष्ट रही होंगी। उन्हें **पञ्चमहाशब्द** का उपाधि प्राप्त थी।

ध्रुव का डल्ल नामक **महासान्धिविग्रहिक** पिता-पुत्र क्रम से उस पद पर विद्यमान था[३], और उसे एक जागीर मिली हुई थी। राजा और **महासांधिविग्रहिक** के बीच अत्यन्त अधिक पारस्परिक विश्वास होता था और इसी कारण **महासांधिविग्रहिक** राजा का दाहिना हाथ कहा गया[४] है।

संभवत: **महासान्धिविग्रहिक** की तुलना का ही महत्त्वपूर्ण पद प्रधान न्यायधीश का था। जिसे **धर्माधिकारिन्** कहा गया है। प्रथम अमोघवर्ष के संजान ताम्रपत्र से यह जान पड़ता है कि वही ताम्रपत्रों के लेखों को तैयार करता[५] था। वह नीचे की अदालतों की अपीलों को सुनता था और निर्णय सुनाता था। किन्तु कई मामलों में तो राजा का ही निर्णय अन्तिम होता था।

सेनापति केन्द्रीय प्रशासन का एक अन्य प्रमुख अधिकारी था। एक यादव अभिलेख में उसे **महाप्रचण्डदण्डनायक** कहा गया है। राष्ट्रकूट साम्राज्य की विशालता और उनके द्वारा सतत् युद्धों में लगे हुए होने के कारण यह अनुमान लगाया जा सकता है कि सेनापतिओं की भी संख्याएँ कई होती होंगी। उन्हें उनकी भूमिकाओं के आधार पर

---

१. याज्ञवल्क्यस्मृति में कथित है :-
सांधिविग्रहकारी तु भवेद्यस्तस्य लेखक: ।
स्वयं राज्ञा समादिष्टस्स लिखेद्राजशासनम् ।। प्रथम, ३१९-३२० मिताक्षरा टीका में कथित है कि दानपत्र सान्धिविग्रहिक के द्वारा ही लिखा जाय, अन्य किसी के द्वारा नहीं।

२. राष्ट्रकूटज्, पृष्ठ १६७।

३. एइ, जिल्द १०, पृष्ठ ८९।

४. इऐ०, जिल्द १२, पृष्ठ १५; एइ०, जिल्द ९, पृष्ठ १९५।

५. लिखितं चैत धर्म्माधिकरणसेनभोगिकेन वालभकायस्थवंशजातेन श्रीमदमोद्य वर्षदेवकमलानुजीविना गुणधवलेन वत्सराजसूनुना ।। ७६वीं-७७वीं पंक्तियाँ। एपि० इण्डिका, जिल्द १८, पृष्ठ २५१।

दण्डनायक अथवा **महादण्डनायक** की उपाधियाँ प्राप्त थी, और वे मुख्य-मुख्य सामन्तों की तरह **समधिगतपञ्चमहाशब्द** (पाँच प्रकार के वाद्य यन्त्रों को बजवाते हुए राजदरबार में प्रवेश के अधिकार वाले) से सम्पन्न होते थे। चतुर्थ गोविन्द के एक अभिलेख से ज्ञात होता[१] है कि वे महलों में निवास करते थे, हाथियों पर चलते थे, चमकीले वस्त्र धारण करते थे, नौकर-चाकरों से सुसज्जित होते थे और विशेष प्रकार के छत्र धारण करते थे। उन्हें वेतन के रूप में बड़े-बड़े भूखण्ड या गांव प्राप्त होते थे, जिनसे राज्य को प्राप्त होने वाली सेवा, आय, राजस्व या बेगार उनकी हो जाती थी।

पुरोहित केन्द्र का एक अन्य अधिकारी था, जिसके अधीन राज्य के तथा राजपरिवार के सभी धार्मिक कृत्य संपादित होते थे। राष्ट्रकूट अभिलेखों में पुरोहित को **धर्मांकुश** कहा गया[२] है। राजस्व मंत्री **अमात्य** कहलाता था। उसके ही अधीन राजस्व, भूस्वामित्व और कृषि से सम्बन्धित सभी कागजपत्र रखे जाते थे। समसामयिक राजवंशों के अभिलेखों में उसे **महाक्षपटलिक** अथवा **शासनाधिकारिन्** कहा गया है, जिनके अधीन क्लर्कों (**करणिक**) की एक फौज ही रहती थी।

कौटिल्य जिस करसंग्राहक को **समाहर्त्ता** कहता है, शिलाहार अभिलेखों में उसे ही **भाण्डागारिक** की संज्ञा दी गयी है। वही राजकीय कोषागार का कोषाध्यक्ष होता था।

राष्ट्रकूट साम्राज्य की राजधानी मान्यखेट की केन्द्रीय नौकरशाही किस तरह काम करती थी, इसकी विशेष जानकारी नहीं प्राप्त होती। किन्तु साम्राज्य के स्वरूप, उसकी विशालता, उसमें कई प्रान्तीय और अन्य छोटी-छोटी इकाइयों के होने, उसके विशाल सैनिक ताने-बाने, उसके दीर्घजीवन तथा उसके बहुविध क्रिया-कलापों से यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है कि उसके कार्यक्षेत्र विस्तृत, क्रिया-कलाप कुशल और संगठन सचमुच सुदृढ़ रहे होंगे। यह दुर्भाग्य ही है कि राष्ट्रकूट अभिलेखों से हमें उनके ब्यौरे नहीं प्राप्त होते।

प्रान्तीय प्रशासन

जैसा कि पहले देखा जा चुका है, समस्त राष्ट्रकूट साम्राज्य अनेक प्रान्तों अर्थात् राष्ट्रों में बंटा था। ये **राष्ट्र** आजकल के सूबों के बराबर न होकर आधुनिक कमिश्नरियों के बराबर होते थे, जिनमें आजकल के पाँच-छह जिलों के बराबर वाले क्षेत्र हुआ करते थे। राष्ट्रकूट साम्राज्य में कुल कितने **राष्ट्र** थे, यह तो ज्ञात नहीं है, किन्तु अनुमानतः उनकी संख्या बड़ी ही (१८-२०) रही होगी। इनके प्रधानों को **राष्ट्रपति** कहा जाता था, जिनकी पृष्ठभूमि सैनिक होने के कारण **दण्डनायक** और **महादण्डनायक** की उपाधियाँ भी उन्हें प्राप्त थीं। चूंकि उनमें कई **राष्ट्रपति** ऐसे भी होते थे जो या तो हारे हुए या

---

१. एइ०, जिल्द १३, पृष्ठ ३३४।
२. इऐ० जिल्द १८, पृष्ठ २३०।

अधिसत्ता स्वीकार करने वाले राजे-रजवाड़े होते थे अथवा पूर्वत: शासक रहे राजाओं के वंशज होते थे, अत: उन्हें **महासामन्त** अथवा **महामण्डलेश्वर** भी कहा जाता था। राष्ट्रपति पद पर या तो राजकुमार या नजदीकी राजपरिवारी व्यक्ति अथवा हारे हुए राजागण और सामन्त तथा सैनिकता में अगुआ लोग ही नियुक्त किये जाते थे। प्रथम अमोघवर्ष ने अपने विद्रोहिओं को दबाने में युद्ध कौशल दिखाने वाले अपने सेनापति बंकेय को वनवासी १२००० का **राष्ट्रपति** नियुक्त किया था। ध्रुव के अधीन वनवासी पर शासन करने वाला गवर्नर था मारक्करस। मारक्करस शब्द कन्नड़ भाषा का है और **रस** शब्द राजा का ही कन्नड़ रूप है। इससे प्रतीत होता है इन गवर्नरों को कभी-कभी **राजा** भी कहा जाता था। तृतीय गोविन्द का एक गवर्नर राजादित्य **राजपरमेश्वर** कहलाता[२] था। ऐसा निष्कर्ष निकाला गया है कि यह कोई आनुवांशिक **महासामन्त** था।

इन प्रांतीय गवर्नरों के अपने दरबार और ताम-झाम होते थे और उनके पास खूब अधिकार भी होते थे। चूँकि आवश्यकता होने पर वे केन्द्रीय सत्ता के युद्धों में भाग भी लेते थे, उनके पास भी अपनी सेनाएँ होती थीं। ये सेनाएँ भीतरी शान्ति बनाये रखने का उत्तरदायित्व भी संभालती थीं। प्रथम अमोघवर्ष के कोन्नूर अभिलेख[३] से ज्ञात होता है कि वनवासी के गवर्नर को एक ओर गंग शासक से युद्ध करना पड़ा तो दूसरी ओर राजधानी की ओर दौड़कर अमोघवर्ष के विरुद्ध होने वाले विद्रोह को भी दबाना पड़ा। उसने पल्लवों के विरुद्ध युद्ध में भी भाग लिया। गवर्नरों के अधीन वाली ये सेनाएँ भी राजकीय सेवा-भूमि की आय प्राप्तकर **मौल** (पितापुत्र के क्रम से) रूप में रखी जाती थीं।

प्रांतीय गवर्नर संभवत: प्रान्तीय प्रशासन के राजस्व विभाग के प्रधान भी होते थे। यह इस व्यवस्था से प्रमाणित होता है कि दानपत्रों के प्रकाशन के समय उन्हें भी यह सूचना दी जाती थी कि वे दानग्रहीता को दी गयी भूमि से सम्बद्ध उसके अधिकारों में हस्तक्षेप न करें। किन्तु वे अपने क्षेत्र के किसी भूखण्ड का स्वयं अपनी इच्छा से दान नहीं कर सकते थे। वैसा करने हेतु उन्हें केन्द्रीय सत्ता (राजा या सम्राट्) की आज्ञा लेनी होती थी। उस समय के दक्षिणापथवासी तथा **याज्ञवल्क्यस्मृति** के टीकाकार विज्ञानेश्वर भी अपनी **मिताक्षरा** नामक टीका में कहते हैं कि भूमिदान केवल राजा द्वारा ही किया जा सकता है, उसके किसी अधिकारी द्वारा नहीं[४]। **राष्ट्रपति** को सलाह और सहायता देने हेतु **राष्ट्रमहत्तर** लोगों की एक समिति भी होती थी।

---

१. तृतीय गोविन्द के तीन भाइओं, स्तंभ, कर्क और इन्द्र की नियुक्तियाँ क्रमश: गंगवाडि, खानदेश और गुजरात के राष्ट्रों (प्रांतों में) में हुई थी। देखें, साउथ इण्डियन् इन्स्क्रृप्शन्स्, जिल्द ३, संख्याएँ १५१, २०५।

२. एपिग्राफिया, कर्नाटिका, जिल्द ८, सोराब तालुका, सं० ४० और २२।

३. एइ०, जिल्द ६, पृष्ठ २९।

४. इऐ०, जिल्द १२, पृष्ठ १२५।

विषय प्रशासन

विषयों के अधिकारी-**विषयपति**-भी **राष्ट्रपति** की प्रतिकृतिओं की तरह ही थे। उनमें से बहुत से सामन्त वर्ग के थे और उनके पास भी छोटी-मोटी सेनाओं के होने के प्रमाण प्राप्त होते हैं। १०१९ ई० में कुन्तल **विषय** का कुण्दमराज नामक **विषयपति महामण्डलेश्वर** कहा गया है, जिसे **पञ्चमहाशब्द** के अधिकार प्राप्त[१] थे। उनके हाथ में प्रभूत राजस्व अधिकार होते थे और दानपत्रों में उन्हें भी दानभूमि से सम्बद्ध विमुक्तियों में कोई हस्तक्षेप न करने के आदेश दिये गये प्राप्त होते हैं। यदि लगानों में कोई छूट दी जाती थी तो उनसे अनुमति लेनी आवश्यक थी। **विषयपति** की सहायता हेतु विषयमहत्तरों की समितियाँ संगठित की जाती थीं।

भुक्ति

प्रत्येक **विषय** अनेक भुक्तियों को मिलाकर बनाया जाता था। प्रत्येक **भुक्ति** में १०० से ५०० तक ग्राम होते थे, जिनकी समता आजकल के तालुका नामक क्षेत्रों से की जा सकती है। **भुक्ति** का शासक **भोगिक** अथवा **भोगपति** कहलाता था और शासनकार्यों में उसकी भी सहायता हेतु **महत्तर** नामक लोगों की समितियाँ होती थीं। **भोगिक** के प्रधान कर्त्तव्यों में राजकीय राजस्व की वसूली और तत्सम्बन्धी कागजपत्रों के रख-रखाव जुड़े हुए थे।

ग्राम शासन

ग्राम के मुखिया को महाराष्ट्र में **ग्रामकूट** और कर्नाटक में **गाउण्ड** कहा जाता था। यह पद प्रायः आनुवांशिक होता था तथा इस पर आसन्न व्यक्ति केन्द्रीय सत्ता का उतना प्रतिनिधित्व नहीं करता था, जितना अपने ग्राम, ग्रामवासिओं और ग्रामीण हितों का। कहीं-कहीं **ग्रामकूट** को **ग्रामपति** भी कहा गया है। शिलाहारवंशी ताम्रपत्रों में इसे **ग्रामभोजक** कहा गया है। **ग्रामकूट** के कार्यों में सर्वप्रथम था पूरे गाँव की रक्षा करना तथा शान्ति और सुव्यवस्था बनाये रखना। इन कार्यों के लिए संभवतः ग्रामीणों के अपने बल (लड़ाके) हुआ करते थे जो बाहरी विपदाओं-चोर-डाकू, पशुचोर, कृषि को लूटने वाले, बटमार तथा उचक्कों तथा पास-पड़ोस के प्रतिस्पर्द्धी गावों-से समवेतरूप में मुकाबला करते थे। इन मुकाबलों में मर जाने वाले लड़ाकों की स्मृति में गांवों के बाहर **चौरे, ब्रह्म, वीर** जैसे अन्य स्मृतिस्थल और स्तंभ लगाये जाते थे तथा वीरगाथाओं **(वीरगल)** के निर्माण होते[२] थे।

किन्तु **ग्रामकूट** का कदाचित् सर्वाधिक प्रमुख कर्त्तव्य राजकीय राजस्व की वसूली ही थी। गांव के लोगों के आपसी विवादों में वह मध्यस्थता अथवा निर्णय भी सुनाता

---

१. इऐ०, जिल्द ५, पृष्ठ १६-१७।
२. एपि० कर्नाटिका, जिल्द ८, सं० ४४५ (सोराब तालुका)।

था, जिससे प्रतीत होता है कि उसे आधुनिक मजिस्ट्रेटों के समान अर्धन्यायिक अधिकार भी प्राप्त थे। उसकी सेवाओं के बदले या तो बिना कोई कर दिये राजकीय भूमि प्राप्त होती थी अथवा गांव से राज्य को दिये जाने वाले राजस्व का कुछ भाग मुफ्त प्राप्त होता था। दानदत्त भूमियों से सम्बद्ध जो भी ताम्रपत्र अथवा अन्य प्रकार के अभिलेख प्राप्त होते हैं, उन सभी में राज्य के अन्यान्य अधिकारिओं के साथ-साथ सर्वत्र ही ग्रामप्रधानों को भी दानदत्त भूमि से सम्बन्धित विमुक्तियों से किसी प्रकार की छेड़छाड़ के प्रति आगाह किया गया है। इससे यह स्पष्ट है कि ग्रामभूमि के स्वामित्व, राजकीय स्वामित्व वाली भूमि की देखरेख, राजकीय राजस्वों की वसूली तथा सामुदायिक स्वामित्ववाली भूमि का प्रबन्ध आदि सब कुछ उसके कार्यक्षेत्रों के भीतर आते थे।

ग्रामशासन को चलाने हेतु **ग्रामकूट** की सहायता में जैसे रक्षकदल और ग्रामबल होते थे, वैसे ही उसके राजस्व सम्बन्धी हिसाब-किताब को रखने वाला संभवतः एक **लिपिक** अथवा **करणिक** भी होता था। **शुक्रनीति**[१] में उसे **लेखक** कहा गया है। किन्तु राष्ट्रकूट अभिलेखों में इसका कोई उल्लेख नहीं प्राप्त होता। तथापि वहाँ **ग्रामकूट** की सहायता में लगे **युक्त, आयुक्त, नियुक्त** और **ग्राममहत्तर** के उल्लेख प्राप्त होते[२] हैं। ये संभवतः **लेखक** के समान ही रहे होंगे और लिखने-पढ़ने तथा कागजपत्रों के रख-रखाव सम्बन्धी सभी कार्य इन्हीं लोगों के रहे होंगे।

ग्रामकूट की सहायता के लिए ग्राममहत्तरों की एक समिति होती थी, जिसकी समता तमिल क्षेत्रों की **ग्रामसभाओं** अथवा **उरसभाओं** से की जा सकती है। किन्तु जहाँ तमिल ग्रामसभाओं के निर्माण, उनके संविधान तथा निर्वाचन, उनकी कार्यसमितियों और विशेष-विशेष कार्यों में लगी हुई उपसमितियों की निर्वाचन प्रक्रिया, उनके कार्यविशेष तथा उनकी बैठकों आदि के बारे में परांतक चोड़, राजराज चोड़ अथवा कुलोत्तुंग के समय के अभिलेखों से बहुत ही अधिक जानकारियाँ प्राप्त होती है, वैसी कोई भी जानकारी कर्नाटक अथवा महाराष्ट्र के अभिलेखों से राष्ट्रकूट महत्तरों और उनकी समितियों के बारे में नहीं प्राप्त होती। किन्तु तृतीय कृष्ण ने जब उत्तरी और दक्षिणी आर्काट जिलों को जीतकर उन चोड़ क्षेत्रों को अपने साम्राज्य में मिला लिया और तोण्डैमण्डलम् के अनेक क्षेत्रों में अपने अभिलेख खुदवाये तो वहाँ से उसके समय के प्राप्त कुछ अभिलेख इन ग्रामसभाओं का उल्लेख[३] करते हैं। उन अभिलेखों से इन ग्रामसभाओं के वार्षिक चुनाव और उनकी विभिन्न उपसमितियों के, उनके कार्यों सहित, जानकारी प्राप्त होती है। इन उपसमितियों में मन्दिर

---

१. द्वितीय, ३४८।
२. इण्डियन् ऐण्टीक्वेरी, जिल्द ११, पृष्ठ ११२; राधनपुर अभिलेख जिल्द ४, पृष्ठ २४२।
३. देखें शिवचूलमंगलम् अभिलेख, साउथ इण्डियन् इन्स्कृप्शन्स्, जिल्द ३, पृष्ठ १२; शोलपुरम् अभिलेख, एइ० जिल्द ७, पृष्ठ १९७।

उपसमिति, न्यास उपसमिति, कृषि उपसमिति, राजस्व उपसमिति और लोककल्याणकार्य उपसमिति के उल्लेख आये[१] हैं।

कर्नाटक के क्षेत्रों में प्राप्त अभिलेख ग्राममहत्तरों के विभिन्न प्रकार के कार्यों का उल्लेख करते हुए भी कहीं भी यह नहीं बताते कि उनकी नियुक्ति किसके द्वारा होती थी। कर्नाटक में इन सदस्यों को **महाजन** कहा जाता था और वे एक-एक परिवार के मुखिया के रूप में ग्रामसभा में अपने अपने परिवारों का प्रतिनिधित्व करते थे। चतुर्थ गोविन्द के कलश[२] अभिलेख में २०० परिवारों वाले एक **ब्रह्मदेय** ग्रामसभा के महाजनों की प्रशंसा में कहा गया है कि वह गांव अन्य ब्राह्मणगावों को अपने यहाँ की विद्या और सच्चरित्रता के कारण लज्जा में डाल देने वाला था। इससे स्पष्ट है कि गांव के सभी परिवारों का प्रतिनिधित्व इन महाजनों (परिवारों के मुखिया लोगों) के माध्यम से ही ग्राममहत्तरों की सभा (ग्रामसभा) में होता था[३]।

इन **अग्रहार** अथवा **ब्रह्मदेय** ग्रामों में ग्रामसभा के सदस्य केवल ब्राह्मण ही होते थे। किन्तु उनके अतिरिक्त अन्य वर्णों के लोगों द्वारा अवस्थित ग्रामों की सभाओं में ब्राह्मणों सहित सभी जातियों के लोग सदस्य के रूप में होते थे। उनमें भी **महाजन** लोग या तो प्रत्येक परिवार के मुखिया के रूप में सदस्य होते थे अथवा, जैसा कि कई अभिलेखों से ज्ञात होता है, परिवारों के सभी बालिग लोग सदस्य होते[४] थे। किन्तु केवल दो अभिलेखों को छोड़कर, ऐसा कहीं भी कोई उल्लेख नहीं प्राप्त होता कि कर्नाटक प्रदेश में ग्रामसमितियों की कोई कार्यसमिति अथवा उसकी कोई उपसमितियाँ भी होती थीं। यह निष्कर्ष निकाला गया है कि **महाजन** लोग विभिन्न प्रकार के ग्रामकार्यों के लिए आपस में मिलकर कोई गैररस्मी तरीका निकाल लेते रहे होंगे और अपने-अपने कर्त्तव्यों का बंटवारा कर लेते रहे होंगे, जिनके इक्का-दुक्का प्रमाण अभिलेखों से प्राप्त होते[५] हैं।

इन ग्रामसभाओं के समवेत उत्तरदायित्व, कार्य अथवा अधिकार तथा केन्द्रीय शासन से उनके प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष सम्बन्ध क्या थे, इनका कहीं कोई उल्लेख नहीं प्राप्त होता। किन्तु चोड़ ग्रामसभाओं के समस्त क्रिया-कलापों को देखते हुए यह प्रतीत होता है कि उनके मुकाबले कर्नाटक, महाराष्ट्र अथवा गुजरात की ग्रामसभाओं के अधिकार सीमित ही थे। वे न तो लगान माफी की सिफारिश कर सकती थीं, न ग्राम की भूमि का हस्तान्तरण, न उन्हें गिरवी या बन्धक रख सकती थीं और न उन्हें बेंच सकती थीं। ये सारे अधिकार चोड़ राज्य में तो ग्रामसभाओं को प्राप्त थे किन्तु राष्ट्रकूट क्षेत्रों में ग्रामसभाओं

---

१. एइ०, जिल्द ९, पृष्ठ २२४ और आगे।
२. एइ० जिल्द १३, पृष्ठ ३२७ और आगे।
३. अ० स० अल्तेकर, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ १९९।
४. वहीं, पृष्ठ २०१-२०२।
५. वहीं, पृष्ठ २०६।

की अधिकार सीमा से वे बाहर थे। वे ग्रामसभाओं में पड़ने वाली भूमि का लगान घटाने-बढ़ाने का भी प्रस्ताव नहीं कर सकती थीं। चोड़ ग्रामसभाओं की एक ही सीमा थी, जो यह थी कि उनके द्वारा किया गया कोई भी प्रस्ताव राज्याधिकारिओं की उपस्थिति और उनकी स्वीकृति के साथ ही कारगर हो सकता था।

ग्रामसभाओं के अधिकारों की उपर्युक्त सीमाओं को यदि अलग कर दिया जाय तो राष्ट्रकूट ग्रामसभाओं के अधिकार प्रायः वैसे ही दिखायी देते हैं, जैसे चोड़ राज्य की ग्रामसभाओं के। ग्रामशासन के मामलों में प्रायः दोनों ही आत्मस्वायत्त संस्थाएँ थीं। कर्नाटक और महाराष्ट्र की ग्रामसभाएँ भी ग्राम सम्बन्धी सभी लोककल्याणकार्यों की देखरेख करती थीं, वे पाठशालाओं और सत्रों का संगठन और प्रबन्धन करती थीं और मंदिरों की सम्पत्तियों का प्रबन्ध देखती थीं। गांव में स्थित तालाबों की मरम्मत और उनके रखरखाव भी उनके कार्यक्षेत्रों में सम्मिलित थे। व्यक्तिगत लोगों से प्राप्त धनसम्बन्धी न्यास और जमा तथा धरोहर से वे दाताओं द्वारा इच्छित ढंग से ग्रामसम्बन्धी सुविधाओं हेतु उनका विनियोग करती थीं। इस प्रकार का दान करते समय दानदाता ग्राम के सभी महाजनों-चाहे उनकी संख्या कितनी भी क्यों न हो-के पैरों का विधिवत् प्रच्छालन करता था और महाजनों का कर्त्तव्य था कि वे स्थायीरूप से उस धन का यथेष्ट कार्य में अबाध उपयोग करते रहें। इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि महाजनों के ग्रामीण बैंक होते रहे होंगे, जहाँ न्यास वाले ये धन जमा किये जाते थे और उनकी सूद का ही दाता की इच्छानुसार उपयोग किया जाता था। ऐसे दान पत्थरों पर अंकित कराये जाते थे। ग्राममहाजन चन्दा और लोगों द्वारा स्वयंप्रदत्त धन इकट्ठा करके भी ग्रामकार्यों में लगाते थे। ग्रामकार्यों के लिए केन्द्रीय राजस्व के ग्रामीण भाग में से कुछ अंश ग्रामसभाओं के पास भी छोड़ दिया जाता था। राजस्व के दो भाग किये जाते थे–एक था **मेला-वारम्** जो केन्द्रीय भाग था और दूसरा था **चूडि-वारम्** जो ग्रामकार्यों के लिए छोड़ दिया[१] जाता था। अ०स० अल्तेकर के मत[२] में ग्रामकार्यों हेतु छोड़ा गया यह भाग कुल स्थानीय राजस्व का १५% होता था।

ग्रामसभाओं के विस्तृत न्यायिक अधिकार भी थे। इन ग्राम न्यायालयों का उल्लेख अरब सौदागर सुलेमान[३] करता है। किन्तु जहाँ तक फौजदारी के मुकद्दमों का सवाल है, ग्राम न्यायालयों के अधिकार सीमित ही प्रतीत होते हैं। किन्तु दीवानी मामलों में तो वे अधिकार बहुत ही विस्तृत थे। धन, व्याज, जमा, न्यास आदि के सम्बन्ध में वे बड़े से बड़े मुकद्दमों का फैसला कर सकती थीं। यदि उनके फैसलों से कोई पक्ष संतुष्ट न हो

१. एपि० इण्डिका, जिल्द १३, पृष्ठ ३५।
२. विलेज कम्यूनिटीज़ इन वेस्टर्न इण्डिया, पृष्ठ ६८, ७१।
३. इलियट ऐण्ड डाउसन् जिल्द १, सुलेमान सौदागर, पृष्ठ ८१।

तभी उनकी अपीलें राजा द्वारा नियत अगली अदालतों में जाती[१] थीं। इन ग्रामसभाओं की बैठकें छायादार वृक्षों, मंदिरमण्डपों और सामुदायिक लाभ हेतु बने भवनों में होती थीं।

राजकीय राजस्व

राज्य को प्राप्त होने वाले करों में नियमित कर, अनियमित अथवा अल्पकालिक कर, न्यायालयों द्वारा दिये जाने वाले दण्ड, राजकीय सम्पत्तियों से प्राप्त कर, सामन्तों और विजित राज्यों से प्राप्त कर एवं लूट की गिनती मुख्य रूप से की जा सकती है।

नियमित करों में **उद्रंग** और **उपरिकर** के नाम बार-बार अभिलेखों में आते हैं। यद्यपि कुछ विद्वान्[२] इन्हें नियमित कर न मानकर अतिरिक्त कर मानते हैं, अ० स० अल्तेकर[३] के मत में ये **भाग** और **भोग** नामक भूमिकर के पर्याय ही हैं। ये फलों, पान के पत्तों, फूलों और सब्जियों के भाग के रूप में वसूल किये जाते थे।

भाग वह भूमिकर था जो भूमि की उपज पर प्राय: १/६ के अंश में जोतदारों से वसूल किया जाता था। इसे ही **उद्रंग** भी कहा जाता था। **भाग** नामक कर के अंश के बारे में अलग-अलग ग्रंथों में अलग-अलग उल्लेख प्राप्त होते हैं। राष्ट्रकूट युग में इसका अंश क्या था, इसका सही-सही निर्धारण नहीं किया जा सकता। किन्तु राष्ट्रकूट साम्राज्य के विशाल आयत्त, गुर्जर प्रतीहार, पाल और चोड़ जैसे विशाल साम्राज्यों से उसके निरंतर लड़े जाने वाले युद्धों के लिए आवश्यक बड़ी-बड़ी सेनाओं के खर्चों को चलाने तथा एक विस्तृत प्रशासन हेतु वेतन आदि खर्चों के लिए राष्ट्रकूटों को भरपूर आय के स्रोत अवश्य ही ढँढ़ने पड़े होंगे। अत: यह कल्पना की जा सकती है कि उनके द्वारा लगाये जाने वाले कर भी अधिक ही होंगे। कुछ मुसलमान लेखकों के अनुसार[४] राष्ट्रकूट शासक बड़े धनी थे। अत: एक अनुमान यह है कि राष्ट्रकूटों द्वारा लगाया जाने वाला भूमिकर २०% तक था अर्थात् वह उपज का १/५ भाग था। किन्तु यह अत्यन्त संभव है कि अकाल, बाढ़, सूखों के समय अथवा नहरों और तालाबों में सिचाईं वाले पानी के अभाव में करों में छूट दी जाती रही हो। भूमिकर प्राय: उपज के कुछ अंश में उपज के रूप में ही वसूल किया जाता था। यह अंश प्राय: धान के रूप में ही होता था जो तमिल क्षेत्रों की ही नहीं, अपितु

---

१. स्मृतियों में कथित है–
ग्रामे दृष्ट: पुरे याति, पुरेदृष्टस्तु राजनि।
राज्ञा दृष्टो कुदृष्टो वा नास्ति पौनर्भवो विधि:॥
अर्थात् ग्रामन्यायालयों द्वारा देखा गया मुकद्दमा नगरीय अदालतों में अपील हेतु जाता है, और नगरीय अदालतों की अपील राजा की अदालत में होती है। उसके बाद कोई अपील नहीं होती।

२. लल्लनगोपाल, इकॉनामिक लाइफ ऑफ् नार्दर्न इण्डिया, पृष्ठ ४१।

३. राष्ट्रकूटज़् पृष्ठ २१४।

४. अल्–इद्रिसी, इलियट ऐण्ड डाउसन, जिल्द १, पृष्ठ ८५-८६।

कर्नाटक के दक्षिणी भागों की भी मुख्य उपज थी। किन्तु कुछ आभिलेखिक उदाहरण ऐसे भी हैं, जिनसे प्रतीत होता है कि कहीं-कहीं नकद रूप में भी यह वसूल किया जाता था[१]। **सुवर्ण** और **द्रम्म** शब्दों के कर के रूप में प्रयोग इस तथ्य की ओर निर्देश करते हैं कि कुछ कर नकद भी लिये जाते थे।

राष्ट्रकूट अभिलेखों में प्राय: सर्वत्र ही उल्लिखित, **भूतोवात प्रत्यायकर**[२] कोई ऐसा कर था, जिसकी व्याख्या आजतक सही-सही रूप में नहीं हो सकी है। अ० स० अल्तेकर ने इसे **भूत** अर्थात् गांव में होने वाली उपज, **उपात्त** अर्थात् आयातित वस्तु और **प्रति** अर्थात् किसी ली हुई (?) वस्तु पर **याय** = कर के रूप में स्वीकार किया[३] है। इस प्रकार वे आबकारी (एक्साइज़) और **शुल्क** (पथकर) सिद्ध होते हैं। इनके अतिरिक्त घी और कोयले पर भी कर लगाये जाने के साक्ष्य प्रथम अमोघवर्ष के सिरपुर अभिलेख[४] से प्राप्त होते हैं। यादव, चोड़ और शिलाहार अभिलेख यह सूचना देते हैं कि विदेशों से आने वाले प्रत्येक जहाज पर बन्दरगाहों में एक **गद्याण** (स्वर्ण सिक्का) और समुद्री किनारों से प्रवेश करने वाले जहाजों अथवा नौकाओं पर चांदी के **धरण** नामक एक सिक्के का कर लगाया जाता था।

विष्टि वह कर था जो बेगार के रूप में राज्यकर्मचारिओं, सैनिकों अथवा सेवकों द्वारा आवश्यक होने पर राजकीय यात्राओं, सैनिक प्रयाणों अथवा शिविरों को लगाते समय ग्रामीणों के श्रम के रूप में लिया जाता था। कारीगर और शिल्पी तथा मजदूर वर्ग को, मनु की व्यवस्था के अनुसार, आवश्यकतानुसार प्रत्येक माह में एक या दो दिन बिना मजदूरी प्राप्त किये राज्य के लिए अपना श्रम देना पड़ता था।

फुटकल करों में गृहकर, नदी के तरणकर, अपुत्रकों की सम्पत्ति पर लगने वाला कर तथा **चाटभाटप्रवेशदण्ड** नामक अनियत करों की गिनती की जा सकती है। **चाटभाट** अर्थात् नियमित अथवा अनियमित सैनिकों अथवा पुलिसवालों के गांवों में प्रवेश से विरत करने हेतु उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु लगाये जाने वाले वे कर थे, जो अन्य करों की भांति दानग्रहीता ब्राह्मणों से नहीं वसूल किये जाते थे। ये कभी-कभी ही लगाये जाते थे[५]। यह कर कौटिलीय **अर्थशास्त्र** में उल्लिखित **सेनाभक्तम्** के सदृश रहा प्रतीत होता है। इनके अतिरिक्त राजाओं के यहाँ पुत्रोत्पत्ति, विवाहसंस्कार तथा

---

१. राष्ट्रकूटज़्, पृष्ठ २२३।
२. देखें उ० ना० घोलाल, हिन्दू रेवेन्यू सिस्टम्, पृ० २५६।
३. पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ २२८।
४. एइ०, जिल्द ७, पृष्ठ २०३।
५. एइ०, जिल्द ११, पृष्ठ ६।

ऐसे कुछ अन्य अवसरों पर प्रजाओं, विशेषत: धनीमानी लोगों द्वारा, दिये जाने वाली भेंटें भी राजकीय आय में सम्मिलित थीं ।

राजकीय अदालतों में लगाये जाने वाले अर्थदण्ड राजकीय राजस्व के एक प्रमुख स्रोत के रूप में ज्ञात होते हैं । दानदत्त ग्रामों में ये अर्थदण्ड दानप्राप्तकर्ता को हस्तान्तरित हो जाते थे । दान-विमुक्तियों में इनकी गिनती **सदण्डदशापराधः** के रूप में की गयी है ।

राजकीय भूमि, परती भूमि और वृक्षों से होने वाली आय भी राज्य की ही होती थी । जंगलों समेत ऐसी जमीनें प्राय: हर गांव में होती थीं, जिनपर राज्य का ही भूस्वामित्व होता था और उनका उपयोग करने वालों को प्रतिकर के रूप में राज्य को कुछ अदायगी करनी होती थी । राज्य ऐसी ही जमीनों का, अथवा अन्य प्रकार से पूर्णत: राज्य के स्वामित्व वाली भूमि का, ही दान कर सकता था और यदि किसी व्यक्तिगत स्वामित्व वाली भूमि का वह दान करना चाहता तो उसे उस भूमि को उसके मालिक से खरीदना पड़ता था । अनेक ऐसे अभिलेख ज्ञात हैं, जिनसे एक ही दान प्राप्तकर्ता को एक ही दान में भिन्न-भिन्न टुकड़ों में विभक्त अलग-अलग स्थित जमीनों के दान दिये गये थे । इससे स्पष्ट होता है कि राजा राज्य की समस्त भूमि का स्वामी नहीं होता था ।

जंगल और उनके वृक्ष राज्य के स्वामित्व में होते थे और उनके दान को **सवृक्षमालाकुलः** की संज्ञा दी गयी है । धातुओं की खानें और नमक निकालने की खानें भी राज्याधिकार में थीं और प्राय: राज्य उन्हें पट्टों पर देकर उनसे भारी आय प्राप्त करते थे । यदि कहीं कोई गड़ा हुआ अथवा अस्वामिक धन किसी को प्राप्त हो जाय, तो उसे राज्य को निवेदित कर उसे राज्य को सौंप देना उसका कर्त्तव्य था । उसे पाने के बदले राज्य की ओर से उसका कुछ अंश पाने वाले को दे दिया जाता था ।

सैन्य बल और सैनिक प्रशासन

राष्ट्रकूट राजाओं की सैनिक शक्ति का आतंक उत्तर भारत में हिमालय की तलहटी से लेकर बंगाल तक, नीचे समुद्र के पश्चिमी तटों से लेकर पूर्वी तटों के बीच सर्वत्र और सुदूर दक्षिण में पूरे तमिलनाडु तक समान रूप से व्याप्त था, जो इन सभी दिशाओं में होने वाले उनके बार-बार के धावों से पूरी तरह प्रमाणित है । श्वान्-च्वाङ्[१] ने द्वितीय पुलकेशिन् के समय के महाराष्ट्र के सैनिकों की युद्धप्रियता, सैनिक साहस और वीरता की भूरि-भूरि प्रशंसा की है । सुलेमान के शब्दों में राष्ट्रकूटों ने "सभी राजाओं को, चाहे वे अपने क्षेत्र में कितने ही बड़े क्यों न रहे हों, अपना अधीनस्थ और करद बना डाला[२] था ।" महाराष्ट्र और कर्णाट सैनिकों की युद्धप्रियता के कायल होकर ही बंगाल के शासक उन्हें

---

१. देखें, वि० पाठक, पाँचवी-सातवीं शताब्दियों का भारत, पृष्ठ १३६-१३७ ।

२. इलियट ऐण्ड डाउसन्, जिल्द १, पृष्ठ ७ ।

अपनी सेनाओं में भरती करते थे[१] । किन्तु संपूर्ण राष्ट्रकूट सेनाएँ केन्द्रीय सेनाएँ (बल) ही थीं, ऐसा नहीं कहा जा सकता । वे सारे साम्राज्य की प्रांतीय गवर्नरों की, राष्ट्रपतिओं की, भोगिकों की, माण्डलिकों की और अधीनस्थ सामन्तों की मिली-जुली सेनाएँ थीं, जो अलग-अलग स्थानों पर, अलग अलग नेतृत्व के भीतर रहते हुए आवश्यकतानुसार मोर्चों पर लगायी जाती थीं । किन्तु केन्द्रीय सत्ता के अधीन उसकी प्रत्यक्ष देखरेख और नेतृत्व के अधीन भी कुछ सेनाएँ अवश्य रही होंगी । इस केन्द्रीय बल का स्थायी निवास मान्यखेट (राजधानी) में ही होता था । इस (केन्द्रीय बल) को **स्थिरभूतकटक** कहा गया[२] है । दक्षिणी सेना का मुख्य केन्द्र वनवासी में था जहाँ रहने वाला गंगवाड़ि का गवर्नर उसका प्रधान था । उन गवर्नरों में मुख्य नाम स्तंभ और वंक्कैय्य के प्राप्त होते हैं । यही से गंगों, नोलम्बो, पल्लवों और चोड़ों पर होने वाले अभियानों का नेतृत्व होता था । उत्तरी दिशा में गुजरात और दक्षिणी अवन्ति में राष्ट्रकूट टुकड़िया वहाँ के गवर्नरों के अधीन काम करती थीं, जहाँ इन्द्र और कर्क **सुवर्णवर्ष** जैसे गवर्नर नियुक्त थे । खानदेश के गवर्नर के पास भी एक सैन्यबल रहता था ।

बड़े-बड़े सैनिक पदों और सेनापतिओं के रूप में ब्राह्मणों की नियुक्ति, उनके द्वारा युद्ध संचालन और युद्धों में उनकी मृत्यु के प्रमाण अभिलेखों से प्राप्त होते[३] हैं । इससे यह निष्कर्ष निकलता है सैनिक सेवा हेतु किसी जातीय विशेषता का कोई महत्त्व न था । अधिकांश सेना या तो मौल (पितापुत्र क्रम से चली आती हुई) अथवा सामन्तों की ही थी ।

सैनिकों अथवा सेनापतिओं को या तो नकद रूप में अथवा सेवाभूमि के रूप में उनका सेवामूल्य चुकाया जाता था । राष्ट्रकूट सेनाओं को नियमितरूप से प्रशिक्षण दिये जाने के प्रमाण अनेक अभिलेखों से प्राप्त होते हैं[४] । राजा अथवा सम्राट् स्वयं सेना का नेतृत्व करता था तथा उसके अधीन अनेक अन्य सेनापति भी हुआ करते थे । इन सेनापतिओं के विरुद थे **महासामन्त** और **समधिगतपञ्चमहाशब्द** । वे **बलाधिकृत, महादण्डनायक** और **महाप्रचण्डदण्डनायक** भी कहलाते थे और राजा स्वयं उन्हें वस्त्रों और अलंकरणों के साथ उनकी वीरता और सैन्यकुशलता के फलस्वरूप भरे राजदरबार में ये पद सौंपता था ।

सेना की आवश्यकताओं की पूर्ति, रखरखाव और सैनिक सामानों को जुटाकर

---

१. भागलपुर ताम्रफलक, इऐ०, जिल्द १५, पृष्ठ २०५; और देखें, पी० बी० देसाई, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ १४४ ।
२. एइ० जिल्द ४, पृष्ठ ६६ ।
३. राष्ट्रकूटज़्, पृष्ठ २४९-२५० ।
४. एइ० जिल्द १३, पृ० १८७ ।
५. नीतिवाक्यामृत, १२वाँ, १ ।

रखने वाला एक अलग सैन्य दफ्तर और कोठार हुआ करता था। मोर्चों पर जाते समय उनको विभिन्न प्रकार के शस्त्रों और भोज्य सामानों की पूर्ति के लिए वणिकों का एक समूह सर्वदा लगा रहता था[१]।

प्राचीन भारतीय सैन्यबलों की चर्चा करते समय कौटिल्य जैसे लेखक दुर्गों को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बताते हैं और अनेक प्रकार के दुर्गों का उल्लेख करते हैं। चूंकि सारा राष्ट्रकूट साम्राज्य पहाड़ी क्षेत्रों से परिपूर्ण था, यह स्वाभाविक रूप से मान्य होगा कि उनके पास भी पर्वत दुर्ग थे। अमोघवर्ष का कोनूर अभिलेख[२] केडाल दुर्ग को जीतने के कारण बंकेय नामक सेनापति की प्रशंसा करता है। स्वयं तृतीय गोविन्द के वनि-दिन्दोरी और राधनपुर अभिलेखों[३] में कथित है कि उसने मोरखिण्ड के पर्वत दुर्ग पर निवास करते समय उन दानपत्रों का प्रकाशन कराया था। यह मोरखिण्ड नामक स्थान महाराष्ट्र के नासिक जिले में अब भी वर्तमान है।

पुलिसबल

पुलिसबल प्रायः ग्रामसभाओं के अधीन ही हुआ करता था। शान्तिकाल में प्रशासन की सभी इकाइयों-**राष्ट्र, मण्डल, भुक्ति,** तथा ग्राम के पास अपना जो सैन्यबल हुआ करता था, वही नागरिक पुलिस का भी काम करता था। प्रत्येक ग्राम का एक रक्षक बल होता था, जो गांव में चोरी रोकता तथा अन्य अपराधों पर अंकुश रखता था। यदि वह अपने उत्तरदायित्व का पालन नहीं कर पाता तो प्रत्येक हानि का उसे स्वयं हर्जाना चुकाना पड़ता[४] था। यदि वह ऐसा न करे तो उसकी सेवाभूमि छीन ली जाती थी और उसे अर्थदण्ड या शारीरिक दण्ड भी भोगना पड़ता था[५]। धर्मशास्त्रीय और अर्थशास्त्रीय ग्रंथों की तो यहाँ तक अनुशंसा है कि यदि किसी चोरी गयी सम्पत्ति का पता न लगाया जा सके तो राजा को स्वयं उसका हर्जाना भरना चाहिए। पुलिस अफसरों को **चोरोद्धरणिक** और **दण्डपाशिक** कहा जाता था। इनके उल्लेख अनेक समकालीन अभिलेखों में प्राप्त होते हैं। ये ग्रामशासन के अधीन न होकर राष्ट्रपतिओं और विषयपतिओं के अधीन काम करते थे।

अधीनस्थ सामन्त

प्राचीन भारत में कोई भी साम्राज्य पूर्णतः एकात्मक नहीं होता था। वह स्वयं की केन्द्रीय सत्तावाले क्षेत्रों सहित, अधिसत्ता अथवा पूर्णतः अधीनता मानने वाले विजित अथवा अविजित राज्यों का ऐसा ढीला-ढाला संघ या समूह होता था जो समय-समय पर

---

१. राष्ट्रकूटज़्, पृष्ठ २५३।
२. एइ०, जिल्द ६, पृष्ठ १८।
३. इऐ०, जिल्द ११, पृष्ठ १५७।
४. राष्ट्रकूटज़्, पृष्ठ २५९-२६०।
५. अल्तेकर, विलेज कम्यूनिटीज़् इन वेस्टर्न इण्डिया, पृष्ठ ५९।

घटता-बढ़ता, शक्ति सम्पन्न अथवा छीजता रहता था। प्राय: ऐसा होता था कि विजयी शासक विजित शासकों को उनके क्षेत्रों पर, अधिसत्ता स्वीकृति और कुछ भेटों को प्राप्तकर, पुन: बैठा देते थे। ये सामन्त राज्य भी साम्राज्य के ही अंग होते थे। ८५० ई० में भारत की यात्रा करने वाला सुलेमान सौदागर कहता[१] है–"जब कोई राजा भारत में किसी पड़ोसी राज्य को दबा लेता है, तो वह विजित शासक के परिवार के किसी व्यक्ति को पुन: वहाँ स्थापित कर देता है, जो विजयी राजा के नाम पर वहाँ का शासन चलाने लगता है। वहाँ की प्रजा इसके विपरीत अन्य कुछ स्वीकार ही नहीं कर सकती"। राष्ट्रकूट सम्राट् भी इसी नीति का पालन करते थे। फलत:, उनके साम्राज्य में अनेक सामन्त वंशों का अस्तित्व था। गंगवाड़ि इसी श्रेणी का राज्य था। राष्ट्रकूटों की गुजरात शाखा भी सामन्त शाखा ही थी।

ये सामन्तगण केन्द्रीय राजदरबार में प्राय: उपस्थित हुआ करते थे। उनके पास अपनी सेनाएँ भी होती थीं, जो सम्राट् के युद्धों में आवश्यकतानुसार भाग लेती थीं। उन्हें **सामन्त, महासामन्त, महासामन्ताधिपति, समधिगतपञ्चमहाशब्द, दण्डनायक** और **महादण्डनायक** की उपाधियाँ प्राप्त होती थीं और कई तो जयघण्टा, छत्र, चंवर, नगाड़ा और हाथी की सवारी के भी हकदार होते थे।

इन सामन्त राज्यों में केन्द्रीय सत्ता का कोई दूत या प्रतिनिधि भी निवास करता था। तथापि अपने आन्तरिक प्रशासनों में सामन्तों को आत्मस्वायत्तता प्राप्त थी और वे सम्राट् के नाम और उसकी उपाधियों सहित अभिलेख प्रकाशित कर सकते थे। उन्हें स्वतंत्र रूप से भूमिदान करने का भी अधिकार प्राप्त था। बड़े सामन्तों के अपने अधीन वाले सामन्त भी हुआ करते थे। किन्तु केन्द्रीय सत्ता और सामन्तों के बीच के आपसी सम्बन्ध उनकी घटती हुई या बढ़ती हुई आपसी सैनिक और राजनीतिक शक्तियों के अनुपात में घटते-बढ़ते अथवा परिवर्तित होते रहते थे। ध्रुव, प्रथम अमोघवर्ष और तृतीय अमोघवर्ष जैसे राष्ट्रकूट शासकों को तो अपनी-अपनी राजगद्दियों को बनाये रखने में भी अपने सामन्तों के ऊपर बहुत कुछ निर्भर होना पड़ा था।

राष्ट्रकूट उपलब्धियाँ

पीछे यह देखा जा चुका है कि राष्ट्रकूट शासक महान् विजेता, वीर सैनिक, अदम्य साहस से युक्त और ऐसे कुशल प्रशासक थे, जिनके प्रतिरूप भारतीय इतिहास में कम ही राजवंश रखे जा सकते हैं। उनकी तुलना मौर्यों, गुप्तों, गुर्जर प्रतीहारों, मुगलों और विजयनगर साम्राज्य जैसी महान् सत्ताओं से की गयी है, जो कई बार तथ्याधारित होते हुए भी कुछ अतिरंजित भी प्रतीत होती है[२]। एक तो इतिहास में विभिन्न कालों, विभिन्न

१. उद्धृत, राष्ट्रकूटज़्, पृष्ठ २६२।
२. पी० बी० देसाई, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ १४४-१४५।

परिस्थितियों और विभिन्न संस्कृतियों वाली सत्ताओं की आपस में तुलना करना ही जोखिम भरा काम है और दूसरे कभी-कभी तुलनाकर्ता स्थानीय क्षेत्रभक्ति और आत्मपरक भावों के शिकार भी हो जाते हैं। कथित है कि "उनकी प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि हिमालय से लेकर रामेश्वर तक और सौराष्ट्र से लेकर कामरूप तक" फैल गयी थी। यदि किन्हीं सैनिक धावों, अवसरानुकूल विजयों और झंझावातों की तरह आये और गये सैनिक अभियानों मात्र से स्थायी प्रतिष्ठा और भौतिक अधिकार प्राप्त हो जाते हों, तब तो यह निष्कर्ष स्वीकार्य हो सकता है—अन्यथा नहीं। ध्रुव **निरूपम,** तृतीय गोविन्द, तृतीय इन्द्र और तृतीय कृष्ण ने उत्तर भारत पर कम से कम ४ बार सैनिक धावे मारे। किन्तु उनसे न तो वे कनौज की राजगद्दी पर स्थायी अधिकार कर सके और न गुर्जर प्रतीहारों, पालों, चन्देलों और कलचुरिओं के राज्यों का कोई भी भाग अपने अधिकार में मिला सके। उनके सभी अभियान और सैनिक धावे, कम से कम नर्मदा के उत्तर में, उन बड़ी आंधियों के समान ही सिद्ध हुए, जो आती हैं और चली जाती हैं। वे केवल कुछ धूल और गर्द-गुब्बार ही छोड़ जाती हैं। इन सभी अन्धड़ भरे अभियानों के बाद तुरंत उत्तर भारत का राजनीतिक आकाश निरभ्र और निस्तब्ध दिखायी देने लगा।

किन्तु तृतीय कृष्ण के दक्षिण भारतीय दबावों का परिणाम कुछ समय तक के लिए तमिल क्षेत्रों–दक्षिणी और उत्तरी आर्काट तथा चिंगलपुत्त जिलों-पर राष्ट्रकूट अधिकार के रूप में अवश्य परिणामकारी रहा। उन क्षेत्रों पर अपने प्रशासकीय अधिकार के फलस्वरूप उसने वहाँ अपने अभिलेख खुदवाये, मंदिरों और ब्राह्मणों को भूमिदान किये और अपने प्राशासनिक अधिकारिओं की नियुक्ति तथा वहाँ की ग्रामसभाओं से संपर्क कायम किये।

अ० स० अल्तेकर ने राष्ट्रकूट साम्राज्य के विस्तार का एकदम सही रूप निर्धारित करते हुए कहा[१] है—राष्ट्रकूट साम्राज्य का विस्तार "दक्षिणी गुजरात, मध्य प्रदेश के मराठीभाषी जिलों, कोंकण, सम्पूर्ण कर्नाटक और मैसूर राज्य के कुछ भागों तक था। इसकी उत्तरी राज्यसीमा खम्भात से होसंगाबाद तक व्याप्त थी। इसकी पूर्वी सीमा का निर्धारण करना कठिन है। कदाचित् यह होसंगाबाद, नागपुर, वारंगल और कुडप्पा तक फैली हुई थी। दक्षिणी सीमा का फैलाव उत्तरी पेन्नार तक था। उसके बाद वाण और अन्य राज्य थे। पुन: एक काल्पनिक रेखा के रूप में वह उत्तरी पेन्नार से चित्तलदुर्ग होते हुए पश्चिम में अरब सागर को छूती थी। तृतीय गोविन्द और तृतीय कृष्ण जैसे शासकों के समय इन सीमाओं से बाहर भी उनका प्रभावक्षेत्र विस्तृत हो गया था। परन्तु राष्ट्रकूट शासक उनमें किसी भी क्षेत्र को अपने साम्राज्य में पूरी तरह आत्मसात नहीं कर सके।" राजशेखर ने अपने ग्रंथों में उन कर्णाटबलों अर्थात् सैनिकों की वीरता, उनके युद्ध-कौशल

१. राष्ट्रकूटज़्, पृष्ठ १३५।

और समरभूमि में उनकी मोर्चेबन्दी की भूरि-भूरि प्रशंसा की है, जिन्हें उन्होंने प्रतीहार शासक महीपाल के राजदरबार में रहते हुए, संभवत: तृतीय इन्द्र के आक्रमण के समय, स्वयं अपनी आंखों से देखा होगा।

सांस्कृतिक क्रिया-कलाप[१]

राष्ट्रकूट इतिहास का काल कई दृष्टियों से भारतीय इतिहास में एक अंतरण, परिवर्तन और सुधारवाद का काल स्वीकार किया जा सकता है। दक्षिण और पश्चिमी मध्य प्रदेश, दक्षिण महाराष्ट्र, पश्चिमी आंध्र प्रदेश तथा कर्नाटक और मैसूर के जिन क्षेत्रों पर उनके राज्याधिकार का फैलाव हुआ, वही प्राचीन काल से दक्षिणापथ अर्थात् 'दक्षिण की ओर जाने वाला मार्ग' कहलाता था। वही आजकल दकन (अंग्रेजों द्वारा दिया हुआ नाम) अर्थात् दक्षिण कहलाता है। यह क्षेत्र उत्तरी और दक्षिणी भारत की साझा संस्कृति का संगमस्थल था और यह संगम राजनीति, धर्म, समाज, संस्कृति, भाषा और कला आदि प्राय: सभी क्षेत्रों में परिलक्षित होता है। राष्ट्रकूट युग में इस संगम के प्रतिबिम्ब स्पष्ट रूप से दिखायी देते हैं, जिनकी संक्षिप्त चर्चा ही यहाँ उपस्थित की जायगी। ६००-१३०० ई० के बीच के इसके समग्र और सर्वव्यापी दक्षिणी स्वरूप का उद्घाटन आगे यथास्थान कई जगह मिलेंगे।

धार्मिक क्षेत्र का सर्वप्रमुख परिवर्तन यह था कि जो वैदिक धर्म और संस्कृति तथा यज्ञसम्पादन के प्रत्यक्ष स्वरूप शुंगों, सातवाहनों, वाकाटकों, गुप्तों, कदम्बों और प्रारंभिक पल्लवों के समय व्याप्त थे, उनका दक्षिण की ओर पहुँचते-पहुँचते अन्त होने लगा और उनके स्थान पर भक्तिभावना, स्मार्त्त क्रिया-कलापों, और बड़े तथा दीर्घकालीन एवं हिंसामय यज्ञों की बजाय छोटी-छोटी विधियों के प्रचलन प्रारंभ हो गये। भूमिदान प्रमुख धार्मिक कर्त्तव्य बन गया और राजाओं-महाराजाओं सहित व्यक्तिगत और सामुदायिक संस्थाएँ भी भूमिदान, द्रव्यदान, वस्तुदान, पशुदान (गोदान) आदि के माध्यम से अधिकाधिक पुण्य की कामना करने लगीं। प्रथम अमोघवर्ष ने शक सम्वत् ७९३ में जिस झरिवल्लिका ग्राम को चार ब्राह्मणों को दान में दिया उसका उद्देश्य यह था कि वे निर्बाध होकर **चरू, वैश्वदेव, अग्निहोत्र, बलि** और **अतिथितर्पण**[२] जैसी नित्यप्रति की जाने वाली क्रियाओं में प्रवृत्त रह सकें। राष्ट्रकूट वंश का केवल अकेला शासक दन्तिदुर्ग था, जिसने उज्जैन में **हिरण्यगर्भ** नामक वैदिक यज्ञ का संपादन [३]किया। अमोघवर्ष स्वयं

---

१. राष्ट्रकूट कालीन स्थापत्य और कला हेतु देखें आगे १५वाँ अध्याय।

२. मास उत्तरायणमहापर्व्वणि बलिचरुवैश्वदेवाग्निहोत्र तिथिशं (सं) तप्पर्णात्थअद्योतकादि सर्गेण प्रतिपादित: अतोस्योचित्तया ब्रह्मदायस्थित्या----। ६९वीं पक्ति, संजान अभिलेख, एइ० जिल्द १८, पृष्ठ २५०।

३. वहीं, श्लोक ९।

जैनधर्मोन्मुख था, किन्तु उसने ब्राह्मणों को उनकी नित्यप्रति की क्रियाओं के सम्पादन के लिए भूमिदान दिया, यह उसके वंश की धार्मिक सहिष्णुता का ही परिचायक है। साधारण जनता अब वैदिक कर्मकाण्डों की जगह अहिंसा में अधिक विश्वास करने लगी थी, जो स्पष्टत: जैन और बौद्ध धर्मों के प्रभाव का द्योतक है। व्रत[१], तीर्थ, श्राद्ध, नित्यप्रति किये जाने वाले पञ्चमहायज्ञ और संध्या (पूजा) के विधानों का जोर बढ़ने लगा। हिन्दूधर्म का यज्ञप्रधान वैदिक स्वरूप अब **मनुस्मृति** और **याज्ञवल्क्य** स्मृतियों के बाद लिखी जाने वाली स्मृतियों और निबन्धग्रंथों के माध्यम से उस पौराणिक धर्म का स्वरूप लेने लगा, जो उसकी शैवमत, वैष्णवमत और शाक्तमत की तीन धाराओं के रूप में परिलक्षित हुआ। परिवर्तन स्वरूप प्राचीन स्मृतियों की अनेक टीकाओं और नयीं व्याख्याओं के साथ पुराणों और उपपुराणों के रूप में एक विशाल साहित्य का उदय हुआ, जिसे हिन्दूधर्म को नया कलेवर देने वाला कहा जा सकता है। ईश्वर की त्रिमूर्तियों-ब्रह्मा, विष्णु और शंकर (शिव अथवा रुद्र) की कल्पना के साथ अवतारवाद और मूर्तिपूजा का व्यापक जोर बढ़ा। हिन्दू धर्म में भक्ति और भगवान के गुणगान हेतु एक नया संप्रदाय ही विकसित हो गया। इसका प्रारंभ सुदूर दक्षिण में उन **नायनार** (शेवसंतों) और **आल(ड़)वार** (वैष्णव संतों) ने किया, जिन्होंने अपनी कविताओं और सवाद्य गीतों सहित घूम-घूम कर भक्तिभावना का प्रचार किया। **भागवतपुराण** जैसे ग्रंथ भक्ति के प्रमुख स्रोत और माध्यम बन गये।

राष्ट्रकूट काल आते-आते उत्तर भारत में बौद्धधर्म की अवनति होने लगी थी, जो हर्ष के समय (सातवीं सदी के प्रथमार्घ) चीन से धर्मपुस्तकों और ज्ञान की खोज करने वाले धर्मयात्री श्वान्-च्वाङ्ग के विवरणों से स्पष्ट होती है[२]। बौद्ध धर्म की इस अवनति के पीछे हिन्दू धर्म का वह पुनरुत्थानवादी और सुधारवादी आन्दोलन भी एक बड़ा कारण था, जिसके अग्रदूत थे कुमारिलभट्ट और शंकराचार्य। बौद्धधर्म दक्षिण भारत में बहुत हद तक अपना अस्तित्व बनाये रखने में छिटफुट रूप से सफल तो रहा, किन्तु हिन्दुओं और जैनों की तुलना में उसके अनुयायियों की संख्या अब बहुत ही कम[३] थी। उसके विपरीत, गुजरात, महाराष्ट्र, कर्नाटक और मैसूर में जैनों की प्रभूत उपस्थिति थी, जिनके अनुयायी मंदिरों (बसति) मठों, संघों और राजों-महाराजों, प्रशासकों, सेनापतिओं, कविओं और लेखकों की बहुत बड़ी संख्याओं के प्रमाण प्राप्त होते हैं। राष्ट्रकूट दरबार में जिनसेनसूरि, गुणभद्र, पम्प, नागवर्मा, पोन्न और रन्न नामक कन्नड़ लेखक और कवि भिन्न-भिन्न समयों

---

१. दक्षिण में शासन करने वाले यादव वंश के मंत्री के पद पर विद्यमान हेपाद्रि ने अपने चतुवर्गचिन्तामणि नामक ग्रंथ के चार खण्डों को व्रतखण्ड दानखण्ड, प्रायश्चित्खण्ड और तीर्थखण्ड में बांटा है।

२. देखें, टामस् बाटर्स्, जिल्द १, पृष्ठ ३६६, ३७७, जिल्द २, पृष्ठ ११५ तथा १२५-६ आदि।

३. वहीं, जिल्द २, पृष्ठ २३९।

में रहे और इनमें से कइओं ने **कविचक्रवर्ती** की उपाधि प्राप्त की । कम से कम दो राष्ट्रकूट शासक-प्रथम अमोघवर्ष और चतुर्थ गोविन्द, तो स्पष्टरूप से जैन मतालम्बी स्वीकार किये गये हैं । किन्तु उनकी सर्वधर्मसमभावना का एक उदाहरण यह है कि जहाँ अमोघवर्ष ने ब्राह्मणों को ब्राह्मण क्रियाओं की पूर्ति हेतु गांवों का दान किया (संजान अभिलेख) वहीं उसके राज्य पर जब कोई महामारी जैसी विपत्ति आयी तो उसने उस विपत्ति से प्रजा के निवारण हेतु अपनी अंगुलि ही काटकर महालक्ष्मी (दुर्गा) को चढ़ा दी (वहीं) । गुजरात शाखा का दन्तिवर्मन् राष्ट्रकूट स्वयं तो एक कट्टर हिन्दू था, किन्तु उसने एक बौद्ध विहार को दान दिया[१] । इसी प्रकार कर्क **सुवर्णवर्ष** ने नवसारि के एक जैन विहार को भूमिदान [२]किया । यद्यपि प्राय: सभी के सभी राष्ट्रकूट शासक वैष्णव थे तथा उन्होंने **श्री वल्लभ, पृथिवीवल्लभ, वल्लभेन्द्र, श्रीनारायण, त्रिभुवननारायण** आदि उपाधियाँ धारण कर रखीं थीं और उनकी राजमुद्रा गरुण से अंकित थी तो भी वे अपने अभिलेखों को कई बार विष्णु और शिव दोनों के प्रति भक्ति के प्रदर्शन के साथ प्रारंभ करते हैं ।

राष्ट्रकूट शासकों की इस धार्मिक सहिष्णुता से लाभ उठाने वाले केवल, हिन्दू, जैन और बौद्ध संप्रदाय ही नहीं थे, बल्कि कोंकण, कर्नाटक और महाराष्ट्र-गुजरात में बस जाने वाले वे अरब (मुसलमान) व्यापारी और नाविक भी थे, जिन्होंने वहाँ अपनी बस्तियाँ बसाकर रहना प्रारंभ कर दिया था । मुसलमान यात्री बताते हैं कि उन्होंने राष्ट्रकूट राज्य में अपनी जामा मस्जिदें बना ली[३] थीं, उसमें निर्बाधरूप से वे नमाज पढ़ते थे तथा उन्हें अपने धर्म के पालन में कोई बाधा नहीं थी । इब्न-इस्तख्री और इब्न-हौकल [४]कहते हैं कि "बलहरा (वल्लभराय) के नगरों में मुसलमान हैं और उनपर और कोई नहीं बल्कि मुसलमान ही शासन करते हैं । उन नगरों में जामा मस्जिदें हैं, जहाँ मुसलमान नमाज के लिए इकट्ठे होते हैं" ।

चालुक्य-राष्ट्रकूट काल कर्नाटक में मंदिरों के निर्माण का काल था । इन मंदिरों की स्थापत्यकला, मूर्तिकला और चित्रकला का विस्तृत और कालक्रमिक ऐतिहासिक विवेचन आगे (स्थापत्य और कला) वाले अध्याय में प्राप्त होगा । यहाँ उनकी कुछ विशेष बातों मात्र का उल्लेख होगा । इलौरा में प्रथम कृष्ण ने जिस कैलाशनाथ के शंकर मन्दिर का पूरे पहाड़ की ऊपरी पहाड़ी को काटकर निर्माण कराया, वह न केवल भारतीय मंदिरों की एक नयी शैली का प्रारंभ दिखाता है, अपितु कला किस ऊचाई तक जा सकती है, उसका भी वह एक अनुपम नमूना है । यदि सब कुछ नष्ट भी हो जाय और वह अकेला

---

१. एइ०, जिल्द ६, पृष्ठ २९२ ।
२. एइ० जिल्द २१, ८२१ ई० का सूरत का ताम्रपत्र ।
३. इलियट ऐण्ड डाउसन्, जिल्द १, पृष्ठ २७ और ३८ ।
४. वहीं, पृष्ठ ३४ ।

मंदिर बचा रहे तो भी राष्ट्रकूटों का नाम अमर रहेगा। विंसेण्ट स्मिथ ने इसे कला जगत के इतिहास में एक आश्चर्यजनक और अतुलनीय कृति करार दिया है। इस मंदिर पर जो लेख खुदा हुआ है, उसके अनुसार देवतागण भी आपस में कानाफूँसी करने लगे कि यह तो "मनुष्य की कोई कृति न होकर स्वयं ब्रह्मा की कृति है"—अन्यथा "यह कैसे इतनी पूर्ण और चमत्कारपूर्ण हो सकती[१] थी।" यहाँ तक कि जब उसके निर्माता वास्तुकार ने ही उसकी सम्पूर्णता को निहारा तो वह भी दंग रह गया और कह उठा कि अब दुबारा वह वैसा कुछ नहीं बना सकता। प्रसन्नता के मारे उसके हृदय ने ही जवाब दे दिया[२]।

मंदिरों में पूजा और कर्मकाण्ड में केवल ब्राह्मण लोग ही नियुक्त किये जाते थे। लेकिन अ० स० अल्तेकर ने राष्ट्रकूटों के समय कर्नाटक के अनेक मंदिरों में अब्राह्मणों द्वारा भी पूजा किये-कराये जाने के प्रमाण उपस्थित किये हैं। इन अब्राह्मणों को गुरव कहा जाता था। ये गुरव आज भी वहाँ के कई मंदिरों में पूजा करते-कराते पाये जाते हैं। उनके मत में ये गुरव लोग किसी अनार्य जाति के प्रतिनिधि थे और उनके मंदिर भी अनार्य देवताओं के ही मंदिर थे[३]। मंदिरों में इस समय तक, पूर्व में अज्ञात, देवदासी प्रथा का भी उदय हो चुका था, जो प्रथमतः तो देवपूजा के समय देवस्तुतिगान और मंदिर की गर्भगृहवाली सफाई व्यवस्था हेतु पनपी थी, किन्तु बाद में अनेक कुरीतियों का भी शिकार होती गयी।

राष्ट्रकूटों के समय से पूर्व कदम्बों, पल्लवों और चालुक्यों के समय ही कन्नड़ भाषा में अभिलेखों के लिखे जाने की परम्परा प्रारंभ हो चुकी थी। किन्तु राष्ट्रकूटों के समय इसे खूब बढ़ावा मिला और उस समय कन्नड़ साहित्य का प्रभावपूर्ण विकास हुआ। स्वयं अमोघवर्ष (प्रथम) **नृपतुंग** कन्नड़ का महान् विद्वान् था और कहा यह जाता है कि उसी ने कन्नड़ का प्रथम काव्यशास्त्रीय ग्रंथ [४]**कविराजमार्ग्ग** लिखा। उसके पूर्व के कन्नड़ कवि थे सामन्तभद्र, जो बहुत ही बड़े शास्त्रार्थी थे। दण्डिन् संस्कृत और कन्नड़ साहित्य के लेखन में समानरूप से दक्ष थे। जहाँ उन्होंने **दशकुमारचरितम्** (संस्कृत) की रचना की, वहीं कन्नड़ में **काव्यादर्श**[५] लिखा। शिवकोटि विरचित **वड्डाराधेन** (९०० ई०) प्राचीन कन्नड़ साहित्य की प्राचीनतम गद्यात्मक कृति[६] है। आगे चलकर कन्नड़ साहित्य के तीन

---

१. रा० गो० भण्डारकर, दि अर्ली हिस्ट्री ऑफ् दि डेकन, सुशील प्रकाशन, १९५७ ई०, पृष्ठ ७२।
२. वहीं।
३. राष्ट्रकूटज़, पृष्ठ २९३।
४. दूसरा पक्ष यह मानता है कि वास्तव में इस ग्रंथ के रचनाकार शिवकोट्याचार्य थे।
५. इस काव्यादर्श को कविराजमार्ग्ग का आदर्श और प्रेरक माना जाता है।
६. दक्षिण भारत का इतिहास (हिन्दी अनुवाद) पृष्ठ ४०२।

कवियों के नाम बार-बार लिये जाते हैं। इन्हें **त्रिरत्न** की संज्ञा दी गयी है। प्रथम थे **पम्मपुराण** अथवा **विक्रमार्जुनविजय** के रचयिता पम्प जो जैन धर्मानुयायी थे। दूसरे कवि थे पोन्न और तीसरे थे रन्न। वे दोनों भी जैन थे। इन्हीं तीनों को कन्नड़ साहित्य का **त्रिरत्न** कहा जाता है। पोन्न तो संस्कृत और कन्नड़ दोनों में ही सहजरूप से रचना करते थे। वे तृतीय कृष्ण के दरबारी कवि थे और इन्हें **उभयकविचक्रवर्ती** की उपाधि मिली थी। रन्न (दसवीं सदी) भी **कविचक्रवर्ती** कहलाते थे। रन्न ने **आदिपुराण** की रचना की जो गद्य और पद्यमय चम्पूकाव्य है।

●

अध्याय ३-४ का परिशिष्ट

प्रथम अमोघवर्ष का संजान ताम्रफलकाभिलेख

शक सम्वत् ७९३ = ८७१ ई०

ठाणे जिले के संजान नामक गांव से प्राप्त इस अभिलेख को प्रोफेसर दे० रा० भण्डारकर ने **एपिग्राफिया इण्डिका** के १८वें जिल्द (१९२५-२६ ई०) में पृष्ठ संख्याओं २३५-२५७ पर अपनी टिप्पणियों, संस्कृत मूलपाठ, और उसके अंग्रेजी अनुवाद के साथ सर्वप्रथम प्रकाशित किया। अभिलेख तीन ताम्रफलकों पर खुदा हुआ है, जो बीच में एक अंगूठी जैसी जंजीर (गोलतार) को पहनाने हेतु तीन (प्रत्येक में एक-एक) गोल छिद्रों से युक्त है। उस जंजीर के ऊपर एक मुहर (राजचिह्न) बनी हुई है, जो लगभग १.७/८'' (वर्ग इञ्च) की है और उसपर गरुड़ का रूप अंकित है। उस मुहर के निचले भाग पर **स्वस्तिक** का चिह्न है और बीच में शासक **श्रीमद् अमोघवर्षदेवस्य** का नाम है। लेख की भाषा संस्कृत है तथा ऊपर के **स्वस्ति** शब्द को छोड़कर नीचे ५७ वें की संख्या तक लेख श्लोकबद्ध है।

भण्डारकर के अनुसार, इस अभिलेख के अनेक श्लोक ठीक वैसे के वैसे ही अमोघवर्ष के कोनूर अभिलेख में भी प्राप्त होते हैं, जिन्हें कीलहार्न ने (एइ०, जिल्द ६, पृष्ठ २९ और आगे) छापा था। किन्तु उपर्युक्त दोनों विद्वानों का मत है कि कोनूर अभिलेख के लेखकों ने संजान अभिलेख की सही-सही नकल वाली प्रतिलिपि नहीं तैयार की थी। फलत:, उसमें राष्ट्रकूट वंशावली में काल्पनिकताएँ घुस गयी हैं।

अभिलेख का प्रमुख उद्देश्य **परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर श्रीवल्लभनरेन्द्रदेव जगत्तुंग** द्वारा झरिवल्लिका नामक ग्राम के चार ब्राह्मणों को दान में दिये जाने और उसकी विधिवत् सूचना को राज्याधिकारिओं को दिये जाने तथा दान संबंधी विमुक्तियों के उल्लेखों का अंकन कराना है। अभिलेख अमोघवर्ष की राजधानी मान्यखेट से प्रकाशित किया गया। दानप्राप्तकर्ता थे चार ब्राह्मण और उन्हें **ब्रह्मदाय (ब्रह्मदेय)** दिये जाने का उद्देश्य यह था कि वे निर्बाध होकर, **बलि, चरु, वैश्वदेव, अग्निहोत्र** और **अतिथितर्पण** नामक नित्यप्रति की याज्ञिक क्रियाएँ चलाते रहें। दानदत्त झरिवल्लिका नामक ग्राम आधुनिक संजान ग्राम के पास के २४ ग्रामों में से एक था। उसकी सीमाओं आदि के पूरे विवरण अभिलेख में अंकित हैं। साथ ही, उन चारों दानप्राप्तकर्ता ब्राह्मणों के नाम, उनके पितृनाम, उनके गोत्रों और प्रवरों के उल्लेख सहित, अभिलेख में अंकित हैं।

अभिलेख का मूल संस्कृत पाठ और उसके हिन्दी अनुवाद आगे क्रमशः दिये जा रहे हैं। हिन्दी अनुवाद का आधार भण्डारकर महोदय का अंग्रेजी वाला अनुवाद ही है। किन्तु अध्येताओं के लिए अर्थ को पूरी तरह स्पष्ट करने हेतु कहीं-कहीं कोष्ठकों में या तो मूलपदों को अथवा मूलपदों के हिन्दी रूपान्तर को भी दिया गया है। राष्ट्रकूट वंश के जिन राजाओं के नाम अथवा उनके विरुद अभिलेख में प्राप्त हैं, वे अनुवाद में सभी के सभी अधोपंक्तित हैं। यज्ञों अथवा दैनिक व्रतों के नाम भी अध:पंक्तित हैं। अभिलेख के वर्ण्य विषयों में मुख्य हैं–दन्तिदुर्ग की विजयों और उसके द्वारा **हिरण्यगर्भ** यज्ञ किये जाने के उल्लेख; ध्रुव **धारावर्ष** की विजयों के वर्णन; (तृतीय) गोविन्द की उत्तर भारतीय तथा दक्षिण भारतीय विजयों के उल्लेख; पुत्ररूप में उसे **सर्व्व अमोघवर्ष** की प्राप्ति; अमोघवर्ष की राजनीतिक कठिनाइयाँ और उसके समय के होने वाले विद्रोह; उसकी दानवीरता; जीमूतवाहन के पुत्र, शिवि (उशीनर), दधीचि तथा गुप्तवंशी राजा (द्वितीय चन्द्रगुप्त) द्वारा किये जाने वाले दानों की तुलना में अमोघवर्ष के दानों की महत्ता का वर्णन; अमोघवर्ष की प्रशस्तियाँ और अन्ततः उसके द्वारा झरिवल्लिका ग्राम के दान सम्बन्धी विवरण। अन्य सभी दानपरक अभिलेखों की ही तरह भूमिदान के महत्त्व, उससे प्राप्त होने वाले पुण्यों, भूमिदान को बाधित करने वालों को मिलने वाले पापों के विवरण यहाँ भी उपस्थित हैं।

इस अभिलेख से यह विशेषरूप से ज्ञात होता है कि दान दिये जाने वाले ग्रामों की चतुर्दिक सीमाएँ, दानग्रहीताओं के पूरे पते और उनके परिचय, दान के उद्देश्य, दान सम्बन्धी विमुक्तियों (सभी प्रकार की छूटों) और करों से मुक्ति आदि के विवरण ऐसे सभी अभिलेखों में आवश्यक होते थे। तत्सम्बन्ध में उन सभी राज्याधिकारिओं को विधिवत् सूचनाएँ दी जाती थीं, जो सम्बद्ध दानदत्त भूमि से पूर्वतः शासन क्षेत्र में सम्बन्धित थे ताकि उनका पूरी तरह अंकन कर लिया जाय और अधिकारिओं के कर्त्तव्याकर्त्तव्य निश्चित किये जाँय। इस अभिलेख में जो भी दान की विमुक्तियाँ अथवा राजकीय करों से परिहार के उल्लेख हैं, उनके सबके नाम यहाँ हिन्दी रूपान्तर में अध:पंक्तित हैं। ठीक उसी तरह सभी सम्बद्ध राजकीय अधिकारिओं के पदनाम तथा अभिलेख के लेखक एवं **दूतक** के नाम भी अध:पंक्तित हैं। प्रशासकीय इकाइयों के नाम भी अध:पंक्तित हैं।

जैसा कि प्रारंभ में ही कहा जा चुका है, अभिलेख की भाषा संस्कृत है। किन्तु इसकी वर्तनी पर दाक्षिणात्य प्रभाव स्पष्टतः दिखायी देता है। लेख को फलकों पर टंकित करने वाले व्यक्ति ने पाणिनीय व्याकरण के विपरीत भी अनेक स्वरों अथवा व्यञ्जनों को या तो द्विगुणित कर दिया अथवा बदल दिया है–यथा र, ग, म, क आदि। ब के लिए व का प्रयोग सर्वदा ही हुआ है, न के लिए म का भी प्रयोग हुआ है। इन अशुद्धियों को प्रोफेसर भण्डारकर ने अभिलेख के संस्कृत पाठ को देते हुए नीचे की अपनी पादटिप्पणियों में निर्दिष्ट किया है, जिन्हें देखा जा सकता है। अभिलेख काव्यात्मक तथा आलंकारिक

है और विभिन्न प्रकार के छन्दों में लिखित है । अत: इसे एक साहित्यिक रचना के रूप में स्वीकार किया जा सकता है । जिन छन्दों का प्राय: प्रयोग हुआ है, वे हैं, अनुष्टुप (व), स्रग्धरा, वसन्ततिलका, वंशस्थविल, मालिनी, पुष्पिताग्रा और शार्दूलविक्रीड़ित । अलंकारों में उपमा, श्लेष और उत्प्रेक्षा मुख्य हैं ।

अभिलेख में मूल टंकण सम्बन्धी जो अशुद्धियाँ रह गयी हैं, उनके शुद्ध रूपों के लिए इसके मूलपाठों की नीचे की टिप्पणियों को देखना आवश्यक है ।

TEXT.[1]

First Plage.

१. ओं[2] [।।*] स वोव्याद्वेधसा धाम यन्नाभिकमलं कृतं । हरश्च यस्य कान्तेन्दुकलया कमलंक्वतं[3] ।। [१*] अनन्तभोगस्थितिरत्र पातु व: प्रतापशीलप्रभवोदयाचल: [।*]

२. [4]शुराट्रकूटोच्छ्रितवंशपूर्व्वज: स वीरनारायण एव यो विभु:[5] । [।२*] तदीयवीर्य्यायतयादवान्वये क्रमेण वादुर्वाविव रत्नसंचय: [।*] वभूव[6] गोविन्दमहीप्रतिर्भुव:[7]

३. प्रसाधनो[8] पृच्छकराजन:[9] ।। [३*] वभार[10] य: कौस्तुभरत्नविस्फुरहभस्तिविस्तीर्ण्णमुरस्थलं तत: [।*] प्रभातभानुप्रभवप्रभाततं हिरण्मयं मेरुरिवाभिस्तटं ।। [४*] मनांसि

४. यत्रासमयानि[11] सन्ततं वचांसि यत्कीर्त्तिविकीर्त्तनान्यपि । शिरांसि यत्पादनतानि वैरिणां यशांसि यत्तेजसि नेशुरन्यत: ।। [५*] धनुस्मसुरत्सांरितभूभृता मही प्रसारिता ।

५. येन पृथुप्रभाविना । महौजसा वैरितमो निराकृतं प्रतापशीलेन स कर्कराट् प्रभु: ।। [६*] इन्द्रराजस्ततोगृह्णात्[12] यश्चालुक्यनृपात्मजां [।*] राक्षसेन विवाहेन रणे खेटकमण्डपे[13] ।। [७*] ततोभवद्दन्तिघटाभिमर्द्दनो हिमाचलादास्थिसेतुसीमत: [।*]

६. टकमण्डपे ...

रव्वलीकृतोद्धत्तमहीपमण्डल: कुलाग्रणीर्यो भुवि दन्तिदुर्ग्गराट्[14] ।। [८*] हिरण्यगर्भं राजन्यैरुज्जयन्यां[15] यदासितं [।*] प्रतिहारीकृतं येन गुर्जरेशादिराजकम्[16] ।।

७. [९*] स्वयंवरीभूतरणांगणे ततस्त्र निर्व्यपेक्षं शुभतुंगवल्लभ: [।*] चकर्ष चालुक्यकुलश्री-

1. From the original plates.
2. Expressed by a symbol.
3. Metre : Anushtubh.
4. Read सुराष्ट्र,
5. Metre of this and the following four verses : Vaṁśasthavila.
6. Read बभूव,
7. Read महीपतिर्भुव:,
8. Read प्रसाधन:,
9. Read राजनन्दन:,
10. Read बभार,
11. Read यत्तास
12. Read गृहाद्यथा,
13. Metre : Anushtubh.
14. Metre : Vaṁśasthavila.
15. Read यिन्यां
16. Metre : Anushṭubh,

८. यं[१] [२]वलाद्रिलोलपालिध्वजमालभारिणां[३] ॥ [१०*] [४]अयोध्यसिंघासनचाम-
रोर्जितस्मितातपत्रोप्रतिपक्षराज्यभाक् [।*] अकालवर्षो हतभूपराजको वभूव[५] राज-[६]

९. रिषिरशेषपुण्यकृत् ॥ [११*] ततः प्रभूतवर्षोभूदारावर्षरस्ततश्शरैद्वारावर्षायितं[७]
येन संग्रामभुवि भूभुजा[८] ॥ [१२*] युद्धेषु यस्य करवालनिक्वत्त-
शत्तुमूर्धाङ्कवोष्णरुचिरासवपान-

१०. मतः[९] । आकण्ठपूर्णजठरः परितृप्तमृत्युरुद्गारयन्निव स काहलधीरनादः[१०] ॥ [१३*]
गङ्गायमुनयोर्मध्ये राज्ञो गौडस्य नश्यतः [।*] लक्ष्मीलीलारविन्दानि श्वेतच्छत्राणि
यो हरेत्[११] ॥ [१४*]

११. व्याप्ता विश्वम्भरान्तं शशिकरधवला यस्य कीर्त्ति[१२] समन्तात् प्रेखच्छंकालिमुक्ताफलश-
तशफरानेकफेनोर्म्मिरुपैः[१३] । पारावारान्यतीरोत्तरणमविरलं कुर्व्वतीव प्रयाता स्व-

१२. र्ग्ग[१४] गोर्व्वाणहारद्विरदमुरसरि[१५]ड्डींत्तराष्ट्रच्छलेन[१६] ॥ [१५*] प्राप्तो राज्याभिषेक
निरुपमतनयो य[१७] स्वसामन्तवर्ग्गास्वेषां[१८] स्वेषां पदेषु प्रकटमनुनयै[१९] ख्यापयिष्यानश-

१३. षाम्[२०] । पित्रा यूय[२१] समाना इति गिरमरणीन्मन्त्रिवर्ग्ग[२२] त्रिवर्ग्गोद्युक्तः क्वत्येषु दक्षः
क्षितिमवति यदोन्मीक्षयन्वडगंगं[२३] ॥ [१६*] दुष्टांस्तावत्स्वभृत्यां[२४] झटिति विघ-

१४. टिता[२५] स्थापितान्येशपाशां[२६] युद्धे युद्धा स वध्वा[२७] विषमतरमहोक्षानिवीयान्समग्रां[२८]
[।*] मुक्ता सार्द्रान्तरात्मा विक्वतिपरिणतौ वाडवाग्निं समुद्रः क्षोभो नाभूद्विपक्षान-

१५. पि पुनरिव तां[२९] भूभृतो यो वभार[३०] ॥ [१७*] उपगतविकृतिः क्वतघ्नगंगोयदुदित-
दण्डपलायनोनुवन्धाध्यपगतपदशृंखलः[३१] खलो यस्सनिगलवन्धगलः[३२]

---

1. Read श्रियं,
2. Read बला, and भारिणीं
3. Metre of this and of the following verse : Vaṁśasthavila.
4. Read सिंहासन.
5. Read बभूव,
6 Read राजर्षि,
7. Read श्शरैः । धारा,
8. Metre : Anushṭubh.
9. Read पानमत्तः (The original reads मत्तः-Ed.)
10. Metere : Vsanatatilaka.
11. Read हरत्; Metre : Anushṭubh.
12. Read कीर्त्तिः
13. Read च्छृखालि and रूपैः
14. Read स्वर्ग्गं,
15. Read सरिज्जार्त.
16. Metre of this and of the following two verses : Sragdharā.
17. Read यः
18. Read वर्ग्गान्स्वेषां,
19. Read नयैः,
20. Read स्थापयिष्यन्त्रशेषान्
21. Read यूयं
22. Read वर्ग्गे,
23. Read श्वज्ज
24. Read स्वभृत्याञ्ज
25. Read विघटितान्
26. Read पाशान्
27. Read बध्वा
28. Read letter र् is engraved below the line. Read न्समग्रान्.
29. Read तान्
30. Read बभार.
31. Read बन्धात् [!] व्यपगत, [The original correctly reads अपगत.-Ed.]
32. Read बन्ध.

१६. क्वतस्स येन[१] ॥ [१८*] श्रीमान्धाता विधातु[२] प्रतिनिधिरपरो [३]राष्ट्रकूटान्वयश्री-
सारान्सारामरम्यप्रविततनगरग्रामरामाभिरामामुर्व्वीमुव्वश्वराणं[४] मकु-
१७. टमकरिकाश्लिष्टपादारविन्दः पारावारोरुवारिस्फुटरवरशनां पातुमुम्युद्यतो[५] यः[६] ॥
[१९*] नक्जलधरवीरध्वानगन्भीरभेरीरववधिरितविश्वाशान्तरा-[७]
१८. लो रिपुणां[८] [।*] पटुरवपदढक्काकाहलोत्तालतूर्यत्रिभुवनधवलस्योद्योगकालस्य कालः[९]
॥ [२०*] भूभृन्मूर्द्धि[१०]सुनीतपादविशरः[११] पुण्योदयस्तेजसा क्रान्तशे-
१९. षदिगन्तर प्रतिपदं प्राप्तप्रतापोन्नतिः [।*] भूयो [१२]योप्यनुरन्तामण्डलयुतः (:)-
पद्माकरानन्दितो मार्त्तण्ड[१३] स्वयमुतरायणगत[१४] स्तेजोनिधिर्दुस्सहः[१५] ॥[२१*] स
नाग-
२०. भटचन्द[१६]गुप्तनृपयोर्यशौर्यं[१७] रणेस्वहार्यहार्य[१८]धैर्यविकलानथोन्मीलयत्[१९] [।*]
यशोर्ज्जनपरो नृपान्खभुवि शालिसस्यानिव (।) पुन पुनरतिष्टि-[२०]
२१. पत्स्वपद एव चान्यानपि[२१] । [२२*] हिमवत्पर्व्वतनिर्झराम्वु[२२] तुरगैः वीतण्च[२३]
गङ्गजै-[२४]

Second Plate ; First Side.

२२. र्ङ्गनितं मज्जनतूर्यकैर्द्दिगुणितं भूयोपि तत्कन्दरे [।*] स्वमेवोपनतौ च यस्य महतस्तौ
धर्म्मचक्रायुधौ (।) हिमवान्कीर्त्तिमरूपतामुपगतस्त-
२३. त्कीर्त्तिनारायणः[२५] ॥ [२३*] तत[२६] प्रतिनिवृत्य [२७]तत्प्रकृतभृत्यकर्म्मेत्ययः[२८] प्रतापमिव
नर्म्मदातटमनुप्रयात पुनः [।*] सकोशलकलिंगवेंगिडहलौड्रक [।][२९]

---

1. Metre : Pushpitāgrā.
2. Read विधातुः,
3. Read सारां सारा
4. Read भिरामाम् । उर्व्वी
5. Read पातुमल्यु.
6. Metre : Sragdharā.
7. Read बधिरित.
8. Read रिपूणां,
7. Metre : Mālinī.
10. Read र्मूध्नि
11. Read विसरः,
12. Read प्यनुरक्त.
13. Read मार्त्तण्डः.
14. Read मुत्तरा.
15. Metre : Śārdūlavikrīḍita.
16. Read चन्द [The original has चन्द. -Ed.]
17. Read र्यशौर्य.
13. Read रणेष्वहार्य.
19. Read धैर्यविकलानथोन्मूलयत्.
20. Read रतिष्ठि. [The original reads ष्टि carrectly Ed.]
21. Metre : Pṛithvī.
22. Read निर्ज्झराम्बु. 23. Read पीतञ्च.
24. Read गाङ्गं गजै.
25. Metre : Mattebhavikrīḍita.
26. Read ततः
27. Read प्रकृति.
28. Read त्ययं.
29. Read वंग. (The Āndhra kingdom of Vegi (or Veṁgi) might be meant here. See V. 33 below.-Ed.)

२४. न्मालवां[1] विलभ्य निजसेवकै[2] [3]स्वयमवूभुजद्विक्रम:[4] ।।[२४*] प्रत्यावृत्त: प्रातिराज्यं विधेयं कृत्वा रेवामुत्तरं[5] विन्ध्यपादे [।*] कुर्व्वन्धकीत्तनै: पुण्य [वृ] न्दैरध्यष्टात्तान्सो[6]

२५. चितां [6]राजधानी[7] ।।[२५*] मण्डलेशमहराजसर्व्वस्व[8] यदभुङ्भुव: । [9]महाराज-सर्व्वस्वामी भावी तस्य सुतोजनि[10] ।। [२६*] यज्जन्मकाले दैवज्ञैरादिष्ठ (ष्टं) विषहो भुवं [।*] भोक्तोति हि-

२६. सबत्सतुपर्यान्ताम्वुधिमेखलां [।।२७*] योद्धारोमोघवर्षेण [11]वङ्वा ये व युधिद्विष: [।*] मुक्ता ये विक्वतास्तेषां भस्मतश्शृंखलोद्वृति: ।। [२८*] तत-प्रभूतवर्षस्मन्स्वसंपूर्ण्णम-

२७. नोरथ: [।*] जगतुंगस्म[12] मेरुर्व्वा भूभृतामुपरि स्थित: ।। [२९*] उद [ति] ष्ठदवष्टम्भं भंक्तुं द्रविलभूभृतां [।*] स जागरणचिन्तास्थमन्त्रणभ्रान्तचेतसां ।। [३०*] प्रस्थानेन हि के-

२८. वलं प्रचलति स्वच्छादिताच्छादिता धात्री विक्रमसाधनैस्सकलुषं विद्देषिणांद्वेषिणां [।*] लक्ष्मीरप्युरसो लतेव पवनप्रायासिता यासिता धूलिनैव दिशो-

२९. गमद्रिपुयशम्पन्तानकं तानकं[13] [३१*] त्रस्यत्केरलपाण्डायचोलिकनृपस्सपल्लवं पल्लवं प्रन्त्रानिं गमयन्कलिंगमगधप्रायासको यासक: [।*] गर्ज्जद्गुर्ज्जरमौशौ-[14]

३०. शौर्यविलयो [15]लंकास्सयन्त्रुद्योगस्तदनिन्ध्यशासनमतस्मद्दिक्रमो विक्रम: ।। [३२*] निक्वतिविक्वतगंगाश्शृखलोवद्दनिष्ठा[16] मृतिमयुरनुकूला [16]मण्डलेशा स्वभृ-

३१. त्या [।*] [18]विरजसमहितेनुर्यस्य वाह्यालिभूमिं [19]परिवृति विष्ट्या वेंगिनाथाद्योपि[20] [३३*] राजामात्यवराविव स्वहितकार्यालस्यनष्टौ हठाछंडेनैव नि-

---

1. Read न्मालवान्.
2. Read सेवकै:
3. Read मबूभुजहि
4. Metre : Pṛithvī.
5. Read मुत्तरां,
6. Read रध्यष्ठात्तां स्वो.
7. Read राजधानीं.
8. Metre : Śālinī.
9. Read मण्डलेशो महाराज: शर्व्व: स्वो.
10. Read महाराजशर्व्व:.
11. Metre of this and of the following four verses : Anushṭubh.
12. Read त्सेतुपर्यन्ताम्बुधि.
13. Read वङ्गा ये च.
14. Read जगत्तुंग.
15. Metre of this and of the following verse : Śārdūlavikrīḍta.
16. Read मौलि.
17. Read लंकारयन्कारयन्नुद्योगै.
18. Read म्पंखलावज.
19. Read मण्डलेशा: स्वभृत्या.
20. Read मभितेनु.
21. Read परिद्वतिमनु.

३२. यम्य मूकवधिरावानीय[1] हेलापुरे [।*] [2]लंकातच्छिल तत्प्रभुप्रतिक्वती का (ञ्ची)-[च्वी] मुपेतौ[3] ततः कीर्त्तिस्तन्भनिभौ[4] शिवायतनके येनेह [5]संस्थापितौ[6] ।। [३४*] या-

३३. स्या[7] कीर्त्तिस्तृलोक्यान्निजभुवनभरं[8] भर्त्तुमासीत्समर्थः पुत्रश्चास्प्राकमेकस्सफलमिति कृतं ज्जन्म[9] धर्म्मैरनेकैः [।*] किं कर्त्तु[10] स्थेयमस्मिन्निति[11] विम-

३४. लयश पुण्यशोपानमार्ग्गं[12] स्वर्ग्गप्रोत्तुंगसौध[13] प्रति रदनुपमः[14] कीर्त्तिम्रे(मे) वानुयात्तः (तः)[15] ।। [३५*] वन्धूनां[16] वन्धुराणा[17] मुचितनिजकुले पूर्व्वजानां प्रजानां[18] जाता-

३५. नां वल्लभानां भुवनभरितमत्कीर्त्तिमूर्त्तिस्थितां[19] [।*] त्रातुं कीर्त्ति[20] सलोकां कलिकलुषमथो हंतुमंतो रिपूणां श्रीमान्सि[21]हासनस्थो [22]वुधनुतचरितोमोघव-

३६. र्ष प्रशस्ति[23] ।। [३६*] त्सातु[24] नम्रान्विजेतुं रणशिरसि [25]परान्प्राथकेभ्य प्र (ा) दातुं निर्व्वोढुं रूढिसत्यं धरणिपरिवृढो नेट्टशोन्यः[26] [।*] इत्थं मोत्थाय सार्थं पृथुरवपद-

३७. ढक्कादिमद्रप्रघोषो [27]यसोन्द्रस्येव नित्यं ध्ववति कलिमलध्वन्सिनो[28] मन्दिराग्रे ।। [३७*] दृष्ट्वा तन्नवराज्यमूर्ज्जि [त] वृहड्वर्म्मप्रभावं[29] नृपं भूय[30] षोडशराज्य-

३८. वत्क्वतयुग प्रारम्भ[31] इत्याकुलः [।*] नश्यन्नन्तरनुप्रविश्य विषमो मायामयोसौ कलिः [32] सामन्तान्सचिवन्स्ववान्धवजनानक्षोभयत्स्वीकृताम्[33] ।। [३८*]

---

1. Read बधिरा
2. Read लंकातः किल,
3. Read मुपेते,
4. Read निभ्रे,
5. Read संस्थापिते,
6. Metre : Sārdūlavikrīḍita.
7. Read व्याप्ता,
8. Read स्त्रिलोकों निज,
9. Read जन्म,
10. Read कर्त्तु,
11. Read स्थेय.
12. Read सोपान
13. Read सौधं.
14. Read यद.
15. Metre of this and of the following two verses : Sragdharā.
14. Read बन्धूनां.
17. Read बन्धुराणां.
18. [The original reads जानाम्प्रजानां. -Ed.]
19. Read मूर्त्तिस्थितानाम्.
20. Read कीर्त्ति
21. Read न्सिहा.
22. Read बुध
23. Read वर्षः प्रशास्ति.
24. Read त्रातुं.
25. Read न्प्रार्थकेभ्य.
26. Supply समर्थः.
27. Read यस्यै.
28. Read र्ध्वसिनी.
29. Read बृह
30. Read भूयः.
31. Read युगप्रारम्भ.
32. Read न्सचिवान्स्वबान्धव and स्वीकृतान्
33. Metre : Śārdūlavikrīḍita.

३९. शठमत्रं[१]प्रविधाय [२]त्कूटशपथैरोशस्वतंत्रा[३] स्वयं विनिहत्योचितयुक्तकारिपुरुषान्सर्व्वे स्वयंग्राहिण: [।*] परयोषिदुहिता[४] स्वसेति न पु-

४०. नर्भेद पशूनामिव प्रभुरेवं कलिकालमित्यवसितं[५] [६]सद्वृत्तमुधृत्त:[७] ॥ [३९*] विततमहिमधाम्नि व्योम्नि संहृत्य धाम्नामितवति महतीन्दोर्मण्ड-

४१. लं ताराकाश्च[८] [।*] उदयमहिमभाजो भ्राजितास्मप्रतापे विरतवति विजिह्माश्चोर्ज्जितास्तावदेव (:)[९] ॥ [४०*] [१०]गुरुवुधमनुयातस्त्रार्यपातालमल्ला-[११]

४२. दुदयगिरिमहिम्नो रट्टमार्त्तण्डदेव:। पुनरुदयमुपेत्योधृत्ततेजस्विचक्रं[१२] प्रतिहतमथ कृत्वा लोकमेक[१३] पुनाति ॥ [४१*] राजात्मा मन एव तस्य-

४३. सचिवमन्तचक्रं पुनस्तनीत्येन्दियवर्ग[१४] एष विधिवस्सागादयस्सेवका: [।*] देहस्थानमधिष्ठित[१५] स्वविषयं भोक्तु[१६] स्वतन्त्र: क्षमस्त-[४४*]स्पन्नभोक्तरि[१७] सन्निपातविवशे सर्व्वेपि नश्यन्ति ते[१८] ॥ [४२*] दोषानौषधवक्रना-ननिलवत्शुष्केन्धेनाग्यग्निवत्[१९] ध्वान्तं भानुवदात्मपूर्वज-

४४. समान्नायागतान्द्रोहकान[२०] [।*] संतापान्विनिहत्य[२१] य: कलिमलं धाच्यादिसम्प्रान्तत: (।) कीर्त्त्या चन्द्रिक एव[२२] चन्द्रधवलच्छत्रश्रिया

४५. भ्राजित: ॥[४३*][२३]यण्डाभिहतोत्तसेरिव फळं मुक्ताफळं मण्डलात् (।) यातं[२४] शूकरयूथवद्गहनतस्तन्मन्दिरं हास्तिकं । यत्कोपोग्र-

४६. दवाग्निदग्धतनव: प्राप्ता बिभूतिं पने[२५] (।) तत्पादोपनतप्रसादतनव: प्राप्तो[२६] विभूतिम्पर[२७]

---

1. Read मन्त्रं
2. Read कूट
3. Read स्वतंत्रा:
4. Read षिद्दुहि.
5. Read काल इत्य.
6. Read मुद्द्तत:
7. Metre : Mattebhavikrīḍita.
8. Read तारकाश्च.
9. Metre of this and of the following verse : Mālinī.
10. Read बुध.
11. Read स्प्तोर्य
12. Read व्योद्द्त
13. Read मेक:
14. Read स्तन्नोत्येन्द्रिय.
15. Read ष्ठित:.
16. Read भोक्तु:
17. Read स्मिन्भोक्तरि.
18. Metre of this and of the follwing six verses : Śārdūlavikrīḍita.
19. Read च्द्देकेन्ध. [Note the Shape of त् here and in lines 46, 56, 73 and 74 below.-Ed.]
20. Read न्द्रोहकान्. [Note the shape of त् here and in lines 46, 56, 73 and 74 below.-Ed.]
21. Read संतापद्विनि.
22. Read चन्द्रिकयेव.
23. Read यद्दस्साभिहतात्तरी.
24. Read लद्यातं.
25. Read परे.
26. Read प्राप्वा. [The original correctly reads प्राप्ता -Ed.]
27. Read म्परै.

॥ [४४*] यस्याज्ञां परचक्रि[1] स्त्रजमिवाजस्त्रं शि-
४७. रोभिर्व्वहन्त्यादिग्ददन्तिघटावलीमुखपट: कीर्त्तिप्रतानस्पत:[2] । (।) यत्रस्थ[3] स्वकर- प्रतापमहिमा कस्यापि दूरस्थित: (।) तेजक्रान्तसमस्तभूभृदि-[4]
४९. न एवसौ न कस्योपरि ॥ [४५*] यद्वारे[5] परमण्डलाधिपतयो दौवारिकै- र्व्वारिकैरास्थानावसरं प्रतीक्ष्य वहिरप्यध्यासिता[6] यासिता । गाणिक्यं वरत्नमौ-[7]
५०. त्किकचितं तज्वास्तिकं हास्तिकं (।) नादास्याम[8] यदीति[9] यत्र निजकं पश्यन्ति नश्यन्ति च ॥ [४६*] सर्प्पं पातुमसो[10] ददो[11] निजतनुं जीमूतकेतोस्मुत: (।) श्येनायाथ शिवि:[12] क-
५१. पोतपरिरक्षात्र्थं दधीचिर्त्थिने । तेप्येकैकमतर्प्ययन्किल महालक्ष्म्यै स्वावामांगुलिं[13] लोकोपद्रवशान्तये स्म दिशति श्रीवीरनारायण: ॥ [४७*] हत्वा भ्रातर-
५२. मेव राज्यमहरद्देवीं च दीनस्ततो लक्षं कोटिमलेखयन्किल[14] कलौ दाता स गुप्तान्वय: [।*] येनात्याजि तनु[15] स्वराज्यमसक्द्दाह्यार्त्थकै:[16] का कथा (।) दी-
५३. प्रस्योन्नतिराष्ट्रकूठतिलको[17] दातेति कीर्त्यावपि[18] ॥ [४८*] [19]स्वभुजभुजसनिस्त्रिंशो- ग्रदंष्ट्वाग्रदष्टप्रवल(वल) रिपुसमूहेमोघवर्षे मधीशे[20] । (।) न दध-
५४. ति पदमीतिव्याधिदुष्कालककाले[21] (।) हिमशिशिरवसन्तग्रीष्मवर्षाशरत्सु[22] । [४९*] चतुस्त्रपसुद्रपर्यान्त:[23] समुद्र[24] यत्प्रसाधितं [।*] भग्ना समस्तभूपालमुद्राग-
५५. रुडमुद्रया[25] ॥ [५०*] राजन्ट्रास्ते[26] वन्दनीस्तु[27] पूर्व्वे [28]येषान्धर्म्मा– [29]पालानीयोस्मदादै:[30] [।*] ध्वस्ता दुष्टा वर्त्तमानास्मधर्म्म[31] प्रात्थ्या ये ते भविन:[32]

---

1. Read चक्रिण:
2. Read स्पितत:
3. Read यत्रस्थ:
4. Read तेज:क्रान्त.
5. Read यद्वारे.
6. Read बहि.
7. Read वररत्न.
8. Read नादास्यामो; but this spoils the metre.
9. Read यदेति.
10. Read मसौ. [The original has सौ.-Ed.]
11. Read ददौ.
12. Read शिवि:
13. Read स्ववामां
14. Read लेखयत्किल.
15. Read तनु:
16. Read द्ग्याच.
17. Read ह्योसत्येन्द्र and कूट.
18. Read कील्यामिपि.
19. Read भुजगनि and प्रबल
20. Read महौशे.
21. Read काला.
22. Metre : Mālinī.
23. Read पर्यन्त.
24. Read स्वमुद्रं.
25. Metre : Anushtubh.
26. Read राजेन्द्रा
27. Read वन्दनीया.
28. Read येषां धर्म्म.
29. Read पालनी
30. Read दाद्यै:
31. Read स्वधर्म्म
32. Read भावि:

[१]पांर्थिवेन्द्राः[२] [५१*] भुक्त[३] कै-

५६. शिचक्रमेणापरेभ्यो[४] दत्तं चान्यैस्त्यक्तमेवापरैर्य्यत् [।*] [५]कस्थानित्ये तत्र राज्य[६] महद्भिः कीर्त्या[७] धर्म्मः केवलं पालनीयं[८] ॥ [५२*] तेनेदमनिलविद्युचञ्चलमवलो[९]

५७. क्य जीवितमसारं । [।*] क्षितिदानपरमपुण्यं प्रवर्त्तितो [१०]व्रह्मदायोयं[११] ॥ [५३*] स च परमभट्टारकमहाराजाधिराजपरमेश्वरश्रीजगतुंगदेवपादानुध्यातपर-[१२]

५८. मभट्टारकमहाराजाधिराजपरमेश्वरश्रीपृथ्वीवल्लभश्रीमदमोघवर्षश्रीवल्लभनरेन्द्रदेवः कुशली सर्व्वानेव यथासम्वन्ध्यमानकान्राष्ट्रपतिविषयपति-[१३]

५९. ग्रामकूटयुक्तकनियुक्ताधिकारिकमहत्तारादी[१४] समादिशत्यस्तु (।।) वस्संविदितं यथा मान्यखेटराजधान्यातस्थितेन[१५] मया मातापित्रोरात्मन (क) श्चैहिकासु-

६०. त्रिकपुण्ययशोभिवृद्धये ॥ ॥ करहडविनिर्ग्गतभरद्दामाग्निवेश्यानां आंगिरसपारुहस्त-त्यानां[१६] भारद्वाजानाजेसव्रह्माचारिणे[१७] साविकूवारक्र-

६१. मद्वतपौत्राय[१८] । गोलसडगमिपुत्राय[१९] । नरसिघदीक्षितः[२०] । पुनरपि [२१] तस्मै विषयविनर्गता[२२] । तस्मै[२३] गोत्रे च भट्टपौत्राय । गोन्दिभट्ट-

६२. पुत्राय । रच्छादित्यक्रमद्वतः[२४] । तस्मिं देषे[२५] । वड्डमुखसव्रह्माचारिणे[२६] दावडिगहियसहासपौत्राय । विष्णुभट्ट (।) पुत्राय । [२७]तिविक्रम-

---

1. Read पार्थि.
2. Metre of this and of the following verse : Śālinī.
3. Read भुक्तं.
4. Read शिचत्क्र.
5. Read कास्था.
6. Read राज्ये.
7. Read कीर्त्त्यै.
8. Read नीयः.
9. Read विद्युच्चञ्चल.
10. Read ब्रह्म
11. Metre : Āryā.
12. Read जगत्तुंग.
13. Read सम्बध्य.
14. Read महत्तरादीन्
15. Read धान्यवस्थितेन.
16. Read भरद्वाजाग्निवेश्यांगिरसबार्हस्पत्यान.
17. Read छाजगोत्रसब्रह्म
18. Read क्रमवितु.
19. Read षडंगवित्.
20. Read नरसिंहदीक्षिताय
21. Read तद्विषय.
22. Read विनिर्गताय.
23. Read तस्मिन्
24. Read क्रमविदे.
25. Read तस्मिन्देशे.
26. Read ब्रह्म
27. Read त्रि

६३. षडंगमि:[१] । पुनरपि तस्मिं देषे[२] वच्छगोत्रसब्रह्मचारिणे[३] । हरिभट्टपौत्राय । गोवादित्यभट्टपुत्राय । केसवगहियसाहास:[४]

Third Plate

६४. चतुका:नां[५] वह्वृचसखानां[६] । एवं चतुक: व्राह्मणानां[७] ग्रामो दत्त: संजाणसमीपवर्त्तिन: चतुर्विशतिग्राममध्ये[८] । रुरिवल्लिकानामग्राम: तस्य चाघाट-

६५. नानि:[९] पूर्व्वत: कल्लुवी समुद्रगामिनी नदी । [१०]दक्षिणत: उप्पलहत्थकं[११] भट्टग्राम: । पश्चिमत: नन्दग्राम: । उत्तरत: धन्नवल्लिकाग्राम: । अयं ग्रामस्य संज्जाने ।

६६. पत्तने शुंकंन शुष्ण्यामिग्रामं सवृक्षमालाकुलं भोक्तव्यं[१२] । एवमयं चतुराघाटनोपलक्षित: सोद्रंगस्मपरिकर: सदण्डदसपराध:[१३] सभूतापात्तप्रत्यय:[१४] सोत्प-

६७. द्यमानविष्टिक: सधान्यहिरण्यादेय: अचाटभटप्रवेश्य: सर्व्वराजकीयानामहस्त-तुप्रक्षेपणीया[१५] आचन्द्राक्क्र्णार्णवक्षितिसरित्पर्व्वतसमकालिन:[१६] पुत्रपौत्रान्वयक्रमो-

६८. पभोग्य: १७पूर्व्वप्रत्यब्रह्मदेवदायरहितोभ्यन्तरसिद्धाय[१८] भूमिच्छिद्रन्याएन[१९] शकनृपकालातीतसंवत्सरशतेषु सप्तसु नवतृतयत्यधिकेषु[२०] नन्दनसंवत्सरान्तर्ग्गतपुष्य-

६९. मास उत्तरायणमहापर्व्वणि [२१]वलिचरुवैश्वदेवाग्निहोत्रतिथिशं (सं) तर्प्पणात्थं[२२] अद्योदकादिसर्ग्गेण प्रतिपादित: अतोस्योचितया व्रह्मादायस्थित्या[२३] भुंजतो भोज-

७०. यत: कृषत: कर्षयत: प्रविशतो वा न कैश्चित्यापि[२४] परिपन्थना काय्र्या तथागामिभद्रनृपतिभिरस्म द्वंश्यैरन्यैर्व्वा सामान्यं भूमिदानफलवेत्य विद्युल्लोला-

७१. न्यनित्यैश्वर्य्याणि त्रिणाग्रलग्नजलविन्दुचंचल[२५] च जीवितमाकलय्य स्वदायनिर्व्वि-शेषोयमस्मद्दायानुमन्तव्य:[२६] प्रतिपालयितव्यश्च ।। यश्चाज्ञानतिमिरपट-

---

1. Read गविदे.
2. Read तस्मिन्देशे.
3. Read वत्स and ब्रह्म.
4. Read केशव and साहासाय.
5. Read स्कानां.
6. Read बहुवृच्शा.
7. Read एवंचतुष्कस्यब्रा.
8. Read वर्तिचतुर्विशति,
9. Read नानि.
10. From here the rules of *saṁdhi* have not been strictly observed.
11. Metre हत्थको.
12. The sense of this line is not clear.
13. Read दशापराध:.
14. Read पातप्रत्याय: [The original reads संभूतोपात्त -Ed.]
15. Read गौणीय:.
16. Read कालीन:.
17. Read प्रदत्तब्रह्म.
18. Read भ्यन्तरसिद्धा.
19. Read न्यायेन.
20. Read नवत्युत्तरयधिकेषु [or rather तिनवत्य or णायोनवत्य -Ed.]
21. Read बलि and होत्रातिथि.
22. Read णार्त्थ.
23. Read ब्रह्म.
24. Read कैश्चिदरुपापि.
25. Read तृणाग्र and बिन्दु
26. Read स्मद्दायो.

७२. लावृतमतिराच्छिद्यमानकं[१] चानुमीदेत स पंचभिर्महापातकैस्सोपपातकैश्च[२] सयुक्त[३] स्यादित्युक्त[४] च भगवता वेदव्यासेन व्यासेन । षष्ठि[५] वर्षसहस्रा-

७३. णि स्वर्गे तिष्ठति भूमिदः [।*] आच्छेता (त्ता) चानुमन्ता च तान्येव नरके वसेत् [।।*] विन्ध्याटवीष्वतोयासु शुष्ककोटरवासिनः [।*] कृष्णसर्प्पा हि जायन्ते भूमिदानं हरन्ति

७४. येत्[६] ।। [५५*] अग्नेरपत्य[७] प्रथमं सुवर्ण्णं भूर्व्वैष्णवी सूर्य्यसुताश्च गावः [।*] लोकत्रयं तेन भवेहि दत्तं यः काण्चनं[८] गां च महीं च दद्यात् ।।[५६*] वहुभिर्व्वसुधा[९] भुक्ता ।

७५. राजभिस्सगरादिभिः [।*] यस्य यस्य यदा भूमिस्तस्य तस्य तदा फलं ।।[५७*] स्वदत्ताम्परदत्तां वा यत्नद्रक्ष नराधिप [।*] महीं महिमतां[१०] श्रेष्ठ दानाच्छ्रेयोनुपालनं[११] ।। [५८*]

७६. इति कमलदलाम्वुविन्दुलोलां[१२] श्रियमनुचिन्त्य मनुष्यजीवितं च [।*] अतिविमलमनोभिरात्मनोर्न्न[१३] हि [१४]पुरुष परिकीर्त्तयो विप्याः[१५] ।। [५९*] लिखितं चैत[१६] धर्म्माधि-

७७. करणसेनभोगिकेन[१७] वालभकायस्थवंशजातेन । श्रीमदमोघवर्षदेवकमलानुजीविना[१८] गुणधवलेन वत्सराजसूनुना । महत्तको

७८. गोगूराणक[१९] राजास्वमुखादेशेन[२०] दूतकमिति[२१] ।। मंगल महश्री[२२] ।। ।।

---

1. Read मतिराच्छिन्द्यादाच्छिद्य.
2. Read पातकैरूप
3. Read संयुक्तः
4. Read स्यादिति । उक्तं.
5. Read षष्टिं
6. Read ये.
7. Read रपत्यं.
8. Read काश्चनं.
9. Read बहु.
10. Read महौमतां.
11. Read च्छ्रेयो.
12. Read दशाम्बुबिन्दु.
13. Read रात्मनीनैर्न.
14. Read पुरुषै पर. [Note the cross-mark above रु. The latter ष is engraved bwlow the line.-Ed.]
15. Read विलोप्याः.
16. Read चैतद्.
17. Read चर्न्माविकरचिक.
18. Read देह कमला.
19. Read राणकौ.
20. Read राजस्व
21. Read दूतक इति
22. Read मङ्गलं महात्रीः.

हिन्दी अनुवाद

जिनके नाभिकमल में ब्रह्मा का निवास है, वे विष्णु और चन्द्रकला को अपने सिर पर धारण करने वाले शिव (हर) आपकी रक्षा करें। श्लोक १ ॥

वे **वीरनारायण** स्वयं आपकी रक्षा करें, जो सर्वव्यापी हैं, जो अनन्त (सर्प) शायी हैं, जो शौर्य, चरित और महत्ता के नगेन्द्र (पर्वत) हैं, जो महान् राष्ट्रकूट वंश के पूर्वज (जन्मदाता) हैं, वे **वीरनारायण** (अमोघवर्ष) स्वयं आपकी रक्षा करें, जो शक्तिशाली हैं तथा जो अनन्त भोगों वाले हैं। श्लोक २ ॥

आगे उसी वीर **यादव वंश** में क्रमपूर्वक (समय बीतने के बाद) समुद्र में रत्नों की ढेर के रूप में, **पृच्छकराज** के पुत्ररूप में, **महीपति** के रूप में **गोविन्द** उत्पन्न हुआ। श्लोक ३ ॥

उसके बाद हुआ **कर्कराज,** जो कौस्तुभ मणि की चमकती हुई आभा से प्रभात सूर्य की द्युति को मानों बिखेरते हुए चौड़े वक्षस्थल वाला था, जो मेरु पर्वत की चारों ओर फैली चोटियों जैसा प्रतीत होता था, जिसके भय से उन शत्रुओं में पूरी तरह आतंक व्याप्त था, जो उसकी यशोगाथा गाते रहते थे, जिसके पैरों पर उनके सिर झुके हुए थे, जिसके प्रकाश में उनके सारे गौरव विलीन हो गये थे, जिसमें पृथु की तरह सारी पृथिवी समा गयी थी, जिसके धनुष द्वारा सभी भूभृत (शासक) पीछे ढकेल दिये गये थे और जिसके ओज और प्रताप (चमक) से शत्रु द्वारा उत्पन्न सारा अन्धकार छंट गया था। श्लोक ४, ५, और ६ ॥

उसके बाद उत्पन्न हुआ **इन्द्रराज,** जिसने खेटकमण्डल (खेड़ा) के विवाहरूपी मण्डप से चालुक्य राज्य की कन्या से राक्षस विवाह की विधि से विवाह किया (बलपूर्वक हर लिया)। श्लोक ७ ॥

उसके बाद वह **दन्तिदुर्ग** नामक राजा हुआ, जिसने हिमालय से समुद्र तक की सीमाओं (सेतुबंध) तक हाथियों की घटाओं (समूहों) को तथा राजाओं के मण्डलों को (समूहों को) मर्दित किया। श्लोक ८ ॥

जिसने राजन्यों (क्षत्रियों) द्वारा उज्जयिनी में सम्पन्न किये गये **हिरण्यगर्भ** यज्ञ में गुर्ज्जरेश आदि राजाओं से प्रतीहारी (द्वारपाल) का कार्य कराया। श्लोक ९ ॥

तत्पश्चात् समरभूमि को मानों स्वयंवर भूमि में बदलते हुए **शुभत्तुंगवल्लभ** ने उस चालुक्यकुललक्ष्मी को बलात् हर लिया, जो दोलायमान मालाओं वाले पालिध्वजों (राजचिह्नों) से सुसज्जित थी। श्लोक १० ॥

राजाओं और सरदारों का विनाशक **अकालवर्ष** मानों एक राजर्षि (राजगद्दीधारी साधु) हुआ, जिसने अनगिनत (अशेष) पवित्र कार्य किये, जो चौरी (चंवर) और राजगद्दी का अप्रतिरुद्ध भोगी था, जो श्वेत राजछत्रों को धारण करता था और जो शत्रुहीन होकर राज्यासीन. था । श्लोक ११ ॥

तत्पश्चात् **प्रभूतवर्ष** राजा हुआ और उसके बाद **धारावर्ष,** जिसने समरभूमि में राजाओं पर वाणों की मानों वर्षा कर डाली । श्लोक ।१२॥

जिसके युद्ध के नगाड़ों से निकलने वाली तुमुलध्वनि से मानों काल (यमराज) भी डकार लेने लगा था (पूरी तरह परितृप्त था); जो युद्ध में अपनी तलवारों द्वारा काटे हुए शत्रुओं के सिरों से निकलने वाले रुधिरों के रूप में युद्ध के सुस्वादु आसव के आकण्ठपान से मदहोश था । श्लोक १३ ॥

जिसने गंगा-यमुना के दोआब में भागते हुए गौडराज की राजलक्ष्मी के प्रतीकरूप वाले दोलायमान श्वेतकमलों (राजछत्रों) को हर लिया । श्लोक १४ ॥

चन्द्र किरणों की तरह प्रकाशमान जिसका शुभ्र (धवल) यश पृथिवी के चारों दिगन्तों तक फैला हुआ था और अनेक चलायमान शंखों, सैकड़ों मोतियों (मुक्ताफलों), शफरी (मछलियों), अनेक प्रकार के फेनों और लहरों से युक्त जलों वाले सामुद्रिक छोरों (पारावार) को प्राप्त करते हुए देवगणों के हाथियों और कण्ठहारों के रूप में अबाधरूप में स्वर्गसरिता के हंसों (धार्त्तराष्ट्र) तक पहुँच चुका था । श्लोक १५ ॥

त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) में निरत, अपने कर्त्तव्यों में दक्ष, **निरूपम** के पुत्र गोविन्द का ज्योंही राज्याभिषेक हुआ, तो उसने अपने सभी सामन्तवर्गों को आदरपूर्वक अपने-अपने पदों पर आसीन करने की इच्छा के साथ, और कारागार में बन्दी बनाये गये गंगराज को छोड़ देने का निश्चय करते हुए, पृथिवी के रक्षकरूप में इकट्ठे हुए अपने सभी मंत्रिओं को सम्बोधित किया—"आप सभी मेरे लिए अपने पिता के समान हैं ।" श्लोक १६ ॥

शीघ्र ही युद्ध में लड़ते हुए, अनियंत्रित तथा वृषभों जैसे सभी भयंकर सामन्तों को बन्दी बना लिया और जो कुछ शेष बचे थे, उनके मन से विद्रोहभाव को समाप्त होते हुए देखकर उन्हें मुक्त कर दिया और अपना क्रोध शान्त हो जाने पर उन्हें वैसे ही छोड़ दिया, जैसे समुद्र वड़वानल को धारण किये रहता है । इससे उसे कोई घबराहट नहीं हुई । वह अपने विपक्षी राजाओं का वैसे ही सहायक बना रहा जैसे समुद्र पंखविहीन (विपक्ष) पर्वतों को धारण किये रहता है । श्लोक १७ ॥

जब वह गंग (गंगराज) अपने ऊपर लगाये गये दण्ड (अर्थदण्ड) देने से इनकार करते हुए असन्तुष्ट और कृतघ्न हो गया तो उस दुष्ट की गर्दन को पुनः जंजीरों से जकड़ दिया गया, जिसके पैरों की जंजीरें पहले खोल दी गयी थीं (अर्थात् जो मुक्त किया जा चुका था) । श्लोक १८ ॥

अथाह जलवाला विशाल समुद्र जिसके राज्य की मेखला के समान था, जिसका राज्य अपनी विशाल आयत्तवाली भूमि, सुन्दर स्त्रियों, नगरों, ग्रामों तथा मनुष्यों से भरपूर था, जिस राष्ट्रकूट वंश की राज्यलक्ष्मी के चरणकमलों को राजागण (सामन्त) अपने मकरवाले चिह्नों के साथ चूमते थे, वह ब्रह्मा के मानों दूसरे प्रतिनिधि के रूप में मान्धाता के समान ही था । श्लोक १९ ।।

भयंकर ध्वनि करने वाले जिसके नगाड़े (ढक्वा) और काहल (ध्वनियंत्र), जोर-जोर से बजायी जाने वाली तुरहियाँ (तूर्य) दिशान्तरों में गूंजती रहती थीं और तेजी से उभरते हुए बादलों की तरह जो गरजती थीं उस **त्रिभुवनधवल** (गोविन्द) के शत्रुओं के लिए वे मानों काल के समान ही थीं । श्लोक २० ।।

असह्य और प्रखर प्रताप से युक्त मानों वह उत्तरायण (कर्क रेखा से उत्तर जाने वाला) का सूर्य ही था; जो भूभृतों (राजाओं) के सिरों पर अपने पैरों को वैसे ही रखता था, जैसे भृभृतों (पहाड़ों) पर सूर्य का तेज बिखर रहा हो; जिसका उदय शुभ था; जो अपने प्रकाश से सारे दिशान्तरों को आच्छादित करता था; जिसका प्रताप (सूर्यप्रताप = किरण के समान पग-पग पर वर्धमान होता रहता था और जो प्रताप (राजा का तेज) राज्यकमला के हाथों (राज्यलक्ष्मी) को पाकर अनुरक्त मण्डल (राजाओं के मण्डल) से युक्त होते हुए आनन्दित हो उठता था, वैसे ही जैसे सूर्य के उगते ही कमल प्रफुल्लित हो जाता है । श्लोक २१ ।।

यशप्राप्ति की कामना से उसने नागभट्ट और चन्द्रगुप्त को युद्ध में पराजित करके उनके चिरस्थायी (अपहार्य) शौर्य और धैर्य को हर लिया तथा दूसरे राजाओं को भी उखाड़ फेंका, किन्तु उन्हें पुन: उनके अपने-अपने राज्यों में शालि (रोपनी धान) की तरह पुनर्स्थापित (रोपित) कर दिया । श्लोक २२ ।।

जिसके घोड़ों ने हिमालय के पर्वतों के झरनों में पानी पिया और जिनमें घुसने वाले हाथियों की घनघोर आवाजों तथा जिसकी सैनिक तुरहियों की उस (हिमालय) की कन्दरओं से जोर-जोर की प्रतिध्वनियाँ हुईं; तथा जिस महान् (गोविन्द) के सामने धर्म (धर्मपाल) और चक्रायुध ने स्वयं ही आत्मसमर्पण कर दिया । इस प्रकार वह स्वयं भी हिमालय के यश को प्राप्त करते हुए **कीर्त्तिनारायण** कहलाया । श्लोक २३ ।।

यह सोचते हुए कि आगे के कार्य उसके प्रशासकीय सेवकों के हैं, वह वहीं से पुन: नर्मदा का किनारा पकड़कर, मानों अपने ही शौर्य का अनुसरण करते हुए, लौट आया तथा मालव देश, कोसल, कलिंग, वंग, डाहल, ओड्रक को जीतकर उस **विक्रम** (गोविन्द) ने वहाँ अपने सेवकों को नियुक्त कर दिया । श्लोक २४ ।।

अपने शत्रुओं को अधीनता में लाते हुए उसने रेवा (नर्मदा) नदी के उत्तर भाग में स्थित एक ऐसी राजधानी में निवास किया, जो उसके ठहरने के लायक थी । वहाँ उसने

आध्यात्मिक पुण्यों को देने वाले मन्दिरों की स्थापना की और अन्य पुण्यकार्य भी किये। श्लोक २५ ॥

वहाँ का मण्डलेश महाराज सर्व्व उसका अपना ही सामन्त था। वहीं उसे एक पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई, जो पृथिवी का स्वामी **महाराजसर्व्व (अमोघवर्ष)** हुआ। श्लोक २६ ॥

जिसके जन्मकाल में देवों (पण्डितों) ने भविष्यवाणी (आदेश) की, कि वह हिमालय से लेकर सेतु (रामेश्वरम्) तक समुद्री मेखलावाली सम्पूर्ण भूमि पर अप्रतिरुद्ध होकर शासन करेगा। श्लोक २७ ॥

जो शत्रुगण जेलों में डाले गये रहे होंगे, वे मुक्त कर दिये जायेंगे, किन्तु यदि वे मुक्त होने पर पुन: विद्रोही (विक्क्वत) हो जाँय तो उनकी मुक्ति तो उन्हें धूल में मिलाकर (मारकर) ही की जायगी। श्लोक २८ ॥

अपने ही लोगों के मनोरथों को पूर्ण करने वाला (दान देने वाला) वह **प्रभूतवर्ष** हुआ; भूभृतों (राजाओं) के ऊपर स्थापित होते हुए वह **जगत्तुंग** हुआ, वैसे ही, जैसे मेरु (सुमेरु) सभी भूभृतों (पर्वतों) पर पृथिवी का सबसे ऊँचा (**जगत्तुंग**) पर्वत है। श्लोक २९ ॥

पुन:, उसने द्रविड़ राजाओं के घमण्ड को तोड़ा, जो अनिन्द्रित, चिन्तित और भ्रान्तचेतस् (क्या करें, क्या न करें) होते हुए सोच में डूबे हुए थे। श्लोक ३० ॥

जिसकी सेना के केवल आगे बढ़ने मात्र से, उसकी वीरता के शस्त्रों से पूरी तरह आच्छादित होते हुए पृथिवी कांपने लगती है। उससे पूरी तरह द्वेष रखने वाले शत्रुओं के हृदयों (उरों) को त्यागकर लक्ष्मी भी हट जाती हैं, ठीक वैसे ही जैसे हवा से वल्लरी टूट जाती है। जो धूलि विभिन्न दिशाओं में उड़ने लगी, वह तो उसके शत्रुओं के उस यशोवितान की तरह ही थी, जो भग्न हो गया। श्लोक ३१ ॥

उसने केरल, पाण्ड्य और चौलिक राजाओं को भयभीत कर दिया; किसलित होते हुए पल्लव (पल्लवराज) को मुरझा दिया; उसने कलिंग और मगध राजाओं को अन्न त्यागकर मृत्यु को गले लगाने को विवश कर दिया (**प्रायासको सायक:**); वह गरजने वाले गुर्जर (गुर्जरराज) के शौर्य का अन्तक (शौर्यविलय) सिद्ध हुआ और इस पर लंका के शत्रु राजा (राम) जैसा आचरण करने वाला (**लंका-अराति=लंका अरिवत् = आचरति**) सिद्ध हुआ। उसकी शासकीय आज्ञाएँ अनिन्दितरूप में पवित्रतापूर्वक शिरोधार्य होती थीं। (**उद्योगस्तदनिन्द्य शासन**)। ऐसा था वह सद्विक्रमवाला (पराक्रमी) **विक्रम** (सद्विक्रमो विक्रम:)। श्लोक ३२ ॥

नीचता से प्रभावित होकर विद्रोह करने वाले (निक्क्वतविक्क्वत) गंग (गंग देश के राजा) आदि जंजीरों में जकड़ दिये गये और (जेल में ही) मर गये (शृंखलोबद्धनिष्ठामृतिमयु:)

तथा अनुकूल रहने वाले मण्डलेश (राजागण) पारिश्रमिक पाने वाले नौकर बनाये जाकर उसके शिविर को बुहारने और जमीन को साफ करने में लगा दिये गये। किन्तु वेंगी के राजा तथा अन्यों को तो वह कार्य विष्टि (बेगार) के रूप में ही करना पड़ा। श्लोक ३३ ॥

राजधानी लंका से राजा और उसके मंत्री (अमात्य) की दो प्रतिकृतियाँ (मूर्तियाँ) अपने ही हित में (अपने) कार्यालय (राजधानी) से हटाकर हेलापुर में वैसे ही लायी गयीं जैसे मानों अन्धे और बहरे लोग हाँके जा रहे हों; वहाँ से वे प्रतिकृतियाँ काञ्ची लायी जाकर वहाँ निर्मित कीर्त्तिस्तम्भ के रूप में एक शिव मंदिर में स्थापित कर दी गयीं।

मेरी कीर्त्ति तीनों लोकों में व्याप्त है और मेरा पुत्र भुवन (राज्य) के भार को वहन करने में समर्थ है, ऐसा सोचते हुए उसने (गोविन्द ने) अनेक धर्मकार्यों से अपना जीवन सफल कर लिया और "अब क्या करने को दुनियाँ में रहूँ" यह कहते हुए उसने अपने यश का पीछा करते हुए स्वर्गरूपी उस उत्तुंग सौध (ऊँचे राजमहल=स्वर्ग) को प्राप्त किया, जहाँ उसके पहुँचने हेतु उसके धवलयश और पुण्यकार्यों ने सोपानमार्ग (सीढ़ी) बना दी थी। श्लोक ३५ ॥

जो केवल अपने सुयश मात्र से स्वर्ग में जीवित हैं, उन उत्तम पूर्वजों तथा कुल में जन्मे वल्लभों (परिवारी जनों) के यश तथा अपनी प्रजाओं की रक्षा हेतु तथा कलियुग के कलुष (कलंक) को धो डालने के उद्देश्य से वह **अमोघवर्ष** अब सिंहासन पर विद्यमान है, जो शत्रुओं का हन्ता है और जिसके कार्यों की प्रशंसा बुद्धिमान लोग करते हैं। (बुधनुतचरितोमोघवर्ष प्रशस्ति) ।३६॥

देवराज (इन्द्र) के भवन के सामने बजने वाले वाद्यों के समान इस कलिकलुष को समाप्त करने वाले (अमोघवर्ष) के राजमहल के सामने भीषण ध्वनिकारक नगाड़े (ढक्का) और अन्य वाद्य बजाये जाते हुए आकाश में ऊपर तक ध्वनि करते हैं और मानों यह कहते हैं—"पृथिवी पर इसके समान कोई अन्य शासक नहीं है, जो विनीतों की रक्षा करता हो, जो युद्ध में शत्रुओं का विजेता हो, याचियों को दान देता हो और जो धर्म का रक्षक हो।" श्लोक ३७ ॥

१६ छोटे-छोटे राज्यों (प्रांतों) को समाहित करने वाले राज्य और पुण्यकार्यों (**वृहद्धर्म**) का संपादन करने वाला राजा को यह देखते हुए कि उसने दुष्ट (विषम) और मायामय कलियुग को भयभीत (आकुल) करते हुए भागकर पाताल में समा जाने को विवश करके कृतयुग (सत्युग) का प्रारंभ कर दिया है, शत्रुओं ने जिन सामन्तों, सचिवों और स्व-बान्धवों को असंतुष्ट (क्षुब्ध) कर दिया था, उन्हें (उसने) अपना लिया (क्षोभवत् स्वीकृताम्)। श्लोक ३८ ॥

धूर्तता भरे परामर्शों (**शठमंत्र**) और झूठी शपथों (**कूटशपथ**) के माध्यम से वे स्वयं स्वतंत्र हो गये और शासनकार्यों में नियुक्त योग्य कर्मचारिओं को मारकर वे सभी

स्वग्राही होते हुए उन्होंने दूसरों की पुत्रियों अथवा बहिनों का भेद न करते हुए पशुवत् व्यवहार द्वारा उन्हें अपना लिया। इस प्रकार कलियुग का प्रभाव बढ़ गया और सद्वृत्त अर्थात् अच्छे कार्यों का अन्त हो गया। श्लोक ३९ ॥

जब आकाश से सूर्य अपने विशाल तेज को खींचते हुए डूब जाता है, तो चन्द्रमा और तारे जगमगाने (उदित होने) लगते हैं। जब सत्ता की आँच (प्रताप) अपने शौर्य सहित अल्पकालिक रूप में मद्धिम पड़ जाती हैं तो थोड़े समय के लिए धुंधलाने मात्र (विजिम्ह) वाले और विकृतिवाले लोग उर्जायित हो उठते हैं। श्लोक ४० ॥

गुरु और बुध (नक्षत्रों) के रूप में बड़ों, वृद्धों और बुद्धिमानों का अनुसरण करते हुए सूर्य के समान **रट्टकुल** (रट्टमार्त्तण्ड) के स्वामी ने पुन: अपने प्रताप के सदृश उदित होती हुई महान् शक्ति से तेजस्वी शत्रुराजमण्डल अर्थात् शत्रुसंघ के उदय को उखाड़कर (पुनरुदयमुपेत्योधृततेजस्विचकम्) तथा उन्हें प्रतिहत करते हुए अकेले ही लोक को पवित्र कर दिया। श्लोक ४१ ॥

आत्मा ही राजा है, मन उसका मंत्री है, राजनीति के अनुसार इन्द्रियाँ सामन्तचक्र (राजमण्डल) हैं और वचन आदि वे सेवक हैं जो विधिवत् आज्ञापालन करते हैं। अपनी देहरूपी स्थान में बैठकर आत्मा (शासक) अपने विषय (राज्य) अर्थात् भौतिक सुखों का स्वतंत्रता से भोग करता है। (किन्तु) जब वह सन्निपात की स्थिति में आ जाता है, तो सभी नष्ट हो जाते हैं। श्लोक ४२ ॥

जैसे औषधियाँ शरीरदोषों (बीमारियों) को नष्ट कर देती हैं, हवा बादल को उड़ा देती है, सूखी लकड़ी को अग्नि जला देती है, सूर्य अन्धकार को नष्ट कर देता है, वैसे ही उसने अपने क्रोध से पुश्तदरपुश्त से चले आ रहे सभी षण्यन्त्रकारिओं को नष्ट कर डाला (उसी तरह) जैसे चन्द्रमा की रोशनी से अन्धकार नष्ट हो जाता है; वैसे ही उसने (अमोघवर्ष ने) कलिरूपी (सभी) संतापों के अन्धकार को पृथिवी के प्रारंभिक कोने से प्रारंभकर अन्तिम कोने तक समाप्त कर डाला और वह अपने चन्द्रसमान छत्र के सौंदर्य से चमकने लगा। श्लोक ४३।

जैसे डण्डे से मार देने पर फल गिर जाते हैं, वैसे ही दण्ड द्वारा प्रताड़ित मण्डलों (सामन्त समूहों) से मोती जैसे फल प्राप्त होने लगे (मोतियों की भेंटें प्राप्त होने लगीं) और मानों शूकरों के झुण्डों की तरह जंगलों से उन हाथियों के झुण्ड प्राप्त होने लगे, जिनके गण्डस्थलों पर दण्ड गिराये जा चुके थे; जिसके शत्रुगण उसके क्रोध की अग्नि से जलकर भस्म हो गये और जो उसके पैरों पर झुक गये, वे अपने शरीर का प्रसाद पा लिये (मारे जाने से बच गये) तथा अनेक विभूतियों को प्राप्त करने में सफल रहे। श्लोक ।४४॥

जिसकी आज्ञाओं को बाहरी राजे (परिचक्र) अपने शिरों पर मालाओं की तरह ढोते हैं; जिसके यश और प्रताप का वितान दिगन्तों (हाथियों) के गण्डस्थलों पर लटकने वाली

धवल झालरों के समान हैं; जिसके प्रताप की किरणें, उसके वर्तमान रहते हुए भी, सभी भूभृतों (पर्वतों, राजाओं) को लांघती हुई दूर-दूर तक प्रसरित होती हैं। श्लोक ४५ ॥

नोट:—यहाँ एक पद्यांश है—'न एवासौ न कस्योपरि'। इसका अर्थ क्या है, यह समझ में नहीं आता। प्रोफेसर भण्डारकर ने इसके अनुवाद के साथ प्रश्नवाचक (?) चिह्न लगाया है।

जिसके राजद्वार पर शत्रुराज्यों के राजाओं को भीतर के सभामण्डप में प्रवेश करने की प्रतीक्षा में अपनी-अपनी बारी बदलते हुए द्वारपालों को देखते-देखते कष्टानुभूति होती रहती है और वे यह सोचते रहते हैं कि अब उन्हें अपनी उन वेश्याओं के समूहों, रत्नों और मोतियों से सुसज्जित हाथियों के समूहों से वंचित होते हुए, सिर झुकाये हुए ही रहना होगा, जो अब उसके (**अमोघवर्ष**) के अधिकार में जा चुके हैं। श्लोक ४६ ॥

एक सूर्य की रक्षा हेतु जीमूतवाहन के पुत्र ने अपना शरीर ही उत्सर्ग कर दिया; कपोत की (व्याध से) रक्षा के लिए शिवि ने अपना शरीर ही दे दिया तथा दधीचि ने प्रार्थी को अपना शरीर सौंप दिया, इन सभी ने तो एक-एक की रक्षा हेतु ही ऐसा किया। (किन्तु) उस **श्रीवीरनारायण** ने अपनी सारी प्रजा पर आयी हुई विपत्ति (**लोकोपद्रव**) अर्थात् महामारी की शान्ति के लिए अपनी अंगुली (को काटकर) महालक्ष्मी (दुर्गा) को चढ़ा दिया। श्लोक ४७ ॥

उस कलियुग के दानवीर गुप्तवंशी राजा ने अपने लाखों-करोड़ों का दान देते हुए भी उनकी कोई गिनती नहीं की, तथापि वह अपने ही भाई को मारकर उसकी रानी को ही हथिया लेने के कारण दीन ही रहा। किन्तु उस दाता (अमोघवर्ष) का क्या कहना, जिसने एक बार ही नहीं, कई बार अपने राज्य का त्याग कर दिया। उस राष्ट्रकूट वंश के सिरमौर (**राष्ट्रकूटतिलक**) राजा ने मानों यह कहा–"भौतिक सम्पत्ति का मूल्य ही क्या है ?" श्लोक ४८ ॥

नोट:—ऊपर का संदर्भ गुप्तवंशी सम्राट् द्वितीय चन्द्रगुप्त के प्रति है, जिसने अपने बड़े भाई रामगुप्त को मारकर उसकी रानी ध्रुवदेवी (ध्रुवस्वामिनी) को अपनी महारानी बना लिया। इसका विवरण विशाखदत्त के **देवीचन्द्रगुप्तम्** नामक नाटक और फारसी ग्रंथ मजम्मुलतवारीख में आता है।

मानों सर्पों के जबड़ों के अग्रिम दन्तभागों द्वारा काटे जाते हुए शत्रुसमूहों को अपनी भुजाओं द्वारा दबाने वाले उस अमोघवर्ष के शासन करते हुए हेमन्त, शिशिर, वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा और शरद ऋतुओं में किसी ईति, व्याधि, दुष्काल और अकाल ने कभी अपना पैर नहीं पसारा। श्लोक ४९ ॥

नोट:—ईतियाँ छह होती हैं:—

"अतिवृष्टि, अनावृष्टि मूषिका शलभाशुका:"। इन पाँचों के अतिरिक्त छठीं ईति युद्ध की मानी गयी है। (महाभारत, पञ्चम्, ६०.१७)।

जिस अमोघवर्ष ने चारों समुद्रों की सीमाओं तक की सारी भूमि को जीत लिया, उसकी गरुड़ांकित मुद्रा ने सभी राजाओं की राजमुद्राओं को समाप्त (भग्न) कर दिया ।। श्लोक ५० ।।

पूर्वत: शासन करने वाले राजा सचमुच वन्दनीय हैं और उनके द्वारा दिये गये दान (धर्म) हमारे और दूसरों द्वारा पालनीय हैं। जो वर्तमान के दुष्ट और अधार्मिक शासक हैं, वे तो ध्वस्त (स्वत: समाप्त) हैं। जिनकी हम अपने दानों के पालन हेतु प्रार्थना करते हैं, वे तो भविष्य के शासक हैं। श्लोक ५१ ।।

उस राज्य के अस्थायित्व पर क्या कहा जाय, जिसका कुछ राजाओं द्वारा भोगमात्र किया जाता है, और पुन: कुछ अन्यों द्वारा पुश्तदरपुश्त आगे दूसरों के लिए बढ़ा दिया जाता है। स्थायी कीर्त्ति तो केवल दान द्वारा ही प्राप्त होती है। श्लोक ५२ ।।

यह सोचते हुए कि जीवन तो उसी तरह चञ्चल (अस्थायी) और असार है जैसे हवा और बिजली होती है, और परमपुण्यदाता तो भूमिदान ही है, वह (अमोघवर्ष) अब **ब्रह्मदाय** (ब्राह्मणों को दिये जाने वाले भूमिदान) के लिए उद्यत है। श्लोक ५३ ।

नोट:—श्लोक ५३ के बाद अभिलेख कुछ दूर तक गद्यबद्ध है और उसमें विभिन्न राज्याधिकारिओं को सूचित करते हुए **ब्रह्मदाय**, उसके प्राप्तकर्ता ब्राह्मणों के परिचय, दानदत्त ग्राम की चौहद्दी तथा दान से सम्बद्ध विमुक्तियों के विवरण हैं। तदनुसार:—

परमभट्टाकमहाराजाधिराजपरमेश्वर श्री **जगत्तुंगदेव** के पैरों की पूजा करने वाले (तत्पादानुध्यात) **परमभट्टारक महाराजाधिराजपरमेश्वर श्री पृथिवीवल्लभ** श्रीमद्अमोघवर्षदेव कुशलतापूर्वक रहते हुए सम्बन्धित **राष्ट्रपति, विषयपति, ग्रामकूट, युक्तक, नियुक्तक** (और) **महत्तर** आदि अधिकारिओं को आदेश देते हैं। पंक्तिया ५८-५९ ।।

आप सबको ज्ञात हो कि राजधानी मान्यखेट में निवास करते हुए, इस लोक और परलोक में रहने वाले अपने माता-पिता की हितकामना से, सबके पुण्य और यश की वृद्धि के लिए ।। पंक्ति ५९ ।।

करहद (कर्हाट) के निवासी **आंगिरस्** और **बार्हस्पत्य** के भरद्वाजगोत्री, भवऋच् शाखा के शाविकुमार क्रमविद् (कर्मविद्) के पौत्र तथा गौलसडङ्गविद् के पुत्र नरसिंह दीक्षित को। पंक्तियाँ ६०-६१ ।

पुन: उसी **विषय** के निवासी, उसी गोत्र के भट्ट के पौत्र, गोविन्द भट्ट के पुत्र क्रमविद् (कर्मविद्) रक्षादित्य को। पंक्तियाँ ६१-६२ ।।

उसी **विषय** के निवासी वड्डमुखगोत्री दावदि गहियसहास के पौत्र, विष्णुभट्ट के पुत्र तिविक्रम (त्रिविक्रम) षडङ्गविद् को। पंक्तियाँ ६२-६३ ।।

पुनः उसी देश के हरिभट्ट के पौत्र, गोवादित्य भट्ट के पुत्र वत्सगोत्री तथा ब्रह्मचारी केशवगहियसाहस को । पंक्ति ६३ ॥

भवरहृच् (वहवृच्) शाखा के इन चारों ब्राह्मणों को संजाण के समीप स्थित चौबीस ग्रामों के बीच में बसे हुए । रुचिर वल्लिकाग्राम **आघाट सहित** । पूर्व में जाने वाली कल्लुवी नदी । दक्षिण की ओर उप्पलहत्यंकभट्टग्राम । पश्चिम में नन्दग्राम । उत्तर में धवल्लिकाग्राम । इन चारों तरफ की सीमाओं के भीतर संजानपत्तन वृक्षमालाओं सहित (उन ब्राह्मणों द्वारा) भोग्य होगा । **चतुराघाटों** से समन्वित (उपलक्षित) **उद्रंग** और **परिकर** (**उपरिकर**) सहित, **दण्ड** और **दशापराधों** सहित, **भूतापात्तप्रत्यय** सहित, वहाँ की **उत्पद्यमान** (उत्पत्ति) और **विष्टि** सहित, राज्य को देय **धान्य** और **हिरण्य** सहित, **चाटभाट** द्वारा अप्रवेश्य रहते हुए, सभी राजकीय अधिकारिओं द्वारा न छूये जाते हुए, सूर्य, चन्द्र, नदियों, समुद्र, पृथिवी और पर्वतों के जीवनपर्यन्त (शाश्वतरूप में), उनके, उनके पुत्रों और पौत्रों के क्रम में, प्रभोग्य होंगे । पंक्तियाँ ६४-६८ ॥

पहले दिये हुए ब्रह्मदेय (**ब्रह्मदाय**) और **देवदाय** से रहित, **आभ्यंतर सिद्धि सहित**, **भूमिछिद्रन्याय** द्वारा शकराजकाल (शक सम्वत्) सात सौ तिरानबे में, नन्दनसंवत्सर के पुण्यमास उत्तरायण महापर्व में (मकरसंक्रान्ति के दिन ?) **बलि, चरु, वैश्वदेव, अग्निहोत्र** और **अतिथि संतर्प्पण** (पञ्चमहायज्ञ) हेतु जलतर्पण सहित यह दान प्रतिपादित हुआ । इसकी ब्रह्मदायोचित स्थिति के भीतर इसके भोग करते अथवा भोग कराते, खेती करते अथवा खेती कराते, प्रवेश करते अथवा प्रवेश कराते, किसी के भी द्वारा (यह दान) बाधित नहीं किया जायगा ।

इसी प्रकार मेरे इस भूमिदान को भविष्य के शासकों द्वारा वैसी ही स्वीकृति और समर्थन दिया जायगा, मानों यह उन्हीं द्वारा प्रदत्त दान हो, इस बात को समझते हुए कि दान देने वाले और उसकी रक्षा करने वाले दोनों को ही समानरूप से पुण्य प्राप्त होता है, और इस बात को जानते हुए कि मनुष्य का जीवन तो उतना ही चञ्चल (नश्वर) है, जितनी बिजली की चमक अथवा कमल की पंखुड़ियों पर गिरी हुई पानी की बूँदें । जो अपने अज्ञान के अन्धकार में अपनी बुद्धि के पटल बन्दकर इस दान को बाधित करने वाले परामर्श को स्वीकार करेगा, उसे पञ्चमहापातकों का दोष (दण्ड) प्राप्त होगा, क्योंकि भगवान् वेदव्यास ने भी कहा है । पंक्तियाँ ६९-७२ ।

भूमिदान करने वाला ६० हजार वर्षों तक स्वर्ग में जीवित रहता है । उसको तोड़ने वाला अथवा वैसा करने वाले का समर्थन करने वाला उतने ही वर्षों तक नरक में निवास करता है ॥ पंक्ति ७३॥

जो भूमिदान का हरण करते हैं, वे काले सर्प बनकर पैदा होते हैं, जो विंध्य के जंगलों में बिना पानी वाले सूखे हुए पेड़ों के कोटरों में रहकर निवास करते हैं ॥ पंक्ति ७३ ॥

जो गायें, पृथिवी और सोना दान करता है, उसे तीनों लोक प्राप्त होते हैं। सगर आदि अनेक राजाओं ने पृथिवी का भोग किया। जिसके हाथ में जब-जब भूमि रही, उसका फल उसे तबतक मिलता रहा। पंक्ति ५७ ॥

चाहे अपने द्वारा पृथिवी का दान किया गया हो अथवा दूसरे द्वारा किया गया हो; पूर्व में स्वयं दिये गये दान की अपेक्षा दूसरों द्वारा दिये गये दान का परिपालन अधिक श्रेयस्कर है। इति ॥ पंक्ति ७५ ॥

कमलदल पर गिरी हुई बूदों की तरह सम्पत्ति और मनुष्य जीवन को अनित्य मानते हुए, अपनी और पूर्वजों की कीर्त्ति हेतु अतिविमल मन से (किये गये इस भूमिदान को) कायस्थवंशी वालमवंशोत्पन्न **धर्माधिकारिन्** और **भोगिक** श्रीमद् **अमोघवर्ष** के चरणकमलों का अनुयायी (अनुजीवी) वत्सराज के पुत्र गुणधवल ने लिखा। **महत्तक** गोग्गूराज **दूतक** ने राजा के मुख (आदेश) को प्राप्त किया।

महान् राज्यश्री मंगलमय हो। पंक्तियाँ ७६ से ७८ ॥

अध्याय ५
कल्याणी के चालुक्य

कल्याणी (कल्याण) को अपनी राजधानी बनाकर लगभग दो सवा दो सौ वर्षों तक शासन करने वाले चालुक्य परवर्ती (बाद में होने वाले) चालुक्य भी कहलाते हैं। उनके इतिहास की जानकारी के स्रोत प्राय: वे ही हैं, जो बादामी के चालुक्य इतिहास के हैं। वे मुख्यत: अभिलेख मात्र हैं, जिनमें परवर्ती चालुक्यों के अभिलेखों की संख्याएँ बहुत अधिक हैं। चूंकि उनके समय कर्नाटक की उत्तरी और दक्षिणी सीमाओं पर उन्हीं के समान शक्तिशाली अनेक महत्त्वाकांक्षी सत्ताएँ भी थीं और उनके भी अभिलेखों की संख्याएँ प्रभूत हैं तथा उनमें भी समकालिक चालुक्य इतिहास की अनेक घटनाओं के विवरण हैं, सब मिलाकर इन चालुक्यों के इतिहास की जानकारी के बहुत ही अधिक साधन प्राप्त हो जाते हैं। उनका समय आते-आते ताम्रपत्रों पर प्रकाशित किये जाने वाले अभिलेखों का प्रचलन कम हो गया था और आगे अधिकांश लेख पत्थरों पर ही खुदे हुए प्राप्त होते हैं। साथ ही, उनकी भाषा संस्कृत के साथ-साथ कन्नड़, तेलुगू और तमिल भी होती गयी है। साहित्यिक साधनों में मुख्यत: दो ही ग्रंथ प्राप्त होते हैं, एक है कन्नड़ भाषा में रन्नकवि द्वारा लिखित **गदायुद्ध** और दूसरा बिल्हण द्वारा विरचित **विक्रमांकदेवचरित** महाकाव्य। **गदायुद्ध** में चालुक्यों से सम्बद्ध अनेक युद्धों के विवरण तो हैं, किन्तु वे कुछ प्रशंसात्मक ही अधिक हैं। तथापि उनसे तत्कालीन कर्नाटक की सामाजिक-धार्मिक परिस्थितियों की अच्छी जानकारी, विशेष ग्राह्यरूप में, प्राप्त होती है। **विक्रमांकदेवचरित** षष्ठ विक्रमादित्य के संपूर्ण जीवन का एक अत्यन्त काव्यात्मक और प्रशंसात्मक विवरण देता है, जो काफी मात्रा में स्वीकार्य होते हुए भी अतिरंजित है। बिल्हण विक्रमादित्य के प्रत्येक कार्य (जैसे अपने ही भाइयों से विद्रोह कर देने और उन्हें मार देने आदि को) की सही या गलत वकालत करता हुआ दिखायी देता है। तथापि उसमें उसके द्वारा लड़े गये युद्धों, चोड़ शासकों से उसके सम्बन्धों तथा अन्य समकालीन सत्ताओं के प्रति उसके राजनीतिक तथा सांस्कृतिक क्रिया-कलापों के विवरण प्राप्त होते हैं। उनमें छिपी हुई किन्तु अतिरंजित प्रशंसाओं की परतों के भीतर से इतिहास के वास्तविक तथ्य उजागर किये जा सकते हैं।

वंश परंपरा

परवर्ती चालुक्य भी अपने को बादामी के चालुक्यों का ही वंशज कहते हैं[१]।

---

१. मानव्यसगोत्राणां हारितिपुत्राणां कौशिकीवरप्रसादलब्धश्वेतापत्रादि राज्यच्छिन्नां सप्तमातृका-परिरक्षितानां कार्तिकेयवरप्रसादलब्ध। कौथेम अभिलेख, इऐ०,जिल्द १६, पृष्ठ २१; नीलगुण्ड अभिलेख, एइ, जिल्द १२, पृष्ठ १५०।

यद्यपि अनेक ऐसे भी विदान् हैं, जो इन दोनों वंशों की उत्पत्ति को एक समान स्वीकार नहीं करते, यह मानने में आपत्ति नहीं होती कि कल्याणी के चालुक्य भी बादामी के चालुक्यों से जन्मना सम्बद्ध थे। अभिलेखों के अनुसार दोनों ही शाखाओं के एक समान विरुद-यथा **सत्याश्रय, जगदेकमल्ल, त्रिभुवनमल्ल**[१] **युद्धमल्ल** और **राजमल्ल** थे। परवर्ती चालुक्यों के अधिकांश अभिलेखों में उनके वंश का प्रारंभ बादामी के चालुक्य शासक द्वितीय कीर्त्तिवर्मा से किया गया[२] है। द्वितीय तैलप तक, केवल एक को छोड़कर, सभी राजाओं के नाम भी एक समान हैं। इन नामों की समता रन्नकवि रचित **गदायुद्ध** नामक ग्रंथ की चालुक्य वंशावली में भी प्राप्त होती है[३]। दोनों वंशों के गोत्रनाम (हारितिपुत्र), कार्त्तिकेय जैसे देवताओं के प्रति उनकी भक्ति और राजचिह्न जैसी समानताएँ भी उनमें हैं। बादामी के चालुक्य वंश के अंत और कल्याणी के वंश के प्रारंभ के बीच यद्यपि २२० वर्षों का अन्तर है और उस बीच केवल सात पुश्तें ही दिखायी गयी हैं, जिनका औसत अन्तराल भी लम्बा है, तथापि दोनों वंशों के एक होने के तथ्य को स्वीकार करने में यह किसी बहुत बड़ी बाधा के रूप में नहीं स्वीकार किया जा सकता।

इस बीच प्रथम तैल (तैलप) और उसके बाद वाले चालुक्य सरदार बीजापुर जिले में कदाचित् राष्ट्रकूटों के सामन्त रूप में विद्यमान रहे। उनके विवाह सम्बन्ध राष्ट्रकूट और चेदि देश के हैहयवंशी (कलचुरि) राजकुमारियों से होते रहे। यह इस बात का प्रमाण है कि उनका राजवंशीय स्वत्व समाप्त नहीं हुआ था।

वंश का सर्वप्रथम शासक प्रथम तैल था, जिसे तैल **महाराजाधिराजदेव** और **परग्गडे महाराज** भी कहा गया[४] है। उसकी तीसरी पुश्त में अय्यण हुआ, जिसने राष्ट्रकूट शासक द्वितीय कृष्ण की पुत्री से विवाह किया। उस विवाह से उसकी प्रतिष्ठा अवश्य बढ़ी होगी। इस विवाह से चतुर्थ विक्रमादित्य जन्मा, जिसका विवाह लक्ष्मणराज (चेदि शासक) की पुत्री बोन्थादेवी से हुआ था। इन दोनों वैवाहिक सम्बन्धों का यह निर्देश है कि सुसुप्त चालुक्य वंश की राजनीतिक प्रतिष्ठा पुन: उदित हो रही थी।

द्वितीय तैलप (९७३-९९७ ई०)

चतुर्थ विक्रमादित्य और बोन्थादेवी से उत्पन्न द्वितीय तैल (तैलप) कल्याणी के चालुक्य वंश का संस्थापक सिद्ध हुआ। ९५७ और ९६५ ई० में उसके द्वारा तृतीय कृष्ण के सामन्त के रूप में बीजापुर जिले में शासन चलाने के आभिलेखिक प्रमाण प्राप्त होते हैं। तैलप्पय नाम से वह कन्नरदेव (तृतीय कृष्ण) द्वारा एक **नाडु** का शासक नियुक्त किया

---

१. कौथेम अभिलेख, इऐ०, जिल्द १६, पृष्ठ १६।
२. पी०बी० देसाई, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १५२।
३. वहीं, पृष्ठ १५३।
४. बाम्बे कर्नाटक इन्स्कृप्शन्स्, १९२-२९ का १७६।

गया था। किन्तु बाद के अभिलेखों में उसे **महासामन्ताधिपति आहवमल्ल तैलप्परस** (रस=राज) कहा गया है। राष्ट्रकूट सामन्त की हैसियत से उसे **जीवित** (पारिश्रमिक) के रूप में तरडावाडि १००० (गांवों वाला) क्षेत्र प्राप्त था। तृतीय कृष्ण के उत्तराधिकारिओं की कमजोरी का लाभ उठाकर उसने क्रमशः अपनी शक्ति बढ़ा ली। षष्ठ विक्रमादित्य के गडग नामक स्थान से प्राप्त एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि ९७३-९७४ ई० तक उसने अपने वंश की राज्यश्री को पुनर्स्थापित कर चुकने के बाद पृथ्वी पर शान्ति स्थापित कर दी थी[१]। स्पष्ट है कि उस वर्ष तक कल्याणी की चालुक्य सत्ता स्वतंत्र रूप से स्थापित हो चुकी थी। राष्ट्रकूटों की बढ़ती हुई कमजोरी का लाभ उठाते हुए धारा के परमार शासकों-हर्ष सीयक और मुञ्ज, ने भी मान्यखेट को लूटा तथा ९७२ ई० में राष्ट्रकूट शासक, द्वितीय कर्क, तैलप द्वारा युद्ध में मारा गया और राष्ट्रकूट सत्ता का अन्त हो गया। अपनी राजनीतिक प्रतिष्ठा की वृद्धि हेतु तैलप ने भम्महरट्ट नामक किसी राष्ट्रकूट सरदार की पुत्री से विवाह भी किया, जिसका नाम जाकब्बे था।

जब ९७२-९७३ ई० में द्वितीय तैलप ने कमजोर राष्ट्रकूट शासक द्वितीय कर्क पर आक्रमण किया तो कर्क अपने मित्र राष्ट्रकूट सरदार रणखम्भ की सहायता के बावजूद भी उसके साथ ही युद्ध में मारा गया[२] और चालुक्य सत्ता पुनर्स्थापित हो गयी। यह ज्ञात नहीं है कि तैलप के श्वसुर भम्मह (जाकब्बे के पिता) ने इस युद्ध में तैलप की मदद की थी या नहीं।

षष्ठम् विक्रमादित्य का गडग से प्राप्त एक अभिलेख यह कहता[३] है कि ९७३-९७४ ई० के बाद २४ वर्षों तक तैलप चालुक्य राज्य की प्रतिष्ठा को बढ़ाता ही रहा। वंश के अन्य अभिलेख भी इसका समर्थन करते हैं और इस अवधि को द्वितीय तैलप के सम्पूर्ण शासन काल के रूप में स्वीकार किया गया है।

द्वितीय कर्क की मृत्यु के साथ राष्ट्रकूट सत्ता का पूरी तरह लोप हो गया और राष्ट्रकूटों के सभी सामन्तों तथा उनकी अधिसत्ता स्वीकार करने वाले शासकों को एक-एक करके तैलप ने चालुक्य सत्ता के अधीन कर लिया। गंगराज मारसिंह मार डाला गया; **ब्रह्मक्षत्र** माटूरवंशी शान्तिवर्मा नामक एक अन्य शासक को भी राष्ट्रकूटों की अधिसत्ता त्यागकर चालुक्य अधिसत्ता स्वीकार करनी पड़ी तथा एक अन्य गंग शासक पञ्चालदेव मार डाला गया[४]। बेल्लारी जिले से ऐसे अनेक अभिलेख प्राप्त होते हैं, जो यह प्रमाणित

---

१. इऐ०, जिल्द २१, पृष्ठ १६७-१६८; एपि० इण्डिका, जिल्द १५, पृष्ठ ३५०।
२. एइ०, जिल्द १६, पृष्ठ १०-सोगल का अभिलेख।
३. इऐ०, जिल्द २१, पृष्ठ १६७-१६८; एइ० जिल्द १५, पृष्ठ ३५० तथा जिल्द १६, पृष्ठ २३।
४. नीलकान्त शास्त्री, (याजदानी) दि अर्ली हिस्ट्री ऑफ् दि डेकन-भाग १-६, पृष्ठ ३२०-३२१।

करते हैं कि ९७६ ई० तक तैलप ने साम्राज्य सूचक सभी बड़ी-बड़ी उपाधियाँ धारण कर ली थीं। उस समय तक नोलम्बवाड़ि में शासनस्थ पल्लवों ने भी उसकी अधिसत्ता स्वीकार कर ली थी। वनवासी का कन्नप तथा उसके छोटे भाई और उत्तराधिकारी शोभनरस ने भी उसकी अधीनता मान ली। बेलगांव जिले के सौन्दत्ति के रट्टों, उत्तरी कोंकण के शिलाहारों, सेउण देश (खानदेश) के यादववंशी द्वितीय भिल्लम और लाट देश को भी उसकी अधीनता में चले जाने को विवश होना पड़ा[१]। इस प्रकार गुजरात को छोड़कर राष्ट्रकूट साम्राज्य के सभी प्रशासित और अधिशासित भागों पर द्वितीय तैलप का अधिकार हो गया था तथा उसके समय तक परवर्ती चालुक्य वंश भारतवर्ष में एक नयी और शक्तिशाली सत्ता के रूप में पूरी तरह उभर चुका था।

द्वितीय तैलप के सम्पूर्ण शासन काल, अथवा यों कहें कि उसके सम्पूर्ण राजनीतिक और सैनिक जीवन को, दो भागों में बांटा जा सकता है, एक तो राष्ट्रकूटों को पूरी तरह उखाड़ कर उनकी साम्राज्य सत्ता को हथिया लेने के पूर्व का उसका वह जीवन काल, जब वह उनके एक सामन्त के रूप में उनके शत्रुओं के विरुद्ध लड़े जाने वाले युद्धों में भाग लेता रहा और दूसरा वह जब वह पूर्ण स्वतंत्र और स्वयं एक साम्राज्यभोगी के रूप में सभी समकालीन बड़ी-बड़ी सत्ताओं से भिड़ने के लिए विवश हुआ। उत्तर में राष्ट्रकूटों के शत्रु प्रतीहारों की साम्राज्य सत्ता के खण्डहरों पर गुजरात में चौलुक्य, मालवा में परमार और बुन्देलखण्ड में चन्देलों का उदय हो चुका था और इन सबमें मूलराज, मुञ्जराज और यशोवर्मा तथा धंग जैसे शक्तिशाली शासक स्वतंत्र रूप से अपनी-अपनी शक्ति का संवर्धन कर रहे थे। दक्षिण में चोड़ राज्य राष्ट्रकूटों का स्थायी शत्रु और प्रतिस्पर्द्धी था तथा वेंगी और वनवासी जैसे छोटे-छोटे राज्यों को यथावसर अपने पाले बदलते रहने को विवश होना पड़ता था। ऐसी दशा में जब वह राष्ट्रकूट सत्ता के उत्तराधिकारी के रूप में उदित हुआ तो यह स्वाभाविक था कि राष्ट्रकूटों के सभी शत्रु उसके विरुद्ध भी भिड़ते रहने को उद्यत हो जाते। इन नवोदित सत्ताओं से चालुक्यों के युद्धों के विवरण अभिलेखों में तो प्राप्त होते ही हैं, तत्कालीन साहित्य के कुछ प्रमुख ग्रंथ भी उनके कुछ ऐतिहासिक और कुछ प्रशंसात्मक तथा अतिरंजित उल्लेखों से भरे पड़े हैं।

यहाँ तैलप और परमारराज मुञ्जराज (उत्पलराज) के बीच के सम्बन्धों और उनकी अन्तिम परिणति पर ध्यान देना आवश्यक है। १३०४ ई० में जैन कवि मेरुतुंग द्वारा लिखित **प्रबन्धचिन्तामणि** में एक पूरा प्रबन्ध ही मुञ्जराज को समर्पित है। तदनुसार[२], मुञ्जराज और तैलप के बीच युद्धों का एक लम्बा दौर चला। कथित है कि तैलप ने छह

---

१. वहीं, पृष्ठ ३२१; इऐ०, जिल्द १२, पृष्ठ १९६-२०५; प्रचिद्वि० पृष्ठ २०।
२. प्रबन्धचिन्तामणि, ह०प्र० द्विवेदी का हिन्दी अनुवाद, पृ० २१-३१, टॉनी का अंग्रेजी अनुवाद १९०१, पृष्ठ ३३-३६।

बार मुञ्जपर आक्रमण किया, किन्तु प्रत्येक बार उसकी हार हुई[१]। अन्तिम आक्रमण से खीझकर मुञ्ज ने तैलप के राज्य के ऊपर स्वयं चढ़कर उसे समाप्त कर देने का निश्चय किया, किन्तु उसके मंत्री रुद्रादित्य को यह योजना जँची नहीं। उसने मुञ्ज को मना किया, किन्तु जब उस मालवराज ने उसकी बात नहीं मानी तो अन्त में उसने यह परामर्श दिया कि मुञ्ज गोदावरी नदी को पार न करे। किन्तु मुञ्ज अपने दम्भ में गोदावरी नदी पारकर तैलप के निजी राज्यक्षेत्रों में घुस गया, युद्ध में तैलप से हारा, पकड़ा गया और जेल में डाल दिया गया। वहाँ उसपर निगाह रखने के लिए तैलप ने अपनी विधवा बहिन मृणालवती को लगा दिया, जिससे मुञ्ज के मधुर संबंध हो गये। मुञ्ज के रुद्रादित्य आदि मंत्रिओं ने चुपके-चुपके उसे बन्दीगृह से छुड़ा लेने हेतु एक सुरंग तैयार कर ली। विश्वास करके मुञ्ज ने इसकी जानकारी मृणालवती को दे दी, जिसने अपने भाई तैलप को सूचित कर दिया। अप्रसन्न होकर तैलप ने मुञ्ज को कारागर से निकाल कर एक बन्दर की तरह बांधकर अपनी राजधानी की सड़कों पर घुमाये जाने और भीख मांगने का आदेश दे दिया और अंत में उसे मारकर उसके सिर को अपने आंगन में टांग दिया और नित्यप्रति उसका अपमान करने लगा[२]। बेचारे रुद्रादित्य ने दुःख के मारे अपने को आग के हवाले कर दिया।

वास्तविक घटना के लगभग तीन सौ वर्षों बाद लिखे जाने वाले **प्रबन्धचिन्तामणि** के ये सभी उल्लेख यदि सही न माने जाते हुए कुछ अतिरंजित भी मान लिये जाँय, तो भी उसकी मूल ऐतिहासिक बातों के वास्तविक होने के अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं। मुञ्जराज के ९८० ई० के उज्जैन अभिलेख से उसके रुद्रादित्य नामक मंत्री की जानकारी होती है[३]। पञ्चम विक्रमादित्य के कौथेम अभिलेख से तैलप के हाथों उत्पलराज (मुञ्जराज) के बन्दी बनाये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है[४]। षष्ठ विक्रमादित्य का गडग अभिलेख यह सूचित करता है कि तैलप ने मुञ्ज का वध कर डाला[५]। यादवराज द्वितीय भिल्लम के संगमनेर अभिलेख का दावा है कि उसने अपने स्वामी **रणरंगभीम, आहवमल्ल** (तैलप) की ओर से मुञ्ज के विरुद्ध युद्ध किया था[६]। यह स्पष्ट है कि तैलप मुञ्ज के विरुद्ध युद्ध में पूरी तैयारी के साथ उतरा था। किन्तु यदि मेरुतुंग का यह विवरण[७] सही हो कि तैलप ने मुञ्ज

---

१. कुछ हस्तिलिखित प्रतियों में इन युद्धों की संख्या १६ बतायी गयी है।
२. देखें, वि० पाठक, उत्तर भारत का राजनीतिक इतिहास, पृष्ठ ५७२-५७३।
३. एइ०, जिल्द १, पृष्ठ २३५।
४. एइ०, जिल्द २, पृष्ठ २२५।
५. एइ०, जिल्द २, पृष्ठ २१८।
६. कर्नाटक और तमिलनाडु की सभी सत्ताएँ युद्धनीति के परित्याग में कोई संकोच नहीं करती थीं। मुञ्ज इस दोष का पहला दोषी नहीं था। अमोघवर्ष के संजान ताम्रलेख में सरदारों और सामन्तों द्वारा दूसरों की स्त्रियों, बहिनों को जबरदस्ती हथिया लेने और राजेन्द्र चोड़ की सेनाओं द्वारा कलिंग पर किये गये आक्रमण में स्त्री, बूढ़ों और बच्चों पर अत्याचार करने के उल्लेख कलिंगत्तुप्परणि में प्राप्त होते हैं। ऐसे और भी अनेक उदाहरण हैं।

के मृत शरीर का अत्यन्त अपमान करने के पूर्व भी उसके जीते जी अपनी राजधानी की गलियों में उसे बन्दरों की तरह बांधकर घुमाया तो यह स्पष्ट होगा कि उसने युद्धनीति को पूरी तिलाञ्जलि दे दी थी। चूंकि अमितगति ने अपने एक ग्रंथ का समापन ९९३-९४ ई० में करते हुए उसे मुंज को समर्पित किया और तैलप की मृत्यु ९९७-९८ ई० में हुई, इन दोनों तिथियों के बीच में, संभवत: ९९५ में, मुञ्जराज की मृत्यु की तिथि निश्चित की जा सकती है।

दक्षिण दिशा में तृतीय कृष्ण ने राष्ट्रकूटों की सत्ता को विस्तृत करते हुए अनेक चोड़ क्षेत्रों को जीत लिया था और असंभव नहीं है कि तैलप ने कृष्ण के उन युद्धों में राष्ट्रकूटों की ओर से भाग लिया हो। किन्तु द्वितीय राजेन्द्र के रूप में चोड़ों को एक बहुत बड़ा विजेता मिला, जिसने अपने अनेक विजित क्षेत्रों को वापस पा लेने में सफलता पायी। इसी क्रम में चोड़ों का तैलप से संघर्ष हुआ हो, यह असंभव नहीं है। बेल्लारी जिले के कोग्गलि नामक स्थान से **आहवमल्ल** (तैलप) का ९९२ ई० का एक अभिलेख प्राप्त[१] हुआ है, जिसमें उसके द्वारा चोड़राज को पराजित करने का उल्लेख है। किन्तु इस सम्बन्ध में चोड़ों की ओर का कोई भी साक्ष्य प्राप्त नहीं होता।

सत्याश्रय (९९७-१००८ ई०)

द्वितीय तैलप का उसकी रानी जाकब्बे से उत्पन्न पुत्र सत्याश्रय ९९७ ई० में चालुक्य राजगद्दी पर बैठा। उसने **अलंकारचरित्र** की उपाधि धारण की। उसका १०-११ वर्षों का सारा का सारा शासन काल तंजाऊर के शक्तिशाली और तेजी से वर्धमान चोड़ साम्राज्य के साथ युद्धों में ही बीता। प्रथम राजराज चोड़ (९८५-१०१४ ई०) और उसके पुत्र प्रथम राजेन्द्र चोड़ (१०१४-१०४५ ई०) के नेतृत्व में चोड़ों ने राष्ट्रकूटों के हाथों अपने वंश की पिछली पराजयों का बदला लेते हुए न केवल अपने सभी खोये हुए क्षेत्रों को ही वापस जीत लिया, अपितु आगे बढ़कर उन्होंने पूर्वत: कर्नाटक के अपने शत्रु राष्ट्रकूटों के उत्तराधिकारी परवर्ती चालुक्यों पर भी प्रहार करना प्रारंभ कर दिया। अपने पिता प्रथम राजराज की ओर से युद्ध का संचालन करते हुए प्रथम राजेन्द्र ने गंगवाड़ि और नोलम्बवाड़ि पर अधिकार कर लिया। किन्तु सत्याश्रय ने उसे कुछ समय के लिए वहाँ से हटा दिया और वहाँ के रोड्ड नामक स्थान में निवास किया[२]। कथित है कि उसने युद्ध में चोड़ सेना के हाथियों को छीन लिया। किन्तु चोड़ों ने उत्तर की ओर आन्ध्र प्रदेश की ओर बढ़ते हुए वेंगी राज्य में चालुक्यों के विरुद्ध एक दूसरा मोर्चा खोल दिया। वेंगी राज्य किसके प्रभावक्षेत्र में रहे, इसे लेकर बहुत पूर्व से ही एक ओर राष्ट्रकूटों और चालुक्यों और दूसरी ओर चोड़ों के बीच सर्वदा ही प्रतियोगिता और कसमकस चलती रहती थी।

---

१. साउथ इण्डियन् इन्स्कृप्शन्स्, जिल्द ९, प्रथम भाग, पृष्ठ ७७।

२. दि अर्ली हिस्ट्री ऑफ् दि डेकन, भाग १-६, पृष्ठ ३२३।

इस प्रकार चोड़ों और चालुक्यों के बीच दो मोर्चों पर दोतरफा युद्धों की नौबत आ गयी। इसमें पहल चोड़ों ने ही की। वेंगी में उत्तराधिकार का युद्ध छिड़ गया और चोड़ों ने वेंगी से बहिष्कृत कर दिये गये दानार्णव के पुत्र शक्तिवर्मन् को ९९९-१००० ई० में वेंगी की राजगद्दी पर बिठा दिया। सत्याश्रय के लिए यह स्थिति असह्य थी और वह पूर्व में शक्तिवर्मन् के विरुद्ध अग्रसर हो गया। १००६ ई० का एक अभिलेख चालुक्यों के पक्ष में यह दावा करता है कि सत्याश्रय के किसी बायलनम्बी नामक ब्राह्मण सेनापति ने दन्नड (धान्यकटक) और येनमडल के दो दुर्गों में आग लगा दी। चोड़ों ने उसका उत्तर राजेन्द्र के नेतृत्व में एक बड़ी सेना द्वारा वेंगी पर सीधे आक्रमण के माध्यम से दिया, जिसकी चर्चा बड़ी ही आलंकारिक भाषा में सत्याश्रय का होट्टूर अभिलेख[१] करता है। वहाँ राजेन्द्र के अपनी ९ लाख सेना के साथ दोनउर में शिविर लगाने का उल्लेख है। इस दोनउर की पहचान बीजापुर जिले के दोनूर नामक स्थान से की गयी है। स्पष्ट है कि चोड़ सेनाएँ सीधे चालुक्य क्षेत्रों पर छा गयीं, जहाँ उन्होंने पूरा ताण्डव मचाया। किन्तु उसी होट्टूर अभिलेख से यह भी ज्ञात होता[२] है कि सत्याश्रय ने उन्हें अन्ततः पीछे ढकेल देने में शीघ्र ही सफलता पा ली। तथापि चोड़ अभिलेखों में ये दावे किये गये हैं कि इन आक्रमणों द्वारा चोड़ सेनाओं ने चालुक्यों को बुरी तरह लूटकर बहुत अधिक धन सम्पत्ति प्राप्त की और उन्हें ले जाकर तंजाऊर में राजराज द्वारा निर्मित महान् शिव मंदिर को समर्पित कर दिया[३]।

किन्तु इस संघर्ष की समाप्ति यही नहीं हो गयी। चोड़ अभिलेखों से ज्ञात होता है कि राजेन्द्र चोड़ ने इड़ै-तुरै-नाडु (रायचूर के दोआब); जंगलों से आच्छादित वनवासी, शुड्डी वृक्षों से घिरे हुए परकोटे वाले कोल्लिपाकै और मड़ड़ैक्कडक्कम् को जीत लिया। नीलकान्त शास्त्री ने इड़ै-तुरै-नाडु को रायचूर दोआब, वनवासी को कदम्ब राज्य की राजधानी, कोल्लिपाकै को हैदराबाद से ४५ मील उत्तर-पूर्व में बसे हुए कुलपक तथा मड़ड़ैक्कडक्कम् को मान्यखेट से मिलाया[४] है। इस आक्रमण के फलस्वरूप चालुक्यों को अपने राज्य के उन अनेक क्षेत्रों को गंवाना पड़ा, जो उन्होंने राष्ट्रकूटों से उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त किया था। विशेष बात यह है कि इन गंवाये गये क्षेत्रों में वह मान्यखेट (आधुनिक मालखेद) नगर भी था, जो पहले राष्ट्रकूट सम्राटों की राजधानी रह चुका था और चालुक्य शासक अभी भी उसे अपनी राजधानी बनाकर वहाँ से अपना शासन चला रहे थे। इसके बाद में ही कभी चालुक्यों ने कल्याणी नगर को अपनी राजधानी के रूप

१. साउथ इण्डियन् इन्स्कृप्शन्स्, जिल्द ६, पृष्ठ १०२।
२. याजदानी सं०, दि अर्ली हिस्ट्री ऑफ् दि डेकन, भाग १-६, पृष्ठ ३२४।
३. साउथ इण्डियन इन्स्कृप्शन्स्, जिल्द २, संख्या १, पैरा ९२।
४. याजदानी सं०, दि अर्ली हिस्ट्री ऑफ् दि डेकन, भाग १-६, पृष्ठ ३२४।

में विकसित किया होगा। किन्तु ऐसा कब हुआ, यह कहना कठिन है। बिल्हण के अनुसार प्रथम सोमेशवर ने ही कल्याणी को अपनी राजधानी बनायी थी।

पञ्चम विक्रमादित्य और अय्यन (१००८-१०१५ ई०)

१००८ ई० में सत्याश्रय की मृत्यु के बाद उसका भ्रातृज पञ्चम विक्रमादित्य शासक हुआ। किन्तु उसके समय की कोई विशेष राजनीतिक अथवा सैनिक घटना का ज्ञान प्राप्त नहीं होता। उसके समय प्रकाशित होने वाले अभिलेखों की संख्या भी कम ही है। केवल एक प्रमुख अभिलेख है, जो कौथेम नामक स्थान से प्राप्त हुआ है। उसमें अनेक श्लोकों द्वारा विक्रमादित्य की दानवीरता, उसके यश और उसकी प्रशंसाएँ मात्र गायी गयी हैं। तथापि उसकी विशेषता यह है कि वह कल्याणी के चालुक्य वंश को बादामी के चालुक्य वंश से जोड़ते हुए दोनों की उत्पत्ति को एक समान हारितिपुत्र, कौशितिकी गोत्र, सप्तमातृकापरिरक्षित और कार्तिकेय की पूजा करने वालों के रूप में जोड़ता[१] है। उसे कोई पुत्र नहीं था और अक्कादेवी नामक उसकी बहिन १०१० ई० में किसुकाद ७० में शासनस्थ थी। कथित है कि वह मानों लक्ष्मी का ही अवतार थी। पञ्चम विक्रमादित्य का उत्तराधिकारी हुआ उसका छोटा भाई अय्यन (१०१५ ई०)। उसके शासन काल का न तो कोई अभिलेख प्राप्त होता है और न कोई विशेष घटना ज्ञात होती है।

द्वितीय जयसिंह (१०१५-१०४२ ई०)

द्वितीय जयसिंह एक ऐसे समय चालुक्य सत्ता का स्वामी बना जब उसकी दो दिशाओं में दो अत्यन्त शक्तिशाली सत्ताओं के दो सबसे शक्तिशाली शासक राज्यासीन थे–उत्तर में परमारवंशी भोज (१०१०-१०५५ ई०) और दक्षिण पूर्व में चोड़वंशी प्रथम राजेन्द्र (१०१४-१०४५ ई०)। ऐसी दशा में तीनों की महत्त्वाकांक्षाओं का टकराना स्वाभाविक था। चालुक्य राज्य (कर्नाटक) मालवा (परमार राज्य) और चोड़ राज्य (तंजाऊर के चारों ओर के तमिड़ क्षेत्रों) के बीच में पड़ता था और उन दोनों के बीच पिसने की उसकी संभावना ही अधिक थी। चालुक्यों की शत्रुताएँ इन दोनों ही राज्यों से पहले ही प्रारंभ हो चुकी थीं। द्वितीय तैलप द्वारा मुञ्जराज का मारा जाना भोज को सालता रहा होगा और उसका बदला लेने को वह आतुर रहा हो, यह स्वाभाविक[२] है। इसी प्रकार तृतीय कृष्ण के नेतृत्व में राष्ट्रकूटों ने जिन चोड़ क्षेत्रों को जीत लिया था, उन्हें एक-एक कर पुनः हथिया लेने का प्रयत्न तथा उसका बदला राष्ट्रकूटों सहित उनके उत्तराधिकारी चालुक्यों से लेने का क्रम द्वितीय तैलप के काल में ही राजराज चोड़ ने प्रारंभ कर दिया

---

१. हारितिपुत्राणां कोशितिकीवरप्रसादलब्ध श्वेतातपत्र आदिराज्योच्छिन्नानां, सप्तमातृकापरिरक्षितानाम् कार्तिकेयवरप्रसादलब्ध। इण्डियन् ऐण्टीक्वेटी, १८८७, पृष्ठ २१, पंक्तियाँ ५-६।

२. देखें, प्रबन्धचिन्तामणि (प्रचिद्वि०) पृष्ठ २९-४०।

था। कुछ परमार अभिलेखों से ज्ञात होता है कि उसके चालुक्यों के विरुद्ध आक्रमणों में राजेन्द्र चोड़ ने भी उसकी सहायता की थी[१]।

किन्तु इन त्रिपक्षीय संघर्षों तथा उनसे सम्बद्ध युद्धों की तिथियाँ क्या-क्या थीं; विभिन्न युद्धों में कौन पहले हुए और कौन बाद में; उनके स्थायी अथवा अस्थायी परिणाम क्या हुए अथवा कितने स्थायी हुए, इन सभी बातों का निश्चय करना कुछ कठिन ही प्रतीत होता है। जहाँ तक चोड़ शासक प्रथम राजेन्द्र के विरुद्ध लड़े गये जयसिंह के युद्धों का प्रश्न है, उनके सम्बन्ध में एक तथ्य यह दिखायी देता है कि उनका समय १०२५ ई० के पूर्व ही रहा होगा, क्योंकि प्रथम राजेन्द्र के इतिहास से हम यह जानते[२] हैं कि उस समय तक वह अपने सभी युद्धों और विजयों को समाप्त कर चुका था। अत: अच्छा यह होगा कि चालुक्यों, परमारों और चोड़ों के युद्धों अथवा अन्तरराज्यीय सम्बन्धों के ब्यौरे हम बारी-बारी से ही देखें।

भोज द्वारा कल्याणी के चालुक्य राज्य पर आक्रमण और विजय का पहला उल्लेख १०२० ई० वाले उसके बांसवाड़ा और बेतमा अभिलेखों से प्राप्त होता है, जिनमें उसकी **कोंकणविजय** और **कोंकणग्रहणविजयपर्व** के उल्लेख प्राप्त होते हैं। चूंकि कोंकण कर्णाट क्षेत्रों से उत्तर में स्थित था, उसने कर्णाट पर कोंकण से होकर ही अपनी सेनाओं का प्रयाण कराया होगा। इससे यह स्पष्ट होता है कि उसने चालुक्य राज्य के उन उत्तरी भागों पर अधिकार कर लिया था, जो गोदावरी नदी के उत्तर में स्थित थे। ऐसी सूचनाएँ प्राप्त होती हैं कि भोज के इस अभियान में कलचुरि शासक गांगेयदेव **विक्रमादित्य** और चोड़ शासक प्रथम राजेन्द्र ने उसकी सहायता[३] की थी। संभव है, चोड़ों द्वारा की गयी सहायता अप्रत्यक्ष ही रही हो, जो उनके द्वारा वेंगी अथवा गंगवाडि में चालुक्यों को संघर्षों में फंसाकर की गयी हो। भोज के सामन्त यशोवर्मा का कल्वन अभिलेख[४] भी भोज की कर्णाट, लाट और कोंकण पर विजय का उल्लेख करता है। ऐसा प्राय: स्वीकार किया गया है कि भोज की ये विजयें मालव-चालुक्य संघर्षों के पहले दौर का ही परिणाम थीं, जिसमें पहल भोज ने ही की थी। भोज के १०२० ई० और उसके बाद के कुछ अभिलेखों में कथित है कि उसने कर्नाटक में वातापी और मान्यखेट से आये हुए ब्राह्मणों को दान दिया[५]।

किन्तु जयसिंह हाथ पर हाथ रखे हुए इन परिस्थितियों को स्वीकार करता रहता,

---

१. कोलेनूर अभिलेख, एइ०, जिल्द १५, पृष्ठ ३३१।
२. देखें, आगे चोड़ इतिहास वाला अध्याय, पृष्ठ ४०१।
३. कोलेनूर अभिलेख, एइ०, जिल्द १५, पृष्ठ ३३१।
४. एइ, जिल्द १३, पृष्ठ ७१-७२; कार्पस्, जिल्द ४, पृष्ठ ५० तथा पृष्ठ २५६।
५. इऐ०, जिल्द ६, पृष्ठ ५४।

यह अकल्पनीय है। चूंकि सभी प्राचीन भारतीय राजाओं के अभिलेख अधिकांशत: उनकी प्रशस्तियाँ ही हैं, उनमें उनकी पराजयों के उल्लेख की अपेक्षा करना हास्यास्पद ही है। पीछे हम देख चुके हैं कि भोज की चालुक्य क्षेत्रों में विजयें १०२० ई० के पूर्व सम्पन्न हो चुकी थीं। अत: उसके बाद के चालुक्य अभिलेख यदि चालुक्य विजयों का द्वावा करते हैं तो यह मानना होगा कि चालुक्यों ने प्रत्याक्रमण ही किये और अपनी खोयी हुई भौमिक एकता प्राप्त की। १०१९ ई० का जयसिंह का बेलगांव का अभिलेख[१] उसे 'भोजरूपी कमल के लिये चन्द्र' के समान बताता है। किन्तु यह एक प्रशस्ति मात्र प्रतीत होती है। १०२४ ई० का उसका मीरज अभिलेख कहता है कि उसने कोंकण के अधिपति की सारी सम्पत्ति छीन ली और कोल्हापुर के विजयस्कन्धावार में निवास करते समय उत्तर की ओर और विजयों हेतु योजनाएँ बनायीं[२]। उसके इन युद्धों में चावनरस नामक उसके सामन्त ने भाग लिया[३] था। चट्टुग अथवा चट्ट नामक उसके शिलाहारवंशी एक अन्य सामन्त के भी गौतम गंगा (गोदावरी) तक पहुँचकर उसके लिए युद्ध लड़ने के उल्लेख प्राप्त होते हैं[४]। इन आलेख्यों से यह तो स्पष्ट होता है कि जयसिंह को चार-पाँच वर्षों के भीतर ही (१०१९-१०२४ ई०) अपने खोये हुए सभी उत्तरी प्रदेशों को वापस पा लेने में सफलता प्राप्त हो गयी। किन्तु उसके तत्सम्बन्धी मालवों के विरुद्ध किये गये अभियान प्रतिरक्षात्मक ही थे, आक्रमणात्मक नहीं।

किन्तु दक्षिण-पूर्व अथवा पूर्व (वेंगी) की दिशा वाले चोड़ों के विरुद्ध उसकी भिड़न्तें अधिक कठिनाई वाली, कुछ हद तक दीर्घकालिक और चालुक्य साम्राज्य के लिए हानिप्रद सिद्ध हुईं। सत्याश्रय के समय चोड़ों ने वेंगी के पूर्वी चालुक्य राज्य पर अपनी अधीनता को स्वीकार करने वाले संभवत: विमलादित्य को बिठाने में सफलता पा ली थी और वनवासी तथा मास्की (मुसंगी) के आसपास के अनेक क्षेत्रों को चालुक्यों से छीन लिया था (१०२०-१०२१ ई०)। किन्तु १०१५-१०२० ई० के बीच चोड़ों को दक्षिण और दक्षिण-पूर्व में पाण्ड्यों, केरलों तथा सिहल राज्यों के विरुद्ध उलझना पड़ा और उनके पास उत्तर अथवा उत्तर-पश्चिम की ओर ध्यान देने का समय ही नहीं मिला। इस बीच जयसिंह को पूर्वत: खोये हुए अपने कुछ क्षेत्रों को पुन: पा लेने में सफलता प्राप्त हो गयी। उसने रायचूर दोआब को जीत लिया, और तुंगभद्रा नदी को पारकर वह बेल्लारी[५] और गंगवाडि के क्षेत्रों पर भी अधिकृत हो गया। इस अभियान में उसका सेनापति था कुन्दमरस, जिसे चोड़ों की हस्तिसेनाओं को पीछे ढकेल देने का श्रेय दिया गया[६] है। वेंगी का पूर्वी

१. इऐ०, जिल्द ५, पृष्ठ १५-१७।
२. एइ०, जिल्द १२, पृष्ठ ३०३।
३. एइ०, जिल्द १६, पृष्ठ ७५ और आगे।
४. एइ०, जिल्द १५, पृष्ठ ३३३; जिल्द १६, पृष्ठ ३५७।
५. एइ०, जिल्द १५, पृष्ठ ३३१, श्लोक १।
६. वहीं, श्लोक ५।

चालुक्यवंशी (चोड़ों का नामांकित) विमलादित्य अब वहाँ की गद्दी पर नहीं था और जयसिंह ने उसके पुत्र, राजराज, की जगह अपने नामांकित को वहाँ की गद्दी पर आसीन कराकर वेंगी को भी अपनी अधिसत्ता के भीतर लाने में सफलता पा ली। वेंगी की सत्ता को पाने में विफल राजराज चोड़ों से वैवाहिक संबंध से बंधा था। यही नहीं, जयसिंह के एक अन्य सेनापति चावणरस ने वेंगी में नवनियुक्त शासक तथा चालुक्य नामांकित को बेजवाड़ा (विजयवाड़ा) का दुर्ग जीतने में सफलता दिलायी। इन चालुक्य विजयों का परिणाम यह हुआ कि राजराज पुन: कुछ वर्षों के लिए वेंगी वाली राजगद्दी प्राप्त करने में असफल रहा। इन सफलताओं के कारण ही चालुक्य अभिलेखों में जयसिंह को राजेन्द्र रूपी हाथी के लिए सिंह कहा गया है।

किन्तु राजेन्द्र चोड़ को इन चालुक्य विजयों को उलटकर उन्हें अन्तत: चालुक्यों की हार में बदलते देर नहीं लगी। उसने दोनों ही मोर्चों पर एक साथ हमला बोला–एकतरफ वेंगी पर और दूसरी ओर गंगवाडि, नोलम्बवाडि और इडै-तुरै-नाडु (रायचूर दोआब) पर। उसने चालुक्यों द्वारा नवनियुक्त वेंगी के शासक, विजयादित्य सप्तम को भाग जाने को विवश करते हुए वहाँ अपने नामांकित और सम्बन्धी राजराज को प्रतिस्थापित कर दिया। (१०२२ ई०)। पश्चिमी दिशा वाला मुख्य युद्ध मास्की में लड़ा गया। इससे स्पष्ट होता है कि जिस तुंगभद्रा नदी को पारकर चालुक्यों ने गंगवाडि, नोलम्बवाडि और रायचूर के दोआब सहित चोड़ क्षेत्रों को पहले जीत लिया था, उन्हें अब उस नदी की उत्तर दिशा तक ही सीमित रह जाने को विवश होना पड़ा। इस प्रकार दोनों ही पक्ष अपनी-अपनी विजयों का दावा तो करते हैं, किन्तु यह प्रतीत होता है कि अन्तिम सफलता चोड़ों के हाथों ही लगी। फलस्वरूप धीरे-धीरे चुपचाप दोनों ही पक्षों ने तुंगभद्रा नदी को पारस्परिक राज्यसीमा स्वीकार कर[१] लिया।

आगे लगभग चौबीस वर्षों तक जयसिंह ने शान्तिपूर्वक शासन किया, जिस बीच उसने अनेक लेख खुदवाये, दान दिये, शान्तिकालीन अन्य कार्य किये और अनेक सामन्तों द्वारा स्वीकृत अपनी अधिसत्ता का भोग किया। यद्यपि इस अवधि में उसके अनेक सामन्त आपस में भिड़े, किन्तु स्वयं उसके द्वारा लड़े गये किसी बड़े युद्ध का प्रमाण नहीं मिलता। उसकी बहिन अक्कादेवी कई क्षेत्रों पर बारी-बारी से पहले भी गवर्नर रह चुकी थी[२]। उसको १०२२ ई० के एक अभिलेख में भैरवी (दुर्गा) के समान साहसी और वीर बताया गया[३] है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि उसने स्वयं भी कुछ युद्धों में भाग लिया था। किन्तु इस लेख के प्रकाशन के लगभग १५ वर्षों बाद प्रकाशित होने वाले एक अन्य अभिलेख[४]

---

१. नीलकान्त शास्त्री, दि अली हिस्ट्री, ऑफ् दि डेकन, भाग १-६, पृष्ठ ३२९।
२. देखें पीछे, पञ्चम विक्रमादित्य का प्रकरण, पृष्ठ १४९।
३. एपिग्राफिया कर्नाटिका, जिल्द ८ सं० १८४।
४. इऐ०, जिल्द १८, पृष्ठ २७०-२७५।

से यह ज्ञात होता है कि उस वर्ष वह वनवासी १२००० (गांवों वाले) के क्षेत्रों पर शासन करती थी। उस अभिलेख में उसके साथ मयूरवर्मन्देव का भी उल्लेख[१] है, जो संभवत: उसका पति था। उनसे उत्पन्न पुत्र का नाम था तोयिमारस। मयूरवर्मन्देव के जिम्मे, वनवासी पर उसके अपनी पत्नी (अक्कादेवी) के सहअधिकार के साथ ही, पानुगल १००० भी था[२]।

जयसिंह की एक उपाधि **जगदेकमल्ल** थी। उसकी दो रानियाँ थीं। एक रानी, सुग्गलदेवी, ने पाशुपत आचार्य ब्रह्मर्षिपण्डित को दान दिया। इस आचार्य का उल्लेख **वासवपुराण** नामक ग्रन्थ में आता है। उसकी दूसरी रानी का नाम देवलदेवी था, जो एक नोलम्ब राजकुमारी थी और संभवत: उदयादित्य की पुत्री थी। जयसिंह की पुत्री हम्मा = आवल्लादेवी सेउणदेश के राजा तृतीय भिल्लभ को ब्याही थी।

ऐसा प्रतीत होता है कि चालुक्य साम्राज्य की राजधानी अब भी मान्यखेट ही थी। चोड़ अभिलेखों में कहीं भी, द्वितीय राजेन्द्र चोड़ के शासन के अन्तिम वर्ष (१०४४ ई०) तक कल्याणी का चालुक्य राजधानी के रूप में उल्लेख नहीं किया गया है। अत: यह निश्चित है कि द्वितीय जयसिंह के शासनान्त (१०४२ ई०) तक मान्यखेट नगर ही चालुक्य साम्राज्य की राजधानी बना रहा।

प्रथम सोमेश्वर (१०४२-१०६८ ई०)

प्रथम सोमेश्वर ने **आहवमल्ल** और **त्रैलोक्यमल्ल** की उपाधियाँ धारण कीं। सर्वप्रथम उसी ने कल्याणी को अपनी राजधानी का रूप दिया। वह नगर पहले से ही सैनिक छावनी के रूप में विद्यमान था। बिल्हण का कथन[३] है कि सोमेश्वर ने नये भवनों का वहाँ निर्माण किया और नगर को हर प्रकार से सजाया और सुख-सुविधाओं से सुशोभित किया।

प्रथम सोमेश्वर के सम्पूर्ण शासन काल में चोड़ों और परमारों के साथ चालुक्यों के युद्ध सतत् चलते रहे, जिनके बीच-बीच में समकालीन छोटी-छोटी और सामन्त सत्ताओं ने या तो एक पक्ष अथवा दूसरे पक्ष का साथ दिया अथवा मौकों का लाभ उठाते हुए स्वयं भी स्वतंत्र हो जाने का प्रयत्न किया। फलत:, सोमेश्वर को अनेक छोटे-छोटे राज्यों से भी उलझना पड़ा। चोड़-चालुक्य युद्धों तथा उनकी पारस्परिक राजनीतिक और सैनिक महत्त्वाकांक्षाओं के मध्य वेंगी का पूर्वी चालुक्य राज्य हमेशा उन दोनों के बीच का

---

१. एइ०, जिल्द १६, पृष्ठ ७५ और आगे।

२. नीलकान्त शास्त्री (याजदानी सं०) दि अर्ली हिस्ट्री ऑफ् दि डेकन, भाग १-६, पृ० ३२९, नोट ३।

३. विक्रमांकदेवचरित, द्वितीय, १-२५।

मुहरा बना रहा। इसी बीच उत्तरभारतीय राजनीति में एक जबरदस्त कूटनीतिक क्रान्ति[१] हुई। भोज अपने जीवन के अन्तिम भागों में गुजरात के चौलुक्यों और बघेलखण्ड के कलचुरिओं का साझा आक्रमण भुगतने को विवश हुआ और उसका लाभ प्रथम सोमेश्वर चालुक्य ने पूरी तरह उठाया। भोज ने अपने उत्कर्ष और यौवनकाल में बारी-बारी से सभी समकालीन राज्यों का मानमर्दन किया था। किन्तु उसकी मृत्यु के बाद उसके दो कमजोर उत्तराधिकारिओं-जयसिंह और उदयादित्य-के समय पूर्वत: भोज के शत्रु रहे सभी शासकों-अण्हिलवाड़ के प्रथम भीम, त्रिपुरी के कलचुरि कर्ण (लक्ष्मीकर्ण) तथा कल्याणी के प्रथम सोमेश्वर ने परमार राज्य की राजधानी में कई प्रकार के हस्तक्षेप प्रारंभ कर दिये। अन्तत:, उन्होंने शत्रुओं को मित्र बना लेने अथवा मित्रों को शत्रु बना लेने में भी कोई हिचकिचाहट नहीं दिखायी। द्वितीय सोमेश्वर भी इन क्रिया-कलापों से विरत नहीं सिद्ध हुआ[२]। आगे इन सबका यथावसर उल्लेख किया जायगा।

पीछे हम देख चुके हैं कि द्वितीय जयसिंह के समय, उसके शासन के प्रारंभिक वर्षों में ही (१०१९-१०२४ ई० के बीच), परमारराज भोज (१०१०-१०५५ ई०) और द्वितीय जयसिंह चालुक्य के बीच प्रथमत: परमारों के आक्रमण और पुन: चालुक्यों के प्रत्याक्रमण के युद्धों के दो दौर चल चुके थे और कुछ वर्षों तक के लिए, कर्नाटक, लाट और कोंकण के क्षेत्रों पर भोज परमार का अधिकार हो चुका था। यह समय परमार सत्ता का सर्वोच्च काल था और भोज उत्तर भारतीय राजनीति में प्राय: अपने जीवन के अन्तिम भागों तक छाया रहा। किन्तु कलचुरि कर्ण और अण्हिलवाड़ के चौलुक्य शासक प्रथम भीम के रूप में उसके दो सशक्त प्रतिद्विन्द्विओं के राजनीतिक पटल पर आ जाने के कारण ११वीं शताब्दी के चौथे दशक के राजनीतिक गगन में भोज का तेज धीमा पड़ने लगा। इस बीच चालुक्यों (द्वितीय जयसिंह) और चोड़ों (द्वितीय राजेन्द्र) के बीच भी कोई बड़ा संघर्ष नहीं हुआ। किन्तु इन दोनों के करीब-करीब एक ही साथ होने वाले शासनान्तों के बाद प्रथम सोमेश्वर द्वारा चालुक्य सत्ता संभाले जाने के साथ उपर्युक्त पूरा परिदृश्य ही बदल गया और परस्पर युद्धों के अनवरत क्रम पुन: प्रारंभ हो गये।

प्रथम सोमेश्वर के समय चालुक्यों के विभिन्न सत्ताओं से होने वाले संघर्षों को तीन भागों में बांटा जा सकता है। प्रथमत: परमारों से संघर्ष:, द्वितीयत: छोटे-छोटे तथा सामन्ती राज्यों के विद्रोहों के कारण उत्पन्न होने वाले संघर्ष और तृतीयत:, चोड़-राजाओं से होने वाले संघर्ष। इनमें से अनेक संघर्ष तो एक दूसरे के साथ चलने वाले संघर्षों के बीच-बीच में भी चलते रहे। उनका तिथिकरण अथवा पूर्वापर बैठाना भी केवल अनुमान पर ही आश्रित हो सकता है। चालुक्य-चोड़ संघर्षों की तैथिक पूर्वापरकता का निश्चय

---

१. वि० पाठक, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ, ६२७-६२८।
२. वहीं पृष्ठ ६२८ और आगे।

तो इस कारण भी कठिन हो जाता है कि प्रथम राजराज के बाद प्रकाशित किये जाने वाले-चोड़ प्रस्तरलेख अथवा ताम्रपत्र विभिन्न घटनाओं का क्रम एक दूसरे में जोड़ते जाते हैं। उन अभिलेखों में शासक राजाओं और उनके साथ प्रशासकीय कार्यों में सहयुक्त हुए उनके युवराजों के द्वारा लड़े जाने वाले युद्धों अथवा प्रशासकीय कार्यों को भी एक दूसरे के साथ पिरो दिया गया है। तथापि इन तीनों क्षेत्रों के संघर्षों का स्वरूप उनके अलग-अलग क्रमों में ही निश्चित करने का प्रयत्न ग्राह्य प्रतीत होता है।

चालुक्य-परमार संघर्ष

१०४७ ई० के नान्देर अभिलेख[१] से ज्ञात होता है कि सोमेश्वर के प्राथमिक अभियान वेंगी से उत्तरी दिशा की ओर होते हुए मगध, कलिंग और अंग देशों के राजाओं को पराजित कर उनके जीवन का अन्त करते हुए, उत्तरी-पश्चिमी दिशा में कोंकण तथा गुजरात के लाट प्रान्त से होकर परमार राजधानी धारा को लूटने और वहाँ के शासक भोज को भाग जाने को विवश करते हुए सफलतापूर्वक सम्पन्न हुआ। उसी अभिलेख में कलिंग के दुबारा उल्लेख से यह अनुमान[२] लगाया गया है कि उसके प्रारंभिक संदर्भ में मगध, अंग और कलिंग के जिन राजाओं को मार दिये जाने के उल्लेख हैं, वे कोरे कविप्रशस्ति मात्र हैं, जिन्हें ऐतिहासिक नहीं स्वीकार किया जा सकता। किन्तु कोंकण, लाट और मालवा पर सोमेश्वर के आक्रमण और उनपर विजयें प्राप्त करने सम्बन्धी उल्लेखों में ऐतिहासिक सत्यता के अन्य प्रमाण भी प्राप्त होते हैं।

लाट का शासक बारप पहले चालुक्यों की अधिसत्ता स्वीकार करता था, किन्तु उसके पौत्र कीर्त्तिराज को अपने आक्रमण से पराजित कर भोज ने उसपर अपनी अधिसत्ता स्थापित कर[३] ली थी। कीर्तिराज को वहाँ से हटाकर भोज ने अपनी ओर से नासिक जिले के १५०० गांवों पर यशोवर्मा को अपना अधीन शासक नियुक्त कर दिया था[४]। कोंकण में शिलाहार राजाओं का शासन था और वे भी पूर्वतः चालुक्यों की ही अधिसत्ता मानते थे। किन्तु लाट और गुजरात से आगे पश्चिमी समुद्र के किनारों को पकड़ते हुए भोज ने उन्हें भी अपने वशीभूत कर लिया था। शिलाहारों पर परमारों का आधिपत्य भोज के पूर्ववर्ती शासक सिन्धुराज के समय भी विद्यमान था। पीछे हम देख चुके हैं कि भोज ने द्वितीय जयसिंह चालुक्य के समय अपना **कोंकणविजयपर्व** मनाया था। प्रथम सोमेश्वर को चालुक्य राज्य के इन परंपरागत क्षेत्रों पर भोज का आधिपत्य स्वीकार नहीं था और यद्यपि द्वितीय जयसिंह ने उनपर पुनः अपना अधिकार १०२४ ई० के आसपास स्थापित

---

१. याजदानी सं०, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ३३०। यह अभिलेख कन्नड़ भाषा में लिखित है।

२. नीलकान्त शास्त्री, दि अर्ली हिस्ट्री ऑफ् दि डेकन, भाग १-६ पृष्ठ ३३१।

३. इऐ०, जिल्द १२, पृष्ठ २०१-२०३; वा०वि० मीराशी, स्टडीज़ इन् इण्डालॉजी, पृष्ठ ७१-७२; इऐ०, जिल्द ६२, पृष्ठ १०७।

४. वा० वि० मीराशी, उपरिनिर्दिष्ट।

कर लिया[१] था, सोमेश्वर भोज के इन पुराने सैनिक दबावों का बदला लेने को आतुर था- विशेषत: उस स्थिति में जब भोज बूढ़ा हो चला था, उसकी व्यक्तिगत सैनिक क्षमता घट गयी थी और कलचुरि लक्ष्मीकर्ण और चौलुक्य प्रथम भीम जैसे उसके प्रतिस्पर्द्धी और शक्तिशाली राजाओं का राजनीतिक रंगमंच पर आरोहण हो चुका था। भोज के इन क्षेत्रों पर इस चालुक्य आक्रमण में सेनापति नागवर्मा नामक ब्राह्मण था।

कोंकण के विरुद्ध सोमेश्वर के आक्रमण और उसपर विजय का उल्लेख आगे चलकर १०५८ ई० के नागै[२] (नागइ) अभिलेख में भी हुआ है। इस अभियान का सेनापति मधुसूदन था। इन दोनों अभिलेखों का एक समान उल्लेख यह है कि चालुक्य सेनाओं ने मालवा की राजधानी धारा तक पहुँचकर उसे लूटा और भोज को आत्मसमर्पण करने को विवश कर दिया[३]। नागै अभिलेख की तो यह भी सूचना है कि उन्होंने धारा को जला डाला और माण्डवा (मांडू) को अपने अधिकार में ले लिया। इन दो अभिलेखों का संयुक्त साक्ष्य यह निष्कर्ष निकालने को विवश करता है कि मालवा की राजधानी धारा पर दो बार चालुक्यों के आक्रमण हुए, पहली बार नागवर्मा (ब्राह्मण सेनापति) के नेतृत्त्व में (१०४७ ई० के आसपास) और दूसरी बार मधुसूदन नामक सेनापति के नेतृत्त्व में। किन्तु १०५९ ई० के चार वर्षों पूर्व (१०५५ ई०) ही भोज की मृत्यु हो चुकी थी। अत: यह मानना होगा कि यदि दूसरे चालुक्य अभियान के समय भोज जीवित था तो नागै अभिलेख का साक्ष्य या तो नान्देर अभिलेख की बातों को ही दुहराता है अथवा उस अभिलेख की तिथि (१०५८ ई०) के बहुत पूर्व की, भोज की मृत्यु तिथि के आसपास की, घटनाओं का ही उल्लेख करता है। बिल्हण भी अपने **विक्रमांकदेवचरितकाव्य** में भोज की पराजय का उल्लेख[४] करता है। १०६६ ई० का होट्टूर से प्राप्त होने वाला अभिलेख भी कहता है कि **महामण्डलेश्वर** जेमरस भोज के लिए मृत्यु की अग्नि के समान था[५]। जेमरस की यह प्रशंसा मात्र इसलिए है कि उसने भोज के विरुद्ध किये गये आक्रमण में भाग लिया था।

छोटे-छोटे राज्यों और सामन्तों पर विजय

ऐसा अनुमान लगाया गया[६] है कि मालवा पर किये गये उपर्युक्त दोनों आक्रमणों के बीच चालुक्य सेनाओं की मुठभेड़ें चोड़ों से भी हुईं और उनसे भिड़ने के पूर्व सोमेश्वर ने कलिंग और वेंगी को अपने वशीभूत कर लिया था। इसी बीच सोमेश्वर ने उन सभी

---

१. देखें; पीछे पृष्ठ १५१।
२. हैदराबाद आर्केलॉजिकल् सीरिज़्, संख्या ८, पृष्ठ १३, श्लोक ४३।
३. याजदानी, पूर्वनिर्दिष्ट पृष्ठ ३३०, पादटिप्पणी ६।
४. प्रथम, ९१-९६।
५. एइ०, जिल्द २१, पृष्ठ ८१।
६. नीलकांत शास्त्री (याजदानी सं०) दि अर्ली हिस्ट्री ऑफ् दि डेकन, पृष्ठ ३३१।

सामन्त राज्यों अथवा छोटे-छोटे स्वतंत्र राज्यों पर भी अपना अधिकार जमा लिया, जो या तो उसकी अधिसत्ता से स्वतंत्र होने का प्रयत्न करने लगे थे अथवा उसके शत्रु भोज से भागकर जा मिले थे। भोज की अधीनता स्वीकार करने वालों में लाट और कोंकण के शासक प्रमुख रूप से ज्ञात होते हैं। ये सभी सोमेश्वर के मालवा पर किये गये अभियानों के पूर्व ही जीते जा चुके होंगे। संभवत: धारा पर मधुसूदन द्वारा किये जाने वाले सोमेश्वर के द्वितीय आक्रमण के पूर्व अथवा उसी क्रम में कोंकण, सेउणदेश और विंध्य प्रदेश के मल्लों को भी आक्रामित किया गया होगा। ये सभी संभवत: भोज से जा मिले थे और इस कारण चालुक्य आक्रमण के सहज पात्र बने। फलस्वरूप नर्मदा के दक्षिण के सभी प्रदेश चालुक्य साम्राज्य के अन्तर्गत आ गये। यही नहीं, उसका प्रभाव दक्षिण कोसल और कलिंग तक के आधुनिक उड़ीसा प्रान्त तक स्थापित हो गया[१]।

सोमेश्वर की कुछ अन्य छोटे-छोटे राजाओं के ऊपर विजयों के उल्लेख भी प्राप्त होते हैं। उसके ब्राह्मण सेनापति नागवर्मा को **विंध्याधिपतिमल्ल शिरच्छेदन, सेवणदिशापट्ट, चक्रकूटकालकूट, धारावर्ष दर्पोत्पाटन** और **मारसिंहमदमर्दन** की उपाधियाँ कन्नड़ भाषा में लिखित नान्देर अभिलेख[२] में दी गयी हैं। इनसे जान पड़ता है कि उसने चक्रकूट (मध्य प्रदेश के बस्तर जिले) के नागवंशी शासक, धारावर्ष नामक एक अन्य शासक (संभवत: राष्ट्रकूट), तथा चालुक्य राजधानी के पास के ही मारसिंह नामक एक अन्य शासक को भी उखाड़ फेंका। पराजित किये जाने के बाद मारसिंह ने सोमेश्वर की अधीनता स्वीकृत करते हुए उससे अपनी पुत्री लीलावती का विवाह कर दिया। **सेवणदिशा** का उल्लेख सेउणदेश के यादवों की ओर निर्देश करता है, जो विंध्याचल क्षेत्रों के मल्लों के साथ नागै अभिलेख में मधुसूदन के मालवा पर किये गये आक्रमण के संदर्भ में भी उल्लिखित है। अन्तत: इन दोनों राज्यों को भी चालुक्य अधिसत्ता स्वीकार करने को विवश होना पड़ा।

चालुक्य-चोड़ संघर्ष

चालुक्यों के अपने दक्षिणी पड़ोसी चोड़ो के विरुद्ध जो भी युद्ध हुए, उनके विवरण चालुक्य अभिलेखों में उतने नहीं मिलते, जितने चोड़ अभिलेखों में प्राप्त होते हैं। चोड़ वंश का सबसे शक्तिशाली शासक प्रथम राजेन्द्र की मृत्यु सोमेश्वर द्वारा राजगद्दी धारण करने (१०४२ ई०) के ४ वर्षों के भीतर (१०४६ ई०) ही हो गयी। किन्तु राजेन्द्र चोड़ के अगले तीन उत्तराधिकारिओं के समय भी उनके आपसी संघर्ष होते रहे। ऐसा प्रतीत होता है कि वेंगी के पूर्वी चालुक्यों पर कौन अपनी अधिसत्ता स्थापित करे, यही उनकी प्रतिस्पर्द्धा का मुख्य कारण था। नान्देर अभिलेख से प्रतीत होता है कि राजेन्द्र की मृत्यु के एक वर्ष के भीतर ही सोमेश्वर ने अपने सेनापति नागवर्मा के माध्यम से वेंगी और

---

१. वहीं, पृष्ठ ३३२; घी, च, गांगुली, हिस्ट्री ऑफ् दि परमार डाइनेस्टी, पृष्ठ ६८-६९।
२. याजदानी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ३३०।

कलिंग को अपनी प्रभावसीमा में लाने में सफलता पा ली थी। इस समय वेंगी का शासक था विजयादित्य, जो सोमेश्वर के जीवनपर्यन्त उसका समर्थक बना रहा।

प्रथम सोमेश्वर और तीन चोड़ शासकों-राजादित्य (१०४५-१०५२ ई), द्वितीय राजेन्द्र (१०५२-१०६३ ई०) तथा वीरराजेन्द्र (१०६३-१०७० ई०) के बीच बराबर संघर्ष चलते रहे–कभी वेंगी के मोर्चे पर और कभी तुंगभद्रा नदी के दोनों ओर के क्षेत्रों वाले मोर्चों पर। प्रथम युद्ध धन्नड़ (धान्यकटक) में १०४५ ई० में लड़ा गया, जो इतना भयंकर था कि दोनों ओर के कई सेनापति युद्ध में मारे गये[१]। चोड़ अभिलेख यह दावा करते हैं कि राजाधिराज की सेनाओं ने युद्ध में चालुक्य सेना के हाथियों को छीन लिया और मैदान में उपस्थित न रहने वाले **आहवमल्ल** (सोमेश्वर) को भी भयभीत कर दिया। चोड़ों ने आगे बढ़कर कोल्लैपाकै (कुलपक) को आग के हवाले कर दिया[२]। इसके फलस्वरूप चोड़ो ने सभी चालुक्य सेनाओं को वेंगी के क्षेत्रों से बहिष्कृत कर दिया।

अगला महत्त्वपूर्ण संघर्ष स्वयं राजाधिराज के सैन्यनेतृत्व में लड़ा गया। चोड़ अभिलेखों में उसके द्वारा चालुक्यों की ओर से लड़ने वाले अनेक सेनापतिओं और राजाओं को युद्धस्थल से भाग जाने को विवश कर देने के विवरण[३] प्राप्त होते हैं। पुण्डीर के युद्ध में कई चालुक्य सेनापति पकड़े गये, जिन्हें छुड़ाने हेतु सोमेश्वर द्वारा भेजे गये दूतों को अनेक प्रकार के अपमान सहने पड़े। चोड़ों ने अपनी विजय के उपलक्ष्य में सिंहचिह्न से अंकित एक कीर्तिस्तंभ को एटगिरि (यद्‌गिर) में स्थापित किया। आगे भी युद्ध चलते रहे, जिस बीच सोमेश्वर द्वारा उत्तरी दिशा में भी अनेक विजयों के उल्लेख प्राप्त होते हैं, किन्तु उनसे चोड़-चालुक्य संघर्षों की गुत्थी को समझने में कोई सहायता नहीं प्राप्त होती।

१०५२ ई० में राजाधिराज पुन: अपने छोटे भाई राजेन्द्र के साथ चालुक्यों के विरुद्ध युद्ध में सन्नद्ध हो गया। किन्तु वह स्वयं हाथी पर बैठकर लड़ते हुए शत्रु सेनापति द्वारा मारा गया[४]। तथापि उसका भाई राजेन्द्र युद्ध में विजय प्राप्त करने में समर्थ रहा और कोप्पम् के इस युद्धस्थल में ही उसका राज्याभिषेक भी हुआ। कोप्पम् की पहचान के बारे में अनेक विवाद हैं। परन्तु ऐसा माना गया है कि यह रायचूर के दोआब में (तुंगभद्रा नदी के उत्तर) कहीं स्थित था। इस युद्ध और इसमें चोड़ शासक राजाधिराज के मारे जाने का उल्लेख १०७१ ई० के एक चालुक्य अभिलेख[५] में भी प्राप्त होता है, जिसमें चोड़राज

---

१. याजदानी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ३३४।
२. आगे देखे; (चोड़ों से सम्बद्ध उल्लेख)।
३. साउथ इण्डियन् इन्स्कृप्शन्स्, जिल्द ५, १८९६ का ११४ उद्धृत, याजदानी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ३३५-३३६।
४. वहीं, पृष्ठ ३३६।
५. एइ०, जिल्द १५, पृष्ठ २३।

के अनेक कुकृत्यों के विवरण दिये गये हैं। कथित है कि उनके फलस्वरूप ही उसे अपनी जान से हाथ धोना पड़ा।

सोमेश्वर कोप्पम् की पराजय को आसानी से पचाने को तैयार नहीं था। वेंगी का शासक राजेन्द्र चोड़ों से विवाह सम्बन्ध से बंध चुका था और उसका स्वाभाविक रुझान चोड़ों की ओर ही थी। तथापि सोमेश्वर ने उसको अपनी ओर मिला लेने का प्रयत्न जारी रखा और आगे उसके प्रतिद्वन्द्वी विजयादित्य को बढ़ावा न देकर उसे ही विधिवत् वेंगी का शासक स्वीकार कर लिया। विजयादित्य को उसने **वेंगी मण्डलेश्वर** की उपाधि देते हुए अपने ही किसी प्रांत के शासक के रूप में नियुक्त कर दिया। वास्तव में राजाधिराज चोड़ के उत्तराधिकारी शासक अपनी ही समस्याओं में इतने उलझ गये कि उन्हें वेंगी के अपने मित्र तथा सम्बन्धी राजेन्द्र की किसी प्रकार सहायता करने का अवसर ही नहीं रहा। ऐसी दशा में राजेन्द्र ने संभवत: सोमेश्वर की अधिसत्ता स्वीकार कर ली। सोमेश्वर अपने **दण्डनायक** बालादेव तथा अन्य सेनापतिओं के साथ एक बार और चोड़ों के विरुद्ध बढ़ा। किन्तु मुडक्कारु नदी के किनारे लड़े गये इस युद्ध में भी उसे पराजय का सामना करना पड़ा (१०६१ ई०) और उसके अनेक सेनापति मारे गये। प्रथम वीरराजेन्द्र चोड़ (१०६३-१०७० ई०) के अनेक अभिलेखों में इस युद्ध के व्यापक विवरण प्राप्त होते[१] हैं। वीरराजेन्द्र की सेनाओं ने वेंगी की ओर भी अभियान किया, जहाँ दोनों पक्षों के बीच घमासान के बाद भयंकर क्रूरताएँ हुईं। तथापि इस भिड़न्त का कोई स्थायी परिणाम नहीं निकला। वीरराजेन्द्र के कुछ अन्य अभिलेखों का दावा है कि उसने जब अन्तिम बार चालुक्य क्षेत्रों के रट्टपाड़ि पर धावा बोला तो चालुक्य सेनाएँ कुडाल नामक युद्धस्थल से गायब थीं और उसने वहाँ केवल एक कीर्त्तिस्तम्भ मात्र स्थापित कर अपनी राजधानी लौट जाने का निश्चय किया। यह कीर्त्तिस्तम्भ कहीं तुंगभद्रा नदी के किनारे कनाडिकल में स्थापित हुआ, जिसे आगे चलकर दोनों ही पक्षों ने चुपके से अपने-अपने राज्यों की सीमा के रूप में स्वीकार कर लिया।

सोमेश्वर की उपलब्धियाँ

प्रथम सोमेश्वर अपने जीवन के आदि से प्रारंभकर अन्त तक प्राय: सर्वदा ही समसामयिक सत्ताओं, विशेषत: चोड़ो, से संघर्षरत ही रहा और उसे चोड़ों के मुकाबले अनेक युद्धों में हार भी सहनी पड़ी। तथापि चालुक्य साम्राज्य के तेज में कोई कमी नहीं आयी। यही नहीं, उसकी सत्ता की आँच उत्तर-पश्चिम, उत्तर और पूर्वोत्तर के अनेक राज्यों और राजाओं को सहनी पड़ी। जो मालवराज भोज अपने समय की अनेक सत्ताओं का प्रबल शत्रु और विनाशक सिद्ध हुआ था, उसे सोमेश्वर के सामने झुककर उसकी अधीनता स्वीकार करनी पड़ी और अपना प्राण बचाने हेतु अपनी राजधानी (उज्जयिनी) छोड़कर

---

१. याजदानी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ३४१-३४२।

भागना[१] पड़ा। कुछ वर्षों तक परमारों के अधिकार में चले गये कोंकण, कर्णाट तथा लाट के प्रदेश यद्यपि द्वितीय जयसिंह के समय ही चालुक्यों के अधिकार में पुन: वापस आ गये थे, उनपर चालुक्य सत्ता की पकड़ को और अधिक मजबूत बनाते हुए सोमेश्वर ने उन अनेक छोटे-छोटे राज्यों को भी पुन: वशीभूत कर लिया, जो बीच में मौका पाकर या तो स्वयं स्वतंत्र हो जाने का प्रयत्न करने लगे थे अथवा परमारों की अधिसत्ता स्वीकार कर चुके थे। कोंकण के शिलाहार और सेउणदेश के यादव इनमें मुख्य थे। सोमेश्वर ने दक्षिण कोसल, कलिंग, छत्तीसगढ़ (बस्तर जिले) तथा दक्षिणी मालवा के अनेक भागों पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। उसके अभिलेखों में उसके द्वारा किये गये कनौज नगर पर आक्रमण के भी उल्लेख प्राप्त[२] होते हैं, जो गुर्जर प्रतीहारों की तेजी से ढलती हुई सत्ता के कारण असंभव नहीं प्रतीत होता। उसकी प्रभुसत्ता विंध्याचल (नर्मदा) से लेकर तुंगभद्रा तक सर्वत्र व्याप्त थी।

सोमेश्वर जितना बड़ा विजेता अथवा योद्धा था, उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण उसका कूटनीतिक व्यक्तित्व था। जो वेंगी का पूर्वी चालुक्य राज्य उसके और चोड़ों के बीच सर्वदा ही राजनीति का मोहरा बना रहा और जहाँ की राजगद्दी पर अपने-अपने मनोनुकूल व्यक्तिओं को स्थापित करने हेतु चालुक्यों और चोड़ों दोनों ने ही, अपने सतत् प्रयत्नों को जारी रखा था, उसमें सोमेश्वर ने ही अन्तत: सफलता पायी। वहाँ की गद्दी के लिए अपने चहेते विष्णुवर्धन विजयादित्य को **महामण्डलेश्वर** की उपाधि सहित अपने द्वारा शासित एक प्रान्त का गवर्नर बनाकर उसने कूटनीति की एक बड़ी चाल चली और उसमें सफल भी रहा। चोड़ों के सम्बन्धी राजेन्द्र को ही वेंगी का वास्तविक उत्तराधिकारी मानकर उसने उसे भी अपनी ओर मिला लिया और अपने जीवनपर्यन्त चोड़ों के वहाँ होने वाले हस्तक्षेप को समाप्त कर डाला।

दक्षिण में चोड़ों को अपने सैकड़ों प्रयत्नों के बावजूद भी तुंगभद्रा के दक्षिण का कोई भी चालुक्य क्षेत्र अपने अधिकार में करने में सफलता नहीं प्राप्त हुई। चोड़ सेनाएँ बार-बार तुंगभद्रा नदी के दक्षिणी ओर स्थित रायचूर के दोआब पर चढ़ जाती रहीं, परन्तु बार-बार वहीं से उन्हें लौटना पड़ता रहा। फलस्वरूप, सोमेश्वर के हाथों से उस दिशा में कोई भी क्षेत्र फिसला नहीं। चोड़ों के बार-बार होने वाले इन आक्रमणों का एक प्रमुख निर्देश यह प्रतीत होता है कि उन्हें सोमेश्वर की सैनिक दक्षता, आत्मविश्वास, हिम्मत, धैर्य और उसकी ओर से आने वाले सम्भावित सैनिक खतरों का सर्वदा ही भय लगा रहता था।

सैनिक और प्रशासकीय क्षेत्रों से सम्बंधित अनेक सूचनाएँ सोमेश्वर के अभिलेखों

---

१. देखें, पीछे पृष्ठ १५६।
२. याजदानी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ३४८।

तथा **विक्रमाङ्कदेवचरित** से प्राप्त होती हैं। उसके पास दर्जनों समर्पित सेनापति थे, जो उसके लिए अपना प्राण भी त्याग देने को तैयार रहते थे। इनमें उसका द्वितीय पुत्र विक्रमादित्य (विक्कय) भी था, जो सर्वदा ही अपने यौवराज्य काल में चोड़ों से युद्धरत रहा। दूसरा था **दण्डनायक** लक्ष्मण, जिसे "**भुवनैकमल्ल**" के राज्य का पुनर्स्थापक और चालुक्य राज्य की स्थिति को बनाये रखने का कारक" कहा गया है[१]। इससे इस सेनापति के महत्त्व और चालुक्य राज्य की उस हीन स्थिति का भी ज्ञान प्राप्त होता है, जिससे उसने चालुक्यों का उद्धार किया था। यह अल्पकालिक विपत्ति का समय सोमेश्वर के राज्यारोहण के तुरंत बाद का ही था, जब चोड़ों ने उसपर एक भीषण आक्रमण किया था। ब्राह्मणजातीय नागवर्मा और मधुसूदन (नान्देर और नागै के अभिलेखों के अनुसार) उसके दो अन्य सेनापति थे, जिन्होंने उसकी ओर से उत्तर दिशा में लड़ते हुए मालवा सहित अनेक राज्यों को विजित किया था। सोमेश्वर स्वयं भी अनेक युद्धों में भाग लेता रहा और अपनी सेनाओं का कुशलतापूर्वक संचालन करता रहा।

सोमेश्वर शान्तिकालीन कार्यों में भी दक्ष था। उसी ने सर्वप्रथम कल्याणी नगर को सुन्दर भवनों से सजाकर उसे चालुक्य राजधानी का रूप दिया। सोमेश्वर की कम से कम छह रानियाँ थीं और अनेक सन्तानें भी थीं। एक थी चन्दनकब्बे अथवा चन्द्रिकादेवी और दूसरी थी मैलालदेवी। उसे भी चन्द्रिकादेवी कहा गया है और १०५३ ई० के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि वह वनवासी १२००० के गवर्नर पद पर नियुक्त थी। उसने १०५७ ई० में सम्राट् (सोमेश्वर) के साथ श्रीशैल में जाकर एक मंदिर में दर्शन-पूजन किया और दान दिया[२]। तीसरी रानी थी लीलादेवी, जो प्रभुमारसिंह (शिलाहारवंशी) की पुत्री थी। चौथी रानी थी होयसड़देवी, जिसने तुंगभद्रा के किनारे एक तीर्थ के लिए १०५५ ई० में दान दिया था। पाँचवी रानी थी केतलदेवी जो १०५४ ई० में पोन्नवाड **अग्रहार** पर शासनस्थ थी और अन्तिम रानी थी वाचालदेवी, जो संभवत: पट्टरानी थी। इसी वाचालदेवी से सोमेश्वर के तीनों पुत्र—द्वितीय सोमेश्वर, विक्रमादित्य और जयसिंह, जन्मे थे। उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि प्रथम सोमेश्वर के समय प्रशासन को चलाने में उसकी रानियों का पूरा हाथ और सहयोग उसे प्राप्त रहा। सोमेश्वर ने **राय नारायण** और **विक्रममार्त्तण्ड** की भी उपाधियाँ धारण कीं।

प्रथम सोमेश्वर का मूल्यांकन करते हुए नीलकान्त शास्त्री का कथन[३] है कि "वैभव की प्राप्ति हेतु अनवरत उद्यम में रत, इच्छित उद्देश्यों की प्राति में सभी मानव और भौतिक संसाधनों का इस्तेमाल करने तथा जहाँ भी और जब भी उनकी आवश्यकता हो,

---

१. एपि० कर्नाटिका, जिल्द ७, पृष्ठ १३६ (संस्कृत अभिलेख)।

२. साउथ इण्डियन् इन्स्कृप्शन्स्, जिल्द ११, प्रथम, ८३।

३. याजदानी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ३४८।

उनको लगाने में यदि महत्ता के तत्त्व छिपे हों, तो सोमेश्वर सचमुच एक महान् शासक था; अपने पुत्र विक्रमादित्य से भी महत्तर, जिसकी प्रसिद्धि उससे अधिक ही है।''

द्वितीय सोमेश्वर (१०६८-१०७६ ई०)

प्रथम सोमेश्वर के अन्तिम समय, लगता है, व्यक्तिगत दुःख में बीते। उस समय की चर्चा कई प्रकार के मुलम्मों के साथ बिल्हण, षष्ठ विक्रमादित्य की प्रशंसा में लिखे गये **विक्रमांकदेवचरित** में करता है, जो स्पष्टतः उसके आश्रयदाता के पक्ष में ही दिखायी देती है। कथित है कि सोमेश्वर को अन्त में एक ऐसा **दाहज्वर** हुआ, जिसका कोई उपचार ही नहीं था, और उसने स्वयं को तुंगभद्रा नदी में डुबोकर आत्महत्या कर ली। किन्तु यहाँ एक सन्देह इस बात को लेकर अवश्य होता है कि क्या प्रथम सोमेश्वर को होने वाला यह दाहज्वर सचमुच शारीरिक था अथवा मानसिक, जिससे मुक्ति का कोई रास्ता न देखते हुए उसने आत्महत्या कर ली ? असंभव नहीं है कि यह दाहज्वर मानसिक ही रहा हो।

उसकी इस मानसिकता के पीछे कारण पारिवारिक ही थे। उसके तीन पुत्रों में जेठा था द्वितीय सोमेश्वर, दूसरा था (षष्ठ) विक्रमादित्य और सबसे छोटा था जयसिंह। किन्तु इन सबमें अधिक योग्य, सैनिकता में दक्ष, महत्त्वाकांक्षा में सबसे आगे, प्रशासकीय अनुभवों से सर्वाधिक सम्पन्न तथा कूटनीतिक और राजनीतिक चातुर्य्य का धनी विक्रमादित्य ही था। बिल्हण के अनुसार, उसके इन्हीं गुणों के कारण प्रथम सोमेश्वर उसे ही अपना **युवराज** बनाना चाहता था। किन्तु उसने अपने बड़े भाई (द्वितीय) सोमेश्वर के पक्ष में, उसके प्रति तथाकथित आदर और प्रेम के कारण, वह पद स्वीकार नहीं किया[१]। तथापि यह कथित है कि राज्यलक्ष्मी उसका ही वरण करना चाहती थी और थोड़े दिनों के भीतर ही, बिल्हण के अनुसार, सोमेश्वर उसके प्रति षड्यन्त्र रचने लगा। इसकी भनक पाकर अपने को राज्य के भीतर सुरक्षित न देखते हुए उसने अपने छोटे भाई जयसिंह के साथ निर्वासन पर चले जाने का निश्चय कर लिया। यद्यपि द्वितीय सोमेश्वर ने अपने परिवार में उपजे कलह को शान्त करने हेतु एक प्रशासकीय सोपान का निर्माण करते हुए[२] क्रमशः विक्रमादित्य और जयसिंह को प्रथम और द्वितीय स्थान देते हुए अपने सेनापतिओं तक का स्थान निश्चित कर दिया था, विक्रमादित्य की महत्त्वाकांक्षा शान्त होने वाली नहीं थी। जिन चोड़ों के साथ अपने पिता के समय उसने सतत् युद्ध किया था, उसी वंश के शासक वीरराजेन्द्र की पुत्री से विवाहकर उसने अपने पक्ष को मजबूती देना प्रारंभ कर दिया। यद्यपि सोमेश्वर ने विक्रमादित्य को गंगवाड़ि और वनवासी की गवर्नरी देकर शान्त करने का प्रयत्न किया, विक्रमादित्य की महत्त्वांकाक्षा शान्त होने वाला नहीं थीं। इसी बीच

---

१. तातश्चिरं राज्मलंकरोतु ज्येष्ठोममारोहतु यौवराज्यम्। विक्रमाङ्कदेवचरित, तृतीय, ३९।

२. याजदानी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ३४९।

वीरराजेन्द्र की कुछ अप्राकृतिक परिस्थियों में मृत्यु हो गयी और चोड़ राजगद्दी के लिए उसके पुत्र अधिराजेन्द्र (विक्रमादित्य के साले) और कुलोत्तुंग के बीच उत्तराधिकार का संघर्ष छिड़ गया। यह कुलोत्तुंग वेंगी वाली राजगद्दी का वह वास्तविक उत्तराधिकारी था, जिसका असली नाम राजेन्द्र था और जो चोड़ राज्य के एक पूर्व के शासक (द्वितीय राजेन्द्र) की पुत्री मधुरान्तकी से ब्याहा गया था। इन घटनाओं के परिणामस्वरूप जिस चोड़ राज्य को अपने विवाह के माध्यम से विक्रमादित्य ने अपने भाई के विरुद्ध अपनी ओर मिला लेने का उपक्रम प्रारंभ किया था, उसका पूरा का पूरा स्वरूप ही बदल गया। उसे अपने साले अधिराजेन्द्र को चोड़ राजगद्दी पर बनाये रखने के प्रयत्न में कुलोत्तुंग के विरुद्ध युद्ध प्रारंभ करना पड़ा। दो अलग-अलग मोर्चों पर उसके द्वारा लड़ते हुए अनेक चोड़ क्षेत्रों पर चढ़ जाने के उल्लेख **विक्रमाङ्कदेवचरित**[1] में प्राप्त होते हैं।

इधर चालुक्य क्षेत्रों में उसने अपने भाई के विरुद्ध अनेक सामन्तों और अधीन राजाओं को उभारकर अपनी ओर मिला लिया। विजयादित्य पहले से ही उसकी मित्रता में आ चुका था और उसका अनुसरण करते हुए कदम्ब शासक जयकेशी ने भी विक्रमादित्य का पाला पकड़ लिया। होयसड़ विनयादित्य और उसके पुत्र एरियंग, उच्छंगी के पाण्ड्यराज तथा सेउणदेश के यादव शासक भी उसकी छत्रछाया में आ गये और इनमें से कइओं ने तो विक्रमादित्य के पक्ष में कुलोत्तुंग चोड़ के विरुद्ध युद्धों में भाग भी लिया[2]।

ऐसी दशाओं में बेचारा सोमेश्वर अकेला पड़ चुका था। उसके साथ केवल उसका विश्वासपात्र सेनापति लक्ष्मण बना रहा और वह अकेले चोड़ आक्रान्ताओं को पीछे ढकेलने में लगा रहा। सोमेश्वर ने अपने शासन के प्रारंभ में जिस चालुक्य साम्राज्य को अपने दोनों छोटे भाइओं और सेनापति **दण्डनायक** लक्ष्मण के बीच उनको अलग-अलग गवर्नरी देते हुए प्राय: बाँट सा दिया था, उसके फलस्वरूप एक प्रकार से चालुक्य सत्ता का ही बंटवारा हो गया था। विक्रमादित्य को जिस गंगवाडि और वनवासी की गवर्नरी दी गयी थी, उसमें तो सोमेश्वर का जाना ही क्रमश: समाप्त हो गया, जबकि स्वयं विक्रमादित्य सोमेश्वर के प्रति अपनी नकली भक्ति दिखाते रहते हुए सारे साम्राज्य में आने जाने को स्वतंत्र बना रहा। अपने छोटे भाई जयसिंह के माध्यम से उसने सोमेश्वर को और भी कमजोर करना जारी रखा[3]। ऐसा प्रतीत होता है कि १०७५ ई० तक सोमेश्वर सम्राट् के रूप में अपने पद का स्वरूप बनाये रखने में सफल रहा। किन्तु उसके बाद उसकी सत्ता धीरे-धीरे तिरोहित ही होती गयी।

---

१. षष्ठम्, ७-२५।

२. हेमाद्रि, व्रतखण्ड (चतुर्वर्गचिन्तामणि), उद्धृत फ्लीट, बाम्बे गजेटियर, जिल्द १ भाग २, पृष्ठ २७१, श्लोक २९।

३. याजदानी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ३५३।

विक्रमादित्य के मुकाबले सोमेश्वर कमजोर और असहाय साबित हुआ। विक्रमादित्य का राजदरबारी और प्रशंसक बिल्हण जिस प्रकार उसका पक्ष प्रस्तुत करता है, उसे फौजदारी के किसी वकील द्वारा हत्या के किसी आरोपी के पक्ष में की गयी वकालत[१] की ठीक ही संज्ञा दी गयी है। उसके विविध विवरणों में पड़ने का यहाँ समुचित स्थान नहीं दिखायी देता। वह सारा का सारा विवरण एकपक्षीय और सोमेश्वर के विपरीत है।[२] कुलोत्तुंग और सोमेश्वर के अभिलेखों से उन विवरणों का समर्थन नहीं प्राप्त होता। किन्तु १०९९ ई० के गडग अभिलेख में स्वयं विक्रमादित्य राजगद्दी को हड़प लेने को न्यायपूर्ण बताता है[३]। विक्रमादित्य के पक्ष में सोमेश्वर के जिन अत्याचारों, कुशासन और बुरी दृष्टि आदि के उल्लेख **विक्रमांकदेवचरित** में प्राप्त होते हैं, उनका समय सोमेश्वर के शासन के प्रारंभ होने के बहुत बाद दिखाया गया है, जो मात्र विक्रमादित्य की करतूतों के लिए बहाने मात्र प्रतीत होते हैं। जो भी हो, सोमेश्वर या तो जेल में डाल दिया (**निग्रह**) गया अथवा किसी अन्य प्रकार से प्राय: अपदस्थ सा कर दिया गया[४]।

द्वितीय सोमेश्वर का वास्तविक राजत्व १०७६-१०७७ ई० तक समाप्त हो चुका था। वहीं से चालुक्य अभिलेखों के प्रकाशन स्वतंत्र शासक के रूप में विक्रमादित्य के उल्लेख के साथ किये जाने लगे और उनमें **चालुक्यविक्रम** संवत् के उल्लेख भी किये जाने लगे।

षष्ठ विक्रमादित्य (१०७६-११२६ ई०)

षष्ठ विक्रमादित्य के स्वतंत्र शासक के रूप में उसके युद्धों के प्रारंभ १०७६-१०७७ ई० के आसपास कुलोत्तुंग चोड़ के विरुद्ध ही हुए। इनके प्रथम दौर में चोड़ों को कोई विशेष सफलता नहीं प्राप्त हुई। यद्यपि यह दिखायी देता है कि तुंगभद्रा नदी के दक्षिण और दक्षिण-पूर्व के प्रदेशों पर उनका अधिकार पूर्ववत् बना रहा। आगे चलकर इन दोनों प्राय: समकालिक राजाओं के बीच के सम्बन्ध अधिकांशत: राजनीतिक और कूटनीतिक क्षेत्रों में पारस्परिक दांवपेंच वाले ही अधिक रहे, बनिस्पत सैनिकता और युद्ध के क्षेत्रों में। दोनों ही शक्तिशाली शासक थे, किन्तु साथ ही इतने अधिक बुद्धिमान भी थे कि अपनी सीमाओं का अतिक्रमण करने की मूर्खता करने से भी वे विरत रहे। विक्रमादित्य ने १०७० ई० में कुलोत्तुंग द्वारा चोड़ राजगद्दी प्राप्त करने के प्रयत्नों में अपने

---

१. विश्वंभर शरण पाठक, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ५८ और आगे।
२. नीलकान्त शास्त्री (याजदानी), पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ३५३।
३. एइ०, जिल्द १५, पृष्ठ ३५१।
४. हैदराबाद म्यूजियम में दो संस्कृतभाषायी अभिलेख है, जो यह स्पष्ट रूप से कहते हैं कि विक्रमादित्य ने बलपूर्वक सोमेश्वर से राज्यलक्ष्मी छीन ली। वे दोनों ही अभिलेख अतैथिक हैं। तदनुसार-
सोमेश्वराद्बाहुबलेन राज्यं गृहीत्वान्नार्जितकीर्तिलक्ष्मीः ।

युद्धों द्वारा जो बाधाएँ पहुँचायी थीं, उसके वे सारे प्रयत्न असफल सिद्ध हुए और अनेक युद्धों में उसकी पराजयें[1] भी हुईं। फलतः उसे अपनी कमजोरियों का अनुमान पूरी तरह लग चुका था। उधर कुलोत्तुंग को अपना सारा ध्यान दक्षिण दिशा में स्थित पाण्ड्य, केरल और सिंहल में वहाँ के विद्रोहों और स्वतंत्रता हेतु किये गये प्रयत्नों को दबाकर उन क्षेत्रों पर पुनः चोड़ सत्ता के पुनर्स्थापन में लगाना पड़ा। इस अवसर का लाभ उठाते हुए विक्रमादित्य ने सिंहल देश के राजा के यहाँ अपना एक मित्रता वाला दूतमण्डल भी भेजा। चोड़ों की अधिसत्ता का जुआ अपने ऊपर से उठाकर फेंक देने वाले सिंहल के तत्कालीन शासक विजयबाहु को विक्रमादित्य ने अपने दूतों के माध्यम से प्रभूत भेटें भेजीं। उधर वेंगी के शासक विजयादित्य की मृत्यु के बाद पूर्वी चालुक्यों से भी चोड़ों के बिगड़े हुए सम्बन्ध पूरी तरह सुधर गये और आगे तो वह चोड़ साम्राज्य का एक प्रान्त ही बन गया, जहाँ अनेक चोड़ राजकुमार गनर्वरों के रूप में नियुक्त किये जाते रहे। विक्रमादित्य को विवश होकर वेंगी की ओर चालुक्य सत्ता के प्रसार वाले पूर्व में किये जाने वाले सभी प्रयत्नों पर विराम लगाना पड़ा।

विक्रमादित्य के शासन के अधिकांश भाग शान्तिमय ही बीते किन्तु उसके शासन के प्रायः अन्तिम वर्षों में उसे अपने छोटे भाई (तृतीय) जयसिंह और होयसड़ों द्वारा किये गये विद्रोहों और उपद्रवों को अवश्य दबाना पड़ा।

(तृतीय) जयसिंह और विक्रमादित्य के आपसी सम्बन्ध प्रारंभ में वैसे ही मित्रतापूर्ण बने रहे, जैसे द्वितीय सोमेश्वर के विरुद्ध विक्रमादित्य द्वारा किये गये क्रिया-कलापों के समय थे। अपने पिता के समय से ही वह कभी तो बारी-बारी से और कभी एक ही साथ कई प्रांतों के गवर्नर के रूप में नियुक्त किया जाता रहा। अपने पिता सोमेश्वर के समय १०६४ ई० में वह तरदावाड़ि का गवर्नर था; अपने सबसे बड़े भाई द्वितीय सोमेश्वर के समय वह नोड़म्बसिंदवाड़ि का गवर्नर रह चुका था और अपने सबसे बड़े भाई द्वितीय सोमेश्वर के विरुद्ध षष्ठ विक्रमादित्य का साथ देने के कारण वह वनवासी का गवर्नर बना दिया गया था। इन सबके कारण उसका दर्जा शासक के बाद प्रायः **युवराज** जैसे सबसे प्रमुख पुरुष का हो गया था। उसे बारी-बारी से **त्रैलोक्यमल्ल, त्रैलोक्यमल्लनोड़म्बपल्लव मेरमाडि (परमर्दि)** जैसी उपाधियों[2] से विभूषित भी किया जा चुका था। विक्रमादित्य द्वारा अपने को स्पष्टतः शासक घोषित कर दिये जाने के बाद के अभिलेखों से ज्ञात होता है कि जयसिंह ने अनेक छोटे-बड़े शासन क्षेत्रों की सत्ता संभाली थी।

किन्तु यदि बिल्हण का विश्वास किया जाय तो यह प्रतीत होगा कि धीरे-धीरे सत्ता

---

१. कलिंगत्तुप्परणि, १३वां, ६२; नीलकान्त शास्त्री, दि चोड़ज़्, पृष्ठ ३०८।
२. नीलकान्त शास्त्री (याजदानी), पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ३५७।

के मद में जयसिंह के मन में भी विक्रमादित्य के प्रति उसी प्रकार के भाव उत्पन्न होने लगे जो कभी विक्रमादित्य के मन में अपने बड़े भाई सोमेश्वर के प्रति जन्मे थे। **विक्रमांकदेवचरित** में इनकी पृष्ठभूमि और परिणाम के विवरण दो पूरे के पूरे सर्गों में प्राप्त[१] होते हैं। तदनुसार, विक्रमादित्य के एक विश्वासपात्र प्रतिनिधि (**आप्तपुरुष**) ने उसे गुप्तरूप में जयसिंह के सम्बन्ध में उसके विद्रोही तेवरों की सूचना दी और यह बताया कि जयसिंह ने कृष्णवेणानदी (कृष्णा) की ओर बढ़कर खुले विद्रोह की योजना बना ली है; प्रजाओं पर अत्याचार कर रहा है; बहुत ही अधिक धन जुटा रखा है; एक निजी सेना खड़ी कर ली है; जंगली और पहाड़ी जातियों को अपनी ओर मिला लिया है और, सबसे भयंकर बात तो यह है कि, वह चालुक्य वंश के स्थायी शत्रुओं, चोड़ों, से भी मित्रता स्थापित कर चुका है। जयसिंह के विरुद्ध बिल्हण के ये सभी दोषारोपण ठीक वैसे ही हैं, जैसे सोमेश्वर के विरुद्ध उसने विक्रमादित्य के पक्ष में लगाये हैं। अन्तर केवल इतना है कि सोमेश्वर के तथाकथित दोषों को बिल्हण सही ठहराता है किन्तु जयसिंह के विरुद्ध के दोषारोपणों को गलत साबित करने में वह कोई बुराई नहीं देखता। विक्रमादित्य ने इन सभी सूचनाओं की सही-सही जाँच पड़ताल हेतु गुप्तचरों को भेजा, जिन्होंने भी उनकी सच्चाई की तस्दीक कर दी। कथित है कि उसने जयसिंह को समझाने-बुझाने और लालच देने की भी सभी कोशिशें कीं, किन्तु वह रास्ते पर नहीं आया।

कथित है कि विवश होकर अपने माण्डलिकों सहित एक विशाल सेना के साथ उसने कृष्णा नदी की ओर प्रस्थान कर दिया। पहले तो विक्रमादित्य ने युद्धस्थल पर ही एक बार समझौते के माध्यम से जहसिंह को समझाने-बुझाने का प्रयत्न किया। किन्तु, बिल्हण के अनुसार, जयसिंह द्वारा उपद्रव, अपमान, लूटपाट और अत्याचार जारी रहे। परिणामस्वरूप छिड़ने वाले अगले युद्ध के प्रथम दौर में तो जयसिंह को अपनी हस्तिसेना के बलपर सफलता प्राप्त हो गयी, किन्तु प्रत्याक्रमण के द्वारा विक्रमादित्य ने अपनी हस्तिसेना की वीरता के बलपर उसे पराजित करने में सफलता पायी। भागकर अपना प्राण बचाने में असफल जयसिंह विक्रमादित्य के सामने लाया गया। किन्तु उसने उसको क्षमादान दे दिया। बिल्हण के ये विवरण कहाँ तक सच हैं, इसकी जानकारी का अन्य कोई साक्ष्य नहीं है। इस बात में भी सन्देह है कि जितना दयालु और क्षमाशील विक्रमादित्य को दर्शाया गया है, क्या वह सचमुच वैसा था ? जो भी हो, आगे जयसिंह के बारे में कोई सूचना नहीं मिलती।

विक्रमादित्य को अपने जीवन के अन्तिम दिनों में होयसड़ शासकों के विद्रोहों का भी सामना करना पड़ा, जिनमें अन्ततः वह सफल रहा। होयसड़ों ने चोड़-कर्नाटक राज्यों की मैसूर वाली सीमाओं पर अपने लिए एक स्वतंत्र राज्य की स्थापना कर ली थी। किन्तु

---

१. १४वाँ-१५वाँ।

इनकी सत्ता इतनी छोटी थी कि एक अन्तरराज्य (**बफरस्टेट**) के रूप में ही या तो वे स्वतंत्र रह सकते थे अथवा किसी न किसी पक्ष की अधिसत्ता स्वीकार करने को विवश थे। विक्रमादित्य के अभिलेखों में कम से कम तीन पुश्तों तक होयसड़ शासकों द्वारा उसकी ओर से युद्धों में भाग लेने और उसकी अधीनता स्वीकार करने के उल्लेख प्राप्त होते[१] हैं। वे थे विनयादित्य, उसके पुत्र एरियंग और एरियंग के पुत्र प्रथम बल्लाल। इनके पूर्व भी होयसड़देवी नामक उनकी एक राजकुमारी का विवाह प्रथम सोमेश्वर से हो चुका था। किन्तु आगे चलकर बिट्टिग और विष्णुवर्धन होयसड़ वंश के बहुत ही महत्त्वाकांक्षी विजेता शासक हुए, जो चोड़ो और चालुक्यों की अधीनता से मुक्त होने का प्रयत्न करने लगे। उन्होंने अपनी राज्यसीमाओं को भी उस दशा में बहुत ही बढ़ा ली, जब प्रथम कुलोत्तुंग के बाद चोड़ सत्ता का पराभव प्रारंभ हो गया।

१११८ ई० में विष्णुवर्धन के गंगराज नामक सेनापति ने चालुक्य सेनाओं पर कड़ड़ेगल के मैदान में एक भीषण आक्रमण[२] किया। इसमें विक्रमादित्य की सेनाओं को भारी क्षति उठानी पड़ी। इस घटना का चालुक्य अभिलेखों में कहीं भी उल्लेख नहीं है। किन्तु पाण्ड्य राजाओं के अनेक अभिलेखों से यह प्रमाणित[३] होता है कि चालुक्यों ने चित्रदुर्ग जिले के दुम्मे नामक स्थान पर होयसड़ों से युद्ध लड़ा था और चालुक्यों के अधिकार उसके बाद भी वहाँ बने रहे। गोवा और हंगल के कदम्ब शासक अब भी चालुक्यों के साथ बने रहे और गोवा के द्वितीय जयकेशी ने इस उपद्रव का चालुक्यों के विरुद्ध कोई फायदा नहीं उठाया। ११२१-११२२ ई० में विक्रमादित्य की एक अन्य भिड़न्त भी होयसड़ शासक विष्णुवर्धन के **दण्डनायक** बिट्टिदेव के विरुद्ध हलसूर नामक युद्धक्षेत्र में हुई। किन्तु यहाँ भी विक्रमादित्य की सेनाएँ ही विजयी रहीं[४]।

स्पष्ट है, वृद्धावस्था के कारण भी षष्ठ विक्रमादित्य की क्षमताओं में किसी प्रकार की कोई कमी नहीं आयी थी। वह अब भी युद्धों में भाग लेने को तैयार रहता था और आवश्यकतानुसार अपने सभी साधनों का उचित संयोजन करने में सक्षम और सफल था। विष्णुवर्धन को पराजित करने के उपलक्ष्य में उसने स्वयं एक और उपाधि, **विष्णुवर्धन,** धारण की।

षष्ठ विक्रमादित्य की उपलब्धियाँ

महत्त्वाकांक्षा विशेष योग्यता की अनुगामिनी और सहचरी होती है। अपनी विशेष

---

१. याजदानी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ३५९; डंकन डेरेट, दि होयसड़ज्, पृष्ठ ३२ और आगे।
२. एपि० कर्नाटिका, जिल्द २, ७३ (५९); १२५ (४५)।
३. एइ०, जिल्द १७, पृष्ठ ११७; जिल्द १३, पृष्ठ ३०१ और आगे।
४. सिन्दा अभिलेख, जर्नल ऑफ् दि बाम्बे ब्राञ्च ऑफ् रायल् एशियाटिक सोसायटी, जिल्द ११, पृष्ठ २३४ और २४४।

योग्यताओं को पूर्ण प्रतिफलित होते देखते हुए, महत्त्वाकांक्षाएँ प्रायः महान् व्यक्तित्वों से भी कुछ हीन कार्य कराते हुए दिखायी देती हैं। महत्त्वाकाक्षिओं की दृष्टि में ये हीनकार्य भी सफलता के मार्ग में रोड़े जैसे मात्र दिखायी देते हैं। सोमेश्वर (द्वितीय) को महत्त्वाकांक्षी विक्रमादित्य ने अपने मार्ग का रोड़ा समझते हुए अपदस्थ कर दिया। इसमें उसे अथवा उसके प्रशंसक बिल्हण को न तो राजहन्ता होने का अपना दोष दिखायी दिया और न भ्रातृहन्ता होने का। यह तो ज्ञात नहीं है कि सोमेश्वर मारा गया या नहीं, किन्तु उसका **निग्रह** कर दिया गया, यह तो स्वयं विक्रमादित्य का गडग अभिलेख ही बताता[१] है। वही हाल विक्रमादित्य ने अपने छोटे भाई जयसिंह का भी किया, जो सोमेश्वर के विरुद्ध विक्रमादित्य के गर्हित क्रियाकलापों में उसका सहयोगी, मित्र और सहसंयोजक रह चुका था। बिल्हण उसके विरुद्ध अनेक दोष लगाता है और विक्रमादित्य को दयालु, क्षमाशील और सहिष्णु के रूप में उपस्थित करता[२] है। किन्तु अन्त में जयसिंह का भी क्या हुआ, कुछ भी ज्ञात नहीं। किन्तु ऐसे कृत्य तो राजकार्यों, राज्याधिकारों, उत्तराधिकारों और राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाओं के शाश्वतरूप में अंग जैसे सतत् दिखायी देते हैं। अपवाद स्वरूप होने वाली ऐसी घटनाएँ, अपवाद नहीं, अपितु राजनीति और कूटनीति की नियम के रूप में ही होती हैं।

विक्रमादित्य की महत्ता उसकी सैनिक शक्ति, उसकी विजयों, अथवा उसके सैनिक कार्यों में नही थी। वह तो महान् था अपने शान्तिकालीन कार्यों के कारण; चालुक्य साम्राज्य के विस्तार सहित उसके प्रशासन के ब्यौरेवार और कुशल प्रबन्धन के कारण; विद्वानों, विद्या और विद्यालयों के संरक्षण के कारण; नानादेशीय विद्वानों और ब्राह्मणों को चालुक्य साम्राज्य के भीतर आमंत्रित कर वेद, वैदिक विद्याओं और समसामयिक संस्कृति और सभ्यता के उन्नयन के कारण; अपने, अपनी रानियों और राज्याधिकारिओं द्वारा दिये जाने वाले प्रभूत दानों के कारण तथा एक विस्तृत प्रशासकीय तथा सैनिक नौकरशाही के कारण। इन विभिन्न क्षेत्रों में उसके किये गये क्रियाकलापों के कुछ संक्षिप्त विवरण मात्र यहाँ उपस्थित किये जा सकते हैं।

विक्रमादित्य ने अपने पिता प्रथम सोमेश्वर के समय से ही उसके सभी युद्धों में स्वयं भाग लिया था। अनेक प्रान्तों के गवर्नर के रूप में उसे प्रशासन का प्रभूत अनुभव प्राप्त था और जो साम्राज्य उसे विरासत में मिला था उसकी सीमाओं में उसने किसी प्रकार की कमी नहीं आने दी। उसके समय के सैकड़ों से अधिक अभिलेख प्राप्त हुए हैं, जिन्हें या तो उसने, या उसके राजपरिवारी लोगों ने या उसके राज्याधिकारिओं ने अथवा उसके

---

१. इऐ०, जिल्द २१, पृष्ठ १६७ और आगे; एइ०, जिल्द १५, पृष्ठ २५० और आगे; जिल्द १६, पृष्ठ २३ और आगे।

२. वि०श० पाठक, ऐंश्येण्ट हिस्टॉरियन्स् ऑफ् इण्डिया, पृष्ठ ७३ और आगे।

सामन्तों और अधीन राजाओं ने, सम्राट् के रूप में उसका उल्लेख करते हुए, प्रकाशित कराया था। ये अधिकांशत: उन भूमिदानों से संबंधित हैं जो उसके साम्राज्य क्षेत्रों का निर्धारण करने में सहायक सिद्ध होते हैं।

दक्षिण दिशा में चोड़ सम्राट् प्रथम कुलोत्तुंग उसका समकालिक था और दोनों ही समानरूप से शक्तिशाली और एक दूसरे के विरोधी थे। किन्तु जब दोनों ने ही अपने-अपने शासनों के प्रारंभ में ही एक दूसरे की शक्ति और सत्ता का कुछ भिडन्तों के माध्यम से अन्दाज लगा लिया तो आगे वे दोनों ही चुप लगा गये और तुंगभद्रा नदी को अपने पूर्ववर्तिओं की भांति चुपके से अपनी-अपनी राज्यसीमा के रूप में स्वीकृति दे दी। लेकिन उनकी प्रतियोगिता का एक दूसरा क्षेत्र था वेंगी, जो प्रथम कुलोत्तुंग के चोड़ राज्य पर अधिकार होने के साथ ही पूर्णरूप से चोड़ राज्य का ही एक प्रान्त बन गया था और चोड़ राजकुमार बारी बारी से वहाँ के गवर्नर नियुक्त किये जाने लगे थे। फिर भी विक्रमादित्य समय की ताक में रहा, जो कुलोत्तुंग की मृत्यु के बाद उसके कमजोर उत्तराधिकारिओं के समय उसे प्राप्त हो गया। वेंगी के गवर्नर, विक्रम चोड़, की सैनिक कठिनाइयों का लाभ उठाकर विक्रमादित्य ने पुन: वेंगी की ओर अपना सैनिक बढ़ाव प्रारंभ कर दिया। १११५ ई० के बाद द्राक्षाराम और आसपास के तेलुगू क्षेत्रों में **चालुक्यविक्रम** संवत् में प्रकाशित, विक्रमादित्य की **परांतक** की उपाधि सहित, दान सम्बन्धी अनेक अभिलेख प्राप्त होने लगते[1] हैं। उनमें से एक में एक तेलुगू सरदार अपने को **रायनारायण** (विक्रमादित्य) के वंश का अनुरक्त अनुयायी बताता[2] है। ११२७ ई० में एक चालुक्य सेनापति को कृष्णा जिले के कोण्डयल्ली में शासन करते हुए दिखाया गया है। उसके पूर्व वहाँ के चोड़ शासक के विरुद्ध चालुक्य सेनाओं के एक भीषण आक्रमण और उनकी पराजय सहित दुर्गति के विवरण प्राप्त होते हैं, उसके बाद ११३२-११३३ ई० तक (विक्रमादित्य की मृत्यु के बाद भी) कई चालुक्य अभिलेख द्राक्षाराम से प्राप्त होते हैं।

पीछे हम देख चुके हैं कि होयसड़ों के विद्रोह के कारण भी विक्रमादित्य के पूर्वशासित मैसूर के प्रदेशों में कोई छीजन नहीं आयी। उत्तरी दिशा में प्रथम सोमेश्वर के अधीन जितने भी क्षेत्र-दक्षिण कोसल, छत्तीसगढ़, मध्य प्रदेश के दक्षिणी भाग तथा पश्चिमी छोरों के लाट, कोंकण और गोवा आदि, चालुक्यों द्वारा शासित थे, उन सभी पर विक्रमादित्य का अधिकार बना रहा।

विक्रमादित्य के अभिलेखों से उसकी प्रशासकीय और सांस्कृतिक उपलब्धियों की एक अच्छी झलक प्राप्त होती है। उनमें अनेक नगरों के नाम और उनकी सुख-समृद्धि के विवरण हैं। ये उल्लेख उन विभिन्न नगरों में किये गये विक्रमादित्य के निवासों से

---

१. याजदानी सं०, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ३६५; नीलकान्त शास्त्री, दि चोड़ज़्, पृष्ठ ३२९।
२. वहीं।

सम्बद्ध हैं । उन उल्लेखों से यह भी स्पष्ट होता है कि विक्रमादित्य अपनी राजधानी कल्याणी में स्थायी निवास न कर बराबर प्रशासकीय उद्देश्यों से यात्राएँ किया करता था । तथापि, उसकी राजधानी कल्याणी का वैभव, उसका आकर्षण और उसका महत्त्व सबसे बढ़कर था । **याज्ञवल्क्यस्मृति** की टीका **मिताक्षरा** के लेखक और विक्रमादित्य के राजदरबारी कवि विज्ञानेश्वर की तो यहाँ तक उक्ति है कि विज्ञानेश्वर जैसा कवि, विक्रमादित्य जैसा राजा और कल्याणी जैसा नगर न कभी हुए थे, न उस समय अन्यत्र कहीं विद्यमान थे और न भविष्य में भी कभी होंगे । १०८३ ई० में विक्रमादित्य के वहाँ बहुत दिनों तक निवास करने का एक रोचक और साहित्यिक विवरण उसके एक अभिलेख[१] में प्राप्त होता है । जयन्तीपुर अथवा वनवासी चालुक्य साम्राज्य का दूसरा प्रमुख नगर था, जो प्राय: सर्वदा ही एक गवर्नर का प्रधान नगर बना रहा । वहाँ विक्रमादित्य के निवास के कई अवसरों के उल्लेख अभिलेखों में प्राप्त[२] होते हैं । इनके अतिरिक्त पोणुगुप्पे, येटागिरि, पोट्टलकेड़ी, अप्पयणडकुप्प (भीमरथी नदी के किनारे) और जयनाथपुर उन स्थानों में उल्लिखित हैं, जहाँ विक्रमादित्य ने कभी न कभी निवास किया था । विजयपुर (बीजापुर) तो एक बार राजधानी के रूप में भी चित्रित[३] है ।

विक्रमादित्य गुणग्राही तथा कविओं और लेखकों का महान् आश्रयदाता था और ब्राह्मणों को बराबर भूमिदान करते रहने वाला शासक था । उसकी इसी गुणग्राहकता के कारण बिल्हण ने जब कश्मीरी राजदरबार के षड्यन्त्रों और आन्तरिक विद्रोहों[४] को देखते हुए अपना पैतृक देश छोड़कर दक्षिण की ओर के लिए प्रस्थान कर दिया तो वह अनेक उत्तर भारतीय राज्यों में अपनी शरण न देखते हुए अन्तत: विक्रमादित्य के दरबार में ही जा टिका । वहीं उसने अपना प्रसिद्ध काव्य **विक्रमांकदेवचरित** रचा, जिसमें उसने भ्रातृहंता और राज्यहर्ता विक्रमादित्य के सभी गलत-सही कार्यों को सही ठहराने से कोई गुरेज नहीं किया । तथापि उसके काव्यकौशल और **विक्रमांकदेवचरित** की महत्ता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता । कश्मीर से आकर चालुक्य दरबार में टिक जाने वालों में एक अन्य नाम मल्लय का भी ज्ञात होता है, जिसने नीलगुण्ड अभिलेख को लिखा[५] था । विज्ञानेश्वर विक्रमादित्य के राजदरबार का दूसरा रत्न था, जिसकी **मिताक्षरा** नामक **याज्ञवल्क्यस्मृति** पर लिखी टीका कदाचित् प्राचीन भारतीय टीका ग्रंथों में सर्वोपरि है । विक्रमादित्य के नीलगुण्ड अभिलेख[६] से ज्ञात होता है कि उसने तमिलनाडु से आये हुए

---

१. श्रीकल्याणपुरे बहुदिवसस्थिरनिवासिनि-एइ०, जिल्द ३, पृष्ठ ३०६ ।
२. नीलकान्त शास्त्री, (याजदानी सं०) दि अर्ली हिस्ट्री ऑफ् दि डेकन पृष्ठ ३६६, नोट ५ ।
३. फ्लीट, डाइनेस्टीज़ ऑफ् दि कनारीज डिस्ट्रिक्ट्स्, पृष्ठ ४५० ।
४. वि०श० पाठक, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ५७ ।
५. एइ० जिल्द १२, पृष्ठ १४३ ।
६. एइ०, जिल्द १२, पृष्ठ १४२ और आगे ।

५०० ब्राह्मणों को तन्नामक गांव का दान पहली बार १०८७ ई० में किया। पुन: उन्हीं ब्राह्मणों को उसने ११२३ ई० में एक अन्य ग्राम का भी दान कर दिया। उन ब्राह्मणों में एक को **द्राविडादित्य श्रीकरणाधिकारी सर्वाध्यक्ष**[1] कहा गया है, जिससे प्रतीत होता है कि वह मंदिर विभाग का प्रधान था और साथ ही साथ सबसे प्रधान निरीक्षक (**सर्वाध्यक्ष**) भी था। विक्रमादित्य के द्वारा तुंगभद्रा नदी के किनारे यात्रिओं को भोजन कराने हेतु एक मंदिर को दिये गये दान (१०९८ ई०), उसके दूसरे ही वर्ष नर्मदा के किनारे किये गये **तुलापुरुषदान** तथा ऐसी ही अन्यान्य नदियों के किनारे किये गये अन्य दानों के अनेक उल्लेख प्राप्त होते हैं। आज चाहे इन क्रियाओं को जिस भी दृष्टि से देखा जाय, उन दिनों ये धर्म और संस्कृति को बनाये रखने के लिये आवश्यक तत्त्व के रूप में स्वीकार किये जाते थे।

विक्रमादित्य के सैनिक प्रबन्धों और प्रशासन संचालन में जो लोग उसकी सहायता में थे, उनकी सूची इतनी लम्बी है कि उनका यहाँ पूरा उल्लेख नहीं किया जा सकता। उस समय की एक विशेष बात यह ज्ञात होती है कि सेना और सैनिक कार्यों से ब्राह्मण वर्ण बिल्कुल ही विरत नहीं था। विक्रमादित्य के अधिकांश सेनापति ब्राह्मण ही थे। उनमें मुख्य था अनन्तपाल, जो वेंगी का शासक भी था और पूरी राजकीय शान-शौकत के साथ वहाँ रहता था। बाद में उसे वनवासी के प्रशासन का भी उत्तरदायित्व सौंप दिया गया[2]। उसका भ्रातृज और दामाद गोविन्द **दण्डनायक** उसके साथ सहयुक्त रूप में कई वर्षों तक वनवासी का गवर्नर रहा[3]। अनन्तपाल के पिता महेश्वर **दण्डनायक** को तो **चालुक्यकुलमूलस्तम्भ** अर्थात् चालुक्य वंश का प्रधान स्तम्भ तक कहा गया है। अनन्तपाल का भीम नामक पितामह भी सेनापति रह चुका था। स्पष्ट है, पुश्तदरपुश्त सैनिक सेवा में लगे हुए ब्राह्मण परिवारों पर चालुक्य शासकों को बहुत अधिक विश्वास था। अनन्तपाल के चार अन्य भाई भी चालुक्य सेना में बड़े पदों पर नियुक्त थे[4]।

विक्रमादित्य के शासन काल में उसकी उन कई रानियों के नाम ज्ञात होते हैं, जो या तो प्रांतों के गवर्नर रूप में अथवा उनसे कुछ छोटी प्राशासनिक इकाइयों का शासनभार निभाती थीं। उसमें एक तो थी चोड़राज वीरराजेन्द्र की पुत्री, जिसकी ठीक-ठीक पहचान कठिन है। पीछे हम देख चुके हैं कि किस प्रकार प्रथम सोमेश्वर के बाद चालुक्य राजगद्दी पर आंख गड़ाते हुए विक्रमादित्य ने अपने वंश के परंपरागत शत्रु चोड़ वंश से इस विवाह के माध्यम से मित्रता स्थापित कर लेने का प्रयत्न किया था, जो अन्तत: अल्पकालिक

---

१. वही; पंक्ति ६६, पृष्ठ १५४।
२. याजदानी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ३६७।
३. वहीं, पृष्ठ ३६७-३६८।
४. वही, पृष्ठ ३६८।

ही साबित हुआ । उसकी दूसरी रानी थी चन्द्रलेखा जो कर्नाटक के शिलाहारवंशी शासक की पुत्री थी । तीसरी रानी केतलदेवी का उल्लेख बिल्हण बार-बार करता है । वह बेल्लारी जिले के कई गांवों का प्रशासन देखती थी और उसके कई दानों के उल्लेख भी प्राप्त होते हैं । लक्ष्मीमहादेवी अथवा लक्ष्मीदेवी (१०८१ ई०) द्रोणपुर (धारवाड़ जिले) में शासनस्थ थी । वह धीरे-धीरे विक्रमादित्य की पट्टरानी बन गयी और अनेक अभिलेखों का दावा है कि वह राजधानी कल्याणपुर (कल्याणी) से राजा के साथ संयुक्तरूप से शासन चलाती[१] थी । इनके अतिरिक्त अन्य कई रानियों के उल्लेख भी हैं, जिनकी सूची इकट्ठा करने की यहाँ आवश्यकता प्रतीत नहीं होती । उनमें से कुछ ने जैन संघों और जैन भिक्षुओं को भी दान किये ।

षष्ठ विक्रमादित्य के उत्तराधिकारी : तृतीय सोमेश्वर (११२६-११३८ ई०)

जैसा प्राय: दिखायी देता है, महान् और तेजस्वी व्यक्तित्व वाले लोगों के उत्तराधिकारी बौने साबित होते हैं । फलत:, महान् सम्राटों के साम्राज्यीय ताने-बाने भी ढहने लगते हैं और उनके कमजोर उत्तराधिकारी उन्हें संभाल नहीं पाते । षष्ठ विक्रमादित्य के बाद कल्याणी के चालुक्य साम्राज्य की लग्नदशा उत्तरोत्तर बिगड़ती गयी । विक्रमादित्य का पुत्र तृतीय सोमेश्वर बहुत बड़ा विद्वान्, लेखक, ऋजुचरित्रवाला तथा एक भद्रपुरुष था । किन्तु उसके पास सैनिकता और सांसारिक कामकाज के लिए, उसके लिखने-पढ़ने अतिरिक्त, समय बचता था, ऐसा नहीं प्रतीत होता । यह तो उसका सौभाग्य ही था कि उसके पिता ने उसके लिए एक कुशल नौकरशाही, बुद्धिमान् प्राशासनिक अधिकारिओं और समर्पित सेनापतिओं की एक लम्बी जमात छोड़ रखी थी । उनके बलपर तृतीय सोमेश्वर के शासन काल में शान्ति तो बनी रही, किन्तु कुछ ही दिनों के भीतर साम्राज्य के बिखरने का क्रम भी जारी हो गया ।

सोमेश्वर ने अपने पिता की ही तरह एक नये संवत् (वर्ष) का प्रारंभ किया, जिसका नाम था **भूलोकमल्ल** । वह **चालुक्यविक्रम** वर्ष (संवत्) की तरह कुछ ही वर्षों तक चला । कथित है कि अपने शासन के तृतीय वर्ष में उसने दक्षिण दिशा में एक दिग्विजययात्रा की थी । किन्तु यह एक प्रशंसोक्ति मात्र है और इसका कोई पक्का समर्थक प्रमाण नहीं मिलता । उसके ११३२ ई० के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि तैलपदेव उसका **युवराज** था, जो अपने वाचप्परस नामक सामन्त के साथ सिंदवाडि का शासन चलाता था । पूर्वी दिशा में आन्ध्र प्रदेश वाले उन तेलुगू क्षेत्रों पर सोमेश्वर के अधिकार अनेक वर्षों तक बने रहने के प्रमाण भीमावरम् और द्राक्षाराम से प्राप्त उसके दानपरक अभिलेखों से प्राप्त होते हैं । किन्तु आगे क्रमश: वेंगी पर उसकी अधिसत्ता समाप्त हो गयी और वेंगी के दक्षिणी क्षेत्रों तक पुन: चोड़ों ने अपनी अधिकार सीमा बढ़ा ली ।११३२

---

१. याजदानी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ३६९ ।

ई० के आसपास प्राय: सारा का सारा पूर्वी चालुक्य राज्य पुन: चोड़ साम्राज्य का अंग बन गया। द्राक्षाराम से प्राप्त एक अतैथिक चोड़ अभिलेख गोदावरी नदी के किनारे लड़े गये एक भीषण युद्ध में चालुक्य सेनाओं की बहुत बड़ी हानि और पराजय का उल्लेख करता है। दक्षिण-पश्चिम में यद्यपि होयसड़ विष्णुवर्धन ११३७ ई० तक चालुक्य अधिसत्ता स्वीकार करता रहा, किन्तु शीघ्र ही वह भी पूर्ण स्वतंत्र हो गया। ११३९ ई० के एक अभिलेख में उसे गंगवाड़ि, नोड़म्बवाड़ि और वनवासी का विजेता और प्रभुता सूचक बड़ी-बड़ी उपाधियों को धारण करने वाला कहा [1]गया है।

तृतीय सोमेश्वर को सोलह महादानों का कर्ता और मंदिरों को दानदेने वाला बताया गया[2] है। स्पष्ट है, वह धार्मिक प्रवृत्ति का ही व्यक्ति था और उसकी राजनीतिक प्रवृत्तियाँ कमजोर ही थीं। इतिहास में एक सफल शासक, कुशल प्रशासक और विजेता होने के विपरीत एक उच्चकोटि का लेखक और विद्वान् होने का उसे अधिक श्रेय है। उसने १०० अध्यायों में विभाजित **अभिलाषार्थचिन्तामणि** (अभिलाषाओं की प्राप्ति की पारसमणि) नामक ग्रंथ की रचना की, जो अपने एक अन्य नाम **मानसोल्लास** से भी प्रसिद्ध है। इसमें भरे विशाल ज्ञान के कारण ही संभवत: उसे **सर्वज्ञ** की उपाधि प्राप्त हुई। इस ग्रंथ की पुर्णाहुति उसने २२ मार्च ११२९ ई० को की [3]थी। राजाओं के कर्त्तव्य, राजनीतिशास्त्र के सिद्धान्त, राजशासन को चलाने के तरीकों तथा राजदरबार के भोजन-पेय आदि की जानकारी हेतु इसे एक विश्वकोशीय ग्रंथ का महत्त्व प्राप्त है। सोमेश्वर की एक और भी रचना है **विक्रमांकाभ्युदयकाव्य,** जिसे उसने अपने पिता षष्ठ विक्रमादित्य के जीवनवृत्त के रूप में लिखा[4]। तृतीय सोमेश्वर के समय तक बिल्हण और विज्ञानेश्वर चालुक्य राजदरबार में रहते रहे, और असंभव नहीं है कि उसके विद्याव्यसन में उन दोनों की भी भूमिकाएँ रही हों।

द्वितीय जगदेकमल्ल (११३८-११५१ ई०)

जगदेकमल्ल तो विरुद था। इस राजा का वास्तविक नाम क्या था, यह ज्ञात नहीं है। किन्तु उसके दो अन्य विरुद भी थे **प्रतापचक्रवर्तिन्** और **त्रिभुवनमल्ल**। पीछे हम देख चुके हैं कि तृतीय सोमेश्वर का **युवराज** तैलपदेव था। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि पिता के जीवित रहते ही उसकी मृत्यु हो चुकी थी। होयसड़ शासक विष्णुवर्धन इस समय भी अपनी शक्ति बढ़ाता रहा और धीरे-धीरे उसने अपने को चालुक्य अधिसत्ता

---

१. एपि० कर्नाटिका, जिल्द ८, शिकारपुर तालुका, संख्या ४१४।
२. बाम्बे कर्नाटक इन्स्कृप्शन्स्, १९३६-३७ का ५५वाँ।
३. वि०श० पाठक, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ८४।
४. वहीं, पृष्ठ ८४।

से पूर्णतः मुक्त कर लिया। ११४९ में उसके गंगवाडि नोड़म्बवाडि, वनवासी, हंगल और हुड़िगेरी तक के प्रदेशों पर शासन करने के उल्लेख प्राप्त होते हैं[१]। इससे स्पष्ट है कि होयसड़ों का अधिकार क्षेत्र कृष्णा नदी तक पूरी तरह व्याप्त हो चुका था और और वहाँ अब चालुक्यों का वर्चस्व नहीं रहा। आगे चालुक्य साम्राज्य का जो स्वरूप बचा रहा, वह केवल दिखावे का बाहरी स्वरूप मात्र था और उसका सारतत्त्व पूरी तरह समाप्त हो चुका था। तथापि **जगदेकमल्ल** के अनेक अभिलेखों में उसकी अनेक विजयों के ढोल पीटे जाते रहे और उसकी प्रशंसाओं के पुल बाँधे जाते रहे।

तृतीय तैलप (११५१ से ११८० ई०)

जगदेकमल्ल का उत्तराधिकारी हुआ उसका छोटा भाई तृतीय तैलप। तैलप बहुत योग्य और शक्तिशाली शासक नहीं था और ऐसे समय राज्यासीन हुआ था, जब उसके पूर्व ही होयसड़, काकतिय, यादव जैसे स्थानीय शासक, पूर्वतः चालुक्य सत्ता के अधीन रहते हुए भी, अपनी-अपनी शक्ति बढ़ाते हुए प्रायः स्वतंत्र हो चुके थे। यद्यपि उसके अभिलेखों में गोल-मोल शब्दों में चोड़ों, मालवों और गुर्जरों पर उसकी विजयों की बातें कही गयी हैं, वे सभी की सभी उसकी थोथी प्रशंसाएँ मात्र हैं। उसमें तो अपने सामन्तों और अधीनस्थों को दबाने तक की शक्ति का अभाव था, दूर की बड़ी सत्ताओं पर विजय की कल्पना तो असंभव है। धीरे-धीरे तैलप के द्वारा प्रकाशित अभिलेखों की संख्या कम होती गयी है और उसके सामन्तों और प्रशासकीय अधिकारिओं के अभिलेखों की संख्याएँ उत्तरोत्तर बढ़ती ही गयी हैं। काकतिय सरदार विज्जन को तो ११५७ ई० के एक अभिलेख में **महाराजाधिराजभुजबलचक्रवर्तिन् कुलचूर्य बिज्जलदेव** कहा गया[२] है। ११६२ ई० के आते-आते उसने चालुक्य सम्राटों द्वारा अपनायी जाने वाली सभी बड़ी-बड़ी उपाधियाँ धारण कर ली थीं और अपने को कल्याणी का शासक कहने लगा था।

चतुर्थ सोमेश्वर

तृतीय तैलप का पुत्र चतुर्थ सोमेश्वर **वीर सोमेश्वर** और **त्रैलोक्यमल्ल** भी कहा जाता था। वह कल्याणी के चालुक्य वंश का नामलेवा अन्तिम शासक सिद्ध हुआ। उसके एक अभिलेख में उसे **त्रैलोक्यमल्ल भुजबलवीर** कहा गया है, जिससे प्रतीत होता है कि उसने काकतिय विज्जनदेव अथवा उसके वंशजों को पराजित करके चालुक्य वंश की सत्ता को कुछ हद तक पुनर्स्थापित करने का प्रयत्न अवश्य किया। किन्तु उसकी दो राजधानियों के उल्लेख है–एक कल्याणी और दूसरी वनवासी। यद्यपि उसके कुछ अभिलेखों में उसकी व्यापक विजयों के दावे किये गये हैं, उनसे ऐतिहासिक तथ्यों का

---

१. याजदानी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ३७३।
२. बाम्बे कर्नाटक इन्स्कृप्शसन् १९३२-३३ का १०३।

कोई स्पष्ट ज्ञान नहीं प्राप्त होता। वास्तव में उस समय के इतने अधिक अभिलेख भिन्न-भिन्न सरदारों, राजाओं और दिशाओं के प्राप्त होते हैं कि उनसे तत्कालीन राजनीतिक स्थितियों का सही-सही अन्दाजा लगाया ही नहीं जा सकता। तथापि यादववंशी भिल्लम और होयसड़ वीर बल्लाल (द्वितीय) के गडग से प्राप्त होने वाले अभिलेखों[१] से कल्याणी के चालुक्य साम्राज्य के समाप्त हो जाने और अन्ततः यादवों द्वारा कल्याणी पर अधिकृत हो जाने के स्पष्ट प्रमाण प्राप्त हो जाते हैं।

●

१. एइ०, जिल्द ३, पृष्ठ २१७; जिल्द ६, पृष्ठ ९२।

अध्याय ६

चालुक्य प्रशासन और संस्कृति

भारतीय इतिहास के उत्तर प्राचीन काल में राजनीति के सिद्धान्तों और उनके वास्तविक प्रयोगों पर विचार करने की आवश्यकता उस समय के लेखकों ने मानों समझी ही नहीं। **राजनीतिरत्नाकर, नीतिवाक्यामृत** और **मानसोल्लास** जैसे तत्कालीन ग्रंथ भी यह मानकर चलते हैं कि राज्य स्मृतियों द्वारा प्रतिपादित व्यवस्था को तो अपनाकर चलेंगे ही । राजा के कर्त्तव्यों, मंत्रिओं और मंत्रिपरिषद् की आवश्यकताओं, उनकी योग्यताओं और उनके कर्त्तव्यों आदि के बारे में कहीं भी विधिवत् विचार नहीं किये गये। सब कुछ परंपरा, प्रयोग और विवेक पर छोड़ दिया गया सा लगता है । ऐसी दशा में तत्कालीन किसी भी राज्य की प्राशासनिक व्यवस्था की जानकारी के एकमात्र स्रोत आभिलेखिक साक्ष्य ही बच जाते हैं। किन्तु उनसे शासकीय प्रयोगों के वास्तविक स्वरूप की कुछ अत्यल्प मात्रा में ही जानकारी प्राप्त होती है । उन प्रयोगों के आधार पर जो सिद्धान्त निकाले जाँय, उनसे यत्किञ्चित् मात्र संतोष करना पड़ता है ।

चालुक्य राज्य का एक केन्द्रीय स्वरूप तो था, किन्तु वह अनेक सामन्ती और अधीन राज्यों के ढीलेढाले गंठजोड़ का एक संघ जैसा ही था । छोटे-छोटे राज्यों द्वारा केन्द्रीय अधिसत्ता को स्वीकार कर लेने के बाद भी वे अपने आन्तरिक शासन में पूर्ण आत्मायत्त और स्वतंत्र होते थे । चालुक्यों का राजचिह्न मयूरध्वज था, जिसे वे कात्यायनी देवी के प्रसाद के रूप में स्वीकार करते[1] थे । वे **समस्तभुवनाश्रय, सर्वलोकाश्रय, विष्णुवर्धन** और **विजयादित्य** जैसे विरुदों को अपनी विशेषता (**विशेषानाम्**) के रूप में धारण करते थे[2] । उनकी मुद्रा वराह से अंकित थी, जिसकी याचना (प्रार्थना) प्रायः सभी चालुक्य अभिलेखों में की गयी है[3] ।

राजतंत्र आनुवांशिक था और जब तक कोई विशेष परिस्थिति उत्पन्न न हो जाय, राजा का जेठा पुत्र ही उसका उत्तराधिकारी होता था । बादामी के चालुक्यों के समय से ही राजाओं का राज्याभिषेक किषुवोड़ल नामक स्थान में सम्पादित होता था, जिसे **महावीर-सिंहासन** कहा जाता था । इस स्थान का आधुनिक नाम पट्टडकल (अभिषेक प्रस्तर) उस स्मृति को आज तक संजोये हुए है ।

---

१. मयूरपिच्छेदकुंतध्वजानाम् । पांचवीं पंक्ति, नीलगुण्ड अभिलेख, एइ०, जिल्द १२, पृष्ठ १५० ।

२. कौथेम अभिलेख ।

३. साउथ इण्डियन् इन्स्कृप्शन्स्, जिल्द ११, (प्रथम) ११; (द्वितीय) २-३ ।

प्राय: राजाओं द्वारा अपने उत्तराधिकारिओं के रूप में जेठे पुत्र, अथवा यदि कोई पुत्र न हुआ तो किसी विश्वासपात्र बड़े राज्याधिकारी को ही, **युवराज** के रूप में प्रतिष्ठित करते हुए शासकीय चिह्नस्वरूप उसे एक **कण्ठिका** (माला) पहनायी जाती थी। तत्पश्चात्, वह किसी बड़े प्रशासकीय क्षेत्र, अथवा कभी-कभी दो-दों क्षेत्रों का एक ही साथ, प्रशासक बना दिया जाता था। राजागण अपनी देव सूचक (विष्णु, सूर्य, लक्ष्मी, आदि) उपाधियों के अतिरिक्त साम्राज्य सूचक-**महाराजाधिराज, परमभट्टारक, परमेश्वर, श्री पृथिवल्लभ, श्री सत्याश्रयकुलतिलक तथा चालुक्याभरण श्रीमत् त्रैलोक्य मल्ल** और **भूलोकमल्ल** जैसी उपाधियों से विभूषित होते थे। यह एक स्थापित नियम (धर्म) जैसा था कि यदि कभी सम्राट् छोटे राज्य पर विजय हासिल करता था तो उसके शासक से अपनी अधिसत्ता स्वीकार करा लेने पर उसे या उसके किसी सम्बन्धी को विजित राज्य पर बिठा देता था। यह विजित राजा अपने शासनक्षेत्र में पूर्णत: स्वतंत्र था। उसे केवल अपने अभिलेखों में सम्राट् की पदवियों के साथ **तत्पादपद्मोपजीवी** कहलाते हुए सम्राट् की अधिसत्ता सूचक कुछ औपचारिकताएँ मात्र पूरी करनी पड़ती थीं। पम्प कवि सर्वदा ही उन्हें **समधिगतपञ्चमहाशब्द** की उपाधि देता है। वह अधीनस्थ राजा भी दान दे सकता था, न्याय का विवरण कर सकता था और सम्राट् की तरह उसका भी अपना राजदरबार होता था[१]।

केन्द्रीय प्रशासन

राजाओं और युवराजों अथवा राजकुमारों की प्रारंभिक प्रशिक्षा का कोई विधिवत् विधान और व्यवस्था थी या नहीं, इसकी कोई जानकारी नहीं है। लगता है, यह सब कुछ परंपरया चलता रहता था। बिल्हण विक्रमादित्य की प्रशिक्षा का बहुत थोड़ा विवरण **विक्रमांकदेवचरित** के तीसरे सर्ग में देता है[२]। तदनुसार, वह पिंजड़ों में बन्द सिंहों के शावकों से खेलता था, सभी लिपियों को सीखता था तथा काव्यशास्त्र और वक्तृत्त्व का भी अभ्यास करता था।

केन्द्रीय शासन का प्रधान राजा या सम्राट् ही होता था और हमें यह ज्ञात नहीं है कि उसकी सहायता के लिए कोई मंत्रिपरिषद् भी थी या नहीं। संभवत: ऐसी कोई संस्था नहीं थी। ऐसी स्थिति में सम्राट् में व्यक्तिगत योग्यता, उसके सतत् प्रयत्न, उच्च व्यक्तित्व और **महोत्साह** जैसे गुणों का होना आवश्यक था। चालुक्यों के लगभग हजारों लेख, संस्कृत अथवा कन्नड़ में लिखे हुए, प्राप्त होते हैं, जो द्वितीय तैलप, द्वितीय जयसिंह, प्रथम सोमेश्वर और षष्ठ विक्रमादित्य की सतत् जागरूकता, प्रयत्नशीलता और कर्त्तव्यनिष्ठा का परिचय देते हैं। उनकी दिनचर्या काफी कठिन थी। प्रत्येक दिन राजदरबार

---

१. नीलकान्त शास्त्री (याजदानी सं०), दि अर्ली हिस्ट्री ऑफ् दि डेकन, पृष्ठ ३८४।
२. तृतीय, १५-१९।

का सोरटूर अभिलेख उसके **बलदेवय्य** नामक सेनापति को अनेक उपाधियों से युक्त बताता है–यथा, **श्रीमान् महाप्रधान हेरिसांधिविग्रहीसेनाधिपति कडितवरगड़े दण्डनायक बलदेवय्य**। इससे यह निर्णय सहज ही निकाला जा सकता है कि कुछ अति विश्वस्त और समर्पित व्यक्ति अनेक केन्द्रीय पदों पर एक ही साथ नियुक्त किये जाते थे। वास्तव में जब विक्रमादित्य और जयसिंह दोनों ही सोमेश्वर के विरुद्ध विद्रोही तेवर अपनाये हुए थे, उस समय बलदेव मात्र अकेले उसके साथ बना रहा।

यहाँ कुछ अत्यन्त प्रसिद्ध, चालुक्य शासन में नाम कमाने वाले, और अभिलेखों में अत्यन्त ही अधिक चर्चित, राज्याधिकारिओं के उल्लेख किये जा सकते हैं। द्वितीय तैलप के ढल्ल नामक राज्याधिकारी को १००७ के लक्कुण्डी से प्राप्त अभिलेख[१] में राज्य के सारे बोझ को ढोने वाला कहा गया है। जन्मना वह ब्राह्मण था और उसे **महामात्राक्षपटलाधिकृत** अर्थात् महामात्र (महामंत्री मुख्यमंत्री) और **अक्षपटलिक** (राजकीय कागजपत्रों के दफ्तर का प्रधान) कहा गया है। उसी ने तैलप के लिए कोंकण, वेंगी और मालवा की विजयें की थीं। ढल्ल का पुत्र नागदेव भी बहुत बड़ा विजेता और युद्धनायक था, जो तैलप के बाद चालुक्य राजाओं की सेवा में लगा रहा। मधुवरस (मधुवर्ष) वानसकुल का वशिष्ठगोत्री ब्राह्मण था, जिसे उपर्युक्त दोनों से भी अधिक प्रशंसाएँ प्राप्त हैं। प्रथम सोमेश्वर **आहवमल्ल** के समय वह अपने गौरव की चरम बिन्दु पर था। वह एक ऐसे परिवार का था, जिसने पुश्तदरपुश्त चालुक्यों की सैनिक सेवा में बड़े-बड़े पदों का भार ढोया था। हैदराबाद के नागवावि (नागै = नागइ) अभिलेख[२] में उसके पूरे परिवार की प्रशंसाएँ गायी गयी हैं[३]। उसे मधुसूदन भी कहा गया है। उसे **कुन्तल राज्यलक्ष्मी** को प्रफुल्लित करने वाला वसन्त कहा गया है। उससे प्रसन्न होकर सोमेश्वर ने उसे अपना **युवराज** तक बना डाला था। ऐसा ही एक अन्य सेनापति था रविदेव, जिसने षष्ठ विक्रमादित्य की सेवा[३] की थी तथा प्रथम सोमेश्वर के समय से ही चालुक्य प्रशासन के अनेक मुख्य-मुख्य पदों पर रहा था। द्वितीय सोमेश्वर के समय वह **सेनाधिपति** और **हेरिसांधिविग्रहिक** के रूप में नियुक्त था। विक्रमादित्य ने उसे **पञ्चमहाशब्दों** से विभूषित किया। येऊर अभिलेख में उसकी प्रशंसा में लिखे गये सात श्लोकों को नीलकान्त शास्त्री[४] ने कन्नड़ काव्य के उन उच्चतम नमूनों में बताया है, जिनका किसी भी अन्य भाषा में वास्तविक अनुवाद किया ही नहीं जा सकता।

महाप्रधान दण्डनायकम् श्रीमद् अय्यमगड़ू सोमेश्वरमहोपाध्याय जैसी पदवियों को धारण करने वाला सोमेश्वर भट्टोपाध्याय षष्ठ विक्रमादित्य का **धर्माधिकारी** (न्यायाधीश)

---

१. वहीं, जिल्द ११ (प्रथम) ५२, जिल्द २, ६-११,१३,१६ वें श्लोक।
२. हैदराबाद आर्केलाजिकल् सीरीज, आठवाँ।
३. १०७७ ई० का येऊर अभिलेख।
४. याजदानी सं०, दि अर्ली हिस्ट्री ऑफ् दि डेकन, भाग १-६ पृष्ठ ३९७।

है। इस पद पर प्राय: शैव ब्राह्मण ही नियुक्त किये जाते थे। किन्तु कभी-कभी जैन आचार्य भी उसपर नियुक्त हुए ज्ञात होते हैं। केन्द्रीय प्रशासन का स्वरूप बादामी के चालुक्यों के समय की तुलना में संख्या और स्वरूप में बहुत अधिक विकसित और विस्तृत हो चुका था और अब अनेक नये-नये अधिकारिओं को भी नियुक्त किया जाने लगा था। उनमें **कञ्चुकी** (**मान वरगड़े**), पाक (चौके) का अधिकारी (**भाणसवरगड़े**)[1] **अन्तःपुराध्यक्ष** अथवा **अन्तःपुराधिकारी** जैसे अधिकारी तो बहुत ही प्रसिद्ध थे। वे प्राय: सैनिक पृष्ठभूमि के होते थे। अनन्तपाल नामक सेनापति कई वर्षों तक षष्ठ विक्रमादित्य के समय **कञ्चुकी** और **भाणसवरगड़े** के पदों पर रह चुका था। राजा के मौखिक आदेशों को लिखने वाले **करणम्** और **कडितवरगड़े** कहलाते थे। **सान्धिविग्रहिक** युद्ध और शान्तिकालीन वैदेशिक सम्बन्धों को देखता था तथा दानवाले अभिलेखों को लिखता भी था। **मानसोल्लास**[2] में **सान्धिविग्रहिक** में अनेक योग्यताओं का होना आवश्यक बताया गया है, यथा कई भाषाओं और लिपियों का ज्ञान, **सामन्तों** और **मण्डलेशों** के साथ कुशल बर्ताव करने की क्षमता, तथा कूटनीति और आर्थिक मामलों में दक्षता। इन अनेक गुणों के कारण वह केन्द्रीय अधिकारिओं में संभवत: सर्वमुख्य रहा होगा।

कल्याणी का चालुक्य साम्राज्य काफी बड़ा था और वह प्रशासन की दृष्टि से दो भागों-लाट (उत्तरी भाग) और कर्णाट (कर्नाटक, दक्षिणी भाग) में विभाजित था। इनके लिए **लाटसांधिविग्रहिक** और **कर्णाटसांधिविग्रहिक**[3] नामक दो केन्द्रीय शासनाधिकारी अलग-अलग सामन्तों, अधीनराज्यों तथा अर्धस्वतंत्र प्रदेशों से सम्बन्धों को देखने हेतु नियुक्त किये गये थे।

सैनिक प्रशासन

सैनिक अधिकारिओं में **सेनाधिपति, महादण्डनायक** अथवा **प्रचण्डदण्डनायक, दण्डनायक, करितुरगसाहिनी** (करि=हाथी, तुरग=घोड़ों के दलों वाले अधिकारी) के उल्लेख प्राप्त होते हैं। इनसे स्पष्ट है कि पदाति सेना के अतिरिक्त सेना में हाथियों और घोड़ों की टुकड़ियों के प्रयोग व्यापकरूप से होते थे। चोड़, चालुक्य और राष्ट्रकूट जैसे सभी शासक प्राय: हाथियों पर बैठकर ही सेना का नेतृत्व करते थे। चालुक्यों के अधिकांश सेनापति ब्राह्मण होते थे और प्राय: पुश्तदरपुश्त चालुक्य शासकों की सैनिक सेवा में बने रहते थे[4]। **दण्डनायक** नागदेवय्य (ब्राह्मण) को तो प्रथम सोमेश्वर के समय सेनापति के पद के अतिरिक्त **अमात्य** (मंत्री) का पद भी प्राप्त था। सोमेश्वर (द्वितीय) का १०७१ ई०

---

१. साउथ इण्डियन् इन्स्कृप्शन्स्, जिल्द ९ (प्रथम) ११५ और २२४।
२. द्वितीय, १२७-१३०।
३. वहीं, जिल्द ९ (प्रथम), पृष्ठ २४०।
४. देखें; पीछे पृष्ठ १५६ और १६१।

में बैठना, वहाँ लाये गये मुकद्दमों और फरियादों को सुनना और उन्हें निपटाना, अपने या पहले के शासकों द्वारा दिये गये भूमिदानों के सम्बन्ध में आज्ञाएँ निकालना, नौकरशाही के बड़े-बड़े अधिकारिओं से शासकीय विचार विमर्श करना, बाहर से आये हुए दूतों को बुलाकर उनके सन्देश आदि सुनना, अपने शासन के सम्बन्ध में विश्वस्त लोगों (**आप्तपुरुष**) और गुप्तचरों की बातें सुनना तथा अनेक प्रकार की शासकीय आज्ञाएँ (**श्रीमुख के आदेश**) निकालना उसके नित्यनैमित्तिक कार्य थे, जिनकी अवहेलना वे अपनी और साम्राज्य की हानि के मूल्य पर ही कर सकते थे। उनके **युवराज** और विश्वस्त राजकुमारों तथा **दण्डनायकों** (सेनापतिओं) को प्राय: छोटे-बड़े प्रशासकीय भूखण्डों पर प्रशासक बनाया जाता था और सम्राट् के लिए यह आवश्यक था कि वह उन सबकी गतिविधियों पर ध्यान रखे।

राजा अपने कर्त्तव्यों का पालन करते समय किसी नयी विधि का निर्माण नहीं कर सकता था। वह तो पुरानी विधियों की अपने **पुरोहित** अथवा **धर्माचार्य** आदि के परामर्श से, व्याख्या तथा तदनुरूप व्यवस्था करते हुए, प्रचलित सामाजिक और धार्मिक व्यवस्था का प्रजा से अनुपालन मात्र करा सकता था। यहाँ भी वह पूर्ण स्वतंत्र नहीं था। उसे **श्रेणी, पूग, निगम, जनपद, जाति** और समाज के अन्य वर्गों द्वारा परंपरया मान्य और प्रचलित धर्म (नियमों) के अनुसार ही किसी भी प्रश्न पर अपने निर्णय सुनाने होते थे और आज्ञाएँ निकालनी होती थीं। स्थानीय जनता, व्यापारिओं अथवा समुदायों का किसी मामले में राज्याधिकारिओं से जब आपसी विवाद होता था तो राजा के पास पीड़ित पक्ष प्रतिवेदन करता था। द्वितीय तैलप के समय ऐसे दो प्रतिवेदनों के प्रमाण अभिलेखों से प्राप्त होते हैं। एक था पूर्वत: एक मंदिर को दिये गये परिहारों से युक्त भूमिदान के हरण का[१] और दूसरा था पान के पत्तों के व्यापारिओं पर पूर्वत: लगने वाले कर को स्थानीय अधिकारिओं द्वारा बढ़ाये जाने का[२]। दोनों ही अवसरों पर राजा के पास जो प्रार्थनाएँ पहुँचीं, उनके आधार पर पूर्व में की गयी व्यवस्थाओं को ही उसने कायम रहने की आज्ञाएँ दीं। इसी प्रकार जब उसके बोप्पय नामक किसी अधिकारी के विरुद्ध एक **अग्रहार** ग्राम के ब्राह्मणों ने ११०४ ई० में लूट, गांव पर किये गये उसके आक्रमण तथा ब्राह्मणों को मार डालने की शिकायत राजा से की तो उसने बोप्पय को दण्डित किया[३] और अपने अधिकारिओं के माध्यम से अपनी आज्ञा का पालन कराने की पूरी व्यवस्था की। बोप्पय तो अपने **मानेय** (प्रधान) के पद से ही हटा दिया गया।

अभिलेखों में **राजगुरु** नामक एक पुरोहित जैसे पद का कई बार उल्लेख हुआ

---

१. साउथ इण्डियन् इन्स्कृप्शन्स्, जिल्द ९ (प्रथम), ७४।

२. वहीं, ७६।

३. वहीं, १६९।

था । वह बहुत बड़ा विद्वान् था, जिससे **विधि** (न्याय), **पद** और **क्रम** (शब्दों और शब्दक्रमों अर्थात् व्याकरण) का ज्ञान प्राप्त करने हेतु और अपनी शंकाओं को दूर करने हेतु दूर-दूर से अन्य बड़े विद्वान् भी उसके पास पहुँचते थे । उसके वैदिक तथा आर्थिक ज्ञान के कारण ही विक्रमादित्य ने उसे अपना **महामात्य** (मुख्यमंत्री) और **धर्माधिकारी** नियुक्त किया था[1] । अनन्तपाल नामक एक अन्य सेनापति ने विक्रमादित्य की आज्ञा से वेंगी की विजय की थी और उसकी ओर से वहाँ वह गवर्नर के रूप में भी नियुक्त किया गया था ।

प्रांतीय और स्थानीय प्रशासन

गांवों की संख्या के अनुसार बड़े और छोटे प्रशासकीय खण्डों का निर्माण किया जाता था और अभिलेखों में इनकी संख्याएँ अनेक प्रकार से दी गयी हैं । पूरा का पूरा कुन्तल वाला मुख्य (केन्द्रीय) प्रान्त साढ़े सात लाख (गाँवों) वाला कहा गया है ।किन्तु इन संख्याओं का वास्तविक अर्थ क्या है, इसपर एकमत स्थापित नहीं हो सका है । विभिन्न प्रशासकीय इकाइयाँ **राष्ट्र, विषय, नाडु, कम्पन** और **थान** (स्थान) कही जाती थीं और इनके प्रशासक **राष्ट्रपति, विषयपति** के अतिरिक्त **ग्रामकूटक, आयुक्तक, नियुक्तक, अधिकारिक** और **महत्तर** कहे जाते थे । इन सभी इकाइयों और अधिकारिओं की नियुक्ति राष्ट्रकूट काल से ही की जाती रही । किन्तु इन सभी प्रशासकीय क्षेत्रों के वास्तविक स्वरूपों का स्पष्ट ज्ञान नहीं है ।

गांव के प्रधान को **ग्रामकूटक** कहा जाता था । इस बात की कोई सूचना नहीं मिलती कि इसकी नियुक्ति कैसे की जाती थी । किन्तु वह गांव में केन्द्रीय शासन का प्रतिनिधि होता था । तथापि, गांव के प्रति उसका उत्तरदायित्व अधिक था । उसे गांव की शान्तिव्यवस्था, पुलिस कर्त्तव्यों के पालन और कार्य, केन्द्रीय करों की वसूली तथा उन्हें राजकीय कोष में जमा करने, गांव की समस्याओं को केन्द्रीय शासन के समक्ष पहुँचाने तथा अन्य आकस्मिक परिस्थितियों की सूचना केन्द्र को देनी होती थी । चालुक्यों के शासन के समय ग्राम-सभाएँ, तमिलनाडु की तरह, होती थीं या नहीं, इसका कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं प्राप्त होता । किन्तु जब तक केन्द्रीय सत्ता से किसी प्रकार का मतभेद अथवा समस्या न होती थी, कर्नाटक और कुन्तल के ग्रामों की भी स्वायत्तता, प्राय: प्रत्येक ग्रामीण व्यवस्थाओं के सम्बन्ध में, सर्वमान्यरूप में वर्तमान थी ।

नगर प्रशासन

नगरों के सम्बन्ध में आत्मायत्त नगर प्रशासन की स्पष्ट जानकारी मिलती है । किन्तु यह आत्मायत्तता केन्द्रीय अर्थव्यवस्था अथवा दण्डव्यवस्था में खलल नहीं डालती थी । नगरों को **नगरपत्तन** (पट्टन) अथवा **पुर** की संज्ञाएँ प्राप्त थीं । अहिहोड़ और डम्बल जैसे

---

१. गडग अभिलेख (१०९८ ई०), एइ०, जिल्द १५, पृष्ठ ३५२-३५४; साउथ इण्डियन् इन्स्कृप्शन्स्, जिल्द ९ (भाग १), १६४; द्वितीय ८-१६ ।

नगर काफी बड़े-बड़े थे और वहाँ व्यावसायिकों और व्यापारिओं की घनी बस्तियाँ थीं। **पत्तन** अथवा **पट्टन** प्राय: उन नगरों को कहा जाता था जो समुद्री बन्दरगाह होते थे। नगरों की संस्था के प्रधान को **नगरसेट्टि** और **पट्टन** के प्रधान को **पट्टनस्वामी** कहा जाता था। किन्तु इन नगरों या पत्तनों की यदि कोई स्वायत्तशासी संस्थाएँ थीं, तो भी उनके संविधान अथवा स्वरूप की कोई स्पष्ट जानकारी नहीं प्राप्त होती। किन्तु इनके प्रशासन के सम्बन्ध में अनेक अभिलेख प्राप्त होते हैं। १०८२ ई० के एक अभिलेख से ज्ञात होता[१] है कि शान्तिसेट्टि के नेतृत्व में ५०० (निवासिओं) ने ब्राह्मणों से एक भूखण्ड खरीदा। इसी प्रकार ११०१ ई० के अन्य आलेख[२] से ज्ञात है कि नगर **महाजनों** और **गाउण्डों** से **दण्डनायक नागवर्मय्य** ने भूमि खरीदी। संभवत: ये जमीनें दान देने हेतु खरीदी जाती थीं। दान देते समय नगरों के सभी अधिकारिओं (**दण्डनायक, सेट्टि, गाउण्ड** आदि) का उपस्थित रहना और दान का साक्षी बनना आवश्यक होता[३] था। नगरों की सभाओं के होने के प्रमाण इनसे स्पष्ट हो जाते हैं। उनके सदस्यों को **महाजन** कहा जाता था। संभवत: ये सभाएँ, तमिलनाडु की तरह, दो प्रकार की होती थीं–एक सर्वसाधारण लोगों की और दूसरी ब्राह्मणों की, जो केवल ब्राह्मणों से सम्बद्ध समस्याओं का निस्तारण करती थीं और उनसे सम्बद्ध व्यवस्थाएँ देखती थीं। इन सभाओं की संख्याएँ आवश्यकतानुसार अलग-अलग होती थीं। वे जमीन खरीद सकती थीं, उसे बेंच सकती थीं, मुकद्दमे सुन सकती थीं और दूसरों पर मुकद्दमा भी कर सकती थीं। इन सभाओं की कदाचित् कार्यकारी समितियाँ अथवा उनकी उपसमितियाँ भी होती थीं। किन्तु उनकी नियुक्ति अथवा चुनाव और उनके कार्य तथा खाली जगहों को भरने के क्या विधान थे, इसे जाना नहीं जा सकता।

यहाँ अहिहोड़ नगर की सभा का कुछ विवरण देना उपयुक्त होगा। उसे **अय्यावोल ऐनुर्न्वन** ५०० अर्थात् अहिहोड़ नगर की नगरसभा ५०० की संज्ञा दी गयी है। पी० बी० देसाई के मत[४] में यह नाम नगरसभा में ५०० सदस्यों के होने के कारण दिया गया प्रतीत होता है। तदनुसार, यह व्यापारिओं, शिल्पिओं और कामगारों की एक शक्तिशाली और बहुविध अधिकार वाली सभा थी, जिसके क्रिया-कलाप दूर-दूर तक फैले हुए थे। शासकों की ओर से इसके अधिकारों और क्रिया-कलापों को मान्यता प्राप्त थी। अपने सदस्यों के हितों की रक्षा हेतु इसे नियमों के निर्माण और उनका पालन कराने के अधिकार भी प्राप्त थे। संभवत: अपनी सीमा के भीतर अपने सदस्यों से सम्बन्धित क्रिया-कलापों से सम्बद्ध इन्हें कुछ सीमित मात्रा में न्यायिक अधिकार भी प्राप्त थे। नगर

---

१. बाम्बे कर्नाटक इन्स्क्रृप्शन्स् १९३५-३६ का १२।
२. वहीं, १५।
३. साउथ इण्डियन् इन्स्कृप्शन्स्, जिल्द ११, (भाग १), ९७।
४. ए हिस्ट्री ऑफ् कर्नाटक, पृष्ठ २००।

व्यापारिओं और स्थान-स्थान पर घूमकर अपनी रोजी-रोजगार चलाने वालों की सुरक्षा हेतु कदाचित् इनके पास सशस्त्र बल भी होते थे ।

राजकीय राजस्व

राजकीय राजस्व की प्राप्ति, उसके संग्रह और व्यय के चालुक्यों के समय के कोई भी प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं प्राप्त होते । उनके जो भी उल्लेख हैं, वे सभी अप्रत्यक्ष हैं और वे ब्राह्मणों को दिये गये भूमिदान (**ब्रह्मदेय** या **ब्रह्मदाय**), मंदिरों को दिये गये भूमिदान (**देवदेय** या **देवदाय**), मठों, सत्रों, विहारों, राजकर्मचारिओं, सेनापतिओं और सैनिकों को विशेष उद्देश्यों की पूर्ति हेतु और सेवा हेतु दी गयी जमीनों से सम्बद्ध राजकीय करों से विमुक्तियों (**परिहारों**) सम्बन्धी उल्लेखों के द्वारा ही ज्ञात होते हैं । कल्याणी के चालुक्यों के ऐसे हजारों अभिलेख या तो संस्कृत या कन्नड़ में प्राप्त होते हैं, जो शासकीय आज्ञाओं के रूप में हैं । किन्तु उनमें वर्णित राजकीय करों से सम्बद्ध परिहारों के जितने भी उल्लेख हैं, उनसे यह अनुमान लगा लेना सही नहीं होगा कि वे सभी के सभी प्रकार के कर राज्य में सर्वत्र लगाये ही जाते थे । वे कर स्थानीय, प्रयोजन विशेष वाले और प्राय: सीमाबन्धित ही थे । उनसे यह भी निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि राज्य को भूमि, सम्पत्ति, व्यापार-वाणिज्य, नगरों, ग्रामों, पत्तनों आदि से प्राप्त होने वाली पूरी-पूरी आय का पूरा ब्यौरा दे ही देते हैं । तथापि, उनसे अधिकांश राजकीय देयों का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है ।

कर लगाने के अधिकार अपनी-अपनी अधिकार सीमाओं के भीतर केन्द्रीय सत्ता, प्रान्तीय और स्थानीय प्रशासनों, नगर सभाओं, व्यावसायिक समूहों, ग्रामसभाओं और मंदिरों जैसे धार्मिक संस्थानों को भी प्राप्त थे, जिनकी अभिलेखों द्वारा जानकारी होती है ।

मुख्य रूप से करों की वसूली बगीचों से, कसैली और नारियल के पेड़ों से, सिचाई-सुविधा से सम्पन्न भूमि से, सिंचाई रहित भूमि से, तेल मिलों से, गृहों और उनके आसपास की जमीनों से तथा **गद्याण** (**गद्याणक**) कहलाने वाले स्वर्ण सिक्कों के नकदरूप में, समय-समय पर विशेष आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु, नगरसंस्थाओं अथवा निगमों से प्राप्त धन से, व्यापारिक शुल्कों तथा पथकरों से होती थी । किन्तु कुछ अपवादों को छोड़कर यह ज्ञात नहीं होता कि विभिन्न करों की वसूली के अंश क्या थे ।

भूमिदानों से सम्बद्ध परिहारों के विवरणों से अनेक राजकीय करों की जानकारी होती है । इस सम्बन्ध में शिलार (शिलाहार) माण्डलिक रट्टराज के खारेपाटन[१] अभिलेख (१००८ ई०) तथा १०२४ के द्वितीय जयसिंह के मीरज[२] अभिलेख के साक्ष्यों का अध्ययन लाभप्रद है । खारेपाटन अभिलेख में मत्तमयूर (शैव) शाखा के एक ब्राह्मण (आचार्य) को सभी परिहारों से युक्त तीन गांवों के दान का उल्लेख है । उसमें सभी गांवों

१. एइ०, जिल्द ३, पृष्ठ २९७ और आगे ।

२. वहीं, जिल्द १२, पृष्ठ ३०३ ।

की चारों ओर की सीमाओं के उल्लेख हैं। उनसे प्राप्त होने वाले राजकीय करों (**सर्व-राजकीय-आभ्यांतर सिद्धिः**) से विमुक्ति देते हुए यह आदेश दिया गया है कि उनमें चाटभाटों (सैनिक और अर्धसैनिक) के अप्रवेश सहित सभी विमुक्तियाँ भविष्य में पूरी तरह लागू रहेगीं। इसमें केवल एक शर्त यह है कि उस दान के पूर्व यदि उन गांवों में कोई **ब्रह्मदेय** अथवा **देवदेय** दिया गया रहा होगा तो वह इस दान की परिधि से बाहर होगा। मीरज अभिलेख (१०२४ ई०) में इससे भी आगे जाकर अन्य करों की गिनती में अन्नकर, स्वर्णकर और वहाँ की गड़ी हुई सम्पत्तियों तथा जमाधन का उल्लेख है। वहाँ भी निर्देश है कि राजकीय अधिकारी वहाँ की इस नयी व्यवस्था पर कोई अंगुली नहीं उठायेंगे। वहाँ **कर** और **बाधा** (आकस्मिक कर) तथा **शुल्क** (व्यापारिक वस्तुकर) भी नहीं वसूल किये जाँयगे। ये शर्तें सभी के द्वारा मान्य (सर्वमान्य) अर्थात् राजकीय अधिकारिओं के अतिरिक्त सर्वसाधारण लोगों द्वारा भी मान्य होंगी। किन्तु सभी प्रकार के करों से मुक्ति (विमुक्ति=परिहार) वाले इन उदाहरणों के अतिरिक्त एक उदाहरण ऐसा भी है, जिसमें एक शर्त भी लगी हुई है। **चालुक्य विक्रम** वर्ष ४८ के षष्ठ विक्रमादित्य के नीलगुण्ड अभिलेख में द्रविड़ देश के ५०० ब्राह्मणों को पूर्वत: दिये गये ग्रामदान के पुनर्नवीनीकरण के अतिरिक्त एक और नये ग्राम का जब दान दिया गया तो उसमें एक शर्त यह लगा दी गयी कि दानप्राप्तकर्ता ब्राह्मण वहाँ के भूस्वामी (**देशस्वामी**) को ५०० स्वर्णों को एकीकृत कर के रूप में (**पिण्डदान**) प्रतिवर्ष देते[२] रहेंगे। ऐसी शर्तें कुछ अन्य भूमिदान के उल्लेखों में भी प्राप्त होती हैं। निष्कर्ष यह निकलता है कि दान देते समय यदि किसी व्यक्तिगत भूस्वामी की भूमि ही दान में दी गयी हो तो उसकी भरपाई का ध्यान रखा जाता था। स्पष्ट है कि राज्य अपनी आय के सारे स्रोतों को बन्द नहीं कर सकता था।

भूस्वामित्व

विभिन्न भूमिदानों में जिन परिहारों अर्थात् करविमुक्तियों के विवरण हैं, उनसे प्रतीत होता है कि भूस्वत्त्व की कई श्रेणियाँ थीं। यह तो स्पष्ट है कि राज्य की ओर से दिये गये इन भूमिदानों के बावजूद भी अधिकांश भूमि पर राज्य का ही स्वामित्व था। तथापि दानप्राप्त खण्डों, क्रय की हुई भूमि, सामुदायिक भूखण्डों अथवा ग्रामीण क्षेत्रों के व्यक्तिगत भूखण्डों पर दानप्राप्तकर्ता ब्राह्मणों, मठों, मंदिरों, विहारों, नगरसभाओं, निगमों, ग्राम्यभूमि पर निजी खेती करने वाले किसानों अथवा सामुदायिक क्षेत्रों पर ग्रामसभाओं के भूस्वत्त्वों को भी पूरी मान्यता प्राप्त थी। ब्राह्मण, मंदिर और मठ दानप्राप्त भूमि पर अपनी ओर से प्राय: श्रमिकों को लगाकर अपनी खेती कराते थे, उनकी पूरी उपज उनकी होती थी और वे कोई भी राजकीय कर, कुछ अपवादों को छोड़कर[३], नहीं देते थे। मंदिर की जमीन

---

१. एपि इण्डिका, जिल्द १२, पृष्ठ १४५।

२. पंक्तियाँ ६७-६८।

३. उदाहरण हेतु देखें, नीलगुण्ड अभिलेख, एइ०, जिल्द १२, पृष्ठ १४५, पंक्तियाँ ६७-६८।

गिरवी रख सकते थे और लिये हुए कर्जों की सूद की एवज में उसे दूसरों को सौंप भी सकते थे। नगरसभाओं को भी अपनी भूमि के हस्तान्तरण, बेची अथवा गिरवी रखने का अधिकार[१] था और वे आवश्यक होने पर जमीन खरीद भी सकती थीं। युद्ध जैसी विषम परिस्थितियों को छोड़कर अथवा राज्य-राजा और इन संस्थाओं के बीच हुए समझौतों को अपवादित करते हुए सभी अवस्थाओं में उपर्युक्त सबके भूस्वत्त्वसम्बन्धी अधिकार सुरक्षित थे। मंदिरों अथवा मठों को विभिन्न प्रकार की जनसेवा-खर्चों के निमित्त दान की भूमि **तलवृत्ति** (= स्थलवृत्ति = मंदिरवृत्ति) कहलाती थी। वास्तव में किसी भी प्रकार की सेवा के बदले स्वीकृत की गयी भूमि **वृत्ति** की परिभाषा में सम्मिलित थी। शास्त्रों का अध्ययन कराने वालों को दत्त भूमि **भट्टवृत्ति** (भट्ट = विद्वान्) कहलाती थी। गांवों में छोटे बच्चों को अक्षरज्ञान प्रारंभ कराने वाले अध्यापकों को दत्तभूमि **अक्करि वृत्ति** (अक्षरवृत्ति) कही जाती थी। मंदिर को प्रदत्त भूमि की दूसरी संज्ञा थी **देवभोग** और उसकी सभी दिशाओं की सीमाओं का विधिवत् उल्लेख किया गया होता था। इस बात के भी आभिलेखिक प्रमाण प्राप्त होते हैं कि राजकुमारों को उनके पदों के अनुरूप उनके सभी आवश्यक खर्चों को चलाने हेतु भी राजकीय भूमि का आवण्टन होता था। इस आवण्टन को **कुमारवृत्ति**[२] कहा गया है। सैनिक सेवा में लगे सेनापतिओं को भी सेवा के बदले बड़े-बड़े भूखण्ड प्राप्त थे, जिन्हें **जीवित** अथवा **अणुग जीवित** कहा गया है[३]। उन्हें अपने **जीवित** के हस्तान्तरण का भी अधिकार प्राप्त था, जिसे प्रतिसामन्तीकरण (**सबइन्फ्यूडेशन**) कहा जा सकता है[४]।

सांस्कृतिक गतिविधियाँ[५]

उत्तर प्राचीन काल में जब उत्तर भारत में प्राचीन मंदिरों, मठों और विहारों का तुर्क आक्रान्ताओं द्वारा विनाश किया जा रहा था और स्थापत्य तथा कला के क्षेत्र में नये निर्माणों का क्रम प्रायः बन्द सा होने लगा था, उस समय दक्षिणापथ और दक्षिण भारत भारतीय स्थापत्य और कलाओं के प्रधान आश्रय के रूप में उदित होकर उनके उत्फुल्लित प्रस्फुटन के कारक बने। वहाँ के मंदिर जनजीवन, विविध कलाओं, विद्या और तत्कालीन संस्कृति के केन्द्र के रूप में उभरे। यदि आज की बाजार वाली शब्दावली का प्रयोग करें तो यही कहा जायगा कि उपर्युक्त कोई भी क्षेत्र 'सरकारी' अथवा 'शासकीय क्षेत्र' नहीं था, अपितु

---

१. देखें, पीछे पृष्ठ १८२।
२. साउथ इण्डियन् इन्स्कृप्शन्स्, जिल्द ११, (भाग १), ५२ तथा जिल्द ९, (भाग १), २५०।
३. वहीं, जिल्द ९, (भाग १), २५०।
४. नीलकान्त शास्त्री (याजदानी सं०) दि अर्ली हिस्ट्री ऑफ् दि डेकन, भाग १-६, पृष्ठ ४१३-४१४।
५. चालुक्य स्थापत्य और कला हेतु देखे आगे १५वाँ अध्याय।

सभी 'निजी क्षेत्र' के अन्तर्गत आते थे, जिनका वित्तीय पोषण राज्य, समाज, ग्रामसंस्थाएँ धनीमानी लोग तथा व्यापारिक और व्यावसायिक समुदाय, नगरसभाएँ और यहाँ तक कि विदेशी व्यापारी भी करते थे। मंदिर, सत्र, मठ, विहार और विद्यासंस्थान जैसी सभी संस्थाएँ राजकीय भूमिदान, बड़े-बड़े राज्याधिकारिओं द्वारा किये गये भूमिदान तथा साधारण लोगों द्वारा किये गये अन्नदान, वस्त्रदान, वस्तुदान, दीपदान, तिलदान, तैलदान, रूईदान अथवा पशुदान के सहारे ही अपनी सभी सामाजिक और धार्मिक क्रिया-कलापों को चलाती थीं। मंदिरों को प्राप्त होने वाली भूमि की सम्पूर्ण आय तथा चढ़ावे, सोने चांदी आदि का भोग केवल मंदिर के आचार्य, पुजारी, स्तोत्रपाठी और प्रबन्धक मात्र नहीं करते थे, किन्तु दान की शर्तों में ही यह प्राय: सर्वदा ही उल्लिखित होता था कि आय अथवा भूमि के कौन-कौन से अंश किन-किन कार्यों अथवा व्यक्तिओं–गायक-गायिकाओं, ढोलकियों, बाँसुरीवादकों, अन्यान्य वादकों, सफाई कर्मचारिओं, सेवकों, स्तोत्रपाठिओं, विभिन्नशास्त्रों को पढ़ाने वाले अध्यापकों, आचार्यों, भारतपाठिओं (**रामायण, महाभारत** और पुराणवाचकों और उपदेशकों) जैसे विभिन्न वर्गों में बांटे जाँयगे[१]। इन सबके निरीक्षण हेतु मंदिरों की प्रबंध समितियाँ होती थीं, जहाँ संभवत: राज्य का प्रतिनिधित्व करने वाले अधिकारी भी मौजूद रहते थे। यद्यपि उनका मंदिर प्रबन्ध में कोई प्रत्यक्ष हस्तक्षेप तो नहीं था, किन्तु वहाँ उनका निरीक्षण अवश्य ही वर्तमान रहता था।

किन्तु आधुनिक निजीकरण की प्रवृत्तियों, प्रयोगों और तत्कालीन निजीकरण के प्रयोगों के बीच एक बहुत बड़ा अन्तर यह है कि आज व्यक्तिगत मुनाफे और लाभ का जो बाजारू तत्त्व वर्तमान है, उसका उस समय कोई भी भाव था, यह नहीं दिखायी देता।

कुछ उदाहरण देखे जा सकते हैं। १०१८ ई० में बागली (बेल्लारी) के कलिदेवस्वामी मंदिर को दिये गये दान को निम्नलिखित[२] उद्देश्यों हेतु विभिन्न अंशों में बांटा गया था–नित्य प्रति के देवता को दिये जाने वाले **निवेद्य** (नैवेद्य), शाश्वत जलाये जाते रहने वाले दीप प्रज्वालन; साधुओं को भोजन देने वाले **सत्र;** मंदिर की सेवा में लगी १२ देवदासिओं; बाँसुरीवादक; ढोलक बजाने वाले; एक नर्तकी और बाहर से आये हुए (**देशचारिक**) विद्यार्थियों को भोजन देने हेतु। इसी प्रकार १०२९ ई० के रानी सुग्गलदेवी द्वारा एक शिव मंदिर को दिये गये दान की आय को भी विभाजित करते हुए उससे साधुओं तथा विद्यार्थिओं के भोजन तथा उनके वस्त्र और औषधि की व्यवस्था किये जाने के उल्लेख[३]

---

१. देखें, बीजापुर जिले से प्राप्त अतैथिक अभिलेख, साउथ इण्डियन् इन्स्कृप्शन्स्, जिल्द ११ (भाग १) १०३; १०८६ ई० का नागै अभिलेख, वहीं, जिल्द ९ (भाग १) १५५।

२. कलिदेवस्वामी मंदिर को दिये गये दान वाला १०१८ ई० का अभिलेख, वहीं, जिल्द ९ (भाग १) ८२ आदि।

३. बाम्बे कर्नाटक इन्स्कृप्शन्स्, १९३६-३७ का २५।

प्राप्त हैं। १०५४ ई० के भोगेश्वर मंदिर (बेल्लारी) को दिये जाने वाले दान से चन्दन-दल की व्यवस्था, एक मठ के खर्च की व्यवस्था, एक ढोलकी, एक गायक, एक पुजारी, एक संगतराश तथा, साधुओं के भोजन तथा विद्यादान हेतु खर्चों की अलग-अलग भागों द्वारा व्यवस्था की गयी थी।

कल्याणी के चालुक्य शासकों और उनके अनेक सेनापतिओं और उच्चाधिकारिओं द्वारा बनवाये गये मंदिर ही तत्कालीन स्थापत्यकला, मूर्तिकला और चित्रकला के मुख्य उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। एक प्रमुख उदाहरण प्रथम सोमेश्वर के सेनापति मधुसूदन द्वारा नागै में निर्मित कराये गये मंदिर[१] के सम्बन्ध का है। कथित है कि उसका चमत्कृत शिखर आकाश में बादलों को स्पर्श करता था; उसके सभी मण्डप भव्य चित्रों से सजे हुए थे, उसमें एक **नाट्यशाला** थी, वह एक गरुड़स्तम्भ से युक्त था; तीन तल्लों वाले उसके गोपुर का शिखर इन्द्र के विमान जैसा ऊँचा था; उसमें एक **अनुष्ठान भवन** था, जहाँ अनेक संप्रदायों के साधु इकट्ठे होकर अपने भजनों का गायन करते थे और शास्त्रार्थ करते थे; उसके साथ एक मठ भी था, ज़हाँ वेद, वेदांग और वैदिक शाखाओं का अध्यापन किया जाता था और उसके **तोरण** और **प्राकार** विशाल थे। चाउण्डरस द्वारा निर्मित बालेश्वर मंदिर (हलगोण्डि, १०९० ई०) की समता देवेन्द्र (इन्द्र) के विमान (मंदिर) से की गयी है, जिसका तात्पर्य यह है कि पूरे मंदिर की कल्पना चक्रों के ऊपर उसके रथ को खींचने वाले घोड़ों सहित की गयी थी। एक अभिलेख[२] यह बताता है कि ११४७ ई० में अतुल्य मेच्चरस ने लक्ष्मेश्वर के निकट के संगमेश्वर मंदिर के ऊपर स्थापित किये जाने हेतु सम्पूर्ण स्वर्ण से निर्मित एक कलश की भेंट दी थी। ११५९ ई० के बेलगांव से प्राप्त एक अन्य अभिलेख[३] में कौशिराज नामक सेनापति द्वारा निर्मित कराये जाने वाले एक मंदिर के सम्बन्ध में कहा गया है कि उसमें प्रयुक्त सभी भवन सामग्री पहले से ही पूरी तरह तराशी हुई, रंगी हुई, मूर्तियों और चित्रों से सुसज्जित तथा नाना प्रकार के प्राकृतिक चित्रों और आकृतियों से युक्त करके वहाँ लायी गयी थी। उस मंदिर के सामने ही उसने एक विशाल भवन बनवाया, जिसमें बड़े-बड़े कमरे, उन सभी कमरों में सोने हेतु चौकियाँ, नरम गद्दे, और सभी प्रकार के बर्तन थे, जिसे उसने विद्वान् ब्राह्मणों को समर्पित कर दिया। इससे यह आभास मिलता है कि मंदिरों और भवनों की सजावट और अलंकरण सामान्यत: बहुत ही अधिक किये जाते थे।

शिक्षा किस प्रकार और कहाँ, किन लोगों द्वारा दी जाती थी, इसके कुछ उदाहरण प्राप्त होते हैं। प्राय: प्रत्येक गांव में छोटे-छोटे बच्चों को अक्षरारम्भ कराने और प्राथमिक

---

१. हैदराबाद आर्केलाजिकल् सीरीज़, जिल्द ८, पृष्ठ ३०-३१।
२. एइ० जिल्द १६, पृष्ठ ४८, (प्रथम) ४८।
३. एपिग्राफिया कर्नाटिका, शिकारपुर तालुका, जिल्द ७, १२३।

शिक्षा देने वाले आचार्य हुआ करते थे, जिन्हें राज्य की ओर से स्थायीरूप से **अक्करिग-वृत्ति** (अक्षर वृत्ति) मिलती थी । इसी प्रकार **पुराण** (**रामायण, महाभारत** और **पुराण** का सामूहिक नाम) का पाठ करने वाला तथा श्रोताओं में उनका संदेश देने वाला एक व्यक्ति प्राय: प्रत्येक मंदिर में होता था । इसी प्रकार वेद, वेदांग, व्याकरण, छन्द और दर्शन के अध्यापक भी वहाँ रहते थे, जिनके द्वारा किये जाने वाले **विद्यादान** के बदले भूमि के रूप में राज्य की ओर से उन्हें **वृत्तियाँ** प्रदान की जाती थीं । मधुसूदन द्वारा १०५८ ई० में स्थापित[१] नागै के मंदिर में स्थित **घट्टिका** (कॉलेज = शाला) के २०० वेदपाठी छात्रों; शास्त्रों के अध्ययन में रत ५० छात्रों; शास्त्र पढ़ाने वाले ३ अध्यापकों (एक भट्ट शास्त्र के लिए, एक न्याय शास्त्र के लिए और एक प्रभाकर शास्त्र के लिए); तीन वेद पढ़ाने वाले अध्यापकों तथा एक पुस्तकालयाध्यक्ष हेतु प्रदत्त दान की आय से उनके भोजन और वस्त्रों की व्यवस्था निश्चित की गयी थी[२] । भोजन और वस्त्रों के अतिरिक्त अध्यापकों को वेतन रूप में उनके भिन्न-भिन्न विषयों के आधार पर ३० **मत्तर**, ३५ **मत्तर** अथवा ४५ **मत्तर** करमुक्त भूमि प्रदान की गयी थी । ११०७ ई० के रानी मलयमतीदेवी के एक दानपरक लेख[३] से यह भी ज्ञात होता है कि कभी-कभी अध्यापकों को नगद वेतन **गद्याणक** (**गद्याण**) नामक स्वर्ण सिक्कों के माध्यम से भी दिया जाता था ।

शास्त्रज्ञ, चरित्रवान और अध्ययन-अध्यापनरत ब्राह्मणों के गांव के गांव ही दक्षिणापथ और दक्षिण में बसे हुए थे, जिन्हें **ब्रह्मपुरी** कहा जाता था । किन्तु विभिन्न शास्त्रों को पढ़ने-पढ़ाने वाले केवल ब्राह्मण ही थे, ऐसा नहीं कहा जा सकता । १०२४ ई० के मारोल अभिलेख से ज्ञात होता है कि अनन्तवीर्यमुनि नामक एक जैन आचार्य **व्याकरण, निरुक्त, गणित, वात्स्यायन** (कामशास्त्र), **ज्योतिष, शकुन** (शकुन शास्त्र), **छन्द, मनु** (विधि शास्त्र) **गांधर्व** (गानविद्या), **अलंकार, महाकाव्यनाटक** (काव्यशास्त्र और नाट्यशास्त्र), **अर्थशास्त्र, सिद्धान्त** और **प्रमाण** जैसे नाना प्रकार के शास्त्रों के ज्ञाता थे । इस बात के भी अभिलेखों में प्रमाण प्राप्त होते हैं कि विभिन्न शास्त्रों के ज्ञाता आपस में वाद-विवाद और **शास्त्रार्थ** द्वारा अपनी प्रतिभा और विद्वता को निखार देते रहते थे । विद्वानों के अनुशासन, तपस्, चरित्र और अगाध विद्या के अनेक उदाहरण भी अभिलेखों से प्राप्त होते हैं । इस सम्बन्ध में ब्राह्मण विद्वानों के अतिरिक्त अनेक जैनाचार्यों के उल्लेखों से तत्कालीन अभिलेख भरे पड़े[४] हैं । विभिन्न शास्त्रों के ये विद्वान् केवल नगरों, मंदिरों और अध्ययन केन्द्रों मात्र में सीमित नहीं थे, अपितु उनमें से बहुतों के निवास दूर-दूर के गांवों में भी होते थे ।

---

१. हैदराबाद आर्केलाजिकल् सीरिज़्, जिल्द ८, पृष्ठ १५-१६ ।
२. नीलकान्त शास्त्री, (याजदानी), पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ४१९, नोट २ देखें ।
३. साउथ इण्डियन् इन्स्कृप्शन्स्, जिल्द ९ (भाग १), १७५ ।
४. याजदानी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ४३१ ।

कल्याणी के चालुक्यों के अधीन कल्याणी नगर विद्वानों, लेखकों और कविओं का जमघट बन चुका था। षष्ठ विक्रमादित्य का काल इस क्षेत्र में अग्रगण्य दिखायी देता है। वास्तव में उसने अपने पिता सोमेश्वर के समय अथवा अपने शासन के प्रारंभिक वर्षों में जो युद्ध लड़े, उनके अतिरिक्त उसका ५०-५१ वर्षों का लम्बा शासन काल (१०७६-७७-११२६-२७ ई०) प्राय: युद्धरहित ही रहा, और उसने अपना सारा का सारा जीवन ही शान्तिकालीन कार्यों में व्यतीत किया। उसमें विद्वानों के प्रति बहुत बड़ा आकर्षणभाव था और उसी से आकृष्ट होकर बिल्हण कश्मीर से चलकर उसके दरबार में आ टिका और वहीं उसने अपने अमरकाव्य **विक्रमांकदेवचरित** की रचना की। अपनी विद्वता के कारण वह विक्रमादित्य के दरबार में **विद्यापति** की उपाधि से विभूषित हुआ और उसे अपनी सवारी के लिए एक **मस्त** हाथी और आदरसूचक नीलाछत्र प्रदान किया गया। विक्रमादित्य के दरबार का दूसरा रत्न था विज्ञानेश्वर। उसने **याज्ञवल्क्यस्मृति** की प्रसिद्ध टीका **मिताक्षरा** लिखी, जो हिन्दूविधि के स्रोतग्रंथ के रूप में समस्त उत्तर भारतवर्ष में प्रतिष्ठित हुई। विक्रमादित्य का पुत्र तृतीय सोमेश्वर उन अनेक भारतीय राजशासकों--विक्रमादित्य, हर्ष, भत्तृहरि, भोज और शूद्रक-की श्रेणी में आता है जो महान् कवि भी थे। उसने १०० अध्यायों वाले **मानसोल्लास (अभिलाषार्थचिन्तामणि)** और **विक्रमाङ्काभ्युदयकाव्य** की रचना की। उसकी विद्वता के कारण उसे **सर्वचक्रवर्ती** की उपाधि प्राप्त थी। नीलगुण्ड अभिलेख[१] से यह ज्ञात होता है कि विक्रमादित्य ने द्रविड़ देश (चोड़ राज्य) से ५०० ब्राह्मणों को बुलाकर उन्हें दो बार गांवों का दान दिया था। अन्य राज्यों से भी ब्राह्मण लोग आकर उसके राज्य में बस गये थे।

संस्कृत साहित्य के अन्य अनेक लेखकों और विद्वानों के नाम भी चालुक्य काल में प्राप्त होते हैं। उदाहरण हेतु द्वितीय जयसिंह के समकालीन वाडिराज नामक जैन लेखक ने **पार्श्वनाथचरित** और **यशोधरचरित** नामक काव्यों की रचना की[२]। वाडिराज ने धनञ्जय नामक एक अन्य कवि का भी उल्लेख किया है, जिन्होंने **द्विसंधानकाव्य** लिखा। **राघवपाण्डवीय** नामक संस्कृत काव्य भी चालुक्य काल में ही लिखा गया, जिसकी अभिनवपम्प ने भी प्रशंसा की है[३]। १००० ई० में सोड्ढल ने वाणभट्टरचित **हर्षचरित** के आदर्श पर **उदयसुन्दरीकथा** नामक अपना कथाग्रंथ लिखा। सोड्ढल लाटदेश के एक कायस्थवंशी लेखक थे।

कन्नड़ भाषा और साहित्य, संस्कृत साहित्य, व्याकरण और छन्दशास्त्र के अनुगामी एवं सहचर थे। कन्नड़ का जो प्रारंभ राष्ट्रकूट युग में हुआ था, वह चालुक्यों

---

१. एइ०, जिल्द १२, पृष्ठ १४२ और आगे।
२. जर्नल ऑफ् दि बाम्बे ब्राञ्च ऑफ् दि रायल् एशियाटिक सोसायटी, (१९२८), पृष्ठ १४०।
३. उद्धृत, नीलकान्त शास्त्री (याजदानी), पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ४५१।

के समय भी गतिमान रहा। चालुक्यों के अनेक अभिलेख इन दोनों भाषाओं के माध्यम से द्विभाषी रूप में प्राप्त होते हैं। कुछ तो ऐसे हैं जिनमें बारी-बारी से, बीच-बीच में, दोनों ही भाषाओं के पद्य और गद्य प्राप्त होते हैं उनकी रचना में कोई भाषायी अन्तर दिखायी ही नहीं देता। चालुक्य शासक द्वितीय सोमेश्वर, **भूलोकमल्ल,** के समय (१०६८ ई०) शान्तिनाथ नामक एक प्रसिद्ध जैन लेखक और शास्त्रार्थी को सोमेश्वर के सेनापति लक्ष्मण भूप के अधीन वनवासी में **अर्थाधिकारी** के पद पर नियुक्त हुआ पाया जाता है। नागवर्माचार्य ने **चन्द्रचूड़ामणि जातक** नामक ग्रंथ लिखा, जो सांसारिक त्याग की नैतिक महत्ता का गुणगान करता है। नागवर्माचार्य उदयादित्य के **सान्धिविग्रही** थे। कन्नड़ साहित्य के **त्रिरत्न**-रन्न, पम्प और पोन्न इसी काल के प्रसिद्ध लेखक थे। यद्यपि रन्न अपने को स्वयं राष्ट्रकूट काल का लेखक बताते हैं, वास्तव में वे चालुक्यों के समय ही हुए थे[१]। द्वितीय तैलप के समय के वे **कविचक्रवर्ती** थे, जिन्हें उनकी विद्वता और चरित्र के कारण दण्ड, चौरी (चंवर), हाथी और छत्र आदि की महत्तासूचक सुविधाएँ प्रदान की गयी थीं। ९९३ ई० में उन्होंने **अजितपुराण** नामक **चम्पूकाव्य** लिखा, जो अजितनाथ नामक जैन तीर्थंकर का जीवनवृत्त है। स्वयं वे इस ग्रंथ को **काव्यरत्न** और **पुराणतिलक** विशेषण देते हैं[२]। उन्होंने **साहसभीमविजय** अथवा **गदायुद्ध** भी लिखा, जो **महाभारत** के ढंग पर सत्याश्रय से सम्बद्ध एक वीरकाव्य है। इस काल (९७८ ई०) में ही लिखित **चाउण्डरायपुराण** कन्नड़ साहित्य का सबसे पहला गद्यकाव्य माना जाता है। इस ग्रंथ का नायक चाउण्डराय गंग शासक राचमल्ल का **ब्रह्मक्षत्र**वंशी सेनापति था और इस ग्रंथ में जैनधर्म के २४ तीर्थंकरों १२ चक्रवर्तियों, ९ बलभद्रों, ९ नारायणों और ९ प्रतिनारायणों (कुल मिलाकर ६३ शकालापुरुषों) के जीवनवृत्त दिये गये हैं। अजितसेन के एक अन्य शिष्य नागवर्मा कौण्डिन्य ब्राह्मण थे, जिन्होंने **चाउण्डाम्बुधि** नामक छन्दशास्त्रीय ग्रंथ की रचना की। यह कन्नड़ साहित्य की प्रथम छन्दशास्त्रीय रचना है। इनकी एक अन्य कृति **कर्नाटक कादम्बरी** थी, जो बाणभट्ट की कृति **कादम्बरीकथा** को आदर्श मानकर लिखी गयी है।

श्रीधराचार्य प्रथम सोमेश्वर के समय के एक ब्राह्मण कन्नड़ साहित्यकार थे, जो अपनी ज्योतिषशास्त्रीय रचना **जातक तिलक** (१०४९ ई०) को उस विषय की सर्वप्रथम ज्योतिष रचना कहते हैं। नागचन्द्र अथवा अभिनवपम्प कहलाने वाले कन्नड़ लेखक कन्नड़ साहित्य के त्रिरत्नों में दूसरे थे। उनका ग्रंथ **मल्लिनाथपुराण** १३वें तीर्थंकर का जीवनवृत्त है। किन्तु नागचन्द्र की अधिक चर्चित कृति **रामचन्द्रचरितपुराण** अथवा **रामायण** है, जो रामायण के आदर्श पर रामचन्द्र के जीवनवृत्त के जैनधर्म द्वारा मान्य स्वरूप का चित्रण है। यह ग्रंथ पम्प कवि द्वारा पूर्णतः विरचित **पम्पभारत** की पूरककृति

---

१. नीलकान्त शास्त्री (याजदानी), पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ४४५।

२. वहीं।

जैसी कृति है, जो मूलत: **महाभारत** के आदर्श पर लिखी गयी थी। नयसेन नामक एक अन्य जैन कवि ने जैनधर्म के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाले **धर्मामृत** नामक अपने ग्रंथ को १०३४ ई० में मुलगुण्ड नामक स्थान पर लिखा। नयसेन के पक्ष में यह कहा गया है कि कन्नड़ ग्रंथों और रचनाओं में संस्कृत के शब्दों और नियमों के अत्यधिक प्रयोग का इन्होंने विरोध किया और शुद्ध कन्नड़ लिखे जाने का पक्ष रखा।

●

अध्याय ७

वेंगी के पूर्वी चालुक्य

वेंगी के पूर्वी चालुक्य वंश का इतिहास आन्ध्र प्रदेश के इतिहास का एक प्रमुख अध्याय है। एक स्वतंत्र राजनीतिक रूप में यह पश्चिम के कर्नाटक वाले क्षेत्रों तथा दक्षिण-पूर्व के दक्षिणी आन्ध्र और तमिल क्षेत्रों की आपसी राजनीतिक प्रतिद्वन्द्विता के बीच का एक पात्र मात्र बना रहा। तथापि, इसकी अपनी निजी भौगोलिक तथा राजनीतिक एकता भी लगभग ४५० वर्षों से कम की नहीं रही। आन्ध्र, आन्ध्रपथ, वेंगी, वेंगीपुर, धान्य-कटक और त्रिलिंग अथवा तेलंगाना के उल्लेखों से जहाँ सारा प्राचीन भारतीय साहित्य भरा पड़ा है, वहीं उनके आभिलेखिक उल्लेख भी कम नहीं हैं। उन सबका यहाँ एक संक्षिप्त उल्लेख मात्र पर्याप्त होगा। आन्ध्र के उल्लेख **ऐतरेय ब्राह्मण** और अशोक के अभिलेखों में प्राप्त होते हैं। चौथी शताब्दी के मोयिडवलु अभिलेख में आन्ध्रपथ की सीमा दक्षिण में कृष्णा नदी तक (धान्यकटक अथवा अमरावती तक) बतायी गयी है। श्वान् -च्वाङ्ग आन्ध्र को अन्-तो-लो कहता है और वेंगीपुर को पिंग- कियो लो नाम से आन्ध्र की राजधानी बताता है। स्वयं पूर्वी चालुक्यों के अभिलेखों में आन्ध्र की सीमा बहुत विस्तृतरूप में समुद्र तटों तक, उत्तर में महेन्द्रपर्वत तक तथा दक्षिण और पश्चिम में कालहस्ती पर्वत (नेल्लूर जिला तथा कुर्नूल जिले के श्री शैलम् पर्वत) तक बतायी गयी[१] है। आगे भी आन्ध्रदेश और आन्ध्रमण्डल नाम बार-बार साहित्यिक ग्रंथों में प्राप्त होते हैं।

गुप्तकालीन साहित्य और पल्लव अभिलेख वेंगी और पिष्टपुर (पूर्वी गोदावरी जिले का पीठापुरम्) का अलग-अलग उल्लेख[२] करते हैं। पल्लव अभिलेखों में वेंगीराष्ट्र और कर्मराष्ट्र का अन्तर स्पष्टरूप से दिखायी पड़ता है। उनमें कर्मराष्ट्र को नेल्लूर के उत्तर में स्थित बताया गया है। आठवीं शताब्दी में वेंगी की पूर्वी सीमा कृष्णवेणा (कृष्णा) और मुसी नदी के संगम तक विस्तृत थी। कालिदास कलिंग और वेंगी के प्रदेशों में भेद को स्पष्टत: दिखाते हैं और महेन्द्र पर्वत को कलिंग के भीतर दर्शाते हैं। उनके अनुसार, आंध्रखण्ड भी अलग ही था। इस प्रकार वेंगीराष्ट्र की सीमाएँ गोदावरी और कृष्णा के बीच वाले जिलों के भीतर ही रही निश्चित की जा सकती हैं।

---

१. दिनेशचन्द्र गांगुली, दि ईस्टर्न चालुक्यज़्, पृष्ठ १३७; एपि इण्डिका, जिल्द ४, पृष्ठ ४३।

२. इस सम्बन्ध में देखें, हेमचन्द्र रायचौधरी (याजदानी सं०) दि अर्ली हिस्ट्री ऑफ् दि डेकन, भाग १-६, पृष्ठ २७-३०।

सातवीं शती में श्वान्-च्वाङ्ग वेंगी और धान्यकटक में भेद करता हुआ दिखायी देता है। उसके अनुसार, इस प्रदेश की भूमि उपजाऊ[१] थी। उत्तर-पूर्व में कलिंग की सीमाओं तक पहुँचने वाले इसके क्षेत्र पूर्वी समुद्र के अन्दर बन्दरगाहों को छूते थे और दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों से इसके जीवन्त व्यापारिक सम्बन्ध थे। पहाड़ी दर्रों से होकर पश्चिम में अरबसागर वाले भारतीय बन्दरगाहों को जाने वाले अनेक स्थलीय मार्ग भी इसे पूर्व और पश्चिम दोनों ही दिशाओं से जोड़ते थे। फलतः, धान्यकटक और वेंगी इसके प्रसिद्ध नगरों और बड़े व्यापारिक केन्द्रों के रूप में भारतीय इतिहास में प्रसिद्ध हो गये। पूर्वी चालुक्यों की पुरानी राजधानी वेंगीनगर अब केवल खण्डहर मात्र के रूप में पश्चिमी गोदावरी जिले के पेड्डवेंगी और चिनवेंगी नामक दो सटे-सटे गांवों के रूप में बचा है। यह इलौरा से लगभग ७ मील उत्तर में स्थित[२] है।

वेंगी का चालुक्य वंश बादामी के चालुक्य वंश की ही एक शाखा के रूप में प्रारंभ हुआ। चूंकि बादामी नगर पश्चिम दिशा में स्थित था, वहाँ के चालुक्य वंश को पश्चिमी चालुक्य वंश कहा गया और वेंगीनगर के पूर्व में बसे होने के कारण इस शाखा को पूर्वी चालुक्य वंश कहा गया। वेंगी के चालुक्य वंश का संस्थापक कुब्ज विष्णुवर्धन बादामी से शासन करने वाले द्वितीय पुलकेशिन् का छोटा भाई था। वह और उसके सभी वंशज अपने को पश्चिमी चालुक्यों की तरह ही मानव्यगोत्री, हारितिपुत्र, तथा कार्तिकेय और सप्तमातृकाओं से जोड़ते हैं। साथ ही अपने को वे उन कदम्बों और इच्वाकुओं से भी जोड़ते हैं, जिनके अधिकार वाले भूक्षेत्रों को उन्होंने स्वयं अधिकृत कर लिया[३] था। किन्तु उनका पूरा वांशिक मूल द्वितीय पुलकेशी के हैदराबाद वाले (६१३ ई०) अभिलेख[४] में ही प्राप्त होता है। वही मूल बाद वाले सभी चालुक्यवंशी अभिलेखों में भी दुहराया गया है, जिनमें पञ्चम विक्रमादित्य का कौथेम अभिलेख[५] मुख्य प्रतीत होता है।

कौथेम अभिलेख में पूर्वी चालुक्यों के प्रारंभिक इतिहास की कुछ प्रमुख बातों का सही-सही और ऐतिहासिक उल्लेख किया गया प्रतीत होता है। उसके प्राचीन कथात्मक इतिहास के बारे में कथित है कि प्रारंभिक चालुक्य विजयादित्य का त्रिलोचन नामक पल्लव शासक से संघर्ष हुआ, जिससे कुछ दिनों के लिए उसके वंश का लोप हो गया तथा बाद में दक्षिणापथ में विष्णुवर्धन का राजा के रूप में उदय हुआ। यह विष्णुवर्धन वह कुब्ज

---

१. श्वान्-च्वाङ्ग, उद्धृत, भवराजु वेंकटकृष्णराव, ईस्टर्न चालुक्यज् ऑफ् वेंगी, पृष्ठ ९४।
२. वहीं, पृष्ठ ४६।
३. फ्लीट, डाइनेस्टीज़् ऑफ् दि कनारीज़् डिस्ट्रिक्ट्स्, बाम्बे गजेटियर, जिल्द २, भाग १, पृष्ठ ३३६-३३७।
४. भवराजु वेंकटकृष्णराव, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ५१।
५. इऐ०, जिल्द १८, पृष्ठ १५ और आगे; और देखें, प्रथम कीर्त्तिवर्मन् का बादामी गुहा अभिलेख, इऐ० जिल्द १९, पृष्ठ ७-१९।

विष्णुवर्धन ही था, जो बादामी के शक्तिशाली सम्राट् द्वितीय पुलकेशी का छोटा भाई और **युवराज** था। वास्तव में जब पुलकेशी ने अपने लिए एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की और दक्षिण में काञ्ची के पल्लव शासक महेन्द्रवर्मन् आदि को हराकर उस साम्राज्य के प्रशासन की चिन्ता करनी प्रारंभ की तो उसे दूरस्थ क्षेत्रों में अपनी ओर से गवर्नरों की नियुक्ति आवश्यक प्रतीत हुई। विष्णुवर्धन उसका छोटा भाई था और पहले से ही **युवराज** पद पर नियुक्त था। अत: उसने विष्णुवर्धन को वेंगी का प्रदेश जीत लेने के बाद वहाँ का शासन चलाने के लिये गवर्नर बनाकर भेज दिया। उस समय के सभी साम्राज्यों में प्रशासन की यह परंपरा विकसित हो चुकी थी कि दूर वाले क्षेत्रों में या तो राजकुमार अथवा राजपरिवारी लोग ही विश्वासपात्र लोगों के रूप में गवर्नर बनाकर भेजे जाते थे।

यद्यपि उस तिथि का तो सही-सही ज्ञान नहीं प्राप्त है कि द्वितीय पुलकेशी ने अपनी दिग्विजय यात्रा अपने शासन के किस वर्ष में प्रारंभ की थी, ऐसा अनुमानित है कि वह तिथि उसके शासन के बहुत बाद वाले वर्षों में नहीं थी। उसका विवरण उसके अहिहोड़ अभिलेख[१] में प्राप्त होता है, जहाँ यह कथित है कि उसने पिष्टपुर के किले को पीस दिया (पिष्टं पिष्टपुरम्)। यह पिष्टपुर आधुनिक आन्ध्र प्रदेश का पीठापुरम् है। वहाँ का तत्कालीन शासक था विष्णुकुण्डिन् वंश का तृतीय मदनवर्मा, जो उस समय बहुत बूढ़ा हो चला था[२]। उसकी राजधानी वेंगी थी, जहाँ गोदावरी नदी को पारकर पुलकेशी पहुँच गया। इसी विजययात्रा में उसने कोसल और कलिंग की भी विजयें की थीं। यह अनुमानित[३] है कि इन विजयों को पुलकेशी ने अपने हैदराबाद वाले अभिलेख के प्रकाशनवर्ष ६१३ ई० के पूर्व प्राप्त कर लिया[४] था। नीलकान्त शास्त्री (दि अर्ली हिस्ट्री ऑफ् दि डेकन, पृ० २१६) इसकी तिथि ६१७-६२० के बीच रखते हैं।

कुब्ज विष्णुवर्धन (६२४-६४१ ई०)

पुलकेशी (द्वितीय) का छोटा भाई विष्णुवर्धन या तो बहुत नाटे कद का व्यक्ति था अथवा वह कूबड़ा था और उसी कारण वह कुब्ज विष्णुवर्धन कहा गया है। वेंगी का **युवराज**-गवर्नर नियुक्त किये जाने के पूर्व उसे बादामी के चालुक्य राज्य के पश्चिमी-संभवत: समुद्रतटीय क्षेत्रों-कोंकण और दक्षिण महराष्ट्र में रहकर गवर्नर के रूप में शासन चलाने का अनुभव प्राप्त हो चुका था। ६१७-६१८ ई० के सतारा अभिलेख में वह अपने

---

१. इऐ० जिल्द ७, पृष्ठ १६१।
२. भवराजु वेंकटकृष्णराव, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ७८। नीलकान्त शास्त्री (दि अर्ली हिस्ट्री ऑफ् दि डेकन, पृष्ठ २१५) वहाँ के तत्कालीन शासक का नाम पृथ्वीमहाराज बताते हैं।
३. विभिन्न मतों के उल्लेख देखें, भवराजु वेंकटकृष्णराव, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ७९।
४. दिनेशचन्द्र सरकार के मत में पुलकेशी की वेंगी विजय का समय ६३१ ई० था।
५. देखें ६१७ ई० का पुलकेशी का सतारा अभिलेख, इऐ०, जिल्द १९, पृष्ठ ३०९।

को **युवराज** और बादामी के शासक का प्रिय कहता[१] है । इस लेख के अनुसार, उसने सतारा से ३५ मील उत्तर में स्थित आनन्दतीर्थ नामक ग्राम का ब्राह्मणों को दान किया था । **अवन्तिसुन्दरीकथा** में भी काञ्ची के पल्लव शासक नरसिंहवर्मा, गंग शासक दुर्विनीत और नासिक के (कुब्ज) विष्णुवर्धन की समकालीनता बतायी गयी है । नासिक में उसके रहने से प्रमाणित होता है कि कुछ दिनों तक उसने उत्तरी महाराष्ट्र में भी गवर्नर के रूप में शासन किया था[२] ।

यह ज्ञात नहीं है कि कब और किन परिस्थितियों में विष्णुवर्धन ने वेंगी में अपने वंश की पूर्ण स्वतंत्रता स्थापित कर ली । प्रारंभ में वेंगी, कलिंग और कोसल पर पुलकेशिन् ने अपना प्रत्यक्ष शासन बनाये रखा । किन्तु बाद में साम्राज्य के विस्तृत होते हुए स्वरूप और प्रशासन की बढ़ती हुई पेंचीदगियों के कारण ही उसने कदाचित् विष्णुवर्धन को वेंगी के नवविजित प्रदेशों पर शासन करने हेतु **युवराज** गवर्नर के रूप में भेजा । लगता है, कुछ दिनों तक तो विष्णुवर्धन ने बादामी के प्रति स्वामिभक्ति जारी रखी, किन्तु धीरे-धीरे पुलकेशिन् की बढ़ती हुई सैनिक व्यस्तताओं के कारण, मौके का लाभ उठाकर, उसने अपने को पूर्ण स्वतंत्र कर लिया । उसकी मित्रता से आश्वस्त होकर बादामी के उस सम्राट् ने भी चुपचाप इस नयी स्थिति को स्वीकार कर लिया ।

विष्णुवर्धन का तिम्मपुरम् अभिलेख[३] उसे सभी माण्डलिकों को पराजित करने का श्रेय देता[४] है । उसी में उसे **महाराज** का विरुद भी दिया गया है, जो उसकी पूर्ण स्वतंत्रता का द्योतक है । उसने अपना दूसरा अभिलेख चिपुरपल्ली से प्रकाशित किया था । ये दोनों ही अभिलेख **अग्रहार** ग्रामों के दान का उल्लेख करते हैं, जो **वेदों, वेदांगों, महाकाव्यों, पुराणों, धर्मशास्त्रों** और **आगमशास्त्रों** के ज्ञाताओं को दिये गये थे ।

विष्णुवर्धन के युद्ध पल्लवराज प्रथम महेन्द्रवर्मन् (६००–६३० ई०), तथा गंग शासकों दानार्णव (५९५-६२०) और तृतीय इन्द्रवर्मन् (६२०-६५५ ई०) से हुए । यह अनुमान लगाया गया है[५] है कि विष्णुवर्धन की मृत्यु कलिंग के विरुद्ध युद्ध लड़ते हुए ही हो गयी ।

विष्णुवर्धन के राज्यक्षेत्र का विस्तार उत्तर-पूर्व में विजगापट्टम् जिले में नागवली नदी (चिरुपल्ली तालुका) तक तथा दक्षिण में नेल्लूर जिले के मन्नेरु नदी तक था । इसमें वह क्षेत्र भी सम्मिलित था, जिसे आजकल तेलंगाना के नाम से जाना जाता है । उस क्षेत्र

---

१. दि क्लासिकल् एज़्, पृष्ठ २५०; नीलकान्त शास्त्री, पूर्वनिर्दिष्ट पृष्ठ २१६ ।
२. वहीं ।
३. भवराजु वेंकटकृष्णराव, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ८६-८७ ।
४. स्वासिधारानमितसमस्तसामन्तमण्डलः । वहीं, पृष्ठ ८७ ।
५. भवराजु वेंकटकृष्णराव, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ९० ।

से उसके बहुत से ताम्र सिक्के प्राप्त हुए हैं, जिनमें उसे **विषयसिद्धि** की उपाधि दी गयी है। उसे **परमभागवत** भी कहा गया है, जिससे उसके वैष्णव होने का प्रमाण प्राप्त होता है। उसकी रानी अय्यनदेवी (महादेवी) स्वयं तो जैनमतानुयायी थी, जिसने विजयवाड़ा में एक जैन मंदिर का निर्माण कराया। विष्णुवर्धन के राज्यकाल में ही (६३९-६४० ई०) प्रसिद्ध चीनी भिक्षु श्वान्-च्वाङ्ग ने आन्ध्र प्रदेश की यात्रा की थी। वह उस समय वहाँ बौद्ध धर्म की अवनति का चित्र उपस्थित करता है[१]। श्वान्-च्वाङ्ग धान्यकटक में कुछ दिनों तक रहा था[२]। विष्णुवर्धन को **मकरध्वज** और **विट्टरस** (संस्कृत भाषा के विष्णुराज का कन्नड़भाषी रूप) भी कहा गया है। चूंकि आगे चलकर उसके वंश में उसके नामवाले और भी शासक हुए, अतः उसे प्रथम विष्णुवर्धन कहा गया है। उसने अपना प्रशासन चलाने के लिए वेंगी राज्य को छोटे-छोटे खण्डों में बांटा और एक शूद्रजातीय (चतुर्थ अभिधान) व्यक्ति को 'गिरिपश्चिम' नामक किसी पहाड़ी प्रदेश पर नियुक्त किया, जिसमें ७३ गांव थे। यह गुण्टूर जिले में स्थित था। उसकी सेवा में पट्टवर्धन परिवार का कालकम्प नामक एक सेनापति भी था।

विष्णुवर्धन की प्रारंभिक राजधानी पिष्टपुर (आधुनिक पीठापुरम्) थी। बाद में वह उसे वेंगी ले गया। पुनः, वह राजमहेन्द्री (महेन्द्रपुरम्) में द्वितीय अम्म (९४५-९७० ई०) द्वारा स्थानान्तरित कर दी गयी। उसने कुल मिलाकर १८ वर्षों तक शासन किया। किन्तु उसके शासन के प्रारंभिक और अन्तिम वर्ष की वास्तविक तिथियों के बारे में मतैक्य नहीं है।[३]

प्रथम जयसिंहवल्लभ (६४१-६६३ ई०)

विष्णुवर्धन का उत्तराधिकारी हुआ उसका पुत्र जयसिंहवल्लभ, जिसे **पृथिवीवल्लभ, पृथिवी जयसिंह** और **सर्वसिद्धि** भी कहा गया है। उसके उत्तराधिकारिओं के अभिलेखों में उसका शासन काल ३० अथवा ३३ वर्षों का अलग-अलग रूपों में बताया गया है। यद्यपि उसके अभिलेखों[४] में उसकी अनेक प्रशंसाएँ की गयी हैं, ऐसा नहीं प्रतीत होता कि राजनीतिक अथवा सैनिक क्षेत्र में उसकी कोई महत्त्वपूर्ण उपलब्धि थी। उसने पूर्वतः दान में दिये गये गांवों के दान को पुनः स्वीकृत किया और स्वयं भी कुछ नये ग्रामों के दान दिये। तथापि ऐसा नहीं प्रतीत होता कि उसका शासनकाल बहुत शान्तिमय बीता।

---

१. बील, लाइफ ऑफ् युवान्-च्वाङ्ग, पृष्ठ १५७ (ट्रब्नर)।

२. वहीं, पृष्ठ ३७। टामस् वाटर्स, जिल्द २, पृष्ठ २४१-२४५।

३. देखें, दिनेशचन्द्र सरकार, दि क्लासिकल् एज़्, पृष्ठ २५१-२५२ और उसके फुटनोट। नीलकान्त शास्त्री ने (याजदानी सं० दि अर्ली हिस्ट्री ऑफ् दि डेकन, पृष्ठ ४७२) में उसके शासन का समय ६२४-६४१ ई० माना है।

४. देखें, विष्णुकुण्डिन् राजा तृतीय माधववर्मन् का पोलमोरु अभिलेख; भवराजु वेंकटकृष्ण राव, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ९९ तथा १०४।

एक तो विष्णुवर्धन के प्रयत्नों के बावजूद भी कलिंग आदि के राज्य पूरी तरह जीते नहीं जा सके थे, और दूसरे द्वितीय पुलकेशी के प्रथम महेन्द्रवर्मन् के ऊपर किये गये आक्रमण का बदला लेने हेतु उसके पुत्र प्रथम नरसिंहवर्मन् ने ६४२ ई० के आसपास दक्षिणी चालुक्य क्षेत्रों पर धावा बोल दिया। यहाँ तक कि उसने वातापी की चालुक्य राजधानी पर कब्जा कर लिया और अपनी प्रशंसा में **वातापीकोण्ड** की उपाधि धारण की। कदाचित् इसी युद्ध में पुलकेशी को अपने प्राण भी गंवाने पड़े। इन सारी घटनाओं के बीच ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता, जिससे यह प्रतीत हो कि जयसिंह ने अपने चचा पुलकेशी की कोई सैनिक सहायता की हो।

पूर्वोत्तर में कलिंग राज्य से वेंगी के अनवरत संघर्ष चलते रहे। दण्डिन् अपने **दशकुमारचरित** में इन युद्धों का कुछ ऐतिहासिक और अधिकतर मुलम्मेदार और काल्पनिक चित्र उपस्थित करते हुए यहाँ तक कहते हैं कि कलिंगराज द्वारा स्वयं जयसिंह ही अन्ततः धोखे से मार डाला गया[१]।

किन्तु जयसिंह के समय तत्कालीन अन्यान्य राज्यों की तरह ही वेंगी में भी अनेक प्रकार के सांस्कृतिक क्रिया-कलाप जारी रहे। उसे **वर्णाश्रमधर्म** का रक्षक कहा गया है। उसका एक प्रमुख योगदान शिक्षा और साहित्य के उन्नयन की ओर था। उसने **घटिका** नाम से विख्यात महाविद्यालयों को प्रोत्साहित किया और उनको चलाते रहने हेतु ग्रामदान की व्यवस्थाएँ कीं। ऐसे प्रत्येक कॉलेज का अपना नाम होता था और इनका स्थान **घाटिकास्थान** कहा जाता था। उसके समय की दूसरी सांस्कृतिक विशेषता यह दिखायी देती है कि उसी के समय तेलुगू भाषा का सबसे पहला अभिलेख लिखवाया [२]गया। उसमें तेलुगू भाषा का प्राचीनतम रूप है और उस कारण आज उसका पूरा अर्थ समझा भी नहीं जा सकता।

इन्द्रवर्मन् (६६३ ई०) तथा द्वितीय विष्णुवर्धन (६६३-६७२ ई०)

जयसिंह का भाई इन्द्रवर्मन् (इन्द्रराज, इन्दुराज, इन्द्र भट्टारक) जयसिंह के शासन के अन्त के दो-तीन वर्षों पूर्व ही वास्तविक अर्थों में शासक हो चुका था। किन्तु उसका पूर्ण स्वतंत्र राज्यकाल एक सप्ताह मात्र का रहा। उसके बाद उसका पुत्र द्वितीय विष्णुवर्धन शासक हुआ। उसे **विषमसिद्धि, मकरध्वज** और **प्रलयादित्य** आदि की उपाधियाँ प्राप्त हुईं। उसके समय की भी कोई विशेष घटना ज्ञात नहीं होती।

---

१. वहीं, पृष्ठ १०५।

२. आर्के० सर्वे ऑफ् इण्डिया, १९०५-१९०६, पश्चिमी चक्र; साउथ इण्डियन् इन्स्कृप्शन्स्, जिल्द ६, सं० ५८४; साउथ इण्डियन् इन्स्कृप्शन्स्, जिल्द १, सं० ४०।

मंगि युवराज (६७२[१] से ६९६ ई०)

द्वितीय विष्णुवर्धन का पुत्र मंगि युवराज अगला शासक हुआ और उसने चौबीस-पचीस वर्षों तक शासन किया। मंगि मंगलेश का संक्षिप्तीकरण है। **युवराज** से यह प्रतीत होता है कि वह पूर्व के कई शासकों के समय **युवराज** रह चुका था। उसके पौत्र तृतीय विष्णुवर्धन के आलेखों में उसे विजयादित्य कहा गया है। उसके अपने अभिलेख उसे **लोकाश्रय** कहते हैं। किन्तु वंश के सभी आलेख यह एकरूप में कहते हैं कि उसका संपूर्ण शासनकाल २५ वर्षों का था। उसे दर्शनशास्त्र और न्यायशास्त्र का एक बड़ा शास्त्रार्थी बताया गया है, जिसने नास्तिक बौद्धों को शास्त्रार्थ द्वारा आन्ध्रदेश छोड़ देने को विवश कर दिया। उसके द्वारा **अग्रहार** ग्रामों के दान दिये जाने के उल्लेख तो प्राप्त होते हैं, किन्तु किसी सैनिक पहल की कोई चर्चा नहीं प्राप्त होती। अभिलेखों में केवल उसकी साधारण प्रशंसाएँ मात्र की गयी हैं। उसने अपनी राजधानी विजयवाटिका (विजयवाड़ा) में स्थानान्तरित कर ली थी। विजगापट्टम् जिले के उत्तरी भाग में स्थित तिम्मपुरम् से उसका एक अपूर्ण ताम्रपत्राभिलेख प्राप्त हुआ है, जो यह प्रमाणित करता है कि उसका अधिकारक्षेत्र पूर्वोत्तर दिशा में पलकिविषय और भोगविषय तक विस्तृत था। इन क्षेत्रों को संभवत: कलिंग के शासक द्वितीय अनन्तवर्मन् ने जयसिंह और उसके कमजोर-उत्तराधिकारिओं के समय पूर्वी चालुक्यों से छीन लिया था, जिन्हें मंगि युवराज ने पुन: अपने राज्यक्षेत्र में मिला लिया[२]। उसके राज्य की उत्तरी सीमा नागवली (लांगुलिया), दक्षिण में पिनाकिनी नदी के पास वाले कर्मराष्ट्र की सीमाओं तक तथा पश्चिम में आधुनिक तेलंगाना तक विस्तृत थी।

द्वितीय जयसिंहवल्लभ (६९६-७०९ ई०)

मंगि युवराज के दो पुत्र थे। जेठा था जयसिंह, जो उसके बाद शासक बना। किन्तु उसका संभवत: चचेरा भाई विजयादित्यवर्मन् पहले से ही मध्यम कलिंग का गवर्नर था और उसने विद्रोह करके विजगापट्टम् जिले के सर्वसिद्ध तालुका वाले राज्य के उत्तरी क्षेत्रों में अपनी स्वतंत्रता घोषित कर दी। उसने अपने को **महाराज** की पदवी भी दे डाली। द्वितीय जयसिंह की मृत्यु के बाद राजगद्दी पर उसके एक दूसरे चचेरे भाई कोकुलि विक्रमादित्य ने अधिकार कर लिया। किन्तु उसे भी हटाकर तृतीय विष्णुवर्धन ने वेंगी राज्य को अधिकृत कर लिया।

---

१. यहाँ यह निर्देश किया जाना आवश्यक प्रतीत होता है कि विभिन्न इतिहासकारों के मत पूर्वी चालुक्य राजाओं के अलग-अलग शासनकालों के बारे में भिन्न-भिन्न हैं। उदाहरण हेतु देखें, दिनेशचन्द्र गांगुली, दि क्लासिकल् एज़्, पृष्ठ २५० और आगे; भवराजु वेंकटकृष्ण राव, पूर्वनिर्दिष्ट अध्याय १ और आगे; अर्ली हिस्ट्री ऑफ दि डेकन, संबद्ध अध्याय।

२. भवराजु वेंकटकृष्णराव, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ११५।

तृतीय विष्णुवर्धन (७०९-७४६ ई०)

तृतीय विष्णुवर्धन ने गद्दी धारण करने के बाद **विष्णुराज**, **विषमसिद्धि**, **मकरध्वज**, **पलयादित्य (प्रलयादित्य)** और **सर्वलोकाश्रय** आदि नामों और उपाधियों सहित लगभग ३७ वर्षों तक शासन किया। इन साधारण उपाधियों के अतिरिक्त उसने **महाराजाधिराजपरमेश्वरपरमभट्टारक** और **समस्तभुवनाश्रय** जैसी साम्राज्यसूचक उपाधियाँ भी धारण कीं[१]। उसकी सबसे बड़ी सफलता दक्षिण दिशा में स्थित काञ्ची के उस पल्लव राज्य के विरुद्ध थी, जो प्रथम नरसिंहवर्मन् के समय से ही बादामी के चालुक्य राज्य के प्रति सतत् शत्रुता बरतते हुए उससे लगातार युद्ध करता रहा। किन्तु द्वितीय परमेश्वरवर्मन् के बाद द्वितीय नन्दिवर्मन् के राज्यारोहरण के साथ पल्लव सत्ता क्षीण होने लगी और उत्तरी दिशा से होने वाले चालुक्यों के प्रत्याक्रमणों ने उन्हें और भी कमजोर कर दिया। इसके पूर्व पल्लवों ने वेंगी के चालुक्यों के नेल्लूर वाले कुछ क्षेत्रों को अपने अधिकार में कर लिया [२]था। किन्तु उनके अधिकार में थोड़े वर्षों मात्र ही वे प्रदेश रह सके और विष्णुवर्धन (तृतीय) ने द्वितीय नन्दिवर्मन् से पुनः उन्हें छीनकर दक्षिण दिशा में अपनी सीमाएँ विस्तृत कर लीं। इस प्रकार तोण्डैमण्डलम् पुनः चालुक्य राज्य (वेंगी) का एक प्रान्त हो गया। इसके लिए लड़े गये युद्ध का उल्लेख तृतीय विष्णुवर्धन के उदयेन्दिरम् अभिलेख[३] में प्राप्त होता है।

विष्णुवर्धन के समय के कम से कम ९ अभिलेख प्राप्त होते हैं। उनमें एक तो प्राचीन तेलुगू भाषा में है और शेष संस्कृत भाषा में लिखित हैं। सभी या तो **अग्रहार** ग्रामों का उल्लेख करते हैं अथवा मंदिरों को दिए गए ग्रामदान (**देवदान**) का। विष्णुवर्धन के समय उत्तर भारत से अनेक ब्राह्मण परिवार आंध्र प्रदेश में आकर बस गये, जहाँ अब बौद्ध धर्म की अवनति प्रारंभ हो चुकी थी। स्वयं विष्णुवर्धन को **अश्वमेध** यज्ञ करने वाला बताया गया है। उसने भी अपने पश्चिमी चालुक्य पट्टीदारों की तरह वैष्णव धर्म तथा शैव धर्म एवं अनेक याज्ञिक विधियों (क्रतुओं) को प्रोत्साहन दिया, जिसके उल्लेख उसके अभिलेखों में प्राप्त होते[४] हैं। पौराणिक हिन्दू धर्म का उपासक होते हुए भी विष्णुवर्धन ने स्वयं जैन धर्म के प्रति बहुत उदार व्यवहार किया। पीछे हम देख चुके हैं कि जैन धर्म आन्ध्र प्रदेश में कुब्जविष्णुवर्धन (वेंगी के चालुक्य राज्य के संस्थापक) के समय से ही पूरी तरह उदीयमान और पल्लवित हो रहा था। तृतीय विष्णुवर्धन ने नन्दुम्बबसति नामक

---

१. इऐ०, जिल्द १३, पृष्ठ १८५, अहंदकरम् का लेख। और देखें तृतीय विष्णुवर्धन का गणपवरम् अभिलेख।
२. साउथ इण्डियन् इन्स्कृप्शन्स्, जिल्द ३, भाग ४, सं० १३५ (पृष्ठ १०)।
३. एइ०, जिल्द ३, पृष्ठ १४५; साउथ इण्डियन् इन्स्कृप्शन्स्, जिल्द २, भाग ३, सं० ३६१।
४. देखें, भवराजु वेंकटकृष्णाराव, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १३८-१४१।

एक जैन मंदिर (बसति) का निर्माण अपनी प्रपितामही अय्यन महादेवी की प्रसन्नता हेतु विजयवाड (बेजवाड़ा) में कराया।

प्रथम विजयादित्य (७४६-७६४ ई०)

तृतीय विष्णुवर्धन का उत्तराधिकारी हुआ प्रथम विजयादित्य, जो विजयमहादेवी नामक उसकी महारानी का पुत्र था। उसने **त्रिभुवनांकुश, विजयसिद्धि, शक्तिवर्मन्** और **विक्रमाराम** जैसी उपाधियाँ धारण कीं। उसे विजयादित्य भट्टराज भी कहा गया है। उसके शासनकाल की सर्वमुख्य घटना थी पश्चिमी चालुक्य वंश (बादामी) को समाप्त कर दन्तिदुर्ग और उसके उत्तराधिकारिओं द्वारा राष्ट्रकूट नामक एक नयी सत्ता की कर्नाटक (कुन्तल) में स्थापना[१]। उसका परिणाम केवल बादामी के चालुक्य वंश के अन्त मात्र में ही नहीं हुआ, अपितु वेंगी के पूर्वी चालुक्य वंश पर उसका सीधा प्रभाव अगले लगभग दो सौ वर्षों तक चलते रहने वाले राष्ट्रकूट और पूर्वी चालुक्यों के बीच संघर्षों के रूप में परिलक्षित होता है। ७५४ से ७५७ ई० के बीच दन्तिदुर्ग द्वारा चालुक्य सत्ता बादामी से बिल्कुल ही समाप्त कर दी गयी और जो कुछ काम शेष रहा, उसे दन्तिदुर्ग के उत्तराधिकारी और पुत्र कृष्णराज ने पूरा कर डाला। उसके बाद बादामी के चालुक्यों का कोई भी नामलेवा नहीं बचा। किन्तु आगे बादामी के स्थान पर राष्ट्रकूटों के शत्रु वेंगी के चालुक्य हो गये। वेंगी के चालुक्यों ने अन्तिम पश्चिमी चालुक्य शासक द्वितीय कीर्त्तिवर्मन् की राष्ट्रकूटों के विरुद्ध सैनिक सहायता की थी। कृष्णराज विजयादित्य की सेनाओं को पराजित करने का दावा कर्क **सुवर्णवर्ष** के अभिलेख में किया[२] गया है।

चतुर्थ विष्णुवर्धन (७६४-७९९ ई०)

प्रथम विजयादित्य के उत्तराधिकारी और पुत्र चतुर्थ विष्णुवर्धन को राष्ट्रकूटों के सैनिक दबाव का सामना प्राय: अपने पूरे शासनकाल तक करना पड़ा। पहले तो राष्ट्रकूट शासक प्रथम कृष्ण के पुत्र द्वितीय गोविन्द ने उसे (७७० ई० के आसपास कभी) पराजित किया[३] और दुबारा उसे ध्रुव **धारावर्ष** के क्रोध का शिकार इस कारण होना पड़ा कि विष्णुवर्धन ने राष्ट्रकूट राजगद्दी के लिये होने वाले उत्तराधिकार के युद्ध में ध्रुव के विरुद्ध द्वितीय गोविन्द का साथ दिया था[४]। तृतीय गोविन्द के ८०८ ई० के राधनपुर अभिलेख से इसकी पुष्टि होती है। कहा तो यहाँ तक गया है कि विष्णुवर्धन को विवश होकर मान्यखेट नगर की हो रही स्थापना में एक दीवार का स्वयं निर्माण करना पड़ा था। उसे राष्ट्रकूटों की अधीनता की स्वीकृति के फलस्वरूप शीलमहादेवी नामक अपनी पुत्री का

---

१. इऐ०, जिल्द ९, पृष्ठ १०८, १८वीं से २६वीं पंक्तियाँ।
२. इऐ०, जिल्द १२, पृष्ठ १५६।
३. एपि० इण्डिका, जिल्द ६, अलस अभिलेख, पृष्ठ २०८।
४. दि एज् ऑफ् इम्पीरियल् कनौज, पृष्ठ १३३।

विवाह भी ध्रुव **निरूपम** से करना पड़ा[१]।

विष्णुवर्धन ने राष्ट्रकूट ध्रुव के विरुद्ध उसके उत्तराधिकार वाले युद्ध में स्वयं अपने तो भाग नहीं लिया था, किन्तु उसकी ओर से उसमें व्यक्तिश: लड़ने वाला उसका चालुक्य सामन्त प्रथम अरिकेसरी था, जो दक्षिण दिशा में श्रीशैल राज्य (कुर्नूल और नलगोण्डा के जिलों) का स्वामी था। इसके विवरण पम्पकवि के **विक्रमार्जुनाभ्युदयकाव्य** में प्राप्त होते[२] हैं। इस संघर्ष का परिणाम यह हुआ कि आगे सर्वदा ही राष्ट्रकूटों ने वेंगी के पूर्वी चालुक्य राजवंश को अपने एक स्थायी शत्रु के रूप में ही देखा।

द्वितीय विजयादित्य (७९९-८४७ ई०)

७९९ ई० में विष्णुवर्धन (चतुर्थ) के पुत्र द्वितीय विजयादित्य ने राज्यभार संभाला। उसके शासनकाल के कुल वर्षों की संख्या ४०,४१, ४४, ४५ अथवा ४८ के रूप में अलग-अलग प्राप्त होती[३] है। फ्लीट महोदय ने उसे ४४ वर्षों का ही माना था। किन्तु उसके प्रपौत्र प्रथम भीम के राज्यारोहण की तिथि से यदि गिना जाय तो उसका शासनकाल कुल ४८ वर्षों का ज्ञात होता है। उसे **नृपनरेन्द्र** के साथ-साथ **परमभट्टारकमहाराजधिराजपरमेश्वर** की उपाधियाँ भी दी गयी हैं। यद्यपि उसके विरुद्ध रहने वाले उसके छोटे भाई भीम सालुक्की ने राष्ट्रकूट शासक तृतीय गोविन्द की सहायता से कुछ वर्षों के लिए वेंगी राज्य पर अधिकार कर लिया था; ज्यों ही गोविन्द की मृत्यु हुई (८१४ ई०) और उसके बाद उसके नाबालिग पुत्र अमोघवर्ष के उत्तराधिकार को ही उसके शत्रुओं ने चुनौती दे दी तो विजयादित्य ने भीम सालुक्की को पराजित कर अपना राज्याधिकार पुन: प्राप्त कर लिया[४]। यही नहीं, अपने शासन के अगले वर्षों में वह अपने वंश का एक बहुत ही शक्तिशाली शासक सिद्ध हुआ। विजयादित्य की सेनाओं ने राष्ट्रकूट राज्य को रौंदते हुए गुजरात में स्तम्भतीर्थ तक के प्रदेशों को आक्रान्त कर डाला। इस तथ्य की स्वीकृति तो बाद के एक राष्ट्रकूट शासक तृतीय इन्द्र के ही एक अभिलेख[५] से होती है, जिसमें कथित है कि राष्ट्रकूट राज्य की "यश:लक्ष्मी चालुक्यों के समुद्र में डूब गयी"। विजयादित्य का एक विरुद था **वेंगिनाथ,** जो पूरे वेंगी राज्य पर उसके पूर्ण प्रभुत्व का परिचायक है।

---

१. एइ०, जिल्द २२, पृष्ठ १०५।

२. जर्नल ऑफ् दि आन्ध्र हिस्टॉरिकल् रिसर्च सोसायटी, जिल्द ६।

३. भवराजु वेंकटकृष्णराव, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ १६०।

४. विजयादित्य को अपनी राजगद्दी पुन: प्राप्त करने में १२ वर्षों का समय लग गया। कथित है कि उसे इस बीच रातदिन लड़ते ही रहना पड़ा। साउथ इण्डियन् इन्स्क्रप्शन्स्, जिल्द १, संख्या ३६; पृष्ठ ३६; और देखें, ऐनुअल् रिपोर्ट्स, १९१२ (द्वितीय), ६२; १९१८ (द्वितीय), ४ और आगे।

५. नवसारि का अभिलेख, एइ० जिल्द ९, पृष्ठ ३९।

तृतीय गोविन्द की मृत्यु (८१४ ई०), उसके पुत्र और उत्तराधिकारी अमोघवर्ष की नाबालिगी तथा उसके ही मंत्रिओं, सामन्तों तथा राज्याधिकारिओं द्वारा उसके विरुद्ध किये गये षड्यन्त्रों ने विजयादित्य को राष्ट्रकूटों से बदला लेने का एक सुनहरा मौका दे दिया। वह अपने भाई भीम सालुक्की को पूरी तरह समाप्त कर वेंगी की राजगद्दी का अब अप्रतिरुद्ध स्वामी बन चुका था। अमोघवर्ष के उत्तराधिकारिओं के ही अभिलेख यह कहते हैं कि "चालुक्य समुद्र में राष्ट्रकूट यश:लक्ष्मी लुप्त हो गयी"। चूंकि ८२७ ई० तक अमोघवर्ष का कोई भी अभिलेख प्राप्त नहीं होता, ऐसा प्रतीत होता है कि इस बीच वह अपनी राजगद्दी खो चुका था। अमोघवर्ष की इस विपत्ति में विजयादित्य का हाथ भी रहा हो, यह असंभव नहीं है। विवश होकर अमोघवर्ष को चालुक्यों से संधि कर लेनी पड़ी। गुजरात शाखा के राष्ट्रकूट शासक इन्द्रराज की पुत्री शीलमहादेवी के वेंगी राजकुमार विष्णुवर्धन से विवाह द्वारा यह संधि पक्की की गयी।

इसके अतिरिक्त बाद के पूर्वी चालुक्य अभिलेखों में विजयादित्य को गंग वंश के लिए अग्नि के समान कहा गया है। ये गंग कौन[१] थे, यह ज्ञात नहीं है। ये या तो तलक्काड़ में शासन करने वाले गंग होंगे अथवा कलिंग के गंग शासक। विजयादित्य अपने वंश के कुछ महान् और शक्तिशाली शासकों में एक सिद्ध हुआ। उसने अनेक शिव मंदिरों का निर्माण कराया, जिनमें से कई के अवशेष तो आज भी आन्ध्र प्रदेश के भिन्न-भिन्न भागों में प्राप्त होते हैं, उनमें से कुछ मंदिरों के नाम थे समस्तभुवनाश्रय श्रीनरेन्द्रस्वामी और उमामहेश्वरस्वामी। उसके कम से कम तीन अभिलेख तो अवश्य ही प्राप्त होते हैं जो उसके द्वारा ब्राह्मणों को दानदत्त ग्रामों का उल्लेख[२] करते हैं। उसे **परमब्रह्मण्य** और **परममाहेश्वर** कहा गया है, जिससे प्रतीत होता है कि वह ब्राह्मण धर्म मानने वाला शैवमतानुयायी था।

पञ्चम विष्णुवर्धन और तृतीय विजयादित्य (८४६-८८८ ई०)

द्वितीय विजयादित्य के बाद वेंगी का शासक हुआ उसका पुत्र पञ्चम विष्णुवर्धन। अभिलेखों में उसके अनेक नामरूप प्राप्त होते हैं, जिनमें कुछ तो उसके विरुद हैं, यथा– **कलिविष्णुवर्धन, सर्वलोकाश्रय, वेंगीनाथ** और **विषमसिद्धि**। उसका कुल शासनकाल केवल १८ या २० महीनों मात्र का रहा और अन्ततः राष्ट्रकूट शासक अमोघवर्ष के हाथों एक युद्ध में उसकी मृत्यु हो गयी। वास्तव में द्वितीय विजयादित्य द्वारा अमोघवर्ष को राजगद्दी से ही कुछ काल के लिए हटा दिये जाने में उसके विरोधिओं का नेतृत्व करने

---

१. नीलकान्त शास्त्री और एन वेंकटरमनैय्या (याजदानी सं० दि अर्ली हिस्ट्री ऑफ् दि डेकन, पृष्ठ ४७८) का मत है कि विजयादित्य अमोघवर्ष की अधिसत्ता से मुक्त नहीं हो सका था और उसे दक्षिणी गंगों के विरुद्ध राष्ट्रकूटों की ओर से ही युद्ध लड़ने पड़े।

२. भवराजु वेंकटकृष्णराव, पूर्वनिर्दिष्ट पृष्ठ १७३-१७४।

के कारण चालुक्य वंश की राष्ट्रकूटों से शत्रुता की धार और भी तेज हो चुकी थी। फलतः अपनी पुरानी पराजयों और अपमानों का बदला लेने हेतु ही अमोघवर्ष ने विजयादित्य की मृत्यु के अल्पकाल के भीतर ही विष्णुवर्धन पर आक्रमण कर दिया। वेंगावेल्ली नामक स्थान पर लड़े जाने वाले इस युद्ध में पञ्चम विष्णुवर्धन मारा गया[१]। उसके बाद उसकी महारानी शीलमहादेवी से उत्पन्न उसका पुत्र तृतीय विजयादित्य वेंगी का शासक हुआ (८४८ ई०)।

तृतीय विजयादित्य को वंश के एक महान् विजेता शासक के रूप में स्वीकार किया गया है। वंश के अभिलेखों में उसे कई प्रकार से पुकारा गया है, यथा– गुणकविजयादित्य गुणगविजयादित्य, गुणम्कविजयादित्य और गुणकेनल्ल विजयादित्य। उसकी उपाधि थी **समस्तभुवनाश्रय**। यह मत व्यक्त है कि उसके काल में वेंगी राज्य ने एक साम्राज्य का रूप धारण कर लिया, जिसकी सीमाएँ दक्षिण में पल्लव राजधानी काञ्चीपुर से उत्तर में चेदिदेश तक फैली हुई थीं, और कुछ वर्षों तक तो पश्चिम में मान्यखेट के राष्ट्रकूटों को भी उसकी अधिसत्ता स्वीकार करनी पड़ी थी[२]। अपनी अनेक विजयों के कारण उसने कई-कई नये विरुदों को धारण कर लिया, जो प्रशंसात्मक ही प्रतीत होते हैं।

जिन नगरों को विजयादित्य द्वारा जला दिये जाने के उल्लेख प्राप्त होते हैं, उनमें तीन मुख्य हैं। वे चेदिदेश के कलचुरि राजाओं, राष्ट्रकूट शासकों तथा काञ्ची के पल्लव शासकों के मुख्य नगर थे। प्रथम था किरणपुर (राष्ट्रकूट शासक द्वितीय कृष्ण का कृष्णपुर[३]), जो संभवतः मान्यखेट ही था[४]। दूसरा था अचलपुर (कलचुरिओं की तत्कालीन राजधानी एलिचपुर) तथा तीसरा था अरुनेल्लूरूपुर अर्थात् नेल्लूर, जो पेन्नार (पिनाकिनी) नदी के उत्तरी किनारे पर स्थित पल्लव राजाओं के अधिकार में था। पूर्वी चालुक्य अभिलेख इस बात का दावा करते हैं कि विजयादित्य के शासन के अन्तर्गत सारा दक्षिणापथ था, जिसमें त्रिकलिंग भी सम्मिलित था। उसे काञ्ची और पाण्ड्यदेश की राजधानी पर आक्रमण कर उनकी सारी धन-सम्पत्ति (सोने-जवाहरात) को लूट ले जाने का भी श्रेय दिया गया है[५]। कथित है कि उसने कलिंग के पूर्वी गंग राजाओं से भी बहुत

---

१. पञ्चम गोविन्द का खम्भात दानपत्र, एइ०, जिल्द ७, पृष्ठ २५।
२. देखें, भवराजु वेंकटकृष्णराव, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ १८१; इस सम्बन्ध में देखें, याजदानी सं० दि अर्ली हिस्ट्री ऑफ् दि डेकन, पृष्ठ ४७८-४७९। विजयादित्य को यह सफलता राष्ट्रकूट शासक, द्वितीय कृष्ण, के समय प्राप्त हुई।
३. दिनेश चन्द्र सरकार इसकी पहचान मध्य प्रदेश के बालाघाट जिले के किरणपुर से करते हैं। दि एज् ऑफ् इम्पीरियल् कनौज, पृष्ठ १३५।
४. तेलुगू अकादमी की शोध पत्रिका जिल्द ११, पृ० ३४१, सेन्ट्रल प्राविन्सेज़ ग्राण्ट नं० १०, १९१३-१९१४।
५. भवराजु वेंकटकृष्णराव, पृष्ठ १८२-१८३।

अधिक धन और हाथियों को छीना। यदि उसने काञ्ची के पल्लव शासक को हराया तो वह या तो नन्दिवर्मन् (तृतीय-८३०-८६४ ई०) रहा होगा अथवा उसका पुत्र नृपतुंग (८६४-८८० ई०) रहा होगा। सम्बद्ध अभिलेख की सूचना यह भी है कि रट्टराज द्वारा उकसाये जाने (रट्टेनसंछोदित) पर उसने नोड़म्बवाडि के मंगीराज का शिरभञ्ज कर दिया और चोड़ शासक को शरण दी। इस संदर्भ का रट्ट कौन था, इसपर विवाद है। कुछ विद्वानों की मान्यता है कि विजयादित्य ने अपने अन्तिम अभियान में ही राष्ट्रकूट राज्य पर चढ़ाई की थी और उसके पूर्व वह अमोघवर्ष की अधिसत्ता स्वीकार करता रहा[१] था। इन संदर्भों से यह स्पष्ट है कि विजयादित्य ने अपने समय की सभी सत्ताओं का अपनी विजयों द्वारा मानमर्दन किया और कम से कम अपने शासनकाल तक उसने वेंगी राज्य को एक साम्राज्य का स्वरूप तो दे ही दिया। किन्तु उसकी ये सारी विजयें एक **दिग्विजय** मात्र थी, जिनका स्थायित्व उसकी निजी शक्ति की समानान्तरता मात्र तक सीमित था। इन युद्धों में उसके सेनापतिओं के रूप में दो नाम ज्ञात होते हैं–कडेयराज और उसके पुत्र पण्डरङ्ग। उसका मंत्री और परम सहायक विनयादिशर्मन् भी उसकी विजयों के पीछे का एक प्रमुख तत्त्व था[२]।

तृतीय विजयादित्य ने अपने छोटे भाई विक्रमादित्य को अपना **युवराज** नियुक्त किया था, जो कदाचित् उसके सामने ही दिवंगत हो गया। अभिलेखों में वह सर्वदा **युवराज** ही कहा गया है और राजा के रूप में उसका कोई उल्लेख नहीं मिलता। विजयादित्य के क्रिया-कलापों और उसकी व्यापक विजयों के उल्लेख उसके बाद भी लगभग दो सौ वर्षों तक उसके उत्तराधिकारिओं के अभिलेखों में प्राप्त होते[३] हैं।

चालुक्य प्रथम भीम (८८८ (९२२)-९२३ ई०)

फ्लीट के मतानुसार प्रथम भीम का राज्यारोहण ८८८ ई० में हुआ। किन्तु उसी के अट्टिलि अभिलेख[४] से ज्ञात होता है कि उसका राज्याभिषेक ८९२ में हुआ। उसे विष्णुवर्धन भी कहा जाता था। **त्रिभुवनांकुश, द्रोझार्जुन** और **सर्वलोकाश्रय** उसके विरुद थे। उसने तीस वर्षों तक अर्थात् ९२२ ई० तक शासन किया। उसकी प्रशंसा में कथित है कि उसने असहायों, साधुओं और दुःखियों की मनोकामना पूरी की तथा उनके प्रति मातापिता, मित्र और आचार्य की तरह व्यवहार किया।

वास्तव में भीम के राज्यारोहण और राज्याभिषेक के मध्य जो चार वर्षों का अन्तर

---

१. सिरूर अभिलेख, इऐ० जिल्द १२ पृ० २१९; और देखें; दिनेश चन्द्र सरकार, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ १४९, नोट ८; एइ० जिल्द ६, पृष्ठ १०३।

२. तृतीय विजयादित्य के महत्त्वाकलन हेतु देखें--नीलकान्त शास्त्री और एन् वेंकटरमनैय्या, दि अर्ली हिस्ट्री ऑफ् दि डेकन (याजदानी सं०), पृष्ठ ४८०।

३. जर्नल् ऑफ् दि आंध्र हिस्टॉरिकल् रिसर्च सोसायटी, जिल्द ५, पृष्ठ १६१।

४. ऐनुअल रिपोर्ट्स् ऑन् साउथ इण्डियन् एपिग्राफी, १९१८, पृष्ठ १३१।

दिखायी देता है, उसका कारण यह था कि उसे इस बीच एक उत्तराधिकार का युद्ध लड़ना पड़ा। वेंगी के चालुक्य वंश के शत्रु द्वितीय कृष्ण ने वेंगी की राजदरबारी राजनीति में एक बार पुनः हस्तक्षेप का अच्छा मौका देखते हुए युद्धमल्ल और तल नामक चालुक्य राजकुमारों की ओर से भीम के विरुद्ध युद्धों का एक तांता सा प्रारंभ कर दिया। उन युद्धों के कई चक्र हुए, जिनके ब्यौरों[१] में जाने की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। अन्ततः, भीम राष्ट्रकूट षड्यन्त्रों को झेल जाने में सफल रहा। उसने कलिंग के गंग राज्य के क्षेत्रों पर अपनी अधिसत्ता बनाये रखी। उसने अपने नाम पर चालुक्य भीमवरम् नामक एक नगर की स्थापना की तथा वहीं भीमेश्वर नामक एक शिव मन्दिर का निर्माण भी कराया।

चतुर्थ विजयादित्य (९२२ ई०)

प्रथम भीम का उत्तराधिकारी हुआ उसका जेठा पुत्र चतुर्थ विजयादित्य। उसके समकालिक राष्ट्रकूट शासक थे द्वितीय कृष्ण और तृतीय इन्द्र। द्वितीय कृष्ण ने तो अपने शासन के अन्तिम दिनों तक वेंगी के विरुद्ध सैनिक दबाव बनाये रखा और कई युद्धों में उसने चालुक्यों को पराजित भी किया था। उनकी चर्चाएँ पम्पकवि के **विक्रमार्जुनाभ्युदयकाव्य** में प्राप्त होती हैं। उसका उत्तराधिकारी तृतीय इन्द्र उससे भी अधिक शक्तिशाली और विजेता सिद्ध हुआ और उसने उत्तर में गुर्जर प्रतीहारों तथा दक्षिण-पूर्व में चोड़ों जैसी उस समय की दोनों महान् सत्ताओं पर विजयें प्राप्त कीं। चतुर्थ विजयादित्य को राष्ट्रकूटों से युद्ध जारी रखने की विवशता थी। अभी उसके शासन के छह माह भी नहीं बीते थे कि उसकी राष्ट्रकूटों के विरुद्ध युद्ध में ही मृत्यु हो गयी[२]। यह युद्ध कृष्णा नदी के दक्षिणी किनारे पर स्थित विजयपुरी में लड़ा गया था, जो वेंगी के चालुक्य राज्य की एक गवर्नरी का मुख्य नगर था। वहाँ के गवर्नर को परिच्छेदिन् ६००० कहा जाता था।

प्रथम अम्म विष्णुवर्धन (९२२-९२९ ई०)

चतुर्थ विजयादित्य के बाद उसका पुत्र अम्म ९२२ ई० में शासक हुआ और अगले सात वर्षों तक शासन करता रहा। उसे विष्णुवर्धन भी कहा गया है। परन्तु उसके राज्यारोहण के पूर्व से ही पूर्वी चालुक्यों की वेंगी वाली राजगद्दी के लिए विभिन्न चालुक्य राजकुमारों के बीच गृहयुद्धों का एक ऐसा युग प्रारंभ हुआ जो अगले कई राजाओं के समय तक अनवरत चलता रहा। स्वयं अम्म के अभिलेख[३] उसके **दायादों** और असन्तुष्ट सामन्तों तथा राजसेवकों द्वारा राजगद्दी प्राप्त करने के पूर्व उसके विरुद्ध किये गये षड्यन्त्रों

---

१. देखें, भवराजु वेंकटकृष्णराव, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ २१२ और आगे। ; दि अर्ली हिस्ट्री ऑफ् दि डेकन, पृष्ठ ४८०।

२. इऐ०, जिल्द ७, पृष्ठ १५।

३. साउथ इण्डियन् इन्स्क्रप्शन्स् जिल्द १, सं० ३६, पृष्ठ ३६।

का उल्लेख करते हैं। इन सभी षड्यन्त्रों में राष्ट्रकूट वंश वाले पुश्तैनी शत्रुओं के उकसावे मौजूद थे। इस समय का राष्ट्रकूट शासक था चतुर्थ गोविन्द, जो बार-बार वेंगी की राजगद्दी हेतु वहाँ के राजकुमारों के आपसी संघर्षों में किसी न किसी ओर से हस्तक्षेप अवश्य करता रहा[१]।

प्रथम अम्म (अम्मराज) विष्णुवर्धन के बाद पूर्वी चालुक्य राज्य के इतिहास का एक ऐसा अन्धकारमय युग प्रारंभ हुआ, जिसमें कई पुश्तों तक आपसी गृहयुद्ध, राजगद्दी के लिए राजकुमारों में आपसी संघर्ष, तथा विभिन्न शासकों की कुछ दिनों अथवा कुछ महीनों मात्र तक शासनस्थ रहते हुए राज्य में भारी अस्तव्यस्तता का ही दौर चलता रहा। प्रथम अम्म का उत्तराधिकारी कन्थिक वेट्ट (पञ्चम विजयादित्य) तो केवल १५ दिनों तक ही शासक रह सका। उसका उत्तराधिकारी तलराज केवल एक महीने तक शासक रहा। उसके बाद द्वितीय विक्रमादित्य को केवल ग्यारह महीनों मात्र तक राजा कहलाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उसके बाद भीमराज ने केवल आठ माह तक राजगद्दी का भोग किया।

द्वितीय युद्धमल्ल अथवा मल्लनृप (९३०-९३६ ई०)

इस समय का राष्ट्रकूट शासक चतुर्थ गोविन्द वेंगी की राजगद्दी हेतु चालुक्य राजकुमारों के बीच लड़ी जाने वाली सभी लड़ाइयों में किसी न किसी पक्ष का साथ देता रहा और पूर्वी चालुक्य राजनीति को अपना खिलवाड़ बनाये रखा। द्वितीय युद्धमल्ल अथवा मल्लनृप लगभग ९३० ई० में उसी की सहायता से पूर्वी चालुक्यों की राजगद्दी पर आसीन हुआ और अगले सात वर्षों तक शासक बना रहा। उसके पूरे शासनकाल तक राष्ट्रकूटों का चालुक्य राजनीति और शासन पर पूरा बोलबाला बना रहा। गोविन्द की सहायता से ही मल्लनृप (मल्लपराज) अपने सभी प्रतिद्वन्द्विओं के विरुद्ध सफल भी रहा[२]। इस बीच उसके प्रतिद्वन्द्विओं में युद्धमल्ल, राजमार्त्तण्ड, तथा कण्ठिक विजयादित्य आदि के नाम आते हैं, जिनको या तो उसके द्वारा मार डाले जाने अथवा दूसरे देशों में भगा दिये जाने के उल्लेख चालुक्य अभिलेखों[३] में प्राप्त होते हैं। उसने विजयवाड़ (विजयवाटिका = बेजवाड़ा) नगर में रहकर ही अपना शासन चलाया और वहाँ उसने मल्लेश्वरस्वामी नामक एक शिव मंदिर का निर्माण कराया।

चालुक्य द्वितीय भीम (९३६-९४६ ई०)

चालुक्य द्वितीय भीम ने संभवत: द्वितीय युद्धमल्ल की हत्या करके ही चालुक्य राजगद्दी पर अपना अधिकार जमाया। इसके लिए किये गये उसके संघर्षों के उल्लेख

---

१. भवराजु वेंकटकृष्णराव, पूर्वनिर्दिष्ट २३३ और आगे।
२. वहीं, पृष्ठ २५२।
३. एइ०, जिल्द ९, पृष्ठ ४७।

उसके और उसके पुत्र द्वितीय अम्म के अभिलेखों में प्राप्त होते हैं[१]। द्वितीय भीम के अभिलेखों में जो राजवंशावलियाँ दी गयी हैं, उनमें तो मल्लनृप (द्वितीय युद्धमल्ल) का नाम तक नहीं प्राप्त होता। वास्तव में इन दोनों की अलग-अलग दो चालुक्य शाखाओं में उत्पत्ति हुई थी, जो मूलत: दो चालुक्य भाइयों से जन्मी थीं, और बाद में जितने भी गृहयुद्ध हुए, उनमें उन्हीं दोनों शाखाओं के अलग-अलग प्रतिनिधि सम्मिलित रहे। उसे चालुक्य भीम, राजा भीम अथवा केवल भीम नाम से उल्लिखित किया गया है। उसने वंश के अन्य बड़े-बड़े राजाओं द्वारा अपनायी जाने वाली सभी उपाधियों को धारण किया, यथा-**सर्वलोकाश्रय, त्रिभुवनांकुश, राजमार्त्तण्ड** और **गण्डमहेन्द्र**। उसके प्रमुख सामन्तों में पानर वंश का विज्जय ज्ञात होता है तथा उसके प्रमुख राजसेवकों में वेलनाडु के सरदार मल्लिय का नाम आता है। लोकमहादेवी उसकी पट्टरानी (**अग्रमहिषी**) थी, जिससे उसके बाद चालुक्य राजगद्दी पर बैठने वाला उसका उत्तराधिकारी पुत्र द्वितीय अम्म उत्पन्न हुआ। चतुर्थ गोविन्द के शासन के अन्तिम वर्षों में राष्ट्रकूट सत्ता का पराभव प्रारंभ हो गया और वहाँ स्वयं ही आपसी संघर्ष प्रारंभ हो गये। फलस्वरूप पूर्वी चालुक्य राज्य की राजनीति में राष्ट्रकूट हस्तक्षेप भी कम हो गये, जिसके फलस्वरूप चालुक्य भीम का शासनकाल अपेक्षाकृत शान्तिमय बीता।

द्वितीय अम्मराज (९४६-९५६ ई०)

द्वितीय अम्मराज को विजयादित्य और **राजमहेन्द्र** भी कहा गया है। इनके अतिरिक्त उसने **त्रिभुवनांकुश** और **समस्तभुवनाश्रय** की उपाधियाँ भी धारण की थीं। कुछ इतिहासकारों[२] ने उसके काल को चालुक्य साम्राज्य के इतिहास का एक उच्चशिखर वाला चमकीला काल माना है। अभिलेखों के अनुसार वह ८ वर्ष की अवस्थामात्र में **युवराज** नियुक्त किया गया और केवल १२ वर्षों की अवस्था में उसका राज्याभिषेक भी हो गया। इससे केवल एक बात की पुष्टि होती है कि उसके समय भी पारिवारिक गृहयुद्धों के वातावरण पूरी तरह वर्तमान थे। किन्तु ऐसे वातावरण के बावजूद भी उसमें व्यक्तिगत योग्यताएँ थीं, जो उसके शासन काल की शान्तिकालीन उपलब्धियों से पूरी तरह प्रकट होती है। उसी ने राजमहेन्द्रपुर अर्थात् राजमहेन्द्री (राजमुहुन्द्री) नामक नगर की स्थापना के कार्य को पूरा किया[३], जो प्रथम अम्मराज के समय में प्रारंभ हुआ था। उसी के उपलक्ष्य में उसने **राजमहेन्द्र** की उपाधि भी धारण की थी। उसे अनेक सत्रालयों (सत्रों) की स्थापना

---

१. १९१४-१९१५ के सेन्ट्रल प्राविन्सेज़् के अभिलेख, सं० ११ तथा साउथ इण्डियन् इन्स्कृप्शन्स्, जिल्द १, सं० ३७; एइ० जिल्द ९, पृष्ठ ४५।

२. भवराजु बेंकटकृष्णराव, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ २७५ और आगे। किन्तु यह कथन कुछ अतिरञ्जित ही प्रतीत होता है। वस्तुत:, पूर्वी चालुक्यों के इतिहास में कोई साम्राज्य-काल भी था; ऐसा किसी भी दृष्टि से दिखायी नहीं देता।

३. इऐ०, जिल्द १४, पृष्ठ २१८, पंक्तियाँ ४७-४८।

का भी श्रेय दिया गया है। वह कविओं, नर्तकों तथा गायकों का संरक्षक था और उसी कारण उसे **कविगायककल्पतरु** कहा गया। उसके धार्मिक क्रिया-कलापों के कारण **परमधार्मिक** का विशेषण भी उसे प्राप्त था। उसने स्वयं भी अनेक अभिलेखों का प्रकाशन कराया, जिनसे उसके कुछ शासनाधिकारिओं की जानकारियाँ प्राप्त होती हैं। उसने राजकुमार बोड्डिय को अपना **युवराज** नियुक्त किया। वही उसका सेनापति भी था। कोरमिय नामक एक कश्यपगोत्रीय ब्राह्मण उसका **सुवर्णभाण्डागारश्रीकरणमुख्य** अर्थात् राजकोष विभाग का प्रधान था[१]। कुप्पनय्य नामक एक अन्य ब्राह्मण उसका **अमात्य** था। दुर्गराज नामक सामन्त उसका **कटकाधीश** अर्थात् सेनापति था। ९५८ ई० के उसके एक अभिलेख[२] से ज्ञात होता है कि वह एक शैवमतानुयायी ब्राह्मणधर्मी था, जो **ब्रह्मदेय, देवदेय** और **देवभोग** जैसे दानकार्यों में विश्वास रखता था। तथापि वह जैन धर्म को प्रोत्साहन, जैनधर्मावलम्बिओं को दान-उपहार देने और जैन बसतियों (मंदिरों) को भी दान देने से कभी विरत नहीं हुआ[३]।

किन्तु द्वितीय अम्मराज के शासन के अन्तिम वर्षों में चालुक्य राज्य में पुनः एक बार राजगद्दी पर अधिकार हेतु द्वितीय युद्धमल्ल के पुत्र वाडप्पराज ने राष्ट्रकूट शासक तृतीय कृष्ण की सहायता से उपद्रव खड़ा कर दिया। अम्मराज के समय राष्ट्रकूटों की ओर से कोई विशेष खतरा नहीं उत्पन्न किया गया था, जिसका कारण यह था कि तृतीय कृष्ण स्वयं ही उत्तर और दक्षिण दिशाओं के अपने शत्रुओं के विरुद्ध, विशेषतः चोड़ शासकों के विरुद्ध, अनवरत युद्धरत रहा था। किन्तु उनसे फुरसत पा जाने के बाद वह एक बार और पूर्वी चालुक्य राजनीति में हस्तक्षेप कर उन्हें कमजोर करने लग गया। कलिंग के राज्य ने भी वेंगी की अधिसत्ता का बोझ उतारकर स्वतंत्र हो जाने का प्रयत्न प्रारंभ कर दिया। तृतीय कृष्ण ने कलिंग के रास्ते ही वेंगी पर धावा बोला। किन्तु उसको कोई विशेष सफलता प्राप्त हुई, ऐसा मानने का कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं है। स्वयं तृतीय कृष्ण भी नवोदित चालुक्य सत्ता (द्वितीय तैलप) के सामने ठहर नहीं सका और स्वयं भी मारा गया। तृतीय कृष्ण की सहायता के कारण वाडप्प को द्वितीय अम्मराज के प्रति किये गये विद्रोह में सफलता तो मिल गयी किन्तु तृतीय कृष्ण और द्वितीय अम्मराज को प्रायः कुछ ही वर्षों के अन्तर से होने वाली, युद्धजनित अपनी-अपनी मृत्यु के साथ ही पूर्वी चालुक्य और राष्ट्रकूटों के आपसी विद्वेष, पारस्परिक प्रतियोगिता और युद्ध के एक दीर्घकालिक क्रम का भी अन्त हो गया[४]। आगे वेंगी का राज्य कल्याणी के चालुक्यों और

---

१. इऐ०, जिल्द १२, पृष्ठ ९१।
२. भवराजु वेंकटकृष्णराव, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ २८५।
३. वहीं, पृष्ठ २८९ और आगे।
४. ऐनुअल् रिपोर्ट्स ऑन् एपिग्राफी, १९१३, सं० २३६।

तंजाऊर तथा गंगैकोण्डचोड़पुरम् के चोड़ साम्राज्यों के बीच का एक संतुलक बनकर बचा रहा।

क्रमिक पराभव

द्वितीय अम्मराज के बाद वाडप्प ने विजयादित्य नाम से अनेक उपाधियों के साथ शासन किया। उसके बाद द्वितीय तल शासक हुआ, जो विष्णुवर्धन **महाराजाधिराज** भी कहलाया। किन्तु तल स्वयं मारा गया और ९७० ई० में दानार्णव राजा हुआ। दानार्णव को ९७३ ई० में मारकर जटाचोड़ भीम ने राजगद्दी हथिया ली। दानार्णव के पुत्रों ने चोड़ सम्राट् राजराज के तंजाऊर वाले राजदरबार में शरण ली और ९९९ ई० में जटाचोड़ भीम को राजराज ने मारकर शक्तिवर्मन् (दानार्णाव के पुत्र) को पुनः वेंगी की राजगद्दी पर राज्यासीन करा दिया। उसने बारह वर्षों (९९९-१०११ ई०) तक शासन किया। आगे चोड़ सम्राट्, राजराज की ओर से वह चोड़ों के युद्धों में एक अधीनस्थ के रूप में भाग लेता रहा[१]। शक्तिवर्मन् ने विद्रोहिओं का दमन करके कुछ हद तक चालुक्य राज्य में शान्ति स्थापित की। उसके बाद १०११ ई० में उसका छोटा भाई विजयादित्य राजगद्दी का मालिक हुआ। किन्तु पूर्वी चालुक्य वंश के ये सभी शासक चोड़ शासक प्रथम राजराज के अधीनस्थ अथवा आलम्ब के रूप में ही आन्ध्र में शासन करते रहे। धीरे-धीरे वेंगी के राजाओं और राजकुमारों के विवाह चोड़ राजकुमारियों से होने लगे। इस प्रकार अनेक वैवाहिक सम्बन्धों के द्वारा चोड़ शासकों ने पूर्वी चालुक्य वंश को अपनी ओर मिला लेने का उपक्रम प्रारंभ कर दिया। पूर्वी चालुक्य और चोड़ रक्तों के इस मिलान ने धीरे-धीरे पूर्वी चालुक्यों को मानों चोड़ ही बना डाला। स्वयं विजयादित्य का विवाह प्रथम राजराज चोड़ की पुत्री कुण्डवै से हुआ था, जिससे राजराज नामक उसका पुत्र उत्पन्न हुआ[२]। यही राजराज (द्वितीय) १०१८ ई० में उसका उत्तराधिकारी हुआ। किन्तु वह अपने छोटे भाई विजयादित्य के कारण शान्तिपूर्वक शासन नहीं कर सका। इस विजयादित्य ने विद्रोह करके वेंगी राज्य के विजगापट्टम् वाले क्षेत्रों में अपने लिए एक छोटा सा राज्य स्थापित कर लिया और १०३० ई० में अपने को राज्याभिषिक्त भी कर लिया[३]। राजराज (चालुक्य) अपने मामा महान् चोड़ प्रथम राजेन्द्र (१०१४-१०४६ ई०) की पुत्री अमंगादेवी (ममेरी बहिन) से ब्याहा गया, जिससे राजेन्द्र नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। यही राजेन्द्र (द्वितीय) प्रथम कुलोत्तुंग नाम से आगे चलकर चोड़ साम्राज्य का शासक[४] बना

---

१. दि एज ऑफ् इम्पीरियल् कनौज, पृष्ठ १४०।

२. आगे अनेक चोड़ राजाओं और पूर्वी चालुक्य वंश के राजाओं-राजकुमारों के एक ही समय में समान नाम प्राप्त होते हैं।

३. दि स्ट्रगल फॉर इम्पायर, पृष्ठ २०४।

४. इस राजेन्द्र (द्वितीय) का विवाह चोड़ सम्राट् द्वितीय राजेन्द्र की पुत्री मधुरान्तकी से हुआ था। देखें, चोड़ राजवंश वाला अध्याय, पृष्ठ ३८४।

(१०७० ई०)। कदाचित् अपने शैशव काल में वह अपनी ननिहाल (गंगैकोण्डचोड़पुरम्) में ही रहता था, जिसका लाभ उठाकर उसके भाई विजयादित्य ने वेंगी का राज्य ही अपने लिए हड़प लिया। आगे चालुक्य राज्य कल्याणी के चालुक्यों और गंगैकोण्डचोड़पुरम् के चोड़ नामक दो प्रमुख राजनीतिक-सैनिक सत्ताओं की आपसी खींचतान और राजनीति का मोहरा मात्र बनकर रह गया। राजेन्द्र (चालुक्य) जब प्रथम कुलोत्तुंग नाम से अपने ननिहाल वाले चोड़ राज्य का स्वामी (१०७० ई०) हो गया, तब से पूर्वी चालुक्यों का एक प्रकार से अन्त ही हो गया। दोनों राज्य एकीकृत हो गये और वेंगी के आगे वाले सभी शासक चोड़ों के नामांकित गर्वनर मात्र होकर रह गये। वे सभी गवर्नर चोड़ राजकुमार ही होते थे।

(पूर्वी) चालुक्य इतिहास की कुछ उपलब्धियाँ

बादामी के चालुक्य वंश के महत्तम शासक, द्वितीय पुलकेशिन्, द्वारा वेंगी के आसपास के क्षेत्रों को अपनी दिग्विजय के क्रम में जीतकर कुब्ज विष्णुवर्धन को वहाँ के गवर्नर के रूप में बिठाते हुए जिस पूर्वी चालुक्य राज्य की स्थापना का बीजारोपण हुआ, उससे आन्ध्र प्रदेश के इतिहास में मानों एक नये युग का प्रारंभ हुआ। इस राज्य का इतिहास लिखने वाले कुछ आधुनिक आंध्रनिवासी इतिहासकार[१] कुछ अतिरंजनाओं के साथ, 'आन्ध्रजाति' (रेस) 'आन्ध्र साम्राज्य' अथवा 'पूर्वी चालुक्य साम्राज्य', (इम्पायर) जैसे पदों का प्रयोग करते हिचकते नहीं है[२]। इसे एक अनैतिहासिक क्षेत्रभक्ति अथवा स्थानीय महत्ता की भावना के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जा सकता।

यह एक ऐतिहासिक सत्य अवश्य है कि पूर्वी चालुक्यों ने आन्ध्र सातवाहनों, विष्णुकुण्डिनों और कदम्बों के बाद आधुनिक आंध्र प्रदेश के उत्तरी-पूर्वी भागों को कर्नाटक और तमिल प्रदेशों के मुकाबले एक स्वतंत्र भौगोलिक और राजनीतिक इकाई का स्पष्ट स्वरूप प्रदान किया। किन्तु उनका स्वतंत्र स्वरूप ६०० वर्षों तक बना रहा, यह वक्तव्य[३] ऐतिहासिक दृष्टि से सही नहीं जान पड़ता। पूर्वी चालुक्य वंश का पूर्णस्वतंत्र कालखण्ड तो कुब्ज विष्णुवर्धन से प्रारंभ (सातवीं शती के प्रथम चतुर्थांश) होकर १०७० ई० तक लगभग ४०० वर्षों मात्र का रहा; जब चोड़ वंश के शासक के रूप में चालुक्य राजकुमार

---

१. देखें, भवराजु वेंकटकृष्णराव, हिस्ट्री ऑफ् दि ईस्टर्न चालुक्यज़् ऑफ् वेंगी, हैदराबाद, आन्ध्र प्रदेश साहित्य अकादमी, १९७३ ई०।

२. वहीं पृष्ठ १८४ और आगे। इधर कुछ दशकों से 'साम्राज्य' और 'सामन्त राज्य' जैसे शब्दों के प्रचलन का त्याग किया जा रहा है और उनके स्थान पर 'बड़े राज्य' और 'छोटे राज्य' जैसे पदों का प्रयोग प्रस्तुत हुआ है। देखें आर० चम्पकलक्ष्मी, रीसेण्ट पर्सपेक्टिब्स् ऑफ् अर्ली इण्डियन् हिस्ट्री, सं० रोमिला थापर, पृष्ठ २७५-२७६।

३. भवराजु वेंकटकृष्णराव, पृ० ८४।

राजेन्द्र, प्रथम कुलोत्तुंग के नाम से, गंगैकोण्डचोड़पुरम् से शासन करने लगा। आगे वेंगी के पूर्वी चालुक्यों का राज्यक्षेत्र चोड़ साम्राज्य के एक प्रांत के रूप में चोड़ राजकुमारों द्वारा, चोड़ गवर्नरों के रूप में, शासित किया जाने लगा।

जहाँ तक पूर्वी चालुक्य राज्य को 'साम्राज्य' कहे जाने का प्रश्न है, वह भी इतिहास प्रमाणित नहीं है। इस वंश के गिने-गिनाये केवल दो शासक ही ऐसे थे, जिन्होंने वेंगी राज्य के बाहर के कुछ क्षेत्रों पर थोड़े दिनों के लिए अपना अधिकार किया। प्रथम था द्वितीय विजयादित्य, जिसने राष्ट्रकूट शासक प्रथम अमोघवर्ष की निजी कठिनाइयों का लाभ उठाकर उसके विरुद्ध आक्रमणकर राष्ट्रकूट क्षेत्रों को रौंदा[१]। दूसरा था तृतीय विजयादित्य जिसने कलचुरिओं, पल्लवों तथा राष्ट्रकूट शासकों के एक-एक नगरों पर आक्रमण कर उन्हें जला डाला[२]। उन दोनों ने साम्राज्यसूचक उपाधियाँ भी धारण कीं। किन्तु अवसर का लाभ उठाकर किये गये कुछ सैनिक धावों मात्र को साम्राज्यभोगी विजयों का नाम दे दिया जाय, यह तो स्वीकार नहीं किया जा सकता। वास्तव में पूर्वी चालुक्य दक्षिण में पल्लवों से और पश्चिम में राष्ट्रकूटों से सर्वदा ही त्रस्त रहे और उन्हें अपनी स्थानीय सत्ता बनाये रखने मात्र में सर्वदा प्रयत्नशील रहना पड़ा। आन्ध्र प्रदेश के जिस कोने में वे शासनस्थ थे, उसके बाहर अपना शासन बढ़ा लेने और उसे बनाये रखने के उनके कोई प्रमाण नहीं प्राप्त होते।

तृतीय विजयादित्य (८४६-८८८ ई०) के बाद पूर्वी चालुक्य इतिहास का एक ऐसा दुःखद अध्याय प्रारंभ हुआ, जो प्रायः उसके अन्त तक चलता रहा। इस बीच एक ही बात बार-बार उभरकर सामने आती हुई दिखायी देती है, और वह है प्रत्येक बार किसी शासक की मृत्यु के बाद राजकुमारों के बीच राजगद्दी को लेकर होने वाला गृहयुद्ध। यह क्रम चालुक्य (प्रथम) भीम के साथ प्रारंभ हुआ और तब तक चलता रहा जबतक पूर्वी चालुक्य राज्य अपनी स्वतंत्र सत्ता को खोकर चोड़ साम्राज्य की गवर्नरी वाला एक प्रान्त नहीं बन गया[३]।

पूर्वी चालुक्यों के शासन काल की एक प्रमुख विशेषता भी है। इसी समय आन्ध्र प्रदेश को अपनी भाषा, अपने साहित्य और अपनी संस्कृति का एक क्षेत्रगत स्वरूप तथा निजी व्यक्तित्व प्राप्त हुआ। पूर्वी चालुक्यों के पूर्व वहाँ शासन करने वाले आन्ध्र सातवाहनों, विष्णुकुण्डिनों, कदम्बों और सालंकायनों आदि के समय तक वहाँ के सभी अभिलेख या तो संस्कृत भाषा में अथवा प्राकृत भाषा में प्राप्त होते हैं। किन्तु चालुक्यों के समय से, संस्कृत की प्रमुखता के बने रहते हुए भी, तेलुगू का प्रयोग अभिलेखों की भाषा के रूप में किया जाने लगा। वहाँ के शासक तृतीय विष्णुवर्धन ने

---

१. देखें, पीछे पृष्ठ २०१-२०२; भवराजु वेंकटकृष्णाराव, पृष्ठ ७६-और आगे।

२. पीछे पृष्ठ २०३।

३. पीछे पृष्ठ २०९-२१० तक।

(७०९-७४६ ई०) सबसे पहले प्राचीनतम (अविकसित) तेलुगू में एक लेख (गुण्टूर जिले में) लिखवाया[१]। तेलुगू काव्यरचना का एक अन्य उदाहरण तृतीय विजयादित्य (८४४-८८८ ई०) के एक प्रसिद्ध सेनापति पण्डरङ्ग (ब्राह्मण) के समय (९वीं शती) का है। वैसा ही एक दूसरा उदाहरण शतलुरु ताम्रपत्राभिलेख से भी उसी समय का प्राप्त होता[२] है। विजयादित्य के समय लिखे जाने वाले अभिलेखों में पूर्वत: लिखे-लिखवाये जाने वाले अभिलेखों की तुलना में एक नवीन पद्धति दिखायी देती है। वह सबसे पहला पूर्वी चालुक्य शासक था, जिसने कुब्ज विष्णुवर्धन के समय से प्रारंभकर अपने वंश का सही, पूर्ण और क्रमवार वंशवृत्त तैयार कराया और आगे लिखे जाने वाले सभी अभिलेखों के लिए उसे एक आदर्श के रूप में उपस्थित किया[३]। आगे चलकर राजराज नामक शासक के समय तो पूर्वी चालुक्य राजदरबार तेलुगू लेखकों और कविओं का मानों एक शरणस्थल ही बन गया। उसके समय के लेखकों में नन्नयभट और नन्नीनारायण के नाम आते हैं। राजमहेन्द्रपुर (राजमुहुन्द्री) को उस समय के लेखकों के लिए कल्पतरु का विशेषण दिया गया है। तेलुगू **महाभारत** के रचयिता नन्नयभट उस समय के महत्तम कवि थे। कथित है कि इस ग्रंथ को पूरा करने के पूर्व ही नन्नयभट की मृत्यु हो गयी और लगभग दो सौ वर्षों बाद **कविब्रह्म** उपाधिधारी टिक्कन सोमयाजिन् ने इसे पूरा किया।

वेंगी के चालुक्य राजाओं को नये-नये नगरों के निर्माण का शौक बहुत बड़ी मात्रा में था, जिन्हें वे प्राय: अपने-अपने काल में पूर्ण राजधानियों अथवा अपने मुख्य प्राशासनिक नगरों का रूप दे डालते थे। कालक्रम की दृष्टि से तो उनका प्रथम मुख्य नगर पिष्टपुर (आधुनिक पीठापुरम्) था, जिसका उल्लेख समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति से लेकर द्वितीय पुलकेशिन् के अहिहोड़ अभिलेख तक प्राय: सर्वत्र ही मिलता है। किन्तु बाद में वेंगी उनका मुख्य नगर हो गया, जिसे अन्यान्य अभिलेखों में वेंगीपुर कहा गया है। वेंगी पूर्वी चालुक्यों की प्रथम राजधानी थी और आगे उनकी राजधानी वहाँ से हटा दिये जाने के बावजूद भी चालुक्यों का नाम वेंगी से ही जुड़ा रहा। आज वह पश्चिमी गोदावरी जिले (आन्ध्र प्रदेश) के पेडवेंगी और चिन्नवेंगी नामक दो उजड़े हुए गांवों के खण्डहरों मात्र में बचा हुआ है। आगे चलकर चौलुक्य प्रथम भीम (८८८-९१८ ई०) ने चौलुक्य भीमवरम् नामक एक नया नगर बसाया[४] (पूर्वी गोदावरी जिले में) और वह वहीं से शासन करने लगा। उसके पूर्व वेंगी को छोड़कर चालुक्य शासक विजयवाड़ (विजयवाड़ा = बेजवाड़ा) से अपना शासन चला रहे थे। अभिलेखों में विजयवाड़ा को

१. ऐनुअल् रिपोर्ट्स् ऑन् एपिग्राफी, १९१७ का १६९।
२. भवराजु वेंकटकृष्णराव, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ २०४।
३. वहीं, पृष्ठ २०६; दि अर्ली हिस्ट्री ऑफ् दि डेकन, पृष्ठ ४७१।
४. एइ०, जिल्द ४, पृष्ठ २२६, श्लोक ११।

विजयवाटिका कहा गया है। आगे चलकर, प्रथम अम्मराज[१] ने भीमवरम् के अतिरिक्त एक नया नगर राजमहेन्द्रपुरम् (आजकल का राजमहेन्द्री = राजमुहुन्द्री) बसाते हुए अपनी शासकीय राजधानी को वहाँ स्थानान्तरित कर दिया। **राजमहेन्द्र** प्रथम अम्मराज का विरुद था और उसी के कारण इस नये नगर का नाम राजमहेन्द्रपुरम् पड़ा।

आखिर इन नये नगरों को बसाने के पीछे उद्देश्य अथवा कारण क्या थे ? संभव है, संस्थापकों द्वारा अपनी व्यक्तिगत उपलब्धियों को बताना उनका मुख्य उद्देश्य रहा हो। किन्तु इससे भी बड़ा कारण यह प्रतीत होता है कि पूर्वी चालुक्य राज्य सैकड़ों वर्षों तक राजकुमारों की दो शाखाओं के बीच लगातार चलते रहने वाले उत्तराधिकार से सम्बद्ध गृहयुद्धों में फंसा रहा और उसमें पारस्परिक युद्धों का तांता कभी बन्द ही नहीं हुआ। इस बीच नगर उजड़ते रहे-उजाड़े जाते रहे और राजधानियाँ हटायी-बढ़ायी जाती रहीं। दक्षिण भारतीय सेनापतिओं, सैनिकों और सेनाओं में एक दूसरी बीमारी यह थी कि जब भी वे शत्रुनगरों पर आक्रमण करते थे तो प्रायः वे उन्हें पूरी तरह जला ही डालते थे। इसे वे न तो क्रूरता और युद्धनीति का उल्लंघन मानते थे और नहीं नगरवासिओं के प्रति अत्याचार। प्रथम सोमेश्वर (चालुक्य-कल्याणी) की सेनाओं ने भोज की राजधानी धारा को जला डाला, चोड़ सेनाओं ने कल्याणी और मान्यखेट को फूंका, तृतीय इन्द्र की सेनाओं ने महोदयनगर (कनौज) को जलाया और राजेन्द्र चोड़ की सेनाओं ने कलिंगनगर में ताण्डव मचाते हुए वहाँ वृद्धों, स्त्रियों, बच्चों तक का अन्त कर डाला और स्त्रियों को लूट लिया। स्वयं तृतीय विजयादित्य (पूर्वी चालुक्य शासक) के सम्बन्ध में कथित है कि उसने कृष्णपुर (कलचुरि नगर) अनन्तपुर और नेल्लूर नगरों को आक्रामित करके उन्हें जला डाला[२]।

पूर्वी चालुक्य शासक अपने नामों पर नगरों की स्थापना तो करते ही थे, वे अपने नामों पर मंदिर भी बनवाते थे। प्रथम भीम ने भीमवरम् में भीमेश्वर का मंदिर तथा द्वितीय विजयादित्य ने अपनी उपाधियों के नामपर समस्तभुवनाश्रय श्रीनरेन्द्रस्वामी और उमामहेश्वर-स्वामी नामक शैव मंदिरों का निर्माण कराया। इस वंश के प्रायः सभी शासक शिवभक्त ही प्रतीत होते हैं, जिनमें से बहुतों ने अपने को **परमेश्वर** कहने में गर्व अनुभव किया। इन मंदिरों तथा ब्राह्मणों को **देवदेय** अथवा **ब्रह्मदेय** (भूमिदान) देकर वे अपने को गौरवान्वित करते थे। उनके अभिलेखों से यह ज्ञात होता है कि वे वर्णाश्रमधर्म की रक्षा के कर्त्तव्य से अपने को जोड़ते थे। यह भी ज्ञात होता है कि उत्तर-भारत से ब्राह्मणों का आन्ध्र प्रदेश सहित समस्त दक्षिण भारत में आना अनवरत जारी रहा[३] और वे वहाँ अपनी

---

१. अधिक विचार के लिए देखें, जर्नल ऑफ् दि आन्ध्र हिस्टॉरिकल् रिसर्च सोसायटी, जिल्द ३, पृष्ठ १३५-१६०।

२. देखें पृष्ठ संख्या २०३।

३. भवराजु वेंकटकृष्णराव, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ २२३।

विद्या और चरित्र द्वारा सर्वदा ही आदृत बने रहे। प्राय: सभी पूर्वी चालुक्य राजाओं के सेनापति और उच्च पदाधिकारी ब्राह्मण ही हुआ करते थे। किन्तु इन पूर्वी चालुक्य शासकों में किसी प्रकार की कोई धार्मिक असहिष्णुता बिल्कुल ही दिखायी नहीं देती। वे जैसे ब्राह्मणों और हिन्दू मंदिरों को दान देते थे, वैसे ही जैन बसतियाँ (मंदिर) भी बनवाते थे और उन्हें भी भूमिदान देते थे। अनेक शैव राजाओं की रानियाँ जैनधर्मोपासक थीं[१] और वे शासन के बड़े-बड़े पदों पर भी नियुक्त थीं। राजा राजमहेन्द्र (चालुक्य) इसका सबसे बड़ा उदाहरण प्रतीत होता है[२]। उसके समय अनेक शासकीय पदों पर जैन विद्वान् नियुक्त किये गये थे। पुरातात्त्विक खोजों और खुदाइयों से आधुनिक आन्ध्र प्रदेश के विजगापट्टम् जिले के रामतीर्थम् में, पीठापुरम् में, आर्यवरम् में, ततिपत में, पूर्वी गोदावरी जिले के नदुनुरु में, पश्चिमी गोदावरी जिले के अट्टिलि में, और कृष्णा जिले के विजयवाड़ा जैसे स्थानों में जैन मठों और बसतियों के अवशेष प्राप्त हुए हैं। **महासामन्ताधिप कटकाधीश** (सेनापति) दुर्ग्गराज के कहने पर राजाधिराज द्वितीय अम्मराज ने मलियमुण्डी नामक गांव का दान एक जिनालय (जैन मंदिर) को दिया था[३]।

●

१. देखें, पीछे पृष्ठ २०८।

२. भवराजु वेंकटकृष्णराव, पूर्वनिर्दिष्ट २२३; २८९, साउथ इण्डियन् इन्स्कृप्शन्स्, जिल्द १, सं० ३६।

३. भवराजु वेंकटकृष्णराव, वहीं, पृष्ठ २८९।

अध्याय ८

दोरसमुद्र का होयसड़ राज्य

राजधानी (दोरसमुद्र) और राजवंश (होयसड़) को प्राय: द्वारसमुद्र और होयसल जैसे उच्चारणों और वर्तनियों के साथ अभिहित किया जाता है। प्राय: सभी ग्रंथों में ये वर्तनियाँ ही प्राप्त होती हैं। प्रस्तुत: लेखक ने इस राजवंश से सम्बद्ध शोधपुस्तक **दि होयसड़ज़** (आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९५७) के लेखक डंकन डेरेट महोदय का मत स्वीकार करते हुए उनके वास्तविक शुद्धरूप में 'दोरसमुद्र' और 'होयसड़' वाली वर्तनियों का ही प्रयोग उचित माना है।

सर्वप्रथम 'दोरसमुद्र' की बात करें। प्राय: इसे संस्कृत नाम 'द्वारसमुद्र' से मिलाया जाता है और यह मान लिया जाता है कि यह समुद्र के किनारे वाला कोई नगर था। डेरेट[१] के मत में न तो यह नगर समुद्र के किनारे पर था और न तो यह संस्कृत उच्चारण का 'द्वारसमुद्र' वाला कल्पित नगर ही है। वास्तव में इसका नाम **दोर (ढोर) समुद्र** था। 'दोर' अथवा 'ढोर' ध्रुव का प्राकृत रूप है। मूलत: ध्रुव **निरूपम** (राष्ट्रकूट शासक) ने वहाँ एक नहर और झील (समुद्र) बनवायी थी। उस समय बेलूर और दोरसमुद्र को जोड़ने वाली नहर से यागची नदी का पानी राजधानी (दोरसमुद्र) तक पहुँचाया जाता था। यह दोरसमुद्र आजकल का उजड़ा हुआ हलेविद (हलेविदु) गांव है। अत:, दोरसमुद्र का अर्थ हुआ वह समुद्र (झील) जो दोर अर्थात् ध्रुव ने बनवायी थी। इन क्षेत्रों पर राष्ट्रकूट वंश के अनेक राजाओं ने अधिकार किये थे, जिसके प्रमाण अभिलेखों से प्राप्त होते हैं। अत: होयसड़ों की राजधानी को द्वारसमुद्र न कहकर दोरसमुद्र कहना ही उचित होगा।

होयसड़ नाम के कई रूप प्राप्त होते हैं[२]। उस वंश का सबसे प्रतापी राजा विज्जल था, जिसे कन्नड़ अभिलेखों में प्राय: विजण्ण कहा गया है। उसी प्रकार होयसल को होयसड़ (ण) भी कहा गया है। प्रारंभिक नाम कदाचित् पोयसल (ड़) था। किन्तु कन्नड़ लिपि, ग्रंथलिपि और मराठी लिपियों में उसके पोकल, भोकल, भोजल और होयसण रूप भी प्राप्त होते हैं। कुछ आधुनिक ग्रंथकार उनके नाम के रूप 'होयसाल' और होयशाल भी देते हैं, जो आभिलेखिक साक्ष्यों के आधार पर बिल्कुल ही अमान्य और अशुद्ध स्वीकार किये जाने चाहिए। प्रसिद्ध इतिहासकार डंकन डेरेट ने अपने शोधग्रंथ में इसका नामोल्लेख सर्वत्र 'होयसड़' रूप में ही किया है, जो दक्षिण भारतीयों के जिह्वातोड़ उच्चारण की दृष्टि

---

१. दि होयसड़ज़, पृष्ठ ३५।

२. डेरेट, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ २१९-२२०।

से सही है । यह उच्चारण प्राचीन कर्णाट (कर्नाटक) के दक्षिणी भाग (कुन्तल) की संभवत: तमिड़ों से अत्यधिक समीपता के कारण ही प्रचलित हुआ । वास्तव में अंग्रेजी (रोमक) वर्णमाला के 'एल्' के नीचे बिन्दु लगाकर सुदूर दक्षिण भारतीय शब्दों के जो उच्चारण किये जाते हैं वे 'ल्ड़' जैसे होते[१] हैं, जिन्हें उच्चारित करना उत्तर भारतीयों के लिए कठिन है । अत: यहाँ 'होयसड़' नाम का ही प्रयोग किया जायगा ।

भौगोलिक पृष्ठभूमि

अधिकतर पठारी, कुछ कुछ पहाड़ी और झाड़-झंखाड़ वाली जंगली भूमि से आच्छादित होयसड़ राजाओं का प्रदेश अपने भौगोलिक आयत्त में कर्नाटक के कुंन्तल वाले दक्षिणी भाग का एक छोटा सा क्षेत्र मात्र था । किन्तु लगभग चार शताब्दियों (१०वीं-१३वीं) तक चलते रहने वाले अपने दीर्घजीवन में उसकी सांस्कृतिक उपलब्धियों ने अपनी राजनीतिक उपलब्धियों से ऊपर उठते हुए बहुत अधिक ऊँचाइयों का स्पर्श किया । होयसड़ राज्य का भौगोलिक विस्तार पश्चिमी घाट की पहाड़ियों के पूर्व में, उत्तरी दिशा में बंगलोर और कोलार के जिलों तक, वेदवती और पिनाकिनी नदियों के बीच वाले क्षेत्रों तथा दक्षिण में आधुनिक हासन, मैसूर के कुछ भागों, कडूर और टुंकूर जिलों तक था । बीच-बीच में छोटी-छोटी पहाड़ियों तथा प्राय: पठारी भागों वाले इस प्रदेश में अपेक्षाकृत कम घने और झाड़-झंखाड़ वाले जंगल थे, जिन्हें उन्होंने प्राय: अपना स्वत्त्व स्थापित कर लेने के बाद साफ सा कर दिया । प्रारंभ में वहाँ द्राविडी और आर्य दोनों ही मूल के कुछ जंगली और पर्वतीय तथा कुछ मैदानी भागों वाले लोग रहते थे, जो क्रमश: एक ओर लूट और शिकार से तथा दूसरी ओर खेती द्वारा अपना भरणपोषण करते थे । मैदानों में प्राय: ब्राह्मण अथवा मिश्रित रक्तवाले वे अमीर लोग रहते थे, जो राजाओं से प्राप्त **अग्रहार** के कारण सुखी और सम्पन्न थे । किन्तु पर्वतीय और जंगली क्षेत्रों में उन **वेड्ड़रों** का निवास था जो लूट, शिकार, मैदानी लोगों की चौकीदारी और नौकरी तथा आवागमन के रास्तों के व्यापारिओं के माल को सुरक्षा देने के बदले कुछ जीविका कमा लेते थे[२] । तुंगभद्रा नदी के दक्षिण-पश्चिमी भागों वाले गंगवाड़ि, नोड़म्बवाड़ि और कदम्बक्षेत्र भी इन होयसड़ों की ही अधिकार सीमा के भीतर पड़ते थे, जिसे रायचूर दोआब में सम्मिलित माना जाता है । उसी के लिए एक ओर राष्ट्रकूटों और परवर्ती चालुक्यों तथा दूसरी ओर उत्तरवर्ती पल्लवों और चोड़ों के बीच अनवरत युद्ध चलते रहते थे । कांचीनगर इनकी दक्षिण-पूर्वी छोर पर ही स्थित था और कभी-कभी इनके अधिकार में भी रहा था ।

---

१. ऐसे ही उच्चारण हैं चोल्ड़ (चोड़), अहिहोल्ड़, हेगड़े, देवगौड़ा, रट्टपाडि (ड़ि), नौलम्बपाडि (नोड़म्बपाड़ि) बेल् (ड़्) ल् (ड़्) र, द्रविड़, तमिड़, द्रविड़ मुन्नेत्र (मुण्णेत्र) कड़गम् (कज़गम्)

२. डंकन् एम्. डेरेट, दि होयसड़ज़्, १९५७, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, पृ. ९ ।

होयसड़ राजाओं की उत्पत्ति, उनके मूल और नामरूप

यह निश्चितरूप से नहीं कहा जा सकता कि होयसड़ शासकों का नृतात्त्विक अथवा जातीय मूल क्या था। वहाँ के निवासी आर्य और द्राविडी दोनों ही मूलवाले मिश्रित लोग थे, जिनमें आपसी मिश्रण भी अवश्य ही हुए होंगे। होयसड़ शासक स्वयं अपने को उत्तरभारत के उस यदुवंश से जोड़ते हैं, जो पौराणिक इतिहास के एक प्रमुख अंग के रूप में ज्ञात होते हैं। वे अपने को **द्वारावतीपुरवराधीश्वर**[१] (द्वारावती = द्वारका नगर के अधीश्वर = कृष्ण) का विरुद देते हैं। तथापि दो विकल्पों को सुझाते हुए यह कथित[२] है कि संभव है कि वे उन उत्तर भारतीय लोगों से ही जुड़े हों, जो दक्षिण दिशा में विजयों को प्राप्त करते हुए वहीं शासक बनकर बस गये हों; अथवा वे उन महापाषाणीय संस्कृति के जनक लोगों की सन्तानें हों, जो मैसूर के उत्तरी क्षेत्रों में तीसरी शताब्दी पूर्व से ही स्पष्ट रूप में परिलक्षित होते हैं। उन्हें **मेरुण्ड** की संज्ञा दी गयी। यह **मेरुण्ड** शिकार करने वाला वह मिथकीय पक्षी है, जो अपनी टांगों में शेरों और हाथियों को भी उठाकर पकड़ते हुए उड़ जाता है। बाद वाले होयसड़ भित्तिचित्रों में इसकी प्रतिकृतियाँ बनायी हुई मिलती हैं।

अभिलेखों में इस वंश के प्रारंभिक पुरुष को पोयसड़ मारुग कहा गया है। उसके पितामह अरकेल्ल को तृतीय कृष्ण (राष्ट्रकूट) की ओर से नोड़म्बों के विरुद्ध युद्ध करते हुए बताया गया है। अत: यह निष्कर्ष निकाला गया है कि पोयसड़ राष्ट्रकूटों का ही कोई **अन्तपाल** (सीमारक्षक) रहा होगा। किन्तु तृतीय कृष्ण के बाद जब राष्ट्रकूट सत्ता धीरे-धीरे तिरोहित होती गयी और चोड़ों की साम्राज्यशक्ति के संस्थापक प्रथम राजराज ने राष्ट्रकूटों के हाथों चले गये तोण्डैमण्डलम् के वे सारे प्रदेश राष्ट्रकूटों के कर्नाटक वाले उत्तराधिकारिओं, परवर्ती चालुक्यों, से छीन लिये तो उस समय की राजनीतिक अव्यवस्था का लाभ उठाते हुए पोयसड़ मारुग ने अपने छोटे से राज्य की स्थापना की। उसका क्षेत्र एक ऐसे कोने में पड़ता था, जहाँ तक पहुँचकर अपने साम्राज्य-विस्तार की चिन्ता न तो चोड़ों ने की और न चालुक्यों ने।

१००६ ई० में पोयसड़ या होयसड़ ने चोड़ सामन्त अप्रमेय के विरुद्ध तलक्काड़ के निकट एक युद्ध में भाग लिया, किन्तु उसे पीछे हटना [३]पड़ा। एक खण्डित अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसके पास एक कुशल अश्वसेना थी और "ऊँचे-ऊँचे हाथियों का एक समुद्र" जैसा बल [४]था। उसके गंग और कोंगाड़व के क्षेत्रीय शासकों से भी युद्ध हुए।

---

१. पी. बी. देसाई, ए हिस्ट्री ऑफ् कर्नाटक, पृष्ठ २५०।
२. डेरेट, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ १५।
३. ए स्टडी ऑफ् हिस्ट्री (भाग १-६) का संक्षिप्तीकरण, डॉ० सोमरविले।
४. डेरेट, पृष्ठ १८।

उन युद्धों का कोई स्थायी परिणाम तो नहीं निकला, किन्तु यह अवश्य प्रतीत होता है कि पोयसड़ अपनी राजनीतिक सत्ता के स्थापन में सर्वदा प्रयत्नशील था। किन्तु उसकी बढ़ती हुई महत्त्वाकांक्षा को चूर करने हेतु चालुक्यों ने उसके क्षेत्रों पर धावा बोलकर उसे पराजित किया।

तथापि अपनी विशेष भोगौलिक सुविधाओं, कुशल सैन्यनेतृत्व और अदम्य इच्छाशक्ति के बलपर उसने अपनी एक राजनीतिक प्रतिष्ठा बना ली। वंश के अभिलेखों में उसे **नृपकाम** पोयसड़ कहा गया है और **राचमल्ल मरमाडि** (परमर्दि) की उपाधि भी दी गयी है[१]।

विनयादित्य (१०४५-१०९८ ई०)

नृपकाम का उत्तराधिकारी हुआ उसका पुत्र विनयादित्य, जो या तो १०४७ ई० में या उसके पूर्व कभी शासक बना। उसने कल्याणी के चालुक्य शासकों से मित्रता स्थापित कर अपने लिए राजनीतिक लाभ उठाना प्रारंभ कर दिया। उसने होयसड़ राज्य की शक्ति का संरक्षण करते हुए उसके दृढ़ीकरण का प्रयत्न जारी रखा। उसी कारण वंश के अधिकांश अभिलेखों में वही प्रथम शासक के रूप में उल्लिखित है। उसने लगभग आधी शताब्दी तक (कम से कम १०९८ ई० तक तो) अवश्य ही शासन किया। उस बीच भविष्य में होयसड़ों के अधिकार में रहने वाले सभी प्रदेश उसकी प्रभावसीमा अथवा शासन में आ गये। उसके कम से कम तीन पुत्र थे, जिनमें कम से कम दो जेठे पुत्र तो अवश्य ही शासन में उसके सहयोगी बने रहे। उत्तरी और पूर्वी दिशाओं में उसने अपने राज्य की सीमाओं का विस्तार किया। ११८४ ई० के एक अभिलेख[२] में उसे कोंकण, आड़वखेड़, बायलनाड़ (बायनाड), तलक्काड़ और सावामालै पर शासन करता हुआ बताया गया है। डेरेट ने इसकी व्याख्या करते हुए उसकी राज्यसीमा अथवा अधिकार सीमाओं को कावेरी और कब्बनी नदियों के बीच तलक्काड़ की सीमाओं के पास तथा पूर्वी दिशा में श्रीरंगपट्टनम् तक विस्तृत माना है[३]। सावामालै की पहचान नहीं की जा सकी है।

किन्तु इन उपलब्धियों हेतु उसे अपनी समकालीन और चालुक्यों की अथवा चोड़ों की कुछ अधीनस्थ सत्ताओं से संघर्ष अवश्य करने पड़े होंगे। इनमें कदम्ब और सान्तर

---

१. विशेष विवरण हेतु देखें, पी०बी० देसाई, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ २५१।

२. देखें, एपि० कर्नाटिका, जिल्द ६ (शिमोगा) १६०।

३. पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ २४-२५। किन्तु फ्लीट की मान्यता है कि होयसड़ों को इन सीमाओं की प्राप्ति सर्वप्रथम विष्णुवर्धन के समय हुई (डाइनेस्टीज़् ऑफ् दि कनारीज डिस्ट्रिक्ट्स्, पृष्ठ ४९२)। नीलकान्त शास्त्री फ्लीट से सहमत नहीं है। देखें, याजदानी सं०, दि अली हिस्ट्री ऑफ् दि डेकन, (भाग १-६) पृष्ठ ३६०, नोट १।

राज्य मुख्य रहे प्रतीत होते हैं। १०६० ई० के **त्रैलोक्यमल्ल** (चालुक्य सम्राट्) के एक अभिलेख से सान्तरों से होने वाले उसके एक युद्ध का प्रमाण प्राप्त होता है। उसका समर्थन वीर सान्तर के १०६२ और १०६८ ई० के दो अन्य अभिलेखों से भी होता है। इन सान्तर लोगों का अधिकारक्षेत्र वरदा नदी की घाटी के ऊपरी भागों वाले उन उपजाऊ क्षेत्रों पर था, जो होयसड़ों की प्रभावसीमा के उत्तर में स्थित थे और जिनपर विनयादित्य की ललचायी आखें अवश्य ही गड़ी रही होंगी। इस बात की भी सूचना प्राप्त होती है कि वीर सान्तर के पुत्र अम्मणदेव सांतर ने होसलदेवी नामक किसी राजकुमारी से विवाह किया था। चूंकि विनयादित्य की मृत्यु के बाद भी लगभग ४० वर्षों तक उस क्षेत्र में सान्तरों का कोई अभिलेख नहीं प्राप्त होता, यह मानना तर्कसंगत प्रतीत होता है कि वे होयसड़ों की प्रभावसीमा में समा चुके थे। तथापि, उसके बाद भी सान्तरों द्वारा किसी भी होयसड़ राजा की प्रत्यक्ष अधीनता स्वीकार कर लेने का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता।

किन्तु गंग राज्य के विरुद्ध विनयादित्य को अपेक्षाकृत अधिक सफलता प्राप्त हुई। एक अभिलेख (१०८९ ई०) में उसे **गंगविक्रम** कहा गया है। यह गंग राज्य वास्तव में आसन्दीगंग वाला वह राज्य था, जो विनयादित्य द्वारा सान्तरों के क्षेत्र पर किये जाने वाले मार्ग के बीच में पड़ता था और उसे विजित किये बिना आगे (उत्तर की ओर) बढ़ना असंभव था। फलतः, गंगों ने होयसड़ों की अधिसत्ता स्वीकार कर ली और विनयादित्य की पौत्री (एरियंग की पुत्री) का विवाह भी एक गंग राजकुमार से कर दिया गया। किन्तु गंगों के विरुद्ध इस सफलता और उनके द्वारा चालुक्यों की छत्रछाया स्वीकार किये जाने के बावजूद भी विनयादित्य ने इस बात की बुद्धिमानी बरती कि उसने पूर्वी दिशा में अत्यन्त शक्तिशाली चोड़ सम्राटों को छेड़ने की कोई भूल नहीं की। १०६० ई० के बाद वाले अभिलेखों में उसे गंगवाडि ९६००० पर शासन करते हुए बताया गया है। तथापि यह भलीभाँति ज्ञात है कि उसने कभी भी उसके आधे भाग से अधिक पर शासन नहीं किया।

राजनीतिक और कूटनीतिक दृष्टि से विनयादित्य बहुत ही बुद्धिमान और कुशल प्रतीत होता है। अपने इन गुणों का परिचय वह चालुक्यवंश के सर्वशक्तिमान शासक प्रथम सोमेश्वर की राजनीतिक अधिसत्ता स्वीकार करते हुए उसके उत्तरदिशा की ओर लड़े गये युद्धों में भाग लेकर दिया। इसके ही कारण चालुक्य सत्ता को होयसड़ों की बढ़ती हुई राजनीतिक और सैनिक शक्ति से प्रथमतः कोई खतरा नहीं प्रतीत हुआ। अपनी मित्रता का प्रदर्शन करते हुए उसने अपनी एक पुत्री का विवाह भी प्रथम सोमेश्वर से कर [1]दिया।

होयसड़देवी नामक उसकी रानी द्वारा १०५५ ई० में कल्याणी में निवास करते हुए तुंगभद्रा नदी के किनारे पर स्थित मल्लिकेश्वर मंदिर को दान दिये जाने का उल्लेख

१. देखें, पीछे पृष्ठ १६१। यह निश्चित नहीं है कि होयसड़देवी विनयादित्य की पुत्री थी या बहिन।

प्राप्त होता[१] है। विनयादित्य चालुक्य सम्राट् के उन महासामन्तों में गिना गया है, जिसे **समधिगतपञ्चमहाशब्द महामण्डलेश्वर** की उपाधि दी गयी है, जो १०७४ ई० के बाद उसके अभिलेखों में बराबर मिलती है।

वास्तव में उस समय की तमिलनाडु, कर्नाटक और मालवा की राजनीति में तेजी से बारबार बदलाव हो रहे थे। उनमें अपने-अपने लाभ को देखते हुए उनके शासकों और उनके समर्थकों तथा अधीनस्थों को अपने लिए पक्षविपक्ष चुनने की आवश्यकता थी। उस कसौटी पर विनयादित्य खरा उतरा। जिस भोज की राजधानी धारानगरी को प्रथम सोमेश्वर के सेनापति ने लूटकर जला डाला था, उसी भोज के उत्तराधिकारी जयसिंह ने द्वितीय सोमेश्वर के भाई विक्रमादित्य का साथ देना प्रारंभ कर दिया। फलतः, द्वितीय सोमेश्वर को विनयादित्य की सहायता लेनी पड़ी। विनयादित्य के पुत्र एरियंग ने उस चालुक्य सम्राट् की ओर से धारा पर आक्रमण करके उसे लूटा और जला डाला, जिससे होयसड़ों की प्रतिष्ठा में काफी वृद्धि हुई। धारा पर किये गये इस आक्रमण का समय निश्चितरूप से ज्ञात नहीं है। संभवतः इसी अभियान में उसने[२] चक्रकोट्ट, कलिंग और बालेयपट्टन को भी जीता। बालेयपट्टन और कलिंग की विजयों से ऐसा प्रतीत होता है कि उसने पूर्वी समुद्र के उन छोरों को भी छू लिया, जो पूर्वी चालुक्यों के अधिकार में थे।

किन्तु विनयादित्य ने ज्योंही षष्ठ विक्रमादित्य को अपने बड़े भाई द्वितीय सोमेश्वर के विरुद्ध सफल होते हुए देखा, त्योंही वह पाला बदलकर विक्रमादित्य का साथ देने लगा[३]। विक्रमादित्य की ओर से उसने चोड़राज, प्रथम कुलोत्तुंग, के विरुद्ध युद्ध में भाग भी लिया। इन युद्धों में उसके पुत्र एरियंग के साथ उसका पौत्र विष्णुवर्धन भी कई बार रहा था। उसे जननाथपुर (विजयवाड़ा अथवा वेंगी अथवा राजमुहुन्द्री) की विजय का श्रेय दिया गया है। इस घटना का समय क्या था, इसकी ठीक ठीक जानकारी नहीं है। किन्तु इतना निश्चित है कि यह युद्ध विक्रमादित्य की ओर से चोड़ों के नामांकित वेंगी के गवर्नर के विरुद्ध लड़ा गया था[४]। चालुक्यों के चोड़ों के विरुद्ध इन युद्धों में अपने पुत्र एरियंग और पौत्र विष्णुवर्धन के माध्यम से भाग लेकर विनयादित्य ने अपने भूक्षेत्रों में तो नहीं, किन्तु अपनी राजनीतिक और सैनिक प्रतिष्ठा में चार चांद अवश्य जोड़े होंगे।

विक्रमादित्य के शासन के प्रारंभिक वर्षों में ही विनयादित्य ने स्पष्टरूप से उसकी अधिसत्ता स्वीकार कर ली थी। १०८३ ई० के पूर्व से ही, विक्रमादित्य द्वारा १०७६ ई० में प्रारंभित **चालुक्य विक्रमवर्ष** अर्थात् सम्वत् का प्रयोग होयसड़ अभिलेखों में प्राप्त

---

१. याजदानी, दि अर्ली हिस्ट्री ऑफ् दि डेकन (भाग १-६) पृष्ठ ३४९।
२. एपि० कर्नाटिका, जिल्द ७, शिमोगा तालुका, ६४; जिल्द ५, बोलनगीर तालुका, ५८।
३. पी.बी. देसाई, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ २५२-२५३।
४. डेरेट, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ३०। संभवतः यह चोड़ गवर्नर विक्रम चोड़ था।

होता है। किन्तु विक्रमादित्य भीतर ही भीतर होयसड़ों की बढ़ती हुई सैनिक प्रतिष्ठा से अवश्य चिन्तित रहा होगा। चोंड़ों के बढ़ाव को रोकने हेतु विक्रमादित्य के छोटे भाई **महामण्डलेश्वर** जयसिंह ने होयसड़ क्षेत्रों से होकर १०८० ई० में अपनी सेनाओं का नेतृत्व किया। यह जयसिंह विक्रमादित्य का अनुज था। वह उस समय वनवासी और उसके पास में पड़ने वाले क्षेत्रों का चालुक्य गवर्नर था। ये चालुक्य क्षेत्र तुंगभद्रा नदी के दक्षिणी-पूर्वी भागों में होयसड़ राज्य के ठीक बगल (पश्चिम-दक्षिण) में पड़ते थे। संभवत: चोड़ो के विरुद्ध अभियानों में अपनी राजनीतिक सत्ता को बनाये रखने की दृष्टि से ही होयसड़ों को चालुक्यों के साथ ही रहने की विवशता झेलनी पड़ी। विनयादित्य की मृत्यु (१०९८ ई०) के तीन वर्षों बाद प्रकाशित किया जाने वाला एक अभिलेख[१] कुन्तलेश्वर (विक्रमादित्य) के प्रति की गयी उसकी सेवाओं का उल्लेख करते हुए उसका राज्यविस्तार पश्चिम से प्रारंभ कर तलक्काड़ तक (पूर्व के) सारे प्रदेशों पर बताता है।

विनयादित्य द्वारा सोमेश्वर (प्रथम तथा द्वितीय) एवं षष्ठ विक्रमादित्य के युद्धों में भाग लेने से होयसड़ों को अनेक अप्रत्यक्ष लाभ हुए। उसके पुत्रों तथा सेनापतिओं को जो अनुभव प्राप्त हुए, उनका प्रतिफल आगे होयसड़ शासन को मिला। होयसड़ क्षेत्रों में बाहर से भी अनेक प्रकार के आव्रजन हुए और वे सभी आव्रजक होयसड़ संस्कृति के संवाहक बने। विनयादित्य की प्रथम राजधानी सोसउर[२] थी, जहाँ से १०४७-४८ ई० में उसने किसी पारिवारिक सम्बन्धी को कुछ भूमिवृत्ति दी थी। किन्तु यह स्थान (सोसउर) अत्यन्त पर्वतीय और पश्चिम की ओर कोने में पड़ता था। अत: अपनी सत्ता और शक्ति के विस्तार के साथ उसने १०६२ ई० में[३] दोरसमुद्र (बेलूरके पास) अपनी नयी राजधानी स्थापित की, जो तत्कालीन व्यापारिक मार्गों के केन्द्र में पड़ती थी और पश्चिम के समुद्री तटों से भी संपर्क में थी। डेरेट के मत में बेलूर और दोरसमुद्र को जोड़ने वाली उस समय एक नहर थी जो यागची नदी से राजधानी को पानी पहुँचाती थी। पानी प्राप्त करने की इस विकसित व्यवस्था से यह भी निष्कर्ष निकलता है कि बेलूर और दोरसमुद्र की तत्कालीन जनसंख्या खासी बड़ी रही होगी। यदि होयसड़ शासक इन नहरों अथवा झीलों के निर्माण और रखरखाव का प्रबन्ध करते थे, तो उससे उनके पास एक संगठित शासन व्यवस्था के होने का भी सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। विनयादित्य के एक मंत्री ने अपने शासन के भीतर आने वाली भूमि के विकास की एक योजना १०६३ ई०

---

१. डेरेट, पृष्ठ ३३, और देखें, एपि० कर्नाटिका, जिल्द ५ बोलनगीर, ५८।

२. प्राचीन शशकपुर, जो आजकल के चिकमगलूर जिले का अंगडिह है।

३. डेरेट ने, वहीं, पृ० ३५, दोरसमुद्र के द्वारसमुद्र वाले रूपान्तर को गलत बताया है। वास्तव में 'दोर' या ढोर ध्रुव शब्द का प्राकृतरूप है और समुद्र का तात्पर्य वहाँ की उस विशाल झील अथवा तालाब से है जो किसी राष्ट्रकूट राजा ने निर्मित करायी थी। अत: दोरसमुद्र का अर्थ हुआ वह तालाब जो ध्रुव ने निर्मित कराया। दोरसमुद्र आजकल का हलेबिदु है।

में कार्यान्वित की थी। विनयादित्य ने कम से कम एक **अग्रहार** और एक जैनमठ को भूमिदान भी किया था। शान्तिदेव नामक उसके अत्यन्त सच्चरित्र और विद्वान् **गुरु** का भी उल्लेख प्राप्त होता है। उनके शिष्य गुणसेनपण्डितदेव भी होयसड़ राज्य में **गुरु** पद पर आसीन रहे[१]। इन उपर्युक्त विवरणों से ज्ञात होता है कि विनयादित्य का दरबार चालुक्य शासकों की राजनीतिक अधिसत्ता स्वीकार करने के बावजूद भी पूरी तरह राजदरबारी तामझाम से सज चुका था। उसके प्रशासकीय कार्यों के आवृत्त धीरे-धीरे बढ़ते ही जा रहे थे।

विनयादित्य १०९७-९८ ई० के आसपास मृत्यु को प्राप्त हो गया। उसका पुत्र एरियंग अगला होयसड़ शासक हुआ, किन्तु वह भी तीन चार वर्षों (११०२ ई०) के भीतर ही दिवंगत हो गया। तत्पश्चात् उसके दो योग्य पुत्र-प्रथमबल्लाल (११०२-११०८ ई०) और विष्णुवर्धन–क्रमशः शासक हुए।

इस बीच दक्षिण भारतीय राजनीति में अनेक परिवर्तन हुए। चोड़ शासक प्रथम कुलोत्तुंग के विरुद्ध चालुक्यों की प्रतिस्पर्द्धा अब केवल वेंगी और कलिंग तक ही सीमित हो गयी; और विक्रमादित्य को चोड़ों के विरुद्ध युद्धों में होयसड़ों की सैनिक सहायता की कोई आवश्यकता नहीं रही। वह मन ही मन उनकी बढ़ती हुई शक्ति से भी अप्रसन्न था। फलतः, मालवा के परमारशासक जगद्देव ने जब होयसड़ों पर मालवों की पुरानी पराजय का बदला लेने के लिए १०९३ ई० में आक्रमण किया तो विक्रमादित्य चुप लगा गया। इस युद्ध के जो विवरण होयसड़ अभिलेखों[२] में प्राप्त होते हैं, उन्हें नीलकान्त शास्त्री जैसे इतिहासकारों ने अतिरंजित, कल्पित और अस्वीकार्य माना[३] है। तथापि इंतना निश्चित है कि मालवा की सेनाओं को बिना किसी विशेष उपलब्धि के पीछे लौटना पड़ा।

प्रथम बल्लाल (११०२-११०८ ई०)

एरियंग के जेठे पुत्र प्रथम बल्लाल ने ११०२ ई० में जब शासन भार संभाला तो उसके सामने परमार आक्रमण के मनोवैज्ञानिक परिणामों से ऊपर उठकर चालुक्य सम्राट् षष्ठ विक्रमादित्य से अपने सम्बन्धों को नये सिरे से तय करने की समस्या थी। उसका छोटा भाई विष्णुवर्धन (प्रियनाम बिट्टिग) उसका समर्पित सहायक था और दोनों ही महत्त्वाकांक्षी तथा योग्य थे। उन्होंने अब चालुक्य अधिसत्ता का जुआ अपने कंधों से फेंककर पूर्ण स्वतंत्र और एक अग्रसर होने वाली सत्ता के रूप में उभरने का निश्चय कर लिया था। १२वीं शताब्दी के पहले दशक को उन्होंने अपनी सत्ता के पुनर्संगठन और दृढ़ीकरण हेतु लगाया। ११०२ ई० के आस-पास तुंगभद्रा नदी के किनारे वाले छोटे-

---

१. रिपोर्ट्स् ऑन् एपिग्राफी ऐण्ड आर्केलाजी, मैसूर, १९२९, ४१।
२. एपि० कर्नाटिका, जिल्द ५, कड्डलूर, ६९।
३. याजदानी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ३६०।

छोटे चालुक्यों के सामन्त राज्यों में विद्रोह के बीज पनपने लगे थे, जिनका लाभ उठाकर बल्लाल ने पाण्ड्यों की राजधानी उच्छंगी पर अपना अधिकार जमा लिया। यही नहीं, होयसड़ों ने तुंगभद्रा नदी को पारकर उत्तर और पश्चिम में कुछ चालुक्य क्षेत्रों पर भी अधिकार कर लिया। किन्तु उन्हें चालुक्यों के सिन्द देश के सामन्त शासक, आचुगी, ने पराजित कर दिया और गोवा से होते हुए उसने होयसड़ क्षेत्रों पर ही धावा बोल दिया। इस आगुची को **परमाडि** (परमर्दि) की उपाधि दी गयी है और यह कथित है कि वह दोरसमुद्र तक पहुँच गया। इस धावे का समय संभवत: १२वीं शताब्दी के द्वितीय दशक में कभी था। ११७९ ई० के एक अन्य अभिलेख में भी इस सिन्द-होयसड़ संघर्ष की चर्चा[१] आती है। यह भी अनुमानित है कि सिन्द-होयसड़ संघर्ष का एक दूसरा भी दौर चला था[२]। इन बाहरी धावों और स्वयं होयसड़ों के महत्त्वाकांक्षी अभियानों की अन्तत: असफलता के कारण दोरसमुद्र की सत्ता कुछ दिनों तक तिमिराच्छन्न हो गयी, जिसका नतीजा विष्णुवर्धन को भोगना पड़ा।

विष्णुवर्धन (११०८-११४२ ई०)

विष्णुवर्धन को बल्लाल के प्रति वैसे ही समर्पित बताया गया है, जैसे लक्ष्मण राम के प्रति थे। प्रथम बल्लाल प्रारंभ में तो जैनाचार्यों के प्रभाववश जैन धर्म का उपासक रहा था, किन्तु अन्त में वह पुन: शैव बन गया। किन्तु जैनों द्वारा शिक्षित-दीक्षित और प्रभावित होने के बावजूद भी विष्णुवर्धन वैष्णवधर्म में ही प्रवृत्त रहा। बल्लाल को कोई पुत्र नहीं था। अत: विष्णुवर्धन ही उसका उत्तराधिकारी हुआ।

विष्णुवर्धन[३] एक बड़ा विजेता सिद्ध हुआ और राजगद्दी संभालने के ५-६ वर्षों के भीतर ही उसने अनेक छोटे-छोटे राज्यों तथा चोड़ राज्य के अनेक उत्तरी और पश्चिमी क्षेत्रों पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। किन्तु इस सम्बन्ध में जो अनेक अभिलेख प्राप्त होते हैं, उनके सभी साक्ष्यों का तारतम्य बैठाना अथवा उनकी सत्यता की परख कर सकना बहुत ही कठिन प्रतीत होता है। चालुक्य सम्राट् और स्वयं होयसड़ों की अधिसत्तात्मक सत्ता का भोगी, षष्ठ विक्रमादित्य, अब भी शक्तिशाली था। किन्तु उसका अधिकांश ध्यान अब युद्धों की ओर से हटकर शान्तिकार्यों की ओर लग चुका था। उसके परामर्शदाता बार-बार उसे विष्णुवर्धन से सावधान रहने की सलाह देते रहे थे[४]। इस

---

१. इस सम्बन्ध में देखें, एपि० कर्नाटिका, जिल्द ७, शिमोगा ३७; एपि० इण्डिका, जिल्द १९, पृष्ठ २२७।

२. डेरेट, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ४१।

३. डेरेट, वहीं, पृष्ठ ४४, के अनुसार विष्णुवर्धन ११०९ ई० में राज्यासीन हुआ, क्योंकि उसी वर्ष से उसके अभिलेखों का प्रकाशन प्रारंभ होता है।

४. रा० गो० भण्डारकर, दि अर्ली हिस्ट्री ऑफ् दि डेकन, पृष्ठ २१९; नीलकान्त शास्त्री, (याजदानी) पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ३६१।

सम्बन्ध की चर्चा करने वाला सबसे बाद का उल्लेख ११९२ ई० का द्वितीय बल्लाल का गडग अभिलेख[१] है, जो कहता है कि विष्णुवर्धन ने जगद्देव को गद्दी से उतारकर उसके भाई को वहाँ का राजा बनाया, उच्छंगी सहित कई देशों पर धावा बोला, अपनी राजधानी (दोरसमुद्र) से प्रारंभकर बेलबोला तक के सभी प्रदेशों पर अधिकार कर लिया और अपने घोड़ों को कृष्णवेणा (कृष्णा) नदी में नहलाया। इसकी व्याख्या करते हुए नीलकान्त शास्त्री ने यह निश्चय [२]किया है कि मालवनरेश जगद्देव के विरुद्ध उसकी सफलता तो उसके शासन के प्रारंभ होने के पूर्व ही प्राप्त हो चुकी थी। उसकी अन्य विजयों का समय उसके शासन के प्रारंभ होने के ५-६ वर्षों के भीतर वाला ही था। इन युद्धों के समय गंगवाडि और नोड़म्बवाडि के शासकों ने, संभव है, उसकी सहायता की हो, क्योंकि वे दोनों ही राज्य होयसड़ों से वैवाहिक सम्बन्धों से बंधे हुए थे। विष्णुवर्धन ने १११६ ई० में चन्दला देवी नामक किसी कोंगालव राजकुमारी से विवाह करके कोंगालवराज्य के शासक को भी अपनी ओर मिला लिया।

विष्णुवर्धन का अगला लक्ष्य पूर्व और दक्षिण दिशा की ओर बढ़ते हुए तुंगभद्रा के पार वाला चोड़ क्षेत्र था। संयोग से प्रथम कुलोत्तुंग का अधिक ध्यान वेंगी के अपने अधिकार वाले क्षेत्रों को चालुक्य शासक विक्रमादित्य के सैनिक दबावों से बचाने की ओर ही था और वह विष्णुवर्धन के प्रति उतना सतर्क नहीं था। विष्णुवर्धन ने अपने गंगराज नामक सेनापति को चोड़ों के विरुद्ध मोर्चा खोल देने का आदेश दिया। उसने तलक्काड़ होते हुए उत्तरदिशा की ओर कृष्णा नदी के दक्षिणी किनारे को लक्ष्य करते हुए चोड़ सेनाओं के विरुद्ध अभियान किया। चोड़ सेनापतिओं ने कृष्णा नदी को पारकर अपना मोर्चा स्थापित किया, वह सैनिक दृष्टि से गलत साबित हुआ, क्योंकि युद्ध में पराजित होने के बाद पीछे हटने में उन्हें बड़ी हानि उठानी पड़ी। चोड़ सेनापति अडियम् हारा और कदाचित् मारा गया। होयसड़ों ने तलक्काड़ के किले पर अधिकार कर अपना बढ़ाव पूर्व की ओर जारी रखा और चोड़ों के दो अन्य प्रान्तपति भी पराजित हुए। उनमें एक का नाम था दामोदर जो काञ्ची की ओर भाग गया और दूसरा था नरसिंहवर्मा जो मारा गया। इन दोनों ने अडियम् की कोई मदद नहीं की थी, जिसका फल उन्हें प्राप्त हुआ। इस युद्ध के विवरण और गंगराज की प्रशस्ति, ११७८ ई० के एक होयसड़ अभिलेख[३] में प्राप्त होती है। एक कन्नड़ अभिलेख में तो यहाँ तक कथित[४] है कि विष्णु (विष्णुवर्धन) द्वारा मारे गये चोड़ सैनिकों के शवों के कारण कृष्णा नदी का जल इतना अपवित्र हो गया कि राजेन्द्र

---

१. इऐ०, जिल्द २, पृष्ठ ३००।
२. याजदानी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ३६१।
३. उद्धृत, डेरेट, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ५०; और देखें, पी०बी० देसाई पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ २५६।
४. उद्धृत, डेरेट, पृ० ५०-५१।

(कुलोत्तुंग) ने उसका जल पीना बन्द करके केवल कुएँ का जल ही पीना शुरू कर दिया। विष्णुवर्धन ने कोलालपुर (कोलार) और नंगलि होते हुए काञ्ची तक के चोड़ प्रदेशों पर अधिकार कर लिया। सम्बद्ध विवरणों से ज्ञात होता है कि कृष्णा नदी के दक्षिणी किनारे पर स्थित अनेक स्थानों पर होयसड़ों ने अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया।

संभवत: मदुरै (मदुराई) के पाण्ड्य शासक को भी किसी युद्ध में विष्णुवर्धन के हाथों पराजय झेलनी पड़ी। चूंकि पाण्ड्य राज्य चोड़ों का ही अधीनस्थ था, यह युद्ध चोड़ों की ओर से लड़ा गया होगा। किन्तु होयसड़ अभिलेखों का यह कथन कि विष्णुवर्धन ने दक्षिण में आसमुद्र शासन किया, केवल एक अतिरंजनापूर्ण प्रशस्ति मात्र प्रतीत होता है, जिसका कोई ऐतिहासिक आधार नहीं ढूँढ़ा जा सकता।

होयसड़ों की इन सफलताओं से विक्रमादित्य के मन में उनकी महत्त्वाकांक्षाओं के प्रति शंकाओं का उत्पन्न होना अत्यन्त स्वाभाविक प्रतीत होता है। उसने अपने को आश्वस्त करने हेतु अपनी दक्षिण दिशा की एक यात्रा में (१११७ ई०) विष्णुवर्धन को अपने सामने उपस्थित होने को बुलाया[1]। विष्णुवर्धन ने प्रत्यक्षत: अपना कोई विरोध न जताते हुए उससे मिलने में कोई देर नहीं की। किन्तु दोनों के बीच क्या गुजरी, इसका कोई ज्ञान नहीं है। किन्तु इतना निश्चित प्रतीत होता है कि पारस्परिक अविश्वास दूर नहीं हुआ और दोनों ही पक्ष अपने अपने उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु अपने-अपने प्रयत्नों में लगे रहे। विष्णुवर्धन भी अपनी साम्राज्य प्राप्ति के प्रयत्नों से विरत नहीं हुआ। सम्भवत: १११७ ई० में **त्रिभुवनमल्लदेव** की कल्याणी के चालुक्यों वाली साम्राज्यसूचक उपाधि उसने धारण कर ली। तलक्काड़ की विजय के बाद वहाँ उसने निवास करते हुए चार गांवों का दान दिया और भगवान कीर्त्तिनारायण (विष्णु) को समर्पित करते हुए एक तालाब का निर्माण भी कराया। चोड़ों से छीने गये क्षेत्रों पर उसने अलग-अलग कई शासनाधिकारिओं की नियुक्ति भी की[2]। इसी योजना के अन्तर्गत कोलार में विष्णुवर्धन का छोटा भाई उदयादित्य शासकरूप में प्रतिष्ठित किया गया।

१११८ ई० मे विष्णुवर्धन ने अपने **दण्डनायक** गंगराज के माध्यम से चालुक्यों के अनेक सामन्तों और अधीनस्थों के विरुद्ध सैनिक अभियान छेड़ दिया[3]। उसने चालुक्य-राज की समर्थक सेनाओं के विरुद्ध १११८ ई० में कन्ने(ड्डे)गाल में विजय प्राप्तकर तुंगभद्रा नदी को पारकर सीधे उत्तरी दिशा के मुख्य चालुक्यक्षेत्रों पर धावा बोल दिया। उधर दूसरी ओर स्वयं विष्णुवर्धन ने भी उच्छंगी के पाण्ड्यों और दक्षिण दिशा के चोड़ों के क्षेत्रों को दुबारा रौंदा। किन्तु उसके अपने मूल पहाड़ी क्षेत्रों के आसपास वाले अन्य

---

१. डेरेट, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ५४।
२. वहीं, पृष्ठ ५५।
३. एपि० कर्नाटिका, जिल्द, २ (२७३ (५९); १२५ (४५)।

छोटे-छोटे राज्य बहुत शान्त नहीं रहे और समय-समय पर उनके होने वाले उपद्रवों के कारण इन होयसड़ विजयों को कोई स्थायित्त्व नहीं प्राप्त हो सका[1]। चोड़ शासक ने भी पुनः अपने अनेक विजित प्रदेश वापस जीत लेने में सफलता पा ली।

कन्ने(ड्डे)गाल की विजय से विष्णुवर्धन के मनसूबे और ऊँचे उठने लगे। उसने कदम्ब राज्य के हांगल किले पर धावा बोलकर उसे जीत लिया। विष्णुवर्धन की इन सफलताओं से उत्साहित होते हुए उच्छंगी के पाण्ड्यों और गोवा के कदम्बों ने भी चालुक्यों की आधिसत्ता के बोझ को उतारकर अपनी स्वतंत्रता घोषित कर दी। इन सारी घटनाओं के कारण षष्ठ विक्रमादित्य को पानी अपने सिर के ऊपर बहते हुए अवश्य दिखायी दिया होगा और उसने पुनः एक बार अपने सामन्तों के साथ अपनी सारी शक्ति जुटाकर विष्णुवर्धन को सीमित करने का उपक्रम प्रारंभ कर दिया। सिंदवंश के द्वितीय आचुगी और उसके पुत्र परमाडि (**परमर्दि**) उसके प्रमुख सहायक सिद्ध हुए। आगे होने वाले युद्ध में विष्णुवर्धन को न केवल अपने जीते हुए प्रदेश छोड़ने पड़े, अपितु अपने मूल राज्य को बचाने की ही नौबत उसके सामने आ पड़ी। सिन्दवंश के अभिलेखों से ज्ञात होता[2] है कि द्वितीय आचुगी ने होयसड़ों को पराजित करते हुए गोवा को जीत लिया; लक्ष्मण को युद्ध में मार डाला; पाण्ड्यों का वीरतापूर्वक पीछा किया; मालेपों को भाग जाने को विवश किया और कोंकण को जीत लिया। यह भी कथित है कि उसके पुत्र परमाडि ने होयसड़ों का पीछा करते हुए दोरसमुद्र तक को घेर लिया। यह सब कुछ ११२२ ई० में घटित हुआ।

११२७ ई० में विक्रमादित्य की मृत्यु हो गयी। तत्पश्चात् चालुक्य राज्य का क्रमिक अवरोह प्रारंभ हो गया और उसके अनेक सामन्त राज्य पूर्ण स्वतंत्र होने का प्रयत्न करने लगे। फलस्वरूप, जो अव्यवस्था और आपसी युद्ध-प्रतियुद्ध हुए, उनमें स्वयं विष्णुवर्धन के फंसे होने के कारण होयसड़ों द्वारा प्राप्त पूर्व की विजयों का कोई लाभ नहीं हुआ। उसे चालुक्यों की अधिसत्ता माननी पड़ी। उन युद्धों-प्रतियुद्धों की संख्या इतनी है और उनके ब्यौरे इतने अधिक[3] हैं कि उनका कोई संक्षिप्त उल्लेख भी यहाँ अनावश्यक प्रतीत होता है।

नरसिंह और द्वितीय बल्लाल (११४२-११७३ ई०)

विष्णुवर्धन के जीवन का अन्तिम दशक (१२वीं शताब्दी का चतुर्थ दशक) बहुत

---

१. इस तिथि (१११८ ई०) के बाद भी चित्रदुर्ग जिले में चालुक्यों के अनेक अभिलेख प्राप्त होते हैं, जिनसे उन क्षेत्रों पर उनके अधिकार के बने रहने के प्रमाण प्राप्त होते हैं। देखें, एइ० जिल्द १७, पृष्ठ ११७; जिल्द १३, पृष्ठ ३०१ और आगे।

२. पी०बी० देसाई, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ २५७-२५८।

३. देखें, डेरेट, पृष्ठ ७५-७९।

सुखमय नहीं बीता। उसका तबतक का एकमात्र पुत्र बल्लाल (प्रथम) ११३०-११३१ ई० के आस पास कभी अकालकालकवलित हो गया। वह बहुत ही योग्य और कर्मठ था। विष्णुवर्धन द्वारा राजधानी से बाहर रहकर चालुक्यों और चोड़ों के विरुद्ध तथा आसपास के छोटे छोटे राजेराजवाड़ों के विरुद्ध युद्धों में रत रहते समय अपने मूल क्षेत्र (होयसड़नाड) तथा राजधानी दोरसमुद्र द्वारा प्रत्यक्षत: शासित क्षेत्रों का शासन बल्लाल के ही कंधों पर था। यदि वह जीवित रहता तो सचमुच विष्णुवर्धन को अपने ही जैसा एक योग्य उत्तराधिकारी प्राप्त हुआ होता। किन्तु उसकी मृत्यु ने होयसड़ इतिहास की उन्नतिशील गति पर विराम लगा दिया। यह तो विष्णुवर्धन का सौभाग्य ही था कि उसकी महारानी (प्रियरसी) लक्ष्मीमहादेवी ने ११३३ ई० में एक और पुत्र को जन्म दे दिया, जो नरसिंह कहलाया। विष्णुवर्धन ने उसे अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया और उसे राजमुकुट भी पहना दिया। उसी समय उसने उसके नाम पर शासन चलाने हेतु एक संरक्षक समिति की व्यवस्था भी कर डाली, जिसने उसकी मृत्यु के बाद भी बालक राजा की सभी प्रकार से रक्षा और सेवा[1] की।

विष्णुवर्धन को वनवासी १२००० तथा हाडूनगल ५०० पर शासन करते हुए बताया गया[2] है। किन्तु उसने कभी भी पूरे वनवासी क्षेत्र पर शासन नहीं किया। वहाँ के गंगों के विद्रोहों का उसे सामना भी करना पड़ा। तथापि उसे **वीरगंगकदम्ब** की उपाधि उसके अभिलेखों में दी गयी है। ११४२ ई० में जब विष्णुवर्धन की मृत्यु हुई तो नरसिंह तबतक केवल आठ वर्षों का एक बालक मात्र था। किन्तु अपने दण्डनायकों और अन्य बड़े अफसरों तथा संरक्षक समिति की सहायता से राज्यभार उसने संभाल लिया। उसकी मां लक्ष्मीमहादेवी उन राजभक्तों में सबसे आगे रही होगी। किन्तु वास्तव में राज्यशासन चलाने का काम कुछ विश्वासप्राप्त मंत्रिओं पर ही रहा होगा। नरसिंह को **जगद्देकमल्ल** की उपाधि उसके पिता विष्णुवर्धन ने ही दे रखी थी। यह वास्तव में कल्याणी के चालुक्य शासकों की ही उपाधि थी, जिसे अपनी स्वतंत्र और कुछ हद तक साम्राज्यसूचक महत्त्वाकांक्षा के कारण विष्णुवर्धन ने अपना रखी थी।

किन्तु नरसिंह का ३० वर्षों का शासनकाल विष्णुवर्धन की अनेक उपलब्धियों को खोये जाने वाला काल ही माना जाता है। तुंगभद्रा नदी के उत्तर और दक्षिण वाले चालुक्यों के उन अनेक सामन्तक्षेत्रों को तृतीय सोमेश्वर ने पुन: वापस जीत लिया और वहाँ अपने प्रशासकों (दण्डनायकों) की नियुक्ति कर दी, जिन्हें विष्णुवर्धन ने अपने युद्धों द्वारा हथिया लिया था। इनमें बंकापुर नगर भी शामिल था, जो विष्णुवर्धन द्वारा अपनी सैनिक छावनी

---

१. यह पूरा प्रकरण डेरेट की पुस्तक (दि होयसड़ज़्) के आधार पर (पृष्ठ ६६) ही दिया गया है।

२. एपि० कर्नाटिका, शिकारपुर तालुका, सं० ४१४।

के रूप में परिवर्तित किया जा चुका था। किन्तु जब इन सामन्तों में ही चालुक्यों की कमजोरी के कारण आपसी युद्ध छिड़े, तब भी नरसिंह के पास वह शक्ति नहीं थी कि वह उस स्थिति का फायदा उठाकर पुन: वहाँ होयसड़ सत्ता स्थापित कर सकता। दक्षिण में वीर पाण्ड्य (मदुरै के शासक) ने भी पुन: चालुक्यों की अधिसत्ता स्वीकार कर ली। वास्तव में नरसिंह का शासनकाल विद्रोहों, अनवरत सामन्तों से उसके युद्धों, उन कई युद्धों में उसकी हार और शासन की शिथिलता का ही युग रहा[१]।

ऐसा प्रतीत होता है कि नरसिंह ने अपने पास-पड़ोस की राजनीति में केवल इसी कारण हिस्सा नहीं लिया कि उसमें व्यक्तिगत योग्यता, साहस और राजनीतिक दूरदृष्टि की कमी थी। उसका एक दूसरा कारण कदाचित् यह भी था कि वह पूरी तरह एक स्वस्थ व्यक्ति नहीं था। इसी कारण उसे अपने बड़े पुत्र बल्लाल (द्वितीय) और अपनी रानी महादेवी (बल्लाल की माता) को बहुत से शासकीय अधिकार दे देने पड़े। किन्तु बल्लाल ज्यों ज्यों बड़ा होता गया, उसे अपने पिता के निकम्मेपन और राजनीतिक अयोग्यता अखरने लगी, और अपने समय के राजदरबारी बड़े-बूढ़ों द्वारा सुनायी जाने वाली अपने पितामह, विष्णुवर्धन, के महान् कार्यों की कहानियाँ उसे और भी उत्प्रेरित करने लगीं। वह अपनी छोटी अवस्था में भी कलचुरि विद्रोहिओं के साथ होने वाले संघर्षों में भाग लेने चला गया था। उससे उसे राज्यत्त्व के महत्त्व का भान अवश्य हुआ होगा। वह जब चौदह वर्ष का था तभी से (११६४ ई० के आसपास) वह प्रशासन के कार्यों से सम्बद्ध हो गया था। ११६५ ई० में **कुमार** के रूप में उसने राज्यशासन चलाना प्रारंभ कर दिया। ११६७ ई० में वह अपनी माता (महादेवी) के साथ मानों एक संरक्षक मण्डल का प्रधान ही बन गया। इसी बीच होयसड़ राज्य पर उत्तरी दिशा से अनेक आक्रमण हुए, जिनसे बल्लाल अवश्य ही उद्विग्न हुआ होगा। फलत:, उसने शासन का अधिकाधिक भार अपने ऊपर लिया। ११६८ ई० के आते आते उसने अनेक उपाधियाँ-**विष्णुवर्धनकुमार** और **वीरबलाल होयसड़देव**–धारण कर लीं। ११७२-११७३ ई० तक कदाचित् नरसिंह को स्वयं ही राजगद्दी का त्याग उसके पक्ष में कर देना पड़ा और पिता-पुत्र का एक सहराज्य जैसा शासन प्रारंभ हो गया। इसमें वास्तविक सत्ता तो वीर बल्लाल की ही रही, किन्तु नाममात्र का राजा नरसिंह बना रहा[२]। ११७३ ई० में वीर बल्लाल (द्वितीय) ने विधिवत् अपना राज्याभिषेक कराया और धूमधाम के साथ उसमें खूब जशन मनाते हुए खूब खर्च किया।

वीर बल्लाल (द्वितीय) (११७३-१२२० ई०)

द्वितीय बल्लाल अपने वंश का सर्वशक्तिमान्, यशस्वी और सर्वप्रभुतासम्पन्न शासक सिद्ध हुआ। राजनीतिक कौशल, वीरता और प्रशासन की बारीकियों के ज्ञान से

१. डेरेट, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ७०-७४।
२. डेरेट, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ७७-७९।

सम्पन्न तो वह था ही, अपनी और अपने वंश की प्रतिष्ठा के प्रचार में भी वह सबसे आगे था। उसके समय में होयसड़ों के अभिलेख सर्वाधिक संख्या में लिखे गये, जिनमें उसकी प्रतिष्ठा के गीत बढ़चढ़कर गाये गये। अपने वंश के पूर्व के शासकों से अपने को अलग दिखाते हुए, उसने अपने को **'वीर'** कहना प्रारंभ कर दिया, जिसे एक विरुद के रूप में उसके उत्तराधिकारिओं ने भी अपना लिया। उसके पितामह विष्णुवर्धन ने अपने राज्य को एक पूर्ण स्वतंत्र अस्तित्व देने का जो असफल प्रयत्न किया था, उसे बल्लाल ने अपनी तार्किक परिणति को पहुँचाते हुए समकालिक सत्ताओं के बीच एक प्रतिष्ठापूर्ण स्थान दिलाया। उत्तर दिशा में चालुक्यों की ढहती हुई सत्ता की कीमत पर उसने होयसड़ सीमाएँ काफी दूर तक बढ़ा लीं और पूरब में चोड़ राजवंश से वैवाहिक सम्बन्धों द्वारा मित्रता स्थापितकर उधर से अपने क्षेत्रों को पूरी तरह संरक्षित कर लिया।

बल्लाल की प्रतिष्ठा और विजयों को गाने वाला उसका एक अभिलेख तो उसके प्रत्यक्ष शासन के दूसरे वर्ष (११७३ ई०) का ही है। उसमें उसे "तुल्वसेना के लिए वड़वानल;-----पाण्ड्यवंश रूपी पर्वत पर गिरती हुई बिजली के समान; चोड़ शिविर को लूटने वाला; युद्धभूमि का भीम; कलियुग का काम और प्रशस्तिकारों को प्रसन्न करने वाला[१]" बताया है।

किन्तु वीर बल्लाल द्वारा होयसड़ राजगद्दी संभालने के पूर्व जो अव्यवस्था उत्पन्न हुई थी, और जिसके फलस्वरूप पासपड़ोस के अनेक पराजित क्षेत्रों में विद्रोह उत्पन्न होने लगे थे, उन्हें दबाने हेतु ११७४ और ११७५ ई० में बल्लाल को अनेक अभियान छेड़ने पड़े। इस बीच चेंगाड़व और कोंगाड़व के विद्रोह दबाये गये। उसके दो वर्षों के भीतर ही बल्लाल ने उच्छंगी के पाण्ड्य राजा पर धावा बोलकर (११७७ ई०) उसके किले (राजधानी उच्छंगी) पर अधिकार कर लिया। किन्तु बल्लाल ने पाण्ड्यराज्य को होयसड़ राज्य में आत्मसात न करके इस बात की बड़ी बुद्धिमानी बरती कि उसने पराजित शासक कावदेव (कामदेव) द्वारा अपनी अधिसत्ता स्वीकार कराकर उसे ही पुन: वहाँ पुनर्स्थापित कर दिया। पाण्ड्य राज्य पर बल्लाल की इस विजय के अतिरंजनात्मक और अत्यन्त अधिक प्रशंसात्मक उल्लेख उसके कन्नड़भाषी अभिलेखों में प्राप्त होते हैं[२]। यहाँ तक कथित है कि उसने हिमालय से सेतु (रामेश्वरम्) तक के सारे प्रदेशों पर एकछत्र अधिकार कर लिया। इसकी अतिरंजना स्पष्ट है।

किन्तु बल्लाल की असली परीक्षा तो तुंगभद्रा के उत्तर की ओर उन क्षेत्रों में होनी थी, जो पूर्वत: चालुक्य साम्राज्य के अंग रह चुके थे और अब भी नाममात्र की उसकी अधिसत्ता स्वीकार करते थे। चालुक्यों के ढलते हुए प्रताप के साथ ही दो नयी सत्ताएँ

---

१. डेरेट के अंग्रेजी अनुवाद का हिन्दी रूपान्तर, देखें, दि होयसड़ज़् पृष्ठ ८०।
२. डेरेट, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ८२।

उदित हो रही थीं-एक सेउणदेश के यादवों की और दूसरी कलचुरिओं की। कलचुरिओं और होयसड़ों के बीच में गंगवाडि का क्षेत्र था, जिसके पास ही नोड़म्बवाडि का क्षेत्र था। इनको अधिकृत करने हेतु पहले चालुक्यों और चोड़ों के बीच बराबर भिड़न्तें होती रहती थीं और बाद में चालुक्य और होयसड़ शासक उनके लिए आपस में भिड़ने लगे। बीच-बीच में वे क्षेत्र स्वतंत्र भी हो जाते रहे।

११७८ ई० में बल्लाल ने वनवासी पर धावा बोलकर हांगल के किले पर अधिकार कर लिया और वहाँ से आगे बेलबोला पर चढ़ जाने की तैयारी करने लगा[१]। किन्तु उसे कलचुरि शासक संकम के भीषण प्रतिरोध का सामना करना पड़ा। कलचुरिओं ने मुलगुण्ड के उत्तर में अन्नेगिरि के पास एक विशाल मोर्चा स्थापित कर रखा था। फलतः, बल्लाल की सेनाओं को वापस कूच करना पड़ा। उसे केवल हेज्जेरु के चोड़ शासक से अपनी अधिसत्ता स्वीकारमात्र करा लेने से संतुष्ट रहना पड़ा। किन्तु अप्रत्यक्ष रूप से उसे कलचुरिओं की अधिसत्ता कुछ समय के लिए स्वयं भी स्वीकार करनी पड़ी।

कुछ दिनों तक अपनी राजधानी में निवास कर चुकने के बाद ११७८ ई० की वसन्तऋतु में उसने अपना विजय अभियान पुनः प्रारंभ किया और हानुंगल पर अधिकार कर लिया। आगे वह हलसिंगे और बेलबोला की ओर बढ़ा, जो उसके पितामह विष्णुवर्धन द्वारा बार-बार आक्रामित किये जा चुके थे। चोड़ मल्लिदेव के राज्य में तो उसका अधिकार पूरी तरह स्थापित हो गया, जो उसकी ११७८ ई० की एक प्रशस्ति से प्रमाणित होता है[२]।

वनवासी, बेलबोला, चोड़-नाडु और पाण्ड्य की विजयों तथा वहाँ बल्लाल की सेनाओं के उपस्थित रहने से कलचुरि सम्राट् संकम को मानों उसपर आक्रमण करने का एक निमंत्रण सा मिल गया। उसने होयसड़ों की दक्षिणी-पूर्वी दिशाओं से उसपर ११७९ ई० में धावा बोल दिया। वह अपने तीन दण्डनायकों के साथ बलिगावे तक पहुँच गया। होयसड़ सेनाएँ कई मैदानों में मात खायीं और स्वयं बल्लाल को दोरसमुद्र भागना पड़ा। संकम अपने सेनापतिओं की विजयों से प्रसन्न होते हुए उत्तर की ओर अपने क्षेत्रों को लौट गया और उसने यह समझ लिया कि होयसड़ समाप्त हो गये। उसने मुख्य होयसड़नाड़ को आक्रामित नहीं किया[३]।

उस समय की राजनीतिक स्थितियाँ भी बल्लाल की महत्त्वाकांक्षाओं की सिद्धि में सहायक सिद्ध हुईं। कलचुरि शासक संकम ने दक्षिण और दक्षिण–पूर्व में होयसड़ों से एक अघोषित संधि सी कर ली[४], जिसका कारण था चालुक्य शासक चतुर्थ सोमेश्वर द्वारा

---

१. पी० बी० देसाई, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २६३।
२. डेरेट, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ८३।
३. वहीं, पृष्ठ ८४।
४. वहीं, पृ० ८५।

अपनी खोयी हुई प्रतिष्ठा पुन: प्राप्तकर अपने अनेक सामन्तों की सहायता से चालुक्य साम्राज्य की अधिसत्ता एक बार और स्थापित कर देने वाले प्रयत्न की सफलता। कलचुरिवंश के संकम और उसके पिता बिजणण के समय चालुक्य राजाओं के इन कलचुरि सामन्तों ने ही उसके समस्त दक्षिणी भागों पर अधिकार कर कुछ वर्षों के लिए साम्राज्यसत्ता अपने हाथों में हथिया ली थी। चालुक्य साम्राज्य के उत्तरी भागों में भी सेउणदेश (बाद में देवगिरि) के यादव वंश वाले जो उनके सामन्त थे, वे भी उन प्रदेशों पर क्रमश: अधिकार जमाते जा रहे थे। फलत:, चालुक्यों की अल्पकालिक कमजोरी के कारण उनका साम्राज्य मानों इन दोनों नवोदित सत्ताओं ने आपस में बांट सा लिया। यादव शासक पञ्चम भिल्लम ने दक्षिण की ओर अपना दबाव जारी रखा और संकम को विवश होकर बल्लाल की बढ़ती हुई शक्ति से समझौता करके यादवों के विरुद्ध अभिमुख होना पड़ा। अब बल्लाल को दक्षिण दिशा में खुला मैदान मिल गया[१]।

किन्तु कुछ ही दिनों में भिल्लम के उत्तर की ओर से होने वाले दबाव के कारण चालुक्य सत्ता प्राय: समाप्त सी हो गयी[२] और अब बल्लाल तथा भिल्लम आमने-सामने हो गये। भिल्लम के ११८४ ई० के एक चालुक्यविरोधी सैनिक अभियान के कारण सोमेश्वर को अपनी कल्याणी वाली राजधानी छोड़कर दक्षिण दिशा की ओर भागकर जयन्तीपुर अर्थात् वनवासी में शरण लेनी पड़ी[३], जहाँ उसके मित्र रहे सामन्तवंश वाले कदम्बों का राज्य था।

वीर बल्लाल ने इस परिस्थिति का लाभ उठाते हुए उत्तर की ओर अपना बढ़ाव प्रारंभ कर दिया और हल्लूर (धारवाड़ तालुका में हिरेकेरूर) पर अधिकार कर लिया। यह स्थान सैनिक मोर्चेबन्दी हेतु उसके लिए बहुत ही अनुकूल था। वहाँ कुछ वर्षों तक अपना स्थायी निवास बनाकर उसने उत्तर में और भी आगे पैर पसारते हुए ११८९ ई० के आते आते बेलबोला पर अधिकार जमा लिया।

इस बीच चालुक्य साम्राज्य की नाममात्र की सत्ता धीरे धीरे चतुर्थ सोमेश्वर की कमजोरी और शिथिलता के कारण क्रमश: तिरोहित ही होती गयी। उसने यादवों से समझौता कर लेने के व्यर्थ प्रयत्न किये और अपने अन्य सामन्तों को साथ रखने की भी असफल कोशिशें कीं। किन्तु उसे कोई लाभ नहीं मिला। पूर्व दिशा में वे काकतिय भी स्वतंत्र हो गये, जो पूर्वत: उसके वंश की अधिसत्ता स्वीकार करते थे। दक्षिण-पूर्व के

---

१. वहीं; पी०बी० देसाई, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २६३।

२. इऐ०, जिल्द २, पृष्ठ ३००। व्रतखण्ड की भूमिका (श्लोक ३८) में कथित है:–
यो वा मंगलवेष्टकं क्षितिपतिं श्रीवज्रिंणं जघ्निवान्।
कल्याणश्रियमप्यवाप्य विदधे यो होलसेयं वंशे॥

३. पी० बी० देसाई, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २६३।

अनेक सामन्त वंश भी चालुक्य साम्राज्य से छिटककर अपने अपने लिए स्वतंत्र क्षेत्र बनाने में जुट गये। डेरेट[१] ने इस बात का अनुमान लगाया है कि इस उभरती हुई नयी परिस्थिति को बल्लाल चुपचाप देखता रहा और कदाचित् सभी छोटी-छोटी सत्ताओं को एक दूसरे के प्रति उभारता भी रहा।

चालुक्य सत्ता के ढहने का सबसे अधिक लाभ यादववंशी पञ्चम भिल्लम ने ही उठाया। उसने सारा उत्तरी कर्नाटक हथिया लिया और ११९० ई० तक तुंगभद्रा नदी तक के अनेक प्रदेशों पर अधिकृत हो गया। उसकी सेनाओं ने अन्नेगिरि और गडग पर अधिकार कर लिया। किन्तु तुंगभद्रा के दक्षिण की ओर उसके बढ़ाव को चुपचाप देखते रहना बल्लाल के लिये मुश्किल था और उसने यादव सेनाओं को उस नदी के उत्तरी ओर से पीछे हटने को विवश कर दिया। दोनों पक्षों में ११९० ई० में संभवत: एक सन्धि सी हो गयी। इस युद्ध की सफलता से वीर बल्लाल इतना उत्साहित हुआ कि उसने ११९०-११९१ ई० में अपने नाम से एक नया सम्वत् ही चला डाला[२]।

११९१ से १२९२ ई० के बीच वीर बल्लाल प्राय: अनवरत युद्ध ही लड़ता रहा, प्राय: एक ही साथ कई–कई मोर्चों पर। उसकी क्रियाशक्ति और व्यक्तिगत ऊर्जा अद्भुत थी। इस बीच वह अपने शासन की बारीकियों को भी संवारता रहा तथा प्रजा की भलाई के कार्य एव वास्तुनिर्माणों और कला के उन्नयन में भी जुटा रहा। धीरे धीरे उसने अपने साम्राज्य का विस्तार पूर्व-उत्तर में कृष्णा नदी के किनारों तक कर लिया, जिसके भीतर सान्तरों और कदम्बों के क्षेत्र समाहित थे। वह अब सचमुच कुन्तलेश्वर था, जो यादव प्रतिस्पर्द्धिओं के सामने डटकर खड़ा था। ११९२ ई० में उसका यादव सेनाओं से सोरटूर के मैदान में दुबारा मुकाबला हुआ, जिसमें जैतुगी (जैत्रसिंह) ने यादव सेनाओं का नेतृत्व किया। होयसड़ सेनाओं ने लोक्किगुण्डी (लक्कुण्डी) में यादवों का गढ़ तोड़ते हुए सारे बेलबोला पर अधिकार कर लिया[३]। यद्यपि यादववंश के शासक (महादेव) के **महासांधिविग्रहिक** हेमाद्रि ने अपने महाग्रंथ **चतुर्वर्गचिन्तामणि** के व्रतखण्ड में भिल्लम की विजय के ही गीत[४] गाये हैं, सारी होयसड़ प्रशस्तियाँ उसके विपरीत ही विवरण देती हैं। वास्तव में ११९३ ई० के बाद तो भिल्लम का कहीं कोई उल्लेख ही नहीं मिलता[५]।

---

१. पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ८७-८८; याजदानी सं० दि अर्ली हिस्ट्री ऑफ् दि डेकन, पृष्ठ ५२०-५२१।
२. एपिग्राफिया कर्नाटिका, जिल्द ५, हासन, सं० ७०।
३. डेरेट पृष्ठ ९०-९१; देखें, इऐ०, जिल्द २, पृष्ठ ३००।
४. श्लोक ३९, रा० गो० भण्डारकर, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ११७; एपि० कनार्टिका, जिल्द ७, सं० ७७।
५. युद्ध में जैतुगी मारा गया और कर्नाटक के अनेक दुर्गों पर होयसड़ों का अधिकार हो गया। देखें, याजदानी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ५२५।

इस प्रकार कुन्तल में पूरी तरह स्थापित हो जाने के बाद वीर बल्लाल ने क्रमश: तीन दिशाओं में अपने साम्राज्य का विस्तार कर लिया। वनवासी पर उसे अधिकार कर लेने में विशेष प्रयास नहीं करना पड़ा। उत्तर-पूर्व के वे सभी पहाड़ी और लड़ाकू प्रदेश भी उसके अधिकार में आ गये, जिन्हें अब उसकी अधीनता मान लेने के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं दिखायी दिया। बेलबोला का वह प्रदेश भी उसके हाथ में आ गया, जिसपर बहुत वर्षों से उसकी आखें गड़ी हुई थीं और जिससे होकर वह चालुक्यक्षेत्रों में घुसकर और भी आगे बढ़ जाने की योजनाएँ बना सकता था। स्पष्ट है, वीर बल्लाल के पितामह विष्णुवर्धन ने जो भी साम्राज्यवादी सपने देखे थे, और जिन्हें वह शक्तिशाली शासक भी चरितार्थ करने में सफल नहीं हुआ था, उन्हें बल्लाल ने साकाररूप दे दिया।

वीर बल्लाल ने अपने नवविजित प्रदेशों में कई गांवों को **अग्रहार**रूप में दान दिया। ११९४-९५ ई० में उसने तुंगभद्रा नदी के किनारे अपने पिता की स्मृति में एक शिवमंदिर (लिंग) का निर्माण किया। ११९३ ई० में उसके लक्कुण्डी में निवास करते समय उसके एक **दन्नायक** (**दण्डनायक**) ने वनवासी १२००० और सान्तलिगे १००० को एकीकृत प्रशासन में आबद्ध किया[१]। पूर्वत: इन दोनों क्षेत्रों के बीच आपसी ईर्ष्या और प्रतिद्वन्द्विता रह चुकी थी और इस दृष्टि से उनका प्रशासकीय एककीरण महत्त्वपूर्ण माना जायगा। ११९२ ई० के बाद वीर बल्लाल ने सम्राट् पद की सूचक प्राय सभी उपाधियाँ- **समस्तभुवनाश्रय, महाराजाधिराज, परमेश्वर, परमभट्टारक** आदि-धारण कर लीं। दोरसमुद्र ही अब कर्नाटक की राजधानी के रूप में मान्य हो गयी।

वीर बल्लाल जीवन भर युद्ध ही लड़ता रहा, जिन सबके ब्यौरे देना यहाँ असंभव है। तथापि उसके प्रशासन में कहीं कोई सुस्ती नहीं दिखायी देती। उसके अभिलेखों में इतने अधिक गांवों की संख्याएँ प्राप्त होती हैं कि उनकी गिनती तक नहीं की जा सकती। स्पष्ट है कि उसका राजस्वसम्बन्धी **अधिकरण** कागजपत्रों से भरा रहा होगा। उसका सौभाग्य था कि उसकी उमादेवी नामक, एक बहुत ही योग्य, शासन में कुशल और सैनिक प्रतिभा से युक्त, रानी थी, जो उसके राजधानी से प्राय: अनुपस्थित रहने के समय, उसकी ओर से पूरा शासन चलाती थी; यहाँ तक कि कुछ विद्रोहों को दबाने में भी उसने सेना का नेतृत्व किया[२]। उसका पुत्र **कुमार** वीरनरसिंहदेव केवल १३-१४ वर्षों की अल्पावस्था में ही प्रशासन के उत्तरदायित्वों को संभालने में सहयुक्त हो चुका था। बल्लाल की एक दूसरी रानी पद्मला देवी तुंगभद्रा नदी के दक्षिणी किनारों वाले जिलों का शासन उतनी ही योग्यतापूर्वक चलाती थी।

किन्तु १३वीं शताब्दी के प्रथम दशक के अन्त और द्वितीय दशक के प्रारंभ में उसे देवगिरि के यादव शासक सिंहण (जैतुगी = जैत्रसिंह के पुत्र) के बढ़ते हुए दबाव,

१. डेरेट, पूर्वनिर्दिष्ट पृष्ठ ९४।
२. पी०बी० देसाई, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ २६६।

सैनिक आक्रमण और कदम्ब तथा सिन्द देश के राजाओं द्वारा प्रारंभ किये गये युद्धों के कारण तुंगभद्रा के उत्तर की ओर के पूर्वत: जीते गये अनेक प्रदेशों को गवानां पड़ा[१]। कथित है कि उसने बल्लाल द्वारा अधिकृत सारी भूमि जीत[२] ली। सिंहण ने वनवासी अधिकृत कर लिया था। शीघ्र ही गडग और उसके पास के सभी क्षेत्रों को भी यादवों ने हथिया लिया। १२१५ ई० के आते आते बल्लाल को भागकर दोरसमुद्र में शरण लेनी पड़ी, उसके परिणामस्वरूप सिंहण को बलिगावे को भी जीत लेने का अवसर मिल[३] गया। १२१६ ई० में सिहण ने अपने अधिकार की पुष्टि करते हुए होयसड़नाड़ में अनेक गांवों का दान दिया तथा अपनी विजयों के उपलक्ष्य में उसने और उसके सेनापतिओं ने बड़ी बड़ी नयी उपाधियाँ धारण कीं। इन सबके बावजूद ऐसा नहीं प्रतीत होता कि सिंहण ने तुंगभद्रा नदी को पार करके उसके दक्षिण वाले रायचूर अथवा बेल्लारी वाले होयसड़ प्रदेशों पर कोई अधिकार किया। वे प्रदेश अब भी होयसड़ों के अधिकार में ही बने रहे[४]। १२१६ ई० में उनके वहाँ शासन करने के प्रमाण प्राप्त होते हैं।

होयसड़ों का अवरोह और अवसान

१२२० ई० में वीर-बल्लाल की मृत्यु हो गयी। किन्तु उसके पूर्व उसने अपने पुत्र वीर नरसिंह (द्वितीय) का राज्याभिषेक कर दिया था। किन्तु वीर नरसिंह को वीर बल्लाल के राजधानी से बाहर रहते हुए शासन के जो अनुभव प्राप्त थे, उनके बावजूद उसमें न तो अपने पिता जैसी संगठन शक्ति, वीरता और उर्जा थी और न ही बहुत बड़ी कार्यक्षमता थी। प्राय: ऐसा देखा जाता है कि महान् व्यक्तित्वों द्वारा कमायी हुई उनकी सारी प्रतिष्ठा उनके सामने ही ढहनी प्रारंभ हो जाती है। यह हाल तो साम्राज्यों के पतन में विशेषरूप से दिखायी देता है। वीर बल्लाल की महत्त्वाकांक्षाएँ भी इतनी अधिक थीं कि उसके शिथिल होते ही उन महत्त्वाकांक्षाओं के प्रतिफल अपने बुरे रूपों में परिलक्षित होने लगे।

वीर नरसिंह की अन्तिम ज्ञात तिथि १२३५ ई० है। उसकी मृत्यु के समय उसका पुत्र सोमेश्वर १२३५-१२६३ ई० राजधानी दोरसमुद्र में न होकर अपने उस गवर्नरी वाले क्षेत्रों में था, जो चोड़ और पाण्ड्यराज्यों के बीच में स्थित थे। वह थोड़े दिनों के लिए दोरसमुद्र आया तो जरूर परन्तु, लगता है, अपने पिता का दाहसंस्कार और अत्येष्टि कर

---

१. इऐ०, जिल्द २, पृष्ठ २९७; रा० गो० भण्डारकर, पूर्वनिर्दिष्ट; पृष्ठ ११८; याजदानी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ०, ५३२।

२. व्रतखण्ड की यादवप्रशस्ति, श्लोक ४३-४४। तदनुसार,
बल्लालक्षितिपाललालितभुवां सर्वापहारश्रय:।
श्री सिंहस्यमहीपतेर्विजयते यद्वाललीलायितम्॥

३. डेरेट, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १००।

४. डेरेट, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ १०३।

तुरंत ही वापस लौट गया। अगले १०-११ वर्षों (१२३६-१२४७ ई०) का शासनकाल होयसड़ सत्ता के सम्मान के नष्ट होने का काल सिद्ध हुआ। सबसे बड़ी बात तो यह थी कि वह अपनी राजधानी में रहना ही नहीं चाहता था। फलत: प्रशासन ढीला होने लगा, राज्यकर्मचारी नेतृत्वहीन हो गये और दूरस्थ प्रांतों में अव्यवस्था फैलने लगी। उसे इन बातों की मानों कोई परवाह ही नहीं थी। उत्तर दिशा में गणपतिदेव काकतिय (११९९-१२६१ ई०) और दक्षिण में जटावर्मन् सुन्दरपाण्ड्य जैसे शक्तिशाली शासक अपने अपने साम्राज्य विस्तार की योजनाओं में अग्रसर थे तथा चोड़ों ने एक बार फिर अपनी सत्ता को बटोरने का प्रयत्न प्रारंभ कर दिया था। वह चोड़ राजाओं को, अपने साथ वैवाहिक संबंधों में बंधे होने के कारण, काकतियों और पाण्ड्यों के विरुद्ध सहायता देने में अधिक रुचि रखता था, बजाय इसके कि वह अपने राज्य की समस्याओं से निजात पाने की कोशिश करता[१]। किन्तु धीरे धीरे यह स्पष्ट हो गया कि चोड़ शासक स्वयं उसकी सहायता स्वीकार करने को बहुत उद्यत नहीं थे।

दक्षिण दिशा में पाण्ड्य राजाओं (सहराजाओं) की शक्ति का बड़ी तेजी से विस्तार हो रहा था और वे चोड़ों को पराजित करने में पूरी तरह सफल रहे। मारवर्मन् सुन्दर पाण्ड्य ने चोड़ राजधानी में घुसकर वहाँ अपना **वीराभिषेक** कराया[२]। आगे कुछ ही दशकों बाद जटार्वमन् सुन्दर पाण्डय ने भी गण्डरगोपाल को पराजित कर काञ्चीनगर और नेल्लूर पर अधिकार कर लिया और उसने भी वहाँ अपना **वीराभिषेक** कराया[३]। यद्यपि कण्णानूर में सोमेश्वर की स्थिति अब भी बरकरार थी, उसके मूल होसयड़ क्षेत्रों में प्रशासन और व्यवस्था ढीली पड़ती जा रही थी। वहाँ कन्नड़ और तमिल अफसरों के बीच में मनमुटाव और झगड़े प्रारंभ हो चुके थे। तथापि अभी सोमेश्वर के चोड़ शासकों, राजराज (तृतीय) और राजेन्द्र (तृतीय), से सम्बन्ध ठीक ही चल रहे थे और १२३९ में गण्डरगोपाल के नेतृत्व में होयसड़ सेनाओं ने काकतियों के विरुद्ध आक्रमण भी किया। किन्तु अब चोड़राज-तृतीय राजेन्द्र, सोमेश्वर से अपने पुराने सम्बन्धों को भुलाकर स्वतंत्ररूप से अपनी राजनीति करने को उद्यत होने लगा और सोमेश्वर ने अप्रसन्न होकर स्वयं चोड़ राज्य पर धावा बोल दिया। उधर पाण्ड्यों ने भी चोड़ों को मुंहतोड़ जबाब देते हुए उन्हें करारी मात दे दी। होयसड़-पाण्ड्य सहयोग का कारण कदाचित् यह था कि सोमेश्वर ने मारवर्मन् जटावर्मन् से कोई वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर लिया था। १२४७-१२४८ ई० के बाद होयसड़-चोड़ सम्बन्धों में खटास और दूरी बढ़ती ही गयी।

---

१. डेरेट, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ११८-११९। सोमेश्वर ने कण्णानूर को नया नाम विक्रमपुर दिया और उसे ही अपनी राजधानी बना डाला। देखें, स्ट्रगल फार इम्पायर, पृष्ठ २३१।

२. नीलकान्त शास्त्री, दि पाण्ड्यन् किंगडम, पृष्ठ १२७-१२८।

३. ऐनुअल् रिपोर्ट्स, १८९४ का १६६; १९१३ का ३३२, ३४० और ३६१।

इस बीच सोमेश्वर बीमार रहने लगा और यद्यपि वह थोड़े दिनों के लिए कण्णानूर से दोरसमुद्र गया, उसे अपनी मृत्यु का अंदेशा सताने लगा। उसने अपने छोटे-छोटे दो पुत्रों–नरसिंह (तृतीय) और रामनाथ के बीच पूरे राज्य का दो भागों में १२५४-१२५५ ई० के आसपास बंटवारा कर दिया।

उधर दक्षिण दिशा में जटावर्मन् सुन्दर पाण्ड्य के नेतृत्व में पाण्ड्य सत्ता साम्राज्य के रूप में तेजी से आगे बढ़ रही थी और जटावर्मन् ने सभी दिशाओं में अपने भौमिक अधिकारक्षेत्रों का विस्तार कर लिया। १२५६ ई० में सोमेश्वर को भी पाण्ड्य आक्रमण का शिकार होना पड़ा। सोमेश्वर और रामनाथ दोनों ही भाग खड़े हुए[१]।

इसके बाद होयसड़ क्रमश: इतनी तेजी से क्षीणशक्ति होते गये कि उन्हें अपने भरोसे अपना प्रशासन चलाना भी असंभव होने लगा। कण्णानूर जैसे पहले होयसड़ों द्वारा शासित प्रदेशों पर तो अब पाण्ड्य गवर्नर नियुक्त किये जा चुके थे। १२५७ ई० के आसपास सोमेश्वर के प्रत्यक्ष शासन का प्राय: अन्त ही हो गया था। उसके द्वारा पूर्वत: किये गये राज्य के बंटवारे ने अब रस्मीतौर पर मूर्तरूप ले लिया। नरसिंह (तृतीय) के सामने कठिनाइयाँ ही कठिनाइयाँ थीं। १३वीं शती के सातवें दशक में तो राज्य में एक गृहयुद्ध ही छिड़ गया, जो प्राय: उस शताब्दी के अन्त तक चलता रहा। गृहयुद्ध के ऊबाऊ विवरणों के ब्यौरों में जाने की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं है।

तृतीय बल्लाल १२९१ ई० में होयसड़ राज्य का उत्तराधिकारी हुआ। १२४२ ई० में अपनी मृत्यु के पूर्व तक वह शासक बना रहा। उत्तराधिकार-प्राप्ति के समय तक वह पूरी तरह वयस्क हो चुका था। उसे अपने वंश का अन्तिम शासक ही स्वीकार किया जा सकता है। किन्तु उसके बाद भी मुसलमानी आक्रान्ताओं के विरुद्ध अपमान, लूट, और जलालत भोगने वाले कुछ अन्य होयसड़ शासक हुए। बल्लाल और रामनाथ के बीच चलने वाले संघर्षों का कोई सुखद अथवा किसी भी पक्ष के लिए लाभप्रद अन्त होने वाला नहीं था और दोनों पक्षों ने बुद्धिमानीपूर्वक होयसड़ राज्य को एक करने का निश्चय कर लिया। १३०१ ई० के बाद दोनों पक्षों ने उस एकता के लिए कुछ निर्णायक कदम उठाने शुरू कर दिये। मंदिरों और मठों के माध्यम से प्रकाशित किये जाने वाले अभिलेखों की घोषणाओं द्वारा दोनों पक्षों की सुलह को जनता तक पहुँचाया गया[२]।

मुसलमानी आक्रमण

तृतीय बल्लाल को यद्यपि यह पूरी तरह पता रहा होगा कि उसके उत्तरी दिशा वाले दो शत्रु-सेउणदेश के यादव और वारंगल के काकतिय-तुर्क सेनाओं के शिकार हो चुके थे, उसने कदाचित् अपने लिए उसे एक अवसर के रूप में ही देखा। उसके मन

---

१. डेरेट, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ १२९ और आगे।
२. डेरेट, वहीं, पृष्ठ १४६।

में इन उत्तरी क्षेत्रों पर अपनी विजय की कल्पनाएँ उठने लगीं। किन्तु दूसरी ओर दिल्ली के सुल्तान की योजनाएँ तो कुछ और ही थीं। देवगिरि और वारंगल की विजयों के बाद वह आगे बढ़कर कन्याकुमारी तक के सभी हिन्दू राज्यों को पहले लूटकर, विषम संधियों के माध्यम से अपंग बनाकर, और पुन:, उनपर पूरी तरह मुसलमानी सत्ता स्थापित कर सारे भारतवर्ष पर एकछत्र तुर्क साम्राज्य की सफल स्थापना के लक्ष्य से प्रेरित था।

मलिक नायब, **हजारदीनारी**, अर्थात् मलिक काफूर, देवगिरि में शंकरदेव को दण्डित कर चुकने के बाद (१३०९ ई०) दक्षिण में दोरसमुद्र पर आक्रमण की योजना बनाने लगा। अलाउद्दीन का उसे यह निर्देश था कि वह सबसे पहले दोरसमुद्र के शासक से तुर्क अधीनता स्वीकार करने, बहुत अधिक भेंटे देने और कर स्वरूप सालाना मोटी रकम देने की शर्त के साथ उसे आतंकित करे। शंकरदेव मलिक काफूर को इस दक्षिणी अभियान में होयसड़ों से अपनी पुरानी शत्रुता को स्मरणकर उसे पूरी सैनिक सहायता देते हुए प्रसन्न ही हुआ। अमीर खुसरू के अनुसार, मलिक काफूर देवगिरि से केवल २२ दिनों में ही दोरसमुद्र पहुँच गया। उसे तब तक ज्ञात हो चुका था कि दक्षिण के पाण्ड्य राज्य में वीर पाण्ड्य और सुन्दर पाण्ड्य में राजगद्दी हेतु भाइयों के बीच का गृहयुद्ध छिड़ गया था और सुन्दर पाण्ड्य बल्लाल की सहायता प्राप्त करने का इच्छुक था। बल्लाल ने सुन्दर पाण्ड्य की सहायता करने में देर भी नहीं की। किन्तु इस बीच मलिक काफूर दोरसमुद्र पहुँच चुका था और सुन्दर पाण्ड्य ने अब सीधे उससे ही संपर्क साधा। बल्लाल के सामने मदुरै की राजनीति में हस्तक्षेप करने की बजाय अपने राज्य की ही रक्षा करने की समस्या उत्पन्न हो गयी। तबतक मलिक काफूर की सेनाएँ दोरसमुद्र को चारों तरफ से घेर चुकी थीं। लगभग १५ दिनों के असफल मुकाबले के बाद बल्लाल को बिना शर्त आत्मसमर्पण करना पड़ा। इस सम्बन्ध के उल्लेख अमीर खुसरू और मलिक इजामी से प्राप्त होते हैं, जो एक दूसरे से पूरी तरह मेल नहीं खाते। मलिक काफूर ने बल्लाल से माबर (मलावार = पाण्ड्य राज्य) पर अपने प्रस्तावित आक्रमण में पूरी प्रकार साथ देने का प्रस्ताव किया, जिसके बदले में उसे अच्छे व्यवहार और पुरस्कार का लालच दिया गया[१]। यह प्रस्ताव बल्लाल को बहुत ही आकर्षक लगा। वास्तव में उसके सामने कोई विकल्प भी नहीं था।

मलिक काफूर ने बल्लाल से फिर भी उसकी राज्यसम्पत्ति का बहुत बड़ा भाग और उसके हाथियों को युद्धदण्ड के रूप में छीन लिया और उसकी सहायता से मदुरै की ओर अपना बढ़ाव प्रारंभ कर दिया। आगे मुसलमानी इतिहासकार न तो पाण्ड्य राजाओं के विरुद्ध मलिक काफूर की किन्ही विशेष सफलताओं का खाका खींचते हैं और न बल्लाल के तत्सम्बन्धी किसी सैनिक अवदान का ही उल्लेख[२] करते हैं। संभवत: बल्लाल ने वहाँ

---

१. डेरेट, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ १५२।
२. वहीं, पृष्ठ १५३।

धन की लूट की, और कावेरी नदी के क्षेत्रों पर अपने अधिकार को स्थापित करने की व्यवस्था की। मलिक काफूर को तो अब दिल्ली लौट जाने की ही आवश्यकता थी। तथापि मदुरै के अनेक मंदिरों को लूटकर उसने अपने लिए प्रभूतरूप में लूट का माल और रत्न तथा सोना जुटा लिया। वहाँ के दो पाण्ड्य राजकुमारों (राजाओं) को पकड़कर उनसे बहुत बड़ा मुक्तिधन वसूला, उनके हाथियों और घोड़ों को छीन लिया और दोरसमुद्र से होता हुआ दिल्ली लौट गया। इजामी कहता है कि तृतीय बल्लाल पकड़कर दिल्ली ले जाया गया ताकि वह सुल्तान के सामने शिज्दा कर सके। सुल्तान का पैर चूमने के बाद बल्लाल स्वयं भी बहुप्रकार से आदृत किया गया और बाद में उसे वापस भेजकर उसका राज्य लौटा दिया [१]गया। ये सारी घटनाएँ १३११ ई० के आसपास घटीं।

होयसड़ प्रशासन और संस्कृति

एक छोटा सा, किन्तु लगभग ३-४ सौ वर्षों तक चलता रहने वाला, पहाड़ी और जंगली क्षेत्रों का होयसड़ राज्य अपनी सैनिक उपलब्धियों के लिए जितना स्मरण किया जाता है, उससे कई गुना अधिक उसकी सांस्कृतिक उपलब्धियाँ स्वीकार की जाती हैं। कई इतिहासकारों द्वारा साम्राज्य कहा जाने वाला[२] इसका राजनीतिक चरमोत्कर्ष तो केवल एक शासक, वीर बल्लाल मात्र तक (११७३-१२२० ई०) सीमित रहा, किन्तु शान्तिकालीन सांस्कृतिक क्रियाकलापों में इसके शासकों और शासिकाओं की उपलब्धियाँ कई बड़े बड़े साम्राज्यों की तुलना में भी कमतर नहीं थीं। इस समय के कुन्तल-कर्नाटक, दक्षिण-पूर्वी आन्ध्र, पश्चिमोत्तर तमिलनाडु और दक्षिणी-पश्चिमी मैसूर के क्षेत्रों में पनप रही प्रवृत्तियाँ–समाज में स्त्रियों के उच्चस्थान; राजाओं और उनकी प्रजाओं की धार्मिक सहिष्णुता, समभाव और सहअस्तित्व, बहादुरी, स्वामिभक्ति और कन्नड़ी लड़ाकूपन से ओतप्रोत सैनिकों के समर्पणभाव; संस्कृत और कन्नड़भाषी हजारों अभिलेखों सहित इन दोनों साहित्यों में किये गये होयसड़कालीन अवदान तथा मंदिर निर्माण की एक विशेष होयसड़ शैली की मूर्तिकारी, चित्रकारी, भित्तिचित्रों और अलंकरणों से युक्त थीं। अब भी बचे हुए लगभग ९० नमूनों से वह संस्कृति स्पष्टतः प्रत्यक्ष हो उठती है। आगे इनका एक संक्षेप उपस्थित है।

किसी भी समय की संस्कृति के विकास के पीछे एक आदर्शवादी और सुसंगठित प्रशासन का होना आवश्यक होता है। यद्यपि होयसड़ शासन की कोई सिद्धान्तवादी पृष्ठभूमि नहीं ज्ञात होती, यह स्पष्ट सा लगता है कि दक्षिण भारत-विशेषतः कर्नाटक-में जो शासन का स्वरूप राष्ट्रकूटों और चालुक्यों के समय था, प्रायः वैसा ही होयसड़ों के अपेक्षाकृत छोटे राज्य में भी था। उस समय के शासकों का एक आदर्श मन्त्रवाक्य

---

१. वहीं, पृष्ठ १५४।

२. पी०बी० देसाई, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ २८४।

'दुष्टनिग्रह, शिष्टस्य परिपालनम्' अर्थात् दुष्टों को दण्डित करना और भले लोगों की रक्षा करना था। संक्षेप में, इसे राज्य की स्थिति के पीछे का एकमात्र आदर्श कहा जा सकता है।

होयसड़ शासन का स्वरूप राजा के ईर्द-गिर्द घूमने वाला ही था। राजा ही उसका प्रधान कार्याधिकारी, सेनाप्रमुख और न्यायाधीश था, जो शान्ति के समय राजदरबार में बैठकर शासकीय आदेश और आज्ञाएँ निकालता था, सभी प्रशासकीय अधिकारिओं का नियंत्रण करता था तथा आवश्यक होने पर अपने यहाँ उपस्थित वादों का निपटारा भी करता था। अत्यन्त प्राचीन काल के उत्तरभारतीय राज्यों-साम्राज्यों की तरह उसकी सहायता हेतु कोई मंत्रिमण्डल तो नहीं था, किन्तु **पञ्चप्रधान** नामक एक ऐसा अधिकारी-समूह अवश्य था, जो विभिन्न विभागों की देखरेख करता था। ये **पञ्चप्रधान** थे–**सान्धिविग्रही** (वैदेशिक मामलों का मंत्री तथा दानदत्त ग्रामों के सम्बन्ध के आलेखों को लिखने और संग्रह करने वाला मंत्रिस्तरीय अधिकारी); **श्रीकरणाधिकारी** (सरकारी कागजों के दफ्तर का अधिकारी); **हिरियभाण्डारी** (कोषाध्यक्ष): **सेनाधिपति** (सैन्य विभाग का प्रधान) और **महापसायत** (राजदरबार और अन्त:पुर से सम्बद्ध अधिकारी)। तेरहवीं शती के आते आते इन **पञ्चप्रधानों** की संख्या बहुत बढ़ गयी थी और इन्हें **महाप्रधान** कहा जाने लगा था। उनके सभी सदस्यों के परामर्श शायद ही कभी लिये जाते रहे हों।

होयसड़ शासक प्राय: युद्धों के सिलसिले में बाहर ही रहते थे और राजधानी में उनका समय कम ही बीतता था। यह स्थिति विशेषरूप से वीर बल्लाल (द्वितीय बल्लाल) के समय ही रही। ऐसी दशा में उसकी रानियों द्वारा समूचे प्रशासन की देख-रेख करने के प्रमाण प्राप्त होते हैं। विष्णुवर्धन की महारानी शान्तलदेवी जहाँ एक ओर नृत्य और गानविद्याओं में पारंगत थी, वहीं वह राजा के शासन के अनेक कार्यों में हाथ भी बंटाती थी[१]। उसकी प्रशंसा में एक प्रशस्तिकार उसकी तुलनाएँ लक्ष्मी से, युद्ध में असिधारिणी दुर्गा से, विशालता में पृथ्वीदेवी से, विद्या और ज्ञान में सरस्वती से, अपने पति की प्रशासन में सहायता करने में परामर्श की देवी से और प्रजारक्षण और प्रजाहित में लोककल्याण की देवी से [२]करता है। इसी प्रकार द्वितीय बल्लाल की महारानी उमादेवी उसकी अनुपस्थिति में पूरा केन्द्रीय शासन चलाती थी और स्वयं युद्धभूमि में लड़ती हुई विद्रोहों का दमन भी करती[३] थी।

होयसड़ राज्य तथा कुन्तल प्रदेश की भूमि वीरों की भूमि थी। यही नहीं कि कन्नड़ी वीरता की कहानियाँ दूर-दूर तक प्रसरित थीं, बंगाल के पाल राजाओं के समय से ही कन्नड़

---

१. डेरेट, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ४७।
२. पी० बी० देसाई, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ २२८।
३. डेरेट, पृष्ठ ८१।

सैनिकों की मांग उत्तर भारत में बढ़ चुकी थी। ये सैनिक अपने स्वामी के प्रति इतने समर्पित थे कि उसकी रक्षा में अपने प्राणों की सहर्ष आहुति देने में वे जरा भी हिचकते नहीं थे। इसी कारण कभी कभी राजा की युद्ध अथवा शान्तिकाल में मृत्यु के पश्चात् वे उसी के साथ **सहगमन** (आत्महत्या, सती के प्रतिरूप वाली प्रथा) कर लेते थे। ऐसे सैनिकों को **अंककार** (मरमिटने की प्रतिज्ञा करने वाले) कहा जाता था। इनका दूसरा वर्ग था, जिसे **लेंक** कहा जाता था, जो युद्धभूमि में अपने स्वामी के लिए प्रत्येक प्रकार का उत्सर्ग करने को सदा तत्पर रहता था। शासक इस वर्ग को हर प्रकार से अपनी ही तरह सुख सुविधा और बराबरी का व्यवहार देता था। इन **लेंकों** की अपनी सामुदायिक संस्थाएँ होती[१] थीं, जिनकी तुलना कौटिलीय **अर्थशास्त्र** में वर्णित **श्रेणीबल** से की जा सकती है। होयसड़ों के समय इस प्रकार की सेना को **गरुणसेना** कहा जाता था। उसके सेनापति का नाम कुवरलक्ष्मण था, जिसके १००० गरुण (सैनिक) द्वितीय बल्लाल के लिए मरमिटने को हमेशा तैयार रहते थे। राजा उन्हें अपने पुत्र की तरह मानता था। यह ज्ञात होता है कि जब बल्लाल की मृत्यु हुई तो कुवरलक्ष्मण और उसकी पत्नी सुग्गलदेवी तथा उसके सभी १००० सैनिकों ने राजा के साथ ही सहगमन (सती) अर्थात् आत्महत्या कर[२] ली।

अन्य राज्यों की तरह ही होयसड़ शासक भी भूमिदान से होने वाले पुण्यलाभ के आकांक्षी थे, और इस सम्बन्ध के उनके अनगिनत अभिलेख प्राप्त होते हैं। ये भूमिदान ब्राह्मणों, मंदिरों, जैन बसतियों (मंदिरों-मठों) और विभिन्न संप्रदायों को बिना किसी भेदभाव अथवा बीनबराव के दिये जाते थे। ये दान प्राय: विद्या और ज्ञान के प्रोत्साहन, धार्मिक क्रियाकलापों के निष्पादन, देवी-देवताओं की पूजनसामग्री हेतु अथवा ऐसे ही सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति हेतु दिये जाते थे और अनन्तकाल के लिए होते थे। इनसे संबद्ध राजकीय आदेश को पूरी प्रकार से लिखने, सम्बद्ध कागजपत्रों को राजकीय अधिकरणों में रखने, राजकीय आज्ञाओं को राज्य के सभी सम्बद्ध अधिकारिओं तक पहुँचाने आदि का कार्य-दायित्व **सांधिविग्रहिक** और **दूतक** का होता था।

द्वितीय बल्लाल और द्वितीय नरसिंह का समय (१३वीं शताब्दी) आते आते केन्द्रीय अधिकारिओं की संख्याएँ बहुत ही बढ़ गयी थीं और उनके नये नये विरुद होने लगे थे। लगातार युद्धों के कारण बल्लाल के सैनिक अधिकारिओं की संख्या तो सैकड़ों में ज्ञात होती है। प्राय: ये राजपरिवार के सदस्य अथवा अत्यन्त विश्वासपात्र लोग होते थे। इन्हें **दन्नायक (दण्डनायक)**, **सर्वाधिकारी**, **महापसायत, परमविश्वासी, रायदण्डनाथ, कुमार** तथा **बहत्तर नियोगाधिपति** आदि के उपाधिसूचक पद प्राप्त थे।

---

१. पी०बी० देसाई, पृष्ठ २८९।
२. वहीं पृष्ठ २९०।

इनके इन पदनामों से इनके कार्यों के अनुमान लगाये जा सकते हैं। **बहत्तरनियोगाधिपति** ७२ कार्यालयों की देखरेख कर सकता था । **महापसायत** तथा **परमविश्वासी** राजपरिवार और अन्त:पुर से सम्बद्ध थे। **सर्वाधिकारी** राजा की ओर से सभी विभागों का निरीक्षक था । **दन्नायक** और **रायदन्नायक** क्रमश: सेनापति और महासेनापति थे । **कुमार** भी राजकुमार के बराबर का सैन्याधिकारी था । ये सभी दीवानी और फौजदारी वाले क्षेत्रों के निरीक्षक थे । बल्लाल के समय **सेनाधिपति** और **सामन्त सेनाधिपति** के उल्लेख मिलते हैं। **सान्धिविग्रही** धीरे धीरे **श्रीकरण** अथवा **श्रीकरणहेगड़े** कहा जाने लगा । ये ही कागजपत्रों के रखरखाव वाले अधिकारी भी थे।

भूमि का स्वत्त्व राजा के पास ही था। उससे होने वाली आय भी सिद्धान्तरूप में उसी की आय थी । किन्तु विजयी राजा भी सभी प्रकार की भूमि का मालिक नहीं था। पूर्वत: दानदत्तभूमि, सामुदायिक भूमि और व्यक्तिगत स्वामित्त्व में जोती जाने वाली भूमि का स्वत्त्वाधिकार उसके पास नहीं था। किन्तु सभी शेष भूमि का वह रक्षक था, जिसके बदले में वह भूमिकर वसूलता था। आवश्यकता होने पर वह भूमिकर को घटा-बढ़ा भी सकता था और यदि किसी दानप्राप्तकर्ता व्यक्ति, मंदिर, मठ, बसति या समुदाय ने मूल दान की शर्तों का पालन करना बन्द कर दिया तो वह उस दानदत्त भूमि को वापस लेकर उसकी नयी व्यवस्था भी कर सकता था। १३वीं शताब्दी के आते आते होयसड़ शासकों द्वारा कम से कम पाँच बार करनिर्धारण की नयी व्यवस्थाएँ की जा चुकी[1] थीं। नरसिंह तृतीय के समय के कुछ आलेखों से ज्ञात होता है कि भूमि की कीमत **गद्याण** नामक स्वर्णसिक्कों में निश्चित करने की प्रथा थी।

करों को **सिद्धादाय** नाम से सामूहिक रूप में अभिहित किया जाता था। ये **सिद्धादाय** स्थायीरूप से लगाये जाते थे[2]। **वल्लह** (वल्लभ) नामक कर राजा के नाम पर; **कुमार** नामक कर राजकुमार के नाम पर; **निबन्ध** नामक कर राज्य द्वारा प्रदत्त सेवाओं की भरपाई हेतु; **श्रीकरण** राजकीय कोष हेतु; **शुंक** (संस्कृत का **शुल्क**) पथकर अथवा व्यापारिक कर के रूप में; **अड़के लक्क (लक्ष)** १ लाख सुपाड़ी के पेड़ों पर लगने वाला कर; **पण १ शेष** कर वस्तु पर लगने वाला आंशिक कर; **वीरशेष**- वीरों = लड़ाकों हेतु लगने वाला कर; **आणेय शेष** (हस्तिकर); **कुमारगाड़िके** अर्थात् राजकुमार को भेंटरूप में दिया जाने वाला कर; **खाड़** अर्थात् घास पर लगने वाला कर; **भत्त** अर्थात् धान पर लगने वाला कर; **ऐड़** अर्थात तिलपर लगने वाला कर; **एत्तिन उपोत्तर** अर्थात् १० बैलों में एक के रूप में लिया जाने वाला कर आदि करों के नाम से न जाने कितने **सिद्धादाय** वसूल किये जाते थे। यह कर सूची न तो सम्पूर्ण है और बहुत स्पष्ट ही।

---

१. डेरेट, पृष्ठ १९४-१९५।

२. डेरेट, पृष्ट १९७ और आगे।

किन्तु इतना अवश्य ही ज्ञात होता है कि ६००-१३०० ई० के बीच में उत्तर और दक्षिण भारत में विभिन्न राज्यों द्वारा वसूले जाने वाले करों की संख्याएँ बहुत अधिक हो चुकी थीं। इनके बाद भी अनेक अतिरिक्त कर लगाये जाते थे। उनमें प्रमुख कर थे:—**नाड** अर्थात् नाडु अधिकारिओं द्वारा वसूले जाने वाले; **अपूर्वाय** अर्थात् जो कर पहले कभी नहीं लगाये गये थे; **अन्याय** अर्थात् कानून तोड़ने का दण्डकर; **कटकशेष** अर्थात् सेनाकर; **होडके** अर्थात् राजा द्वारा वसूली गयी भेंट; **पट्टबन्ध** अर्थात् राज्याभिषेक के समय लगाया गया कर और **पुत्रोत्साह** अर्थात् राजपुत्र की उत्पत्ति पर लगने वाला कर। इन अतिरिक्त करों में कितना केन्द्रीय राजकोष में पहुँचता था, इसका केवल अनुमान मात्र लगाया जा सकता है। किन्तु ऐसा कोई भी अनुमान सही होगा, इसका कोई निश्चय नहीं है।

पीछे राजदरबार और राजदरबारी संस्कृति के कुछ चित्र उपस्थित किये जा चुके हैं। किन्तु यह भी देखने योग्य है कि होयसड़ राजाओं के समय की धार्मिक स्थिति क्या थी, और उनकी धार्मिक नीति क्या थी, तथा विभिन्न धर्मावलम्बिओं के प्रति उनके व्यवहार कैसे थे। बौद्धधर्म का प्रभाव केवल दक्षिण भारत से ही नहीं, अपितु सारे भारतवर्ष में प्राय: समाप्त सा हो रहा था और यह धर्म मरणासन्न स्थिति में ही था। कर्नाटक प्रदेश में प्राय: हिन्दूधर्म के पौराणिक स्वरूप तथा शैव और वैष्णव संप्रदायों के रूप में उसका भक्तिपरक स्वरूप ही प्रबल होता हुआ दिखायी देता है। साथ ही, जैन धर्म के अनुयायिओं की भी संख्या कम नहीं थी। कई शासक, रानियाँ, बड़े बड़े वणिक् और **सेट्टि** (श्रेष्ठी) लोग जैनधर्मानुयायी थे तथा अनेक विद्वान्, कवि और लेखक भी उस मत को मानने वाले थे। जैनों की संख्या का प्रतिशत अथवा अनुपात क्या था, इसका कोई भी अनुमान लगाना केवल अनुमान मात्र होगा। किन्तु भारतवर्ष के अन्य भागों की तरह ही, कुछ गिने चुने अपवादों को छोड़कर, राजाओं, राजदरबारों और साधारण जनों के व्यवहार और दृष्टिकोण सभी संप्रदायों के प्रति समानरूप से उदार और सहिष्णुतापूर्ण थे। ये व्यवहार उनके पारिवारिक समबन्धों में भी दिखायी देते हैं।

होयसड़ वंश के अधिकांश शासक, परवर्ती चालुक्य शासकों की ही तरह, या तो शैव अथवा वैष्णव थे। किन्तु जैन विद्वानों, कविओं, प्रशस्तिकारों, मठों और बसतियों (जैन मंदिरों) को प्रश्रय और दान देते समय उनमें कोई संकोचभाव नहीं था। विष्णुवर्धन वैष्णव था और उसकी रानी शान्तलदेवी कट्टर जैन थी, जो केवल उसकी प्रिय ही नहीं, उसके शासन में उसकी पूरी सहायिका और सहभागिनी[१] थी। शान्तलदेवी के पिता शैव थे और उसकी माता जैन[२] थी। यह सब कुछ वैसा ही लगता है, जैसा गाहड़वाड़ शासक गोविन्दचन्द्र और उसकी बौद्ध रानी कुमारदेवी के सम्बन्ध में था, जिसने बौद्ध भिक्षुओं को

---

१. देखें, पीछे पृष्ठ २३९।
२. पी० बी० देसाई, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २९१।

भी दान दिया था। बंगाल के उन पाल शासकों का भी उदाहरण देना अनुपयुक्त नहीं होगा, जो सभी के सभी बौद्ध थे किन्तु कम से, कम पाँच पुश्तों तक उनके सभी मंत्री ब्राह्मण थे और एक ही पितापुत्र क्रम में थे।

शैव और वैष्णव संप्रदायों की पितृभूमि कदाचित् तमिलनाडु थी, जिससे होयसड़ों की भौगोलिक और वैवाहिक सन्निकटता थी। वहीं प्रथमत: **नायनारों** (शैवसंतों) और **आड़वारों** (वैष्णव संतों) ने अपने अपने भक्तिसंप्रदायों को जन्म दिया, जो धीरे धीरे कर्नाटक में भी फैल गये। वैष्णव संतों में एक प्रमुख संत थे रामानुजाचार्य, जो श्रीपेरुम्बुदूर के निवासी थे। किन्तु प्रथम कुलोत्तुंग के बाद की तमिलनाडु की अस्तव्यस्त राजनीतिक परिस्थिति के कारण वे कर्नाटक के शासक विष्णुवर्धन के राजदरबार में आ गये थे। एक झूठी किंवदन्ती तो यह भी है कि विष्णुवर्धन पहले जैन था किन्तु उन्हीं के प्रभाव में आकर वह वैष्णव हो गया और जैनों पर अत्याचार करने लगा। विष्णु की भक्ति को रंगनाथ भक्ति के रूप में कर्नाटक में प्रचारित करने का श्रेय रामानुजाचार्य को ही दिया जाता है। वे १०१७ से १०३७ ई० तक मेलुकोट (मैसूर) में रहे। सेउण (यादव)–होयसड़ युग में ही पण्ढरपुर के विट्ठल देवता (विष्णु) की पूजा ने आमजनों द्वारा की जाने वाली पूजा का रूप धारण कर लिया और विट्ठल एक बहुत बड़े देवता बन गये। सोमेश्वर नामक होयसड़ शासक ने महाराष्ट्र में भीतर तक जाकर १२३६ ई० में विट्ठल की पूजा की थी। सन्त ज्ञानेश्वर श्रीमद्भगवद्गीता की अपनी टीका (**विज्ञानेश्वरी** मराठी भाषा) में विट्ठल को कन्नड़ देवता[१] बताते हैं।

साहित्यिक क्षेत्र में होयसड़ों के अवदान संस्कृत और कन्नड़ दोनों ही भाषाओं में बहुमूल्य हैं। कर्नाटक सहित सारे दक्षिणी भारत में संस्कृत के साथ ही साथ स्थानीय भाषाओं-कन्नड़, तेलुगू, तमिल और मलयालम में भी समानान्तररूप में रचनाएँ की जा रही थीं। वहाँ के सभी राजवंशों के अभिलेख संस्कृत और स्थानीय भाषा में लिखे हुए प्राप्त होते हैं। कन्नड़ क्षेत्रों के कन्नड़ अभिलेख गद्य और पद्य दोनों में हैं और कभी कभी एक ही अभिलेख गद्य और पद्य दोनों ही प्रकार से लिखित प्राप्त होता है। होयसड़ों का काल इस विधा से अछूता नहीं था।

होयसड़ शासनकाल में संस्कृत साहित्य के अनेक लब्धप्रतिष्ठ लेखकों की जानकारी प्राप्त होती है। प्राय: प्रत्येक शासन में एक प्रसिद्ध विद्वान् को **राजपण्डित** नियुक्त किया जाता था और उसे **विद्याचक्रवर्ती** की उपाधि प्राप्त होती थी। होयसड़ों के अधीन तो एक परिवारविशेष का इस पद पर एकाधिपत्य सा स्थापित हो गया दिखायी देता है। द्वितीय बल्लाल के समय के **विद्याचक्रवर्ती** के पौत्र **विद्याचक्रवर्ती** ने **गद्यकर्णामृत** नामक गद्य ग्रंथ में द्वितीय नरसिंह के दक्षिणदिशा वाले युद्धों का विवरण

---

१. पी० बी० देसाई, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २९५।

उपस्थित किया। उनके पौत्र (तीसरे **विद्याचक्रवर्ती**) ने **रुक्मिणीकल्याण** नामक **महाकाव्य** लिखा। इन विद्याचक्रवर्तिओं के अतिरिक्त त्रिविक्रमपण्डित और उनके पुत्र नारायण पण्डित भी होयसड़ों के समय ही कर्नाटक में हुए थे, जिन्होंने क्रमश: **उदाहरण** और **मध्वविजय** नामक ग्रंथों की रचना की। नारायणपण्डित प्रसिद्ध दार्शनिक मध्वाचार्य (माधवाचार्य) के शिष्य थे और उन्होंने अपना उपर्युक्त ग्रंथ गुरुदक्षिणारूप उनकी प्रशंसा में ही लिखा।

इसी काल में अद्वैत दर्शन के अनेक विद्वान् भी कर्नाटक में हुए और उन्होंने अपने अपने टीकाग्रंथ लिखे। इन अद्वैत टीकाकारो में मुख्य नाम आनन्दबोध, चित्सुख, शंकरानन्द और रामानुज के हैं। इनमें रामानुज सर्वप्रसिद्ध हैं, जिनकी रचना **श्रीभाष्य** बहुत ही अधिक प्रसिद्ध है। रामानुज की विष्णुवर्धन होयसड़ से समकालीनता, उनके तमिलनाडु से कर्नाटक आ जाने तथा विष्णुवर्धन को वैष्णवपंथ में दीक्षित करने की परंपरा का पहले उल्लेख किया जा चुका[१] है।

कन्नड़ साहित्य के क्षेत्र में होयसड़ काल में मुख्यत: अभिलेखों की गिनती की जा सकती है। इन अभिलेखों से उस काल की राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक गतिविधियों का अच्छा चित्र उपस्थित होता है। इनके लेखक प्राय: जैनधर्मावलंबी थे। कुछ अभिलेख तो उच्च साहित्यिक गुणों से सम्पन्न, आलंकारिक और बढ़िया छन्दों में लिखित हैं। कन्नड़ साहित्यकारों में नागचन्द्र सर्वप्रमुख थे। वे प्रथम बल्लाल के समकालीन थे और उच्च साहित्यिक प्रतिभा से सम्पन्न होने के कारण उन्हें **अभिनवपम्प** की उपाधि मिली थी। उन्होंने ही **रामचरितपुराण** नाम से जैनरामायण की रचना की, जो रामचन्द्र को जैनरूप में प्रदर्शित करने वाला जैनधर्मप्रचारक ग्रंथ है। उनके अतिरिक्त एक अन्य कन्नड़ साहित्यकार थे नागवर्मा, जिन्होंने **काव्यावलोकन**, **कर्नाटक भाषाभूषण** और **वास्तुकोष** नामक कन्नड़ छन्दशास्त्र और व्याकरण ग्रंथ लिखे। जगद्देव सोमनाथ ने संस्कृत में लिखे एक आयुर्वेद शास्त्र के ग्रंथ का कन्नड़ अनुवाद **कर्नाटक कल्याणकारक** नाम से उपस्थित किया। द्वितीय बल्लाल के समय नेमिचन्द्र ने **लीलावती** नामक एक रूमानी काव्य (प्रेम कहानी) लिखी। बल्लाल के एक जैन मंत्री के अनुरोध पर उन्होंने ही **नेमिनाथपुराण** लिखा। किन्तु यह कृति वे पूरा कर पावें कि उसके पहले ही उनकी मृत्यु हो गयी। इसी कारण इसे **अर्धनेमि** के नाम से भी पुकारा जाता[३] है। **कविचक्रवर्ती** उपाधि से विभूषित जन्न भी इसी समय के लेखकों में गिने जाते हैं। उसी काल में होने वाले अन्य जैन लेखकों में रुद्रभट्ट (१२६०) थे, जिन्होंने **जगन्नाथविजय** नामक भागवत

१. देखें, पीछे पृष्ठ २४३।

२. नीलकान्त शास्त्री, दक्षिण भारत का इतिहास (हिन्दी अनुवाद), पृष्ठ ४०५।

३. वहीं, पृष्ठ ५०६।

संप्रदाय का ग्रंथ लिखा, जिससे सिद्ध होता है कि वे जैन न होकर भागवत पन्थानुयायी थे । **शब्दमणिदर्पण** नामक व्याकरण ग्रंथ के रचयिता केशिराज (१२६० ई०) भी होयसड़ों के समय ही रहे । होयसड़ राजाओं के समय लिखी गयी अन्य कन्नड़ कृतियाँ[१] हैं:—रट्टकवि की **रट्टमाला** या **रट्टसूत्र** (१३०० ई०); नागराज की पुस्तक **पुण्यास्त्रव** (१३३१ ई०) और प्रथम मंगराज की विषविद्या से सम्बद्ध कृति **खगेन्द्र मणिदर्पण** ।

साहित्यिक क्षेत्रों की इन उपलब्धियों के अतिरिक्त होयसड़ काल, ललित कलाओं, वास्तु, मूर्तिकला और भित्तिचित्रकला के क्षेत्रों में कुन्तल इतिहास के एक महत्त्वपूर्ण अध्याय को उपस्थित करता है । ललितकलाओं के दो केन्द्र थे–एक तो स्वयं राजदरबार और दूसरा मंदिरों के शान्तचित्त प्रांगण । इनमें नृत्य, गायन और वाद्य के कलाकार रहते थे, जो राजदरबारों में मनोरंजन तथा देवी-देवताओं के गुणगान के साथ सतत् गीत और वाद्य में लगे रहते थे । विष्णुवर्धन की रानी शान्तलदेवी स्वयं नृत्य और गानविद्या में पारंगत थी, जिससे यह प्रकट होता है कि राजदरबारों और राजपरिवारी लोगों को इनके प्रशिक्षण प्राय: प्राप्त होते रहे होंगे । मंदिरों में अलंकरणों के रूप में अथवा स्वतंत्ररूप में उस समय की नर्तकियों के जो चित्र अथवा मूर्तियाँ प्राप्त होती हैं, उनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि उन्हें पूरे मांसलरूप में और गहनों से पूरी तरह सजाकर ही चित्रित किया जाता था । चन्नकेशव मंदिर (बेलूर) की बाहरी दीवार के फलक पर दरबार में बैठे हुए राजा विष्णुवर्धन का एकचित्र उकेरा गया है । बायीं ओर रानी शान्तलदेवी हैं और दाहिनी ओर एक मंत्री का चित्र है । पीछे की ओर चंवर झूलने वाले और सामने प्रशस्तिगान करने वाले गायक हैं[२] ।

होयसड़ शासकों के समय की स्थापत्य कला को चालुक्य स्थापत्य कला की परिणति के रूप में देखा जा सकता है । वास्तव में उनकी स्थापत्य कला चालुक्यों के समय से प्रारंभ होने वाली उस **बेसर** स्थापत्य का ही प्रस्फुटित रूप है, जो उनके द्वारा प्रारंभ की हुई कुछ नवीन विधाओं और शैलियों के नवागमन के कारण एक विशिष्ट होयसड़ शैली के नाम से अभिहित की जाती है । होयसड़ों के समय के मंदिर निर्माण के तीन प्रमुख केन्द्र थे; होयसड़ राजधानी दोरसमुद्र (आधुनिक हलेविदु गांव), बेलूर और सोमनाथपुर, जहाँ क्रमश: होयसड़ेश्वर,चन्नकेशव और केशव मंदिर नामक तीन प्रसिद्ध मंदिरों के इर्द गिर्द न जाने कितने मंदिरों के निर्माण किये गये थे । यद्यपि उनमें से अब बहुत तो नष्ट हो चुके हैं, तथापि लगभग ९० मंदिर वहाँ अपेक्षाकृत अभग्न अवस्था में आज भी परिलक्षित हैं । उनका होयसड़ स्थापत्य कला में वही स्थान है, जो अहिहोड़, पट्टडकल, धारवाड़ और मैसूर के मंदिरों का चालुक्य स्थापत्य के इतिहास में विभिन्न

---

१. वहीं, पृष्ठ ५०७ ।

२. मद्रास आर्केलाजिकल् रिपोर्ट, १९४८, पृष्ठ १८-१९ ।

शैलियों के संगम और साथ ही गतिशीलता में स्थान है। डोड्डगडवल्ली का डोड वसवन्ना मंदिर इस होयसड़ शैली की परिणति का एक अनुपम उदाहरण है, जो मैसूर में स्थित[१] है।

इन होयसड़ मंदिरों की स्थापत्य विशेषताओं का एक संक्षिप्त उल्लेख आवश्यक है। इन मंदिरों के पूर्ण विकसित स्वरूप की विशेषताएँ निम्नलिखित[२] थीं–अपेक्षाकृत कम ऊँचाई किन्तु व्यापक विस्तार; नक्षत्रों के आकार की योजना; एक केन्द्रीय कक्ष के चारों ओर तीन-चार अथवा पांच विमानों का एक ही साथ संयोजन; नीचे के मंदिर से ऊपर की ओर जाती हुई अटारियां; छेददार सुचित्रित खिड़कियाँ; पालिश किये गये और खराद कर बनाये गये स्तंभ; बहुत ऊँचे ऊँचे चबूतरों पर कई सतहों वाले निर्माण तथा अत्यन्त सूक्ष्मता के साथ मंदिर के सभी भागों में की गयी चित्रकारी और अलंकरण। प्राचीन अथवा मध्यकालीन चालुक्य मंदिरों में सादगी थी, किन्तु होयसड़ मंदिरों में अलंकरण और चित्रकारी की अधिकता प्राप्त होती है।

होयसड़ मंदिरों में पत्थरों के साथ साथ लकड़ी के भी प्रयोग प्राप्त होते हैं। इनमें जिन पत्थरों का प्रयोग किया गया, वे वहाँ पास में ही बहुतायत से प्राप्त हो जाते थे। वे अत्यन्त महीन कणवाले काले पत्थर थे, जो इमारतों में प्रयुक्त किये जाते थे। पहाड़ों से खोदते समय तो वे काफी नरम होते थे, किन्तु समय बीतने के साथ काफी मजबूत और कड़े हो जाते थे। अत: उनपर कुछ दिनों के भीतर ही अच्छी चित्रकारी और पच्चीकारी का काम आसान था। दन्तकारों और स्वर्णकारों द्वारा दिखायी जाने वाली महीनी उनपर संगतराशों द्वारा दिखायी जा सकती थी। इन मंदिरों में एक केन्द्रीय कक्ष; उसकी दीवारों में अनेक प्रकोष्ठ; सामने स्तम्भों वाला बरामदा; पुन: एक खुला हुआ विशाल **मण्डप** होता था, जिसे **मुखमण्डप** कहा जाता था। इन मंदिरों में केन्द्रीय देवगृह (**गर्भगृह**) के ठीक चारों ओर कोई **प्रदक्षिणामार्ग** नहीं बनाया जाता था, अपितु वह सबसे बाहर होता था। दीवारों पर एक के ऊपर दूसरी और पुन: तीसरी आड़ी पंक्तियों में चित्रकारियाँ बनायी गयीं हैं। स्तंभ तथा स्तंभशीर्ष का आकार इस शैली की मुख्य विशेषता है[३]।

सोमनाथपुर का केशवमंदिर श्रीरंगपट्टम् से लगभग ३२ किलोमीटर की दूरी पर स्थित है और इस शैली का सर्वोत्तम नमूना माना [४]जाता है। यह एक प्रकार का त्रिगुणदेवालय है, जिसमें ६४ कोठरियाँ हैं जो समकोण वाले चतुर्भुजाकार आंगन के भीतर

---

१. ए० के० कुमारस्वामी, ए हिस्ट्री ऑफ् इण्डियन् ऐण्ड इण्डोनेशियन् आर्ट, १९२६, पृष्ठ ११७।

२. वहीं, पृ० ११७।

३. नीलकान्त शास्त्री, दक्षिण भारत का इतिहास (हिन्दी अनुवाद; पृष्ठ ४८४-४८५)

४. वहीं, पृष्ठ ४८५।

हैं। इसमें एक ही प्रवेश द्वार है, जो पूरब की ओर है। इसका सम्पूर्ण घेरा २१५ फीट लम्बा और १७७ फीट चौड़ा है। इसकी तीन अटारियाँ हैं, जो ऊँचाई में तो केवल ३० फीट ही हैं; किन्तु भवन के अन्य भागों से उनका बढ़िया संतुलन है। १११७ ई० में द्वितीय बल्लाल के समय निर्मित चन्नकेशव का बेलूर वाला मंदिर है, जिसका ऊपरी ढांचा अब गायब हो चुका है। इसके स्तंभयुक्त हाल की तीन दिशाओं में इसके तीन द्वार हैं। इसके हाल के स्तम्भों को चित्रित करने में इसके निर्माणक कलाकार ने संभवत: सबसे अधिक ध्यान दिया था। होयसलेश्वर (हलेविदु = दोरसमुद्र) का मंदिर कदाचित् इस कला का सर्वोत्तम नमूना है। दुर्भाग्यवश, इसका भी ऊपरी ढांचा गायब है। इसके कलाकार के बारे में यह ज्ञात होता है कि प्रथम नरसिंह के मुख्य अधिकारी केतमल्ल की देखरेख में केदरोज नामक चित्रकार ने इसके निर्माण की पूरी कल्पना की थी और उसी के कुशल शिल्पनेतृत्व में यह बनाया गया था। यह दोहरा मंदिर है, जिसमें सटे-सटे दो ढांचे हैं– जो बिल्कुल समानरूप में अगल बगल खड़े किये गये हैं। इसकी सम्पूर्ण लम्बाई ११२ फीट और चौड़ाई १०० फीट है। मंदिर की बाहरी दीवारों पर असंख्य मूर्तियाँ खुदी हैं और उनके कारण यह विश्व के एक अनोखे उदाहरण के रूप में उपस्थित होता है[१]।

●

---

१. होयसड़ स्थापत्य और कला के लिए आगे देखें, १५वाँ अध्याय, पृष्ठ ४५५-४६०।

अध्याय ५ से ८ तक का परिशिष्ट

कन्नड़ और तेलुगू साहित्य की रूपरेखा (६००-१३०० ई०)

पीछे प्राय: सभी राजवंशों से सम्बद्ध इतिहास के सिलसिले में उनकी उपलब्धियों की चर्चा के समय तत्कालीन साहित्यिक प्रवृत्तियों और कृतियों की संक्षिप्त चर्चाएँ अवश्य ही की गयी हैं। तथापि कुछ विशदरूप में, ऐतिहासिक पूर्वापर का ध्यान रखते हुए, यहाँ कर्नाटक और तेलुगू क्षेत्रों में निर्मित कन्नड़ और तेलुगू साहित्य का विवरण इस परिशिष्ट के माध्यम से अपेक्षित जान पड़ता है। इससे पाठक को सम्बद्ध समयावधि (६००-१३०० ई० प०) के भीतर के साहित्यिक विकास को समग्ररूप से समझने और जानने में सुविधा होगी। संभव है, कुछ पुनरुक्तियाँ भी हो जाँय, जिन्हें क्षम्य माना जाना चाहिए।

कन्नड (कन्नड़) साहित्य—१३०० ई० तक

दक्षिण भारतीय द्राविड़[१] भाषाओं में तमिल के बाद कन्नड़ (कन्नड) सर्वाधिक प्राचीन है। जब पुर्तगाली लोग पश्चिमी किनारे पर बसे तो उन्होंने कन्नड़ भाषा और प्रदेश को 'कनारीज़'[२] कहा। 'कन्नड़' शब्द प्राचीन शब्द कर्णाट अथवा कर्णा (र्ना) टक का तद्भवरूप है। अत्यन्त प्राचीन काल में इस क्षेत्र को कारुनाडु कहा जाता था। **शिलप्पद्दिकारम्** (दूसरी शती) में **कारुनाटर** (कारुनाडु) के कम से कम दो उल्लेख मिलते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि लगभग दो हजार वर्षों पूर्व ही इस क्षेत्र की अलग भौगोलिक सत्ता अपना स्वरूप ग्रहण कर चुकी थी। आजकल के कन्नड़ लोगों का फैलाव महाराष्ट्र (मुम्बई) राज्य के दक्षिण-पूर्व में बीजापुर, बेलगांव, धारवाड़, कनारा, हैदराबाद के पश्चिमी क्षेत्रों, मैसूर तथा बंगलो (लू) र के क्षेत्रों तक है। द्रविड़ भाषासमूह में कन्नड़ सर्वाधिक बोली जाने वाली भाषा है।

कन्नड़ साहित्य के सर्वप्रथम प्रसिद्ध लेखक संभवत: प्रथम **अमोघवर्ष** नामक वे दीर्घशासी राष्ट्रकूट सम्राट् (नवीं शती) थे, जिनकी उपाधि **नृपतुंग** थी। **नृपतुंग** ने अपने

---

१. 'द्रविड' शब्द का उच्चारण कुछ लोग 'द्रविड़' भी करते हैं। परन्तु संस्कृत साहित्य और अभिलेखों में यह शब्द जहाँ-जहाँ भी आया है, वहाँ इसकी वर्तनी, 'द्रविड' ही मिलती है। इसी प्रकार 'कन्नड़' और कन्नड दोनों ही उच्चारणों का प्रयोग होता है।

२. आज से लगभग सवा सौ वर्षों पूर्व जब जॉन फेथफुल (जे०एफ्०) फ्लीट ने इस क्षेत्र के इतिहास पर अपनी पुस्तक लिखी तो उसका शीर्षनाम 'डाइनेस्टीज़ ऑफ् दि कनारीज़ डिस्ट्रिक्ट्स्' ही दिया।

कविराजमार्ग्ग नामक अलंकारशास्त्र और छन्दशास्त्र से सम्बद्ध प्रसिद्ध ग्रंथ में कन्नड़ क्षेत्रों की प्रशंसा में लिखा कि "यह क्षेत्र कृष्णा से लेकर गोदावरी नदियों के बीच फैला हुआ है, वहाँ के लोग लयमय भाषा में बोलते हैं; वे कविओं के भावों को अतिशीघ्र समझने में कुशल हैं और जो पाठशालाओं में पढ़े हुए नहीं भी हैं, वे भी काव्य के कठोर नियमों को समझते[१] हैं" । कुछ विद्वानों को इस बात में सन्देह[२] है कि **अमोघवर्ष नृपतुंग** ने ही वास्तव में **कविराजमार्ग्ग** का प्रणयन किया था ।

कन्नड़ शब्दावली, व्याकरण, लिपि और ध्वनि की दृष्टि से संस्कृत से अत्यधिक प्रभावित रही प्रतीत होती है । इसकी लिपि तो तमिल के लिए प्रयुक्त होने वाली उस **ग्रंथलिपि** से ही मिलती जुलती है, जो मूलत: अशोक के धर्मलेखों में प्रयुक्त होने वाली ब्राह्मी से ही निकली थी । किन्तु इसके शब्दोच्चारण संस्कृत के अधिक नजदीक हैं, बजाय तमिल के । तमिल के **आलवार** (**आड़वार** अथवा **आल्ड़वार**) जैसे शब्दों के प्राचीन कर्कश उच्चारण अब इसमें नहीं प्राप्त होते । वास्तव में तमिल व्याकरण का पद्धतीय विकास संस्कृत व्याकरण से एकदम अलग और स्वतंत्र रूप में हुआ और उसके शब्दों के उच्चारण भी तमिल क्षेत्र में प्रचलित स्वराघातों के अलग स्वरूप से ही विकसित हुए । किन्तु कन्नड़ की वर्णमाला प्राय: संस्कृत के समान[३] ही है । अनेक कन्नड़ विद्वान्, संस्कृत में भी उतने ही निष्णात थे, जितना अपनी भाषा कन्नड़ में । "बहुत मानों में कन्नड़ इस बात का दावा कर सकती है कि वह आर्य और द्रविड़ भाषाओं तथा उत्तर और दक्षिण के बीच एक सेतु का रूप धारण कर चुकी है ।" आगे के विवरणों से एक बात यह स्पष्ट होगी कि उसके ग्रंथों के प्राय: सभी नाम संस्कृत के शब्दों जैसे ही हैं ।

अभी हाल में ज्ञात होने वाले **वोड्डु आराधन** नामक प्राचीन ग्रंथ की जानकारी हुई है, जिससे स्पष्ट है कि कदाचित् **नृपतुंग** रचित **कविराजमार्ग्ग** से भी पूर्व कन्नड़ का विकास प्रारंभ हो चुका था । यह एक नीतिपरक उपदेशात्मक ग्रंथ है, जिसके लेखक का नाम शिवकोट्याचार्य था । विकसित स्वरूप (नवीं शताब्दी) वाले इन दोनों ग्रंथों के कई शताब्दियों पूर्व ही कन्नड़ भाषा का प्रयोग प्रारंभ हो चुका था । यह उस समय के अनेक कन्नड़ शिलालेखों की प्राप्ति से प्रमाणित है, जो चिकमंगलूर और श्रवणबेलगोला जैसे स्थानों से प्राप्त हुए हैं । अत: इस बात के पर्याप्त संकेत है कि नवीं शताब्दी से लगभग ४०० वर्षों पूर्व से ही कन्नड़ में कुछ साहित्य लिखा जाने लगा था ।

कन्नड़ साहित्य के लेखकों और संरक्षकों में जैन, वैष्णव और वीरशैव राजाओं और उपासकों की गिनती प्राय: की जाती है और ऐसा माना जाता है कि कालक्रमानुसार उसी

---

१. श्रीनिवास आयंगर (अयंगार) द्वारा उद्धृत, 'दि एज ऑफ् इम्पीरियल् कनौज, पृष्ठ २२१ ।

२. नीलकान्त शास्त्री, ए हिस्ट्री ऑफ् साउथ इण्डिया, हिन्दी अनुवाद, पटना, पृष्ठ ४०२ ।

३. आर् नरसिंहाचार्य, हिस्ट्री ऑफ् कन्नड़ लिटरेचर, १९३४, पृष्ठ ५६ ।

आधार पर उस साहित्य का विकास भी हुआ। किन्तु इस साहित्यिक विकासक्रम पर सन्देह भी व्यक्त किये गये हैं। वे सभी एक दूसरे के आगे पीछे अथवा समकालिक रहे प्रतीत होते हैं। वास्तव में जैन राजाओं, धर्माचार्यों और सूरियों ने कन्नड़ साहित्य में सर्वाधिक योगदान किया। कन्नड़ के सर्वप्रथम प्रसिद्ध लेखक थे **कविराजमार्ग्ग** के प्रणेता **नृपतुंग** (८५० ई०) जो मान्यखेट के राष्ट्रकूट वंश के नवीं शताब्दी के प्रसिद्ध और बहुत ही दीर्घशासी (६८ वर्ष) शासक थे। उनका राजकीय नाम **अमोघवर्ष** था और **नृपतुंग** (श्रेष्ठ अथवा महान् तुंग = शिखर पर पहुँचा हुआ = बड़ा = ऊँचा राजा) उनकी उपाधि थी। उन्होंने अपने पैतृक धर्म का परित्याग करके जैनधर्म अपना लिया था। राष्ट्रकूटों की तरह ही चालुक्यों और होयसड़ (राजधानी दोरसमुद्र = हेलेविदु) राजाओं ने भी जैन धर्म और कन्नड़ भाषा को संरक्षण दिया था। उत्तर भारत के प्रत्येक राज्य में जैसे **राजकवि** नियुक्त किये जाते थे, वैसे ही दक्षिण भारत में भी **आस्थान कवि** नियुक्त किये जाते थे। राजागण प्रसन्न होकर उन्हें स्वर्ण, और हाथी की सवारी देने के अतिरिक्त **कविचक्रवर्ती** की उपाधियाँ भी देते थे।

नृपतुंग अपने **कविराजमार्ग्ग** में अनेक पूर्वतः हुए कविओं और लेखकों का उल्लेख करते हैं। उनमें कुशल शास्त्रार्थी और बहुत सी यात्राएँ कर चुकने वाले सामन्तभद्र का नाम आता है, जो छठीं शताब्दी में हुए थे। संस्कृत और कन्नड़ दोनों ही में समान विशिष्टता प्राप्त कर चुके पूज्यपाद नामक एक अन्य लेखक सातवीं शताब्दी में हुए थे। उदयविमल, जयबन्धु, दुर्विनीत और श्रीविजय नामक अन्यान्य कन्नड़ लेखकों के उल्लेख **कविराजमार्ग्ग** में प्राप्त होते हैं। यह दुःख की बात है कि उनकी किन्हीं भी रचनाओं का ज्ञान नहीं है। वे संभवतः सभी की सभी अब नष्ट हो चुकी हैं।

नृपतुंग के थोड़ा ही पूर्व वेंगी के पूर्वी चालुक्य राज्य के निवासी दण्डिन् नामक गद्यलेखक और अलंकारशास्त्री द्वारा रचित **काव्यादर्श कविराजमार्ग्ग** का आदर्श ग्रंथ था। यह कन्नड़ के विकास में संस्कृत साहित्य के छन्द और अलंकार संबंधी सिद्धान्तों के प्रभाव का द्योतक है। नीलकान्त शास्त्री के मत में शिवकोटि विरचित **वड्डाराधेन** (९०० ई०) प्राचीन कन्नड़ साहित्य की प्राचीनतम गद्यात्मक कृति है। यह प्राचीन जैन सन्तों के जीवन पर प्रकाश डालती है। किन्तु इन सबके बावजूद भी **कविराजमार्ग्ग** को ही कन्नड़ साहित्य के प्रारंभिक सूत्र के रूप में स्वीकार किया जाता है। उसके लेखक अन्य कई भाषाओं (मुख्यतः संस्कृत) के भी पण्डित थे और साहित्यिक विधाओं में पवित्रतावादी (मूल सिद्धान्तों के पक्षवादी) सिद्धान्तों को ही मानते थे। अतः वे दूसरी भाषाओं से ऋण लेने के विरोधी ही थे। तथापि **अमोघवर्ष** (प्रथम) के समय के बहुत ही लम्बे-लम्बे संस्कृत भाषा में रचित ताम्रपत्र लेख[१] उनके संस्कृत प्रेम और ज्ञान की ओर निर्देश करते

१. उदाहरण के लिए देखें, संजान ताम्रपत्राभिलेख।

हैं । महान् काव्य कैसा होना चाहिए, इसपर **नृपतुंग कविराजमार्ग्ग** में कहते हैं कि उसमें "प्रकृतिचित्रण, पर्वत, समुद्र, सूर्य, चन्द्र का उगना और डूबना" भव्य रूप में प्रदर्शित होना चाहिए और साथ ही "प्रेमलीलाओं, साहसिक कार्यों, खेलकूद और उत्सवों के मनोरम विवरण भी होने चाहिए ।" वास्तव में जबतक "कवित्व की आग" न जलती हो तबतक केवल साधारण बातों के बीच "अनश्वर काव्य" का निर्माण नहीं हो सकता ।"

कन्नड़ साहित्य में तीन कविओं की चर्चा बड़े आदर और स्मरण के साथ की जाती है, जो **त्रिरत्न**[१] के नाम से प्रसिद्ध हैं । ये त्रिरत्न थे पम्प, पौन्न और रन्न । पम्प को कन्नड़ का सर्वश्रेष्ठ कवि स्वीकार किया गया है । वेंगी देश में निवास करने वाले पम्प कवि वेलुंववाडि के शासक अरिकेसरिन् के राजदरबारी कवि थे । ३९ वर्ष की अवस्था होते-होते उन्होंने अनेक काव्यों की रचना कर डाली थी, जिनमें प्रमुख थे **पम्पभारत, शान्तिपुराण, आदिपुराण** और **भुवनइकारामाभ्युदय** । **पम्पपुराण** को **विक्रमार्जुनविजय** नाम से भी जाना जाता है । वास्तव में **महाभारत** और **रामायण** को आधार (उपजीव्य काव्य) बनाकर भारत के सभी साहित्यों में लगभग हजारों काव्यग्रंथ लिखे गये । उनकी ही कड़ी में महाभारतकालीन वीर अर्जुन की विजयों का विवरण समकालिक राजाओं की समानता दिखाते हुए किया गया है । पम्प कवि जैनधर्मानुयायी थे और अन्यान्य जैन आचार्यों की ही तरह उनके **आदिपुराण** के विषयरूप में जैन तीर्थंकर आदिनाथ और **शान्तिपुराण** की आधारवस्तु के रूप में शान्तिनाथ नामक तीर्थंकरों के जीवनवृत्त हैं, जो काव्य कल्पनाओं से भरे हुए हैं । आदिनाथ प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव थे और शान्तिनाथ सोहलवें तीर्थंकर थे ।

पम्प की ही तरह पौन्न कवि भी वेंगी के ही निवासी थे[२] और कन्नड़ सहित संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे । इसी कारण उनके आश्रयदाता राजा तृतीय कृष्ण ने उन्हें **उभयकविचक्रवर्ती** अथवा दोनों ही भाषा में कविता करने वाले कविओं को चक्रवर्ती की उपाधि दे रखी थी । आयु में पौन्न कवि पम्प से जेष्ठ थे । **त्रिरत्नों** में पम्प, और पौन्न के बाद तीसरा नाम आता है रन्न का और इन तीनों ने मिलकर कन्नड़ रङ्गमञ्च को मजबूत किया । रन्न का जन्म ९४९ ई० में एक चूड़ीहार के घर में हुआ था, किन्तु अपने

---

१. लगता है, भारतीय संस्कृति, धर्म, दर्शन और साहित्य आदि में ३, ७, १३ और १८ की संख्याएँ रूढ़ रूपों में बड़ी प्रमुख हो गयीं, यथा; त्रयी (ऋग्, यजु: और सामवेद); त्रिमूर्ति (ब्रह्मा, विष्णु और महेश); त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम); बौद्ध त्रिरत्न (बुद्ध, संघ और धर्म); जैन त्रिरत्न (सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र); दुर्गा सप्तशती; गाथा सप्तशती; बिहारी सतसई; भागवतकथा के सप्ताह; दुर्गासप्तशती के तेरह अध्याय०; संस्कृत महाकाव्यों के तेरह अध्याय; गीता के १८ अध्याय, महाभारत की १८ अठारह अक्षौहिणी सेनाएँ; १८ पुराण; १८ स्मृतियाँ और १८ उपनिषद् आदि ।

२. विवरण हेतु देखें, नीलकान्त शास्त्री, दक्षिण भारत का इतिहास (हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ ४०२ ।

काव्यकौशल से वे भी **कविचक्रवर्ती** बन गये–ऐसे **कविचक्रवर्ती** कि राजदरबार से उन्हें सोने की छड़ी, हाथी की सवारी तथा छत्र-चंवर का सम्मान प्राप्त हुआ। अजितनाथ नामक तीर्थंकर पर उन्होंने **अजितपुराण** की रचना की। गद्य और पद्य विधाओं में लिखा हुआ यह एक चम्पूकाव्य है। रन्न ने और भी अनेक रचनाएँ कीं। चावुण्डराय नामक एक अन्य कन्नड़ कवि ने **चावण्डराय पुराण** अथवा **त्रिषष्ठिलक्षण महापुराण** नाम से २४ तीर्थंकरों, १२ चक्रवर्तियों, ९ बलभद्रों, ९ नारायणों और ९ प्रतिनारायणों से सम्बन्धित उपाख्यानों की रचना की[१]। चावण्डराय गंग शासक चतुर्थ राचमल्ल का एक सामन्त था। नागवर्म्मा नामक एक ब्राह्मण ने कन्नड़ में छन्द शास्त्रों पर सबसे पहली रचना दी **छन्दोम्बुधि** अर्थात् छन्दों का समुद्र। उसी लेखक ने बाणभट्टकृत **कादम्बरीकथा** की नकल पर **कर्णाटक कादम्बरी** लिखी, जिसकी मधुर और धाराप्रवाह शैली बड़ी ही प्रशंसनीय है।

राष्ट्रकूट और उनके सामन्त शासकों के समय होने वाले इन विभिन्न कविओं और लेखकों के बाद कल्याणी के चालुक्य राजाओं के समय भी कन्नड़ साहित्य का प्रवाह अग्रसर होता रहा। द्वितीय जयसिंह **जगदेकमल्ल** (चालुक्य) के एक शैवमतावलम्बी ब्राह्मण मंत्री थे दुर्गासिंह, जिन्होंने गुणाढ्य की प्रसिद्ध कृति **वृहत्कथा** को आधार बनाकर **पञ्चतंत्र** नामक एक चम्पूकाव्य लिखा। इस समय के अन्य लेखकों में थे **मदनतिलक** के रचयिता महापण्डित चन्द्रराज (ब्राह्मण); **लोकोपकार** के लेखक अद्वैत शैव के मानने वाले (ब्राह्मण) चावण्डराय; **जातकतिलक** के कर्ता जैनधर्मदीक्षित ब्राह्मण श्रीधर आचार्य। यह **जातकतिलक** कन्नड़ भाषा में फलित ज्योतिष की सबसे प्राचीन पुस्तक मानी जाती है।

कल्याणी के चालुक्यों के अधीन जैन तीर्थंकरों के जीवनवृत्त पर अनेक ग्रंथ लिखे गये। यद्यपि अनेक आधुनिक इतिहासकार (यथा, रामशरण शर्मा) २४ तीर्थंकरों में सभी को ऐतिहासिक पुरुष स्वीकार नहीं करते, जैन साहित्य में उनके जीवन से सम्बंधित उल्लेखों को जैनधर्म के विस्तार और विश्वासों के परिप्रेक्ष्य में ही देखा जाना चाहिए। नागचन्द्र ने (११०५ ई०) १९वें तीर्थंकर (मल्लिनाथ) की स्मृति में **मल्लिनाथपुराण** लिखा, जो काव्यशास्त्र की दृष्टि से एक चम्पूकाव्य है। चम्पूकाव्य गद्य और पद्य दोनों

---

१. यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि उत्तर भारतीय क्षेत्रों, विशेषत: राजस्थान और गुजरात में भी प्राय: समकालिक तीन-चार शताब्दियों के मध्य आदिपुराण और महापुराण जैसे ग्रंथों की रचना दूसरे जैनाचार्यों ने की। आदिपुराण के लेखक जिनसेन और उत्तरपुराण के लेखक गुणभद्र थे। दोनों को मिलाकर महापुराण कहते हैं। कुमारपाल चौलुक्य के समकालिक, जैनधर्म के सबसे बड़े विद्वान् हेमचन्द्र ने संस्कृत भाषा में त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित नामक ग्रंथ की रचनाकर अमरत्व प्राप्त कर लिया। उनके भी ६३ शलाकापुरुषों में २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती ९ बलदेव ९ वासुदेव और ९ प्रतिवासुदेव ही हैं।

में ही रचे जाते हैं (गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरीत्यभिधीयते)। जैनों और बौद्धों दोनों ही धर्मों के विद्वानों की एक प्रवृत्ति यह थी कि वे हिन्दू देवी देवताओं तथा हिन्दू धर्म के कुछ अवतारों को भी अपने-अपने धर्मों के अनुयायिओं के रूप में ही दिखाते थे। उदाहरण के लिए राम को बौद्धों ने **दशरथ जातक**[१] में सीता के भाई के रूप में और पुन: सीता को उनकी पत्नी के रूप में दिखाया है। वास्तव में बौद्ध निकायों के अनुसार शाक्यों में भाई-बहिन के विवाह को मान्यता[२] थी। ठीक इसी प्रकार, जैन लेखक नागचन्द्र **रामचन्द्रपुराण** में राम को जैनधर्मावलम्बी के रूप में उपस्थित करते हैं। इसी प्रकार चावण्डराय के **चावण्डराय पुराण** (**त्रिषष्टिलक्षण महापुराण**) में ९ बलभद्रों (बलराम) और ९ नारायणों की जो चर्चा है अथवा हेमचन्द्र रचित **त्रिषष्ठिशलाकापुरषचरित** में जो ९ वासुदेवों और ९प्रतिवासुदेवों की चर्चा है, वह शुद्धरूप से वैष्णवपंथ के इन संस्थापकों को जैन रूप में चित्रित करने के ही प्रयत्न हैं।

रामचन्द्रपुराण वाल्मीकि रचित **रामायण** की कहानी से एकदम भिन्नरूप में लिखित है। इसके अनुसार राम ने जैन धर्म स्वीकार किया और जैन मुनि बन गये। काव्यगत विशेषताओं के कारण नागचन्द्र को **अभिनवपम्प** अर्थात् नये पम्प की उपाधि मिली और **रामचन्द्रपुराण** को **पम्पभारत** कहा जाने लगा। अन्य धर्मों की तुलना में जैनधर्म की श्रेष्ठता दिखाने का प्रयत्न महाशिव द्वारा रचित **समयपरोक्षे** नामक तर्कवितर्क और खण्डनमण्डन वाले ग्रंथ में भी दिखायी देता है। ११४५ ई० में कर्णपार्य ने २२वें तीर्थंकर के चित्रण हेतु **नेमिनाथपुराण** लिखा। इसी समय के आसपास द्वितीय नागवर्मा ने कन्नड़ व्याकरण और अलंकार शास्त्र पर **काव्यावलोकन** नामक ग्रंथ लिखा। यह गद्य और पद्य दोनों के विविध उदाहरणों से भरा हुआ है। उन्हीं की एक दूसरी भी कृति कन्नड़ व्याकरण पर है—**कर्नाटि(ट)क भाषाभूषण**। उन्हीं ने **वास्तुकोश** नाम से ८०० कन्नड़ ग्रंथों का एक कोशग्रंथ भी प्रणीत किया। द्वितीय नागवर्मा द्वितीय जगदेकमल्ल (चालुक्य शासक) के अधीन **कटकोपाध्याय** (कटक = सेना में शिक्षक) पद पर था और १३वीं शताब्दी के प्रथम दशक (१२०९ ई०) तक जीवित था।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि कन्नड़ साहित्य के प्रारंभिक विकास में जैन लेखकों का ही सर्वाधिक योगदान था। वास्तव में चालुक्य और राष्ट्रकूट (विशेषत: राष्ट्रकूट) राजाओं में अनेक तो स्वयं जैन थे और जो जैन नहीं भी थे, उनमें भी धार्मिक

---

१. जातक, फॉसबाल (पालि मूल, रोमक अक्षरों में), जिल्द ४, पृष्ठ १२४-१३०, संख्या ४६१; विशुद्धानन्द पाठक, हिस्ट्री ऑफ् कोशल, पृष्ठ १७३।

२. दीघनिकाय, बाम्बे यूनिवर्सिटी प्रकाशन, भाग १, पृष्ठ १०३; सुमंगल विलासिनी, पाटेसो०, भाग १, पृष्ठ २५८ और आगे; विशुद्धानन्द पाठक पूर्वोक्त, पृष्ठ २४९।

उदारता कूट-कूटकर भरी हुई थी और उनके अनेक प्रशस्तिकार (यथा रविकीर्त्ति) तथा द्वितीय नागवर्मा, मंत्री अथवा राज्याधिकारी जैनधर्मावलम्बी थे। फलत: लाट, कर्नाटक, वेंगी, विदर्भ और वनवासी आदि के क्षेत्रों में जैनधर्म खूब फला-फूला, उसके अनेकानेक मंदिर बने और उसके सैकड़ों आचार्य और विद्वान् हुए, जिन्होंने उस धर्म की प्रशंसा और प्रसार को आगे बढ़ाया। १२वीं शताब्दी के बाद के अधिकांश कन्नड़ लेखक या तो वीर शैव मत के अथवा वैष्णव मत के मानने वाले थे। किन्तु इस पुस्तक की समय सीमा (६००-१३०० ई०) के बाहर होने के कारण उनकी कन्नड़ कृतियों की चर्चा इसमें नहीं की जायगी।

तेलुगू साहत्यि[१]-१३०० ई० तक

तेलुगू भाषाभाषी लोगों की संख्या संप्रति ३ करोड़ के आसपास है। यदि इनके भौगोलिक विस्तार को देखा जाय तो उत्तर में राजमुं (हुं) द्री से लेकर चेन्नई तक की एक सीधी रेखा में एक चन्द्राकार वृत्त में रहने वाले ये लोग उत्तर में कलिंग (उड़ीसा) से लेकर दक्षिण में पेन्नार और पलार नदियों के क्षेत्रों तक फैले हुए हैं। अनेक तेलुगूभाषी तो आज भी तमिल क्षेत्रों में निवास करते हैं। तेलुगू क्षेत्रों का बहुप्रचलित नाम आन्ध्र प्रदेश (आंध्रदेश) है। किन्तु अन्य भारतीय प्रदेशों के नाम पर ही जैसे उनकी प्रांतीय भाषाओं के नाम पड़ गये, वैसा आंध्र प्रदेश में क्यों नहीं हुआ, इसका कोई सही-सही उत्तर नहीं दिया जा सकता। तथापि वहाँ की भाषा का नाम तेलुगू भी शुद्ध भौगोलिक तथ्यों पर ही आधृत है। वास्तव में आंध्र प्रदेश का प्रारंभिक नाम **त्रिलिंग** था। त्रिलिङ्ग का अर्थ है तीन लिंग = पर्वत चोटियाँ। ये तीन पहाड़ियाँ थीं श्रीशैल, कालेश्वर (कालहस्ती) और द्राक्षाराम। अत: त्रिलिङ्ग से तेलुगू की ध्वन्यात्मक समानता अथवा उद्भव की कल्पना स्वीकार्य प्रतीत होती[२] है।

तेलुगू साहित्य को दो भागों में बाँटा जाता है। एक भाग का नाम 'देशी' था और दूसरे का 'मार्गी'। उसमें 'देशी' पहले बोली जाने वाली भाषा थी, जो अत्यन्त साधारण जनों द्वारा बोली जाती थी और उन्हीं, अत्यन्त साधारण लोगों के, सुख-दु:ख, मानवभावों के प्रकटन, प्रेम और बिछोह, फसल कटाई और त्योहारों तथा उत्सवों के अत्यन्त प्राकृतिक रूपों का चित्रण करती थी। इस 'देशी' स्वरूप में पालनों के गानों (**लालि-पाटलु**), प्रेमगीत (**जवलिलु**) तथा फसल कटाई के गीत (**ऊडुप पात(ट)लु**) जैसे

---

१. लेखक इस खण्ड के लिए के० आर्० श्रीनिवास आयंगार=अयंगार। 'स्ट्रगल फॉर इम्पायर' पृष्ठ ३७२-३७६) का ऋणी है।

२. इस विषय पर पी० टी० राजू ने विशेष रूप से विचार किया है। देखें, तेलुगू लिटरेचर (१९४४), पृष्ठ ८-९। उसी पुस्तक की भूमिका में देखें सी० आर्० रेड्डी के विचार।

अत्यन्त स्वाभाविक और मानव जीवन के प्राकृतिक स्वरूपों के दर्शन होते हैं। तेलुगू विद्वानों[1] के मत में यह 'देशी' स्वरूप आर्य प्रभावों से एकदम मुक्त था और उस भाषा के द्राविड़ मूल और प्रभाव को प्रदर्शित करता है।

जहाँ उपर्युक्त 'देशी' गांवों और ग्रामवासिओं की भाषा थी, वहीं तेलुगू के अधिक विकसित प्रकार वाली और आर्यप्रभावित (संस्कृत प्रभावित) 'मार्गी' नगरवासिओं, अधिक सुसंस्कृत और सोफियानापन वाले धनी लोगों की भाषा हुई। इसमें कुछ बाहरीपन था और एक मिश्रित मादकता भी थी। पाणिनि ने अपनी **अष्टाध्यायी** में 'इति भाषायाम्' कहते हुए देशज और संस्कृत प्रयोगों का जो भेद किया है, वही तेलुगू के इस 'देशी' और 'मार्गी' रूपों के विभेद में भी दिखायी देता है। 'मार्गी' साहित्य पर संस्कृत का गहरा प्रभाव दिखायी देता है। आज भी तेलुगू में लगभग दो तिहाई शब्द संस्कृत के ही हैं और केवल एक तिहाई शब्दों के ही मूल द्रविड़ रूपों वाले कहे जा सकते हैं। तेलुगू और कन्नड़ की उच्चारण सम्बन्धी समानता बहुत ही स्पष्ट है, जिसका कारण कन्नड़ क्षेत्रों से इसकी भौगोलिक निकटता है। तथापि कन्नड़ साहित्य के प्रारंभ काल की अपेक्षा तेलुगू साहित्य (मार्गी) का प्रारंभिक युग लगभग ४००-५०० वर्षों बाद १०वीं-११वीं सदियों के पूर्व नहीं माना जाता। उसके पूर्व के अनेक कन्नड़ कवि और लेखक तो आंध्र प्रदेश के ही निवासी[2] थे। कन्नड़ साहित्य के तीन महान् कृतिकारों (त्रयी) के दो सदस्य पम्प (**पम्पभारत** के रचयिता) और पौन्न वेंगी के ही निवासी थे, जो तेलुगू क्षेत्र का ही एक छोटा सा राज्य था। वही पूर्वी चालुक्यों की राजधानी थी।

तेलुगू के 'मार्गी' साहित्य के जनक के रूप में ११वीं शती के प्रारंभिक चरण में होने वाले नन्नय अथवा नन्नैया (ह्) का नाम लिया जाता है। उनके तेलुगू **महाभारतम्** के नाम से प्रसिद्ध **महाभारत** के तेलुगू अनुवाद (केवल प्रथम दो-ढाई पर्वों वाले) को प्रथम **मार्गी** कृति माना जाता है। किन्तु उसके अत्यन्त अधिक संस्कृत प्रभावित स्वरूप और काव्यगुणों को देखते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि तेलुगू का इतना विकसित स्वरूप एकाएक उभर गया होगा। ऐसी मान्यता है कि उस स्वरूप का प्रारंभ कम से कम एक सौ वर्षों पूर्व तो अवश्य ही हो गया होगा, उस समय, जब युद्धमल्ल और मोपूर के (तेलुगू) अभिलेखों का प्रकाशन हुआ होगा[3]। उस समय के वेंगीदेश पर विष्णुकुण्डिन् वंश के राजा शासन करते थे, जिन्होंने प्राकृत-मिश्रित तेलुगू में अपने अभिलेखों का

---

१. पी० चेलैय्या (ह्) और राजभुजंगराव, ए हिस्ट्री ऑफ् तेलुगू लिटरेचर, पृष्ठ ३८-३९।

२. वास्तव में इसका कारण तेलुगू क्षेत्र के प्रसिद्ध नगरों-वेंगी, राजमुहुन्द्री, जयनगर, नेल्लूर आदि पर उनके चारों ओर फैले हुए पूर्वी चालुक्य राज्य का अधिकार था, जो मूलतः कन्नड़ था। उनके कुछ लेख भी कन्नड़ में ही हैं। उनका राजनीतिक स्वत्त्व लगभग १००० ई० तक बना रहा।

३. के० आर्० श्रीनिवास आयंगर=अयंगार, दि स्ट्रगल फॉर इम्पायर, पृष्ठ ३७४।

प्रकाशन कराया । यह युग उत्तर भारतीय संस्कृति और संस्कृत भाषा के दक्षिण में होने वाले गहरे प्रभाव और विस्तार का युग था । **महाभारत** उस संस्कृति का विश्वकोश है तथा उसके अध्ययन, उसके नाटकीय विवरणों को दक्षिण भारतीय भाषाओं द्वारा आत्मसात करने की प्रवृत्ति और बहुत हद तक दक्षिण भारतीय समाज का आर्यीकरण (संस्कृतिकरण) स्पष्टरूप से इस समय दिखायी देती है । **महाभारत** का तेलुगू **महाभारतम्** के रूप में तेलुगू अनुवाद इस प्रवृत्ति का ही प्रतिबिम्ब है ।

किन्तु नन्नय = नन्नैया[१](ह्) अपना अनुवाद कार्य पूरा कर सकें, यह नियति को मंजूर नहीं था । कदाचित् वे इस अन्धविश्वास या मिथक के शिकार हुए, जिसमें यह मान्यता है कि इस महाकाव्य (**महाभारत**) को पूरा-पूरा कभी एकबार में पढ़ना ही नहीं चाहिए; अन्यथा या तो युद्ध-संघर्ष अथवा झगड़े-तूफान जैसी विपत्तियाँ आ जाती हैं अथवा उसे एक बार में पूरा पढ़ने-लिखने वाले की मृत्यु ही हो जाती है । नन्नैया (ह्) प्रथम और द्वितीय पर्व (आदि और सभापर्व) पूराकर तीसरे पर्व (वनपर्व) का थोड़ा अंश ही अनूदित कर पाये थे कि वे उन्मत्त (पागल) हो गये और आगे अनुवाद की योजना धरी की धरी रह गयी । अगले दो सौ वर्षों तक यही अपूर्णता बनी रही । किन्तु १३वीं शताब्दी में नन्नैया (ह्) के ही समान एक दूसरे तेलुगू विद्वान हुए–टिक्कन्न-जिन्होंने चतुर्थ पर्व से प्रारंभकर १८वें पर्व तक के अनुवाद का काम पूरा किया । तीसरा पर्व (अरण्य अथवा वनपर्व) फिर भी अधूरा ही रह गया, जिसे टिक्कन्न के ५० वर्षों बाद एर्र्प्रगड ने अनूदित करके **तेलुगू महाभारत** को पूर्णता प्रदान की ।

इस प्रकार कन्नड़ के लेखकत्रय (कवित्रयी) पम्प, रन्न और पौन्न की तरह तेलुगू के **कवित्रय** हुए नन्नय=नन्नैया (ह्), टिक्कन्न और एर्र्प्रगड । नन्नैया(ह्) वेंगी के चालुक्य शासक राजराज नरेन्द्र (१०१९-१०६१) के दरबारी ब्राह्मण पण्डित थे और उस शासक के कहने पर ही उन्होंने **तेलुगू महाभारतम्** की रचना प्रारंभ की थी । इस कार्य को इतना प्रशंसनीय माना गया कि नन्नैया (ह्) को इस अनुवाद के माध्यम से एक **द्राक्षापाक** (अंगूरी शराब) बनाने वाले की उपमा दी गयी । टिक्कन्न ने **तेलुगू महाभारतम्** को पूर्ण करने के अलावा राम के लंका से लौटने की कथा को आधार बनाकर एक अन्य काव्य की भी रचना की । एरन्न (एर्र्प्रगड) भी उपर्युक्त दोनों की तरह ब्राह्मण ही थे, जिन्होंने **अरण्यपर्व** के बाद अनुवाद को पूरा करके **हरिवंश** और **नृसिंहपुराण** नामक दो अन्य प्रबन्ध काव्यों की भी रचना की । **नृसिंहपुराण** को **अहोबल माहात्म्य** भी कहा जाता है ।

---

१. नन्नैया(ह्) राजराज नरेन्द्र (१०१९-१०६१ ई० पश्चात्) के समय हुए थे । नन्नैया(ह्) ने ही संभवतः प्रथम तेलुगू व्याकरण की रचना की, जिसका नाम है 'आन्ध्र शब्दचिन्तामणि' । इसी कारण नन्नैया (ह्) को वागानुशासन की उपाधि मिली । देखें, नीलकान्त शास्त्री, ए हिस्ट्री ऑफ् साउथ इण्डिया, हिन्दी अनुवाद पृष्ठ ४१६ ।

तेलुगू साहित्य में नन्नैया (ह्), टिक्कन्न और एर्र्प्रगड को प्रशंसात्मक रूप में क्रमश: तीन उपाधियाँ **वागानुशासन** (भाषा के विधानकार), **कविब्रह्म** (कविओं के कर्ता) और **प्रबन्ध परमेश्वर** (प्रबन्ध साहित्य के ईश्वर) दी गयीं, जो उनके काव्यगौरव और साहित्यिक महत्त्व की द्योतक हैं।

इन तीनों की **महाभारतम्** की कविताएँ और लेखन चम्पू रीति में अर्थात् गद्य और पद्य दोनों ही में किये गये हैं। वास्तव में तेलुगू **महाभारतम्** व्यासकृत **महाभारत** का यथावत् और पूर्वापर अनुवाद न होकर उसके रूप, साधारण परिकल्पनाओं, कथानकों के क्रम और विचारों के पूर्वापर का ही एक प्रतिरूप है। "इसमें दर्शन कम है, उड़ानभरे विवरण अधिक हैं; गहराई कम है किन्तु मानवता अधिक है।---जैसे कम्बन रचित **रामायण** के दीवाने लोग उसे वाल्मीकि की रचना से भी ऊपर ठहराते हैं, वैसे ही नन्नैया (ह्), टिक्कन्न और एरन्न को व्यास के ऊपर बैठाने वाले तेलुगू लोग भी मिलते हैं। किन्तु कम्बन और उपर्युक्त तेलुगू कवित्रयी यदि आज रहती तो वह भी इसे सुनकर दंग रह जाती। वास्तव में नन्नैया (ह्) और टिक्कन की तेलुगू साहित्य के संदर्भ में यदि किसी से समता की जा सकती है तो वह अंग्रेजी साहित्य के चासर और शेक्सपियर से ही की जा सकती है।[१]"

तेलुगू भाषा का अगला विकास १३वीं शताब्दी और उसके बाद के काल में उस वीरशैव मत मानने वाले विद्वानों और लेखकों द्वारा हुआ, जो खण्डनमण्डन और शास्त्रार्थ द्वारा तो अपने मतों का प्रचार करते ही थे, प्राय: उसी उद्देश्य से लेखन कार्य भी करते थे। इस पुस्तक की विवेच्य काल सीमा के आगे होने के कारण यहाँ उनकी चर्चा नहीं की जायगी।

●

---

१. के० आर्०, श्रीनिवास आयंगर, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ३७६।

अध्याय ९

काञ्चीपुरम् (काञ्ची) के पल्लव

पल्लवों के मूल क्षेत्र और उनकी उत्पत्ति

आजतक न तो यह निश्चित किया जा सका है कि पल्लव मूलत: किस क्षेत्र के निवासी थे और न यह कि उनकी वंशोत्पत्ति कहाँ से और कैसे हुई । अत: यहाँ हम उन परस्पर-विरोधी मतों की ओर निर्देश मात्र ही कर सकेंगे, जिनके परिप्रेक्ष्य में कोई निश्चित निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता । काञ्ची पर पल्लवों द्वारा अधिकार किये जाने के पूर्व वहाँ तेलुगू चोड़ों का अधिकार रहा प्रतीत होता[१] है । संगम साहित्य के ग्रंथों में करिकाल को काञ्ची से जोड़ा गया है । किन्तु इस बात पर मतैक्य नहीं हैं कि इस करिकाल का सही-सही समय क्या था । कुछ इतिहासकार[२] उसका समय दूसरीं ईसा शताब्दी का मध्य भाग स्वीकार करते हैं । काञ्ची से प्रकाशित किया गया पल्लवों का प्रथम अभिलेख मयिदावोलु[३] से प्राप्त है, जिसे शिवस्कन्दवर्मन् (लगभग ३५० ई०) ने प्रकाशित किया था। लगभग उसी समय काञ्ची के शासक विष्णुगोप का नाम समुद्रगुप्त के इलाहाबाद स्तम्भलेख से ज्ञात होता है । किन्तु यह विष्णुगोप आगे काञ्ची से शासन करने वाले पल्लवों से रक्त द्वारा सम्बद्ध था, इसका कोई ज्ञान नहीं है । उसके बहुत दिनों बाद ९वीं शताब्दी में शासन करने वाले तृतीय नन्दिवर्मन् के एक अभिलेख[४] में कथित है कि चूटपल्लव के पुत्र वीरकूर्चन् ने किसी नाग राजकुमारी से ब्याह करके अपने लिए राज्याधिकार प्राप्त किया था । ये नाग लोग कहीं तोण्डैमण्डलम् (काञ्ची) के आसपास ही रहते थे । चूट लोग पल्लवों की ही एक शाखा थे, जो सातवाहनों से सम्बद्ध थे ।

तथापि, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि पल्लवों ने काञ्ची पर कब अधिकार किया । अनुमानत: इसे २५० ई० प० के आसपास स्वीकार किया जा सकता है । किन्तु उसके बाद काञ्ची नगर पल्लवों की राजधानी के रूप में अगले लगभग ७-८ सौ वर्षों तक केवल दक्षिण भारत का ही नहीं, अपितु सारे भारतवर्ष का एक प्रमुख राजनीतिक, व्यापारिक, साहित्यिक, धार्मिक और सांस्कृतिक केन्द्र हो गया । समुद्र के किनारे स्थित होने के कारण यह एक प्रसिद्ध बन्दरगाह बन गया और दक्षिण-पूर्व एशिया

---

१. पी०टी० श्रीनिवास आयंगर, हिस्ट्री ऑफ् दि तमिल्स्, पृष्ठ ३९८-३९९ ।

२. तेरालुण्डुर वेंकटराम महालिंगम्, काञ्चीपुरम् इन् अर्ली साउथ इण्डियन् हिस्ट्री, पृष्ठ १८ ।

३. एइ०, जिल्द ६, पृष्ठ ८४-९१ ।

४. साउथ इण्डियन् इन्स्कृप्शसन्स्, जिल्द २, पृष्ठ ५०८, ५११ ।

के देशों से होने वाले व्यापार का एक द्वार सिद्ध हुआ। उत्तर भारतीय संस्कृति के दक्षिण भारतीय संस्कृति के साथ संगमस्थल के रूप में काञ्ची उत्तरी तीर्थ काशी का दक्षिणी प्रतिरूप बन गया, ठीक वैसे ही जैसे मथुरा मदुरा (मदुरै) हो गयी और प्रयाग के पास का प्रतिष्ठान दक्षिण में पैठन (प्रतिष्ठान) तक पहुँच गया। पुराणों के अनुसार, काञ्ची भारतवर्ष के सात मोक्षदायी नगरों में गिना जाने लगा[1]। दक्षिण भारत में **घटिका** नामक जिन विद्यासंस्थानों के उल्लेख प्राप्त होते हैं, उनका प्रारंभ काञ्ची से ही हुआ था। काञ्ची नगर दक्षिण भारतीय वास्तु और कलाओं के सर्वप्रमुख केन्द्र के रूप में भी ७वीं शताब्दी के बाद तेजी से विकसित हुआ।

काञ्ची के आस-पास वाले प्रदेश तोण्डैमण्डलम् अथवा तोण्डैनाडु कहे जाते थे, जिसके कई नामरूप अभिलेखों और साहित्यिक ग्रंथों में प्राप्त होते हैं। इसे पल्लवदेश अथवा पल्लवराष्ट्र भी कहा गया है। बाद में इसे ही द्रमिड़ अथवा द्रमिल (तमिल) भी कहा गया[2]। इसकी सीमा में आधुनिक चिंगलपुत्त, चित्तूर, उत्तरी आर्काट और दक्षिणी आर्काट के जिले सम्मिलित थे। तोण्डैमण्डलम् का **मण्डलम्** पद वास्तव में प्रान्त अथवा राज्य शब्द का बोधक था, जिसके उपविभागों में अनेक **कोट्टम्** और **नाडुओं** का समावेश होता था। प्राचीन लेखों अथवा ग्रंथों में पूरे तोण्डैमण्डलम् में २४ या २७ नाडुओं के होने के उल्लेख प्राप्त होते हैं। अद्यतन मत यह है कि तोण्डैमण्डलम् ही पल्लवों का मूलस्थान[3] था।

जैसा कि पहले ही संकेत किया जा चुका है, पल्लवों की उत्पत्ति का विषय अत्यन्त ही विवादास्पद रहा है। सर्वप्रथम लुई राइस ने इन्हें विदेशी मूल का बताते हुए पारसीकों (पह्लवों) से जोड़ा[4]। वेंकैय्या महोदय ने इसका समर्थन किया[5]। जोवियो डूब्रियेल् भी उसी मत के थे[6]। किन्तु इन सभी के प्रमुख तर्क एक ही तथ्य पर आधृत हैं और वह है पह्लव और पल्लव शब्दों का ध्वनिसाम्य। वास्तव में स्वयं पल्लव अपने को भारद्वाज गोत्र से जोड़ते हैं। कृष्णस्वामी आयंगर ने पल्लवों को तोण्डैमण्डलम् का ही मूल निवासी बताते हुए पल्लव शब्द की व्युत्पत्ति तोण्डैयार शब्द से बतायी[7]। कुछ

---

१. माया मथुरा काशी काञ्ची अवन्तिका।
पुरीद्वारावती चैव सप्तैते मोक्षदायिकाः ॥
२. साउथ इण्डियन् इन्स्क्रप्शन्स्, जिल्द २, पृष्ठ ५०८।
३. आर् सतियनाथियेर, दि क्लासिकल् एज्, पृष्ठ २५६।
४. माइसूर इन्स्कृप्शन्स्, १८७९, पृष्ठ ५१-५२।
५. आर्के० सर्वे, रिपोर्ट्स्, १९०६-७ पृष्ठ २१८।
६. ऐंश्येण्ट हिस्ट्री ऑफ् डेखन, पृष्ठ ४७।
७. जर्नल् ऑफ् इण्डियन् हिस्ट्री, जिल्द २, पृष्ठ २५; और देखें, दि क्लासिकल् एज्, पृ० २५७।

अन्य विद्वानों ने पल्लवों को दक्षिण भारत की नाग जातियों से जोड़ा। किन्तु यह तर्क भी दिया गया है कि यदि वे मूलत: किसी दक्षिण भारतीय मूल से सम्बद्ध होते तो अन्य राजवंशों की तरह उन्होंने भी वहाँ की जनभाषा तेलुगू का प्रयोग बहुत प्रारंभ में ही शुरू कर दिया होता। उनके सभी प्रारंभिक अभिलेख या तो प्राकृत में हैं अथवा संस्कृत में। उनका सबसे पहला तेलुगू अभिलेख छठीं शताब्दी के अन्त के पूर्व का नहीं है। वास्तव में उनके मूल का सही निरूपण उनके गोत्र (भारद्वाज) के आधार पर ही किया जा सकता है। उन्हीं की तरह सालंकायन लोग भी सालंकायन गोत्र की भारद्वाज शाखा के थे और इन दोनों के मूल एक समान प्रतीत होते हैं। दोनों वंशों के कई राजाओं के नामों में भी समानता है। दोनों के अभिलेखों की लिपि भी एक थी, जिसे वेंगी लिपि कहा जाता है। दोनों दक्षिण भारत में इच्वाकुवंशी शासकों के पराभव के बाद ही प्रमुखता में आये। वे दोनों भी आन्ध्र सातवाहनों की तरह ब्राह्मणवंशी ही थे। निष्कर्षरूप में टे०वे० महालिंगम् का कथन है कि पल्लवों के कुछ सम्बन्ध सालंकायनों से थे। वे नेल्लूर जिले में प्रारंभ में आन्ध्र सातवाहनों के सामन्तों के रूप में बसे रहे होंगे और बाद में नागों से वैवाहिक सम्बन्ध में बंध जाने के बाद वे दक्षिण में काञ्ची की ओर बढ़ गये तथा एक स्वतंत्र राज्य की स्थापना में सफल हो गये[1]।

प्रारम्भिक पल्लव

प्रथम महेन्द्रवर्मन् के पिता सिंहविष्णु के पहले वाले पल्लवों से पूर्वापर बैठाते हुए उनके प्रारंभिक क्षेत्रों को निश्चित करना अत्यन्त जटिल तो है ही, विवादास्पद और बहुत हदतक असंभव भी है। उनके प्रारंभिक अभिलेखों की कुल संख्या १७ है,[2] जिनमें पहले प्रकाशित होने वाले प्राकृत भाषा में और बाद में प्रकाशित होने वाले संस्कृत भाषा में हैं। वे सभी या तो पत्थरों पर या ताम्रपत्रों पर खुदे हुए हैं। कदाचित् प्रारंभिक पल्लवों की दो अलग-अलग शाखाएँ थीं। मुख्य शाखा तो काञ्चीपुरम् से शासन करती थी और दूसरी शाखा कृष्णा-गुण्टूर के क्षेत्रों में शासनस्थ थी। इन पल्लवों के संस्कृत भाषा वाले अभिलेखों से यह निष्कर्ष निकलता है कि स्कन्दवर्मन् वह प्रथम पल्लव शासक था, जो तीनों समुद्रों के बीच वाले समस्त दक्षिणापथ की विजय का दावा करता[3] है।

सिंहवर्मन् और सिंहविष्णु (५८६-६१० ई० प०)

प्रारंभिक पल्लवों के इतिहास का धुंधलका सिंहवर्मन् और उसके पुत्र तथा **युवराज** सिंहविष्णु के राजनीतिक रंगमञ्च पर उभरने के साथ प्रकाश के उजाले में प्रवेश

---

१. काञ्चीपुरम् इन् अर्ली साउथ इण्डियन् हिस्ट्री, पृष्ठ २४। इस सम्बन्ध में और देखें, दि क्लासिकल् एज्० पृष्ठ २५५-२५६।
२. कापरप्लेट इन्स्कृप्शन्स् ऑफ् दि आन्ध्र प्रदेश गवर्नमेण्ट म्यूजियम, जिल्द १, पृष्ठ २२७।
३. साउथ इण्डियन् इन्स्कृप्शन्स्, जिल्द २, पृष्ठ ५१०।

कर जाता है। पहले सिंहवर्मन् के इतिहास की जानकारी तृतीय नन्दिवर्मन् के वेलुपालैय्यम् के मात्र एक अभिलेख से ज्ञात तथ्यों तक ही सीमित थी, जो उसकी विजयों का उल्लेख करता[1] है। किन्तु अब कुछ और अभिलेख ज्ञात हो चुके हैं, जो उसके बारे में कुछ विशेष उल्लेख करते हैं। एक है विष्णुकुण्डी शासक विक्रमांकदेव भट्टराज का (५६६ ई०) अभिलेख, जो उस विष्णुकुण्डी शासक की सिंहवर्मन् पर विजय को बताता है। दूसरा अभिलेख स्वयं सिंहवर्मन् का[2] है, जिसे उसने अपने शासन के छठें वर्ष प्रकाशित किया। वह उसके द्वारा एक जैन आचार्य को अमनशेर्कै नामक ग्राम के दान का उल्लेख करता है। इस अभिलेख से सिंहवर्मन् के बारे में तो बहुत जानकारी नहीं प्राप्त होती, किन्तु उसके पुत्र सिंहविष्णु के उल्लेख उसमें अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। सिंहविष्णु में विद्यमान अनेक गुणों की प्रशंसा के साथ वहाँ कथित है कि उसने "धान के खेतों, ईख के खेतों और सुपारी और केले सहित अनेक प्रकार से सजी हुई कावेरी नदी द्वारा मानों बनायी गयी मेखला से युक्त चोड़ भूमि को जीत लिया।" इससे सिंहविष्णु के एक महान् विजेता होने का प्रमाण और चोड़मण्डल पर पल्लव राज्य के विस्तार का द्योतक स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होगी। अभिलेख उस समय शासन करने वाले राजा (सिंहवर्मन) की प्रशंसा से अधिक उसके पुत्र (सिंहविष्णु) की प्रशंसा और उसकी विजयों को महत्त्व देता है। यह इस बात का व्यञ्जक है कि वास्तव में सारा शासन और सैनिक दायित्व सिंहविष्णु ही **कुमार** और **युवराज** की हैसियत से निभा रहा था। युवराजों द्वारा शासन की यह प्रथा आगे चलकर प्राय: सभी दक्षिण भारतीय राज्यों में समानरूप से प्रचलित हो गयी। राज्यकार्यों में सिंहविष्णु की अधिकाधिक संलग्नता और उतनी ही मात्रा में उसके पिता सिंहवर्मन् की उनसे दूरी का अनुमान पश्चिमी गंग देश के अविनीत कोंगनि**महाराजाधिराज** नामक शासक (५३०-६०० ई०) के होसकोटे ताम्रपत्र से भी लगता है, जिसमें पल्लव राजकुमार सिंहविष्णु की माता (जननी) द्वारा निर्मित अर्हत् देवता के लिए जैनों के यापनीय संघ द्वारा निर्मित मंदिर को दान देने का उल्लेख[3] है। इसमें सिंहविष्णु को **पल्लवाधिराज** कहे जाते हुए उसी का गुणगान है न कि उसके माता-पिता का, जिनकी पुण्यवृद्धि हेतु दान अभीप्सित था। **पेरियपुराणम्** नामक ग्रंथ से भी ज्ञात होता है कि अपनी वृद्धावस्था में सिंहवर्मन् ने राजपाट अपने पुत्र सिंहविष्णु को सौंप दिया और स्वयं शिवभक्त होकर तीर्थाटन करने लगा[4]।

---

१. टे०वे० महालिंगम्, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ट ५३।
२. पल्लनकोविल ताम्रपात्रभिलेख, वहीं।
३. मद्रास आर्के० रिपोर्ट्स् १९३६, पृष्ठ ३८ और आगे।
४. टे०वे० महालिंगम्, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ५५। नीलकान्त शास्त्री (हिस्ट्री ऑफ् साउथ इण्डिया, पृ० १६३) और आर्, गोपालन् (हिस्ट्री ऑफ् दि पल्लवज् ऑफ् काञ्ची, पृष्ठ ८३) जैसे कुछ विद्वान् तो सिंहवर्मन् का नाम ही पल्लव राजवंशावली में नहीं रखते हैं।

पल्लव अभिलेखों में सिंहविष्णु एक विजेता के रूप में चित्रित किया गया है। काशाकुड़ि अभिलेख में उसे मलय, कलभ्र, मालव, चोड़, पाण्ड्य, सिंहल तथा केरल के राजाओं पर विजयों का श्रेय दिया गया[१] है। यह एक गतानुगतिक प्रशस्ति मात्र प्रतीत होती है। किन्तु चोड़ों पर उसकी विजय का उल्लेख वेलुपालैय्यम् अभिलेख में भी प्राप्त होता[२] है, जिससे उसकी ऐतिहासिक सत्यता का विश्वास होता है। वहाँ कथित है कि उसने "शीघ्र ही कवीर की पुत्री (कावेरी नदी) से सुशोभित चोड़देश को छीन लिया, जिसकी शोभा की वृद्धि धान के खेतों से होती थी, और जहाँ सुपारी और नारियल के बगीचे सुशोभित थे।" इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि कावेरी मुहाना (डेल्टा) सिंहविष्णु की राज्यसीमाओं का निर्माण करता था। किन्तु इस समय के चोड़ शासक के बारे में केवल अनुमान मात्र ही लगाये जा सकते हैं। वह कौन था, यह निश्चित नहीं है।

प्रथम महेन्द्रवर्मन् (६१०-६३० ई०)

प्रथम महेन्द्रवर्मन् **महेन्द्रविक्रम**[३] के नाम से भी ज्ञात था। उसके राज्यारोहण की तिथि एकमत से निश्चित नहीं की जा सकी है और अलग-अलग ६०० से ६१० ई० के बीच निश्चित की जाती[४] रही है। किन्तु उसने ६३० ई० तक शासन किया, यह प्रायः सर्वमान्य है। वह अपने वंश का प्रथम महान् सम्राट् था। पल्लव कला, संस्कृति और साहित्य का जो चतुर्दिक् विकास हुआ, उसका प्रस्फुटन उसी के काल में हुआ था। इसका विधिवत् उल्लेख हम आगे करेंगे। किन्तु उसके राजनीतिक और सैनिक क्रिया-कलापों का दायरा बहुत विस्तृत अथवा प्रभावोत्पादक सिद्ध हुआ, ऐसा प्रतीत नहीं होता। उसने अनेक उपाधियाँ धारण कीं, जिनकी संख्या सैकड़ों में हो सकती है। किन्तु वे सैन्यकार्यों से कम ही सम्बद्ध प्रतीत होती हैं। अपितु वे व्यक्तिगत गुणों से तथा शान्तिकालीन उपलब्धियों से ही अधिक सम्बद्ध प्रतीत होती हैं। वह अन्य शासकों की तुलना में कुछ अलग और विचित्र प्रकृति का व्यक्ति था। यह स्वयं उसके द्वारा अपने को **विचित्रचित्त** कहे जाने से स्पष्ट हो जाता है। **मत्तविलास** (विलासोन्मुख); **अलुप्तकाम** (जिसकी सभी इच्छाएँ पूरी नहीं हुई हों); **अभिमुख** (आगे देखने वाला); **दृढ़गति** (कड़ी इच्छाशक्ति वाला); **गुणभर** (गुणों की खान); **सत्यसंघ** (सच्चा बोलने वाला); **पुरुषोत्तम** (उत्तमपुरुष); **नित्यविनीत** (सर्वदा नम्र); **अनित्यराग** (रागरस में सर्वदा लिप्त रहने से विरत); **कलहप्रिय** (संघर्ष को चुनौती देने वाला) आदि उसके विरुद उसके निजी व्यक्तित्व के

---

१. साउथ इण्डियन् इन्स्कृप्शन्स्, जिल्द २, पृष्ठ ३५६, श्लोक २०।
२. टे०वे० महालिंगम् पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ५३।
३. साउथ इण्डियन् इन्स्कृप्शन्स्, जिल्द ६, पृष्ठ ५९५।
४. सतियनाथियेर के मत में महेन्द्रवर्मन् का शासन ६०० ई० में प्रारंभ हो चुका था। देखें, दि क्लासिकल् एज्, पृष्ठ २५९।

द्योतक हैं। वह अनेक ललित कलाओं में स्वयं निष्णात था। इसके परिचायक उसके विरुद थे–**चित्रकारप्पुलि** (चित्रकारों में व्याघ्र) तथा **चेत्तकारि** (मंदिर निर्माता)। इन संस्कृतनिष्ठ विरुदों के अतिरिक्त उसने तेलुगू भाषा वाले भी अनेक विरुद धारण किये। सब मिलाकर यह कहा जा सकता है कि वह एक मस्तमौला व्यक्ति था, जिसके व्यक्तित्व में कलापक्ष ही प्रमुख रूप से उजागर हुआ था।

सैनिकता के क्षेत्र में प्रथम महेन्द्रवर्मन् के वातापी के द्वितीय पुलकेशिन् से होने वाले युद्ध ही प्रमुख प्रतीत होते हैं। पुलकेशिन् ने कर्नाटक की चालुक्य सत्ता को एक साम्राज्य का स्वरूप दे दिया था। उसकी सैनिक और राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाएँ इनती जबरदस्त थीं कि वे दक्षिण-पूर्व की उदीयमान सत्ता-पल्लवों–के विरुद्ध सैनिक टकराव में नहीं आतीं, यही आश्चर्य की बात होती। किन्तु इस टकराव ने आगे चलकर दोनों राज्यों के बीच बार-बार के सैनिक धावों-प्रतिधावों के क्रम में एक ऐसा रूप धारण कर लिया, जो दक्षिण की विभिन्न सत्ताओं के बीच लगातार लड़े जाने वाले युद्धों के रूप में मानों एक सामाजिक नियम सा हो गया। पहले प्रारंभ हुए बादामी के चालुक्यों और पल्लवों के बीच के युद्ध; पुनः दौर चला राष्ट्रकूट और पल्लवों के बीच के युद्धों का; पुनः राष्ट्रकूट और चोड़ों के बीच में युद्ध लड़े गये और अन्त में आये कल्याणी के चालुक्यों और चोड़ों के बीच होने वाले संघर्ष। मैसूर क्षेत्र के गंगवंशी तथा अन्य शासक और वेंगी के पूर्वी चालुक्य शासक न चाहते हुए भी इन युद्धों में किसी न किसी पक्ष से भाग लेने को विवश थे।

द्वितीय पुलकेशी के अहिहोड़ अभिलेख से ज्ञात होता है कि कि पल्लवों ने उसकी सत्ता के उदय का विरोध किया था। यह केवल एक बहाना मात्र था अथवा सचमुच महेन्द्रवर्मन् की ओर से उसके द्वारा पल्लव राज्य पर किये गये आक्रमण के पूर्व पुलकेशिन् के शत्रुओं के पक्ष में पल्लव सत्ता ने कुछ उपक्रम किया था, यह निश्चय करने का कोई पक्का प्रमाण नहीं प्राप्त है[१]। यह स्पष्ट है कि आक्रमण की पहल पहले पुलकेशिन् ने ही की थी। कथित है[२] कि "चालुक्यराज की सेनाओं द्वारा उड़ायी गयी धूल में पल्लवों की राजधानी काञ्चीपुर का सारा वैभव लुप्त हो गया और पल्लवराज को अपने परकोटे के पीछे छिपना पड़ा।" किन्तु इसके विपरीत महेन्द्रवर्मन् को काशाकुड्डि अभिलेख[३] में पुड्ड्लूर के मैदान में विजय प्राप्त करने का श्रेय दिया गया है। इस पुड्ड्लूर की पहचान काञ्चीपुरम् से १५ मील उत्तर की ओर स्थित चिंगलपुत्त जिले के पुल्ल(ङ्ङ्)लूर नामक

---

१. विभिन्न मतों के लिए देखें कीलहार्न द्वारा अभिलेख प्रकाशन में सम्बद्ध टीका; नीलकान्त शास्त्री, (याजदानी) दि अर्ली हिस्ट्री ऑफ् दि डेकन, पृष्ठ २१५, फुटनोट ३।

२. आक्रान्तात्मबलोन्नम्बलरजछन्न काञ्चीपुरः।
प्राकारान्तरितपतापमकरोद्यः पल्लवानाम्पतिम् ॥२९, एइ० जिल्द ६, पृष्ठ ६-११।

३. साउथ इण्डियन् इन्स्कृप्शन्स्, जिल्द २, पृष्ठ ३४८-३४९।

स्थान से की गयी है। इससे यह भी निष्कर्ष निकाला गया है कि पल्लवराज ने वहाँ पुलकेशिन् की सेनाओं को हराया। किन्तु सम्बद्ध अभिलेख में न तो पुलकेशिन् का सीधा-सीधा उल्लेख है और न अन्य किसी शत्रु का। गोलमोल शब्दों में वहाँ "मुख्य शत्रुओं" (**द्विषतां विशेषान्**) मात्र का उल्लेख है। अत: महेन्द्रवर्मन् की पुलकेशिन् पर विजय का तर्क सन्देहास्पद हो जाता है। इसके विपरीत अहिहोड़ अभिलेख का तो यह भी कथन है कि पुलकेशिन् ने कावेरी नदी को पार करके चोड़, पाण्ड्य और केरलों (पल्लवों द्वारा त्रस्त) को "प्रभूत सुख सम्पत्ति प्रदान[१] की।" वास्तव में न तो स्वयं प्रथम महेन्द्रवर्मन् और न उसके वंशज शासकों में किसी का कोई अभिलेख पुलकेशिन् पर उसकी विजय का कोई स्पष्ट उल्लेख करता है। किन्तु पुलकेशिन् को पल्लव राज्य के ऊपर किये गये अपने आक्रमण से दक्षिण दिशा में पल्लवों का कोई प्रदेश छीनकर अपने राज्य में मिला लेने में कोई सफलता प्राप्त हुई, इसका भी कोई प्रमाण नहीं प्राप्त होता।

महेन्द्रवर्मन् का राज्य–विस्तार उत्तर में कृष्णा नदी से दक्षिण में कावेरी नदी तक था। उसमें गुण्टूर और नेल्लूर जिले सम्मिलित थे, यह उसके गुण्टूर जिले में स्थित कपोतेश्वर मंदिर के अभिलेख से प्रमाणित है। उसमें उसे **महेन्द्रविक्रम महाराज** कहा गया है तथा वेगवती नदी के किनारे पर स्थित काञ्ची से शासन करता हुआ बताया गया[२] है। तिरुचिरापल्ली जिले में उसके नाम की दो पहाड़ी गुफाओं के कारण दक्षिणी दिशा में उसकी राज्यसीमा वहाँ तक विस्तृत होने के प्रमाण उपलब्ध होते हैं। यह निष्कर्ष भी निकाला गया है कि तंजाऊर सहित चोड़ राज्य के कुछ क्षेत्रों को जीतकर महेन्द्रवर्मन् ने दक्षिण में अपनी सत्ता विस्तारित की[३] थी।

महेन्द्रवर्मन् की असली महत्ता तो उसके व्यक्तिगत गुणों, उसकी स्वयं की साहित्यिक प्रतिभा और वास्तु तथा कलाओं के क्षेत्रों में प्राप्त उसकी उपलब्धियों के कारण है। **विचित्रचित्त, मत्तविलास, चित्रकारप्पुलि** (चित्रकारों में व्याघ्र) और **चेत्तकारि** (मंदिर निर्माता) जैसे उसके निजी विरुद केवल दिखावे मात्र के नहीं थे। वह स्वयं हर्ष, विक्रमादित्य, भोज तथा सोमेश्वर जैसे राजकविओं की पंक्ति का एक कवि था, जिसने **मत्तविलास** नामक एक प्रहसनकाव्य लिखा[१] जो व्यंग्य और हास्य का अनुपम उदाहरण है। उसके राजदरबार में **किरातार्जुनीयम्** के लेखक भारवि और **दशकुमारचरित** के लेखक दण्डिन् रहते थे। मंदिरों के निर्माण की बाढ़, नयी शैलियों और उनके संख्यात्मक गुणाव का जो क्रम आगे चलकर पल्लव शासकों के समय दिखायी देता है, उसका श्रीगणेश महेन्द्रवर्मन् के समय ही हुआ था। उसने स्वयं मंदिर निर्माण की अनेक नयी

---

१. चोलकेरलपाण्ड्यानां योमूत्तत्रमदर्धये। एइ० जिल्द ६, पृष्ठ ६ और आगे, श्लोक ३१।
२. साउथ इण्डियन् इन्स्कृप्शन्स्, जिल्द ६, पृष्ठ ५९५।
३. टे० वे० महालिंगम्, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ७०।

शैलियों को जन्म दिया, जिससे उसके **चित्रकारप्पुलि** और **चेत्तकारि** जैसे विरुदों की सार्थकता सिद्ध होती है । मण्डगपट्टु (दक्षिणी आर्काट जिले में विल्लुपुरम्) की गुहा में उसने ब्रह्मा, ईश्वर (शिव) और विष्णु के एक ऐसे **आयतन** (मंदिर) का निर्माण कराया, जिसमें ईंट, लकड़ी, धातु अथवा गारे का कोई प्रयोग हुआ ही नहीं[१] । यह नवीन कल्पना सचमुच उसके **विचित्रचित्त** (आविष्कारक मन) उपाधि को सही दर्शाती है । उसने इस प्रकार के अन्य अनेक गुहामंदिरों का अपने राज्य के विभिन्न भागों में निर्माण कराया । महेन्द्रवर्मन् के एक बहुत ही अच्छे चित्रकार होने का तथ्य तिरुचिरापल्ली के एक अभिलेख से प्रमाणित होता है, जिसमें वह नटराज के एक बहुत बढ़िया चित्र को वहाँ की गुफा में स्वयं निर्मित करने का उल्लेख करता है । उसने उसी तरह का एक शिव-चित्र शिवमंगलम् की गुफा में भी उकेरा[२] था ।

महेन्द्रवर्मन् का व्यक्तिगत, प्राथमिक धार्मिक विश्वास किस ओर था, इसपर विवाद हो सकता है । ऐसा माना जाता है कि वह पहले जैन था, जो बाद में अप्पर नामक शैव साधु और विद्वान् के प्रभाव में शैव धर्मोपासक हो गया[३] और उसके बाद जैनों को उत्पीड़ित करने लगा । संभवतः, जैनों के तथाकथित उत्पीड़न का उल्लेख विभिन्न धर्मावलम्बिओं के पारस्परिक मनमुटाव और भेदभाव अथवा शत्रुभाव को अधिक प्रतिबिम्बित करता है, बजाय महेन्द्रवर्मन् की धार्मिक असहिष्णुता को । मण्डगपट्टु में उसके द्वारा ब्रह्मा, विष्णु और शिव तीनों के लिए एक ही आयतन निर्मित कराने का जो उल्लेख है, वह स्वयं उसकी धार्मिक उदारता का सबसे बड़ा उदाहरण है ।

प्रथम नरसिंहवर्मन् (६३०-६६८ ई० प०)

प्रथम नरसिंहवर्मन् महान् पल्लव सम्राटों की सरणि में दूसरा था । उसने पश्चिमी चालुक्य सम्राट् द्वितीय पुलकेशिन् के आक्रमणों का बदला लेते हुए, यही नहीं कि उसे कदाचित् दो बार युद्धों में पराजित किया, अपितु उसे मार डाला और अन्ततः उसकी राजधानी वातापी की राजगद्दी पर, चालुक्य राज्य की राजनीति में हस्तक्षेप करते हुए, अपने नामांकित मानवर्मा को बिठाया । उसने मामल्लपुरम् (महाबलिपुरम्) में मंदिर निर्माण और चित्रकारी की उस अभिनव शैली का प्रतिपादन किया, जो भारतीय कला और वास्तु का एक उल्लेखनीय अध्याय है । उसकी इन उपलब्धियों के विवरण बड़े ही रुचिकर हैं ।

नरसिंहवर्मन् की सर्वप्रमुख उपलब्धि चालुक्य शासक पुलकेशी पर उसकी विजय थी । किन्तु उसका तैथिक पूर्वापर बैठाना एक दुष्कर कार्य है–इस कारण कि इन दो समकालिक महत्त्वाकांक्षी सत्ताओं के संघर्ष सम्बन्धी जो भी उल्लेख हैं, वे परस्पर एक

---

१. टे०वे० महालिंगम्, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ७३ ।

२. वहीं, पृष्ठ ७२ ।

३. पेरियपुराणम् का तिरुनावुक्करसुपुराणम्, श्लोक १४६ ।

दूसरे को काटते हैं, उनमें तिथियों का अभाव है तथा उनमें अपने पक्ष की प्रतिष्ठा को गाने वाली तथा उन्हें बार-बार दुहराने वाली गतानुगतिकता है। इन संघर्षों के प्रथम दौर का उल्लेख द्वितीय पुलकेशिन् के अहिहोड़ अभिलेख में ही प्राप्त होता है। यह ज्ञात नहीं है कि पुलकेशिन् ने पल्लव राज्य पर अपना यह आक्रमण कब किया था। उपर्युक्त अभिलेख ६३४-६३५ ई० में प्रकाशित किया गया। इससे यह तो निश्चित है कि पुलकेशी का आक्रमण ६३४ ई० के पूर्व हो चुका रहा होगा। उसके पूर्व ६३० ई में नरसिंहवर्मन् सिंहासनस्थ हो चुका था। उसके पूर्व का राजा प्रथम महेन्द्रवर्मन् था। इस कारण विद्वानों में इस बात पर सहमति नहीं है कि पल्लवों पर यह आक्रमण महेन्द्रवर्मन् के समय हुआ था, अथवा नरसिंहवर्मन् के समय में[१]। यह भी पूरी तरह ज्ञात नहीं है कि पुलकेशिन् ने पल्लवों पर केवल एक बार आक्रमण किया था अथवा दो बार, जिससे तंग आकर और अत्यधिक अपमानित महसूसकर नरसिंहवर्मन् ने भी उसके राज्य को एक या दो बार रौंदा।

किन्तु इस आक्रमण के बाद पल्लव राज्य की उत्तरी सीमा के कुछ क्षेत्र कुछ दिनों के लिए कदाचित् पुलकेशिन् के अधिकार में चले गये थे। उसके ६३१ ई० के कोप्पारम् अभिलेख[२] से ज्ञात होता है कि उसने कर्मराष्ट्र के इरबलि ग्राम का दान दिया था। यह गांव गुण्टूर जिले में था। इसके पूर्व बाण नामक वहाँ का सामन्त वंश चालुक्यों की अधिसत्ता त्यागकर पल्लव अधिसत्ता के भीतर जा चुका था, जो पुलकेशी को अस्वीकार्य था और पल्लवों पर उसके आक्रमण का कारण बना। उसी सिलसिले में कावेरी नदी को पारकर उसने चोड़ों, पाण्ड्यों और केरलों को भी पल्लव अधिसत्ता से मुक्त कराने का प्रयत्न करते हुए उन्हें "महान् वैभव" का अनुभव कराया[३]।

यह मत (महालिंगम्, पृष्ठ ८२) भी व्यक्त है कि पुलकेशिन् ने ६४१-६४२ ई० में पल्लव राज्य पर एक दूसरा आक्रमण भी किया, जिसके कारणों के बारे में कोई स्पष्ट जानकारी नहीं प्राप्त होती। किन्तु अबतक नरसिंहवर्मन् पल्लव शक्ति का पूरी तरह संचय कर चुका था। बाद वाले जो भी अभिलेख उसकी विजयों का दावा करते हैं, वे इसी चालुक्य आक्रमण में पुलकेशिन् की हार, नरसिंहवर्मन् द्वारा उत्तर की ओर बढ़ते हुए बादामी पर आक्रमण, उस चालुक्य राजधानी में उसके विजयस्तंभ की स्थापना और उसपर हो जाने वाले पल्लव अधिकार का उल्लेख करते हैं। अनुमान यह लगाया गया है कि इस चालुक्य आक्रमण में पुलकेशिन् के साथ उसका छोटा भाई (वेंगी का गवर्नर शासक) विष्णुवर्धन भी था और दोनों ही इस युद्ध के क्रम में ही कहीं मारे[४] गये।

---

१. टे०वे० महालिंगम् (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ८१) के अनुसार पुलकेशी के इस आक्रमण की तिथि ६३१ ई० के बाद कभी नरसिंहवर्मन् के समय की ही थी।

२. एइ० जिल्द १८, पृष्ठ २५७-२६१।

३. अहिहोड़ अभिलेख, श्लोक ३०-३१। देखें, महालिंगम्, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ट ८१।

४. टे०वे० महालिंगम्, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ८३।

पुलकेशिन् के पल्लवों पर किये गये इस द्वितीय आक्रमण और उसकी पराजयों के उल्लेख अनेक पल्लव अभिलेखों में प्राय: एक ही तरह की शब्दावली में बार-बार दुहराये गये हैं। वे सभी किसी एक अभिलेख की ही प्रतिलिपि मात्र हैं। तदनुसार, पेरियल, मणिमङ्गल और शूरमार नामक तीन युद्धस्थलों पर लड़े जाने वाले युद्धों के उल्लेख प्राप्त होते हैं। इस समय का कोई चालुक्य अभिलेख इन युद्धों का कोई उल्लेख नहीं करता। किन्तु बाद के चालुक्य शासक विनयादित्य का सोराब तालुका से प्राप्त एक अभिलेख पल्लवों द्वारा चालुक्य राज्य पर ढायी हुई विपत्ति का उल्लेख करता[१] है। नरसिंहवर्मन् का कुरम ताम्रपत्र यह कहता[२] है कि युद्धभूमि से भागते हुए पुलकेशिन् की पीठ पर एक पट्टी लगाकर नरसिंहवर्मन् ने उसपर **विजय** वाले तीन अक्षर लिखकर टांग दिये। द्वितीय नन्दिवर्मन् के उदयेन्दिरम् अभिलेख में तथा बाद के वेलुपालैय्यम् अभिलेख में भी विजयसम्बन्धी पहले दिये गये क्रम ही दुहराये[३] गये हैं। सबमें यह कथित है कि वातापी नगर को नरसिंहवर्मन् ने वैसे ही नष्ट कर डाला जैसे अगस्त्य ऋषि ने वापी नामक राक्षस को नष्ट कर डाला था। नरसिंहवर्मन् ने विजयी होकर **वातापीकोण्डा** की उपाधि धारण की। वातापी नगर में एक खण्डित पल्लव अभिलेख वहाँ पल्लवों के द्वारा स्थापित विजयस्तंभ का उल्लेख करता है। इन विवरणों से यह निष्कर्ष निकलता है कि पुलकेशिन् के जीवन का अन्त सफलताओं के बीच नहीं अपितु सैनिक असफलताओं के बीच, अपनी मृत्यु के साथ अपनी राजधानी वातापी को शत्रुसत्ता-पल्लवों–के हाथों में जाते देखते हुए मानसिक संताप के मध्य ही हुआ था। यह था एक अत्यन्त सफल और मनोरथपूर्ण जीवन का एक दु:खद और कातर अन्त।

किन्तु यह ज्ञात नहीं है कि वातापी पर पल्लवों का अधिकार कितने वर्षों तक बना रहा। कदाचित् नरसिंहवर्मन् का यह उद्देश्य ही नहीं था कि वह चालुक्यों द्वारा शासित राज्य पर अपना प्रशासकीय अधिकार स्थापित करे। उसे तो पुलकेशी के आक्रमणों का बदला लेकर उसे दण्डित और अपमानित मात्र करने तक की अभीप्सा थी। तथापि, पुलकेशिन् की मृत्यु के बाद लगभग १३-१४ वर्षों तक के लिए चालुक्य साम्राज्य बुरी तरह हिल गया, उसके अनेक सामन्त राज्य उससे अलग हो गये और पुलकेशिन् के तीन पुत्रों के बीच आपस में ही उत्तराधिकार का युद्ध छिड़ गया। अन्ततः ६५५ ई० में उसके सबसे छोटे पुत्र प्रथम विक्रमादित्य ने राजगद्दी पर अधिकार करके पुनः वहाँ एक बार व्यवस्था स्थापित की।

नरसिंहवर्मन् की अन्य राजनीतिक सफलताओं में सिंहल (श्रीलंका) राज्य पर, वहाँ

---

१. इऐ०, जिल्द १९, पृष्ठ १४९।

२. साउथ इण्डियन् इन्स्क्रिप्शन्स्, जिल्द १, पृष्ठ १४८, १५२।

३. वहीं, जिल्द १, ५०८, ५११, जिल्द २, पृष्ठ ३६६, ३७०।

के राज्याधिकार के एक युद्ध में भाग लेकर, मानवर्मा को सिंहासनस्थ कराना[१] मुख्य था। किन्तु यह सन्देहास्पद है कि यह सफलता उसे चालुक्यों पर विजयों से पूर्व ही प्राप्त हो चुकी थी या नहीं। **महावंश** में कथित है कि मानवर्मा ने वल्लभ (पुलकेशी) के विरुद्ध नरसिंहवर्मन् की ओर से सहायता की[२] थी।

इस बात के प्रमाण हैं कि पुलकेशिन् पर विजय के फलस्वरूप चालुक्य साम्राज्य के कुछ दक्षिणी भाग पल्लवों ने अपने शासनाधिकार में ले लिया था। ये क्षेत्र आधुनिक नेल्लूर और कर्नूल जिलों में थे। विक्रमादित्य के शासन के तीसरे वर्ष में ही (६५८ ई०) कर्नूल का वह भाग, जो पल्लवाधीन हो गया था, पुन: विक्रमादित्य के अधिकार में चला गया। वहाँ से प्राप्त विक्रमादित्य का तलमञ्चि अभिलेख[३] उस पर चालुक्य पुनराधिकार की पुष्टि करता है। इसके अतिरिक्त अन्य कई स्थानों से प्राप्त विक्रमादित्य के अभिलेख क्रमश: तीन पल्लव शासकों–प्रथम नरसिंहवर्मन्, द्वितीय महेन्द्रवर्मन् और प्रथम परमेश्वरवर्मन् से सैनिक संघर्षों का दावा करते हैं। प्रथम नरसिंहवर्मन् के सम्बन्ध में वे कहते हैं कि विक्रमादित्य ने उसका यश हर लिया (**नरसिंह यशसाविहित**)। इन विवरणों और कर्नूल तथा नेल्लूर जिलों से विक्रमादित्य के अभिलेखों की प्राप्ति से यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रथम नरसिंहवर्मन् ने चालुक्यों के विरुद्ध जो भी सफलताएँ प्राप्त की थीं, उन्हें समाप्तकर कर्मराष्ट्र के सभी प्रदेशों को चालुक्यों ने पुन: वापस जीत लिया। यह नरसिंहवर्मन् के शासन के अन्तिम वर्षों में ही हुआ होगा। कर्मराष्ट्र नामक क्षेत्र चालुक्य राज्य के ही भाग थे।

नरसिंहवर्मन् के समय में ही श्वान्-च्वाङ्ग ने पल्लव राज्य की यात्रा की थी। किन्तु वह काञ्चीनगर को छोड़कर उस राज्य अथवा राजा के बारे में कुछ भी नहीं कहता। तदनुसार, वहाँ के लोग हिम्मती, पूर्णरूप से विश्वास करने लायक, जनहित के प्रति समर्पित और विद्या के प्रति आदरभाव से युक्त[४] थे।''

द्वितीय महेन्द्रवर्मन् (६६८-६६९ ई०)

अत्यल्पशासी द्वितीय महेन्द्रवर्मन् प्रथम नरसिंहवर्मन् का पुत्र और उत्तराधिकारी था। उसकी प्रशंसा वर्णाश्रमधर्म की रक्षा हेतु उसके पुत्र प्रथम परमेश्वरवर्मन् के कूरम अभिलेख[५] में प्राप्त होती है तथा ऐसी ही रस्मी प्रशस्तियाँ वंश के अन्य अभिलेखों में भी

---

१. साउथ इण्डियन् इन्स्कृप्शन्स्, जिल्द ११, भूमिका, पृष्ठ १ : लेख सं० १.१.५।
२. गीगर (टर्नर का अनुवाद), महावंश, ४७वाँ अध्याय।
३. टे० वे० महालिंगम्, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ८८।
४. वाटर्स्, जिल्द २, पृष्ठ २२७।
५. साउथ इण्डियन् इन्स्कृप्शन्स्, जिल्द १, पृष्ठ १५२; और देखें, एइ०, जिल्द ३२, पृष्ठ ९६-९७।

मिलती हैं। उनसे एक बात यह भी स्पष्ट होती है कि उसके समय भी **घटिका** नामक वैदिक महाविद्यालयों के भीतर विभिन्न विद्याओं के अध्ययन-अध्यापन; मंदिरों के निर्माण; उनके भरणपोषण की दानपरक व्यवस्थाएँ तथा अन्य प्रकार के पुण्यकार्य बदस्तूर जारी थे। किन्तु उसके द्वारा स्वयं प्रकाशित उसका कोई अपना अभिलेख ज्ञात नहीं है, जिससे यह अनुमान लगाया गया है कि कुल मिलाकर उसका शासनकाल शान्तिमय ही रहा। किन्तु इस निष्कर्ष के विपरीत बादामी के चालुक्य शासक प्रथम विक्रमादित्य के गडवल से प्रकाशित[१] (६७४ ई०) तथा कुछ अन्य अभिलेख उसके द्वारा तीन-तीन पल्लव राजाओं के विरुद्ध किये जाने वाले उसके बार-बार के आक्रमणों का उल्लेख करते हैं। ये तीन शासक थे नरसिंह (वर्मन्) प्रथम महेन्द्र (वर्मन्) द्वितीय और शिव (प्रथम परमेश्वर वर्मन्)। स्पष्ट है कि अपने छोटे से शासनकाल के भीतर भी (६६८-६६९ ई०) उसे चालुक्यों के आक्रमणों से जूझना पड़ा। ६७०-६७१ ई० में विक्रमादित्य के मल्लियूर नामक स्थान के **महास्कन्धावार** (महान् सैनिक शिविर) में निवास करने के आभिलेखिक प्रमाण प्राप्त[२] होते हैं। यह मल्लियूर काञ्चीपुरम् (पल्लव राजधानी) के पश्चिम में स्थित था। निष्कर्ष यह निकलता है कि द्वितीय महेन्द्रवर्मन् का राज्यकाल चालुक्य सेनाओं के आक्रमण से त्रस्त रहा। द्वितीय महेन्द्रवर्मन् केवल एक वर्ष तक शासक रहा, जो इस शंका को जन्म देता है कि कहीं ऐसा तो नहीं कि वह किसी युद्ध में ही मार डाला गया[३]।

प्रथम परमेश्वरवर्मन् (६६९-६९० ई० प०[४])

प्रथम परमेश्वरवर्मन् का राज्यारोहण पल्लव इतिहास के एक चुनौती भरे वातावरण में ही हुआ, इस बात के अनेक संकेत प्राप्त होते हैं। पल्लव राज्य के अनेक उत्तरी जिलों पर कदाचित् चालुक्य सेनाओं ने अपना कब्जा जमा लिया था। मौकों का फायदा उठाकर गंग और पाण्ड्य राजाओं ने भी पल्लवों के विरुद्ध अपनी स्वतंत्रता के झण्डे उठा लिये थे। फलतः इस समय पल्लवराज को तीन-तीन मोर्चों पर एक ही साथ ध्यान देना आवश्यक हो गया। ये तीनों ही शत्रु कभी-कभी समवेत होकर भी परमेश्वरवर्मन् के विरुद्ध लड़े और सफलता-असफलता का दोलक दोनों पक्षों की ओर इधर-उधर झूलता रहा। किन्तु अन्ततः अपने राज्य की बिगड़ी हुई अवस्था को सुधारने, अपेक्षाकृत शान्तिमय

---

१. एइ०, जिल्द १०, पृष्ठ १०१ और आगे।

२. मद्रास आर्के० रिपोर्ट्स्, १९३९, पृष्ठ १२९, १३७।

३. इहिक्वा, जिल्द ५, पृष्ठ ३२५।

४. नीलकान्त शास्त्री (ए हिस्ट्री ऑफ् साउथ इण्डिया, पृष्ठ १४८, १६३) ने पहले परमेश्वरवर्मन् का शासनकाल ६७०-६८० के बीच तथा द्वितीय नरसिंहवर्मन् का शासनकाल ६८० से ७२० ई० तक निश्चित किया था। किन्तु अब वुन्ने गरुवायपलेम ताम्रफलक के आधार पर टे० वे० महालिंगम् ने उसे क्रमशः ६६९-६९० ई० तथा ६९०-७२९-७३० ई० के बीच निश्चित किया है। देखें, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ९७ तथा १०९।

वातावरण स्थापित करने और अपने उत्तराधिकारी द्वितीय नरसिंहवर्मन् के समय की महत्ता की आधारशिला रखने में वह पूरी तरह सफल हुआ और मंदिर निर्माण जैसे शान्तिकालीन कुछ महान् कार्यों के संपादन में भी लगा रहा।

प्रथम विक्रमादित्य के द्वारा पल्लव राज्य पर ४ वर्षों के एक छोटे से अन्तराल के भीतर कम से कम दो बार आक्रमण करने के उल्लेख उसके अभिलेखों में प्राप्त होते हैं। पहला चालुक्य धावा तो ६७०-६७१ ई० का था, जिसके बारे में उसका एक अभिलेख[१] उसके मल्लियूर नामक **महास्कन्धावार** (काञ्ची के पश्चिम) में निवास करने का उल्लेख करता है। इस अभियान में गुजरात में शासन करने वाली चालुक्य शाखा के शासक धाराश्रय ने उसकी ओर से युद्ध में भाग लिया था, जो नवसारि[२] से प्राप्त उसके एक अभिलेख से प्रमाणित है। इस प्रथम सैनिक अभियान के पीछे चालुक्यों के मन में कौन सी खीझ या कारण था, इसे जानने का कोई साधन नहीं है। किन्तु दूसरा कारण कौन सा उपस्थित हो गया, जिससे विक्रमादित्य परमेश्वरवर्मन् पर दूसरी बार टूट पड़ने को उद्यत हो गया, यह भी ज्ञात नहीं है। ६७४ ई० में उसके उग्रपुर (उरियाऊर) या **चोलिक विषय** (चोड़ों के राज्य) के महास्कन्धावार में पुन: निवास करने के उल्लेख प्राप्त होते हैं। दोनों ही बार उन स्कन्धावारों से विक्रमादित्य ने माधव नामक गंग राजकुमार और गंगमहादेवी नामक अपनी रानी के आग्रह पर भूमिदान किया था। गंग राज्य से चालुक्य वंश के पुराने वैवाहिक और मित्रता के सम्बन्ध थे। अत: यह असंभव नहीं है कि पल्लवों के विरुद्ध चालुक्यराज के युद्धों के समय गंग सेनाएँ भी चालुक्यों के साथ रही हों। गंग राजाओं के भी ऐसे अनेक अभिलेख[३] प्राप्त होते हैं, जो पल्लवों के विरुद्ध उनके सैनिक संघर्षों का प्रमाण देते हैं।

किन्तु प्रथम विक्रमादित्य के इस दूसरे आक्रमण के संबंध में यद्यपि चालुक्य अभिलेखों में यह कहा गया है कि उसकी सेनाएँ काञ्ची (**चोलिविषय**) तक पहुँच गयीं और विजयी रहीं, पल्लव अभिलेखों में उन्हीं की विजय के दावे किये गये हैं[४]। परमेश्वरवर्मन् का कूरम अभिलेख[५] तो यहाँ तक दावा करता है कि लाखों की संख्या वाले सैनिकों की सेना द्वारा आक्रमण करने वाला विक्रमादित्य केवल फटे हुए कपड़ों में भाग जाने को विवश हो गया था। चूंकि दोनों पक्षों के ये परस्पर विरोधी दावे अलग-अलग

---

१. मद्रास आर्के० सर्वे रिपोर्ट्स् १९३९, पृष्ठ १३३।
२. जर्नल् ऑफ् दि बाम्बे ब्राञ्च ऑफ् रायल् एशियाटिक सोसायटी, जिल्द १६, पृष्ठ १ और आगे।
३. मद्रास आर्के० रिपोर्ट्स्, १९२५, सं० १०५, पृष्ठ ८५-८९; एपि० कर्नाटिका, जिल्द ३, सं० ११३, उद्धृत, टे०वे० महालिंगम्, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ९९, नोट २।
४. ब्यौरों हेतु देखें, टे०वे० महालिंगम्, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ १००-१०१।
५. साउथ इण्डियन् इन्स्कृप्शन्स्, जिल्द १, पृष्ठ १४९, १५४।

तिथियों वाले अलग-अलग अभिलेखों में प्राप्त होते हैं, यह निष्कर्ष निकालना अनुचित नहीं होगा कि वे वर्णन एक ही युद्ध के सम्बन्ध में नहीं, है अपितु दोनों पक्षों के बीच लड़े जाने वाले कई चक्रों के अलग-अलग युद्धों के बारे में हैं, जिनमें बारी-बारी से दोनों पक्षों की पराजयें अथवा विजयें होती रहीं। तथापि उनका पूर्वापर बैठाना कठिन है।

किन्तु परमेश्वरवर्मन् अपने शासन के आगे आने वाले वर्षों में कभी अपनी अथवा अपने पूर्वजों की चालुक्यों के हाथों होने वाली सभी पराजयों का बदला लेने में पूरी तरह सफल रहा। उसने अपने सेनापति शिरुतोण्डार को वातापी पर आक्रमण के लिये भेजा[१]। इस सेनापति का प्रारंभिक नाम परञ्जोति = परमज्योति था। वही बाद में शिरुतोण्डार नाम से प्रसिद्ध **नायनार** सन्त हुआ। वह सम्बन्दर का समकालिक था, जो स्वयं पाण्ड्य शासक अरिकेसरी परांकुश मारवर्मन् का समकालिक था (६७०-७०० ई०)। शिरुतोण्डार के वातापी पर इस आक्रमण का उल्लेख **पेरियपुराणम्** में आता है। तदनुसार, उसने वातापी को जीता, उसे लूटा और उसकी सम्पत्ति को ढोकर काञ्ची ले गया[२]। इस सफलता के फलस्वरूप पल्लवों को नेल्लूर जिले के अपने उन दक्षिणी भागों को पुन: अधिकृत कर लेने में सफलता प्राप्त हो गयी, जहाँ उनके द्वारा दान दिये जाने के उल्लेख वुन्नेगरुवयपलेम के अभिलेख[३] सहित कुछ अन्य अभिलेखों में भी प्राप्त होते हैं।

इन विवरणों से स्पष्ट है कि पश्चिमी चालुक्य शासकों-विशेषत: प्रथम विक्रमादित्य-के प्रारंभिक आक्रमणों के कारण द्वितीय महेन्द्रवर्मन् और प्रथम परमेश्वरवर्मन् को जो भी राजनीतिक और सैनिक प्रतिष्ठा खोनी पड़ी थी तथा राज्य के दक्षिणी भागों में अपनी शासित भूमि को हाथ से धोना पड़ा था, उन सबको उसने अपने शासन का अन्त होते-होते वापस पा लेने में सफलता प्राप्त कर ली। उसके अभिलेखों में उसे अनेक उपाधियाँ दी गयी हैं—यथा **विद्याविनीत, लोकादित्य, उग्रदण्ड, एकमल्ल** और **श्रीनन्दी**। **श्रीनन्दी** विरुद से प्रकट होता है कि वह शैवमत का अनुयायी था। उसके कूरम अभिलेख में उसके कुछ व्यक्तिगत गुणों का बखान किया गया है, जिनमें उसके सुन्दर शरीर, मोहकदर्शन, कलहप्रियता और काव्यप्रियता के उल्लेख हैं। उसके द्वारा निर्मित स्वतंत्र स्थलीय मंदिरों के भी उसके अभिलेखों में वर्णन प्राप्त होते हैं। उसकी शिव में परमभक्ति के प्रतीकरूप में लिखित उसका कूरम अभिलेख वह पहला स्रोत है, जो दक्षिण भारत में सदाशिवभक्ति का एक मनोरम चित्र उपस्थित करता है। उस शिव की मूर्ति का एक शब्दचित्रांकन वहाँ प्राप्त है। उसके अभिलेख उसे **परममाहेश्वर** और **परमब्रह्मण्य**

---

१. पेरियपुराणम्, श्लोक ६; उद्धृत टे०वे० महालिंगम्, पूर्वनिर्दिष्ट पृष्ठ १०३।

२. इस घटना का समय महालिंगम् (वहीं) ने विक्रमादित्य की मृत्यु के बाद ६७९ ई० में निश्चित किया है।

३. एइ०, जिल्द ३२, पृष्ठ ९६।

कहते हैं[१] ।

द्वितीय नरसिंहवर्मन् (६९०-१ से ७२८-७२९ ई० प० तक)

द्वितीय नरसिंहवर्मन् अपने नाम से कम अपितु अपनी उपाधि **राजसिंह** से अधिक ज्ञात है । सभी पल्लव शासकों को उपाधियों अथवा विरुदों को धारण करने का अन्य राजवंशों के शासकों की अपेक्षा कुछ अधिक ही शौक था । किन्तु उनमें भी प्रथम महेन्द्रवर्मन्, प्रथम परमेश्वरवर्मन् और द्वितीय नरसिंहवर्मन् (**राजसिंह**) तो अपनी उपाधियों को स्त्रियों के द्वारा आपादमस्तक पहने हुए आभूषणों की तरह धारण करने की इच्छा से मानों ग्रस्त जैसे दिखायी देते हैं । द्वितीय नरसिंहवर्मन् का लगभग ४० वर्षों का लम्बा शासनकाल उसकी किसी बहुत बड़ी सैनिक उपलब्धि के लिए नहीं ज्ञात है, अपितु वह प्रसिद्ध है पल्लव कला, वास्तु चित्रकारी, सुन्दर मंदिरों के निर्माण, उनके भीतर और बाहर किये जाने वाले अलंकरणों, नयी-नयी वास्तुशैलियों के विकास, संस्कृत विद्या के उन्नयन और प्रसार तथा शैवधर्म की वेगपूर्ण व्याप्तता के लिए । इनका कुछ विशेष विवरण हम आगे ''पल्लव प्रशासन और संस्कृति'' शीर्षक के अन्तर्गत ही करेंगे । यहाँ उन सबका एक मोटामोटी परिचय मात्र पर्याप्त होगा ।

द्वितीय नरसिंहवर्मन् के स्वयं प्रकाशित अभिलेख संख्या में अन्य पल्लव शासकों के अभिलेखों की तुलना में बहुत ही अधिक हैं । साहित्यिक गुणों और छन्द तथा अलंकार की दृष्टि से वे उत्तम कोटि के हैं, जो उसके व्यक्तिगत गुणों, उसके अनेकानेक विरुदों, उसके द्वारा समुद्र के किनारे और बाहर की भूमि पर निर्मित किये गये सुन्दर मंदिरों (स्ट्रक्चरल् टेम्पुल्स्) तथा उसकी निजी साहित्यिक, कलात्मक और धार्मिक प्रवृत्तियों के विस्तृत उदाहरण प्रस्तुत करते हैं । यह मत व्यक्त है कि ''समुद्री बन्दरगाहों तथा राजधानी में उसके कलात्मक निर्माण उसे दक्षिण भारत में शासन करने वाले शैव राजाओं में महत्तम सिद्ध करते हैं, जिसकी निकटतम बराबरी करने वाला केवल चोड़ शासक राजराज ही था''[२] ।

काञ्ची के कैलाशनाथ मंदिर तथा पनमालै मंदिर के भीतर खुदे हुए अभिलेखों में, श्लोकों के रूप में, उसकी शिव से तुलना करते हुए, प्राय: श्लेषालंकार में द्वैध अर्थों वाले उसके न जाने कितने विरुद प्राप्त होते[३] हैं । उसका वायुलूर स्तंभ अभिलेख[४] इस दृष्टि

१. साउथ इण्डियन् इन्स्कृप्शन्स्, जिल्द १, पृष्ठ १३, ३४७, ३५७; एइ०, जिल्द ३२, पृष्ठ ९७ ।

२. टे०वे० महालिंगम्, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ १०९ ।

३. साउथ इण्डियन् इन्स्कृप्शन्स्, जिल्द १, पृष्ठ १२-१३, श्लोक सं० २, ३ और ५; एइ०; जिल्द १९, पृष्ठ ११३ । आर् सतियनाथियेर के अनुसार उसके विरुदों की संख्या २५० के आसपास हो सकती है ।

४. एइ०, जिल्द १८, पृष्ठ १४५-१५२ ।

से बहुत ही महत्त्वपूर्ण है कि सबसे पहले उसी में उसके सभी पूर्वजों की, प्रारंभ से उसके समय तक की, पूरी वंशावली प्राप्त होती है। यह दक्षिण भारतीय इतिहास में एक अनूठी ऐतिहासिक बुद्धि से सम्बद्ध देन है, जिसकी नकल आगे चलकर पूर्वी चालुक्य शासक तृतीय विजयादित्य[१] और चोड़ शासक प्रथम राजराज ने की। द्वितीय नन्दिवर्मन् पल्लवमल्ल का काशाकुड़ि अभिलेख[२] उसे "परमेश्वर (शिव) का वह पूर्णावतार" कहता है, जिसने "शरीर और शक्ति दोनों में ही नरसिंह अर्थात् विष्णु की समता की; जिस **क्षत्रियकुलचक्रचूड़ामणि** ने अपनी सम्पत्ति ब्राह्मणों और मंदिरों को दान दी और अपने वश में आयी लक्ष्मी (धनसम्पत्ति) का चारों वेदों के ज्ञाता ब्राह्मणों द्वारा भोग करने दिया।" अन्यत्र उसे **परममाहेश्वर** और **परमब्रह्मण्य** कहा गया है।

न तो उसके अपने अभिलेखों में, न उसके बाद वाले पल्लव राजाओं के अभिलेखों में और न तत्कालीन चालुक्य अभिलेखों में ही उसके समय के किसी चालुक्य-पल्लव संघर्ष का कोई उल्लेख प्राप्त होता है। अत: यह निश्चय किया गया है कि उसके लम्बे शासनकाल में पूरी शान्ति रही और उसने अपनी सारी ऊर्जा, सम्पत्ति और समय मंदिर निर्माणों में ही लगाया। यद्यपि उसके कैलाशनाथ मंदिर से प्राप्त अभिलेख से उसके द्वारा शत्रुभाव रखने वाले कुछ शासकों और सामन्तों के विरुद्ध युद्ध के उल्लेख प्राप्त होते हैं, ऐसा प्रतीत होता है कि वे गातानुगतिक प्रशंसामात्र हैं।

उसके विरुदों में **कालकाल, रणञ्जय, रणविक्रम**, **अपराजित, अमित्रमल्ल, अतिरणचण्ड, अरिमर्दन, आहवकेसरी, अप्रतिविक्रम, अकण्डशनि, अमित्रशनि, अपातदुर्ध्दर, पुरवक्रमर्दन समरधनञ्जय, चित्रकारमुख, संग्रामराम** और **धनशूर** आदि मुख्य थे। उसकी कम से कम दो रानियाँ थीं, जिनमें रंगपताका नाम की रानी उसकी पट्टरानी थी।

कुछ अप्रत्यक्ष और प्रत्यक्ष स्रोत ऐसे भी हैं, जिनसे यह प्रकट होता है कि द्वितीय नरसिंहवर्मन् का कुछ द्वीपों पर भी अधिकार था और चीन, तिब्बत तथा अरबों से भी उसके व्यापारिक सम्बन्ध थे। उसका वायलूर स्तंभ अभिलेख[३] उसके राज्य की सीमाओं के भीतर लाखों द्वीपों (**द्वीपलक्षम्**) का उल्लेख करता है। यद्यपि इस पद के पाठ और उसके अर्थ के बारे में लिपिशास्त्रिओं में मतैक्य नहीं है, कुछ के द्वारा उसका तात्पर्य आधुनिक लक्कद्वीप (लक्षद्वीप) से लगाया गया है। किन्तु इसके अतिरिक्त एक प्रत्यक्ष उल्लेख[४] एक चीनी स्रोत से प्राप्त होता है, जो कहता है कि "कयै-यूवेन् के आठवें वर्ष में दक्षिण भारत के राजा चे-लि-न-लो-सेंग-किया (श्रीनरसिंह) ने ला-चि (ताजिक = अरबों) और

---

१. देखें पीछे पृष्ठ २९२ (वेंगी के पूर्वी चालुक्य शीर्षक अध्याय)।
२. साउथ इण्डियन् इन्स्कृप्शन्स्, जिल्द २, पृष्ठ ३४९।
३. एइ०, जिल्द १८, पृष्ठ १५२, नोट १।
४. नीलकान्त शास्त्री, फॉरेन् नोटिसेज् ऑफ् साउथ इण्डिया, पृष्ठ ११६।

ति-आन्-पो (तिब्बत) तथा अन्यों को दण्डित करने हेतु अपनी हस्तिसेना और अश्वसेना को लगाने का प्रस्ताव किया।" इससे स्पष्ट होता है कि नरसिंहवर्मन् (**राजसिंह**) ने तिब्बतिओं और अरबों को दण्डित करने की अपनी योजना की सूचना पहले ही चीनिओं को दे दी थी। किन्तु प्रश्न यह उठता है कि **राजसिंह** के सामने ऐसी आवश्यकता क्यों उत्पन्न हुई। तिब्बती और अरब लोग तो उसके राज्य से बहुत दूर थे। निष्कर्ष केवल यही प्रतीत होता है कि दक्षिण-पूर्व एशिया के देशों से होने वाले व्यापार में उपर्युक्त सभी पक्षों की हिस्सेदारी थी और दक्षिण भारतीय (दक्षिणी) व्यापार में तिब्बती और अरब लोग कुछ बाधाएँ उत्पन्न कर रहे थे। असंभव नहीं है कि इसके फलस्वरूप कोई समुद्री युद्ध लड़ा गया हो। विण्सेण्ट स्मिथ का तो यह मानना[1] था कि चीनिओं को पल्लवों की अपेक्षा तिब्बतिओं और अरबों से अपेक्षाकृत अधिक व्यापारिक चुनौती मिल रही थी और उनकी ही रुचि इस बात में ज्यादे थी कि वे नरसिंहवर्मन् की हस्तिसेना और अश्वसेना द्वारा तिब्बती और अरब लोग दक्षिण भारतीय प्रायद्वीप के पूर्व की ओर बसे हुए किसी द्वीप में दण्डित किये जाँय। यह द्वितीय नरसिंहवर्मन् की बढ़ती हुई सामुद्रिक शक्ति और व्यापारिक समृद्धि का ही द्योतक माना जाना चाहिए। कम्बुज (कम्बोडिया) के महेन्द्रवर्मन् नामक शासक के एक अभिलेख में काञ्चीपुरनृप (काञ्चीनगर के राजा) का उल्लेख हुआ है। पुनः चम्पा के माइसोन से प्राप्त एक अभिलेख का कथन है कि विक्रान्तवर्म(ा) (**राजसिंह**) द्वारा वंशेश्वर शिव के कोश (मूर्ति) की स्थापना का श्रेय तबतक बना रहेगा जबतक संसार चलता रहेगा। स्पष्ट है कि कम्बोडिया और चम्पा तक पल्लव राजाओं की व्यापारिक और सांस्कृतिक पहुँच थी[2]।

द्वितीय नरसिंहवर्मन्, **राजसिंह**, का समय दक्षिण भारत में शैवपंथ के विस्तार का युग था। शिव के नाम से उसने न जाने कितने मंदिरों का निर्माण कर वहाँ शिवमूर्तियों को स्थापित करते हुए जो अभिलेख लिखवाये, वे शिव की बढ़ती हुई प्रतिष्ठा और व्यापकता के गीतों से भरे पड़े हैं और वह स्वयं अपने को शिवतुल्य बताता है। अपने एक अभिलेख[3] में वह **शैवसिद्धान्तमार्ग** का व्यापक उल्लेख करता है, जो कदाचित् इस सिद्धान्तमार्ग का सबसे पहला वर्णन है। वह स्वयं शैव था, जो **शंकरभक्त, देवदेवभक्त, ईशानशरण** और **ईश्दरभक्त** जैसी उसकी उपाधियों से स्पष्ट होता है। उसके अनेक अभिलेख **शिवमहिमा** के गुण गाते हैं। तथापि उसकी धार्मिक दृष्टि उदार थी, जो उसकी **परमब्रह्मण्य, श्रीपतिवल्लभ** और **परमभागवत** जैसी उपाधियों से प्रकट है। एक चीनी शासक की इच्छा पूरी करते हुए उसने नागपट्टिनम् (नागपट्टन) नामक बन्दरगाह नगर में

---

१. अर्ली हिस्ट्री ऑफ् इण्डिया, पृष्ठ ३७७ और उसकी टिप्पणियाँ।

२. र०च० मजूमदार, हिन्दू कॉलोनीज़् इन् दि फॉर ईस्ट, जिल्द १, चम्पा, तीसरा भाग, पृष्ठ ३९।

३. साउथ इण्डियन् इन्स्कृप्शन्स्, जिल्द १, पृष्ठ १२, १५, श्लोक ५।

एक बौद्ध विहार और बौद्ध मठ भी बनवाया[१], ताकि चीन से आने वाले बौद्ध लोग वहाँ पूजा कर सकें। इसे चीनी मंदिर (चीनी पैगोडा) कहा जाता था। उसकी निजी आकृति इतनी सुन्दर थी कि अनायास ही स्त्रियाँ उसपर मुग्ध हो जाती थीं। एक अभिलेख में उसे मन्मथ (कामदेव) के सौन्दर्य वाला व्यक्ति कहा गया है। प्रथम महेन्द्रवर्मन् की तरह उसे भी गायन और वाद्य का भरपूर शौक था। अतिरणचण्डेश्वर मंदिर का एक अभिलेख[२] कहता है कि ''वह (व्यक्ति) जो स्वयं विधातृ (ब्रह्मा), भरत, हरि, नारद और स्कन्द न हो, **कालकाल (राजसिंह)** के गायन को कैसे समझ सकेगा।'' उसकी **वाद्यविद्याधर, तोड्य तुम्बुरु** और **वीणानारद** जैसी उपाधियाँ हमें उस समुद्रगुप्त का स्मरण कराती हैं जो वीणा और वाद्य में अपनी तुलना नारद और तुम्बरु नामक ऋषिओं से करते हुए गौरवान्वित होता [३]था।

द्वितीय नरसिंहवर्मन् (**राजसिंह**) की सबसे बड़ी उपलब्धियाँ तो विद्या और मंदिर निर्माण के क्षेत्रों से सम्बद्ध थीं। पिष्टपेषण के भय से उनका यहाँ उल्लेख न करके हम उन्हें ''पल्लवों के समय के सांस्कृतिक प्रफुल्लन'' नामक शीर्षक के अधीन इस अध्याय के अन्त में देखेंगे। पाठकगण आवश्यकतानुसार दोनों को एक साथ मिला सकने को स्वतंत्र होंगे।

द्वितीय परमेश्वरवर्मन् (७२९-७३१-३२ ई०प०)

द्वितीय नरसिंहवर्मन् के दो पुत्र थे–महेन्द्रवर्मन् और परमेश्वरवर्मन्। महेन्द्रवर्मन् जेठा था, किन्तु उसकी मृत्यु अपने पिता के जीवित रहते ही हो गयी। अत: छोटा पुत्र परमेश्वरवर्मन् (द्वितीय) ७२९ ई० में उसका उत्तराधिकारी बना। उसका शासनकाल कमजोर सिद्ध हुआ और उसे बादामी के चालुक्य **युवराज,** द्वितीय विक्रमादित्य, के आक्रमण का सामना करना पड़ा। युद्ध में वह हारा और चालुक्यों को भेंट रूप में धन देकर ही मुक्त हो सका। कर्नूल तालुका से प्राप्त दो टुकड़ों में टूटे हुए एक पत्थर पर लिखा हुआ एक कन्नड़भाषी अभिलेख इस आक्रमण का वर्णन करते हुए कहता[४] है कि **युवराज** विक्रमादित्य ने काञ्ची पर आक्रमण करके परमेश्वरवर्मन् से धनरूप में भेंट वसूल की और लौट गया। इस अभिलेख की तिथि ७३१ ई० है और वही चालुक्य आक्रमण की तिथि भी मानी गयी है। **राजसिंह** जैसे शक्तिशाली शासक की मृत्यु के केवल एक वर्ष के भीतर ही पल्लव राज्य की यह दुर्गति इस बात की गवाह है कि परमेश्ववर्मन्

---

१. टी०एन्० रामचन्द्रन्, नागपट्टिनम् ऐण्ड इट्स् बुद्धिस्ट ब्रॉज़ेज़, पृष्ठ १४।
२. साउथ इण्डियन् इन्स्क्रृप्शन्स्, जिल्द १, पृष्ठ ७।
३. तुलना हेतु देखें प्रयाग प्रशस्ति—निशितविदग्धमति गांधर्वललितैर्व्रीडितत्रिदशपतिगुरुतुम्बुरुनारदेर्विद्वज्जनोपजित्यानेकाकाव्याक्रियाभिर्प्रतिष्ठितकविराजशब्दस्य। २७वीं पंक्ति० कार्पस् इन्स्कृप्शनम् इण्डिकेरुम्, फ्लीट, जिल्द ३, पृष्ठ ८।
४. ऐनुअल् रिपोर्ट्स् ऑन् एपिग्राफी, १९४३-४४, १९४४-४५, परिशिष्ठ ई।

निहायत ही कमजोर शासक था। चालुक्यों के इस अभियान में पश्चिमी गंग शासक दुर्विनीत एरियप्प ने विक्रमादित्य की ओर से भाग लिया था। फलतः, उससे अप्रसन्न होकर गंग राज्य पर विक्रमादित्य के लौटते ही द्वितीय परमेश्वरवर्मन् ने धावा बोल दिया। किन्तु एरियप्प के विरुद्ध लड़े गये इस युद्ध में भी वह हार गया और स्वयं मारा भी गया। इसका विशद विवरण १०७७ ई० के एक कन्नड़भाषायी गंग अभिलेख में प्राप्त होता[१] है। अपने राज्य से दूर गंग राज्य में परमेश्वरवर्मन् की मृत्यु के कारण पल्लव राज्य की राजधानी काञ्ची में अवश्य ही अराजकता उत्पन्न हुई होगी। इसी परिस्थिति में एक अन्य पल्लव शाखा का द्वितीय नन्दिवर्मन् राजा हुआ।

द्वितीय नन्दिवर्मन् पल्लवमल्ल (७३१-७९६ ई० प०)

लगभग ६५-६६ वर्षों तक शासन करने वाला नन्दिवर्मन् **पल्लवमल्ल** द्वितीय परमेश्वरवर्मन् का न तो पुत्र था और न पौत्र। वास्तव में वह प्रथम शक्तिशाली पल्लव शासक सिंहविष्णु के छोटे भाई भीमवर्मन् की छठीं पीढ़ी का एक बारहवर्षीय राजकुमार था, जो उसके अभिलेखों के अनुसार, साधारण प्रजाओं, मन्त्रिओं, राज्याधिकारिओं और सेनापतिओं द्वारा मिलकर एक ऐसे समय राजा चुना गया, जब वह पल्लव राजधानी काञ्ची में उपस्थित भी नहीं था। फलतः, द्वितीय नन्दिवर्मन् के प्रतियोगी दावेदार के रूप में चित्रमाय ने विद्रोह कर दिया और उसकी ओर से द्वितीय विक्रमादित्य चालुक्य ने काञ्ची पर आक्रमण कर दिया। काञ्ची के वैकुण्ठपेरुमल मन्दिर की बाहरी और भीतरी दीवारों पर चित्रों सहित एक टूटे-फूटे अभिलेख में नन्दिवर्मन् के राज्यारोहण सम्बन्धी सारे घटनाक्रम का एक चित्रमय विवरण उकेरा गया है, जिसके सही-सही अर्थ के बारे में अभी भी विद्वानों में मतैक्य नहीं है।

चालुक्य शासक द्वितीय विक्रमादित्य के नरवण से प्राप्त होने वाले अभिलेख[२] में कहा गया है कि पल्लव राज्य को अपना सहजशत्रु (प्रकृत्यामित्र) मानते हुए उसने नन्दिवर्मन् के राज्याभिषेक के तुरंत बाद ही उसपर धावा बोल दिया तथा उसके वाद्ययंत्रों, बहुत से हाथियों तथा प्रभूत रत्नों को छीन तो लिया, किन्तु उन सभी लूट की वस्तुओं को काञ्ची के राजसिंहेश्वर मंदिर के देवता को पूजा में चढ़ा दिया। इसका समर्थन वहीं राजसिंहेश्वर मंदिर में उत्कीर्ण विक्रमादित्य के एक कन्नड़भाषी अभिलेख से भी होता है[३]। इस चालुक्य आक्रमण की तिथि ७३४ ई० के आसपास मानी जा सकती है। वैकुण्ठपेरुमल मंदिर वाले अभिलेख तथा नन्दिवर्मन् के शासन के २१वें वर्ष के

---

१. उद्धृत, टे०वे० महालिंगम्, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ १३५। इस अभिलेख के अनुवाद हेतु देखें, लूई राइस, एपि० कर्नाटिका, जिल्द ८, सं० ३५ पृष्ठ २५१ (मूलपाठ) और पृष्ठ १३५ (अंग्रेजी अनुवाद)।

२. एपि० इण्डिका, जिल्द २७, पृष्ठ १२५ और आगे।

३. एपि० इण्डिका, जिल्द ३, पृष्ठ ३६०।

उदयेन्दिरम् अभिलेख से यह ज्ञात होता है कि नन्दिवर्मन् का राज्यारोहण अप्रतिरुद्ध अथवा विरोधरहित नहीं सम्पन्न हो सका था। द्रविड़ राजकुमार, अर्थात् पाण्ड्य शासक, की सेनाओं ने चित्रमाय की ओर से नन्दिवर्मन् के विश्वस्त और वीर सेनापति उदयचन्द्र के साथ युद्ध किया था, जिसमें उदयचन्द्र ने चित्रमाय को मार डाला था। यह चित्रमाय वही पल्लव राजकुमार था, जो पल्लव राजगद्दी के लिए युद्धरत था। यह अनुमान सही है कि चालुक्यों ने चित्रमाय की मदद में ही पल्लवों पर आक्रमण किया था। चित्रमाय के मारे जाने के बाद, उसी का बदला लेने के उद्देश्य से, द्वितीय विक्रमादित्य ने नन्दिवर्मन् पर पुनः दुबारा आक्रमण किया होगा।

टे० वे० महालिंगम्[१] सारी घटनाओं का समाहार करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पल्लव राज्य पर कुल मिलाकर चालुक्य विक्रमादित्य ने तीन आक्रमण किये। पहला आक्रमण उसने युवराज रहते हुए ही किया, जब वह द्वितीय परमेश्वर से बहुत अधिक धन भेंट के रूप में वसूल करने में सफल रहा[२] और लौटते हुए कर्नूल जिले के कुछ भागों पर अधिकार जमाते हुए वहाँ गंग राजकुमार माधव के आग्रह पर भूमिदान किया। दूसरा आक्रमण, कदाचित् प्रथम आक्रमण के एक वर्ष के भीतर ही, उसने राजा के रूप में नन्दिवर्मन् के राजा बनते ही किया[३], किन्तु काञ्ची की सम्पत्ति को लूटने के बाद भी सबकुछ वहीं राजसिंहेश्वर मंदिर को दान में दे दिया। इस आक्रमण में नन्दिवर्मन् हारकर भाग जाने को विवश हुआ और विक्रमादित्य की सहायता से चित्रमाय राजा हुआ और अगले २१ वर्षों तक वही काञ्ची का शासक बना रहा। इस बीच नन्दिवर्मन् भागकर राष्ट्रकूट शासक दन्तिदुर्ग के राजदरबार में शरण लेने को विवश हुआ और अगले २१ वर्षों तक वहीं रहकर राष्ट्रकूटों के विभिन्न युद्धों में भाग लेता रहा। इस बीच विक्रमादित्य की सहायता से चित्रमाय शासक हो गया और परमेश्वरवर्मन् की मुख्य शाखा पुनः काञ्ची पर काबिज हो गयी। चूंकि नन्दिवर्मन् का उदयेन्दिरम् अभिलेख २१ वर्षों बाद का है, जो पुनः उसको पल्लवराज के रूप में उपस्थित करता है; वही उसके सेनापति उदयचन्द्र द्वारा चित्रमाय के मारे जाने का उल्लेख करता है तथा द्राविड़ (पाण्ड्य) आदि राजाओं की सम्मिलित सेना को पराजित होते हुए बताता है, यह सारा काल नन्दिवर्मन् के अज्ञातवास और काञ्ची की राजगद्दी के उसके हाथ से निकल जाने का समय होना चाहिए। किन्तु इस बात को सिद्ध करना कठिन ही जान पड़ता है कि चूंकि उदयेन्दिरम् का अभिलेख नन्दिवर्मन् के प्रथम राज्याभिषेक के २१ वर्षों बाद प्रकाशित किया गया, यह पूरा का पूरा

---

१. पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ १५६-१५७।

२. देखें, पीछे पृष्ठ २७५।

३. सतियनाथियेर के मत में (दि क्लासिकल् एज्, पृष्ठ २६३) इस आक्रमण का समय ७४० ई० था।

समय नन्दिवर्मन् के राष्ट्रकूट दरबार में शरण[1] लिये रहने तथा राष्ट्रकूटों की ओर से युद्धों में भाग लेते रहने का काल[2] था। यह भी संभव है कि जो घटनाएँ उदयेन्दिरम् अभिलेख में वर्णित हैं, वे उसकी प्रकाशन तिथि के पूर्व ही घटी हों।

नन्दिवर्मन् की विजयें

नन्दिवर्मन् के शासन के ६१वें वर्ष के पट्टतालमङ्गलम् अभिलेख[3] में वल्लभ (चालुक्य), कलभ्र, केरल, पाण्ड्य, चोड़, तुलु और गोंगण (कोंकण) राजाओं को उसके द्वारा पराजित किये जाने के उल्लेख मिलते हैं। उसके शासन के ३३वें वर्ष में प्रकाशित पुल्लूर अभिलेख[4] उसे इस बात का श्रेय देता है कि केरल, चोड़, पाण्ड्य, मालव, कलभ्र, बाण, आन्ध्र, सिन्धव, शान्तमवकुरवर, गंग और कदम्ब के शासक उसकी आज्ञाओं को शिरोधार्य करते थे। ये उल्लेख कितने काल्पनिक, कोरे प्रशंसात्मक और केवल गतानुगतिक हैं, अथवा कितने ऐतिहासिक हैं, इसका सही-सही निर्धारण कर सकना कठिन है। इसी प्रकार उसके शासन के २१वें वर्ष का उदयेन्दिरम् अभिलेख[5] भी उसके सेनापति उदयचन्द्र की प्रशंसा में उसकी अनेक विजयों का उल्लेख करता है और यह कहता है कि उदयचन्द्र ने नन्दिवर्मन् को बार-बार उसकी राजगद्दी दिलायी। वहाँ कथित है कि "उदयचन्द्र ने जब यह जाना कि **पल्लवमल्ल** नान्दिपुर के दुर्ग में द्राविड़ राजकुमारों के द्वारा घेर लिया गया है तो उसे यह बर्दाश्त के बाहर हो गया और **पल्लवमल्ल** के शत्रुओं के लिये काल के समान होते हुए" उसने "निम्बवन, चूतवन, शंकरग्राम, नेल्लूर, नेलवेलि, शूरबलन्दूर आदि समरभूमियों में शत्रु सेनाओं को कुमुदलताओं की तरह अपनी तलवारों की तेज धारों से विच्छिन्न कर डाला और इस प्रकार पल्लव (राज) को कई-कई बार उसके राज्य पर आसीन किया। इस विवरण में कुछ तथ्य जो सामने उभरकर आते हैं, वे ये हैं कि प्रथमत: तो द्राविड़ राजकुमार अर्थात् पाण्ड्यराज ने कुछ अन्य आक्रामकों के साथ मिलकर नन्दिवर्मन् **(पल्लवमल्ल)** को नान्दिपुरी के दुर्ग में घेर लिया; दूसरा यह कि युद्धस्थल एक नहीं कई थे और तीसरा यह कि युद्धों का केवल एक चक्र ही नहीं था अपितु उसके कई चक्र हुए, जिनमें बार-बार विजय प्राप्तकर उदयचन्द्र ने अपने स्वामी को कई बार उसकी राजगद्दी दिलायी। उपर्युक्त नान्दिपुरी के दुर्ग की पहचान कई स्थानों से की गयी है। केवल इतना निश्चित है कि वह कहीं पल्लव राज्य में ही था। अत: उदयराज के ये युद्ध आक्रामक नहीं अपितु संरक्षात्मक ही प्रतीत होते हैं, जिनमें पाण्ड्यराज

---

१. दन्तिदुर्ग ने अपनी पुत्री रेवा का विवाह नन्दिवर्मन् से कर दिया था, यह उन दोनों की मित्रता का प्रमाण है। देखें, सतियनाथियेर, दि क्लासिकल् एज़्, पृष्ठ २६३।
२. टे० वे० महालिंगम्, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ १५७।
३. एपि० इण्डिका, जिल्द १८, पृष्ठ ११५ और आगे।
४. वहीं, जिल्द ३६, संख्या २०, पृष्ठ १३६-१४४।
५. साउथ इण्डियन् इन्स्कृप्शन्स्, जिल्द २, पृष्ठ ३६८ और आगे ३७२-३७३।

(राजसिंह-७३०-७६८ ई०) और उसकी सेनाएँ ही आक्रमणकारी लगती हैं। इस समय का पाण्ड्य इतिहास पाण्ड्यों की उठती हुई शक्ति को प्रकट करता है, जिसमें उनका पल्लवों के विरुद्ध आक्रामक होना असंभव नहीं दीखता। किन्तु यह भी संभव है कि दन्तिदुर्ग के समय राष्ट्रकूटों के उदय और बादामी के चालुक्य राज्य के पतन का लाभ उठाते हुए, राष्ट्रकूटों से अपनी मित्रता के बलपर नन्दिवर्मन् की सेनाओं ने वल्लभ (चालुक्य कीर्त्तिवर्मन् द्वितीय) जैसे कुछ उत्तर भारतीय राज्यों पर धावा बोलकर कुछ विजयें प्राप्त की हों। तथापि उसकी विजयों का न तो कोई क्रम निश्चित किया जा सकता है, और न उनका दिशाक्रम ही जाना जा सकता है।

चित्रमाय का उदयचन्द्र द्वारा वध, युद्धभूमि में अनेक शत्रुओं के नाश तथा नन्दिवर्मन द्वारा पुन: काञ्ची की राजगद्दी पर बैठ जाना चालुक्य शासक द्वितीय विक्रमादित्य को पुन: एक बार पल्लवों के विरुद्ध आन्दोलित करने लगा। चूँकि अब वह स्वयं बहुत वृद्ध हो चला था और स्वयं युद्धभूमि में सेना का नेतृत्व करने में असमर्थ था, उसने अपने पुत्र और **युवराज** उत्तराधिकारी, द्वितीय कीर्त्तिवर्मन्, को एक बार और काञ्ची पर आक्रमण के लिए भेजा। इसका उल्लेख उसके केन्दूर ताम्रफलकाभिलेख[१] में प्राप्त होता है। तदनुसार, कीर्त्तिवर्मन् ने काञ्ची को लूटा तथा उसके हाथियों, धनसम्पत्ति और रत्नों को ले जाकर विक्रमादित्य को समर्पित कर दिया। इसका समर्थन उसके वक्कलेरि अभिलेख[२] से भी होता है। पल्लव राज्य पर द्वितीय विक्रमादित्य का यह तीसरा हमला उसके शासन के अन्तिम वर्ष की घटना थी।

नन्दिवर्मन् का शासनकाल केवल दक्षिण भारत का ही नहीं, अपितु सारे भारतीय इतिहास का कदाचित् सबसे लम्बा (६६ वर्ष) शासन काल था। वह केवल १२ वर्ष की उम्र में राजगद्दी पर बैठा। उसे शत्रुओं के माध्यम से न जाने कितनी विपत्तियाँ झेलनी पड़ीं, कई-कई बार राजगद्दी उसके हाथ से निकली और पुन: उसके अधिकार में आयी; शक्तिशाली चालुक्यों के कम से कम तीन आक्रमण उसे झेलने पड़े और दक्षिण दिशा में उठती हुई पाण्ड्यशक्ति के नेतृत्व में अनेक शत्रुओं से प्राय: सर्वदा ही युद्ध लड़ते रहना पड़ा। तथापि वह विचलित नहीं हुआ और अपने अत्यन्त विश्वस्त, दृढ़भक्त और सैन्यकुशल सेनापति उदयचन्द्र की सहायता से वह इन सारे झंझावातों को काट ले गया। प्रसन्न होकर काञ्चीवाली अपनी राजधानी के पास ही उसने उदयचन्द्र को विल्वल नामक गांव की मिल्कियत दे दी। वह गांव आज भी उत्तरी आर्काट जिले के वनियम्वाडि अथवा उदयचन्द्रमङ्गलम् नामक गांव के नाम से प्रसिद्ध है।

नन्दिवर्मन् एक महान् वास्तु (मंदिर) निर्माता था। काञ्चीपुरम् के वैकुण्ठपेरुमल

१. एइ०, जिल्द ९, पृष्ठ २०६।
२. वहीं, जिल्द ५, पृष्ठ २०४।

मंदिर, मातंगेश्वरमंदिर तथा तिरुमंगे आड़वार के परमेचुरुविण्णनगरम् मंदिर उसके मंदिर वास्तुओं में मुख्य रूप से गिने जाते हैं। यद्यपि यह अब भी निश्चित नहीं हो सका है कि वैकुण्ठपेरुमल मंदिर का वास्तविक निर्माता कौन था, किन्तु नन्दिवर्मन् के अभिलेखों और उसके जीवन की अधिकांश घटनाओं के जो अनगिनत चित्र, विवरणों के साथ, वहाँ उकेरे गये हैं, उनसे यह निष्कर्ष निकालना अनुचित नहीं प्रतीत होता कि वह मंदिर उसी द्वारा निर्मित कराया गया था। उसकी पिछली दीवारों पर रामचन्द्र सहित विभिन्न वैष्णव संप्रदाय के देवताओं के जो चित्र उकेरे गये हैं, उनसे उस समय वैष्णव संप्रदाय के जोर का भी अनुमान लगाया गया है। काञ्ची के मुक्तेश्वर मंदिर का निर्माण भी उसकी रानी ने कराया था।

ऐसा प्राय: माना जाता है कि नन्दिवर्मन् का झुकाव वैष्णव पंथ की ओर था। किन्तु अन्य देवताओं के प्रति भी उसकी वैसी ही श्रद्धाएँ थीं, जिसके प्रमाण उसी के अभिलेखों से प्राप्त होते हैं। उसका उदयेन्दिरम् अभिलेख सदाशिव (शंकर) की प्रार्थना से प्रारंभ होता है। उसके काशाकुड़ि अभिलेख में बारी-बारी से ९ श्लोकों में प्रभाराम (ब्रह्मा) त्रिविक्रम (विष्णु), हर (शिव) त्रिविक्रम और हर (सहयुक्त रूप में) लक्ष्मी, पार्वती (आर्या) और विनायक (गणेश) की स्तुतियाँ की गयी हैं। नवें श्लोक में स्वयं ब्रह्मा, विष्णु और शिव के रूप में उसी का गुणगान है। नन्दिवर्मन् के समय ही प्रसिद्ध वैष्णव सन्त (**आड़वार**) तिरुमंगै **आड़वार** हुए थे, जिनके न जाने कितने गीत वैकुण्ठपेरुमल मंदिर की दीवारों पर अंकित हैं।

पल्लवसत्ता का अवरोह और क्रमिक पतन

दन्तिवर्मन् (७९६-८४६ ई० प०) और तृतीय नन्दिवर्मन् (८४६-८६९ ई०प०)

नन्दिवर्मन् और उसके उत्तराधिकारी दन्तिवर्मन्, दोनों, का शासनकाल यदि मिलाकर देखें तो वह लगभग ११६ वर्षों का होता है, जो एक अपवाद ही कहा जायगा। दन्तिवर्मन् का लगभग ५० वर्षों का लम्बा शासनकाल भी पल्लवों के इतिहास के अवरोह के रूप में ही दिखायी देता है। तत्कालीन अन्तरराज्यीय स्थितियाँ अब पहले की अपेक्षा बहुत बदल चुकी थीं। कर्नाटक में राष्ट्रकूटों की सत्ता तेजी से उभार पर थी; दक्षिण में पाण्ड्यों ने एक स्वतंत्र और उदीयमान राज्य का रूप ले लिया था; मैसूर के विभिन्न क्षेत्रों में गंग, कदम्ब और नोडुम्बवाड के क्षेत्रों की छोटी-छोटी सत्ताएँ भी अपनी-अपनी स्वतंत्रता का प्रयत्न करने लगी थीं और काञ्ची के दक्षिणपूर्व में तंजाऊर और उरियाऊर के चोड़ राज्य का तेजी से उदय और विस्तार हो रहा था। इन सभी नवसत्ताओं ने कई दिशाओं से पल्लवों के ऊपर ग्रहण लगाना प्रारम्भ कर दिया। फलत:, दन्तिवर्मन् का शासनकाल अशान्त ही रहा। राष्ट्रकूट शासक तृतीय गोविन्द बहुत बड़ा विजेता था और अपने पिता ध्रुव **निरूपम** की विजयनीति को चालू रखते हुए उसने अनेक राज्यों के साथ काञ्ची को भी

जीतकर उसके शासक दन्तिग (दन्तिवर्मन्) से भेंट की वसूली की[१] । इसके अतिरिक्त दन्तिवर्मन् को चोड़ों के आक्रमण का भी सामना करना पड़ा, और ऐसा माना गया है कि उसे अपने राज्य का बहुत बड़ा भाग या तो चोड़ों के हाथों या पाण्ड्यों के हाथों गंवाना भी पड़ा । इस बात की ओर निर्देश किया गया है कि दन्तिवर्मन् के २१वें से ४९वें वर्ष वाले शासन के भीतर अर्थात् उसके शासनकाल के अन्तिम २९ वर्षों के भीतर के तो कोई पल्लव अभिलेख कावेरी क्षेत्रों से मिलते ही नहीं हैं । इसके विपरीत उस बीच के उन क्षेत्रों से कई पाण्ड्य अभिलेख प्राप्त होते हैं[२] । यह अनुमान भी लगाया गया है कि पल्लवों की किसी छोटी शाखा ने भी वहाँ कुछ क्षेत्रों पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया था ।

यद्यपि दन्तिवर्मन् का पुत्र और उत्तराधिकारी तृतीय नन्दिवर्मन् उससे अधिक उर्जावान था और उसके समय के अनेक अभिलेख भी प्राप्त होते हैं, पल्लवों के अवरोहक्रम में कोई ठहराव नहीं आया । उसने कुछ विजयें भी की थीं । इसका एक अप्रत्यक्ष उल्लेख उसके बाहूर अभिलेख[३] में मिलता है । किन्तु उससे कोई निश्चित निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता । उसमें कथित है कि उसने शत्रुओं से युद्ध करके अपनी राजगद्दी पुन: प्राप्त कर ली । इस अभिलेख के कथन का कुछ अन्य अभिलेखों से मिलान बिठाते हुए यह निष्कर्ष निकाला गया[४] है कि उसने तेल्लाडु नामक स्थान पर युद्ध लड़कर अपना राज्य पुन: वापस जीता । उसमें उसके शत्रु थे श्रीकण्ठ और उसके सामन्त अभिमानसिद्धि । किन्तु यह निश्चित नहीं है कि ये शत्रु पाण्ड्य थे अथवा राष्ट्रकूट अथवा चोड़[५] । नवीं शताब्दी का मध्य आते-आते पाण्ड्यों ने अनेक पल्लव और कुछ चोड़ क्षेत्रों पर भी अधिकार कर लिया था, जो विभिन्न स्थानों से प्राप्त उनके अभिलेखों से ज्ञात होता है ।

तृतीय नन्दिवर्मन् की प्रशंसा में पेरुन्देवनार नामक तमिल कवि ने **नन्दिक्कलम्बकम्** नामक एक अर्ध ऐतिहासिक काव्य लिखा । ये ही पेरुन्देवनार तमिल **महाभारतम्** के भी रचयिता थे । अभिलेखों से यह भी प्रमाणित होता है कि तृतीय नन्दिवर्मन् के समय ही दक्षिणी आर्काट जिले के कल्लियनूर के विष्णुमंदिर तथा उत्तरी आर्काट जिले के पलिकोण्डा वाले शिवमंदिर के **मुखमण्टप** (मण्डप) भी निर्मित हुए थे ।

नन्दिवर्मन् के पास एक बढ़िया नौसेना थी, जिसके बलपर दक्षिण-पूर्वी एशियायी

---

१. याजदानी सं०, दि अर्ली हिस्ट्री ऑफ् दि डेकन, पृष्ठ २६६ । गोविन्द द्वारा इस पल्लव विजय का उल्लेख उसके अन्य अभिलेखों में भी प्राप्त होता है । देखें, एपि० इण्डिका, जिल्द ३४, पृष्ठ १३१, श्लोक २१ ।
२. देखें, टे०वे० महालिंगम्, पूर्वनिर्दिष्ट, १८९-१९० ।
३. साउथ इण्डियन् इन्स्कृप्शन्स्, जिल्द २, पृष्ठ ५११ ।
४. टे०वे० महालिंगम्, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ २०४ ।
५. हिस्टारिकल् स्केचेज ऑफ् ऐंश्येण्ट डेकन, जिल्द २, पृष्ठ २९-३० ।

देशों से होने वाले उसके व्यापार में पल्लव राज्य की भागीदारी बनी रही। थाईलैण्ड की खाड़ी के तटपर स्थित तकुआ-पा नामक द्वीप में उसका एक अभिलेख प्राप्त होता है, जो उसके समुद्रपारीय सम्बन्धों का प्रमाण उपस्थित करता[१] है।

तृतीय नन्दिवर्मन् के उत्तराधिकारिओं-नृपतुंग और अपराजित (८६९-९१३) के समय धीरे-धीरे पल्लवों के सभी क्षेत्रों को चोड़ शासकों-अपराजित और आदित्य-ने अपने विकसित होते हुए राज्य का भाग बना लिया[२]। नृपतुंग, अपराजित और उनके कुछ और उत्तराधिकारी केवल नाममात्र के, अधिकारहीन शासक होकर, पल्लवों के नामलेवा रूप में बचे रहे।

पल्लवकालीन सांस्कृतिक प्रफुल्लन

पल्लव शासकों का काल भारतीय सांस्कृतिक प्रफुल्लन का काल कहा जा सकता है। पल्लव शासक अपनी राजनीतिक अथवा सैनिक उपलब्धियों के लिए उतने प्रसिद्ध नहीं हुए, जितनी अपनी सांस्कृतिक उपलब्धियों के लिए। जब तक काञ्ची के कैलाशनाथ मंदिर (वैकुण्ठ पेरुमलमंदिर) अथवा महाबलिपुरम् के सप्तरथ अथवा समुद्री किनारे के वैकुण्ठनाथ मंदिर जैसे स्थलीय तथा समुद्रतलीय पहाड़ियों के ऊपर खड़े रहने वाले मंदिर आकाश में अपना सिर उठाये रहेंगे, तबतक पल्लवों का नाम विश्व इतिहास में अमर रहेगा। वास्तव में पल्लव उपलब्धियों के कई अलग-अलग क्षेत्र थे, जिनका अलग-अलग उल्लेख ही समीचीन होगा।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, पल्लव शासक उत्तर भारत से दक्षिण की ओर जाने वाले उन आन्ध्र सातवाहनों, सालंकायनों अथवा कदम्बों की तरह भारद्वाजगोत्री ब्राह्मण थे, जिनका अपनी मूलवैदिक और वर्णाश्रमधर्म सम्बन्धी संस्कृति से कभी भी मोह-भंग नहीं हुआ और तमिल क्षेत्रों तक पहुँच जाने पर भी वे उसी का पालन और प्रसार करते रहे। पल्लव शासकों की राजधानी काञ्ची (काञ्चीपुरम्); वहाँ स्थापित किये जाने वाले विभिन्न देवताओं के मंदिर; उनमें चलने वाली पाठशालाएँ तथा वैदिक विद्याओं के केन्द्र; **अन्नसत्र** तथा परोपकारी मठ एवं राजाओं-रानियों, व्यापारिओं, व्यावसायिकों तथा साधारण लोगों द्वारा दिये जाने वाले भूमिदानों सहित अनेक प्रकार के दान इस वैदिक संस्कृति के प्रचार-प्रसार में मुख्य कारक बनकर उभरे।

विद्या और साहित्य

काञ्ची नगर धीरे-धीरे दक्षिण भारत में उत्तर भारतीय काशीतीर्थ का प्रतिरूप माना जाने लगा और पल्लवों के समय वह विद्या का सबसे बड़ा भारतीय केन्द्र बन गया। पल्लवों द्वारा राजधानी बनाये जाने के बहुत पूर्व ही उसका विकास हो चुका था। **घटिका**

---

१. देखें, के०वी० सुब्रह्मण्य अय्यर, ऐनुअल् रिपोर्ट ऑन् एपिग्राफी, १९५८-५९, पृष्ठ ४-५।

२. आगे देखें, प्रथम आदित्य (चोड़) प्रकरण, पृष्ठ-३७६-३७७।

कहे जाने वाले संस्कृत महाविद्यालयों का प्रथम पदार्पण वहीं से हुआ। सिंहवर्मन् और सिंहविष्णु स्वयं भी विद्या और विद्वानों के परम आश्रयदाता थे। दण्डिन् के **दशकुमारचरितसार** से ज्ञात होता है कि दण्डिन् के प्रपितामह दामोदर को सिंहविष्णु ने न्यौता देकर बुलवाया और वे उसके बाद जीवनपर्यन्त काञ्ची में ही रहे। **किरातार्जुनीयम्** के लेखक भारवि भी सिंहविष्णु के राजदरबारी कवि थे और उस राजा के प्रियपात्र बन गये थे।

सिंहविष्णु की प्रशंसा में उसके पुत्र और उत्तराधिकारी प्रथम महेन्द्रवर्मन् ने अपने ग्रंथ **मत्तविलासप्रहसन** में कहा है कि "सिंहविष्णु ने एक पर्वत की तरह पल्लव परिवार का बोझ ढोया; अपनी नीति से सभी सामन्तों के **मण्डलों** को विजित किया; शक्ति में इन्द्र की बराबरी की और अपने दान, अपनी सम्पत्ति और महत्ता से कुबेर को भी लज्जित किया[१]। महाबलिपुरम् के एक मंदिर में उसकी और उसकी दो रानियों के चित्र यह प्रकट करते हैं कि कला के उन्नायकों में सिंहविष्णु प्रमुख था।

प्रथम महेन्द्रवर्मन् के समय संस्कृत भाषा में काव्यनिर्माण यथावत् चलता रहा। दण्डिन् और भारवि नामक संस्कृत कवि बहुत दिनों तक जीवित रहते हुए उसके राजदरबार में भी वर्तमान रहे। वह स्वयं एक उच्चकोटि का कवि था, जिसने **मत्तविलास** नामक प्रहसन काव्य लिखा। एक अभिलेख[२] से ज्ञात होने वाली व्यास और वाल्मीकि की उसकी प्रशंसाओं से उसके निजी काव्यप्रेम का प्रमाण प्राप्त होता है। अनेक गुहाओं से प्राप्त उसके स्वरचित अभिलेख उसकी उच्चकोटि की साहित्यिक प्रतिभा को दर्शाते हैं।

प्रथम नरसिंहवर्मन् के समय ही श्वान्-च्वाङ्ग ने अपनी दक्षिण भारतीय यात्रा के सिलसिले में पल्लव राज्य का भ्रमण किया था। किन्तु हर्षवर्धन और पुलकेशिन् के नामों के उल्लेख की तरह पल्लव शासक का कहीं भी वह नाम नहीं लेता। उसकी दृष्टि में काञ्चीनगर अधिक महत्त्वपूर्ण था, जिसकी वह चर्चा करता है। वह कहता[३] है कि "काञ्ची के लोग बहादुर, विश्वास करने लायक, लोकोपकारवृत्ति से युक्त और अच्छी विद्या का आदर करने वाले" थे। वह काञ्चीपुर (कान्-चिह-पु-लों) के लोगों की लिखित भाषा और बोली को मध्यदेश के लोगों की भाषा और बोली से भिन्न बताता है। संभवतः यह तमिल लिपि और भाषा की ओर इंगित है। वह काञ्चीपुर को एक समुद्री बन्दरगाह भी बताता

---

१. पल्लवकुलधरणिमण्डलकुलपर्वतस्य,
सर्वनयविजित समस्तसामन्तमण्डलस्य ।
अखण्डलसमपराक्रमश्रियः श्री महिमानुरूप,
दानविभूतिपरिभूतराजराजस्य श्री सिंहविष्णुवर्मन् ॥
उद्धृत, टे०वे० महालिङ्गम्, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ६३ ।

२. साउथ इण्डियन् इन्स्कृप्शन्स्, जिल्द ४, संख्या १३६ ।

३. टॉमस्, वाटर्स्०, जिल्द २, पृष्ठ २२६-२२७ ।

है। आगे चलकर द्वितीय नरसिंहवर्मन् (६९०-७२९ ई०) के समय के पल्लव राज्य के संस्कृत अभिलेख आलंकारिक छन्दों में बंधे हुए श्लोकयुक्त हैं, जो काव्यकौशल के उत्तम नमूने हैं। उसके संस्कृतप्रश्रय का प्रमाण **काव्यप्रबोध** नामक उसके विरुद से ज्ञात होता है। तृतीय नन्दिवर्मन् का वेलुपालैय्यम् अभिलेख उसे घटिकाओं (संस्कृत महाविद्यालयों) के पुनर्स्थापक होने का श्रेय देता[१] है। काशाकुड़ि अभिलेख में कहा गया है कि उसने उन ब्राह्मणों को दान दिया, जो चारों वेदों में निष्णात थे[२]।

ब्राह्मण ग्रामसभाएँ

आगे चलकर चोड़ शासन के अन्तर्गत स्थानीय प्रशासन के क्षेत्र में जिन ब्राह्मण ग्रामसभाओं का उत्तरमेरूर और उत्तरमल्लूम् जैसे ग्रामों में प्रभूत विकास उपलब्ध होता है, उनका प्रारंभ पल्लवकाल में ही हो चुका था। पुडुपाक्कम् (ग्राम) सभा का जो उल्लेख उत्तरी आर्काट जिले के तिरुमालपुरम् से प्राप्त एक अभिलेख में उत्तम चोड़ के समय का हुआ है, उसके बारे में कथित है कि वह सभा १०० वर्षों पूर्व से ही **देवदानब्रह्मदेय** के रूप में चली आ रही[३] थी। राजकेसरीवर्मन् के समय भारती मंदिर को नल्लिल्मङ्गलम् ग्राम की **सभा** द्वारा करमुक्त भूमिदान दिये जाने का ज्ञान काञ्चीपुरम् तालुका के पुडुपाक्कम् से प्राप्त एक अन्य अभिलेख[४] से होता है। नल्लिल्मङ्गलम् गांव भी **ब्रह्मदेय** ग्राम ही था। आठवीं-नवीं शताब्दियों के बाद पल्लव राज्य के तोण्डैमण्डलम् क्षेत्र में कम से कम २० गांवों के सम्बन्ध में ऐसे उल्लेख प्राप्त होते हैं, जो **ब्राह्मणग्राम** थे और जहाँ की सभाएँ **ब्रह्मदेय** भूमि का स्थापित नियमों के अनुसार प्रबन्ध करती थीं। ये सभी वैदिक शाखा वाले अध्ययनरत-अध्यापनरत ब्राह्मणों के ग्राम थे, जिनके उल्लेख दन्तिवर्मन् पल्लव के बाद वाले पल्लव अभिलेखों[५] में प्राप्त होते हैं। उनमें से कुछ गांव थे— उत्तरमेरूर, तिरुविपुरम्वेडि, पेरुन्गुड़ि, कूरम, वेंकुणरम्, विडेलविडुगचतुर्वेदिमङ्गलम्, अन्बिल, पेरुम्बिलिपूर, मणलि, अवनिनारायणचतुर्वेदिमङ्गलम्, शीयापुरम्, मुत्तै, पुलवनूर, तेंगनगुडि, तिरुत्तनि, आदनबाक्कम्, तिरुवल्लम् और उक्कल आदि। ऐसे ही **देवदेय-ब्रह्मदेय** ग्राम पाण्ड्य राज्य की सीमाओं के भीतर भी थे। ये सभी वैदिक विद्याकेन्द्र थे और आगे चलकर बाद वाले चोड़ राजाओं के समय जिस ग्रामशासन का एक बिल्कुल स्वतंत्र स्वरूप स्थिर हुआ, उस पूरे स्वरूप के बीज इन्हीं पल्लव ग्रामों में बोये गये थे।

---

१. साउथ इण्डियन् इन्स्कृप्शन्स्, जिल्द १, पृष्ठ १८।
२. वहीं, जिल्द २, पृष्ठ ५०८, ५११, श्लोक १३।
३. साउथ इण्डियन् इन्स्कृप्शन्स्, जिल्द ३, सं० १४२; ऐनुअल् रिपोर्ट् ऑन् एपिग्राफी, १९०६ का २८६।
४. एनुअल् रिपोर्टस् ऑन् एपिग्राफी, १९२३ का ६१।
५. देखें, टे०वे० महालिंगम्, साउथ इण्डियन् पॉलिटी, पृष्ठ ३४१-३४२।

पल्लव वास्तु

किन्तु पल्लव संस्कृति का सर्वाधिक प्रकाशमान क्षेत्र तो था मंदिरनिर्माण, जिसमें विश्व की अनेक कलात्मक धरोहरें दर्शकों को सर्वदा आश्चर्यचकित करती रहेंगी। प्रथम महेन्द्रवर्मन् के समय से इन निर्माणों का ऐसा आवेग आगे बढ़ा, जो अगले ३०० वर्षों तक थमा ही नहीं और सैकड़ों ऐसे नमूने छोड़ गया, जिनकी प्रतिकृतियाँ भी आज कल्पना के परे हैं। सर्वप्रथम मण्डगपट्ट (दक्षिणी आर्काट जिले में) में उसने जो ब्रह्मा, विष्णु और शिव का संयुक्त गुहामन्दिर बनवाया, उसके बारे में उसका अभिमानपूर्वक कथन है कि उस **आयतन** (मंदिर) के निर्माण पर परंपरागतरूप में काम आने वाली मंदिरनिर्माण की वस्तुओं–ईंट, गारे, लोहे और लकड़ी का तो कोई प्रयोग किया ही नहीं गया। ये वस्तुएँ जमीनी मंदिरों के निर्माण में तो आवश्यक तत्त्वों के रूप में प्रयुक्त होती थीं, किन्तु उसने तो पहाड़ी को भीतर ही भीतर काटकर गुहामंदिर के निर्माण की एक नयी प्रथा ही तमिल क्षेत्र में प्रारंभ की। उसे उसने अपनी निजी देन बताया और अपनी **विचित्रचित्त** वाली उपाधि को सार्थक किया। इसी प्रकार के उसके द्वारा निर्मित अन्य गुहामंदिर[१] भी थे।

पल्लावरम् का पञ्चपाण्डव मंदिर; मामण्डूर के रुद्रवालीश्वर और महेन्द्रविष्णुगृहम् मंदिर; महेन्द्रवाडि का महेन्द्र विष्णुगृह; डलवानूर का शत्रुमल्लेश्वर मंदिर; शियमङ्गलम् का अवनिभाजन पल्लवेश्वर मंदिर और तिरुचिरापल्ली का ललिताकुंर पल्लवेश्वर गृह इन सबमें उसके अभिलेख खुदे हुए हैं। उसके इन प्रयत्नों की प्रशंसा में कथित है कि अशोक के बाद वह पहला ऐसा वास्तुनिर्माता हुआ, जिसने कड़े पत्थरों को भीतर ही भीतर काटकर देवता या मनुष्य के आवास का रूप दिया[२]।

महेन्द्रवर्मन् के पुत्र और उत्तराधिकारी प्रथम नरसिंहवर्मन् ने अपने पिता द्वारा स्थापित निर्माण परंपराओं और तत्सम्बन्धी क्रिया-कलापों को जारी रखते हुए, संभवत: अपने नाम या उपाधि (**महामल्ल**) पर बसाये गये मामल्लपुरम् को विश्व के वास्तु-नक्शे पर एक अनुपम रूप ही प्रदान कर दिया। समुद्र में बहुत दूर और नीचे तक घुसी हुई पहाड़ियों के आधार पर खड़े पहाड़ों को भीतर ही भीतर काटकर बनाये गये वहाँ के **सप्तरथ** नाम से प्रसिद्ध मन्दिर, उनकी चित्रकारियाँ, गंगावतरण और अर्जुन तपस्या जैसे प्रस्तर चित्र, उन दृश्यों के पूरक प्रकृतिचित्र तथा उनके स्तंभों के आधाररूप में बैठे हुए बाघों के सुन्दर चित्र ऐसे अद्वितीय होकर उभरे हैं कि उनकी प्रशंसा में शब्द पर्याप्त नहीं हो पाते[३]।

प्रथम महेन्द्रवर्मन् और प्रथम नरसिंहवर्मन् (**महामल्ल = मामल्ल**) ने मंदिरवास्तु

---

१. टे०वे महालिङ्गम्, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ७१।

२. यह अशोक द्वारा बाराबर की पहाड़ियों के भीतर की गुहाओं को आजीविक भिक्षुओं के निवासरूप में दान देने की ओर निर्दिष्ट है।

३. विशेष विवरणों हेतु देखें, आगे पृष्ठ ४४९ और आगे।

की जिन शैलियों अथवा पद्धतियों का विकास किया, उन्हें क्रमशः महेन्द्रशैली और मामल्लशैली कहा गया। उनके बाद तीसरी शैली राजसिंह शैली कहलायी, जिसे द्वितीय नरसिंहवर्मन् ने प्रारंभ किया। पहली दो शैलियों का काल जहाँ लगभग १०० सालों का रहा[१], वहीं यह तीसरी शैली लगभग दो सौ वर्षों (पूरी ८वीं और ९वीं शताब्दियों) तक चलती रही। इसके मंदिर स्थलीय (**स्ट्रक्चरल्**) होते थे। राजसिंह शैली का सर्वप्रमुख नमूना वह **समुद्रतट का मंदिर** (शोर टेम्पुल्) है जो महाबलिपुरम्[१] के सप्तरथों के पास ही निर्मित है और पर्यटकों को बहुत बड़ी संख्या में अपनी ओर आकृष्ट करता है। उसकी ही जैसी दूसरी अद्भुत कृति काञ्चीपुरम् का वह कैलाशनाथ (स्थलीय) मंदिर है, जो वैकुण्ठपेरुमल मंदिर के नाम से भी प्रसिद्ध[२] है। पल्लवकाल के स्थलीय मंदिर प्रथम परमेश्वरवर्मन् (६६९-६९० ई० प०) के समय में भी बने थे। तमिल क्षेत्रों में बने हुए इस प्रकार के मंदिरों में कुरम स्थित विद्याविनीत पल्लव परमेश्वर नामक शिवमंदिर विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वैकुण्ठपेरुमल मंदिर की बाहरी दीवारों पर जो तत्कालीन पल्लव इतिहास के चित्र बने हैं, उनसे उस इतिहास की जो जानकारी होती है, वह तो महत्त्वपूर्ण है ही, उसका कलात्मक स्वरूप भी बहुत ही प्रशंसनीय और मनमोहक है।

पल्लव वास्तु की चौथी शैली **अपराजित शैली** के नाम से प्रसिद्ध है, जो द्वितीय नन्दिवर्मन् (७३१-७९६ ई०) की देन थी। इस समय बनाये गये मंदिरों की संख्या बहुत अधिक है। इस अत्यन्त दीर्घशासी शासक की राजनीतिक और सैनिक उपलब्धियाँ तो बहुत नहीं थीं, किन्तु उसने अपनी पूरी ऊर्जा और समय मंदिर निर्माण में ही लगाया। काञ्ची के वैकुण्ठपेरुमल मंदिर की दीवारों पर जो चित्र बने हैं, वे कदाचित् उसी के समय की देन हैं। उसके द्वारा बनवाये गये अन्य मंदिर थे—काञ्चीपुरम् के मुक्तेश्वर और मतंगेश्वर; ओरगडम् (चिंगलपुत्त के निकट) का वाडामल्लीश्वर; तिरुत्तरणि का विराटेश्वर तथा गुण्डपल्लम् का परशुरामेश्वर। पल्लवों को अपदस्थकर तोण्डैमण्डलम् पर अधिकार कर लेने वाले चोड़ राजाओं ने इन पल्लव राजाओं की वास्तुकृतियों से ही उत्साहित और प्रेरित होकर आगे अपनी नयी (चोड़) शैलियों का विकास किया। उनके तथा पाण्ड्य शासकों के समय भी मंदिर निर्माण और उससे सम्बद्ध संस्कृति पूरी तरह चालू रही और विकसित होती रही।

●

---

१. महाबलिपुरम् के विभिन्न रथों अथवा मंदिरों और गुहाओं के निर्माता कौन थे, इसपर बड़े विवाद हैं। विभिन्न मतों के लिए देखें–आर्० नागस्वामी, सिल्वर जुबिली वाल्यूम ऑफ् दि आर्कियोलाजिल् सोसायटी ऑफ् साउथ इण्डिया, पृष्ठ १-५०; जेबिओ डूब्रियेल, पल्लव आर्किटेक्चर, मेम्वायर्स, आ०स०इ० सं० १७, ३३ और ४०; तथा अन्य अनेक स्थल, उद्धृत टे० वे० महालिंगम्, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ १२८-१२९।

२. इन स्थलीय मंदिरों की निर्माण विशेषताओं हेतु देखें, आगे पृष्ठ ४५२ और आगे।

अध्याय १०
सेउणदेश और देवगिरि के यादव

उत्पत्ति और प्रारंभिक काल

स्वयं यादवों ने अपने को यदुवंशी कृष्ण का वंशज बताते हुए द्वारावती अर्थात् द्वारका से जोड़ा। पुराणों की अनुश्रुतियों में यह कथित है कि अपने जीवन के अन्तिम भागों में कृष्ण मथुरा से द्वारका प्रस्थान कर गये थे। कर्नाटक प्रदेश पर शासन करने वाले दो वंशों-यादवों और होयसड़ों-का विश्वास था कि उनके पूर्वज द्वारका के यादवों से जुड़े थे और वहाँ से ही वे दक्षिण की ओर गये। इस विश्वास के कारण ही वे अपने को **द्वारावती पुरवराधीश्वर** भी कहते थे। किन्तु इस अवधारणा में कितनी ऐतिहासिकता छिपी है, यह जानने का कोई लिखित साधन नहीं है। यद्यपि पौराणिक अनुश्रुति सात्वतों[१] (यादवों) को पश्चिमी भारत से जोड़ती है तथा काठियावाड़ के खानदेश जैसे कुछ स्थानों में यादवों के होने के ऐतिहासिक प्रमाण[२] भी हैं, इस बात की कोई जानकारी नहीं है कि उनका कर्नाटक में शासन करने वाले यादवों से कोई सम्बन्ध था या नहीं।

कर्नाटक में यादवों का इतिहास नवीं शताब्दी के बाद से ज्ञात होने लगता है, जहाँ उनके प्रारंभिक शासक सामन्त रूप में ही रहे प्रतीत होते हैं। किन्तु उस इतिहास की कोई विशेष जानकारी नहीं है, सिवाय इस बात के कि बहुत बाद वाले शासक महादेव (१२६०-१२७० ई०) के **मंत्रिन्** रहे हेमाद्रि ने अपने ग्रंथ **चतुर्वर्गचिन्तामणि** के **व्रतखण्ड** की भूमिका में इस राजवंश के प्रारंभिक राजाओं की वंशावली [३]दी है। यादवों की जानकारी सर्वप्रथम महाराष्ट्र के नासिक वाले क्षेत्रों में ही रहने की प्राप्त होती है, जहाँ नवीं शताब्दी के अन्त में उनके निवास करने के कुछ आभिलेखिक प्रमाण [४]उपलब्ध हैं। किन्तु केवल इसी आधार पर उन्हें उत्तरी महाराष्ट्र का मूल निवासी मान लेना निरापद नहीं होगा। तथापि यह ध्यान देने योग्य है कि बाद में इस वंश के अनेक राजाओं तथा राज्याधिकारिओं के नाम कन्नड़ मूल वाले ज्ञात होते हैं। इस आधार पर कुछ विद्वान् यह निष्कर्ष निकालते हैं कि यादव लोग मूलतः महाराष्ट्र-कर्नाटक क्षेत्रों के ही निवासी थे, जो

---

१. रोमिला थापर, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, २००१, पृष्ठ २१३-२१४।
२. एइ०, जिल्द २, पृष्ठ २२५।
३. रा० गो० भण्डारकर, दि अर्ली हिस्ट्री ऑफ् दि डेकन, पृष्ठ १२६ तथा १५२ और आगे, अपेण्डिक्स् सी।
४. इन्स्कृप्शन्स् फ्रॉम बाम्बे कर्नाटक, सं० ११ और २२।

बाद में शासकपद प्राप्तकर लेने पर अपने को यदुवंशी क्षत्रियों से जोड़ने लगे ।[१]

यादववंश में प्रथम नाम दृढ़प्रहार का ज्ञात होता है, जिसे जिनप्रभसूरि नामक जैन लेखक द्वारका से जोड़ते हैं और यह कहते हैं कि अव्यवस्था से उबरने हेतु लोगों ने स्वयं ही उसे राजपद दे दिया[२] । उसने चन्द्रादित्यपुर (आधुनिक चण्डोर) नामक नगर की स्थापना की और वहाँ से वह शासन करने लगा । इस कथानक का आधार राष्ट्रकूट शासक प्रथम अमोघवर्ष के उस कमजोर शासन का हो सकता है, जब उसके साम्राज्य में उसकी अल्पवयस्कता और शिथिलता के कारण विद्रोह होने लगे थे । असंभव नहीं है कि दृढ़प्रहार ने अपने लिए कोई जागीर कायम कर ली हो । अनुमानतः, इसका समय ८६० ई० निश्चित किया गया है ।

दृढ़प्रहार का पुत्र सेउणचन्द्र हुआ, जिसके नाम से सेउणदेश, सेउणवंश और सेउणपुर जैसे देशनाम, वंशनाम और नगरनाम चले और आगे तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी तक कर्नाटक के इतिहास में छाये रहे । सेउणपुर नामक नगर की पहचान सेन्दिनेरी से की गयी है, जहाँ से एक सामन्त शासक के रूप में उसने अपना शासन चलाया । यह आजकल के नासिक जिले में सिन्नार (सेन्दिनेरी) नामक नगर है । यह कल्पना की जा सकती है कि उसने राष्ट्रकूट शासकों को उनके शत्रुओं के विरुद्ध सहायता करके ही अपने लिए उनसे सामन्तपद प्राप्त किया होगा ।

बाद के तीन शासक थे दाधियप्प, प्रथम भिल्लम, और राजिग, जिनके केवल नाममात्र ज्ञात होते हैं । उनके शासन की अवधि अनुमानतः ९०० ई० से ९५० ई० के बीच स्वीकृत की गयी है । उनके बाद हुआ वन्डुगी अथवा वड्डिग, जिसने राष्ट्रकूट राजकुमारी वोहियव्वा से विवाह करके अपनी प्रतिष्ठा बढ़ायी । यह वोहियव्वा राष्ट्रकूट शासक तृतीय कृष्ण के छोटे भाई ढोरप्प की पुत्री थी । उसके बाद का शासक घाडियश (९७०-९८५ ई०) भी कुछ अज्ञात सा ही है । उसी के समय राष्ट्रकूटों की साम्राज्यसत्ता ढह गयी और हमें यह ज्ञात नहीं है कि उसने अपने राष्ट्रकूट सम्बन्धिओं की कोई सहायता की या नहीं । वास्तविकता तो यह है कि उसने राष्ट्रकूटों का पाला छोड़कर चालुक्यों का पाला पकड़ लिया, जो उसके पुत्र द्वितीय भिल्लम के समय तक बिल्कुल ही स्पष्ट हो गया[३] । उसने चालुक्य शासक, द्वितीय तैलप, की परमार शासक मुञ्ज के विरुद्ध युद्धों में भी सैनिक सहायता की[४] । फलस्वरूप चालुक्य शासक की ओर से अहमदनगर का इलाका उसे प्रदान कर दिया गया और उसका पैतृक सामन्तक्षेत्र और भी विस्तृत हो गया ।

---

१. याजदानी सं०, दि अर्ली हिस्ट्री ऑफ् दि डेकन, पृष्ठ ५१६ ।
२. इऐ०, जिल्द १२, पृष्ठ १२४ ।
३. याजदानी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ५१७ ।
४. संगमनेर ताम्रफलक, श्लोक १६ ।

इन सफलताओं से उत्साहित होते हुए उसने अपने लिए **विजयाभरण** की उपाधि ग्रहण की, संगमनेर में विजयभरणेश्वर नामक एक शिवमंदिर निर्मित कराया और उस मंदिर के लिये एक ग्रामदान किया। ग्रामदान को प्रकाशित करने वाला उसका सम्बद्ध लेख यादववंश का प्रथम अभिलेख[१] है। साथ ही, उसने अपनी राजधानी को सिन्दिनगर अर्थात् सिन्नार (नासिक जिला) में स्थानान्तरित कर लिया।

अगला शासक वेसुगि (१००५ से १०२३ ई०) हुआ, जिसके बारे में किसी भी विशेष बात की जानकारी नहीं होती। किन्तु उसके बाद शासन करने वाला तृतीय भिल्लम अधिक कर्तृत्ववाला प्रतीत होता है। उसने अपने अधिराज प्रथम जयसिंह चालुक्य की पुत्री आवल्लदेवी से विवाह करके अपनी प्रतिष्ठा बढ़ायी तथा परमारराज भोज (१०१०-१०५५ ई०) के विरुद्ध लड़े गये युद्धों में चालुक्यों की ओर से सन्नद्ध हुआ। अगले दो शासक यादुगि और चतुर्थ भिल्लम हुए। किन्तु उनसे राजवंश की प्रतिष्ठा धूमिल ही हुई, जिसके वास्तविक कारणों की कोई जानकारी नहीं है। किन्तु चतुर्थ भिल्लम का उत्तराधिकारी द्वितीय सेउणचन्द्र अधिक शक्तिशाली निकला। उसके एक अभिलेख के आधार पर उसके शासनकाल का प्रारंभ १०५० ई० निश्चित किया [२]गया है। उसने **महामण्डलेश्वर** की उपाधि धारण की और तत्कालीन खानदेश पर शासन करने वाले अन्यान्य छोटे सरदारवंशों का सिरमौर बन गया। कथित है कि उसने अपने वंश की प्रतिष्ठा का वैसे ही उद्धार किया, जैसे हरि (विष्णु) ने वराहरूप में पृथिवी का उद्धार किया था। उसने अपने राज्य की शासनव्यवस्था में व्यापक सुधार किये और उसके मंत्रिमण्डल में बड़ी बड़ी उपाधियों को धारण करने वाले सात अधिकारी नियुक्त[३] थे।

द्वितीय सेउणचन्द्र की सत्ता के विस्तार में चालुक्य राजदरबार की तत्कालीन राजनीति बहुत ही सहायक सिद्ध हुई। उसकी कूटनीतिक पटुता इस बात में निहित है कि उसने सही समय पर सही निर्णय लिये। तत्कालीन चालुक्य सम्राट् द्वितीय सोमेश्वर को राजगद्दी से हटाकर उसका छोटा भाई (षष्ठ) विक्रमादित्य स्वयं राजसत्ता हथिया लेने की योजना को कार्यान्वित करने लगा। ऐसी दशा में चालुक्य साम्राज्य के सभी सामन्तवंशों के सामने यह समस्या रही होगी कि वे किसका पक्ष अपनायें। सोमेश्वर राजगद्दी का अभी भी वास्तविक मालिक था, किन्तु विक्रमादित्य की महत्त्वाकांक्षा, उसकी राजनीतिक और रणनीतिक कुशलता तथा भविष्य की दिशा के बीच चुनाव का अहम् प्रश्न था। पहले दौर में विक्रमादित्य को अपने चोड़ सम्बन्धी (साले) से जो सहायता मिलने की संभावना थी, वह वहाँ उसके शत्रु द्वितीय राजेन्द्र (प्रथम कुलोत्तुंग) के चोड़ राजगद्दी

---

१. याजदानी पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ५१७।

२. याजदानी, पूर्वनिर्ष्टि, पृष्ठ ५१८।

३. इऐ०, जिल्द १२, पृष्ठ १२०।

पर आसीन हो जाने से ध्वस्त हो गयी और आगे अब विक्रमादित्य को नयी पैंतरेबन्दी करने को बाध्य होना पड़ा। कुलोत्तुंग ने द्वितीय सोमेश्वर की सहायता प्रारंभ कर दी। ऐसी दशा में द्वितीय सेउणचन्द्र किस पक्ष की ओर जाय, यह निश्चित करने की उसके सामने समस्या थी। भविष्य को देखते हुए उसने सही निर्णय करते हुए विक्रमादित्य का पक्ष चुना, जिससे आगे चलकर उसे बहुत ही लाभ प्राप्त हुए। सेउणचन्द्र के पुत्र एरम्मदेव ने अपने पिता की ओर से विक्रमादित्य की उत्तराधिकार के युद्धों में मदद की। यद्यपि हेमाद्रि ने इसका श्रेय सेउणचन्द्र को दिया[१] है, अस्वी से प्राप्त होने वाला एक अभिलेख[२] यह कहता है कि एरम्मदेव ने विक्रमादित्य को राजगद्दी प्राप्त करने में उसकी सहायता की थी।

द्वितीय सेउणचन्द्र का उत्तराधिकारी हुआ उसका पुत्र एरम्मदेव, जिसने १०८५ ई० के आसपास राजगद्दी धारण की। अगले लगभग २० वर्षों तक वह शासन करता रहा। किन्तु उसके समय की कोई विशेष घटना नहीं ज्ञात होती। उसका उत्तराधिकारी हुआ सिंहराज (११०५-११२० ई०)। किन्तु उसके बाद के अगले ५० वर्षों तक यादव इतिहास की कोई भी स्पष्ट जानकारी नहीं मिलती। इस बीच सेउणचन्द्र नामक एक राजा के नासिक जिले में शासन करने के प्रमाण प्राप्त होते[३] हैं। उसका पुत्र मल्लुगि तृतीय तैलप (चालुक्यसम्राट्) के प्रति भक्त बना रहा। यह ज्ञात होता है कि उसके सेनापति दादा, और उसके (दादा के) पुत्र महीधर ने विज्जण नामक कलचुरि सामन्त द्वारा किये गये विद्रोह के समय विज्जण के मन में भय उत्पन्न किया था[४]। तथापि चालुक्य सत्ता की दिनोंदिन बढ़ती हुई कमजोरी का फायदा उठाने में स्वयं मल्लुगि पीछे नहीं रहा और उसने बरार के कुछ चालुक्य प्रदेशों को अपने अधिकार में कर लिया। लगभग ११६० ई० में मल्लुगि के शासनान्त के बाद उसका पुत्र अमरगांगेय शासक हुआ। अमरगांगेय बहुत ही अल्पशासी था। उसके पुत्र अमरमल्लुगि को अपनी कमजोरी के कारण आन्तरिक विद्रोहों का सामना करना पड़ा। इससे उत्पन्न अव्यवस्था का अन्त मल्लुगि के द्वितीय पुत्र कर्ण के पुत्र पञ्चम भिल्लम द्वारा ही संभव हुआ, जो मूल यादव शाखा से इतर शाखा का शासक था।

यादवों की स्वतंत्र सत्ता-पञ्चम भिल्लम

पञ्चम भिल्लम यादववंश का प्रथम पूर्णस्वतंत्र एवं साम्राज्यसूचक उपाधियों को धारण करने वाला शासक सिद्ध हुआ। उसके शासनकाल का प्रारंभ बारहवीं शती का

---

१. समुद्धृतोयेन महाभुजेन द्विषां विमर्दात्परमर्दिदेवः ।
आस्थापि चालुक्यकुलप्रदीपः कल्याणराज्येपि स एव येन ॥
व्रतखण्ड, भूमिका, श्लोक २९ ।

२. याजदानी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ५१८, नोट ४ ।

३. इऐ०, ज़िल्द १२, पृष्ठ १२६ ।

४. शुक्तिमुक्तावली, १०वाँ, ५-९ ।

सातवाँ दशक था और ११८७ ई० के आते-आते उसने बड़ी-बड़ी साम्राज्यसूचक उपाधियाँ धारण कर ली थीं। उसकी राजनीतिक और सैनिक सफलताओं को समझने हेतु यह आवश्यक है कि उस समय की राजनीतिक स्थितिओं और प्रवृत्तियों की एक झलक देखी जाय। समकालीन चालुक्य साम्राज्य (कल्याणी का) तेजी से अपनी राजनीतिक सत्ता और साम्राज्यशक्ति खो रहा था और उसका तत्कालीन शासक तृतीय तैलप अब केवल नाममात्र का सम्राट् रह गया था। उसके सभी सामन्त एक-एक करके स्वतंत्र होने लगे और चालुक्य साम्राज्य कई छोटे-छोटे सरदारतंत्रों में विभक्त हो गया। उसे सबसे अधिक चोट पहुँचाने वाला सिद्ध हुआ कलचुरि सरदार विज्जण (विज्जल), जिसने उसकी साम्राज्य सत्ता ही मानों छीन ली। अब तक यादवों ने विज्जण के विरुद्ध चालुक्यों की ओर से युद्ध किया था, जिसमें मल्लुगी के दो सेनापति, दादा और उसके पुत्र महीधर कलचुरि विज्जण के विरुद्ध चालुक्य सेनाओं का संचालन कर रहे थे। यद्यपि तृतीय तैलप के पुत्र चतुर्थ सोमेश्वर को कुछ दिनों तक के लिए चालुक्यसत्ता को वापस पटरी पर बनाये रखने में सफलता तो मिली, किन्तु वह भी अल्पकालिक ही साबित हुई। ऐसी दशा में यह अस्वाभाविक नहीं था कि अवसर का लाभ उठाते हुए यादव भी चालुक्यों की सहायता करने के बजाय स्वयं अपनी सत्ता को स्वतंत्र करते हुए, अपने ही वंश के लिए, निजी साम्राज्य निर्मित करने का स्वप्न देखने लगें। चालुक्य साम्राज्य के ढहने का तात्कालिक लाभ कलचुरि विज्जण ने उठाना चाहा किन्तु वह असफल सिद्ध हुआ और कुछ ही वर्षों के भीतर दक्षिण-पश्चिम दिशा के होयसड़ों तथा उत्तरी दिशा के यादवों ने उस पूरे साम्राज्य को ही मानों आपस में बाँट लिया। होयसड़ शासक बल्लाल (वीर बल्लाल) ने तो ११८० के बाद **महाराजाधिराज, परमेश्वर, परमभट्टारक** और **प्रताप चक्रवर्ती** जैसी सभी साम्राज्य सूचक उपाधियाँ धारण कर ली[१]।

पीछे हम देख चुके हैं कि पञ्चम भिल्लम द्वारा यादव वंश की सत्ता संभालने के पूर्व विभिन्न अल्पशासी और कमजोर शासकों के कारण यादव वंश में दो शाखाओं के रूप में एक विभेद जैसा उत्पन्न हो गया था। भिल्लम ने अपने वंश के मूल क्षेत्रों के पचड़े में न पड़कर नयी दिशाओं में अपनी सत्ता को विस्तृत करने का प्रयत्न प्रारंभ कर दिया। उसने कोंकण और महाराष्ट्र के छोटे-छोटे सरदारों के क्षेत्रों पर अपना अधिकार जमाकर अनेक पहाड़ी दुर्गों को अपने लिये हथिया लिया। कोंकण में स्थित श्रीवर्धन नामक बन्दरगाह के शासक को उसने पराजित कर आगे बढ़ते हुए प्रत्यन्तगढ़ किले को भी जीत लिया। साथ ही, शोलापुर का क्षेत्र भी उसने हस्तगत कर लिया[२]। हेमाद्रि ने अपने ग्रंथ **व्रतखण्ड** की भूमिका में सिन्नेर के यादववंश की दुर्दशा सहित भिल्लम की प्रशंसाओं के

---

१. एपिग्राफिया कर्नाटिका (डी जी.), संख्या ४४; जिल्द ६ (एम्. डी.), सं० ५३।
२. व्रतखण्ड की भूमिका (राजप्रशस्ति), श्लोक संख्या, ३८।

गीत गाये हैं। उसका ही यहाँ समर्थन किया गया[1] है। भिल्लम के राज्यारोहण की तिथि अनुमानतः ११८० ई० निश्चित की गयी है।

भिल्लम ने सर्वप्रथम चालुक्यों की बढ़ती हुई कमजोरी के फलस्वरूप कलचुरिओं और होयसड़ों के बीच संप्रभुता के लिए होने वाले संघर्षों में न उलझते हुए मालवा और गुजरात की ओर अपना ध्यान लगाया, जहाँ के राज्यों की कमजोरी के कारण बाहरी सत्ताओं के हस्तक्षेप हेतु अच्छे मौके वर्तमान थे। गुजरात के चौलुक्य और मालवा के परमार आपस में उलझे हुए थे। ११८९ ई० का मुटुगि अभिलेख[2] गुर्जरों और यादवों दोनों पर ही उसकी विजयों का उल्लेख करता है। उस समय गुजरात में चौलुक्य सेनाएँ मुसलमानी आक्रमणों से स्वयं ही त्रस्त थीं और वे यादव सेनाओं को रोक सकने में विफल रहीं। यह ज्ञात होता है कि यादवों ने मारवाड़ तक सैनिक छापे मारे। इस समय यादव सेनाओं का नेतृत्व जाल्ह नामक सेनापति ने किया था। यद्यपि गुजरात और मालवा पर किये गये इन सफल आक्रमणों के कारण यादवों को न तो कोई स्थायी लाभ हुए और न उनकी राज्यसीमा का ही कोई भौगोलिक विस्तार हुआ, उनकी राजनीतिक और सैनिक प्रतिष्ठा में वृद्धि अवश्य ही हुई। भिल्लम के आत्मविश्वास में वृद्धि हुई और अब वह अपने दक्षिणी प्रतिद्वन्द्विओं के विरुद्ध अधिक उद्यत हो गया।

चालुक्य सम्राट् चतुर्थ सोमेश्वर ने अपने अत्यन्त ही योग्य और सैन्यकुशल सेनापति, ब्रह्म, के द्वारा कलचुरिओं (विज्जण) के विरुद्ध सफलता तो हासिल कर ली, किन्तु उसका उसे कोई स्थायी लाभ नहीं हुआ। होयसड़ शासक वीर बल्लाल ने सोमेश्वर से साम्राज्यसत्ता छीन ली, जिसे भिल्लम जैसा महत्त्वाकांक्षी कभी भी स्वीकार नहीं कर सकता था। उसने चालुक्य साम्राज्य के उत्तरी भागों के बहुत बड़े हिस्सों पर अपना अधिकार जमा लिया। यही नहीं, उसने कल्याणी वाली चालुक्य राजधानी पर भी अपना अधिकार कर [3]लिया। विवश होकर बल्लाल को पीछे हटना पड़ा और वह अपने हासन वाले पैतृक क्षेत्रों तक सीमित रहने को विवश हो गया। भिल्लम की इन विजयों का प्रमुख नायक था पेरिय सहन, जो उसकी घुड़सवार सेना का संचालक था। फलस्वरूप ये नवविजित प्रदेश पेरिय सहन के प्रशासकत्व के अधीन डाल दिये गये[4]। इन विजयों के उपलक्ष्य में भिल्लम ने ११८७ ई० में एक नये सम्वत् का प्रवर्तन किया। इससे यह अनुमान लगाया गया है कि वही वर्ष उसकी कल्याणी नगर पर विजय का वर्ष भी था।

---

१. वहीं श्लोक ३७। कथित है—
महीपतेस्तस्य विहाय पुत्रान् गुणानुरक्ता यदुवंशलक्ष्मी।
श्रीभिल्लमं तस्य ततः पितृव्यमव्यात्र राजद्भुजमाजगाम।
२. उद्धृत, याजदानी सं०, दि अर्ली हिस्ट्री ऑफ् दि डेकन, पृष्ठ ५२३।
३. याजदानी सं०, दि अर्ली हिस्ट्री ऑफ् दि डेकन, पृष्ठ ५२४।
४. एपिग्राफिया कर्नाटिका, कड्डूलूर तालुका, सं० ९४।

किन्तु बल्लाल (होयसड़) जैसा भिल्लम का दक्षिण दिशावाला शत्रु अपने इस अपमान का बदला लेने की तैयारी में जुट गया। दो वर्षों की तैयारी के बाद उसने अपने पूर्व शासकों-चालुक्यों-के दक्षिणी क्षेत्रों पर पुन: अपना अधिकार जमाने का उपक्रम प्रारंभ कर दिया। ११८९ तक वनवासी और नोलम्बवाडि[१] क्षेत्रों पर उसने अधिकार कर लिया और कल्याणी पर अधिकार जमा लेने की योजना के साथ धारवाड़ और बीजापुर जिलों की ओर आक्रमण हेतु बढ़ने लगा। अब भिल्लम से उसकी भिड़न्त अवश्यम्भावी हो गयी। ११९१ ई० में भिल्लम एक बहुत विशाल सेना के साथ धारवाड़ जिले के गडग नामक स्थान पर जम गया। किन्तु आगे उसी के पास सोरटूर नामक स्थान पर होने वाले भीषणयुद्ध में उसकी पराजय हुई और उसे अपनी सेना की बहुत बड़ी क्षति होते देखनी पड़ी। इस युद्ध की चर्चाएँ होयसड़ अभिलेखों में बढ़ाचढ़ाकर प्राप्त होती[२] हैं। यादव सेनापति जैत्रपाल लकुण्डी के युद्ध में मारा गया तथा होयसड़ सेनाओं ने अनेक दुर्गों पर अधिकार कर लिया। यादव सेनाओं को कृष्णा और मालप्रभा नदियों के उत्तरी किनारों तक भाग जाना पड़ा। बल्लाल ने अपनी विजयों के फलस्वरूप गडग में निवास करते हुए अपने विजयसूचक अभिलेखों को प्रकाशित कराया। बेचारा भिल्लम तबतक काफी बूढ़ा हो चला था और बल्लाल के हाथों होने वाली यादव सेनाओं की पराजय को वह झेल नहीं पाया और शीघ्र ही उसकी मृत्यु हो गयी।

तथापि यादववंश के इतिहास में पञ्चम भिल्लम के महत्त्व को कम करके नहीं आंका जा सकता। उसने सिन्नेर के एक अत्यन्त छोटे सरदारतंत्र की राजनीति में हस्तक्षेप करके उसके अत्यन्त कमजोर और आपस में लड़ने वालों समूहों का अन्त किया; एक सशक्त, स्वतंत्र और उन्नतिशील यादववंश की एक तरह से नयी नींव डाली; मालवा और गुजरात की विजयों द्वारा अपनी और अपने वंश की प्रतिष्ठा बढ़ायी; कोंकण, खानदेश, तथा दक्षिणी महाराष्ट्र और उत्तरी कर्नाटक के क्षेत्रों को उनके अनेक दुर्गों सहित जीतकर एक विशाल क्षेत्र पर अपनी सत्ता स्थापित की तथा कल्याणी पर अधिकार करके पूर्वत: वहाँ शासन करने वाले चालुक्यों के उत्तराधिकारी के रूप में अपने को प्रतिष्ठित किया। यद्यपि सोरटूर के युद्ध में होयसड़ सेनाओं के सामने उसकी सेनाओं को मुंह की खानी पड़ी, उसके सेनापति जैत्रसिंह और कुछ अन्य सेनानायकों को अपनी जान गंवानी पड़ी तथा पूर्व के सम्पूर्ण चालुक्य साम्राज्य के सभी प्रदेशों पर अधिकार करने का उसका सपना चूर हो गया, बल्लाल जैसे उसके शक्तिशाली शत्रु को भी कृष्णा नदी पार करने का साहस नहीं हुआ और वह महाराष्ट्र पर आक्रमण करने की हिम्मत नहीं जुटा सका। यादव सेनाएँ यद्यपि पराजित हुईं, किन्तु वे पूरी तरह बरबाद नहीं की जा सकीं। स्पष्ट है, भिल्लम एक उत्तम

१. याजदानी सं०, दि अर्ली हिस्ट्री ऑफ् दि डेकन, पृष्ठ ५२५।
२. अन्नेगिरि फलक, एपिग्राफिया कर्नाटिका, जिल्द ५, कन्नानूर तालुका, सं० १७९।

सैनिक के साथ ही साथ एक कुशल राजनायक भी था, जिसमें बुद्धिमानी और दूरदृष्टि विद्यमान थी।

जैतुगी (११९१-१२१० ई०)

भिल्लम का पुत्र जैतुगी अथवा जैत्रसिंह उसके सेनापति जैत्रसिंह से भिन्न व्यक्ति था, जो बल्लाल के विरुद्ध लड़े गये सोरटूर के युद्ध के बाद लकुण्डी के दुर्ग में मारा गया था। इस जैतुगी ने भिल्लम की ११९१ ई० में मृत्यु के बाद यादव राजगद्दी संभाली। वह योग्य और हिम्मती था, जिसके रहते बल्लाल (होयसड़) को कृष्णा नदी को पारकर मुख्य यादव क्षेत्रों पर आक्रमण करने की कोई भी योजना बनाने अथवा उसे कार्यान्वित करने का साहस नहीं हुआ। धीरे धीरे दोनों ही पक्षों ने मालप्रभा नदी और कृष्णा नदी के उत्तरी और दक्षिण किनारों को अपनी अपनी सीमा स्वीकार कर लेने में ही अपनी बुद्धिमानी मान ली।

११९४ ई० के आसपास होयसड़ों की ओर से निश्चिन्त हो जाने के बाद जैतुगी तेलंगाना में काकतिय राज्य की विजय की योजना पर आगे बढ़ने लगा। चूंकि काकतिय वंश भी उसी क्षेत्र पर स्थापित हो गया था, जो पूर्वतः चालुक्य साम्राज्य का अंग रह चुका था, जैतुगी अपने को चालुक्य सत्ता का वास्तविक उत्तराधिकारी समझते हुए काकतिय राज्य को आत्मसात कर लेना चाहता था। उसने ११९४ ई० में किये गये अपने एक तेज अभियान में काकतिय शासक रुद्र को मार डाला[१]। काकतियों के लिए यह बहुत बड़ा झटका था और वहाँ मची हुई अव्यवस्था का वर्णन स्वयं काकतिय अभिलेख[२] भी करते हैं। जैतुगी ने रुद्र के भतीजे गणपति को कैदकर देवगिरि के कारागार में डाल दिया। तथापि उसके बाद भी काकतिय क्षेत्र में यादवों के विरुद्ध विद्रोह होते रहे, जिनका नेतृत्व गणपति का पिता महादेव करता रहा। किन्तु वह भी मार डाला गया। फलस्वरूप काकतिय राज्य में घोर अव्यवस्था फैल गयी। तथापि जैतुगी ने उसे अपने राज्य में मिला लेने को बहुत बुद्धिमानी का कार्य न मानते हुए गणपति को अपने कारागार से मुक्त कर दिया और उससे अपनी अधिसत्ता स्वीकार कराकर काकतिय राजगद्दी उसे सौंप दी। एक अभिलेख[३] से ज्ञात होता है कि १२०३ ई० में गणपति अपनी राजगद्दीपर विद्यमान था और वह यादव राज्य की अधिसत्ता भी स्वीकार करता था। यद्यपि जैतुगी का मंगोली अभिलेख[४] अन्य अनेक राज्यों पर उसकी विजय का उल्लेख करता है, वह केवल प्रशस्ति

---

१. तेलिंगाधिपतेः यशोर्विशसनं रौद्रस्य रुद्राकृतेः।
कृत्वा पुरुषमेधयज्ञविधिना लव्ध्वास्त्रिलोकी जयः ।४१।
व्रतखण्ड की यादवप्रशस्ति।

२. पालंपेट अभिलेख, हैदराबाद आर्केलाजिकल् सीरिज, तीसरा मानोग्राफ (ग्रंथ)।

३. ए कार्पस् ऑफ् इन्स्कृप्शन्स् इन दि तेलंगाना डिस्ट्रिक्ट, पृष्ठ ४०।

४. एपि० इण्डिका, जिल्द ५, पृष्ठ ३३।

मात्र ज्ञात होती है और उसमें कोई ऐतिहासिक सत्यता नहीं प्रतीत होती। किन्तु उसका यह कथन कि जैतुगी ने लाट और मालवा के राजाओं पर विजय प्राप्त की, इस तथ्य की ओर निर्देश हो सकता है कि उत्तरी दिशा में यादवों और लाट-मालवा की सेनाएँ संभवत: आपस में अपनी सीमाओं के पास कहीं भिड़ी हों।

संकम जैतुगी का **महाप्रधान** अर्थात् मुख्यमंत्री था और साथ ही उसका सेनापति भी। काकतियों के विरुद्ध युद्धों में उसी की मुख्य भूमिकाएँ थीं और उसी से प्रसन्न होकर जैतुगी ने उसे तरडावाडि १००० की जागीदारी सौंप दी थी। जैतुगी विद्या और विद्वानों का आश्रयदाता था। प्रसिद्ध खगोलशास्त्री भास्कराचार्य के पुत्र लक्ष्मीधर उसके राजदरबार के प्रधान पण्डित थे।

जैतुगी के शासन का अन्तिम वर्ष क्या था तथा उसके पुत्र और उत्तराधिकारी सिंहण के शासन का प्रारंभिक वर्ष क्या था, इसका निश्चय करना कुछ कठिन सा है। सिंहण अपने वास्तवकि राज्यारोहण से पूर्व कई वर्षों तक **युवराज** के रूप में शासन से जुड़ा रहा और उसने अपने राज्यारोहण के पूर्व भी कई वर्षों में अपने अनेक अभिलेखों का प्रकाशन कराया था। अनुमान लगाया गया[१] है कि तेरहवीं शताब्दी के प्रथम दशक तक जैतुगी जीवित था।

सिंहण (१२१०-१२४७ ई०)

सिंहण अपने वंश का सबसे बड़ा विजेता शासक सिद्ध हुआ। युद्ध और प्रशासन की कलाओं में अपने पिता के समय भी **युवराज** रूप में उसे प्रचुर अनुभव प्राप्त हो चुके थे। वह यादव राज्य को अपने समय की सर्वप्रमुख राजनीतिक और सैनिक सत्ता बनाने को कृतसंकल्प था। साथ ही होयसड़ों के विरुद्ध यादवों की पूर्वपराजयों का बदला लेने की ज्वाला भी उसके हृदय में धधक रही थी। संभवत: **युवराज** रहते ही उसने दक्षिण दिशा में बीजापुर जिले को होयसड़ों से छीन लिया था, जहाँ से उसका १२०६ ई० का एक अभिलेख प्राप्त हुआ है। वहाँ केशवदेव नामक यादव सेनापति शासक के रूप में उस वर्ष नियुक्त किया जा चुका था[२]। स्वयं सिंहण के नेतृत्व में यादव सेनाएँ उसके पूर्व भी अनन्तपुर, बेल्लारी, चित्रदुर्ग और शिमोगा जिलों पर सफल धावे मार चुकी थीं, जहाँ से यादवों के अनेक अभिलेख प्राप्त हुए हैं[३]। सम्पूर्ण शिमोगा जिले को जीतकर उसने **सर्वाधिकारिन्** मयिदेव को १२१५ ई० में वहाँ का शासक नियुक्त कर दिया। इसप्रकार होयसड़ों के हाथों यादवों की पुरानी पराजयों का बदला लेने तथा अनेक होयसड़ क्षेत्रों को

१. याजदानी सं०, दि अर्ली हिस्ट्री ऑफ् दि डेकन, पृष्ठ ५३१।
२. ऐनुअल् रिपोर्टस् ऑन् साउथ इण्डियन् एपिग्राफी, १९१७-१८, परिशिष्ट ई०, संख्या २६४।
३. साउथ इण्डियन्, इन्स्कृप्शन्स्, जिल्द ९, पृष्ठ ३६३-३६७।

जीतकर वहाँ यादवों के प्रति राज्यभक्त प्रशासकों की नियुक्ति करके उसने अपनी विजयों के दक्षिण-पश्चिमी और दक्षिणी अभियानों को सफलतापूर्वक सम्पन्न किया। विवश होकर वीर बल्लाल के कमजोर उत्तराधिकारिओं को इस परिस्थिति से समझौता करना पड़ा।

सिंहण ने होयसड़ों के विरुद्ध अपने सैनिक अभियानों को अपनी सफल परिणति तक पहुँचा लेने में १२१५ ई० तक सफलता पा ली थी। किन्तु वह उतने मात्र से संतुष्ट नहीं हुआ। उसका अगला निशाना हुआ कोल्हापुर का शिलाहारवंशी शासक द्वितीय भोज (११७५-१२१५ ई०)। इस शिलाहारवंश के शासक उस समय की त्रिकोणीय राजनीति-चालुक्य-यादव और होयसड़–में मानों प्रभुसत्ताओं को बनाने-बिगाड़ने (किंगमेकर) का खेल खेलने लगे थे। भोज के पिता विजयादित्य ने तृतीय तैलप के विरुद्ध कलचुरि विज्जण की सहायता करके उसे कल्याणी नगर पर अधिकार कर लेने में मदद की थी। भोज भी उसी सपने को पाल रहा था। उसके एक प्रियपात्र और करद शासक सोमदेव के एक लेख[१] से तो यहाँ तक ज्ञात होता है कि उसने **परमभट्टारक, राजाधिराज, पश्चिमचक्रवर्ती** की साम्राज्यसूचक उपाधियाँ भी धारण कर ली थीं। संभवत: भोज ने यादव सेनाओं पर पीछे से उस समय आक्रमण भी कर दिया था, जब वे होयसड़ों के विरुद्ध दक्षिण पश्चिमी दिशा में अभियानरत थीं। फलस्वरूप, ज्यों ही सिंहण उधर से निवृत्त हुआ, उसने द्वितीय भोज के विरुद्ध टूट पड़ने में बिलकुल ही देरी नहीं की। युद्ध में भोज को मुंह की खानी पड़ी और उसे अपनी राजधानी छोड़कर परनाड़ के किले में भागना पड़ा। किन्तु जब सिंहण ने उसे घेरा तो भोज को वहाँ से भी भागकर कहीं अन्यत्र शरण लेनी पड़ी। उसके बाद भोज का क्या हुआ यह ज्ञात नहीं है। उसके बाद सिंहण ने कोल्हापुर की राजधानी सहित सारे शिलाहार राज्य पर अपना अधिकार जमा लिया। १२१८ ई० के बाद से वहाँ उसके अभिलेख[२] प्राप्त होने लगते हैं।

दक्षिण दिशा से फुरसत पाते ही सिंहण ने अपनी दृष्टि उत्तरदिशा में गुजरात और मालवा की ओर फेरी। ये दोनों ही क्षेत्र अपनी राजनीतिक और सैनिक कमजोरी के कारण बारबार यादवों के आक्रमणों के शिकार होते रहे। पीछे हम देख चुके हैं कि पञ्चम भिल्लम ने भी ११८५ ई० में गुजरात और मालवा पर धावे मारे थे। उसके बाद तो गुजरात का चौलुक्य राज्य मुसलमानों के बारबार के आक्रमणों के कारण और भी कमजोर होता गया और उसपर मालवा के भी शासक आक्रमण करने लगे। परमार शासक अर्जुनवर्मन् होयसड़ शासक बल्लाल का दामाद था। यह तो ज्ञात नहीं है कि उसने यादवों द्वारा आक्रामित किये जाने के समय अपने होयसड़ सम्बन्धिओं की कोई मदद की थी या नहीं,

---

१. इऐ०, जिल्द १०, पृष्ठ ७५६।

२. याजदानी सं०, दि अर्ली हिस्ट्री ऑफ् दि डेकन, पृष्ठ ५३३।

सिंहण के मन में यह होयसड़-परमार विवाहसम्बन्ध भी उसके द्वारा परमारों पर आक्रमण करने का एक बहाना हो सकता था। गुजरात राज्य की दिनोंदिन बढ़ती कमजोरी तो उसे आमंत्रण दे ही रही थी। उसने १२१५ ई० में मालवा पर धावा बोल दिया। उसमें वह पूर्णतः विजयी रहा। हेमाद्रि का कथन है कि अर्जुन केवल हारा ही नहीं; अपितु वह मार भी डाला [१]गया।

गुजरात पर सिंहण के आक्रमण अथवा आक्रमणों के अन्तिम परिणाम किस रूप में आये, यह पूरी तरह स्पष्ट नहीं हैं। जैन ग्रन्थ **कीर्त्तिकौमुदी** से ज्ञात होता है कि गुजरात के शासक लवणप्रसाद ने यादव सेनाओं को लौट जाने को विवश कर [२]दिया। सिंहण के अभिलेखों में १२१८ ई० के बाद मालवा और गुजरात पर यादवों के सफल आक्रमणों के उल्लेख [३]प्राप्त होते हैं। तथापि इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता कि लाट को जीतने का सिंहण को कोई मौका मिला। अतः उसे गुजरात के विरुद्ध केवल एक मनोवैज्ञानिक विजयमात्र से संतुष्ट रहना पड़ा। किन्तु कुछ ही वर्षों के भीतर सिंहण ने लाट (गुजरात के दक्षिणी भाग) को जीतने की अपनी अगली योजना कार्यान्वित कर दी। उसने खानदेश के अपने सामन्त खोलेश्वर को १२२० ई० में लाट पर आक्रमण हेतु लगाया, जो सिंहण का एक विश्वासपात्र ब्राह्मणवंशी सेनापति था। उसने उसके अन्य कई युद्धों में भी भाग लिया था। लाट पर इस समय सिंह नामक एक चाहमानवंशी सामन्त सरदार गुजरात के चौलुक्यों की ओर से शासन करता था। किन्तु चौलुक्य शासक भीम और उसके मंत्री लवणप्रसाद अपनी ही समस्याओं में इतने फंसे थे कि वे अपने सामन्त, सिंह, (चाहमान) की कोई भी मदद नहीं कर सके। वह और उसके सिंधुराज नामक भाई, दोनों ही, युद्ध में मारे गये। सिंधुराज का पुत्र, संग्रामसिंह, कैद कर लिया गया और यादव सेनाओं ने भरुच में अपना विजयी झण्डा गाड़ [४]दिया। किन्तु सिंहण ने लाट प्रदेश को अपने राज्य में मिला लेने को बुद्धिमानी नहीं माना और उसने संग्रामसिंह को पुनः वहाँ अपने करद रूप में, उससे अपनी अधिसत्ता स्वीकृत कराते हुए, शासन चलाने का भार सौंप दिया। भविष्य में संग्रामसिंह सिंहण के प्रति वफादार बना रहा। यह अनुमान लगाया गया है कि १२२३ ई० तक लाट पर सिंहण की विजय पूर्ण हो चुकी थी।

किन्तु गुजरात की ओर से वस्तुपाल ने भरुच पर पुनः अपना अधिकार जमा लिया, जिसे हटाने में संग्रामसिंह अकेले सफल नहीं हो सका। फलतः, उसने सिंहण के सेनापति

---

१. येन क्षोणीभृदर्जुनोपि बलिना नीतः कथाशेषताम्।
येनोद्दामभुजेन भोजनृपतिः कारा कुटुम्बीकृतः ॥४३, व्रतखण्ड की भूमिका।
२. याजदानी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ५३४-५३५।
३. एपिग्राफिया कर्नाटिका, जिल्द ७, शिकारपुर तालुका, सं० ९१।
४. याजदानी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ५३५।

खोलेश्वर तथा मालवा के शासक, देवपाल के साथ मिलकर एक सैनिक संघ का निर्माण किया और भरुच को पुन: जीत लेने की योजना बनायी। आगे होने वाले युद्ध की भयंकरता और बरबादी का विवरण बड़े ही आलंकारिक शब्दों में **कीर्त्तिकौमुदी**[१] नामक ग्रंथ में प्राप्त होता है। आक्रमणकारी सेनाओं ने आगे बढ़ते हुए गांवों में आग लगा दी, जिसकी लपटें रात्रि में आसमान में उठती हुई दिखायी दीं। लोग अपना घरबार छोड़कर, जो भी साधन प्राप्त हो सके उनसे राज्य से बाहर भागने लगे। किन्तु इन काव्यात्मक विवरणों में से सही-सही निष्कर्षों को निकालना बहुत आसान नहीं है। इनमें से कोई भी लेखक इन घटनाओं की कोई तिथि भी नहीं देता। साथ ही **हम्मीरमदमर्दन** नामक ग्रंथ से यह ज्ञात होता है कि गुप्तचरों की गुप्तचरी और फर्जी पत्राचारों के माध्यम से एक जाल बुनकर लवणप्रसाद ने अन्ततः विजय प्राप्त कर ली। इसमें भी सचाई का पता लगाना बड़ा कठिन है। किन्तु यह निष्कर्ष निकाला गया है कि अन्ततः लवणप्रसाद को अपने राज्य पर उत्तर दिशा से होने वाले आक्रमणों से त्रस्त होकर स्वयं ही संधि का प्रस्ताव करना पड़ा। लवणप्रसाद और सिंहण के बीच हुई इस संधि के ब्यौरों-शर्तों आदि का विवरण १५वीं शती में रचे गये **लेखपद्धति**[२] नामक ग्रंथ से ज्ञात होता है। यह संधि १२३२ ई० में दोनों पक्षों के बीच हुई थी। इस संधि द्वारा शान्ति हो जाने के बावजूद भी सिंहण को इस अभियान से लूट का भरपूर लाभ तो हुआ ही था, लाट प्रदेश पर, भरुच के बन्दरगाह सहित, उसके स्थायी अधिकार को मान्यता भी प्राप्त हो गयी। संधि की सर्वमुख्य शर्त यह थी कि गुजरात और यादव (देवगिरि) के दोनों ही राज्य एक दूसरे पर चढ़ाई नहीं करेंगे और एक दूसरे की सीमाओं का आदर करते रहेंगे।

यादव राजधानी और उसके मुख्य प्रदेशों के आसपास अनेक छोटे-छोटे राजवाड़े ऐसे भी थे, जो किसी भी तात्कालिक साम्राज्य की अधिसत्ता स्वीकार करने में ही बुद्धिमानी समझते थे। परन्तु कभी-कभी वे या तो स्वयं स्वतंत्र हो जाने का प्रयत्न करने लगते थे, अथवा एक दूसरी समानान्तर शक्ति वाली सत्ताओं के बीच राजनीतिक खेल खेलने लगते थे। इन परिस्थितियों से मुक्ति पाने हेतु सिंहण ने अपने दक्षिणी प्रान्तों के प्रधान सेनापति विच्चण को लगाया। उसने रट्ट राज्य (बेलगांव जिला) को जीतकर वहाँ यादवशासन स्थापित कर दिया। उसी प्रकार उसने धारवाड़ के गुत्तों (गुप्तों) तथा हंगल और गोवा के कदम्बों को भी, सिर उठाने के पूर्व ही, दण्डित करते हुए बुरी तरह कुचल डाला।

यहाँ काकतिय सत्ता के साथ सिंहण के सम्बन्धों का भी उल्लेख आवश्यक है। पीछे हम यह देख चुके हैं कि किस प्रकार सिंहण के पिता जैतुगी ने काकतिय राज्य को जीत लेने के बाद भी वहाँ पुन: अपने करद के रूप में गणपतिदेव को राज्यासनस्थ कर

---

१. सर्ग ५; वसन्तविलास, सर्ग ५।

२. पृष्ठ ५२।

दिया था। इस गणपतिदेव का शासनकाल बहुत लम्बा (लगभग ६० वर्षों का) सिद्ध हुआ। अपने शासन के प्रथम भाग में तो वह यादवराज्य के प्रति राज्यभक्त बना रहा और यादवों के अनेक युद्धों में उसने भाग भी [1]लिया। किन्तु आगे चलकर दक्षिण दिशा में उसने अपनी सीमाएँ बढ़ा लीं और उसके मन में भी महत्त्वकाक्षाएँ हिलोरें मारने लगीं तथा उसमें पूर्ण स्वतंत्र हो जाने की इच्छा जगी। तथापि दोनों पक्षों गें एकाध सीमावर्ती झगड़ों के अतिरिक्त[2] कोई बड़ी भिड़न्त इस कारण नहीं हुई कि एक तरफ तो सिंहण स्वयं बूढ़ा हो रहा था और वह गुजरात के संघर्षों में फंसा था और दूसरी ओर गणपतिदेव भी किसी बड़े संघर्ष को टालने हेतु इस कारण लालायित था कि उसे यादवों के हाथों पिछली पराजयों तथा उनके जेल में अपनी कैद की दशा भलीभांति याद थी।

इस बीच गुजरात में लवणप्रसाद और उसके पुत्र वीरधवल की मृत्यु हो चुकी थी और वीरधवल का पुत्र वीसलदेव गुजरात का गवर्नर हो चुका था। इधर सिंहण का सेनापति खोलेश्वर भी दिवंगत हो गया था और उसका पुत्र राम उसकी जगह पर सेनापतित्व संभाल चुका था। राम अपने पिता की तरह एक बहुत ही बहादुर और योग्य सेनापति था। उसने सिंहण को गुजरात पर एक बार और चढ़ जाने का परामर्श दिया। युद्ध में उसने जबरदस्त वीरता का प्रदर्शन किया, किन्तु नर्मदा नदी के किनारे होने वाले युद्ध में यादव सेनाएँ पराजित हुईं। आश्चर्य नहीं है कि वीसलदेव का एक अभिलेख[3] उसे सिंहण की सेनारूपी समुद्र के लिए एक बड़वानल की संज्ञा देता है। युद्ध में यादव सेनापति राम मारा गया। परिणाम यह रहा कि इस आक्रामक अभियान से यादवों को कोई भी लाभ नहीं हुआ और उन्हें वापस लौटना पड़ा। अतः सिंहण का गुजरात पर संभवतः यह चौथा अभियान बिल्कुल ही निरर्थक साबित हुआ। सिंहण को गुजरातिओं की पीठ में छुरा भोंकने की जगह उनसे मिलकर भारतवर्ष पर होने वाले मुसलमानों के बार-बार के आक्रमणों के समय एक साझा मोर्चा स्थापित करना चाहिए था। किन्तु इस दूरदृष्टि का उसमें उतना ही अभाव था, जितना तत्कालीन भारत के अन्य राजपूत राजाओं में था। वे सभी एक ही दोष के दोषी थे। हुआ वही जो होना था। उसी के वंश को लगभग ५० वर्षों के भीतर ही अकेला रहते हुए, रामदेव, शंकरदेव और हरपालदेव के समय में, बहुत बड़ी कीमत चुकानी पड़ी, जिसकी चर्चा आगे की जायगी।

सिंहण की अन्यान्य विजयों के सूत्रधारों में खोलेश्वर और विच्चण के नाम मुख्य रूप से लिये जा सकते हैं, जिनकी अनेक विजयों के उल्लेख अभिलेखों में प्राप्त होते

---

१. कार्पस् ऑफ् इन्स्कृप्शन्स् इन दि तेलंगाना डिस्ट्रिक्ट, पृष्ठ ५२।

२. इऐ०, जिल्द २१, पृष्ठ २००।

३. एपि० इण्डिका, जिल्द १, पृष्ठ ४५; इण्डि० ऐण्टीक्वेरी, जिल्द ६, पृष्ठ २११।

हैं। इनमें खोलेश्वर तो ब्राह्मण था, किन्तु विच्चण वैश्य[१] था। एक यादव राज्य के उत्तरी दिशा वाले विशालक्षेत्रों का गवर्नर था, और दूसरा दक्षिणी प्रदेशों पर गवर्नररूप में नियुक्त था। खोलेश्वर मूलतः खानदेश का निवासी था, जो धीरे-धीरे खानदेश, बरार और मध्यप्रदेश के वृहद् क्षेत्रों का गवर्नर नियुक्त किया गया था। उसके पिता को एक **अग्रहार** की प्राप्ति इस हेतु हुई थी कि उसने वैदिक यज्ञ-याग की परंपरा को अपनाया था। किन्तु खोलेश्वर अपने पैतृक कार्यों को छोड़कर शस्त्रविद्या का पुजारी हो गया। अनेक छोटे राजे-राजवाड़ों पर उसकी विजयों के अतिरिक्त सबसे प्रमुख विजयें लाट, गुजरात और मालवा की थीं, जिनसे सिंहण की सैनिक और राजनीतिक प्रतिष्ठा बहुत ही बढ़ी थी। उसके पुत्र राम ने भी उसी की तरह सैन्यकार्यों को अपनाया था। खोलेश्वर ने यद्यपि स्वयं सैन्यधर्म को अपना लिया था, ब्राह्मणकार्यों के प्रति उसका आकर्षण कम नहीं हुआ था और उसने **अग्रहार** ग्रामों का दान किया था।

विच्चण के पूर्व दक्षिणी ओर के यादवक्षेत्रों पर जगदलपुरुषोत्तमदेव गवर्नर के रूप में नियुक्त था। उसकी जगह पर लगभग १२३० ई० में विच्चण नियुक्त किया गया। वह भी सिंहण के महान् सेनापतिओं में एक था। उसे विनाशक यम और राजनीतिक बुद्धिमत्ता का **नवचाणक्य** (विष्णुगुप्त) कहा गया है। कथित है कि उसपर सिंहण वैसा ही विश्वास करता था जैसे वह अपने हृदय पर विश्वास करता था। होयसड़ों पर होने वाली विजयों में विच्चण का ही मुख्य योगदान था। उसके एक लेख में कथित है उसने कावेरी नदी के किनारे पर अपना एक कीर्त्तिस्तम्भ स्थापित किया[२]। कर्नाटक के गवर्नर के रूप में उसने अनेक सामन्तों को सिर उठाते ही बुरी तरह कुचलकर अपने स्वामी की सेवा की।

सिंहण विद्या और कला का भी एक बड़ा आश्रयदाता था। उसी के समय सारंगदेव ने **संगीतरत्नाकर** नामक संगीत के ग्रंथ की रचना की। कहा जाता है कि सिंहण स्वयं भी एक बढ़िया संगीतशास्त्रज्ञ था, जिसने स्वयं **संगीतरत्नाकर** पर एक टीकाग्रंथ की रचना की[३]। चाङ्गदेव और अनन्तदेव नामक दो खगोलशास्त्री भी उसी के काल में हुए थे और वे उसके राजदरबार में रहे थे। चाङ्गदेव बहुप्रसिद्ध खगोलशास्त्री भास्कराचार्य के पौत्र थे और उनकी स्मृति में पाटनतीर्थ में उन्होंने (चाङ्गदेव ने) खगोलशास्त्र के अध्ययन हेतु एक महाविद्यालय की स्थापना की थी। अनन्तदेव ने ब्रह्मगुप्तरचित **ब्रह्मस्फुटसिद्धान्त** तथा वराहमिहिर रचित **वृहज्जातक** नामक दो ग्रंथों पर अलग अलग टीकाएँ लिखीं।

यदि सिंहण की उपलब्धियों का समाहार किया जाय तो यह निष्कर्ष निकलेगा कि

---

१. याजदानी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ५४१।

२. जर्नल ऑफ् दि ब्राम्बे ब्राञ्च ऑफ् रायल् एशियाटिक सोसायटी, जिल्द १५, पृष्ठ ३८७।

३. याजदानी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ५४२। यह कहना कठिन है कि स्वयं सिंहण ने इस टीकाग्रंथ की रचना की, अथवा किसी अन्य ने इसे लिखकर उसके नाम से प्रचारित कर दिया।

वह यादववंश का महत्तम शासक था। उसके **युवराज**-काल को यदि जोड़ दिया जाय तो उसका संपूर्ण शासनकाल ४०-४५ वर्षों के आसपास ठहरता है। उसकी सबसे बड़ी उपलब्धि तो यह थी कि उसने यादव राजवंश को सच्चे अर्थों में कल्याणी के चालुक्य वंश की साम्राज्यसत्ता का वास्तविक उत्तराधिकारी बनाते हुए कर्नाटक और महाराष्ट्र के उन विशाल क्षेत्रों पर शासन किया, जिनका स्वामित्व चालुक्य भी हासिल नहीं कर सके थे। यादववंश के सबसे बड़े शत्रु द्वितीय बल्लाल (वीर बल्लाल) से अपने वंश की पराजयों का बदला लेते हुए उसने उसके उत्तराधिकारिओं को तुंगभद्रा नदी के दक्षिण-पश्चिम में काफी दूर तक ढकेल दिया और चित्रदुर्ग, अनन्तपुर, बेल्लारी और शिमोगा जिलों के तमाम क्षेत्रों को हथिया लिया। प्रसिद्ध रायचूर का दोआब अब उसके अधिकार में था। उसके विज्जण जैसे कर्नाटक के गवर्नर ने प्रत्येक विद्रोही सामन्त को ध्वस्त करते हुए उनके शासित क्षेत्रों को यादव सत्ता के भीतर पूरी तरह समाहित कर लिया—यथा शिलाहारवंशी भोज (कोल्हापुर) तथा गोवा के कदम्ब आदि। उत्तर दिशा में उसने लाटप्रदेश पर अपना स्थायी अधिकार कर लिया और गुजरात तथा मालवा के राज्यों पर बार-बार आक्रमण करके उनकी राजनीतिक और सैनिक शक्ति को बार-बार कमजोर करते हुए अपनी सत्ता की आंच से उन्हें तप्त किया। इस प्रकार दक्षिणी भारत में उसकी सत्ता को किसी प्रकार की चुनौती देने वाला कोई बचा ही नहीं।

किन्तु वह इन विजयी धावों में बराबर लगा रहा हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता। पीछे हम देख चुके हैं कि शासन की उसने वैसी ही चिन्ता और व्यवस्था की, जैसी कुशल सैनिक मोर्चेबन्दियों में उसने अपना ध्यान लगाया। उसका सौभाग्य था कि खोलेश्वर, उसके पुत्र राम, पुरुषोत्तमदेव और विज्जण जैसे अत्यन्त पराक्रमी और सैन्यकुशल सेनापति तथा प्रांतीय गवर्नर उसकी सेवा में पूरी राजभक्ति के साथ लगे रहे। शासन का अधिकांश भार उन्हीं के कंधों पर था और सिंहण को जो भी समय मिला, उसने कला, विद्या, और संस्कृति के उन्नयन में उसका उपयोग किया। संगीतशास्त्रीय ग्रंथों तथा उनकी टीकाओं सहित खगोलशास्त्रीय प्रसिद्धग्रंथों पर उसके समय के संगीतशास्त्रिओं और खगोलशास्त्र के विद्वानों ने जो टीकाएँ लिखीं तथा उनके अध्ययन-अध्यापन हेतु जिन महाविद्यालयों की स्थापना की गयी, वे उसके समय की, साथ ही यादवराज्य की, महान् बौद्धिक देनों को उजागर करने हेतु पर्याप्त हैं।

कृष्ण (१२४६-१२६० ई०)

सिंहण का पुत्र जैतुगी उसके जीवित रहते ही दिवंगत हो चुका था। अत: उसकी मृत्यु के बाद उसका पौत्र कृष्ण यादवों की राजगद्दी का मालिक हुआ। जैसे गुजरात और मालवा पर अनेक परिणामहीन और व्यर्थ के सैनिक धावे सिंहण ने अपने समय में किये थे, वैसे ही कृष्ण ने भी मालवा पर एक व्यर्थ का आक्रमण किया। मुसलमानी आक्रमणों के कारण मालवा स्वयं ही जर्जर और कमजोर हो चुका था। अत: उसे पराजित करने

में कृष्ण को कोई बड़ी कीमत नहीं चुकानी पड़ी। १२५० ई० के बाद के उसके अभिलेख मालवा पर उसकी विजय का उल्लेख करते हैं। किन्तु इस विजय से यादव राज्य को कोई भी लाभ नहीं हुआ। इसके अतिरिक्त पैठन (प्रतिष्ठान) से प्राप्त कृष्ण के अभिलेख तथा हेमाद्रि की **व्रतखण्ड** वाली राजप्रशस्ति से यह भी ज्ञात [1]होता है कि कृष्ण ने गुजरात के शासक वीसलदेव पर भी विजयप्राप्त की। किन्तु संघर्ष का स्वरूप सीमावर्ती झड़पों के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं प्रतीत होता। प्रत्युत्, वीसलदेव के अभिलेख तो यादवों पर उसकी ही विजय का दावा[2] करते हैं। कृष्ण के समय ही पाण्ड्य शासक जटावर्मन् ने काकतिय राज्य पर आक्रमण किया। उससे त्रस्त होकर काकतिय शासक गणपतिदेव ने अपने अधिराज कृष्ण से सहायता की अपेक्षा की। कृष्ण को भी जटावर्मन् को बहुत अधिक सफल होते देखना सह्य नहीं रहा होगा। अत: उसकी ओर से कर्नाटक (दक्षिणी) के गवर्नर विच्चण ने पाण्ड्य सेनाओं के विरुद्ध अभियान किया।

अपने छोटे से शासनकाल में कृष्ण ने यादव राज्य की सीमाओं में न तो कोई क्षरण होने दिया और न उसकी प्रतिष्ठा में कोई कमी आयी। उसकी सेवा में भी अनेक योग्य प्रशासक लगे हुए थे। विच्चण अब भी अपनी पूर्वप्रतिष्ठा के साथ कर्नाटक की गवर्नरी संभाले हुए था। विच्चण का छोटा भाई भी उसके साथ शासन में लगा हुआ था और क्रमश: पदोन्नत होते हुए उसने **सर्वदेशाधकारिन्** के पद को प्राप्त कर लिया था। उसके बाद उसका पुत्र चामुण्डराय **महाप्रधान** और **महामात्य** के विरुदों के साथ प्रशासक नियुक्त हुआ था। लक्ष्मीदेव और उसके पुत्र जाल्ह (जाल्हण) नामक दो गुजराती ब्राह्मण भी कृष्ण के प्रसिद्ध राजसेवकों में थे, जो अपने स्वामी के लिए अनेक युद्धों में विजय प्राप्त करने का दावा करते हैं। जाल्हण एक विद्वान् रहा प्रतीत होता है, जिसने **वेदकल्पतरु** नामक एक टीकाग्रंथ की रचना की।

महादेव (१२६०-१२७०)

कृष्ण को संभवत: कोई पुत्र नहीं था। अत: उसका भाई महादेव उसके **युवराज** के रूप में उसके शासनकार्यों में हाथ बँटाता था। ११६० ई० में उसने राजगद्दी धारण की और सभी साम्राज्यपरक विरुदों के साथ अपना शासन प्रारंभ किया। महादेव की सर्वप्रथम सैनिक विजय ठाणे से शासन करने वाले शिलाहारवंशी शासक सोमेश्वर के विरुद्ध थी। पश्चिमी कर्नाटक के समुद्रवर्ती प्रदेशों पर दो शिलाहारवंशी क्षेत्र थे–एक था कोल्हापुर को अपनी राजधानी बनाकर शासन करने वाला, और दूसरा था कोंकण क्षेत्र का ठाणे से शासन करने वाला वंश। ये दोनों ही पूर्वत: यादवों की अधिसत्ता स्वीकार करते थे। ठाणे के शासक सोमेश्वर के पिता, केशिराज, के समय तक इस पारस्परिक

१. इण्डियन् ऐण्टीक्वेरी, जिल्द १४, पृष्ठ ३१४।
२. याजदानी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ५४४।

राजनीतिक सम्बन्ध में कोई खलल नहीं उत्पन्न हुई। किन्तु सोमेश्वर, महादेव का शासन प्रारंभ होते ही, कदाचित् स्वतंत्र होने का प्रयत्न करने लगा। फलस्वरूप, महादेव ने उसपर आक्रमण कर दिया। वह अपने को बचाने हेतु समुद्र में भाग गया, किन्तु जब वहाँ भी महादेव ने उसका पीछा नहीं छोड़ा तो उसने अपने को समुद्र में ही डुबो [१]लिया। प्रायः यह मान लिया जाता है कि कोंकण के इस शिलाहार राज्य को महादेव ने अपने साम्राज्य का अंग बना लिया। परन्तु १२६६ ई० के एक अभिलेख[२] से वहाँ **महाराजाधिराज कोंकणचक्रवर्ती** जैतुगीदेव के शासन करने का प्रमाण प्राप्त होता है। किन्तु इस सम्बन्ध में एक [३]सुझाव यह भी है कि यह जैतुगी यादव राज्यपरिवार का ही कोई सदस्य था, जो **महाराजाधिराज** और **कोंकणचक्रवर्ती** की साम्राज्यसूचक उपाधियों के साथ सोमेश्वर के पुराने राज्याधिकारिओं को अपनी सेवा में रखते हुए वहाँ का शासन चलाता था।

महादेव के शासन प्रारंभ होने के एक वर्ष के भीतर ही काकतिय शासक गणपतिदेव की मृत्यु हो गयी तथा उसकी पुत्री रुद्राम्बा उसकी उत्तराधिकारिणी बनी। उस समय या तो उसके स्त्री होने के कारण अथवा अन्य किसी कारण से काकतिय राज्य में कुछ अव्यवस्था फैल गयी। इसका लाभ उठाते हुए महादेव ने उस राज्य पर आक्रमण कर दिया, किन्तु उसकी सेनाएँ भीतर दूर तक नहीं घुसीं। कदाचित् सीमाओं पर ही कुछ विजयें प्राप्तकर वे वापस लौट गयीं।

दक्षिण-पश्चिम दिशा में होयसड़ राज्य दो भागों में विभाजित हो गया था। उत्तरी भागों पर द्वितीय नरसिंह का अधिकार था, जो अभी एकदम नवयुवक था। इस स्थिति को अपने लिए एक अच्छा अवसर मानते हुए १२६६ ई० के बाद कभी महादेव ने नरसिंह के विरुद्ध धावा बोल दिया। किन्तु न तो उसका कोई अभिलेख और न हेमाद्रि ही इस अभियान में महादेव की किसी विजय का दावा करते हैं। प्रत्युत्, इसके विपरीत होयसड़ अभिलेखों[४] में महादेव के युद्धस्थल से रात को चुपके से भाग जाने के उल्लेख प्राप्त होते हैं। स्पष्ट है, विजयश्री होयसड़ सेनाओं के हाथ ही लगी।

महादेव के राज्याधिकारिओं में **सर्वाधिकारिन्** के रूप में तप्परस का नाम ज्ञात होता है, जो उस पद पर १२७५ ई० तक बना रहा। दक्षिणी प्रान्तों का गवर्नर देवराज था। चट्टराज और कुचराज नामक दो भाई नोलम्बवाडि (शिमोगा जिला) में बेलूर के अपने

---

१. यदीयगन्धद्विपगण्डपाली निष्ठ्यूतदानाम्बु तरंगिणीषु।
सोमः समुद्रप्लवयेशलोपि ममज्ज सैन्यैः सह कुंकुणेशः॥
श्लोक सं० ५०, हेमाद्रिकृत व्रतखण्ड की भूमिका; और देखें इण्डियन् कल्चर, जिल्द २, पृष्ठ ४१७।

२. एपि० इण्डिका, जिल्द २६, पृष्ठ १२९।

३. याजदानी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ५४६।

४. एपिग्राफिया कर्नाटिका, जिल्द ४, चिन्तामणि तालुका, सं० २६९।

प्रधानकार्यालय से शासन चलाते हुए गवर्नर के रूप में नियुक्त थे। दोनों ही ब्राह्मण थे। किन्तु महादेव के सर्वप्रमुख और सर्वादृत राज्याधिकारी तो हेमाद्रि ही थे, जिन्हें **मंत्रिन्** की उपाधि प्राप्त थी। वे महादेव की हस्तिसेना के सेनानायक थे तथा सारे सरकारी कागजपत्रों के विभाग (अधिकरण) के भी वे प्रधान थे। महादेव के बाद रामचन्द्र (१२७१-१३११ ई०) के समय में भी काफी दिनों तक वे यादवों की राज्यसेवा में बने रहे। महादेव के शासनकाल के भीतर ही उन्होंने चार खण्डों में विभाजित अपने **चतुर्वर्गचिन्तामणि** नामक महाग्रंथ की रचना की। इस ग्रंथ के चार खण्डों में **व्रतखण्ड, दानखण्ड, तीर्थखण्ड** और **मोक्षखण्ड** हैं। साथ ही, **प्रायश्चित्तखण्ड** नाम से उसमें एक पाँचवाँ खण्ड भी है। इन ग्रंथों के प्रणयन से हेमाद्रि की धर्मशास्त्रों में अपार गति का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। वे वत्सगोत्री ब्राह्मण थे और ब्राह्मणधर्मी व्यवस्थाओं तथा आचार-विचार में उनकी अटूट श्रद्धा थी। उन्होंने राज्य के अनेक बड़े-बड़े शासकीय पदों को संभालने के साथ ही इस महान् ग्रंथ (**चतुर्वर्गचिन्तामणि**) के विभिन्न खण्डों की रचना की, यह उनकी अनन्त क्रियाशक्ति का द्योतक है।

रामचन्द्र (१२७१-१३११ ई०)

यद्यपि महादेव का पुत्र अम्मण उसका उत्तराधिकारी हुआ, उसका शासनकाल अत्यल्प ही रहा। चूंकि महादेव ने अपने भाई कृष्ण के पुत्र रामचन्द्र को ही अपना उत्तराधिकार सौंपने का वादा किया था, राज्य के सभी उच्चाधिकारी रामचन्द्र के ही पक्ष में थे। इनमें हेमाद्रि और टिक्कम जैसे प्रमुख व्यक्ति भी थे। अम्मण आनन्दप्रिय और हल्की प्रवृत्तियों वाला व्यक्ति था। अत: रामचन्द्र को उसे अपदस्थकर[१] राजगद्दी हथिया लेने में कोई विशेष कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ा। इस प्रकार अम्मण के लगभग एक वर्ष के शासन का अन्त हो गया।

मालवा पर एक नये अभियान के साथ रामचन्द्र ने अपने सैनिक कार्यों का आरंभ किया। चूंकि मालवा में द्वितीय अर्जुनवर्मा और उसके मंत्री के ही बीच राजगद्दी पर अधिकार-हेतु आपसी युद्ध छिड़ चुका था, और अन्तत: उस राज्य का ही दो भागों में बंटवारा हो गया था, रामचन्द्र को मालवा की सेना को बड़ी आसानी से तितर-बितर कर देने में कोई विशेष कठिनाई नहीं हुई। मालवा से लौटते हुए उसकी कुछ सैनिक भिड़न्तें गुर्जर राज्य के विरुद्ध भी हुई, जिनमें दोनों ही पक्षों के अपनी-अपनी विजयों के अलग-अलग दावे प्राप्त होते हैं।

पीछे हम यह देख चुके हैं कि किस प्रकार द्वितीय नरसिंह (होयसड़) पर किये गये सैनिक अभियान में महादेव को मुँह की खानी पड़ी थी। रामचन्द्र उस घाव को भूल नहीं पाया था और मालव-अभियान (१२७१ ई०) के बाद की दो-तीन वर्षों की तैयारियों के

१. याजदानी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ५४८-५४९।

पश्चात् उसने अपने सर्वाधिक योग्य सेनापति साड्डुव टिक्कमरस के नेतृत्व में अपने दक्षिणी अभियान को प्रारंभ कर दिया। यादव सेनाएँ वनवासी और नोलम्बवाड़ि के अपने आधार शिविरों से १२७५ ई० में मुख्य होयसड़ क्षेत्रों में दाखिल हो गयीं। अन्ततः वे बेलवाड़ि होते हुए दोरसमुद्र (द्वारसमुद्र) वाली होयसड़ राजधानी को ही घेरने की तैयारी करने लगीं। नरसिंह ने अपने अंक और मयिदेव नामक सेनापतिओं के नेतृत्व में सैनिक टुकड़ियों द्वारा यादवों के बढ़ाव को रोकने का प्रयत्न तो किया, किन्तु उसमें वह सफल नहीं हो सका और होयसड़ सेनाएँ हारीं। इससे उत्साहित होकर टिक्कमरस ने राजधानी दोरसमुद्र की ही घेरेबन्दी शुरू कर दी। किन्तु वहाँ युद्ध के पहले चक्र में बहुत बहादुरीपूर्वक लड़ने के बावजूद भी होयसड़ों के अनेक सेनापतिओं सहित बहुत से सैनिक मारे गये। किन्तु अन्ततः होयसड़ सेनाओं के प्रधान सेनापति के अंकेय नायक नामक पुत्र ने बेजोड़ वीरता और जीवट दिखाते हुए जब यादव सेनाओं पर भीषण आघात किया तो, एक होयसड़ अभिलेख के अनुसार "हरियाल डर गया, साड्डुव टिक्कम भाग गया और जोयिदेव अपने मुंह पर तमाचा मारने [1]लगा।" विवश होकर टिक्कमरस को पीछे हटना पड़ा। इसप्रकार १२७६ ई० में यादव सेनापति को दोरसमुद्र का घेरा उठाकर खाली हाथ वापस लौटना पड़ा।

रामचन्द्र के कुछ अभिलेखों[2] से ज्ञात होता है कि उसने उत्तरपूर्व में अपनी राज्यसीमाओं का विस्तार करना चाहा और सबसे पहले उसने वज्राकर (वैरगढ़) और भाण्डागार (भण्डारा) पर चढ़कर वहाँ के शासकों को अपनी अधिसत्ता स्वीकार करने को विवश किया। आगे बढ़कर उसने, पूर्वतः कचलुरि राजाओं की राजधानी रहे, त्रिपुरी नगर को जीता और अन्ततः वह बनारस (वाराणसी) पहुँच गया। किन्तु यदि उसने ये सफलताएँ प्राप्त कीं, तो भी उन्हें सैनिक धावों के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जा सकता। उसके अभिलेख उसे कनौज और कैलाशपर्वत तक पहुँच जाने का श्रेय देते हैं। किन्तु कवि की प्रशस्तिमात्र के अतिरिक्त ये उल्लेख और कुछ भी नहीं प्रतीत होते। उस समय तक ये सारे प्रदेश मुसलमानी सत्ताओं के अधिकार के भीतर आ चुके थे और यह निष्कर्ष निकालना कि रामचन्द्र को उनके अधिकृत रहते कोई सफलता प्राप्त हुई होगी सही नहीं प्रतीत होता।

किन्तु अपनी कुछ तथाकथित और कुछ वास्तविक, सफलताओं के बावजूद भी, जब रामचन्द्र के सामने असली परीक्षा की घड़ी आयी तो वह पूरी तरह असफल साबित हुआ। १२९४ ई० में कड़ा-मानिकपुर (इलाहाबाद) के गवर्नर अलाउद्दीन (खलजी) ने जब उस पर धावा बोला तो वह उसके लिए बिल्कुल ही तैयार नहीं था। अलाउद्दीन द्वारा

---

१. एपिग्राफिया कर्नाटिका, जिल्द ५, बेलूर तालुका, सं० १२०, १६५ और १६७।
२. पुरुषोत्तमपुरी फलक, एपि० इण्डिका, जिल्द २५, पृष्ठ १९९।

उसपर आक्रमण के पीछे क्या कारण था, इसका सही सही आकलन तो नहीं किया जा सकता, किन्तु अनुमानत: वह रामचन्द्र के त्रिपुरी और बनारस आदि नगरों पर आक्रमण (संभवत: कुछ दिनों तक उनपर अधिकार) के कारण अप्रसन्न था और दक्षिण की लूट से अपने को मालामाल करते हुए दिल्ली की सल्तनत पर अपने द्वारा अधिकार कर लिये जाने की तैयारी के रूप में अग्रसर था। उसने एकदम गुपचुप रूप से, रामचन्द्र को कुछ भी जानने का अवसर न देते हुए, महज थोड़े से सिपाहिओं के साथ, पहाड़ी और जंगली एवं एकान्त के रास्तों के माध्यम से चुपके-चुपके आगे बढ़ते हुए, अपने असली उद्देश्य को छिपाकर, कुछ अन्य ही उद्देश्यों को प्रचारित करते हुए, बहुत ही बड़ी तेजी दिखाते हुए सीधे देवगिरि पहुँच जाने में सफलता [१]पा ली।

राजधानी के पास उसकी लगभग ८००० संख्या वाली घुड़सवार सेना के मुकाबले रामचन्द्र, किसी भी पूर्व तैयारी के अभाव में, केवल ४००० वाली सेना के साथ युद्ध करके सफल होता, यह असंभव था। वह हारा और भागकर अपनी राजधानी देवगिरि के किले में छिप गया। वह किला भी न तो किसी बड़ी चहारदीवारी वाला था और न उसकी चारों ओर कोई खायी ही बनी थी। इस प्रतीक्षा में कि उसका पुत्र शंकरदेव और कुमक लेकर उसकी सहायता में आ ही रहा होगा, रामचन्द्र ने किले में कुछ दिनों बिताया। किन्तु वहाँ रसद की कमी होने के कारण उसने अलाउद्दीन के सामने विवश होकर संधि का प्रस्ताव भेजा। १५०० पाउण्ड (लगभग ७ क्विंटल) सोना, बहुत बड़ी मात्रा में मोती और अन्य रत्न, चालीस हाथी और कई हजार घोड़ों को लेने की शर्त पर अलाउद्दीन संधि हेतु राजी हो गया[२]। रामचन्द्र ने अपनी एक पुत्री भी सौंप देने का वादा किया। साथ ही उसने यह भी स्वीकार किया कि एलिचपुर जिले से उसे जो भी सालाना कर प्राप्त होता था, उसके बराबर की धनराशि वह अलाउद्दीन को सर्वदा देता रहेगा।

किन्तु इसी बीच शंकरदेव देवगिरि पहुँच गया और उसकी अस्वीकृति के कारण सारा संघर्ष पुन: प्रारंभ हो गया। मुसलमानी इतिहासकारों का इस बात पर एकमत नहीं है कि वास्तव में यादव राजकुमार के पहुँचने के बाद घटनाओं का क्या और कैसा क्रम रहा। फिरिश्ता के अनुसार, रामचन्द्र के परामर्श के विरुद्ध शंकरदेव ने युद्ध जारी रखने पर जोर दिया। किन्तु यादव सेनाएँ पुन: पराजित हुईं और दुबारा अलाउद्दीन ने वहाँ से अपने लौटने की शर्तें और भी कड़ी कर दीं।

वास्तव में हिन्दू राजाओं की सोच में कमी और दूरदृष्टि का अभाव था। उस समय दक्षिण भारत में चार प्रमुख राजवंश थे–देवगिरि के यादव, वारंगल के काकतिय, दोरसमुद्र

---

१. याजदानी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ५५२।
२. याजदानी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ५५२; किन्तु रामगोपाल भण्डारकर अपनी पुस्तक 'दि अर्ली हिस्ट्री ऑफ् दि डेकन में इन विभिन्न वस्तुओं की मात्रा कुछ भिन्न रूप में बताते हैं। पृष्ठ १२९, सुशील प्रकाशन।

के होयसड़ और मदुरै-उच्छंगी के पाण्ड्य। उत्तरी भारत में मुसलमानों के पूरी तरह स्थापित और आच्छादित हो जाने के बाद भी उनसे संभावित खतरों का उन्होंने न तो सही-सही आकलन किया और न उनके लिए कोई तैयारी ही थी। प्रत्युत्, वे आपस में ही एक दूसरे के विरुद्ध आक्रमण और प्रत्याक्रमण में लगे रहकर व्यर्थ ही अपनी सारी ऊर्जा गंवाते रहे। यह प्रवृत्ति उनकी आदत और सामाजिक रीति सी बन गयी थी, जिसका वे त्याग नहीं कर सके। दक्षिण भारतीय शासक ही नहीं, अपितु उत्तर भारतीय शासकों ने भी ११वीं-१२वीं शताब्दियों में वही गलती की थी और उनके आपसी मनमुटाव, वैर, व्यर्थ की ईर्ष्याओं और संघर्षों के बीच सारा उत्तरभारत मुसलमानों के अधिकार में जा चुका था। इस समय न तो कोई चाणक्य था और न चंद्रगुप्त, न कोई चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य था और न कोई मिहिरभोज। रामचन्द्र ने जब उत्तरभारत पर अपना धावा बोला था, तभी उसको दिल्ली सल्तनत अथवा कड़ा-मानिकपुर के गवर्नर अलाउद्दीन की महत्त्वाकांक्षी सत्ताओं का अनुमान अवश्य हुआ होगा। किन्तु वह चेता नहीं। उसने न तो विंध्य की पहाड़ियों वाले दर्रों की किसी सुरक्षा का प्रयत्न किया, न कहीं किलेबन्दी की और न दक्षिणापथ में प्रवेश करने वाले रास्तों पर कहीं अपनी सैनिक टुकड़ियाँ नियुक्त कीं। उसके पास गुप्तचरों के जाल का भी अभाव था। फलस्वरूप, जब अलाउद्दीन ने अपना धावा बोला तो वह एकदम अपनी संरक्षा के लिए तैयार नहीं दिखा। हुआ वही जो होना था–पराजय, अपमान और आत्मसमर्पण।

आठ-नौ वर्षों तक रामचन्द्र अलाउद्दीन से होने वाली अपनी संधि की शर्तों का पालन करता रहा। किन्तु मुसलमान लेखकों का यह कथन है कि अपने पुत्र शंकरदेव के दबाव में आकर उसने प्रतिवर्ष भेजी जाने वाली भेंट भेजनी बन्दकर दी। परिणामस्वरूप-१३०७ ई० में मलिक काफूर के नेतृत्व में उसने यादवों को दण्डित करने हेतु एक सेना दुबारा भेज दी। हसन निजामी नामक इतिहासकार तो यह कहता है रामचन्द्र ने चुपके से अलाउद्दीन के पास यह संदेश भेजा था कि वह वस्तुत: अपने **युवराज** शंकरदेव का कैदी हो चुका है और उसी के कारण प्रतिवर्ष वाली भेंट दिल्ली भेजी नहीं जा सकी है। इस कथन में कुछ सच्चाई इस कारण प्रतीत होती है कि जब रामचन्द्र (रामदेव) पकड़कर दिल्ली ले जाया गया तो अलाउद्दीन ने उससे बहुत खराब बर्ताव नहीं किया। बल्कि उसने उसका राज्य लौटा दिया और गुजरात में नवसारि का इलाका भी उसे जागीर के रूप में दे दिया। फलत:, रामचन्द्र जीवन भर अलाउद्दीन का भक्त बना रहा। उसकी मृत्यु संभवत: १३११ ई० में हुई।

यादव राज्य का अन्त

रामचन्द्र की मृत्यु के बाद उसका जेठा पुत्र शंकरदेव उसका उत्तराधिकारी हुआ। वह उसके **युवराज** के रूप में पहले ही शासन का अनुभव प्राप्त कर चुका था। अलाउद्दीन के सामने अपने पिता द्वारा किये गये आत्मसर्पण का वह सर्वदा ही विरोधी

रहा था और राजा होते ही उसने अपनी स्वतंत्रता घोषित कर दी । किन्तु अलाउद्दीन के मुकाबले उसकी सैनिक अथवा भौतिक शक्ति और साधनसंपन्नता बिल्कुल ही नगण्य थी और जब पुन: मलिक काफूर भेजा गया तो शंकरदेव युद्ध में हारा और मार डाला गया[१] । देवगिरि का राज्य दिल्ली सल्तनत के एक भाग के रूप में शासित होने लगा । किन्तु कुछ ही दिनों के भीतर मलिक काफूर को दिल्ली लौटना पड़ा । उसकी जगह पर ऐनुल-मुल्क देवगिरि का शासक हुआ, किन्तु उसे भी दिल्ली बुला लिया गया । इसे अपना मौका मानकर शंकरदेव के दामाद हरपालदेव ने पुन: एक बार विद्रोह का झण्डा उठा लिया । वह केवल दो वर्षों तक स्वतंत्र रहा और दिल्ली के नये सुल्तान कुतुबुद्दीन मुकारकशाह ने स्वयं देवगिरि पर एक बार और चढ़कर १३१८ ई० में हरपालदेव को पराजित कर उसके शरीर की पूरी खाल उसके जीते जी ही खींचकर उसे मरवा डाला[२] ।

प्रशासन और संस्कृति

पञ्चम भिल्लम के बाद यादव राज्य का स्वरूप तो उस साम्राज्य जैसा ही हो गया था, जैसा राष्ट्रकूटों अथवा चालुक्य साम्राज्यों का था । किन्तु उसके पूर्व वह एक छोटा सा सामन्त क्षेत्र मात्र था जो कई सौ वर्षों तक उन दोनों साम्राज्यभोगी सत्ताओं के अधीन, संभवत: आवश्यक होने पर उनकी सैनिक सेवा में संलग्न रहते हए, बना रहा । सिंहण और उसके उत्तराधिकारिओं के समय यादवों के विशाल क्षेत्रों में दक्षिणी गुजरात, मध्यप्रदेश और विदर्भ के मराठीभाषी क्षेत्र, बम्बई के पास वाले मराठी क्षेत्र, पुरानी हैदराबाद की रियासत के आधे पश्चिमी भाग तथा आधुनिक कर्नाटक के समूचे प्रदेश सम्मिलित थे । इसे सचमुच ही साम्राज्य कहा जा सकता है । पूर्वी और दक्षिण आन्ध्रप्रदेश का वारंगल से शासन करने वाला काकतिय राज्य यादवों की अधिसत्ता तो स्वीकार करता था, किन्तु अपने आंतरिक शासन में वह पूरी तरह स्वतंत्र था और यादव राजाओं का उनके आन्तरिक मामलों अथवा प्रशासन में कोई हस्तक्षेप नहीं था । उधर यादव साम्राज्य की सीमा के भीतर ऐसे भी अनेक सामन्ततंत्री क्षेत्र थे, जो उसकी अधिसत्ता तो स्वीकार करते थे, किन्तु उनके अपने निजी अधीनसामन्त भी थे और वे भी अपने आन्तरिक प्रशासन में करीब-करीब पूरी तरह स्वतंत्र थे । ऐसे क्षेत्रों में खानदेश और विदर्भ पर शासन करने वाले खोलेश्वर, कर्नाटक के रट्ट, गुत्त और कदम्ब आदि थे, जो अधिराज को सालाना कर और भेंट देते थे, और जब भी आवश्यक हो तो वे यदि अपनी सेनासहित सम्राट् के युद्धों में भाग लेने को बुलाये जाँय तो सर्वदा सैनिक सेवा देने हेतु तैयार रहते थे । खोलेश्वर वह स्वतंत्र सैनिक सरदार था, जिसे अपनी सैनिक सेवा के बदले विदर्भ (बरार) की अतिरिक्त जागीरदारी प्राप्त हुई थी । इन सामन्तों के अधिकारों में यहाँ तक शामिल था कि वे

---

१. इलियट ऐण्ड डाउसन्, जिल्द ३, पृष्ठ ७७ ।

२. रा० गो० भण्डारकर, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ १३० ।

स्वतंत्ररूप से अपने क्षेत्रों की भूमि का दान कर सकते थे। किन्तु यदि कोई गवर्नर उनके क्षेत्रों की भूमि का दान करना चाहता था तो उसे उनकी स्वीकृति लेनी पड़ती[१] थी।

इन जागीरदारों को कभी कभी प्रांतीय गवर्नरों के रूप में भी हम पाते हैं। वे प्राय: सैनिक कला में दक्ष होते थे और **दण्डनायक** अथवा **महादण्डनायक** जैसी उपाधियों से विभूषित थे। यादव साम्राज्य में जैसे उत्तरदिशा का प्रांतीय गवर्नर खोलेश्वर और उसके पुत्र (रामचन्द्र) थे, वैसे ही दक्षिणी प्रांतों का गवर्नर विज्जण था, जो छोटे-छोटे उपद्रवी सामन्तों को दबाकर उन्हें समाप्त कर देने हेतु विशेष नाम कमा चुका था। ये गवर्नर राजकीय करों की वसूली करके उन्हें केन्द्रीय कोषागार में भेजते थे, स्थानीय उपद्रवों को शान्त करते थे, राजाज्ञा प्राप्त होने पर या तो केन्द्रीय सेनाओं के साथ अथवा अकेले-अकेले भी पार्श्ववर्ती शत्रु राजाओं के विरुद्ध युद्धों में भाग लेते थे और स्वयं बड़े बड़े सामन्तों की तरह अपना दरबार लगाते थे। उनके दरबारों की भी वैसी ही शानशौकत होती थी, जैसी केन्द्रीय राजदरबार की थी।

किन्तु इस बात की यादव अभिलेखों से कोई जानकारी नहीं है कि क्या राष्ट्रकूट और चालुक्य साम्राज्यों की तरह यादव साम्राज्य में भी **राष्ट्र, मण्डल, विषय** और **भुक्ति** जैसी छोटी और स्थानीय इकाइयाँ थीं या नहीं। किन्तु यादव साम्राज्य के वृहद् आकार को देखते हुए यह कल्पना की जा सकती है कि वे इकाइयाँ भी अवश्य ही रही होंगी।

ऐसी दशा में यह अनुमान भी लगाया जा सकता है कि सारे प्रशासन को चलाने हेतु केन्द्रीय नौकरशाही का एक वृहद् संगठन रहा होगा, जो दूर-दूर तक की समस्याओं का समाधान करता हो। मुख्यमंत्री अथवा मन्त्रिमण्डल नामक किसी प्रधान शासकीय संस्था की कोई शास्त्रीय अनुशंसा होने का भी इस समय कोई विधान नहीं प्राप्त होता। तथापि ऐसे अनेक बड़े अधिकारिओं के उल्लेख प्राप्त होते हैं, जो मंत्रिओं जैसे ही रहे प्रतीत होते हैं। जब १०६३ ई० में यादवों की सत्ता एक छोटी सी सामन्तसत्ता मात्र थी, उनके सात बड़े बड़े अधिकारिओं के पदनाम ज्ञात होते हैं। उनमें **महाप्रधान** (प्रधानमंत्री), **सांधिविग्रही** (विदेशमंत्री), **महामात्य** (राजस्वमंत्री), **महाप्रचण्डदण्डनायक** (युद्धमंत्री और मुख्य सैन्याधिकारी) और **पटलकरणि** (कागजपत्रों के कार्यालय का मंत्री) सर्वाधिक प्रसिद्ध[२] हैं। १०६९ ई० के आते आते इनमें **पण्डित** (धार्मिक मामलों के मंत्री) और **प्राड्विवाक** (न्यायमंत्री) के नाम और जुड़ गये। अनुमानत: ये सभी आगे भी यादव साम्राज्य के सम्बन्धित बड़े बड़े पदों पर अवश्य बने रहे होंगे।

विज्जण, टिक्कमरस और पुरुषोत्तम जैसे प्रांतीय गवर्नरों को भी **महाप्रधान** के विरुद प्राप्त[३] थे। इन बड़े-बड़े अधिकारिओं के लिए आवश्यक योग्यताओं में सैनिकता

---

१. हरतहल्ली ताम्रफलक, जर्नल् ऑफ् दि बाम्बे ब्राञ्च ऑफ् दि रायल् एशियाटिक सोसायटी, जिल्द १५, पृष्ठ ३८६।

२. याजदानी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ५५९।

३. वहीं।

की कला में उनका दक्ष होना आवश्यक रहा प्रतीत होता है। प्रथम यादव सम्राट् पञ्चम भिल्लम का मंत्री जैत्रपाल जितना बड़ा राजनीतिज्ञ था उतना ही बड़ा सेनापति भी था। ऐसे सभी मंत्रिओं को **दण्डनायक** और **महामण्डलेश्वर** कहा जाता था। महादेव और रामचन्द्र के समय के हेमाद्रि जैसे पण्डित मंत्री भी हस्तिविद्या के शास्त्रज्ञान और प्रयोग में समानरूप से पारंगत थे। उन्होंने झाड़ी जिले के विद्रोह को सैन्यसंचालन करते हुए दबाया भी था[१]। कृष्ण के मंत्री नागरस एक बहुत बड़े विद्वान् होते हुए भी एक अच्छे सैनिक थे[२]। सिंहण के ज्योतिषी चांगदेव भाला चलाने में अत्यन्त ही कुशल[३] थे। अनेक अभिलेख इस बात का उल्लेख करते हैं कि शासकगण अपने मंत्रिओं को अपने हृदय के समान स्वीकार करते थे।

जैसा पीछे कहा जा चुका है, यादव प्रशासन की बीच वाली प्रशासन तन्तुओं का कोई विशेष ज्ञान प्राप्त नहीं है। नीचे की ग्रामपञ्चायतों का प्रशासन भी अन्य साम्राज्यों की तरह ही रहा होगा। ग्राम सभाओं की अदालतों को **चावडि** कहा जाता था। इनके सदस्यों में ग्रामप्रधान सहित ग्रामपञ्चायत के प्रतिनिधि होते थे, जो संभवत: छोटे-छोटे दीवानी के मुकद्दमे ही देखते थे। किन्तु ग्रामप्रधान और ग्रामसभा के मुख्य कार्य गांव में शान्ति और सुव्यवस्था बनाये रखना ही थे। ग्रामप्रधान को गांव से प्राप्त होने वाले राजकीय राजस्व की उगाही भी करनी होती थी तथा उसे वह केन्द्रीय राजकोष तक भेजने का उत्तरदायित्व भी संभालता था।

राजस्व के मुख्य स्रोतों में खानों के एकाधिकार, गुप्तधन पर राज्य का अधिकार, जंगली भूमि, खिलभूमि, अकृष्टभूमि, बाग-बगीचों, तालाब और पोखरों, जंगलों और व्यक्तिगत स्वामित्त्व के बाहरवाले वृक्षों आदि की गिनती उन दानपरक अभिलेखों के आधार पर की जा सकती है, जो दान देते समय राज्य की ओर से दानग्रहीताओं को हस्तान्तरित कर दी जाती थीं। राजकीय आय का मुख्य स्रोत कृषि थी, जिसकी उपज के निश्चित भागों को कृषकों द्वारा राज्य को दे दिया जाता था। किन्तु कृषि की पूरी उत्पत्ति पर न तो राज्य का अधिकार था और न दानग्रहीताओं का। जोती जाने वाली सारी व्यक्तिगत जमीन व्यक्तिगत स्वामित्त्व में होती थी। राज्य **उद्रंग, उपरिकर** और **विष्टि** नामक अतिरिक्त करों की भी वसूली करता था। पथकर और आबकारी कर तथा अनेक प्रकार के व्यापारिक **शुल्क** भी राजकीय आय के अन्य स्रोत थे। यद्यपि इस बात का कोई प्रत्यक्ष उल्लेख तो नहीं है कि विदेशी व्यापार से किस मात्रा में अथवा कौन से कर वसूल किये जाते थे, हमें यह ज्ञात है कि यादव साम्राज्य का पश्चिमी विस्तार समुद्रों तक था तथा **भरुच** जैसे अनेक बन्दरगाह भी उनके अधिकार में थे। विदेशी जहाजों के वहाँ आने, उनके टिकने

---

१. जर्नल् ऑफ् दि रायल् एशियाटिक सोसायटी, जिल्द ५, पृष्ठ १८३।

२. इण्डियन् ऐण्टीक्वेरी, जिल्द ७, पृष्ठ ३९।

३. वहीं, जिल्द ७, पृष्ठ ३९।

और उनके माल के भीतरी क्षेत्रों में प्रवेश होने आदि की व्यवस्थाओं से भी उन्हें भरपूर आय होती रही होगी।

यादव शासनान्तर्गत महाराष्ट्र और कर्नाटक में आर्थिक संगठनों में **वीरबङ्ञ** नामक संस्था अथवा **श्रेणी** के उल्लेख सर्वप्रमुखरूप में प्राप्त होते हैं। अब भी इसका मुख्य केन्द्र अहिहोड़ नामक नगर में ही था और इसके व्यापारी सदस्यों की संख्या ५०० थी, जो संभवत: उनकी कार्यकारी समिति थी। सभी मुख्य नगरों में इसकी शाखाएँ फैली हुई थीं तथा व्यापार और उद्योग से सम्बन्धित कोई भी व्यवसाय अथवा आजीविका ऐसी नहीं थी, जो इसके संरक्षण क्षेत्र से बाहर रही हो। संत ज्ञानेश्वर लिखित **ज्ञानेश्वरी** में यादवों द्वारा प्रचारित (मुद्रित) और उनके साम्राज्य के भीतर प्रसारित स्वर्ण सिक्कों का एक उल्लेख हुआ है। इसकी पुष्टि कृष्णा जिले के रचपटनम् नामक स्थान से प्राप्त सिक्के के एक ढेर से [१]हुआ है। इन्हें **पद्म टंक** प्रकार के सिक्कों से अभिहित किया गया है। उनका भार १७ ग्रेन है और उनपर विभिन्न यादव राजाओं के नाम अंकित हैं। अबतक सिंहण, कृष्ण, महादेव और रामचन्द्र के द्वारा मुद्रित सिक्कों की पहचान की जा [२]चुकी है[२]। किन्तु यादवों के चाँदी अथवा तांबे के कोई सिक्के नहीं मिलते। छोटे-छोटे सभी लेन-देन वस्तुविनिमय द्वारा ही किये जाते थे।

मुसलमानों ने देवगिरि की लूट से १४वीं शती में जो विशाल धनसम्पत्ति–सोना, मोती, बहुमूल्य रत्न, हाथी, हजारों घोड़े और प्रतिवर्ष की भेंट–लूटी, उससे स्पष्ट है कि यादवराज्य में धन सम्पत्ति की कमी नहीं थी। देवगिरि नगर के मुख्यबाजार सुनारों, सामुद्रिक रत्नों के व्यापारिओं, जौहरिओं तथा महीन वस्त्रों और मलमल के व्यापारिओं से सजे हुए थे। निश्चित ही, उनके ग्राहक और उपयोग करने वाले लोग भी वहाँ रहे होंगे।

धार्मिक और सामाजिक दृष्टि से यादवकाल पूरी तरह पौराणिक धर्म की मान्यताओं के रंगों में रंग चुका था। बौद्धधर्म का अब प्राय: अवसान हो चुका था और नवसुधारक हिन्दू धर्म ने बुद्ध को अपना एक अवतार बनाते हुए बौद्धधर्म को मानों आत्मसात करते हुए लील ही लिया था। अब न तो उसके विहार थे, न भिक्षु और न जनता में उनका कोई संगठन अथवा संघ। हिन्दू धर्म के मुकाबले में बचा था केवल जैनधर्म, जो अपने घोर तपस्वी आचारों के कारण दीर्घजीवी बना हुआ था। किन्तु सामाजिक दृष्टि से दोनों घुलमिल चुके थे और उनके पारस्परिक विवाहों और अर्धधार्मिक और अर्धसामाजिक आयोजनों में परस्पर सम्मिलन विद्यमान थे। समसामयिक अभिलेखों में भी पौराणिक उल्लेखों के अनुरूप शिव, ब्रह्मा, विष्णु, जिन और बुद्ध-सबको-उस परम तत्त्व अर्थात्

---

१. अ०स० अल्तेकर, याजदानी सं०, दि अर्ली हिस्ट्री ऑफ् दि डेकन, पृष्ठ ५७३।
२. जर्नल् ऑफ् रॉयल् एशियाटिक सोसायटी, १९२५, पृष्ठ १६।

आत्मा का एकरूप मात्र बताया गया है[१] । इस समय के अनेक दानदाता ऐसे दिखायी देते हैं जो हिन्दू मंदिरों और जैन बसतियों को एक ही साथ दान देते थे[२] । किन्तु बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में वीरशैव संप्रदाय के कारण साधारण समाज में पूरी तरह व्याप्त रहने वाली धार्मिक सहिष्णुता की उस भावना को कुछ आघात सा लगा, जब उसके अनुयायियों ने कुछ उग्ररूप में जैनों का विरोध करना प्रारंभ कर दिया । इसका एक कारण तो यह था कि इन दोनों संप्रदायों के अधिकांश अनुयायी और संरक्षक वैश्य समाज के वे ही लोग थे, जो उन्हें समानरूप से संरक्षण देते थे । वास्तव में यह संरक्षण संबंधी प्रतियोगिता ही थी, जो इन संघर्षों के मध्य में थी । तथापि धार्मिक उत्पीड़न के कोई प्रमाण प्राप्त नहीं होते ।

मंदिर अब भी सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक जीवन के केन्द्र में थे । प्राप्त होने वाले दानों से वे आगमों, पुराणों और **महाभारत** के पाठों द्वारा धर्मसंस्कृति की परंपरा को आगे बढ़ाते थे; विद्यार्थिओं, साधुओं, अपाहिजों, यायावर लोगों और पासपड़ोस के निवासिओं को अपने अन्नसत्रों के माध्यम से भोजन देते थे; तथा गायन, वाद्य और नृत्य की विद्याओं का प्रश्रय और पल्लवन करते थे । प्राय: प्रत्येक शासक विभिन्न धर्मों और देवताओं के मंदिरों को सोद्देश्य दान देते थे और मंदिर भी उद्दिष्ट कार्यों के संचालन में ही उन दानों का उपयोग करते थे । धीरे धीरे इस समय के देवताओं में विट्ठलदेव का स्थान महाराष्ट्र में सर्वोपरि हो गया था और उनकी पूजा बहुव्यापक हो चुकी थी । महाराष्ट्र में पण्ढरपुर के विट्ठल की मान्यता तो इतनी बढ़ चुकी थी कि दूर-दूर से लोग उनके दर्शन हेतु आते थे । यादवराज कृष्ण के मल्लिसेट्ठि नामक कर्नाटक वाले दक्षिणी प्रांत के गवर्नर ने भी उस मंदिर को ग्रामदान दिया था[३] ।

साधारण समाज की सामाजिक और धार्मिक मान्यताओं में पुराणों, निबन्धों और धर्मशास्त्रों की अनुशंसाओं के जोर दिखायी देते हैं । पुराने वैदिक यज्ञ-यागों की जगह अब व्रत, उपवास, तीर्थ और दान की प्रथाओं का जोर बढ़ चुका था[४] । स्वयं महादेव और रामचन्द्र के मंत्रिन् हेमाद्रि ने अपने **चतुर्वर्गचिन्तामणि** नामक महाग्रंथ में व्रत, दान, तीर्थ और मोक्ष तथा प्रायश्चित्त आदि विषयों की विशद चर्चाएँ की हैं । इस युग में भक्ति संप्रदाय का जोर था तथा सुदूर दक्षिण में **नायनार** नामक शैवभक्तों और **आ(ड़)वार** नामक वैष्णवभक्तों के गीत, गायन और नर्तन मंदिरों की दिनचर्या के अटूट अंग के रूप में उपस्थित हुए । सामाजिक क्षेत्रों में यद्यपि पर्दा की प्रथा का तो अभाव था, किन्तु सती के

---

१. शिवाय धात्रे सुगतायविष्णवे जिनाय तस्मै सकलात्मने नम: ।
एपिग्राफिया कर्नाटिका, जिल्द १२, (टी एम्), सं० ९ ।

२. एपिग्राफिया कर्नाटिक, जिल्द ९, नीलगुण्ड, सं० ८४ ।

३. इण्डियन् ऐण्टीक्वेरी, जिल्द १४, पृष्ठ ६९ ।

४. याजदानी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ५६८ ।

उदाहरण प्राप्त होते हैं। रामचन्द्र की मृत्यु के बाद उसकी कई रानियों ने उसकी चिता पर जलकर अपने प्राण दे दिये थे। यह मत व्यक्त है कि यह प्रथा केवल क्षत्रियों में ही थी, अन्य वर्णों में नहीं।

साहित्यिक क्रियाकलापों के केन्द्र में **अग्रहार** ग्राम हुआ करते थे। उनके प्राप्तकर्ता अपने घरों में ही विद्यालय चलाते थे। साथ ही, विशेष दानों के माध्यमों से मंदिरों में भी विभिन्न शास्त्रों के अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्थाएँ चलती थीं। महाराष्ट्र (खानदेश) के पाटन नामक स्थान में प्रसिद्ध खगोलशास्त्रीय भास्कराचार्य के पौत्र चांगदेव ने उनके ग्रंथों सहित अन्य खगोलशास्त्रीय ग्रंथों के अध्ययन हेतु एक महाविद्यालय की स्थापना की थी, जिसे राज्य के अतिरिक्त व्यक्तिगत लोगों द्वारा भी प्रभूत दान प्राप्त हुए थे[१]। वागली नामक एक दूसरा नगर भी यादवराज्य में उच्चशिक्षा का एक अन्य केन्द्र था।

यादवों के समय **कविचक्रवर्ती** त्रिविक्रम नामक एक ब्राह्मण विद्वान् का तो सारा का सारा परिवार ही विद्वान् लेखकों से भरा हुआ था। उन्होंने **दमयन्ती कथा** नामक संस्कृत ग्रंथ की रचना की। उनके पुत्र **विद्यापति** भास्करभट्ट ने परमारराज भोज का आश्रय पाया था। भास्करभट्ट के प्रपौत्र **कवीश्वर** महेश्वराचार्य ने **शेखर** और **लघुटीका** नामक खगोलशास्त्रीय ग्रंथों की रचना की (११२५ ई०)। उनके ही पुत्र थे प्रसिद्ध खलोगशास्त्री भास्कराचार्य, जिन्होंने **सिद्धान्तशिरोमणि** और **करणकुतूहल** नामक गणित और अलजबरा (बीजगणित) के बहुप्रसिद्ध ग्रंथों की रचना की। भास्कराचार्य को उनकी प्रगाढ़ विद्वता के कारण **सर्वज्ञ** और **विद्यासद्** कहा गया। वे सांख्य और वेदान्त शास्त्रों में भी पारंगत थे। उनके पुत्र लक्ष्मीधर और पौत्र चांगदेव क्रमश: जैतुगी और सिंहण नामक यादव शासकों के राजज्योतिषी थे। भास्करचार्य के भाई के पौत्र अनन्तदेव ने भी सिंहण का आश्रय पाया था और उन्होंने वराहमिहिर रचित **वृहज्जातक** तथा ब्रह्मगुप्त रचित **ब्रह्मस्फुटसिद्धान्त** पर टीका ग्रंथों की रचना की थी। सिंहण के अधीन ही **संगीतरत्नाकर** नामक संगीतशास्त्रीय ग्रंथ की रचना की गयी, जो दक्षिण भारतीय और उत्तरभारतीय दोनों ही क्षेत्रों की संगीत प्रवृत्तियों और सिद्धान्तों का भी उल्लेख करता है।

यादव युग के सर्वप्रसिद्ध लेखक तो हेमाद्रि ही थे। वे महादेव के **मंत्रिन्** होने के साथ ही उसकी हस्तिसेना के सेनानायक भी थे और हस्तिविद्या के पूर्णपण्डित थे। **व्रतखण्ड, दानखण्ड, तीर्थखण्ड** और **मोक्षखण्ड** वाले चार ग्रंथों से युक्त उनका **चतुर्वर्गचिन्तामणि** नामक धर्मशास्त्रीय निबन्धग्रंथ उस समय की अत्यन्त ही प्रमुख रचनाओं में एक है। उनके द्वारा प्रणीत अन्य ग्रंथ थे **कालनिर्णय, तीर्थनिर्णय, आयुर्वेदरसायन, दानवाक्यावली** और **पर्जन्यप्रयोग**। ये ग्रंथ उनकी अद्भुत मेधा और कर्तृत्वशक्ति का परिचय देते हैं। वास्तव में वे बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे।

---

१. एपि० इण्डिका, जिल्द १, पृष्ठ ३४१।

यादवकाल में कन्नड़ साहित्य की बहुत रचनाओं का ज्ञान नहीं प्राप्त होता। वास्तव में उनका साम्राज्य क्षेत्र उत्तरी और दक्षिणी महाराष्ट्र, पश्चिमी आन्ध्रप्रदेश और कर्नाटक के उत्तरी भागों तक ही सीमित था और उनकी राजधानी देवगिरि भी अपेक्षाकृत उत्तर में ही पड़ती थी। अत: उनके क्षेत्र की स्थानीय भाषा मराठी ही थी। उनके अनेक अभिलेख भी मराठी भाषा में ही लिखे हुए प्राप्त हुए हैं। मराठी लेखकों में १३वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में होने वाले सबसे मुख्य थे ज्ञानेश्वर, जिन्होंने **श्रीमद् भगवद्गीता** पर **ज्ञानेश्वरी** नामक टीका १२९० ई० में लिखी। नामदेव और जनाबाई उस समय के प्रसिद्ध भक्तकवि हुए, जिन्होंने अपने गीतों की रचना मराठी भाषा में की।

●

अध्याय ११

वारंगल का काकतिय वंश

काकतिय वंश की उत्पत्ति कब, कैसे अथवा किससे हुई, यह सही-सही निश्चित नहीं किया जा सकता है। किन्तु इतना निश्चित है कि इस वंश के प्रारंभिक शासक कल्याणी के चालुक्य शासकों के सामन्तरूप में, उनकी अधिसत्ता में रहकर, कभी-कभी उनके युद्धों में भाग लेते रहे। **त्रिभुवनमल्ल** विक्रमादित्य (षष्ठ) के समय का द्वितीय बेट नामक काकतिय वह पहला सामन्त शासक था, जिसके दो अभिलेख[१] प्राप्त हुए हैं। उनमें उसके पितामह प्रथम बेट की सैनिक विजयों के उल्लेख किये गये हैं। किन्तु उस छोटे से तेलंगाना के किसी सामन्त की बड़ी-बड़ी विजयों के उल्लेख उसकी निजी उपलब्धियों के द्योतक नहीं माने जा सकते। वे विजयें उसके अधिराज चालुक्य सम्राट् की ओर से ही की गयी होंगी। वह सम्राट् **आहवमल्ल** प्रथम सोमेश्वर ही था, जिसने चोड़ क्षेत्रों पर धावा बोला था[२]।

बेट के बाद उसका पुत्र प्रोल हुआ, जिसने अधिराज सोमेश्वर के कुछ उपद्रवी सामन्तों को दबाने के बदले उससे अनुमकोण्डविषय को अपनी जागीर के रूप में प्राप्त किया। यही छोटी सी रियासत आगे चलकर एक बड़े काकतिय राज्य के रूप में परिणत होकर आन्ध्र प्रदेश का गौरव बनी। काञ्ची के एकाम्रनाथ मंदिर से प्राप्त एक अभिलेख तथा स्वयं प्रोल के पौत्र गणपतिदेव के मोतुपल्ली अभिलेख[३] से ज्ञात होता है कि प्रोल ने सिंचाई की सुविधा हेतु केसरी अथवा जगतिकेसरी नामक एक तालाब खुदवाया।

१०७५ ई० में प्रोल की मृत्यु के बाद उसका पुत्र द्वितीय बेट उसका उत्तराधिकारी हुआ। उसके समय एक तो उसके ही अधिकार क्षेत्रों में अव्यवस्था फैल गयी और दूसरे चालुक्य साम्राज्य की राजगद्दी हेतु उत्तराधिकार का युद्ध छिड़ गया। उसके क्षेत्रों के मध्य की अव्यवस्था का कारण यह अनुमानित किया गया है कि उपर्युक्त उत्तराधिकार के युद्ध में बेट ने कदाचित् सोमेश्वर का पक्ष लिया, जिससे अप्रसन्न होकर विक्रमादित्य ने बेट की छोटी सी जागीरदारी वाले राज्य के आसपास के सरदारों को उसके विरुद्ध उभाड़ दिया। किन्तु अन्ततः बेट ने विक्रमादित्य के सम्मुख झुककर क्षमा याचना कर ली। बदले में

---

१. कार्पस् ऑफ् इन्स्कृप्शन्स् इन् तेलंगाना डिस्ट्रिक्ट, जिल्द ७, पृष्ठ २५ और आगे।

२. याजदानी सं०, दि अर्ली हिस्ट्री ऑफ् दि डेकन, पृष्ठ ५७८।

३. इऐ०, जिल्द २१, पृष्ठ १९७ और आगे तथा एपि० इण्डिका, जिल्द १२, पृष्ठ १८८ और आगे।

उसे सब्बि १००० की जागीरदारी दी गयी, जिसमें अनुमकोण्ड और कोराबी के जिले भी सम्मिलित[१] थे। उसके बाद द्वितीय बेट विक्रमादित्य के मालवा और चोड़ राज्यों के विरुद्ध किये गये अभियानों में भाग लेता रहा।

द्वितीय बेट का उत्तराधिकारी हुआ उसका पुत्र दुर्गनृपति। उसका एकमात्र अभिलेख वारंगल जिले के काजीपेट से प्राप्त हुआ है। किन्तु उससे ऐतिहासिक महत्त्व की कोई सूचना प्राप्त नहीं होती।

१११७ ई० के आसपास दुर्गनृपति के बाद उसका पुत्र द्वितीय प्रोल शासक हुआ। उसके समय के प्राप्त होने वाले दो अभिलेखों में उसकी कुछ विजयों के उल्लेख प्राप्त होते हैं, जो निश्चय ही उसके अधिराज, चालुक्य सम्राट्, की ओर से लड़े गये होंगे। किन्तु न तो यही निश्चित रूप से ज्ञात किया जा सका है कि प्रोल के ये पराजित शत्रु वास्तव में कौन-कौन थे और न यही जाना जा सका है कि इन युद्धों का समय क्या था। असंभव नहीं है कि विक्रमादित्य की मृत्यु के बाद चालुक्य साम्राज्य की उत्तरोत्तर गहराती हुई कमजोरी के कारण उसने अपने शासित क्षेत्रों को और अधिक विस्तृत करने के प्रयत्न किये हों। ११३५ के आसपास तक चोड़ों ने वेंगी वाले उन क्षेत्रों से चालुक्य सत्ता को बाहर निकाल दिया था, जिन्हें षष्ठ विक्रमादित्य के ब्राह्मण सेनापति **दण्डनायक** अनन्तपाल ने अपने स्वामी की ओर से जीतकर चालुक्य शासन के भीतर ला दिया था। पुनः, विक्रमादित्य के उत्तराधिकारी, तृतीय सोमेश्वर, की ११३९ ई० में मृत्यु हो जाने पर तो चालुक्यवंश के सभी सामन्त वंश ही उस साम्राज्य के विभिन्न भागों पर अधिकृत हो जाने का प्रयत्न करने लगे। द्वितीय प्रोल भी क्षेत्रवृद्धि की इस दौड़ में किसी से पीछे नहीं था। उसने गोदावरी और कृष्णा नदियों के बीच पड़ने वाले सभी जिलों पर अपना अधिकार जमा लिया। किन्तु ऐसा कोई भी साक्ष्य नहीं है, जिससे यह निश्चित किया जा सके कि पश्चिम दिशा में उसका भौमिक अधिकारक्षेत्र कहाँ तक विस्तृत था। अपने जीवन के अन्तिम भागों में उसने वेंगी की ओर बढ़ते हुए अपनी विजयों का क्षेत्र और अधिक बढ़ाना चाहा, जो उसके लिए आत्मघाती साबित हुआ। उसी दिशा के अपने शत्रुओं के हाथों वह युद्धस्थल में ही मारा गया[२]। तथापि, द्वितीय प्रोल का महत्त्व इस बात में निहित है कि उसने अपने अनेक युद्धों द्वारा चालुक्य सत्ता के पतन का लाभ उठाते हुए काकतिय वंश के लिए आन्ध्र में एक स्वतंत्र सत्ता की स्थापना में सफलता पायी।

स्वतंत्र काकतिय सत्ता = रुद्रदेव (११६२-११९६ ई०)

द्वितीय प्रोल के पाँच पुत्रों में रुद्रदेव सबसे जेठा था और उसके बाद रुद्रदेव ही

---

१. तेलंगाना इन्स्क्रप्शन्स्, काकतिय, ५५; एइ०, जिल्द ९, पृष्ठ २५६, श्लोक ५।

२. याजदानी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ५८३; साउथ इण्डियन् इन्स्कृप्शन्स्, जिल्द ४, सं० १२४२।

काकतिय राजगद्दी पर बैठा। उसकी उपलब्धियों का विवरण उसके अनुमकोण्ड अभिलेख[१] में प्राप्त होता है। तदनुसार, ११६२ ई० में उसने डोम्मराज, मेडराज और मल्लिगिदेव नामक तीन शत्रुओं को पराजित किया। इनमें डोम्मराज रुद्रदेव के शासन क्षेत्र के ही करीब के करीमनगर जिले का तत्कालीन चालुक्य सम्राट् का एक सामन्त था। किन्तु अन्य दो पराजित सरदारों की सही-सही पहचान नहीं की जा सकती है।

तत्पश्चात् रुद्रदेव ने अपनी निगाहें दक्षिण की ओर फेरीं, जहाँ भीम, गोकर्ण, चोडोदाय और तैलप नामक चार शासकों पर उसके द्वारा विजयें प्राप्त करने के उल्लेख प्राप्त होते हैं। इनमें भीम के विरुद्ध उसके युद्ध का महत्त्व उसकी आगे की सफलताओं के संदर्भ में विशेषरूप से आंका गया है। अनुमकोण्ड अभिलेख के कुल ५५ श्लोकों में कम से कम १२ श्लोक इस संघर्ष के वर्णन में ही खर्च किये गये हैं। उसमें भीम के अनेक कुकृत्यों के विवरण दिये गये हैं, जिनमें चोडोदय और तैलप के क्षेत्रों पर भीमद्वारा बलात् अधिकार भी गिनाये गये हैं। यह भी कहा गया है कि भीम ने अपने भाई को भी विष देकर मार डाला था। ऐसा लगता है कि ये सभी कारण भीम पर रुद्रदेव के आक्रमण को सही ठहराने हेतु बहाने के रूप में ही गिनाये गये हैं। वास्तव में दोनों पक्षों के बीच इस संघर्ष के कारणों के बीज भीम और रुद्रदेव द्वारा चालुक्यों के साम्राज्य-क्षेत्रों पर अपने-अपने अधिकार की आपसी प्रतियोगिता के भीतर ही छिपे थे। रुद्रदेव के उपर्युक्त सभी पराजित शत्रु तेलुगू चोड़ वंश के छोटे-छोटे सामन्त सरदार थे। किन्तु रुद्रदेव की इन तेलुगू-चोड़ सरदारों पर प्राप्त विजयों से उसे कोई भौमिक क्षेत्रवृद्धि का लाभ हुआ, ऐसा स्वीकार नहीं किया गया है।

इसके बाद रुद्रदेव ने आन्ध्र प्रदेश के उन समुद्रवर्ती प्रदेशों की ओर अपनी दृष्टि फेरी, जो वेंगी के चालुक्यों तथा ११३३ ई० में तृतीय सोमेश्वर की मृत्युपर्यन्त कल्याणी के चालुक्य सम्राटों के अधिकार में रह चुके थे। चूंकि रुद्रदेव ने आन्ध्र प्रदेश के उन भागों पर अपने को चालुक्यों का उत्तराधिकारी समझना प्रारंभ कर दिया था, उसके लिए उस दिशा में आगे बढ़ना स्वाभाविक ही था। जब भी अवसर हाथ लगे, वह आगे अपने जीवनपर्यन्त इस प्रयत्न में सफल होने की कोशिशों में लगा रहा। उसने संभवत: ११६२ ई० में पूर्वी वेंगी पर आक्रमण करके समुद्रपर्यन्त के क्षेत्रों को अपने अधिकार में कर लिया और वहाँ भूमिदान दिया[२]। इस प्रकार गोदावरी डेल्टा के आसपास तक के क्षेत्रों के उसके अधिकार में होने के प्रमाण प्राप्त होते हैं। किन्तु गोदावरी डेल्टा पर यह काकतिय अधिकार अल्पकालिक ही साबित हुआ। ११६५ ई० के आसपास द्वितीय राजेन्द्र चोड़

१. इऐ०, जिल्द ९, पृष्ठ ९ और आगे।

२. साउथ इण्डियन् इन्स्कृप्शन्स्, जिल्द ४, ११०७; ऐनुअल् रिपोर्ट्स् ऑन् एपिग्राफी, १८९३ का २५२ वाँ।

(कुलोत्तुंग) ने वहाँ अपने सेनापतिओं के माध्यम से काकतिय अधिकार को चुनौती दी और उसे समाप्त कर डाला। यद्यपि रुद्रदेव ने एक बार और उसे जीत लेने का प्रयत्न किया, उसे कोई स्थायी सफलता हाथ नहीं लगी[१]। किन्तु दक्षिण में कृष्णा नदी के किनारों पर स्थित कुछ छोटे-छोटे राजवंशों की आपसी शत्रुताओं का लाभ उठाते हुए उसने उस दिशा में अपनी अधिसत्ता का विस्तार कर लिया।

रुद्रदेव के शासन के अन्तिम दस वर्षों (११८६-११९६ ई०) का इतिहास अन्धकारमय है। किन्तु इसके पूर्व कि उसके अन्त (मृत्यु) के समय की घटनाओं पर विचार किया जाय, उसके कुछ असैनिक क्रिया-कलापों पर दृष्टिपात करना काकतिय इतिहास में उसके स्थान को निश्चित करने में सहायक होगा। वीरशैव सिद्धान्त के १५वीं शती में लिखे ग्रंथ **शिवयागसार** से ज्ञात होता है कि रुद्रदेव ने अपनी राजधानी अनुमकोण्ड के पास ही ओरुगल्लू नामक एक नये नगर की स्थापना की, जो आगे चलकर उसके उत्तराधिकारिओं के समय काकतिय राज्य के सर्वप्रमुख नगर के रूप में उभरा। गणपतिदेव के गणपेश्वरम् अभिलेख[२] में तो इसके स्थापन हेतु कुछ अन्य नगरों को धराशायी कर दिये जाने का भी उल्लेख है। संभवत: यह उसके द्वारा शत्रुनगरों के विनाश की ओर ही निर्दिष्ट है। रुद्रदेव ने अपने छोटे से राज्य को अपनी विजयों द्वारा विस्तारित कर अपने समय के एक प्रधान राज्य के रूप में प्रतिष्ठापित करने में काफी सफलता पायी। उस उद्देश्य को प्राप्त करने में उस समय चालुक्य साम्राज्य के ढहने का क्रम उसके लिए बहुत ही सहायक सिद्ध हुआ होगा। किन्तु ऐसा उसमें सैनिक और राजनीतिक क्रियाशक्ति के अभाव के रहते कभी भी संभव न हुआ होता। उसने गोदावरी और कृष्णा नदियों के बीच में अपेक्षाकृत एक बड़े राज्य को स्वतंत्ररूप से स्थापित कर दिया। यद्यपि उत्तर-पूर्व में उसे वेंगी और पूर्व के समुद्री तटों को स्थायीरूप से आत्मसात कर लेने में सफलता हाथ नहीं लगी, उसने कोट और नाटवाडि जैसे अन्य सामन्त राज्यों से अपने वैवाहिक सम्बन्धों द्वारा पूर्व में बढ़ाव हेतु अपने उत्तराधिकारिओं के लिए जमीन तैयार तो कर ही दी। उसकी सेवा में अनेक समकालीन सामन्त वंश लगे हुए थे, जिनके सदस्य या तो उसके सेनापति थे अथवा अन्य शासकीय पदों पर नियुक्त थे। उनमें से कुछ अधिकारी तो पितापुत्र क्रम से उसकी सेवा में लगे हुए थे। धार्मिक विश्वासों में रुद्रदेव शैव था और उसने विजित शत्रुओं के नगरों का नाश करके अनेक शिवमंदिरों और नगरों का निर्माण कराया, जिसके उल्लेख गणपतिदेव के गणपेश्वरम् अभिलेख में विशदरूप में प्राप्त होते हैं। उन मंदिरों के नाम उसने अपने नाम पर प्राय: रुद्रेश्वरम् ही रखा।

---

१. याजदानी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ५९२।

२. एइ०, जिल्द ३, पृष्ठ ९०।

कदाचित् उसने ही अनुमकोण्ड के उस एक हजार स्तम्भों वाले मंदिर का भी निर्माण कराया, जिसका मण्डप रुद्रेश्वर नाम से [१]प्रसिद्ध है।

अन्त में रुद्रदेव की मृत्यु का कारण हुआ उसका सेउणदेश के यादव राज्य से राजनीतिक और सैनिक संघर्ष। ११८५-८६ ई० वाले उसके त्रिपुरान्तकम् और द्राक्षाराम से प्राप्त होने वाले अभिलेखों के बाद का कोई भी उसका अभिलेख नहीं प्राप्त होता। चालुक्यों के राजनीतिक उत्तराधिकार के लिए सेउणदेश के यादव शासक जैत्रपाल और आन्ध्र का यह काकतिय शासक, रुद्रदेव, दोनों ही समानरूप से प्रयत्नशील थे। अत: उनमें संघर्ष होना स्वाभाविक था। यह तो ज्ञात नहीं है कि क्या सेउणदेश के शासक ने पूर्व दिशा में बढ़कर अपने क्षेत्रों का विस्तार करना चाहा अथवा रुद्रदेव ने वैसा ही पश्चिम में करने का प्रयत्न किया, किन्तु परिस्थितियों के कारण उन दोनों का टकराना अवश्यम्भावी हो गया था। सिंहण के समय का पाटन अभिलेख कहता है कि उसके पिता जैतुगि (जैत्रपाल) ने "आध्रदेश की रानियों के प्रिय पुरुष के आनन्द की समाप्ति [२]कर दी।" महादेव के **श्रीकरणाधिप** हेमाद्रि ने तो अपने ग्रंथ **व्रतखण्ड** की भूमिका में रुद्रदेव के मारे जाने का स्पष्ट उल्लेख ही [३]किया है।

महादेव (११९५-६-११९८-९ ई०)

रुद्रदेव अपुत्रक था। अत: उसके बाद उसका छोटा भाई महादेव राज्यासनस्थ हुआ। चूंकि उसके समय का केवल एक ही खण्डित अभिलेख प्राप्त हुआ है और उसमें भी किन्हीं विशेष घटनाओं की चर्चाएँ नहीं हैं, महादेव के समय के इतिहास की कोई जानकारी नहीं हो पाती। किन्तु कुछ अन्य अभिलेखों से ज्ञात होता है कि सेउण राज्य की राजधानी पर आक्रमण करते समय वह युद्धभूमि में हाथी की पीठ पर बैठे ही मार डाला गया था[४]। इसके पूर्व वाले युद्ध में रुद्रदेव की मृत्यु के बाद उसका भतीजा (महादेव का पुत्र) गणपति पकड़कर यादव शासक द्वारा कारागार में डाल दिया गया था। वास्तव में यादव अभिलेखों में इस बात का बड़ा घालमेल किया गया है कि रुद्र को मारने वाला और गणपति को जेल में डालने वाला जैत्रपाल था अथवा सिंहण[५]। जो भी हो, महादेव के मारे जाने के बाद यादवराज ने गणपति को जेल में बनाये रखना राजनीतिक बुद्धिमानी

---

१. याजदानी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ५९७।
२. एइ०, जिल्द २, पृष्ठ ३३८ और आगे।
३. तेलिंगाधिपते: थशोर्विंशसनं रौद्रस्यरुद्राकृते: ।
कृत्त्वा पुरुषमेधयज्ञविधिना लब्ध्वास्त्रिलोकी जय: ।।४४
व्रतखण्ड की यादव प्रशस्ति।
४. एइ०, जिल्द ३, पृष्ठ १०१।
५. ब्यौरों हेतु देखें, याजदानी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ५९८।

नहीं मानी और उसने उसे मुक्तकर तथा अपनी प्रभुसत्ता उससे स्वीकृत कराकर काकतिय राजगद्दी उसे सौंप दी।

गणपतिदेव (११९९-१२६१ ई०)

गणपतिदेव के कैदी जीवन बिताते समय काकतिय राज्य की रक्षा का भार महादेव के सेनापति रुद्र ने संभाल रखा था। इस बीच चोड़ शासक तृतीय कुलोत्तुंग ने आन्ध्र प्रदेश पर धावा बोल दिया और घूस आदि के बलपर काफी भीतर घुस गया था। किन्तु सेनापति रुद्र ने सफलतापूर्वक उसका मुकाबला करते हुए उसके आक्रमण को प्रतिवारित कर दिया। इसी कारण उसे **काकतिय-राज-भार धौरेय** (काकतिय राज्य के भार का वहन करने वाली धुरी) और **काकतिय-राज्य-समर्थ** की उपाधियाँ प्राप्त[१] हुईं। गणपतिदेव का ६३ वर्षों का लम्बा शासनकाल काकतिय इतिहास के सर्वोत्तम युगों में एक है। उसने इस बीच लगभग सारे तेलुगूभाषी प्रदेशों पर काकतियों का अधिकार स्थापित कर लिया, यादवों की उदीयमान साम्राज्य सत्ता से मित्रता बनाये रखी और दक्षिण दिशा में होयसड़ राजाओं की वीर बल्लाल की मृत्यु के बाद की कमजोरी का लाभ उठाकर अपने राज्य का विस्तार भी कर लिया। कल्याणी के चालुक्य साम्राज्य और गंगैकोण्डचोड़पुरम् के चोड़ साम्राज्य के क्रमिक अवसान के कारण उसके सामने सुअवसर भी काफी थे।

गणपतिदेव को कई छोटे-मोटे सरदारों से सर्वप्रथम निपटना पड़ा, जो आपस में ही लड़ रहे थे। उत्तर-पूर्व में वेलनाडु के सरदारों का अधिकार द्राक्षारामम्, पीठापुरम् और श्रीकर्मम् के क्षेत्रों पर था, जो समुद्रवर्ती क्षेत्र थे और विदेशी व्यापार की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण थे। कुछ छोटे द्वीपों के सरदार भी उसका प्रभुत्व स्वीकार करते थे और उसकी आज्ञाओं का पालन करते थे। वेलनाडु शासक, पीथ्वीश्वर, के इन समुद्री किनारे वाले क्षेत्रों पर अधिकार १२०१ ई० तक यथावत् बने रहे और भीतरी भागों के अनेक अन्य सरदार भी उसका वर्चस्व स्वीकार करते थे।[२] वास्तव में ये सभी चोड़ सरदार चोड़ अधिसत्ता के भीतर रहकर ही अपने-अपने क्षेत्रों में बने हुए थे। पीथ्वीश्वर इन सभी सरदारों पर स्थायी रूप से अपना प्रभुत्व बनाये रखने में असमर्थ था और यह स्थिति गणपतिदेव के लिए लाभप्रद सिद्ध हुई। उसने १२०१ ई० में उन समुद्रवर्ती जिलों पर धावा बोलकर अनेक छोटे सरदारों को अपनी ओर मिला लिया। वेजवाड़ा जीत लिया गया और आगे बढ़कर कृष्णा नदी के मुहाने के दीवी द्वीप पर उसकी सेनाएँ चढ़ गयीं। वहाँ के अय्य नामक सरदार को मुकाबले में असफलता मिली। किन्तु बुद्धिमानी का परिचय देते हुए इन जीते हुए प्रदेशों में किसी को भी गणपतिदेव ने अपने शासित क्षेत्रों में आत्मसात नहीं किया और

---

१. ऐनुअल् रिपोर्टस् ऑन् एपिग्राफी, १८९३ का २६१वाँ; साउथ इण्डियन् इन्स्क्रप्शन्स, जिल्द ४, पृष्ठ १११७।

२. याजदानी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ६०१।

विजितों को ही उन क्षेत्रों को लौटा दिया। अय्य नामधारी सरदारों से वैवाहिक संबंध स्थापित करके उसने उनकी मित्रता प्राप्त कर ली। उसके १२११ ई० के एक अभिलेख से यह ज्ञात होता है कि प्राय: पूरा का पूरा वेलनाडु का क्षेत्र उसके हाथों में आ गया[१]। आगे पृथ्वीश्वर गणपतिदेव के हाथों मार डाला गया।

गणपतिदेव ने दक्षिण दिशा में भी अपनी सत्ता का विस्तार करना चाहा। १२१३ ई० के पूर्व ही वह उस दिशा में प्रयत्नशील हो चुका [२]था। इसमें नेल्लूर में स्थित तेलुगू चोड़ों ने उसकी मदद की थी। वास्तव में नेल्लूर की गद्दी के लिए वहाँ दो पक्षों के बीच में संघर्ष छिड़ा हुआ था। उसी में हस्तक्षेप करते हुए गणपति ने वहाँ अपना प्रभाव स्थापित कर लिया। उसके द्वारा उपकृत किया गया तेलुगू चोड़ शासक था टिक्क, जिसकी सहायता में गणपति ने संभवत: तृतीय कुलोत्तुंग के काञ्ची नामक नगर को लूटा भी था[३]। गणपेश्वरम् अभिलेख[४] में गणपति को चोड़, कलिंग, सेउण, वृहत्कर्ण, टक और लाट देश के राजाओं को दबाने का श्रेय दिया गया है। यह भी कथित है कि दीवी द्वीप सहित समस्त वेलनाडु को उसने अपना क्षेत्र बना लिया।

इन सफलताओं से उत्साहित होकर गणपतिदेव ने उत्तर-पूर्व की दिशा में कलिंग तक के समुद्री किनारों वाले सभी क्षेत्रों पर अपना अधिकार कर लेने की योजना को कार्यान्वित करना प्रारंभ कर दिया। १५वीं शती में लिखे गये वीरशैव सिद्धान्त वाले **शिवयागसार** नामक ग्रंथ के अनुसार इन्दुलूरि सोमप्रधानि नामक सेनापति के नेतृत्व वाले एकमात्र अभियान में कमलाकरपुरी (कोलानू) सहित सारा कलिंग का प्रदेश और समुद्रवर्ती क्षेत्र गणपति के अधिकार में आ[५] गये। यह इन्दुलूरि सोमप्रधानि गणपति का एक मंत्री था, जिसे इस विजय का भार सौंपा गया था। किन्तु इस अभियान के बारे में न तो अभिलेखों से कोई समर्थन प्राप्त होता है और न इसी बात के ही कोई प्रमाण हैं कि उत्तर पूर्व की काकतिय विजयें एक ही झटकें में सम्पन्न की जा सकी थीं। कोलानु तो १२३१ ई० के पूर्व गणपतिदेव के अधिकार में आ ही नहीं सका[६] था। उसके कई वर्षों पूर्व कलिंग पर धावा बोला जा चुका था। भीम नामक तेलुगू-चोड़ सरदार ने इन अभियानों में गणपति-देव की ओर से भाग लिया था। इसी अभियान में काकतिय सेनाओं ने बस्तर जिले में प्रवेश करके चक्रकोट को जीता। यह गोदावरी नदी को पार करके ही संभव हुआ होगा।

किन्तु कलिंग के विरुद्ध किया गया गणपति का सैनिक अभियान एक प्रचण्ड

१. एपि० इण्डिका, जिल्द ३, पृष्ठ ९१।
२. एइ०, जिल्द ५, पृष्ठ १४९।
३. कार्पस् ऑफ् दि इन्स्कृप्शन्स् ऑफ् तेलंगाना डिस्ट्रिक्ट, १०।
४. एइ०, जिल्द ३, पृष्ठ ९१।
५. याजदानी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ६०५।
६. वहीं, पृष्ठ ६०८।

धावे के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं था। उससे उसकी राज्यसीमाओं में कोई भी विस्तार नहीं हुआ। इस धावे में उसके शत्रु पूर्वी गंग राज्य के शासक ही रहे होंगे, जिन्होंने काकतिय सेनाओं के लौटते ही अपने सभी आक्रान्त प्रदेशों पर पुनः अपना अधिकार कर लिया। इस निष्कर्ष का आधार यह है कि कोई भी काकतिय अभिलेख द्राक्षारामम् जैसे स्थान के उत्तर से नहीं प्राप्त होता। वास्तव में पूर्वी गंग शासक उसके बाद भी काकतिय क्षेत्रों पर बार-बार आक्रमण करते रहे[१]।

सुदूर दक्षिण के पाण्ड्य राजाओं ने गणपति के सम्मुख अनेक समस्याएँ उपस्थित कीं। वास्तव में चोड़ साम्राज्य का ज्यों-ज्यों तिरोहण होता गया, मदुरै का पाण्ड्य राज्य उनके अधिकार से मुक्त होकर अपनी स्वतंत्रता और खोयी हुई पुरानी प्रतिष्ठा को वापस प्राप्त करने के प्रयत्नों में तेजी से जुट गया। जटावर्मन् सुन्दर पाण्ड्य ने १२५१ ई० से १२५७ ई० के बीच सारे दक्षिणी भारत पर अपनी प्रभुसत्ता स्थापित कर ली और उसके उत्तर दिशा की ओर बढ़ाव प्रारंभ हो गये। नेल्लूर का तेलुगू-चोड़ राज्य उत्तर दिशा में उसका सर्वाधिक निकटवर्ती राज्य था और वह काकतियों और पाण्ड्यों के बीच के मध्यवर्ती राज्य (बफर स्टेट) के रूप में ही स्थित था। इसी कारण तेलुगू चोड़ राज्य में जब-जब राजगद्दी को लेकर उत्तराधिकार हेतु युद्ध हुए, गणपतिदेव ने उनमें से किसी न किसी पक्ष को सहायता अवश्य दी। अन्ततः, टिक्क के शासनान्त के बाद इस तेलुगू-चोड़ राज्य का ही दो भागों–उत्तरी और दक्षिणी-में बंटवारा हो गया। यद्यपि ये राज्य चोड़ों की नाममात्र की ही सत्ता स्वीकार करते थे, पाण्ड्यों ने, चोड़ों के अवसान के बाद स्वयं को उनका उत्तराधिकारी मानते हुए, उनपर संप्रभुता का दावा प्रारंभ कर दिया। जटावर्मन् सुन्दर पाण्ड्य ने दक्षिणी तेलुगू चोड़ राज्य पर धावा बोल दिया[२]। विवश होकर उसके शासक विजयगण्डगोपाल को पाण्ड्यों की अधिसत्ता स्वीकार करनी पड़ी। उससे उत्साहित होकर जटावर्मन् सुन्दर पाण्ड्य ने उत्तरी भाग वाले तेलुगू-चोड़ राज्य की राजधानी नेल्लूर पर भी आक्रमण की योजना बना ली। फलतः, उसे काकतियों के साथ भी संघर्ष में उलझना पड़ा। नेल्लूर का राज्य गणपतिदेव का संरक्षित राज्य था और उसके शासक ने काकतिय, सेउण और बाण राजाओं से सैनिक सहायता की अपील की। पाण्ड्यों ने उनका ध्यान बंटाने हेतु अपने सामन्त सरदारों की सेनाओं को काकतिय क्षेत्रों पर धावे मारने को प्रेरित कर दिया, जो पूर्वी गोदावरी जिले में द्राक्षारामम् तक भीतर घुस गयीं। तथापि उन्हें गणपति की सेनाओं के मुकाबले हार का मुंह देखना पड़ा। फलतः, पाण्ड्य सेनापति, विक्रम पाण्ड्य, को काकतियों पर अपने आक्रमण का इरादा त्याग देना पड़ा।

पाण्ड्यों के विरुद्ध नेल्लूर के तेलुगू-चोड़ों ने काकतियों के अतिरिक्त बाण और

---

१. वहीं, पृष्ठ ६०८।
२. वहीं, पृष्ठ ६१२-६१३।

सेउण (यादव) राजाओं से भी सहायता की अपील की थी, यह ऊपर देखा जा चुका है। यादव राजा (कृष्ण ११४६-११६० ई०) को भी पाण्ड्यराज का उत्तर की ओर बढ़ना राजनीतिक बुद्धिमत्ता की दृष्टि से बहुत सह्य नहीं हो सकता था। अत: उसने गणपतिदेव के साथ होकर पाण्ड्यों के विरुद्ध उसके युद्ध में भाग लिया था। वास्तव में गणपतिदेव और यादव राजाओं के बीच के सम्बन्ध प्राय: मित्रतापूर्ण ही बने रहे। इस कारण भी दोनों पक्षों का सहयोग स्वाभाविक प्रतीत होता है। १२६३ ई० में जब प्रथम सुन्दर पाण्ड्य ने नेल्लूर पर आक्रमण किया तो उसके विरुद्ध लड़ने वालों में तेलुगू-चोड़, काकतिय और आर्य (सेउण)-तीनों ही राजाओं की सेनाएँ मुट्टुकूर के मैदान में एकसाथ मौजूद[१] थीं। किन्तु उत्तर दिशा के इस सैनिक संघ के बावजूद भी प्रथम सुन्दर पाण्ड्य को ही अन्तत: विजय श्री प्राप्त[२] हुई।

गणपतिदेव एक अच्छा प्रशासक तथा आर्थिक और व्यापारिक बुद्धि से युक्त व्यक्ति था। नागरिक शास्त्र के क्षेत्र में उसके समय का सर्वप्रमुख कार्य राजधानी नगर का परिवर्तन था। उसके पूर्व तक काकतिय राज्य की राजधानी अनुमकोण्ड में थी। गणपति ने उसे हटाकर वारंगल को अपनी राजधानी बनाया। गणपति ने अपने राज्य के व्यापार और उद्योगों को बढ़ावा देने हेतु कई नये सुधार लागू किये तथा कृषि के विस्तार और उन्नति की ओर ध्यान दिया। उसके मोतुपल्ली अभिलेख[३] से ज्ञात होता है कि वहाँ के आसपास के सरदारों के उत्पीड़न से व्यापार को बड़ी हानि हो रही थी। वे क्षेत्र के बन्दरगाहों में आने वाले जहाजों के माल पर बहुत ही अधिक आयात कर लगाकर उनके मुनाफे को चोट पहुँचाते थे और प्राय: उनके द्वारा उन करों को न दिये जा सकने की स्थिति में उनका सारा सामान ही जब्त कर लिया करते थे। गणपति ने इन नाजायज उगाहियों को बन्दकर दिया, बन्दरगाह में आने वाले व्यापारिओं को अनेक छूटें और सुविधाएँ प्रदान कीं तथा उनके माल और जीवन की सुरक्षा का पूरा प्रबन्ध किया। आयातकरों की दरें भी घटा दी गयीं। इस एक कार्य मात्र से उसके राज्य में व्यापारिक आय निश्चित ही बढ़ी होगी और साधारण जनता को भी अनेक लाभ हुए होंगे तथा व्यापार और उद्योगों के विकास के कारण नये-नये नगरों का विस्तार हुआ होगा।

अभिलेखों से गणपति की सेवा में लगे हुए अनेक सेनानायकों के नाम ज्ञात होते हैं। उनमें कुछ तो उसके वे सामन्त थे, जो छोटी-छोटी जागीरदारियों के मालिक थे। उनमें रुद्र नामक एक सेनापति सरदार तो इतना विश्वस्त था कि उसने जैत्रपाल (यादव) द्वारा रुद्रदेव के मारे जाने तथा पुन: रुद्र के भाई महादेव के मारे जाने एवं गणपतिदेव के यादव राज्य की राजधानी में कैद कर लिये जाने के समय तो पूरे राज्य की रक्षा और

---

१. ऐनुअल् रिपोर्टस् ऑन् साउथ इण्डियन् एपिग्राफी, १९१३ का ३६१।
२. याजदानी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ६१४।
३. एनुअल् रिपोर्टस् ऑन् एपिग्राफी, १९१३ का ३६३।

देखरेख की थी। राजनायक नामक सेनापति ने कलिंग के विरुद्ध युद्ध का संचालन किया था तथा कई युद्धों में वीरता दिखायी थी। वेलान्ति के शासक पृथ्वीश्वर के विरुद्ध कोट पर विजय प्राप्त करने वाले काट नामक सेनापति ने ही उस युद्ध का संचालन किया था। उसकी विजयों के उपलक्ष्य में उसे **द्वीपी-लुण्टाक** और **दिवी-चूरकार** की उपाधियाँ दी गयी थीं।

अन्त में यदि हम गणपतिदेव की समग्र उपलब्धियों का समाहार करें तो यह निष्कर्ष निकलेगा कि वह काकतिय वंश का महत्तम शासक था। उसके ६३ वर्षों के शासन में उसे असफलताओं का कम ही सामना करना पड़ा। प्रत्युत्, अपने समय की सर्वशक्तिमान् सत्ता-यादवों-से मित्रता बनाये रखकर दक्षिण और दक्षिण-पूर्व की दिशाओं में उसने अपने राज्य की सीमाओं को गंगैकोण्डचोड़पुरम् के चोड़ों और वेंगी के उनके सम्बन्धिओं के मूल्य पर पूर्वी समुद्र के किनारों तक बढ़ा लिया; कलिंग को थोड़ें दिनों तक अधिकृत कर लिया; कलिंग से लेकर नीचे तक के अनेक समुद्री बन्दरगाह उसके अधिकार में आ गये, व्यापारिक बाधाओं को दूरकर अपने राज्य के व्यापार, उद्योग तथा कृषि की उन्नति की और सामन्ती सरदारों को सर्वदा अपने वश में बनाये रखा। उसके जीते जी पाण्ड्य शासक भी उसे कोई हानि नहीं पहुँचा सके और उसकी १२६१ ई० में मृत्यु के बाद ही प्रथम सुन्दर पाण्ड्य ने उत्तरी दिशा गें तेलुगू-चोड़ों को जीतकर कुछ सफलताएँ प्राप्त कीं।

रुद्राम्बा अथवा रुद्रमहादेवी (१२५९-१२९५ ई०)

गणपतिदेव को कोई पुत्र नहीं था–केवल दो पुत्रियाँ ही थीं–रुद्राम्बा अथवा रुद्रमहादेवी तथा गणपाम्बा अथवा गणपामादेवी। बड़ी पुत्री पूर्वी चालुक्य शासक, वीरभद्र, से ब्याही थी। किन्तु उसे ही अपना पुत्र मानकर गणपतिदेव ने उसे रुद्रदेव नाम देकर अपने उत्तराधिकारी के रूप में, १२५९ ई० या उससे कुछ पूर्व ही, अपना सहसंरक्षक नियुक्त कर दिया। इस प्रकार काकतिय वंश में, अन्य राज्यों में पुत्रों अथवा पुरुष सम्बन्धिओं को ही राजगद्दी दिये जाने की परंपरा के विपरीत एक स्त्री शासिका राजगद्दी पर बैठी। यद्यपि गणपतिदेव आगे भी संभवत: १२६९-१२७० ई० तक जीवित रहा[१], उसने शासन का भार पूरी तरह रुद्राम्बादेवी और उसके मंत्रिओं पर ही छोड़ दिया। तबतक शायद रुद्राम्बादेवी का रानी के रूप में राज्यभिषेक भी नहीं हुआ था।

किन्तु एक स्त्री का राज्यप्रधान होना सभी सामन्तों अथवा बहुत से अन्य लोगों को भी बहुत अच्छा नहीं लगा और जगह-जगह विद्रोह होने लगे, यहाँ तक कि राजपरिवार के ही कुछ सदस्यों ने विद्रोह कर दिया और रुद्राम्बादेवी को राजधानी वारंगल से ही चले जाने को विवश कर दिया। किन्तु अपने वफादारों की सहायता से वह पुन: वहाँ अधिकृत हो गयी। चूंकि यह विवरण **प्रतापचरित्र** नामक ग्रंथ के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं प्राप्त होता, इसकी सत्यता पर प्राय: विश्वास नहीं किया गया है[२]। काकतिय वंश के अधिकांश सामन्त सरदार रुद्राम्बादेवी के साथ बने रहे।

---

१. ऐनुअल् रिपोर्टस्, १९०५ का २०७; साउथ इण्डियन् इन्स्क्रृप्शन्स्, जिल्द १०, पृष्ठ ४०७।
२. याजदानी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ६२१-६२२।

ये आन्तरिक विद्रोह कितने छोटे अथवा बड़े थे, यह निश्चय कर सकना कठिन है। किन्तु बाहरी कठिनाइयाँ भी कुछ कम नहीं थीं। काकतिय राज्य की सीमाओं पर स्थित कुछ राजवंशों ने उसके मूल्य पर अपनी सीमाओं का विस्तार करना प्रारंभ कर दिया। १२५७-१२५८ ई० के पूर्व कलिंग के **गजपति** उपाधिधारी शासक, प्रथम नरसिंह, को गणपतिदेव के हाथों पराजय सहनी पड़ी थी और गोदावरी नदी के प्रदेशों पर अपने अधिकार से हाथ धोना पड़ा था। १२६२ ई० तक वहाँ काकतिय अधिकार बना रहा। किन्तु उसके बाद लगभग १६-१७ वर्षों तक काकतियों का वहाँ से कोई भी अभिलेख नहीं मिलता। इस बीच कदाचित् गोदावरी घाटी उनके अधिकार से बाहर निकल गयी थी। संभवतः **गजपति** नरसिंह ने उसपर पुनः अपना अधिकार स्थापित कर लिया था। इसी प्रकार इस बीच रुद्राम्बादेवी का वेंगी पर से भी अधिकार समाप्त हो चुका था। इस बात का भी कोई प्रमाण नहीं है कि स्थानीय हैहयवंशी और पूर्वी चालुक्यवंशी शासक इस बीच किसी अन्य अधिराज की अधिसत्ता स्वीकार करते थे अथवा नहीं। तथापि इस बात के प्रमाण प्राप्त हैं कि रुद्राम्बादेवी के शासनकाल के अगले भागों में गोदावरी घाटी और वेंगी पर पुनः काकतिय अधिकार स्थापित हो चुका था। उड़ीसा के शासक ने वेंगी पर इसके पूर्व जो आक्रमण किया था, उसे पोटि नायक और प्रोलि नायक नामक सेनापतिओं ने असफल बना दिया। उस कारण उन्हें **गजपतिमत्तमातंगसिंह** की उपाधियाँ प्राप्त[१] हुईं। उसके बाद पश्चिमी गोदावरी जिले तथा कृष्णा जिले के द्राक्षाराम आदि स्थानों से रुद्राम्बादेवी के अनेक अभिलेख प्राप्त होते[२] हैं।

दक्षिणी दिशा में मुट्टुकूर की विजय के परिणामस्वरूप पाण्ड्यराज जटावर्मन् सुन्दर पाण्ड्य ने बहुत से काकतिय क्षेत्रों को अपने अधिकार में कर लिया था। उसने कुडप्पा जिले के आधे पूर्वी भाग तथा चित्तूर जिले पर भी अपना अधिकार जमा लिया था। वहाँ काकतिय सत्ता कुछ वर्षों के लिये समाप्त हो गयी थी। किन्तु एक अभिलेख के अनुसार, कुछ ही दिनों बाद पुनः काकतियों की अधीनता स्वीकार करने वाले कायस्थ जन्निगदेव का अधिकार वहाँ स्थापित हो गया लगता है। ऐसा ही एक आलेख कुडप्पा के राजपेट तालुका के नन्दलूर से १२२६ ई० का प्राप्त होता है, जिसमे जन्नगिदेव के प्रधानि, नागराज, द्वारा वहाँ के सौम्यनाथस्वामी के मंदिर को दिये जाने वाले दान का उल्लेख[३] है। ऐसा ही एक दूसरा आलेख १२६८ ई० का सिद्धवतम् से भी प्राप्त होता[४] है, जो यह दर्शाता है कि काकतियों की ओर से शासन करने वाले जन्नगिदेव का अधिकार वहाँ अस्थायी नहीं था। इसी प्रकार रुद्रदेव महाराज (रुद्राम्बादेवी) की ओर से शासन करने वाला

१. साउथ इण्डियन् इन्स्कृप्शन्स्, जिल्द ४, १०८९ और १३७३; जिल्द १०, ४२२।
२. देखें, याजदानी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ६२४ का नोट १।
३. ऐनुअल् रिपोर्टस्, १९०७ का ६१०।
४. वहीं, १९३९-४० का १।

नागदेव महाराज नेल्लूर से वीरराजेन्द्र चोड़ को हटाकर वहाँ शासन करने लगा। उसने वहाँ १२७५ ई० तक शासन किया[१]। उसके बाद वह गुण्टूर का गवर्नर बनाकर भेज दिया गया। बाद में पाण्ड्य शासकों ने इन क्षेत्रों को पुन: जीतने का प्रयत्न किया, जिसके ब्यौरे इतने उलझे हुए हैं कि उनके विवरण में जाने की यहाँ आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। इस बीच नेल्लूर के दक्षिण दिशा वाले भागों में अम्बदेव नामक किसी शासक ने अपनी सत्ता कुछ वर्षों के लिए अच्छी तरह जमा ली, जिसे उखाड़ने का प्रयत्न रुद्राम्बा के नाती (पुत्री के पुत्र) कुमार रुद्रदेव ने १२९०-१२९१ ई० के आसपास प्रारंभ किया। रुद्राम्बा ने इस कुमार रुद्रदेव को गोद लेकर उसे अपना उत्तराधिकारी घोषित कर रखा था। वह उत्साही और योग्य था और युवराज के रूप में भी प्रशासन में सुधारों को क्रियान्वित करने लगा था। अम्बदेव ने कुमार रुद्रदेव की ओर से संभावित खतरे को भांपते हुए देवगिरि के यादवों और मदुरै के पाण्ड्यों को अपनी ओर मिला लिया[२]। अंबदेव की इन तितरफा तैयारियों के मुकाबले हेतु रुद्राम्बा और कुमार रुद्रदेव ने भी उन पर तितरफा आक्रमण किया (१२९१ ई०)। रुद्राम्बा ने स्वयं अपने कई सेनापतिओं के साथ अम्बदेव को पराजित कर पीछे लौटने को विवश कर दिया। **शिवयागसारम्** के अनुसार तो रुद्राम्बा के सेनापतिओं ने एक ही दिन में७२ किलों पर अधिकार कर लिया। इस विजय के परिणामस्वरूप त्रिपुरान्तकम् और आसपास के सारे प्रदेश रुद्राम्बा के अधिकार में चले गये। इस विजय की तिथि को १२९१ ई० माना गया है[३]। उसके बाद वहाँ शासन करने वाले अनेक सरदार कुमार रुद्रदेव की अधिसत्ता स्वीकार करते हुए दिखायी देते हैं[४]।

रुद्राम्बादेवी और यादव शासक महादेव के बीच सैनिक टकराव हुए, इसके प्रमाण तो दोनों ही राजवंशों से सम्बद्ध साक्ष्यों से प्राप्त होते हैं, किन्तु यही नहीं कि वे परस्पर विरोधी हैं, वे अपने-अपने पक्ष की विजयों के दावे भी बहुत ही बढ़ाचढ़ाकर और बहुत कुछ अविश्वास्यरूप में करते हैं। उदाहरणरूप, महादेव के कुछ अभिलेख[५] उसे "तिलिंगराव के शिररूपीकमल का उच्छेदक," तथा "तिलिंगदेश के शासक रूपी रुई को उड़ा देने वाली भयानक आंधी" कहते हैं। उसके द्वारा रुद्राम्बा के राज्य पर आक्रमण, उसकी लूट की चर्चा करते हुए वे यह भी कहते हैं कि महादेव ने स्त्री होने के कारण उसे मारा नहीं। यह सब कुछ अतिरंजित है। किन्तु इससे भी अधिक अतिरंजित काकतिय पक्ष को उपस्थित करने वाला **प्रतापचरित**[६] नामक ग्रंथ का वह विवरण है, जिसमें महादेव

---

१. याजदानी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ६२७।
२. ऐनुअल् रिपोर्ट्स् १९०५ का २६८; साउथ इण्डियन् इन्स्कृप्शन्स्, जिल्द १०, ४६५; एपि० इण्डिका, जिल्द २५, पृष्ठ २७० और आगे।
३. याजदानी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ६३५।
४. वहीं, पृष्ठ ६३६।
५. वहीं पृष्ठ ६२५।
६. शैवप्रचारिणी ग्रंथमाला, वारंगल, से प्रकाशित, सं० ३, पृष्ठ ४०-४१।

द्वारा काकतिय राजधानी के किले को घेरने के बाद उसके (महादेव के) तीन लाख पदातिओं और एक लाख घुड़सवारों को रुद्राम्बा की सेना द्वारा मार दिये जाने और स्वयं देवगिरि तक उसका पीछा करने, विवश होकर महादेव द्वारा संधि का प्रस्ताव करने और युद्धहानि के बदले १ करोड़ स्वर्ण सिक्कों को काकतियों को देने हेतु विवश होने के उल्लेख प्राप्त होते हैं। वहाँ यह भी कथित है कि रुद्राम्बा ने देवगिरि में एक विजयस्तंभ स्थापित कर अपनी राजधानी लौट जाने का निश्चय किया। कुछ आभिलेखिक आधारों पर कुछ विद्वान्[1] रुद्राम्बा के देवगिरि पर किये गये इस आक्रमण और उसकी विजय की घटना की वास्तविकता को स्वीकार करते हैं।

किन्तु आगे दक्षिण दिशा में अम्बदेव नामक विद्रोही सरदार के विरुद्ध काकतिय अभियान में यादव शासक ने जब उसकी सहायता की तो पुन: एक बार यादव-काकतिय संघर्ष अवश्यंभावी हो गया। आगे अनेक काकतिय अभिलेखों से इसकी पुष्टि होती है। गोणविट्ठल नामक काकतिय सेनापति ने इस अभियान का नेतृत्व १२९१ ई० के कुछ ही दिनों बाद किया था। उसके अन्य सहायक सेनापति थे मनुमगण्डगोपाल और प्रोलिनायक, जिन्हें काकतिय अभिलेखों में **सेउण-कटक-वेणु-कबड़न-दाव-पावक** अर्थात् जो "यादवसेनारूपी बाँस वृक्षों के लिए भयंकर दावाग्नि" के समान थे। १२९४ ई० के रायचूर के किले से प्राप्त एक अभिलेख[2] में गोणविट्ठल के इस युद्ध के विवरण प्राप्त होते हैं। परिणामस्वरूप कृष्णा-तुंगभद्रा के बीच का सारा दोआब क्षेत्र यादव हाथों से निकलकर काकतिय हाथों में आ गया। काकतियों ने रायचूर किले की किलेबन्दी और भी मजबूत कर वहाँ अपनी सत्ता को मजबूत कर लिया। यह सैनिक उपलब्धि रुद्राम्बा के शासनकाल की अन्तिम घटना रही प्रतीत होती है[3]।

रुद्राम्बा ने भी अपने वंश की एक सफल शासिका के रूप में अपना स्थान निश्चित कर लिया। एक स्त्री होते हुए भी उसने पुरुषों की भांति सफलतापूर्वक शासन चलाया, अपने प्रारंभिक काल के शत्रुओं और विद्रोहिओं सहित उपद्रवी सरदारों को सफलतापूर्वक दबाया, युद्धों का स्वयं संचालन किया और राज्याधिकारिओं की अपने प्रति पूरी राजभक्ति प्राप्त की। उसके पिता गणपतिदेव ने उसमें अपना विश्वास प्रकट करते हुए जो उसे 'रुद्रदेव' नामक पुरुषों का अभिधान दिया था, उसे पूर्णत: सही साबित करते हुए वह राजदरबार में पुरुषों का वेश धारण कर बैठती थी, राजकीय अधिकारिओं से परामर्श करती थी, उन्हें आदेश देती थी, शासन की आज्ञाएँ निकालती थी और बाहरी राजदूतों से भेंट

---

१. एन् वेंकटरमनैय्या और सोमशेखर शर्मा, याजदानी सं० दि अर्ली हिस्ट्री ऑफ् दि डेकन, पृष्ठ ६२६।
२. साउथ इण्डियन् इन्स्क्रिप्शन्स्, जिल्द ४, ६६१।
३. याजदानी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ६३७।

करती थी । उसे युद्धों में स्वयं सेना का नेतृत्व करने में महारत प्राप्त थी । महादेव (यादवराज) के विरुद्ध युद्ध में उसने अप्रतिम वीरता दिखायी थी ।

रुद्राम्बा अपुत्रक थी और उसकी भी दो पुत्रियाँ मात्र उसकी सन्तानरूप में थी मुम्मडम्ब और रुयम्म[१] । **प्रतापरुद्रयशोभूषणम्** नामक ग्रंथ से ज्ञात होता है कि मुम्मडम महादेव नामक व्यक्ति से ब्याही गयी थी, जिसके बारे में कोई विशेष जानकारी नहीं प्राप्त होती । उसी से वीररुद्र अथवा प्रतापरुद्र की उत्पत्ति हुई थी । इसे अत्यन्त बचपन में ही रुद्राम्बा ने अपने पिता गणपतिदेव की आज्ञा से अपने पुत्ररूप में गोद लेकर अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर दिया था । यद्यपि छोटी सी उम्र में ही काकतिय राज्य के विशाल क्षेत्रों वाले राज्य पर शासन का कठिन भार उसपर आ गया था, उसने आगे चलकर अपने नाना और नानी के विश्वासों पर खरा उतरते हुए बहुत ही योग्यतापूर्वक उनका निर्वहन किया ।

प्रतापरुद्र (१२९५-१३२५ ई०)

कुमाररुद्र अर्थात् प्रतापरुद्र यद्यपि अपनी नानी के साथ काकतिय प्रशासन में अत्यन्त बचपन से ही सहयुक्त होकर प्रशासन और सैनिक कार्यों का प्रभूत अनुभव प्राप्त कर चुका था, उसके सामने तुर्क आक्रान्ताओं के मुकाबले की जो सबसे बड़ी समस्या थी, उसकी तुलना में उसकी तैयारियाँ, सैनिक कुशलताएँ, राजनीतिक और कूटनीतिक दूरदृष्टि आदि बिल्कुल ही नगण्य थीं, और अन्ततः न तो वह अपनी रक्षा कर सका और न अपने राज्य की । उसने सबसे पहले अपनी राजधानी और राज्य की सैनिक संरक्षा की ओर ध्यान देते हुए अपनी सेना को एक नया स्वरूप दिया । वेलम जाति के ७७ **नायकों** की नियुक्ति करके, राज्य के विभिन्न भागों में उन्हें सेवाभूमि (**जीवित**) देकर, राजधानी के किले वाले ७७ बुर्जों की संरक्षा का भार उन्हें सौंपा । उसके पूर्व भी **नायकों** की नियुक्ति विभिन्न **स्थलों** (राज्य के हिस्सों) पर होती थी, किन्तु न तो वे नायक किसी एक जाति विशेष के थे और न विशेषरूप से राजधानी वारंगल की संरक्षा में ही लगाये जाते थे ।

राजधानी की सुरक्षा हेतु यह विशेष व्यवस्था मुसलमानी आक्रमणों की आशंका से ही की गयी थी, जो तेरहवीं शताब्दी के मध्य से ही प्रारंभ हो चुके थे । १२९४ ई० में देवगिरि पर गरशापमलिक के आक्रमण का परिणाम प्रतापरुद्र देख चुका था, जो लगभग उसकी राज्यप्राप्ति का ही वर्ष था । उस आक्रमण से, यह भली-भाँति स्पष्ट हो गया था कि मुसलमानों के मुकाबले हिन्दू राज्यों की तैयारियाँ और उनके बल तथा साधन कितने सीमित थे । संभवतः वही देखकर प्रतापरुद्र ने **नायकों** की नयी नियुक्ति द्वारा अपने लिए कुछ नयी व्यवस्थाएँ कीं । कहा तो यह गया है कि हाथियों और घोड़ों के अतिरिक्त उसके पास ९ लाख धनुर्धर पदाति भी थे ।

दिल्ली का सुल्तान अलाउद्दीन खलजी **सुल्तान** पदवीधारी दिल्ली के सभी

---

१. याजदानी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ६४२ ।

शासकों में सर्वाधिक महत्त्वाकांक्षी और कदाचित् सर्वाधिक योग्य भी था। उत्तरी भारत को प्राय: पूरी तरह अपने शासन के भीतर सुरक्षित करने के साथ ही उसका अरमान था आसेतुहिमालय मुसलमानी साम्राज्य के विस्तार का। उसे इस हेतु बहुत बड़ी सेना के संचालन के खर्चों की आवश्यकता थी। साथ ही, उत्तर से भारत पर मंगोल आक्रमण भी हो रहे थे। उत्तर भारत के राजे-रजवाड़े और मंदिर लूटे जा चुके थे और उनसे अब बहुत कुछ मिलने वाला नहीं था। किन्तु दक्षिण अभी अछूता ही था। १२९४ ई० में देवगिरि को बुरी तरह एक विषमसंधि के माध्यम से लूटा जा चुका था और यादव शासक इतना असहाय था कि वह प्रतिवर्ष दी जाने वाली भेंट भी नहीं दे पा रहा था। किन्तु अभी वारंगल और मदुरै बचे हुए थे। अलाउद्दीन को उन्हें भी विजित कर उनके राजकोषों को खाली कर देने की योजना बनाते देर नहीं लगी।

समकालीन हिन्दू साक्ष्यों[1] की यदि मानें तो तेलंगाना पर ही प्रतापरुद्र के समय कम से कम आठ धावे मुसलमान आक्रान्ता कर चुके थे। उनमें उन्हें सात बार तो असफलता ही हाथ लगी थी। किन्तु अन्तिम धावे में वे सफल रहे और उसमें प्रतापरुद्र बन्दी बना लिया गया[2]। मुसलमानी साक्ष्य केवल ५ बार के आक्रमणों का उल्लेख करते हैं, जिनमें तीन में तो मुसलमान विजयी रहे, किन्तु दो में वे असफल रहे।

काकतिय राज्य पर अलाउद्दीन का पहला धावा १३०३ ई० में हुआ था। किन्तु इसमें उसकी सेनाओं की पराजय हुई। बेलम सरदारों की प्रशंसा में लिखित **वेलुगाटिवारिवंशावली** में इस काकतिय विजय का उल्लेख प्राप्त होता है। किन्तु अलाउद्दीन इतने से ही घबराने वाला नहीं था। मलिक नायब काफूर और ख्वाजा हाजी नामक अपने विश्वस्त सेनापतिओं के नेतृत्व में उसने दुबारा प्रतापरुद्र के विरुद्ध कुमक भेजी। वह प्रतापरुद्र से इस कारण भी अप्रसन्न था कि अलाउद्दीन ने जब गुजरात पर आक्रमण किया था तो वहाँ से भाग जाने वाले शासक राय करन को उसने अपने यहाँ शरण दी थी। मलिक काफूर के इस आक्रमण का समय १३०९ ई० था। मुसलमानी सेनाओं ने काकतिय राजधानी वाले किले को घेर लिया, जो घेरा कई महीनों तक जारी रहा। अन्तत: १३१० ई० में प्रतापरुद्र को संधि का प्रस्ताव करना पड़ा। संधि की शर्तों के अनुसार मलिक नायब काफूर को प्रतापरुद्र की तबतक की सारी इकट्ठी की हुई धनसम्पत्ति, प्रतिवर्ष दी जाने वाली एक भारी धनराशि की भेंट, तथा उसके सभी हाथी और घोड़ों का जखीरा प्राप्त हुआ। प्रतापरुद्र संधि की सभी शर्तों का पालन करता रहा। उन शर्तों में प्रतिवर्ष हाथियों की एक निश्चित संख्या का भेजा जाना भी सम्मिलित था। फलस्वरूप कुछ वर्षों तक प्रतापरुद्र अलाउद्दीन की आखों का तारा बना रहा।

---

१. याजदानी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ६४४-६४५।

२. प्रोलय नायक का विलास फलक, ऐनुअल् रिपोर्ट्स्, १३३८-३९ का ५वाँ (सीपी०)।

किन्तु इस पराजयजन्य दुर्गति के परिणामस्वरूप काकतिय राज्य के अनेक भागों में विद्रोह होने लगे। प्रतापरुद्र ने कुछ युद्धों में विजये भी प्राप्त कीं–विशेषत: पाण्ड्य राज्य के विरुद्ध। इसी बीच दिल्ली की सल्तनत में ही एक प्रकार का गृहयुद्ध छिड़ गया। मुकारकशाह वहाँ का सुल्तान बना और उसे १३१८ ई० में देवगिरि के यादव राजा हरपालदेव के विद्रोह को दबाने हेतु दक्षिण की ओर कूच करना पड़ा। संभवत: प्रतापरुद्र ने भी प्रतिवर्ष दिल्ली सल्तनत को भेजी जाने वाली भेंट भेजनी अब बन्द कर दी थी। यह मुकारकशाह के इस अभियान का दूसरा कारण था। खुसरू खान वारंगल रवाना किया गया। किन्तु घटनाएँ किस क्रम से घटीं, यह मुसलमानी साक्ष्यों में भी परस्पर विरोधाभासी रूप में हीं वर्णित[१] है। दोनों पक्षों के बीच युद्ध हुआ। किन्तु एक बार और प्रतापरुद्र को संधि का प्रस्ताव करना पड़ा। उसे अपने राज्य के ५ जिलों को सुल्तान को सौंपना पड़ा और सालना १०० से अधिक हाथी और १२ हजार घोड़ों को भेंटरूप में दिल्ली दरबार में भेजने की शर्त माननी पड़ी। किन्तु इजामी जैसे मुसलमान लेखक इन शर्तों का कोई उल्लेख नहीं करते। खुसरू खान ने प्रसन्न होकर प्रतापरुद्र का भरपूर आदर सम्मान किया।

इन अपमानजनक शर्तों को मान लेने के बाद भी प्रतापरुद्र बहुत दिनों तक शान्तिपूर्वक शासन नहीं कर सका। एक वर्ष के भीतर ही मुसलमान सेनाएँ पुन: वारंगल पर आ धमकीं। बहुत बाद का इतिहासकार, फिरिश्ता, कहता है कि प्रतापरुद्र ने सालाना भेटों को भेजना बन्द कर दिया था[२]। इसबार का मुसलमान आक्रमण लगभग सारे दक्षिण भारत पर था, जिसमें सबसे प्रसिद्ध आक्रान्ता उलुगखाँ था। किन्तु इस सम्बन्ध के मुसलमानी उल्लेख आपस में इतने उलझे हुए हैं कि उनका परस्पर कोई भी सामञ्जस्य बैठाना बड़ा कठिन है। निष्कर्षत:, प्रतापरुद्र ने उलुग खाँ के सम्मुख एक बार और समर्पण कर दिया। उलुग खाँ ने उसे पूरे परिवार सहित कैदी बनाकर दिल्ली भेज दिया, किन्तु वह दिल्ली जाने के पूर्व रास्ते में ही मर गया[३]। संभावना यह व्यक्त की गयी है कि या तो उसने स्वयं आत्महत्या कर ली अथवा उसकी आज्ञा से ही उसी के किसी विश्वासपात्र ने उसे मार डाला[४]। उसकी मृत्यु नर्मदा नदी के किनारे हुई। कदाचित् मुसलमानी आक्रमणों के समय उसकी हार, बन्दी बना लिये जाने और अन्तत: बन्दी जीवन के बीच में ही अपना प्राणत्याग देने की पृष्ठभूमि में प्रतापरुद्र का इतिहासकारों द्वारा सही-सही मूल्यांकन नहीं किया जा सका है[५]। मानव स्वभाव यह है कि वह सफलताओं के

---

१. इलियट ऐण्ड डाउसन्, जिल्द ३, पृष्ठ ५५०-५६१।
२. ब्रिग्स्, जिल्द १, पृष्ठ ४०३।
३. अफीफ, शम्स-ए-शिराज, तारीखे फीरोजशाही, पृष्ठ ३९५।
४. वेकंटरमनैय्या और सोमशेखर शर्मा, याजदानी सं०, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ६५७।
५. याजदानी संपादित 'दि अर्ली हिस्ट्री ऑफ् दि डेकन' में जहाँ काकतिय इतिहास के लेखकद्वय (आंध्र प्रदेशवासी) श्री एन् वेंकटरमनैय्या और सोमशेखर शर्मा ने उस वंश के सभी राजाओं की उपलब्धियों का मूल्यांकन किया है, वहीं उन्होंने प्रतापरुद्र के बारे में कुछ नहीं कहा है।

आगे- आगे दौड़ता है, असफलताओं को तो दूर से भी नहीं देखता। उसके जीवन के अन्तकाल में मुसलमानी आक्रामकों द्वारा बन्दी बना लिये जाने के कारण शासक के रूप में उसकी अन्य अनेक उपलब्धियों को ओझल नहीं किया जा सकता। वह अपने समय के अन्यान्य राजाओं से बहुत कुछ हटकर एक अलग व्यक्तित्व वाला व्यक्ति था। जहाँ तुर्क आक्रान्ताओं की विभीषका को देखते हुए भी अन्य शासकों ने अपने और अपने राज्यों के बचाव हेतु न तो पूर्वत: ही कोई सैनिक तैयारी की, न अपने गुप्तचर और संचारतंत्र को सुधारा और न अपनी सीमाओं की रक्षा का पहले से ही कोई उपाय किया, वहीं प्रतापरुद्र इन सारी दिशाओं में मुसलमानी धावों के पूर्व ही उद्यत, तैयार और प्रयत्नशील रहा दिखायी देता है। बचपन में ही अपनी नानी द्वारा राज्य का उत्तराधिकारी बना दिये जाने के बाद उसने प्रशासन और सैन्यनेतृत्व के सारे गुण सीख लिये थे। १२९४ ई० में उसने देवगिरि पर अलाउद्दीन के आक्रमण के समय रामदेव की दुर्दशा देखी थी; अलाउद्दीन के ८००० तेज घुड़सवारों के मुकाबले उसकी ४००० वाली अर्धप्रशिक्षित सेना की दुर्दशा भी देखी थी; और देखा था यह कि कैसे रामदेव देवगिरि के किले में बिना कोई रसद सामग्री इकट्ठा किये ही अपनी संरक्षा हेतु आसमान की ओर मुंह किये हुए था। इससे सबक लेते हुए, ज्योंही वह शासक हुआ त्योंही १२९५ ई० में अपनी राजधानी की संरक्षा हेतु विशेष उपाय करते हुए वारंगल के किले के ७७ बुर्जों की रक्षा करने वाले ७७ ऐसे नये **नायकों** (सैनिक नायकों) की नियुक्ति की[१] जो सर्वदा ही अपना प्राण देने को तैयार थे। अभिलेखों से उसके **दण्डनायकों** और सेनापतिओं तथा **लेंकों (लेंक)** की अनगिनत संख्याएँ प्राप्त होती हैं। उसी दृष्टि से उसने काकतिय प्रशासन में अनेक नये सुधार भी किये। काकतिय वंश से संबद्ध साहित्यिक साक्ष्यों से यह ज्ञात होता है कि वारंगल पर पहले बड़े मुसलमानी आक्रमण (१३०९ ई०) के पूर्व भी कम से कम सात तुर्क धावे किये जा चुके थे, जिनमें सभी को काकतिय सेनाएँ वापस लौटने को विवश कर चुकी थीं। मुसलमानी इतिहासकार भी ५ बार के सैनिक अभियानों में केवल तीन बार ही अपनी विजयों का दावा करते हैं। स्पष्ट है, न तो प्रतापरुद्र की तैयारियों में कोई कभी थी और उसके दृढ़निश्चय में। उसने अपनी रक्षा हेतु ९ लाख पदातियों, २० हजार घोड़ों और १०० हाथियों की एक बड़ी सेना पहले से ही जुटा रखी थी और मलिक नायब (काफूर) ने जब उसकी राजधानी वाला किला घेरा तो उसे उतनी आसानी से विजय नहीं प्राप्त हो सकी, जितनी आसानी से अलाउद्दीन को देवगिरि को घेरते समय प्राप्त हो चुकी थी। लगभग एक साल तक काकतिय डटे रहे और वे तभी झुके जब उनकी भोजन सामग्री समाप्त हो गयी। वास्तव में यह युद्ध एक ओर तुर्कों की बड़ी साधन-सम्पत्ति, विशाल रसद सामग्री तथा अपेक्षाकृत बेहतर सैन्यशक्ति और दूसरी ओर एक छोटे से राज्य की सीमित शक्ति के बीच का था,

---

१. याजदानी सं०, दि अर्ली हिस्ट्री ऑफ् दि डेकन, पृष्ठ ६४२-६४३।

जिसका परिणाम एकतरफा होना ही था।

प्रशासन के क्षेत्र में प्रतापरुद्र ने सिंचाई की अनेक नयी सुविधाएँ कृषकों के लिए जुटायीं। उसका सबसे बड़ा, अन्य काकतिय अथवा भारतीय राजाओं की तुलना में अधिक महत्त्वपूर्ण, कार्य था कृषिक्षेत्रों का विस्तार[१]। उसके लिए उसने बड़े-बड़े जंगलों को साफ कराया और उनकी भूमि को कृषियोग्य बनाया। आज भी वहाँ के सरकारी कागजपत्रों की **कैफियत** वाले खानों में यह दर्ज है कि रायलसीमा क्षेत्र में प्रतापरुद्र की आज्ञाओं से कैसे जंगल नष्ट कर दिये गये और उनकी जमीन को खेतीयोग्य बनाया गया। जब वह युद्ध यात्राओं पर होता था, तब भी इस काम को बढ़ावा देने का समय और साधन वह निकालता था। कायस्थ अम्बदेव के विरुद्ध अभियान के समय ही उसने वनोच्छेद करके दुप्पीपादु, (आधुनिक दूपादु) नामक गांव बसाया था, जो बाद में एक जिले का मुख्यालय बन गया। आधुनिक कर्नूल जिले के नन्दिकोटकूर तालुका में स्थित श्रीशैल नामक पर्वतश्रृंखला के पश्चिम की ओर का सारा प्रदेश वनमय था। उसको साफ कराकर उसने अनेक गांव बसाये और बाहर (कल्याणी) से आये लोगों की वहाँ नयी बस्तियाँ बसायीं[२]। सभी काकतिय राजाओं ने सिचाईं के विभिन्न साधनों को बढ़ाने में रुचि ली थी और प्रतापरुद्र भी उस दिशा में किसी से पीछे नहीं था। फलतः, उसकी इन उपर्युक्त दोनों क्रियाओं से आन्ध्र में कृषि का विकास हुआ होगा। आज वहाँ जो धान की सिंचित खेती होती है, उसके बीज काकतियों के बहुत पूर्व ही पड़ चुके थे। किन्तु काकतियों ने भी धान के क्षेत्रों का बहुत विस्तार किया।

प्रशासन और संस्कृति

अन्य राज्यों की तरह काकतिय राज्य भी नृपतंत्रात्मक था, जिसमें राजा और रानी के चतुर्दिक ही सारा शासनतंत्र आवेष्ठित था। राजा अथवा रानी का जब जैसा स्वरूप अथवा योग्यता होती थी, वैसा ही राज्य का स्वरूप निखरता था। प्रायः प्राचीन भारत में सर्वत्र ही, और दक्षिण भारत में तो विशेषतः, स्त्री शासिकाओं के प्रमाण नहीं प्राप्त होते[३]। काकतिय राज्य में अपवादस्वरूप, रुद्राम्बा देवी राजगद्दी पर बैठी और अपेक्षाकृत सफल भी रही। राजागण अपने जीवित रहते ही, और कई बार तो अपने शासनान्त के बहुत वर्षों पूर्व ही, अपने उत्तराधिकारिओं का चयन कर लेते थे और उन्हें प्रायः अपना सहसंरक्षक नियुक्त कर देते थे। गणपतिदेव जैसे दीर्घशासी और कुशल शासक ने भी जब देखा कि उसका कोई पुत्र उत्तराधिकारी नहीं है तो उसने अपनी पुत्री को ही अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया। वह उसके द्वारा १२६१ ई० में शासनत्याग कर देने के दो वर्षों पूर्व (१२५९

---

१. याजदानी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ६८०-६८१।

२. वहीं, पृष्ठ ६८१।

३. बहुत शताब्दियों पूर्व भारशिव-वाकाटक वंश में भवनागा तथा प्रभावती गुप्ता और आन्ध्र सातवाहन वंश में (नायनिका) तथा बाद में कश्मीर में दिद्दा जैसी रानियाँ हो चुकी थीं।

ई०) से ही वास्तविक शासन चलाने लगी थी। आगे यद्यपि एक दशक तक गणपतिदेव और जीवित रहा, उसने शासन में कोई भी रुचि ही नहीं ली और शासन का सारा भार रुद्राम्बादेवी संभाल रही थी। इसी प्रकार रुद्राम्बादेवी को भी कोई पुत्र न होने की दशा में उसने अपने नाती (पुत्री के पुत्र) को गोद लेकर उसे, अल्पावस्था में ही, अपना उत्तराधिकारी और सहसंरक्षक बना लिया था। समस्त राज्यपरिवार और प्रजा इन निर्णयों को स्वीकारती थी तथा चालुक्य अथवा राष्ट्रकूट राज्यों की तरह काकतिय राज्य में उत्तराधिकार का कभी कोई युद्ध नहीं हुआ।

प्रशासन में राजा अथवा रानी की सहायता और उसे परामर्श देने के लिए मंत्रिओं की नियुक्ति होती थी। किन्तु प्राचीन धर्मशास्त्रों के निर्देशानुसार कोई मंत्रिमण्डल होता था, इसका काकतिय राज्य में कोई प्रमाण नहीं प्राप्त होता। मंत्रिओं को **प्रधान, महाप्रधान, प्रेग्गेड, अमात्य** और **मंत्रिन्** कहा जाता था। उनके उल्लेख तत्कालीन साहित्य और अभिलेखों में बार-बार आते हैं। किन्तु न तो यही ज्ञात है कि उनकी नियुक्ति कैसे होती थी अथवा उनमें किन योग्यताओं का होना आवश्यक माना जाता था। उस समय के राजशास्त्रलेखक बड्डेन कृत **नीतिशास्त्रमुक्तावली** में राजा के लिए यह अनुशंसा है कि उसे बुद्धिमान व्यक्ति को ही मंत्री नियुक्त करना चाहिए। उसे राजभक्त और विश्वासपात्र भी होना चाहिए[1]। गणपतिदेव और प्रतापरुद्र के समय के क्रमशः मलयाल हेमाद्रि रेड्डी और मुप्पुडि **नायक** नामक **महाप्रधान** इसी कोटि में गिने गये हैं। यह आवश्यक नहीं था कि **मंत्रिन्** लोग किसी जातिविशेष से ही चुने जाँय। इन मंत्रियों को **जीवित** अर्थात् सेवाभूमि उनके वेतन के रूप में दी जाती थी। इस **जीवित** को **वृत्ति** भी कहा जाता था। उनके पद अथवा विभाग की संज्ञा **नियोग** थी। उन्हें राजा की ओर से बढ़िया वस्त्राभूषण भी प्राप्त होते थे। काकतिय राज्य में शासन के ७२ विभाग थे, जिन्हें **बाहत्तर निर॰ग** कहा जाता था। इनमें नागरिक और सैनिक दोनों ही श्रेणियों के विभाग सम्मिलित थे। इन सबके ऊपर एक **बाहत्तर नियोगाधिपति** नामक मुख्य अधिकारी होता था। काकतियों के पूर्व आन्ध्र प्रदेश पर शासन करने वाले पूर्वी चालुक्यों के समय भी **नियोगाधिकृत** नामक अधिकारी[2] होते थे, जो **बाहत्तरनियोगाधिपति** के पूर्ववर्ती प्रतीत होते हैं। इन अधिकारिओं के उल्लेख पश्चिमी चालुक्य अभिलेखों में भी प्राप्त होते हैं। निष्कर्षत:, कहा जा सकता है कि काकतिय समय के ये सभी अधिकारी परंपरा से नियुक्त किये जाते रहे थे।

राजा की व्यक्तिगत सेवा और रक्षा में अंगरक्षकों की नियुक्ति की जाती थी, जो अपनी जान देकर भी उसकी रक्षा करते थे। इन अंगरक्षकों के अतिरिक्त **लेंक** नामक वह

---

१. उद्धृत, एन् वेंकटरमनैय्या और सोमशेखर शर्मा, याजदानी सं०, दि अर्ली हिस्ट्री ऑफ् दि डेकन, पृष्ठ ६७२।

२. साउथ इण्डियन् इन्स्कृप्शन्स्, जिल्द १, ५६।

दल था जो यह व्रत लिये हुए था कि वह प्रत्येक परिस्थिति में राजा की रक्षा करेगा तथा उसे गुरु और ईश्वर के रूप में मानेगा। वह राजा की मृत्यु के बाद अपनी आत्महत्या कर मृत्यु को गले लगाने को सर्वदा तैयार रहता था। इनकी तुलना कर्नाटक के होयसड़ राज्य के **गरुड़** नामक उन अंगरक्षकों से की जाती है जो **लेकं** लोगों की भांति ही अपने स्वामी की हरदशा में; हरकीमत पर, अपनी जान देकर भी रक्षा करते थे और उसकी मृत्यु के बाद सामूहिकरूप से उसी की चिता पर अपना प्राण त्याग देते थे।

काकतिय राज्य छोटे-छोटे अनेक सामन्त राज्यों को मिलाकर एक ढीले-ढाले उस संघ की तरह ही था, जैसे उस समय के सभी राज्य हुआ करते थे। अनेक प्रांतीय गवर्नर और सरदार उसके शासनतंत्र के अंग थे। उनकी अपनी सेनाएँ होती थीं, अपने राजदरबार होते थे और अपने दिखावे होते थे। आवश्यक होने पर वे राजा के युद्धों में लड़ते थे, उसकी सेनाओं का संचालन करते थे और विद्रोहों को दबाते थे। अभिलेखों से इनके अनेक विरुदों का ज्ञान प्राप्त होता है–यथा **कोट-जेलपाट, द्वीपीलुण्टक** (द्वीपी नामक द्वीप को जीतने वाला), **वेलान्तिदूषक** (वेलान्ति प्रदेश पर आक्रमण करने वाला) और **सूर्यवंश स्थापन आचार्य** (सूर्यवंश = काकतिय वंश की स्थापना का गुरु), **दण्डनायक, महादण्डनायक**[१] आदि।

काकतिय राज्य प्रशासन की सुविधा हेतु किन प्रकारों की प्रशासकीय इकाइयों में विभक्त था, यह बहुत स्पष्ट नहीं है। **स्थल** और **नाडु** जैसे दो भागों की जानकारी होती है। इनमें **नाडु** बड़ा क्षेत्र था, जिसमें अनेक **स्थल** सम्मिलित होते थे। **स्थल** कई गांवों के समूह की संज्ञा थीं। इन गांवों की संख्या का निश्चय नहीं किया जा सकता। उससे बड़ा क्षेत्र था **नाडु**। काकतिय राज्य २० नाडुओं में विभक्त था, जिनके नाम अभिलेखों में प्राप्त होते हैं। इन इकाइयों के शासन के बारे में बहुत ब्यौरे तो प्राप्त नहीं होते, किन्तु **स्थल** नामक ग्रामसमूह का एक दफ्तर हुआ करता था, जिसे **स्थलकरणम्** कहा जाता था। **नाडु** संभवतः आधुनिक जिलों के बराबर होता था।

काकतिय शासकों के सर्वाधिक मुख्य अवदानों में दो कार्यों की गिनती विशेषरूप से की जा सकती है, एक तो कृषियोग्य भूमि का विस्तार और कृषि की उन्नति हेतु सिंचाई के साधनों का विशेष प्रबन्ध तथा दूसरा व्यापार और उद्योग को पनपने हेतु सभी व्यवस्थाओं का प्रबन्ध। उनका सौभाग्य था कि उनका राज्य समुद्री किनारों वाले अनेक नगरबन्दरगाहों से युक्त था, जहाँ बाहर से जहाज आकर टिकते थे। गोदावरी और कृष्णा नदियों के डेल्टा क्षेत्रों से बनी उपजाऊ भूमि के अतिरिक्त उनके बीच की वह बहुमूल्य तेलंगाना वाली रेतीली और लाल जमीन भी उन्हें उपलब्ध थी, जो अत्यन्त ही उपजाऊ थी। काकतिय राजाओं ने वहाँ सिंचाई की सुविधाओं का विस्तार कर उस खेती का विस्तार किया, जिसे

---

१. याजदानी सं० पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ६७०।

सिंचितभूमिकृषि (**वैटलैण्ड एग्रीकल्चर**) कहा जाता है । अत: उन्होंने बड़े-बड़े बांध बंधवाये, और वर्षा के पानी को इकट्ठाकर सिंचाई की भरपूर व्यवस्था की । इस कार्य का प्रथम सम्पन्नकर्ता द्वितीय बेट था, जिसने **सेट्टि-केरे** और **केसरी समुद्र** नामक तटाकों का निर्माण कराया[१] । चोडोदय नगर नष्ट करने के बाद रुद्रदेव ने भी वहाँ एक विशाल झील का निर्माण कराया[२] । **प्रतापचरित** नामक ग्रंथ से ज्ञात होता है कि गणपति ने अनेक तटाकों का निर्माण कराया जो नेल्लूर, इलौरा, गंगापुरम् और विदस नामक स्थानों पर बने थे । इसी प्रकार प्रतापरुद्र ने भी पारवल के पास कहीं एक बड़ा तालाब खुदवाया[३] । प्रतापरुद्र का महत्त्व तो यह है कि वह अपने बड़े-बड़े सैनिक अभियानों के समय भी जंगलों को कटवाकर विशाल भूखण्डों को खेती के योग्य बनाने में संलग्न रहा, वहाँ नये-नये गांवों को बसाता रहा और कल्याणी जैसे अन्य स्थानों से लोगों को आमंत्रित कर इन नवस्थापित ग्रामों में बसाकर कृषि विकास को दिशा देता रहा[४] । पीछे हम गणपतिदेव का इतिहास देते समय उसके मोतुपल्ली अभिलेख[५] का हवाला दे चुके हैं, जिसके अनुसार[६] उसने उन सभी समुद्रवर्ती उपद्रवी सरदारों का दमन किया, जो वहाँ के बन्दरगाह में आने वाले जहाजों का माल बहुत अधिक आयात कर लगाकर प्राय: लूट लिया करते थे । उसने उनके करों को बहुत हल्का कर दिया और बाहरी जहाजिओं की रक्षा का हरसंभव उपाय किया ।

इन सुधारों का परिणाम राजकीय आय की वृद्धि में परिणत हुआ होगा । काकतिय राजस्व का मुख्य स्रोत तो कृषि ही रहा होगा । किन्तु उसके साथ ही व्यापार और उद्योग राजकीय राजस्व के अन्य साधन थे । अनेक अवसरों पर राजाओं अथवा राजकुमारों को प्राप्त होने वाली भेंटें भी राज्य की आय का स्रोत रही होंगी । अभिलेखों से यह ज्ञात होता है कि भूमि के दो प्रकार थे--एक सिंचित भूमि और दूसरी असिंचित भूमि । उनपर लगाये जाने वाले करों में अन्तर किया जाता था । बांस के डण्डों द्वारा भूमि का मापन किया जाता था, जिनकी लम्बाई विभिन्न क्षेत्रों में अलग-अलग रही हुई ज्ञात होती है । सिंचित भूमि पर लगाया जाने वाला कर असिंचित भूमि पर लगाये जाने वाले कर से अधिक होता था । किन्तु यह ज्ञात नहीं है कि कृषिकर का निर्धारण किस आधार पर किया जाता था । भूमि पर स्वामित्व दो प्रकार का था--एक तो राज्य अथवा राजा का और दूसरा जमीन जोतने--बोने वाले कृषक का निजी स्वामित्व । भूमिकर वस्तु (उत्पत्ति) रूप और नकदरूप, दोनों ही प्रकार, से दिया जाता था । उत्पत्तिरूप में दिये जाने वाले कर वर्ष में दो बार दिये जाते

---

१. कार्पस् ऑफ् दि इन्स्कृप्शन्स्· ऑफ् तेलिंगांना डिस्ट्रिक्ट, ५ वाँ ।

२. वहीं, ३ ।

३. एन् वेंकटमनैय्या और सोमशेखर शर्मा, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ६७८ ।

४. देखें पीछे प्रतापरुद्र प्रकरण, पृष्ठ ३३२ ।

५. ऐनुअल् रिपोर्ट्स् ऑन् एपिग्राफी, १९१३ का ३६३ ।

६. पीछे पृष्ठ ३२३ ।

थे–एक तो कार्तिक मास (अक्टूबर—नवम्बर) और दूसरा वैशाख (अप्रैल-मई) में, जब दोनों बार की बरसाती या जाड़ों की फसलों की कटाई होती थी । **कलकाण्ड्रू** नामक अधिकारी ऊपज को तौलते थे और उस आधार पर निश्चित मात्रा में कर लगाते थे । राज्य का अंश **पुत्ति-कोलुचु** कहा जाता था ।

आयातित माल पर लगाये जाने वाले कर की संज्ञा थी **शुंकमु = शुल्क** । अभिलेखों में इस कर की गिनती आयात-निर्यात, पथकर, बाग-बगीचे पर लगने वाले करों के रूप में की गयी है । बाजार-हाट **पेट** कहलाते थे, जहाँ करों को मुख्यरूप से वसूल किया जाता था । वहाँ के अनेक करों को तो वे श्रेणियाँ वसूल करती थीं, जो भीतरी और बाहरी व्यापार को अपने व्यापारिक संघों के माध्यम से नियंत्रित करती थीं । वे इनके बदले राज्य को प्रतिवर्ष एक निश्चित रक़म अदा करती थीं[१] । कभी-कभी बाजारहाटों में व्यापारी संघों (श्रेणियों) द्वारा वसूल किये जाने वाले कर किसी न किसी धर्मादा कार्य हेतु मंदिरों, सत्रों या धार्मिक संघों को सौंप दिये जाते थे । इन व्यावसायिक संघों का उत्तरदायित्व इतना मात्र था कि वे राज्य को शुल्कों के बदले निश्चित की हुई मात्रा प्रतिवर्ष देते रहें । उसके बाद वे अपने आन्तरिक संगठन, नियमों और आपसी व्यवहार में पूरी तरह स्वतंत्र थे[२] ।

नमक राज्य का एकाधिकार वाला उद्योग था । अभिलेखों से नमक उद्योग वाले उन अनेक स्थानों के नाम ज्ञात होते हैं, जो समुद्र के किनारों पर स्थित थे–यथा पेड्डगञ्जामु, गञ्जा, चिनगंजाम, कडकुदुर और देवारम्पल्ली[३] । नमक की ये खानें या तो सीधे राज्यकर्मचारिओं की देखरेख में होती थीं अथवा कुछ धन के बदले वे व्यक्तिगत व्यापारिओं को सौंप दी जाती थीं । नमक तौलने वाले अधिकारी को **कोलकाण्ड्रू** कहा जाता था । चरागाहों पर कर लगाकर भी राज्य अपनी आय में वृद्धि करता था । इस कर की संज्ञा थी **पुल्लरि** । जंगलों में भी पशु चराने अथवा लकड़ी काटने वालों से कर वसूल किये जाते थे ।

काकतिय शासन के अन्तर्गत साहित्यिक क्षेत्र में भी महत्त्वपूर्ण कार्य हुए । यहाँ उनका कोई विस्तृत विवरण तो नहीं दिया जा सकता, किन्तु कुछ प्रमुख कृतियों की चर्चा आवश्यक है । काकतिय समय के अनेक अभिलेख या तो संस्कृत भाषा में अथवा तेलुगू भाषा में प्राप्त हुए हैं । कुछ संस्कृत अभिलेख तो साहित्यिक दृष्टि से भी अत्यन्त उच्च कोटि के हैं । उन्हें छोटे-मोटे काव्यों की संज्ञा दी जा सकती है । इन अभिलेख-रचयिताओं में अचिन्तेन्द्र का नाम प्रमुखरूप से लिया जा सकता है । वे गणपति के समकालीन थे,

---

१. याजदानी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ६८४ ।
२. ऐनुअल् रिपोर्ट्स् ऑन् एपिग्राफी, १९१८-१९, कुडप्पा का ११ वाँ ।
३. साउथ इण्डियन् इन्स्कृप्शन्स्, जिल्द १०, ३५८ ।

जिन्होंने १२६३ ई० के हनुमकोण्ड अभिलेख की रचना की थी[१]। १२१४ ई० के गणपवारम् अभिलेख (१२४५ ई०) की रचना नन्दि ने की थी। गणपति के पारवल अभिलेख (१२४५ ई०) के रचनाकार को **कविचक्रवर्ती** कहा गया है। रुद्राम्बादेवी के कोटगिरि अभिलेख में तीन कविओं का उल्लेख प्राप्त होता है। इन कविओं को 'आभिलेखिक कवि' कहा गया है।

संस्कृत ग्रंथों के लेखकों में अगस्त्य सर्वप्रमुख थे, जिनकी पहचान कुछ लोगों द्वारा विद्यानाथ से की गयी हैं। उनके द्वारा रचित ७४ ग्रंथों में अब केवल तीन ही प्राप्त होते हैं। **बालभारत** नामक महाकाव्य उनमें सर्वाधिक प्रसिद्ध है, जो **महाभारत** का संक्षिप्त रूपान्तर है। **नलकीर्त्तिकौमुदी** नामक उनकी दूसरी कृति एक खण्डकाव्य है। प्रतापरुद्र के समय के अप्पयराज नामक एक जैन कवि ने **जिनेन्द्रकल्याणाभ्युदय** नामक ग्रंथ की रचना १३२० ई० में काकतिय राजधानी वारंगल में की। नाटकग्रंथों के काकतिययुगीन लेखकों में सर्वाधिक चर्चित नाम गंगाधर का है। दुर्भाग्यवंश उनका लिखित कोई भी नाटक अब प्राप्त नहीं होता। नरसिंह नामक कवि/लेखक ने ऐतिहासिक ग्रंथ **काकतियचरित** की रचना की। यह भी प्राप्त नहीं है और यह भी ज्ञात नहीं है कि यह ग्रंथ गद्य शैली अथवा पद्यशैली में रचित हुआ था। अलंकारशास्त्र की दृष्टि से ईसा संवत् की १४वीं शताब्दी को तेलुगू के स्वर्णयुग का विशेषण प्राप्त[२] है। गद्यकाव्यों में अगस्त्यकृत **कृष्णचरित** और नरसिंहकृत **गद्यकाव्य** प्रसिद्ध हैं, इनमें **कृष्णचरित** तो आज भी उपलब्ध है, किन्तु नरसिंह कृत **गद्यकाव्य** केवल उद्धरणों मात्र में प्राप्त होता है।

काव्य के क्षेत्र में संस्कृत और तेलुगू दोनों ही भाषाओं की रचनाएँ साथ-साथ चलती रहीं। ये प्रथा अभिलेख-लेखन में विशेषरूप से दिखायी देती है। यद्यपि तेलुगूभाषी अभिलेखों के रचयिताओं के नाम प्रायः प्राप्त नहीं होते, तथापि कुछ प्रसिद्ध तेलुगू अभिलेख-लेखक तो ज्ञात हैं ही। ११४५ ई० के गुण्टूर जिले के चेबुलू अभिलेख से भीमय्यपण्ड (पण्डित) और बोथपुर अभिलेख से ईश्वर भट्टोपाध्याय नामक दो अच्छे तेलुगू कविओं की जानकारी प्राप्त होती है[३]।

काकतिय काल में धार्मिक क्षेत्र में मुख्यरूप से शैव संप्रदाय का ही बोलबाला दिखायी देता है। इसकी कई शाखाओं में क्रमशः पाशुपत शाखा का प्रभाव आन्ध्रप्रदेश में बढ़ता गया। प्रथम प्रोल शैव था, जो रामेश्वर पण्डित का सर्वोत्तम शिष्य बताया गया है। रामेश्वर पण्डित को **लकुलीश्वर आगम महासिद्धान्त** में पारंगत बताया गया है[४]।

---

१. कार्प्स् ऑफ् इन्स्कृप्शन्स् इन् दि तेलंगाना डिस्ट्रिक्ट, २२।
२. एन् वेंकटरमनैय्या और सोमशेखर शर्मा, याजदानी सं०, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ६८९।
३. याजदानी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ६९१।
४. कार्पस् ऑफ् इन्स्कृप्शन्स्, ७वाँ, उद्धृत, याजदानी, वहीं।

किन्तु इस संप्रदाय का प्रभाव आन्ध्र क्षेत्र में काकतिय काल के पूर्व में भी था । प्रोल के बाद वाले काकतिय शासक भी पाशुपत संप्रदाय को ही मानने वाले थे । तथापि गणपतिदेव के समय कालामुख संप्रदाय की भी कुछ प्रमुखता स्थापित होती हुई दिखायी देती है, जो गोलकीमठ के कारण संभव हुई । धीरे-धीरे जनता में दोनों ही संप्रदायों की कुछ न कुछ पैठ हो गयी ।

●

अध्याय १२

मदुरै का पाण्ड्य राज्य (१३०० ई० तक)

संगम साहित्य का पाण्ड्य राज्य

सुदूर दक्षिण के लिखित इतिहास का प्रथम प्रारंभ चोड़मण्डलम् (उरियाऊर-संस्कृत का उरगपुर, तंजाऊर = तंजौर, काञ्ची और कावेरी तटों) तथा मदुरै (माडक्कुड़िकिड़मदुरै) के उन दक्षिण समुद्रतटीय क्षेत्रों से ही हुआ, जहाँ की द्राविड़ संस्कृति भारतवर्ष की सबसे प्राचीन संस्कृतियों में एक रही; जहाँ की प्राचीनतम भाषा तमिल पर संस्कृत का सबसे कम प्रभाव पड़ा; जिसमें संस्कृत के सबसे कम शब्द हैं; जो संस्कृत से न उपजने वाली तथा देश की प्राचीनतम देशी (प्राकृत) भाषा सिद्ध हुई और जहाँ का साहित्य सारे दक्षिण भारत के लिखित साहित्य का प्राचीनतम अंश (संगम साहित्य) है। कठिनाई यह है कि सारे संगम साहित्य की परंपरा कुछ ऐसे मिथकीय जाल में फंसी-घिरी है कि उसके आदि मध्य और अन्त को सीमांकित कर सकना असंभव सा है। संगम का अर्थ है अकादमी, वैसी ही अकादमी जैसी आज की फ्रान्सीसी अकादमी है। ऐसा विश्वास है कि संगम तीन हुए और तीनों ही मदुरै राज्य में स्थित थे। प्रथम संगम उस मदुरै नगर में स्थित था, जो अब हिन्द महासागर में विलीन हो चुका है; दूसरा कपातपुरम् में स्थित था और वह भी समुद्र में समा चुका है और तीसरा आजकल की वर्तमान नगरी मदुरै में था, जो दक्षिण का प्रसिद्ध तीर्थ नगर है[१]।

वैज्ञानिक इतिहास की दृष्टि में केवल तीसरे संगम को ही ऐतिहासिक स्वीकार किया गया है। तदनुसार, इसे ४९ पाण्ड्य राजाओं ने अपना संरक्षण प्रदान किया और कुल ४४९ कविओं ने स्वीकृति हेतु अपनी रचनाएँ इसके सम्मुख प्रस्तुत कीं। किन्तु इस तृतीय संगम में कौन-कौन से ग्रंथ थे, कौन पहले रचित हुए, कौन बाद में और उनकी रचना तिथि क्या है, इस पर न तो अब तक एकमत हो सका है और न एकमत स्थापित होने की संभावना है। पाण्ड्य राजधानी माडक्कुड़किड़मदुरै के नाम की व्याख्या नम्बिरचित **तिरुविलैड़लैयाड़ल** में प्राप्त होती[२] है। उसके उल्लेख अनेक पाण्ड्य अभिलेखों में भी प्राप्त होते हैं। कुछ दूसरी कथाओं में मदुरै को शिव से भी जोड़ा गया है।

वाल्मीकि रामायण के **किष्किन्धाकाण्ड** (अध्याय ४१, श्लोक १९) में कपाटपुरम् का उल्लेख हुआ है। परन्तु इस उल्लेख के तैथिक प्रश्न पर व्याख्याएँ भिन्न-

१. के० आर०, श्रीनिवास आयंगर, दि एज् ऑफ् इम्पीरियल् यूनिटी, पृष्ठ २९२।
२. नीलकान्त शास्त्री, दि पाण्ड्यन् किंगडम्, पृष्ठ ३।

भिन्न हैं। यह तृतीय संगम का समकालीन भी हो सकता है। कुछ लोगों ने पाण्ड्य को महाभारतकाल के पाण्डु से भी मिलाया है, जो दक्षिण भारतीय नामों के संस्कृतकरण का परिचायक हो सकता है। कौटिलीय **अर्थशास्त्र** में पाण्ड्य नाम का स्पष्ट रूप से उल्लेख हुआ है।

पाण्ड्य देश के नाम अथवा पाण्ड्य राजाओं के मूल क्या थे, यह अन्धकार के गर्त में ही छिपा हुआ प्रतीत होता है। नम्बिरचित **तिरुविलैड़यैयाड़ल** में पाण्ड्यों को चन्द्र से जोड़ा गया है, जो बाद में कई बार दुहराया गया है। विन्सेण्ट स्मिथ का विश्वास[१] था कि प्राथमिक पाण्ड्य राजाओं ने मदुरै को अपनी राजधानी बनाने के पूर्व कोर्कै, मणलूर और कल्याणपुर से शासन किया था। पाण्ड्य क्षेत्रों में अशोक के कुछ अभिलेख इस बात के प्रमाण उपस्थित करते हैं कि वहाँ बौद्ध धर्म का उसके समय तक प्रचार हो चुका था। कुछ ही समय बाद जैन धर्म भी वहाँ पहुँचा।

किन्तु पाण्ड्य राज्य के सर्वप्रथम व्यापक साहित्यिक उल्लेख तो तृतीय संगम के ग्रंथों में ही प्राप्त होते हैं। यद्यपि इस संगम में सम्मिलित किये जाने वाले ग्रंथों के तिथिक्रम और उनके पूर्वापर के बारे में इतने अधिक मतमतान्तर हैं कि सैकड़ों तमिल विद्वानों के सम्बद्ध निष्कर्षों का कोई एक समाहार निकालना असंभव सा प्रतीत होता है। वास्तव में सारा का सारा संगम साहित्य मिथकों और कथानकों के जाल में घिरा हुआ है। इस सम्बन्ध का सारा उल्लेख मूलत: **इड़ैयन्नार अहपोरुल** की एक टीका पर आधृत है, जो ९९०० वर्षों तक चलने वाले तीन संगमों का पहला उल्लेख करता है। उसमें ८५९८ कवि हुए, शिव सहित अनेक देवता हुए और उन संगमों के संरक्षक १९७ पाण्ड्य शासक हुए। सम्बद्ध टीकाकार थे नक्किरार। अनेक पुराने संगम ग्रंथों की बातों का वर्तमान काल की क्रियाओं के साथ उल्लेख हुआ हैं। ऐसी घटनाओं के भी उल्लेख हैं, जो सातवीं शताब्दी में घटीं[२]। इस कारण इस सारी परंपरा से ही विश्वास उठ जाता है और इसे काल्पनिक ही माना जाना चाहिए। इस उल्लेख में प्राप्त कुछ पाण्ड्य राजाओं-यथा काण्डुगोन तथा उग्रप्पेरुवडुदु–के नाम पाण्ड्य अभिलेखों में भी प्राप्त होते हैं। यह बात आसानी से समझी जा सकती है कि तमिल साहित्य के लेखकों के इस समुदाय का संघटन ही बौद्ध संघ के आदर्श पर हुआ होगा, विशेषत: उस युग में जब दक्षिण में बौद्धधर्म का प्रचार हो चुका था[३]।

नीलकान्त शास्त्री ने संगम (तृतीय) में **शिलप्पद्दिकारम्** और **मणिमेखलै**[४] के

---

१. अर्ली हिस्ट्री ऑफ् इण्डिया, चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ ४६८; इऐ०, जिल्द १३, पृष्ठ ६६।

२. नीलकान्त शास्त्री, दि पाण्ड्यन् किंगडम्, पृष्ठ १४-१५।

३. वहीं, पृष्ठ १५।

४. के० आर्० श्रीनिवास आयंगर इन दोनों महाकाव्यों को तमिल साहित्य का **इलियड** और **ओडीसी** कहते हुए संगम साहित्य की अंतिम कड़ी में रखते हैं। देखें, दि एज् ऑफ् इम्पीरियल् यूनिटी, पृष्ठ ३६१।

अतिरिक्त उन असंख्य कविताओं की गिनती की है, जिनकी रचना लगभग २०० वर्षों तक बराबर होती रही। उस समय का राजनीतिक भूगोल संगमों में वर्णित तीन नृपतंत्रों के अतिरिक्त उन अनेक वीर राज्यों द्वारा निर्मित था[१], जो छोटे-छोटे राज्यों के रूप में वर्तमान थे। उस साहित्य में जिन नगरों, बन्दरगाहों और बाजारों तथा व्यापारिक वस्तुओं के उल्लेख प्राप्त होते हैं, वे उन विदेशी भूगोलवेत्ताओं और नाविकों अथवा यूनानी और रोमक लेखकों के वृत्तों से पूरे मेल खाते हैं, जो ईसा की कुछ प्रारंभिक शताब्दियों वाले दक्षिणी भारत का विवरण उपस्थित करते हैं। दोनों ही साहित्यों में मुसिरि, कोर्कै तथा तोण्डी जैसे बन्दरगाहों तथा कालीमिर्च, शराब और रेशमीवस्त्र जैसी व्यापारिक वस्तुओं के समान प्रकार के उल्लेख प्राप्त होते हैं। एक बात प्रमुख रूप से सामने आती है कि संगम ग्रंथों में पल्लव राजाओं का कोई उल्लेख नही हैं। अन्ततः यह निष्कर्ष निकाला गया है कि "संगम युग ईसा की कुछ प्रारंभिक शताब्दियों के बीच में ही था[२]।" इस निश्चय को मानने वालों में विन्सेण्ट स्मिथ[३], सर् चार्ल्स इलियट[४] के नाम प्रमुखरूप से लिये जा सकते हैं।

संगम साहित्य से ज्ञात पाण्ड्य राज्य का क्षेत्र विस्तार आधुनिक तमिलनाडु के समुद्री तटों वाले तिन्नेवली, रामनाड और मदुरै जिलों सहित उत्तर दिशा में वेड़ार जिले की सीमाओं तक रहा प्रतीत होता है। उस साहित्य में लगभग २० पाण्ड्य राजाओं के नाम आते हैं, जिन सबकी पहचान अथवा ऐतिहासिक सत्यता का पता लगा सकना बहुत आसान नहीं है। साथ ही उनसे पाण्ड्य इतिहास के किसी निरंतर आगे बढ़ते रहने वाले इतिहास क्रम को भी निश्चित नहीं किया जा सकता है। कनकसभाई[५] ने इस सम्बन्ध में जो प्रयत्न किया है, उससे सबकी सहमति नहीं है। पाण्ड्य इतिहास में आगे कलभ्र नामक आक्रान्ताओं का जो एक अन्तराल-काल आता है, उसके पूर्व का, एक को छोड़कर, कोई भी संगम साहित्य से ज्ञात शासक अभिलेखों से ज्ञात नहीं होता।

मदुरैकाञ्चि में नेडियोन और पलशालै मुडुकुडुमि नामक दो शासकों के उल्लेख मिलते हैं। इनमें से दूसरे का उल्लेख वेड़िवकुड़ि से प्राप्त अभिलेख में भी हुआ है। किन्तु नेडियोन अथवा वडिवलम्ब निणवन नामक शासक तो केवल मिथकीय प्रतीत होता है। **शिलप्पद्दिकारम्** में वर्णित तत्कालीन मदुरै का शासक नेडुनजेलियन था, जिसका पुत्र

१. नीलकान्त शास्त्री, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ १६; और देखें, पी०टी० श्रीनिवास आयंगर, हिस्ट्री ऑफ् दि तमिल्स्, पृष्ठ ३५९-३६०, रामचन्द्र दीक्षितार, शिलप्पद्दिकारम्, अंग्रेजी अनुवाद, पृष्ठ ९।

२. नीलकान्त शास्त्री, पूर्वनिर्दिष्ट पृष्ठ २१।

३. अर्ली हिस्ट्री ऑफ् इण्डिया, पृष्ठ ४७१-४७२।

४. हिन्दूइज्म ऐण्ड बुद्धिज्म, जिल्द २, पृष्ठ २१४। संगमों की तिथि के प्रश्न पर देखें, रामचन्द्र दीक्षितार, स्टडीज इन तमिल लिटरेचर; एस० के० आयंगर; ऐंशियेण्ट इण्डिया ऐण्ड साउथ इण्डियन हिस्ट्री।

५. तमिल्स् एटीन हंड्रेड ईयर्स एगो।

शेड़ियन्, कोर्कै में उसके गवर्नर के रूप में शासन करता था। उसका नाम था इड़नजेलियन। इसकी समता नीलकान्त शास्त्री[१] ने **महावंश** से ज्ञात सिंहल के शासक गजबाहु से बिठायी है, जो दूसरी शताब्दी ईसवी में वहाँ शासन करता था। **शिलप्पद्दिकारम्** में नेडुनजेलियन द्वारा अनेक शत्रुओं पर विजयों के विस्तृत और रोचक उल्लेख प्राप्त होते हैं। यह भी कथित है कि उसने वेदों में निष्णात ब्राह्मणों की मदद से वैदिक यज्ञों का संपादन किया था। इससे यह स्पष्ट होता है कि वह ब्राह्मणधर्मी विश्वासों को मानने वाला था। उसे कवि और कविओं का आश्रयदाता भी कहा गया है। उसी की प्रेरणा से **अहनानुडु(रू)** नामक गीतसंग्रह तैयार किया गया था।

ऊपर के विवरणों से विन्सेण्ट स्मिथ[२] के उन तर्कों अथवा निष्कर्षों का समर्थन नहीं होता कि तत्कालीन संगम साहित्य से ज्ञात ''अनेकानेक शासकों'' और उनके ''बेतुके नामों'' से यह प्रमाणित हो जाता है कि ''तमिलों ने उस समय उत्तर भारत से बिल्कुल ही स्वतंत्र और भिन्न संस्कृति'' का अपने लिए विकास कर लिया था। अपितु यह कहा जा सकता है कि उस समय मदुरै में ब्राह्मणों की संख्या बाद वाले युग की तुलना में अथवा बौद्धों और जैनों की तुलना में कम नहीं थी। शिव की पत्नी के रूप में कोड़्ड़्वै तथा कोड़्ड़्वै की लक्ष्मी के अवतार के रूप में पूजाएँ प्रचलित थीं। मुरुगन शिव-कोड़्ड़्वै की सेना के सेनापतिरूप (कार्त्तिकेय) तथा ब्राह्मणों के लिए कुबेररूप में स्वीकृत हो चुके थे। **पुरनानुरू** में शिव द्वारा त्रिपुर को दग्ध किये जाने और सुब्रह्मण्य मंदिर के विवरण प्राप्त[३] होते हैं। **शिलप्पद्दिकारम्** में राम और कृष्ण की कथाओं के स्पष्ट रूप भी दिखायी देते हैं।

संगम साहित्य के ग्रंथों में नृपतंत्र के आदर्शों के विवरण यत्रतत्र बिखरे पड़े हैं। नित्यप्रति घूमते रहने वाले कवि, भट्टगण, प्रशस्तिगायक, नर्तक और वादक बराबर राजदरबारों में अपने गीतों द्वारा राजाओं को उनके कर्त्तव्यों का ज्ञान कराते रहते थे। एक स्थानपर[४] और एक ही समय में; कम कर लगाकर धीरे-धीरे राज्यकोष को भरते रहने के लाभरूप में राजा के प्रजा के बीच प्रिय बने रहने और अधिक कर लगाकर जनता के बीच अप्रिय बन जाने के गुणदोषों का मनोरम वर्णन प्राप्त होता है। नगरों-राजधानियों की किलेबन्दी तथा युद्धकला के विकसित स्वरूप के चित्रण भी **मदुरैकाञ्चि** (द्वितीय, ६४-६७) में प्राप्त होते हैं। सैनिक वीरों और वीरपूजा के चित्रण तो कई स्थानों पर मिलते हैं। नेडुनजेलियन की सेना इन वीरों से भरी हुई बतायी गयी है। शालियूर के बन्दरगाह

---

१. दि पाण्ड्यन् किंगडम्, पृष्ठ २४; इस सम्बन्ध में और देखें–भास्कर आनन्द सैलेटोर कृत, इण्डियाज़् डिप्लोमैटिक रिलेशन्स् विथ दि वेस्ट, पृष्ठ २९७ और आगे।

२. अर्ली हिस्ट्री ऑफ् इण्डिया, पृष्ठ ४५७।

३. नीलकान्त शास्त्री, दि पाण्ड्यन् किंगडम्, पृष्ठ २८।

४. वहीं, पृष्ठ २९।

की व्यापारिक गतिविधियों वाले विवरण उस अज्ञातनामा यूनानी नाविक के **पेरिप्लस्** वाले विवरणों की याद दिलाते हैं, जिनमें दक्षिण भारत के पूर्वी तटों के बन्दरगाहों के उल्लेख किये गये हैं। **शिलप्पद्दिकारम्**[१] में मदुरै के दुर्ग में यवन गारदों तथा वहाँ के राजाओं द्वारा विदेशी शराब के प्रयोग की बातें कही गयी हैं। "मदुरा के दुर्ग की बनावट के बारे में उसकी चाहरदीवारी, उसके साथ लगी पानी वाली खाई, उसके द्वार, भरे हुए बाजार-विशेषत: उत्सवों वाले दिनों में, उसके मंदिर और शास्त्रार्थ भवनों के विवरणों का आनन्द तो उनके मूलशब्दों में पढ़कर ही पाया जा सकता है, बजाय इसके कि उनका दूसरी भाषा में अनुवाद करके[२]।" वेश्याएँ, प्रत्येक युगों की तरह, उस समय भी राजदरबार और सम्पन्न जीवन के प्रधान अंग के रूप में समाज में विद्यमान थीं और वाद्य तथा गायन और नृत्यकलाओं की मुख्य वाहिकाएँ थीं। सबेरे-सबेरे उठकर ब्राह्मणों द्वारा वैदिक मंत्रों के पाठ और गायकों द्वारा सुमधुर गायन के मनोरम उल्लेख भी संगम ग्रंथों में प्राप्त[३] होते हैं।

अनुमानत: संगम साहित्य के इस युग को तीसरी ईसवी शताब्दी के मध्य तक स्वीकार किया गया[४] है। उसके बाद का युग कुछ अंधकारमय है जो लगभग छठीं शताब्दी ईसवी तक चलता रहा।

पाण्ड्य सत्ता का विस्तार : प्रथम साम्राज्य

जैसा कि पीछे देखा जा चुका है, तीसरी शताब्दी ईसवी से छठीं शताब्दी के बीच का पाण्ड्य इतिहास अन्धकारमय है। उसके बाद सातवीं शताब्दी से दसवीं शताब्दी के प्रारंभ तक के काल को प्रथम पाण्ड्य साम्राज्य के युग की संज्ञा दी गयी[५] है। किन्तु 'साम्राज्य' शब्द का प्रयोग यहाँ कुछ ढीले-ढाले अर्थों में ही हुआ सा प्रतीत होता है। अपने मूल क्षेत्रों के बाहर चोड़ों के कुछ क्षेत्रों पर अधिकार, पल्लवों की अवनति और उनकी कमजोरी के कारण उनके क्षेत्रों पर किये गये आक्रमण और अल्पकालिक अधिकार तथा कुछ पहाड़ी और जंगली जनजातियों पर विजयें इस पाण्ड्ययुगीन इतिहास की कुछ प्रमुख घटनाओं के रूप में सामने उपस्थित होती हैं। किन्तु प्रश्न यह उठता है कि इस भौगोलिक विस्तार के साथ-साथ पाण्ड्यों के प्राशासनिक विस्तार का आयत्त और स्वरूप किस सीमा तक हुआ था। इन प्रश्नों पर आगे विचार करना आवश्यक होगा।

उपर्युक्त शताब्दियों में शासन करने वाले पाण्ड्य शासकों के वंशक्रम और

---

१. चौदहवाँ, २,६६-६७।
२. नीलकान्त शास्त्री, दि पाण्ड्यन् किंगडम्, पृष्ठ ३१।
३. इन सबका एक बढ़िया समाहार कनकसभाई ने अपने ग्रंथ 'तमिल्स् एटीन हंड्रेड ईयर्स एगो०' अध्याय ९ में दिया गया है।
४. विभिन्न मतों पर विचार हेतु देखें–भास्कर आनन्द सैलेटोर, इण्डियाज़् डिप्लोमैटिक रिलेशन्स् विथ दि वेस्ट, परिशिष्ट व पृष्ठ २८७-३१३।
५. नीलकान्त शास्त्री, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ३३।

तिथिक्रम का उल्लेख करने वाले उनके चार अभिलेखों में सर्वमुख्य है वेड़िवकुड़ि अभिलेख। इन सबके साक्ष्यों के समवेत अध्ययन में एक कठिनाई यह आती है कि वे सभी के सभी संस्कृत और तमिल के माध्यम से द्विभाषी हैं; किन्तु दोनों ही भाषाओं में उल्लिखित राजाओं के नाम पूरी तरह न तो एक दूसरे से मेल खाते हैं और न उनकी संख्याएँ ही एकसमान हैं। उनके, विशेषत: वेड़िवकुड़ि अभिलेख के आधार पर पाण्ड्य राजाओं का वंशक्रम और तिथिक्रम निम्नोक्त प्रकार का तैयार किया गया है[१]।

१. काण्डुगोन (५२०-६२० ई०)
⇕
२. मारवर्मन् अवनिशूड़मणि (६२०-६४५ ई०)
⇕
३. सेण्डन (६४५-६७० ई०)
⇕
४. अरिकेसरीमारवर्मन् (६७०-७१० ई०)
⇕
५. कुच्चडयन (७१०-७४० ई०)
⇕
६. मारवर्मन् प्रथम राजसिंह (७४०-७६५ ई०)
⇕
७. जटिल परांतक नेडुनजडयन् (७६५-८१५ ई०)
⇕
८. बड़ा शिन्नमनार फलकाभिलेख का श्रीमारश्रीवल्लभ (८१५-८६२ ई०)
⇕
९. वरगुणवर्मन् (८६२-८८० ई०)
⇕
१०. परांतक वीरनारायण (८८०-८९० ई०)
⇕
११. मारवर्मन् द्वितीय राजसिंह (९००-९२० ई०)

आगे चलकर प्रथम परातंक, वरगुण महाराज (पीछे की संख्या ७) के अनमालै अभिलेख में उसकी तिथि ३८७१ कलियुग संवत् = ७७० ई० प्राप्त होती है। द्वितीय राजसिंह (सूची के ११वाँ शासक) को १०वीं शताब्दी के प्रारंभ में प्रथम परांतक नामक

---

१. वहीं, पृष्ठ ३६। यहाँ यह कहना आवश्यक है कि इस विषय पर लिखने वाले विभिन्न दक्षिण भारतीय, तमिलभाषी, विद्वानों की संख्याएँ न जाने कितनी हैं, किन्तु उनमें से कोई भी दो एकमत के नहीं हैं।

चोड़ शासक द्वारा पराजित किये जाने के उल्लेख से प्रारंभकर पीछे की ओर जाते हुए २५ वर्षों की औसत से प्रत्येक शासक का समय मानते हुए, यदि गणना की जाय तो पाण्ड्यकुल के प्रथम शासक काण्डुगोन का समय सातवीं शताब्दी के प्रारंभ में निश्चित किया जा सकता है। संभव है, यह छठीं शताब्दी का अन्त भी हो। इन्हीं तीन सौ वर्षों के बीच में पल्लव शासकों ने चोड़ों को समाप्तकर काञ्चीपुरम् में अपनी सत्ता स्थापित कर उसे विस्तृत किया। तदनन्तर, लगभग दो शताब्दियों के पल्लव प्रभुत्व को समाप्तकर पाण्ड्यों ने अपने एक छोटे से साम्राज्य युग का प्रारंभ किया, जिस बीच इन दोनों सत्ताओं के मध्य कई-कई बार सैनिक संघर्ष हुए, और अन्ततः विजयालय के नेतृत्व में उरियाऊर और तंजाऊर की चोड़ सत्ता के उभार तथा प्रथम परांतक के समय उसके विस्तार और पाण्ड्यों की सत्तापर लगने वाले ग्रहण के साथ इन तीन शताब्दियों वाले दक्षिण भारतीय इतिहास के इस चक्र का समापन हुआ।

कलभ्रों द्वारा उत्पन्न किये गये पल्लव-पाण्ड्य क्षेत्रों के अन्धकार (**कलिकाल**) युग के अन्त के समय प्रथम दो पाण्ड्य शासकों-काण्डुगोन और मारवर्मन् अवनिशूड़मणि का समय छठीं शताब्दी का अन्त और सातवीं शताब्दी का प्रारंभ स्वीकार किया गया है। अभिलेखों के तमिल वाले भागों में यह कथित है कि उसने पृथ्वी पर अधिकार कर लेने के दूसरों के दावों को समाप्तकर अपनी शक्ति से, उस अधिकार पर अपना दावा स्थापित किया[१]। संभवतः यह संदर्भ कलभ्र आक्रामकों के विरुद्ध किये गये उसके प्रयत्नों की ओर ही है। किन्तु इस सम्बन्ध में कुछ भी निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है। यहाँ इस तथ्य की ओर भी निर्देश किया जा सकता है कि पल्लव सत्ता का संस्थापक शासक सिंहविष्णु[२] भी छठीं शती के अन्त का ही शासक था और वह भी कलभ्र जातियों पर विजय का दावा करता है। कलभ्र आक्रमण पल्लव और पाण्ड्य दोनों ही उभरती हुई सत्ताओं के लिए एक समान चुनौती के रूप में उपस्थित हुआ था। किन्तु यह जानने का कोई साधन नहीं है कि दोनों ने उसका सामना समवेत होकर किया अथवा अकेले-अकेले।

काण्डुगोन के पुत्र और उत्तराधिकारी मारवर्मन् अवनिशूड़मणि के शासन के समय की किसी भी विशेष बात की जानकारी नहीं मिलती। उसके उत्तराधिकारी शेण्डन जयन्तवर्मन् का शासन ६४५ से ६७० ई० के बीच रहा। उसकी एक उपाधि **वानवन** थी, जिससे यह कल्पना की गयी है कि उसने केरलों के विरुद्ध कुछ सफलता प्राप्त की। किन्तु उसकी वीरता और न्यायभावना की कुछ रस्मी चर्चाएँ मात्र ही कुछ अभिलेखों में प्राप्त होती हैं। उसके पुत्र और उत्तराधिकारी अरिकेसरी मारवर्मन् के समय की कुछ

---

१. वेड़िवकुड़ि फलकाभिलेख, प्रथम, १११; द्वितीय, ३९-४०। विशेष विवरणों हेतु देखें, नीलकान्त शास्त्री, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ४२-४४ और उनकी पादटिप्पणियाँ।

२. डुब्रियेल ने सिंहविष्णु का राज्यारोहण ५७५ ई० में निश्चित किया है। देखें, दि पल्लवज़् ऑफ् काञ्ची।

घटनाओं की अपेक्षाकृत अधिक जानकारी है । उसका शासनकाल ६७० से ७१० ई० तक निश्चित किया गया[1] है । इस शासक को वेल्विड़िकुड़ि अभिलेख में अरिकेसरी मारवर्मन् और लघु शिन्नमनूर अभिलेख में अरिकेसरी परांतक कहा गया है । उसी के समय से पल्लवों के विरुद्ध चलने वाला पाण्ड्यों का वह सतत् संघर्ष प्रारंभ हुआ, जो आगे चलकर अन्ततः पल्लव सत्ता के अन्त का एक कारण सिद्ध हुआ । किन्तु इस समय होने वाले इन दोनों सत्ताओं के बीच के संघर्षों का सही-सही खाका खींचने हेतु कोई स्पष्ट साधन उपलब्ध नहीं है । वेल्विड़िकुड़ि अभिलेख से केवल इतना मात्र ज्ञात होता है कि अरिकेसरी मारवर्मन् ने पाड़ि और नेल्वेलि के युद्धों में विजयें प्राप्त[2] कीं । किन्तु ये युद्धक्षेत्र कहाँ थे, यह स्पष्टरूप से निश्चित नहीं किया जा सका है । यह भी कथित है कि उसने परवों को चौपट कर डाला और कुरुनाडु के उपजाऊ क्षेत्रों वाले लोगों को पराजित किया । केरलराज को कई बार पराजित कर उसके स्वजनों के साथ उसे कैदी बना लेने के उल्लेख भी प्राप्त होते हैं । उसकी प्रशंसा **हिरण्यगर्भ** और **तुलाभार** नामक दानपरक यज्ञों के कर्ता के रूप में भी की गयी है । उपर्युक्त सूची के परव लोगों की समता पाण्ड्यदेश के दक्षिणपूर्व में समुद्री तटों वाले उन लोगों से की गयी है जो आज भी उसी नाम से वहाँ वर्तमान हैं । किन्तु कुरुनाडु की पहचान मुश्किल है । इतना निश्चित है कि सर्वप्रथम अरिकेसरी मारवर्मन् के समय ही उत्तरी दिशा में पल्लव शासकों और पश्चिम दिशा में केरल के शासकों के विरुद्ध होने वाले पाण्ड्यों के सैनिक संघर्ष प्रारंभ हुए । फलतः पाण्ड्यों ने अपने परपंरागत शासित क्षेत्रों का विस्तारकर एक साम्राज्यवादी युग का प्रारंभ किया[3] ।

अरिकेसरी परांकुश मारवर्मन् को उस प्रसिद्ध कून पाण्ड्य से मिलाया गया है, जिसकी कहानियाँ प्रसिद्ध शैवसन्त तिरुज्ञानसंबंदर के समकालीन के रूप में प्राप्त होती हैं । कहा जाता है कि ये संबंदर एक दूसरे शैवसन्त शिरुतोण्डार के समकालीन थे, जिन्होंने किसी पाण्ड्य राजा को शैवधर्म में दीक्षित किया था । यह दीक्षित शैव शासक निण्रशैनेडुमारन नाम से स्वयं संतकोटि को प्राप्त हो गया । शैव संत होने के पूर्व शिरुतोण्डार ने पल्लव शासक प्रथम नरसिंहवर्मन् के सेनापति के रूप में ९४२ ई० में द्वितीय पुलकेशिन् की राजधानी वातापी पर पल्लवों की ओर से अधिकार किया था, जिसके

---

१. इस सम्बन्ध में देखें, वेंकय्या, ऐनु० रिपोर्टस् ऑन् एपिग्राफी, १९२७, भाग २, २०वाँ पैराग्राफ ।

२. वेंकय्या महोदय ने (साउथ इण्डियन् इन्स्कृप्शन्स्, जिल्द २, पृष्ठ ३६१ और आगे) इन स्थानों को उदयचन्द्र द्वारा, द्वितीय नन्दिवर्मन् पल्लवमल्ल के उदयेन्दिरम् अभिलेख में वर्णित, लड़े गये युद्धक्षेत्रों से मिलाया है । इस सम्बन्ध में और देखें, नीलकान्त शास्त्री, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ४६, नोट १ ।

३. नीलकान्त शास्त्री, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ४८ ।

उद्धरण **पेरियपुराणम्**[1] नामक ग्रंथ में प्राप्त होते हैं ।

अरिकेसरी परांकुश मारवर्मन् का पुत्र और उत्तराधिकारी हुआ कोच्चडयन, जिसे **रणधीर** भी कहा गया है । उसका राज्यारोहण सातवीं शती के अन्त अथवा आठवीं शती के प्रारंभ में कभी हुआ होगा । कोच्चडयन एक विजेता शासक रहा प्रतीत होता है, जिसके विरुद थे **वानवन्, शेम्बियन्, शोलन्** । ये चेरों (केरलों) और चोड़ों पर उसकी विजयों के द्योतक हैं । उसे **मदुरकरुनाटकन्** और **कोंगरकोमान्** भी कहा गया है, जो उसकी सैनिक दक्षता और सफलताओं को इंगित करते हैं । कथित है कि उसने मंगलापुरम् (मंगलोर) में महारथों को दबाया । महारथों और कोंगरकोमान् जैसे उल्लेखों से यह आभास होता है कि उसने पश्चिमी समुद्र तटों तक की विजययात्राएँ कीं, जहाँ के शासक को **आय** राज कहा गया है । यह **आय** राज पश्चिमी घाट के तिन्नेवली जिले का कोई पहाड़ी शासक था[2] ।

मारवर्मन् राजसिंह (७४०-७६५ ई०)

कोच्चडयन **रणधीर** का पुत्र और उत्तराधिकारी हुआ मारवर्मन् प्रथम **राजसिंह** । उसके सम्बन्ध की अनेक सूचनाएँ वेल्वि(ड़ि)कुड़ि दानपत्र में प्राप्त होती हैं । मद्रास म्यूजियम दानफलक में उसे **पल्लकभञ्जन** कहा गया है, जिससे पल्लव राज्य पर उसकी विजय अथवा विजयों की ओर निर्देश होता है । वेल्वि(ड़ि)कुड़ि अभिलेख के संस्कृतवाले अंशों में कथित है कि उसने नेडुवयल, कुरुमण्डै, मणिकुरिच्चि, तिरुमंगै; पुवलूर, कोडुम्बालूर तथा अन्य युद्धक्षेत्रों में विजयें प्राप्त कीं तथा पल्लवराज कोलुम्बूर में अपने सारे वैभव को खो बैठा । **राजसिंह** ने उसके अनगिनत हाथियों, घोड़ों और धनसम्पत्ति को छीन लिया । विद्वानों का यह अनुमान है कि पल्लवराज के विरुद्ध राजसिंह की इन विजयों और उनसे सम्बद्ध युद्धस्थलों के ये एकतरफा उल्लेख कदाचित् द्वितीय नन्दिवर्मन् **पल्लवमल्ल** (७३१-७९६ ई०) के उदयेन्दिरम् अभिलेख[3] वाले उसके सेनापति उदयचन्द्र की विजयों के उंल्लेखों के ही प्रतिरूप हैं, जिनमें उदयचन्द्र के पक्ष गाये गये हैं । पाण्ड्य पक्ष का यह दावा है कि **राजसिंह** ने नन्दिग्राम के किले को घेर रखा था[4] । इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि युद्धों में पाण्ड्यराज ही आक्रमणकारी था और उदयचन्द्र द्वारा लड़े गये सभी युद्ध प्रतिरक्षात्मक ही थे ।

वास्तव में पाण्ड्य सेनाओं द्वारा पल्लवराज के विरुद्ध किया गया यह आक्रमण काञ्ची की राजगद्दी पर उत्तराधिकार को लेकर जारी आपसी संघर्ष की कड़ी का ही एक हिस्सा था, जिसमें द्वितीय नन्दिवर्मन् मुख्य पल्लव राजशाखा का न होते हुए भी शासक

---

१. वेंकैय्या, एइ०, जिल्द ३, पृष्ठ २७७-२७८; डुब्रियेल, दि पल्लवज़्, पृष्ठ ६७-६८ ।

२. टी० ए० गोपीनाथ राव, ट्रावनकोर आर्केलॉजिकल् सीरिज, जिल्द १, पृष्ठ ३ ।

३. देखें पीछे पृष्ठ २७६-२७७ ।

४. देखें पीछे, अध्याय ९, पृष्ठ २७८ ।

हो गया था और द्वितीय परमेश्वरवर्मन् अथवा चित्रमाय उसके विरुद्ध राजगद्दी के लिए संघर्षरत था। जोबियो डुब्रियेल[1] का मत था कि पाण्ड्य शासक प्रथम **राजसिंह** ने परमेश्वरवर्मन् की ओर से ही काञ्ची के आसपास कहीं स्थित नन्दिपुरी के दुर्ग को अपनी सेनाओं द्वारा घेरा[2] था। इन साक्ष्यों से यह प्रमाणित हो जाता है कि पल्लव शासक द्वितीय नन्दिवर्मन् (७३१-७९६ ई०) और पाण्ड्य शासक मारवर्मन् प्रथम **राजसिंह** समकालिक ही थे।

मारवर्मन् **राजसिंह** की कुछ अन्य विजयों के भी उल्लेख प्राप्त होते हैं, जो उसके लिए अधिक लाभकारी रहे प्रतीत होते हैं। कथित है कि उसने पेरियलूर नामक स्थान पर अपने शत्रुओं को पराजित किया; कावेरी नदी को पारकर मड़कोंगम् को जीता तथा मालवराज को हराकर उसकी पुत्री से विवाह किया। मड़कोंगम् क्षेत्र की पहचान आधुनिक त्रिचनापल्ली और तंजाऊर जिलों से की गयी[3] है। मालवदेश से आगे बढ़ते हुए उसके पण्डिक्कोडुमुडि तक जाने और वहाँ शिव (पशुपति) की, प्रभूत स्वर्ण और चमकीले रत्नों की भेंट देते हुए, पूजा करने के उल्लेख किये गये[4] हैं। यह भी ज्ञात होता है कि उसने वल्लभराज को हराकर गंग राज्य से सम्बन्ध स्थापित करते हुए अपने पुत्र कोंगरकोन का विवाह गंग राजा की पुत्री से सम्पन्न किया। पराजित किया जाने वाला वल्लभराज द्वितीय कीर्त्तिवर्मन् चालुक्य था, जिसकी सत्ता राष्ट्रकूटों के उदय के कारण पहले से ही क्षीण हो रही थी। इसके विपरीत कीर्त्तिवर्मन् के अभिलेखों में कहा गया है कि उसने केरलों, चोड़ों और पाण्ड्यों को पराजित किया[5]। किन्तु यहाँ यह कहना आवश्यक है कि इन घटनाओं से सम्बद्ध विभिन्न राजाओं, उनके पारस्परिक वैवाहिक सम्बन्धों और युद्धक्षेत्रों की पहचानों के बारे में विद्वानों के मतों में बहुत से पारस्परिक मतभेद हैं।

ऊपर वर्णित उल्लेखों के वास्तविक ऐतिहासिक तथ्य चाहे जो रहे हों, कुछ निष्कर्ष आसानी से निकाले जा सकते हैं। सर्वप्रमुख तथ्य यह है कि मारवर्मन् **राजसिंह** ऐसे समय पाण्ड्य राजगद्दी का मालिक हुआ था, जो सुदूर दक्षिण की राजनीति, विभिन्न राज्यक्षेत्रों के आपसी सम्बन्धों, पूर्वतः स्थापित सत्ताओं के बिखराव और नयी सत्ताओं के उदय का एक संक्रमणकाल था। उस समय का शक्तिशाली चालुक्य साम्राज्य राष्ट्रकूटों द्वारा पद्दलित किया जाकर अपनी अन्तिम सासें गिन रहा था। पल्लव राज्य की सर्वोच्च सत्ता और शिखर का काल अवरोह पर था और काञ्ची की राजगद्दी पर द्वितीय नन्दिवर्मन् **पल्लवमल्ल** के रूप में राजनीतिक और सैनिक दृष्टि से एक ऐसा कमजोर शासक

---

१. दि पल्लवज़्, पृष्ठ ६८-६९।
२. देखे पीछे पृष्ठ २७८।
३. नीलकान्त शास्त्री, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ५२।
४. वेल्वि(ड़ि)कुड़ि अभिलेख।
५. एइ०, जिल्द १५, पृष्ठ २९५-२९६।

विराजमान था (७३१-७९६ ई०), जो अपनी ही राजगद्दी के लिए कदाचित् अपने शासन के अधिकांश वर्षों में अन्य प्रतिद्वन्द्विओं से जूझते रहने को विवश था[१] । चोड़ों की उरियाऊर वाली सत्ता अभी पूरी तरह उभर नहीं पायी थी । इस वातावरण में **राजसिंह** जैसे महत्त्वाकांक्षी और सैन्यकुशल, किन्तु एक छोटे राज्य के शासक, के लिए भी अनेक संभावनाएँ वर्तमान थीं और उसने उनका लाभ उठाकर अपने पैतृक राज्यक्षेत्र का काफी विस्तार कर लिया । अत: यदि कुछ विद्वान् उसके राज्य को साम्राज्य की संज्ञा देते हैं तो उसमें कोई आश्चर्य नहीं है । उसकी सबसे बड़ी सफलता यह थी कि उसने उस समय के सुअवसरों का पूरा लाभ उठाया ।

राजसिंह द्वारा **गोसहस्त्र, हिरण्यगर्भ** और **तुलाभार** नामक यज्ञों के संपादन और वैदिक ब्राह्मणों को दिये गये आश्रय के उल्लेखों से पारंपरिक वैदिक और ब्राह्मणीय धर्मों में उसके विश्वास स्पष्टत: परिलक्षित होते हैं । उसके शासन का अन्त कभी ७६५ ई० के आसपास हुआ ।

जटिल परांतक (वरगुण महाराज ७६५-८१५ ई०)

प्रथम **राजसिंह** का उसकी प्रमुख रानी (मालव राजकुमारी) से उत्पन्न पुत्र, जटिल परांतक, उसका उत्तराधिकारी हुआ (७६५ ई०) और अगले लगभग ५० वर्षों तक शासन करता रहा । वह वरगुण महाराज, मारनजडयन् और नेडुनजडयन् नामों से भी अभिलेखों द्वारा ज्ञात है । वेल्वि(ड़ि)कुड़ि, मद्रास म्यूजियम फलक, अन्नमालै तथा त्रिचनापल्ली से प्राप्त पाण्ड्य वंश के अधिकांश अभिलेख उसी ने प्रकाशित किये । शासन प्रारंभ करने के थोड़े दिनों के भीतर ही उसने **पल्लवमल्ल** (द्वितीय नन्दिवर्मन्) को कावेरी नदी के दक्षिणी किनारे पर स्थित पेण्णागडम् नामक स्थान पर पराजित किया । यह स्थान कहीं तंजाऊर नगर के पास ही स्थित था[२] । इसके अतिरिक्त उसने आयवेड़ द्वारा किये गये किसी स्थानीय विद्रोह को भी दबाया । मारंगारि (उर्फ मधुरकवि) नामक उसके एक राज्याधिकारी ने एक विष्णुमंदिर (शिलागृहम्) का निर्माण मदुरै के पास ही स्थित अन्नमालै की पहाड़ी पर कराकर उसके पास के एक गांव को **अग्रहार** रूप में ब्राह्मणों को दान दिया । इसका उल्लेख जटिल परांतप के वेल्व(ड़ि)कुड़ि अभिलेख में उसके शासन के तीसरे वर्ष की घटना के रूप में प्राप्त होता है । इस मधुरकवि के कई और भाई भी बड़े-बड़े राजकीय पदों पर नियुक्त थे, जिनमें कइयों को तो **महासामन्त** और **उत्तरमंत्रिन्** भी कहा गया है ।

जटिल परांतक के शासन के १७वें वर्ष तक उसके द्वारा सम्पन्न की गयी अनेक विजयों के उल्लेख उसके अभिलेखों में प्राप्त होते हैं । ये विजित शत्रु वे ही थे, जिनके

---

१. देखें, पीछे पृष्ठ २७६ और आगे ।

२. के०वी० एस्० अय्यर, ऐंश्येण्ट डेखन, पृष्ठ १३३; और देखें ऐनुअल् रिपोर्टस् ऑन् एपिग्राफी, १९०७ का ३१४ ।

विरुद्ध उसके पिता ने भी युद्ध किये थे। किन्तु पितापुत्र द्वारा किये गये युद्ध के अलग-अलग दौरों में अन्तर यह दिखायी देता है कि जहाँ उसके पिता के द्वारा लड़े गये युद्धों में पाण्ड्यों को क्षेत्र विस्तार की दृष्टि से कोई स्थायी लाभ नहीं हासिल हुए थे, वहीं जटिल परांतक की विजयों के कारण पाण्ड्य राज्य की अपनी सीमाओं में वृद्धि हुई। वेड्डूर, विण्णम् और शेलियकुड़ि के मैदानों में उसकी विजयों के उल्लेख तो हैं, लेकिन उसके शत्रुओं के बारे में कोई निर्देश नहीं मिलते। कावेरी नदी के उत्तरी किनारे पर आयिरवेलि, अयियूर और पुगलियूर में आदिगन को पराजित करने के उल्लेख के साथ ही यह कथित है कि उसने शत्रु के रथों को उनके घोड़ों सहित छीन लिया। यह भी कथित है कि आदिगन की युद्ध में सहायता पल्लवों, केरलों और चोड़ों ने भी की थी[१]। फलस्वरूप पश्चिमी कोंगुदेश का राजा पकड़ लिया गया, उसके हाथी छीन लिये गये और वह स्वयं पाण्ड्यों के जेल में डाल दिया गया। आदिगन अथवा आदिगमान नामक एक वंश कोंगुदेश के तगडूर (धर्मपुरी) से शासन करता था, जो पश्चिमी कोंगुदेश का ही सामन्त वंश रहा जान पड़ता है। इन युद्धों के फलस्वरूप कोंगु राज्य पाण्ड्य राज्य में मिला लिया गया। यह कल्पना की गयी है कि पाण्ड्य राज्य की दिनोंदिन बढ़ती हुई शक्ति से भयभीत होकर ही केरल, चोड़ और पल्लव शासकों ने समवेत होकर एक साथ उसके विरुद्ध युद्ध किया था। इस विजय के बाद कोंगुदेश के काञ्जीवायप्पेरूर में पाण्ड्यराज ने विष्णु भगवान् का एक वृहदाकार मंदिर निर्मित कराया। उसके अम्बासमुद्रम् अभिलेख में तोण्डैनाड में पेण्णई नदी के किनारे स्थित अरशूर के स्कन्धावार से भी दान दिये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है। जटिल परातंक की एक बहुत बड़ी विशेषता और धर्मसहिष्णुता यह जान पड़ती है कि अपने को **परमवैष्णव** (मद्रास म्यूजियम अभिलेख) कहते हुए तथा विष्णु के मंदिरों को बनवाने में रुचि लेते हुए भी उसने शैवमंदिरों के निर्माण और शैवधर्म के प्रोत्साहन में रुचि दिखायी[२]। उसके अभिलेखों में ब्रह्मा, विष्णु और शिव तीनों की प्रार्थनाएँ की गयी हैं।

उत्तर, पूर्व और सटे पश्चिम की दिशाओं में कावेरी नदी के दक्षिणी और उत्तरी किनारों के चोड़, पल्लव, केरल और कोंगु आदि राज्यों के विरुद्ध अपने सफल अभियानों की सफलता तथा उनके कारण अपने राज्य की विस्तृत होती हुई सीमाओं मात्र से नेडुनज-यन (जटिल परांतक) संतुष्ट होकर बैठने वाला नहीं था। पश्चिमी समुद्र तट का विलिनम् नामक बन्दरगाह नगर उसे आकृष्ट करने लगा और वहाँ तक पहुँचकर समुद्री व्यापार के लाभ ने उसे अवश्य ललचाया रहा होगा। उसपर उस समय अधिकार था दक्षिण ट्रावणकोर में स्थित वेनाड के राजा का। नेडुनजडयन को उस बन्दरगाह नगर को प्राप्त

१. ये सारे विवरण नीलकान्त शास्त्री के 'दि पाण्ड्यन् किंगडम्,' पृष्ठ ५६ से लिये गये हैं।
२. नीलकान्त शास्त्री, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ५७।

करने हेतु कदाचित् एक नहीं, अपितु बारी-बारी से तीन प्रयत्न करने पड़े। स्पष्ट है, वेनाड का शासक आसानी से हार मानने को तैयार नहीं था। पहली बार पाण्ड्य सेनाओं ने विलिनम् के किले पर जोरदार आक्रमणकर उसे जीत लिया। मद्रास म्यूजियम अभिलेख के अनुसार यह धावा उसने अपने शासन के १७वें वर्ष में किया था। इस सफल आक्रमण के बाद ही उसने तिन्नेवली जिले के करण्डपुरम् (कड़क्काड) की किलेबन्दी प्रारंभ की। किन्तु वेनाड के शासक के विरुद्ध उसे पुनः अपने शासन के २३वें वर्ष में एक बार और विलिनम् के बन्दरगाह नगर पर अधिकार हेतु आक्रमण करना पड़ा। इसका उल्लेख उसके कलुगुमालै अभिलेख[१] में प्राप्त होता है। तीसरी बार अपने शासन के २७वें वर्ष में उसे वेनाड शासक से अन्तिम युद्ध लड़ना पड़ा, जिसकी चर्चा उसके तिरुअनन्तपुरम् म्यूजियम अभिलेख[२] में मिलती है। चूंकि उसके अभिलेखों में इस तिथि (शासन के २७वें वर्ष) के बाद किसी भी युद्ध अथवा विजय का उल्लेख प्राप्त नहीं होता, अतः यह निष्कर्ष निकाला गया है कि अगले २३ वर्षों तक उसने शान्तिपूर्वक शासन किया।

निष्कर्षरूप में कहा जा सकता है कि नेडुनजडयन अपने वंश के महत्तम शासकों में एक था, जिसके समय पाण्ड्य राज्य का विस्तार कोंगुदेश से वेनाड राज्य तक हो गया। उसमें आधुनिक तमिलनाडु के त्रिचनापल्ली, तंजाऊर, सेलम और कोयम्बटूर के जिले सम्मिलित थे।

पाण्ड्य सत्ता का मध्यकालीन अवरोह

नेडुनजडयन की मृत्यु के साथ पाण्ड्य उत्कर्ष का सूरज अपने ढलान की ओर अग्रसर होने लगा। उसका पुत्र और उत्तराधिकारी था श्रीमार श्रीवल्लभ (८१५-८६२ ई०)। उसने **एकवीर** और **परचक्रकोलाहल** के विरुद धारण किये। उसने अपने पिता के समय के अधिकारक्रम में प्राप्त विस्तृत राज्य की रक्षा की और सिंहल राज्य के विरुद्ध कदाचित् दो युद्ध लड़े। उसके वृहद् शिन्नमनूर अभिलेख में महापाण्ड्य, केरल, सिंहल, पल्लव और वल्लभ राजाओं के विरुद्ध उसके द्वारा विजयें प्राप्त करने के उल्लेख प्राप्त होते हैं। यह भी कथित है कि उसने कुन्नूर और विड़िनम् तथा सिंहल के युद्ध-क्षेत्रों में भी विजयें प्राप्त कीं तथा गंग, पल्लव, चोड़, कलिंग और मगध के सैन्यसंघों को कुम्भकोणम् के कुडमुक्कु में पराजित किया। किन्तु इन विवरणों में कितनी ऐतिहासिकता है, इसे जानने का कोई पक्का प्रमाण उपलब्ध नहीं है। केवल एक निष्कर्ष यह निकलकर आता है कि जिन विभिन्न दिशाओं के विभिन्न राज्यों से पाण्ड्य सत्ता के संघर्ष उसके समय से पूर्व, विशेषतः नेडुनजडयन के समय प्रारंभ हुए थे, वे इस समय भी किसी न किसी

---

१. ऐनुअल् रिपोर्टस् ऑन् एपीग्राफी, १९०८ का ४३।
२. वहीं, १८९५ का २७७।

रूप में चलते रहे। सिंहल अर्थात् श्रीलंका से उसके संघर्षों के दो दौरों का प्रमाण **महावंश** नामक ग्रंथ से भी कुछ अतिरंजित और मुलम्मेदार विवरणों में (अध्याय १ और २) प्राप्त होता है। तदनुसार, पहले श्रीमार वल्लभ ने ही सिंहल के राजा, प्रथम सेन, के विरुद्ध आक्रमण किया, जिसका बदला लेने हेतु या तो उसने अथवा द्वितीय सेन ने पाण्ड्य क्षेत्रों पर चढ़ाई कर दी। पहले दौर में पाण्ड्य सेनाओं ने सिंहल की राजधानी पर अधिकार कर लिया और वहाँ का शासक भागकर मलयद्वीप (मलयेशिया) चला गया। किन्तु अन्ततः पाण्ड्यराज ने वहाँ के राजा से संधि करके उसे उसका राज्य लौटा दिया। किन्तु खार खाये हुए सिंहलराज ने दूसरे दौर में पाण्ड्य क्षेत्रों पर आक्रमण कर दिया, जिसका मौका उसे वहीं के किसी विद्रोही पाण्ड्य राजकुमार (महापाण्ड्य) के असन्तोष के कारण प्राप्त हो गया था। आगे होने वाले युद्ध में सिंहल सेनाओं की विजय हुई, पाण्ड्य शासक भागा और उसने अपनी रानी के साथ आत्महत्या कर ली और द्वितीय सेन (सिंहलराज) ने विद्रोही पाण्ड्य राजकुमार को मदुरै की राजगद्दी पर आसीन कर दिया।

ये विवरण कितने ऐतिहासिक हैं, कह सकना कठिन है। दूसरी ओर, पाण्ड्य साक्ष्यों का यह निर्देश है कि पाण्ड्य राजा से किसी भी पाण्ड्य राजकुमार (मायापाण्ड्य) ने राजगद्दी नहीं छीनी। श्रीमार के शासनकाल में उसके ऊपर ऐसी कोई विपत्ति आयी, इसका कोई भी समर्थक साक्ष्य प्राप्त नहीं है। अतः **महावंश** की कथा को केवल एक काल्पनिक कथा ही स्वीकार किया जाना चाहिए। अधिक संभव यह प्रतीत होता है कि पाण्ड्य राज्य की राजगद्दी हेतु आगे चलकर १२वीं शताब्दी में जो गृहयुद्ध छिड़ा और जिसमें सिंहल के राजा ने एक ओर से हस्तक्षेप किया, उसी घटना को **महावंश** में यहाँ पूर्वतः आरोपित कर दिया गया[१] है।

पीछे कुडमुक्कू के जिस युद्ध में श्रीमार की विजय का उल्लेख किया जा चुका है, वह पल्लव शासक के विरुद्ध लड़ा गया था। इस कुडमुक्कू की पहचान श्रीमार के पिता नेडुनजडयन के एक लेख के आधार पर कुम्भकोणम् से[२] की गयी है, जिसपर उसने **पल्लवमल्ल**, द्वितीय नन्दिवर्मन् को पराजितकर पाण्ड्य सत्ता स्थापित कर ली थी। यह तंजाऊर के आसपास का क्षेत्र था। तथापि, चूंकि पल्लव और पाण्ड्य राज्यों की सीमाएँ आपस में टकराती रहती थीं, सीमाओं पर लड़े जाने वाले युद्धों की संभावनाएँ बराबर बनी रहती थीं। यह निष्कर्ष इस तथ्य के आधार पर भी सही जान पड़ता है कि तंजाऊर के आसपास के क्षेत्रों पर पाण्ड्य शासकों और पल्लव शासक, तृतीय नन्दिवर्मन् (८४६-८६९ ई०), दोनों ही, के अभिलेख मिले जुले रूप में प्राप्त होते हैं। किन्तु ये युद्ध कब–

---

१. नीलकान्त शास्त्री, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ६३-६४।

२. वहीं, पृष्ठ ६५; डुब्रियेल, दि पल्लवज़् ऑफ् काञ्ची, पृष्ठ ७९-८०।

कब लड़े गये, इस सम्बन्ध में मतवैभिन्य बने [1]हुए हैं। इस युग में तीन पल्लव शासक हुए जो पाण्ड्यों के विरुद्ध युद्धरत थे। वे थे दन्तिवर्मन् (७९६-८४६ ई०), तृतीय नन्दिवर्मन् (८४६-८६९ ई०) और नृपतुंगवर्मन्। नन्दिवर्मन् ने तो पाण्ड्यों पर अपनी विजय के उपलक्ष्य में **तेड्रेड़ेरिण्ड नन्दि** की उपाधि भी धारण की थी। नृपतुंगवर्मन् के बाहूर अभिलेख में भी अरिचित नदी के किनारे पर पल्लव विजय का उल्लेख प्राप्त होता है[2]।

नीलकान्त शास्त्री निष्कर्षरूप में कहते[3] हैं कि "श्रीमार श्रीवल्लभ का राज्यकाल सफलता और असफलता का मिला जुला काल ही प्रतीत होता है। राजगद्दी के लिए किसी मायापाण्ड्य (झूठे दावेदार) की उपस्थिति, सिंहल सेनाओं द्वारा उसकी सहायता तथा तेड्राड़ारू और अरिचित के युद्धों में पल्लवों के हाथों हुई उसकी पराजयों से यह प्रमाणित होता है कि पाण्ड्यदेश के साधनों पर साम्राज्य का बोझ भारी पड़ रहा था। विलिनम् पर किया गया आक्रमण भी यह दर्शाता है कि विजित प्रदेश स्थायीरूप से पाण्ड्य प्रशासन में नहीं लाये जा सके थे।"

वरगुणवर्मन्

वरगुणवर्मन् के बारे में शिन्नमनूर अभिलेख केवल इतना मात्र बताता है कि उसने पुरंबियम् में एक भीषण युद्ध लड़ा और वहाँ वह हार गया[4]। उसकी कमजोरी का प्रमाण इस बात से भी प्राप्त होता है कि पल्लव शासक नृपतुंगवर्मन् ने पूरी तरह पल्लव सत्ता को इस समय बचाये रखा[5]। किन्तु पूर्व में चोड़ वंश के पुनर्संस्थापक विजयालय ने तंजाऊर जीतकर उसे अपनी राजधानी के रूप में परिवर्तित कर लिया। चोड़मण्डलम् और तोण्डैनाड में अपनी छीजती हुई राज्यसीमा को पुनः प्राप्त करने हेतु वरगुणवर्मन् ने कदाचित् अपने समकालिक पल्लव शासक अपराजित के विरुद्ध अभियान छेड़ा। किन्तु पुरंबियम् के युद्ध में वह हार गया।

इस पराजय को वरगुणवर्मन् बर्दाश्त नहीं कर सका और थोड़े ही दिनों में उसकी मृत्यु हो गयी। वह अपुत्रक था। फलतः, उसके बाद पाण्ड्य राजगद्दी पर उसका छोटा भाई परातंक उर्फ **वीरनारायण** शडयन बैठा। शिन्नमनूर अभिलेख में खरगिरि के निकट उग्र के विरुद्ध उसके युद्ध; उसके द्वारा अग्रहारों के दान तथा अनेक पुण्यकार्यों को करने; तथा पेन्नागडम् को नष्ट करके कोंगुदेश के विरुद्ध युद्ध करने के उल्लेख प्राप्त होते हैं।

---

१. देखें, नीलकान्त शास्त्री, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ६७।
२. देखें; सिवेल, लिस्ट ऑफ् ऐण्टीक्विटीज, जिल्द २, पृष्ठ ३०-३१।
३. पूर्वनिर्दिष्ट पृष्ठ ६८-६९।
४. ऐनुअल् रिपोर्टस् ऑन् एपिग्राफी, १९०५ का ६९०।
५. टे०वे० महालिंगम्, काञ्चीपुरम् इन अर्ली साउथ इण्डियन् हिस्ट्री, पृष्ठ २१२-२१३।

किन्तु इन कथनों का ठीक-ठीक ऐतिहासिक अर्थ निकालना, अन्य साक्ष्यों के अभाव में, कठिन ही प्रतीत होता है । उसके शासन को नवीं शताब्दी के अन्तिम दो दशकों में रखा गया है ।

. परातंक **वीरनारायण** का उत्तराधिकारी हुआ उसका पुत्र मारवर्मन् द्वितीय **राजसिंह** जो वानवनमहादेवी (केरल राजकुमारी) से उत्पन्न हुआ था । इसी ने अपने शासन के १६वें वर्ष में वृहद् शिन्नमनूर अभिलेख प्रकाशित किया, जो पाण्ड्य इतिहास की जानकारी का प्रमुख स्रोत है । इस आधार पर उसका शासनकाल १०वीं शताब्दी के प्रथम दो दशकों में रखा जा सकता है । इस अभिलेख से उसकी शोभा को बढ़ाने वाले विरुदों तथा परंपरागत राजप्रशंसाओं के अतिरिक्त किसी विशेष महत्त्व के तथ्य का ज्ञान नहीं प्राप्त होता । किन्तु समसामयिक वंशों के कुछ अभिलेखों से यह ज्ञात होता है कि तंजाऊर की नवोदित चोड़ सत्ता ने पाण्ड्यों को त्रस्त करना प्रारंभ कर दिया था । तत्कालीन चोड़ शासक प्रथम परांतक के पूर्व के शासक आदित्य के समय ही चोड़ों ने प्रायः पूरी तरह पल्लवों को तोण्डैमण्डलम् आदि क्षेत्रों से उखाड़ फेका था । परांतक ने अपने दक्षिणी शत्रु पाण्ड्यों को पराजित कर **मधुरांतक** की उपाधि धारण की । उसके द्वारा पराजित पाण्ड्यराज मारवर्मन् द्वितीय **राजसिंह** ही रहा होगा । मारवर्मन् ने सिंहल के राजा से सहायता मांगी और दोनों की सेनाओं ने चोड़ राज्य पर चढ़ाई कर दी । किन्तु वाहूर के युद्ध में पुनः परातंक विजयी [१]रहा । इन युद्धों के विवरण द्वितीय पृथिवीपति के उदयेन्दिरम् और प्रथम राजेन्द्र चोड़ के तिरुवालंगाडु अभिलेखों में विस्तृत रूप में प्राप्त होते[२] हैं ।

परिणामतः, **राजसिंह** को पराजित होकर श्रीलंका में शरण लेनी पड़ी और पाण्ड्य राज्य की राजधानी मदुरै चोड़ों के अधिकार में चली गयी । 'साम्राज्य' कही जाने वाली स्वतंत्र पाण्ड्य सत्ता का अन्त हो गया और वहाँ चोड़ों ने अपनी अधिसत्ता स्थापित कर ली । राजसिंह ने सिंहल राज्य की शरण में रहना निरर्थक मानकर अपना मुकुट वहीं छोड़कर अपनी ननिहाल केरल में शरण ले ली[३] ।

चोड़ साम्राज्य के अधीन पाण्ड्य

१०वीं से १३वीं शताब्दियों के बीच के ३०० वर्षों तक स्वतंत्र पाण्ड्य सत्ता का लोप हो गया और वह क्षेत्र तंजाऊर एवं गगैकोण्डचोड़पुरम् से शासित चोड़ साम्राज्य का

---

१. हुल्टज़्, जर्नल ऑफ् दि रॉयल एशियाटिक सोसायटी, १९१३, पृ०५२३-५२६ । आगे भी देखें, चोड़ इतिहास का प्रकरण, पृष्ठ ४०८ ।

२. साउथ इण्डियन् इन्स्कृप्शन्स्, जिल्द २, पृष्ठ ३८३ । तदनुसार ।
यस्य प्रतापदहनेन परीयमाणस्तत्तापशान्तिमिवकर्तुमनास्सवेगः ।
सद्यस्समुद्रमविशन्निजराज्यलक्ष्मीं पृथ्वीं कुलक्रमागतांच विहाय पाण्ड्यः ॥

३. गतकेरलशान्तिकम् ।

एक विजित भाग मात्र होकर रह गया। इस बीच प्राय: सभी चोड़ शासकों ने सिंहल, पाण्ड्य और केरल के राज्यों पर बार-बार आक्रमण कर अपने साम्राज्य क्षेत्रों को उन सबकी सीमाओं तक विस्तृत कर लिया, वहाँ अपने **युवराज**-राजकुमारों को गवर्नरों के रूप में शासक नियुक्त किया और बीच-बीच में कुछ पाण्ड्य दावेदारों ने अपनी स्वतंत्रता स्थापित करने के बार-बार किन्तु असफल प्रयत्न भी किये। इस सारे युग में चोड़ सम्राटों, चोड़ गवर्नरों और कुछ पाण्ड्य विद्रोहिओं के अभिलेख पाण्ड्य क्षेत्रों से प्रकाशित होते रहे, जो भूमिदान और शासन की विभिन्न बातों के उल्लेख करते हैं। पाण्ड्य विद्रोहिओं ने जब-जब अपनी सत्ता हेतु प्रयत्न किये, तब-तब प्राय: सभी बार केरल और सिंहल के राजाओं ने उनकी सहायता की। किन्तु उन सबको प्राय: मुंह की ही खानी पड़ी। इन तीनों राज्यों के बीच इस समय अनेक वैवाहिक सम्बन्ध भी स्थापित हुए ताकि उनकी आपसी मित्रताएँ पक्की हो सकें। उन सभी क्षेत्रों के शासकों के कई-कई नाम भी एक ही समय के, समानरूप में प्राप्त होते हैं, जो उनकी पहचान और समय के निर्धारण में अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न करते हैं। कुछ चोड़ गवर्नरों ने भी पाण्ड्य दावेदारों को हराकर उनका नाम स्वयं ग्रहण कर लिया था–जैसे उत्तम चोड़, सुन्दर चोड़ अथवा वीर चोड़। इनके समरूप पाण्ड्य नाम थे उत्तम पाण्ड्य, सुन्दर पाण्ड्य और वीर पाण्ड्य। उस समय दक्षिण भारतीय राजनीति की यह विचित्र सी प्रथा थी कि विजित अथवा विजयी राजा का नाम या विरुद दूसरा पक्ष भी धारण कर लेता था।

चोड़-पाण्ड्य इतिहास के इस क्रम की कुछ मुख्य-मुख्य तथ्यों के उल्लेख मात्र यहाँ अपेक्षित हैं। ९२० ई० के आसपास चोड़ शासक परांतक ने द्वितीय **राजसिंह** को पराजितकर उसे अपनी राजधानी छोड़कर भाग जाने को जब विवश किया, तबसे प्राय: उसके शासन के अन्त तक पाण्ड्य राज्य प्राय: सर्वदा ही चोड़ राज्य का एक प्रान्त ही बना रहा, जो वहाँ प्राप्त होने वाले चोड़ अभिलेखों से प्रमाणित[१] है। उन अभिलेखों में उसके शासन के ४०वें वर्ष का, ९४७ ई० वाला, सुचिन्द्रम् से प्राप्त अभिलेख अन्तिम है।

किन्तु परांतक का शासन अन्त होते-होते तृतीय कृष्ण (९४०-९६८ ई०प०) के नेतृत्व में राष्ट्रकूटों ने चोड़ राज्य पर एक ज़बरदस्त हमला बोला और उसके बहुत बड़े भाग पर अपना अधिकार कर लिया[२]। इसका लाभ उठाकर वीर पाण्ड्य ने अपने पुश्तैनी क्षेत्रों के कुछ भागों पर अधिकार कर लिया, जहाँ से उसके कई अभिलेख प्राप्त [३]हुए हैं। वीर पाण्ड्य के एक अभिलेख का तो यहाँ तक दावा है कि उसने किसी चोड़ राजा को मार डाला। कुछ लोगों ने इस मारे गये चोड़ शासक की पहचान द्वितीय परांतक सुन्दर

---

१. ऐनुअल् रिपोर्टस् ऑन् एपिग्राफी, १९१७ का ४४६; १९०५ का ६३।

२. देखें, पीछे पृष्ठ ९४।

३. नीलकान्त शास्त्री, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ८९।

पाण्ड्य से की है। किन्तु वीर पाण्ड्य की यह सफलता अल्पकालिक ही सिद्ध हुई और उसे पुन: द्वितीय परांतक के पुत्र और उत्तराधिकारी, द्वितीय आदित्य, ने पराजितकर अक्षम बना दिया। तथापि, वीर पाण्ड्य १५-२० वर्षों तक स्वतंत्र होकर शासन चलाता रहा। उसने इस बीच अपने विजित क्षेत्रों पर अनेक प्रशासकों की नियुक्ति की, जिनमें कुछ की उपाधियाँ थीं **चोलान्तक ब्रह्मराय** और **चोलान्तक पल्लवरायन**।

बाद में प्रथम राजराज चोड़ (९८५-१०१४ ई०) ने ही पाण्ड्य क्षेत्रों पर पूरी तरह चोड़ साम्राज्य की सत्ता स्थापित की[१]। उसकी विजयों के उल्लेख उसके निजी अभिलेखों में तो प्राप्त होते ही हैं, पुत्र और उत्तराधिकारी प्रथम राजेन्द्र (१०१४-१०४५ ई०) के तिरुवालंगाडु आदि सभी अभिलेखों में भी प्राप्त होते हैं। राजेन्द्र ने स्वयं दुबारा भी मदुरै की विजय की और **मधुरान्तक** तथा **उत्तमचोल** की उपाधियाँ धारण कीं। वहाँ के तिन्नेवली और केपकामोरिन् (कन्याकुमारी) में उसके अभिलेख लिखवाये गये थे। उसने अपने पुत्र को **चोड़-पाण्ड्य** की उपाधि सहित वहाँ का गवर्नर नियुक्त किया[२] तथा वहाँ एक बहुत बड़े महल का निर्माण कराया। अगले पचास वर्षों तक (१०२० ई० के बाद) मदुरै में **चोड़-पाण्ड्य** उपाधिधारी चोड़ राजकुमार ही गवर्नरों के रूप में शासन करते रहे। उनमें सबसे पहला था जटावर्मन् सुन्दर चोड़-पाण्ड्य। पाण्ड्य क्षेत्रों में चोड़ सम्राटों के साथ-साथ वहाँ शासन करने वाले प्रान्तपतिओं ने भी स्वतंत्ररूप से अपने अभिलेखों के प्रकाशन किये, जो केन्द्रीय और प्रान्तीय शासन के बीच एक उचित समन्वय का द्योतक है। यह इस बात का भी सूचक है कि केन्द्र की दृष्टि सुदूर क्षेत्रों के नियंत्रण के मामलों में कभी भी ढीली नहीं हुई।

प्रथम राजेन्द्र और प्रथम कुलोत्तुंग के बीच का शायद ही कोई चोड़ सम्राट् ऐसा हो, जो पाण्ड्यों पर अपनी विजय का दावा न करता हो। साथ ही, वे केरल पर भी अपनी विजयों का दावा करते हैं। इनसे केवल एक बात प्रमाणित होती है कि पाण्ड्य क्षेत्रों पर चोड़ों का शासन कभी भी निष्कण्टक नहीं रहा और वहाँ बार-बार पाण्ड्य दावेदारों द्वारा विद्रोह की आगें जलायी जाती रहीं। राजाधिराज के एक अभिलेख[३] में तो तीन-तीन पाण्ड्य राजाओं द्वारा उसके विरुद्ध किये गये विद्रोहों के विवरण हैं, जिन्हें उसने समाप्त किया। प्रथम कुलोत्तुंग द्वारा चोड़ राजगद्दी धारण किये जाने के बाद तो पाण्ड्य क्षेत्रों पर चोड़ सत्ता की पकड़ क्रमश: उत्तरोत्तर ढीली ही होती चली गयी। इसका मुख्य कारण यह था कि कुलोत्तुंग स्वयं मूल चोड़ वंश की सीधी पंक्ति का शासक नहीं था, जो गंगैकोण्डचोड़पुरम् की राजगद्दी पर आसीन हुआ हो। वास्तव में वह पूर्वी चालुक्य

---

१. साउथ इण्डियन् इन्स्कृप्शन्स्, जिल्द २, भूमिका, पृष्ठ २-३।
२. ऐनुअल् रिपोर्टस् ऑन् एपिग्राफी, १९१७ का ३६३।
३. साउथ इण्डियन् इन्स्कृप्शन्स्, जिल्द ३, पृष्ठ ५६।

राजकुमार था, जो ननिहाल में आकर रहने लगा था। बाद में उसने वहाँ का उत्तराधिकार हासिल कर लिया। वह आगे चलकर सभी चोड़ क्षेत्रों पर अपना अधिकार बनाये न रख सका और चालुक्य शासक षष्ठ विक्रमादित्य के दबावों का सामना करने को विवश होता रहा। ऐसी दशा में पाण्ड्य राज्य पर उसके मूलवंश के दावेदारों को धीरे-धीरे अधिकार जमा लेने के कुछ सुअवसर हाथ लग गये।

चोड़ प्रभुत्व का अन्त, पाण्ड्य गृहयुद्ध और पुनः पाण्ड्य सत्ता की वापसी

जटावर्मन् श्रीवल्लभ नामक एक पाण्ड्य राजकुमार (शासक) द्वारा कम से कम २३ वर्षों तक शासन करने के आभिलेखिक[१] प्रमाण प्राप्त हैं। तिन्नेवली और चेन्नई जिलों से उसके अनेक अभिलेख प्राप्त हैं, जो उसे बड़े-बड़े विरुद प्रदान करते हैं। उसके दो पूर्वजों के नाम पराक्रम पाण्ड्य और वीर पाण्ड्य प्राप्त होते हैं, जिन्होंने पानी की बड़ी नहरों, छोटी कुल्याओं और बन्धों का निर्माण कराया था। इस जटावर्मन् का समय क्या था, यह ठीक-ठीक ज्ञात नहीं है। अनुमान है कि वह प्रथम कुलोत्तुंग (१०७०-११२० ई०) का समकालीन ही था। संभवतः उसने चोड़ों को पराजित कर **चोड़ान्तक** की उपाधि भी धारण की। तथापि, कुलोत्तुंग के पाण्ड्य क्षेत्रों से प्राप्त[२] अनेक अभिलेखों से प्रमाणित होता है कि चोड़ों की सत्ता वहाँ से अभी पूरी तरह समाप्त नहीं हुई थी। उनमें यह भी कथित है कि उसने वहाँ कई युद्ध लड़े और विजयें प्राप्त कीं।

जटावर्मन् श्रीवल्लभ के बाद मारवर्मन् **त्रिभुवनचक्रवर्तिन् पराक्रम** पाण्ड्यदेव का नाम ज्ञात होता है। किन्तु उसके बारे में इस विशाल नाम और उपाधियों के अलावे और कुछ भी ज्ञात नहीं होता। उसके तुरंत बाद जटावर्मन् परांतक पाण्ड्य हुआ, जिसका एकमात्र अभिलेख कन्याकुमारी से प्राप्त[३] है। उससे उसकी चेर राज्य पर विजय, कूपक राजा की पुत्री से विवाह, विड़िनम् नामक नगर पर आक्रमण और उसकी विजय और अन्ततः काण्डलूर शालैक्कलम् का विनाश किये जाने का ज्ञान प्राप्त होता है। साथ ही, उसके शासन के अनेक कार्यों के विवरण भी वहाँ दिये गये हैं। किन्तु उस अभिलेख में अन्तिम उल्लेख यह है कि जटावर्मन् परांतक ने तेलिंग भीम, कूड़म और दक्षिणी कलिंग की विजयें भी कीं। इतनी दूर उत्तर में कलिंग तक जाकर स्वतंत्र रूप से विजयें करना उस जैसे छोटे शासक के लिए संभव नहीं था। हमें यह ज्ञात है कि प्रथम कुलोत्तुंग के पुत्र विक्रम चोड़ ने कलिंग पर १११८ ई० में आक्रमण कर उन प्रदेशों को विजित किया था। अतः यह निष्कर्ष निकाला जाना चाहिए कि परांतक कुलोत्तुंग की अधिसत्ता स्वीकार

---

१. ऐनुअल् रिपोर्टस् ऑन् एपिग्राफी, १९२२ का ४५५।

२. नीलकान्त शास्त्री, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ १०६-१०७।

३. ट्रावनकोर आर्केलाजिकल् सीरिज़्, जिल्द १, पृष्ठ १८ और आगे।

करता था और चोड़ सामन्त के रूप में ही इन युद्धों में उसने भाग लिया होगा[१] ।

जो अगला पाण्ड्य शासक ज्ञात होता है, वह था मारवर्मन् श्रीवल्लभ, जो ११६०-११६१ ई० में शासनस्थ था। तिन्नेवली जिले से उसके कई अभिलेख प्राप्त हुए हैं। या तो उसके समय में या उसके बाद कुलशेखर के समय (१२वीं शताब्दी के उत्तरार्ध) में पाण्ड्य राज्य में गृहयुद्ध छिड़ गया, जिसके विवरण पाण्ड्य अभिलेखों के अतिरिक्त **महावंश** (७६ वें और ७७वें अध्याय) में भी प्राप्त होते हैं। परन्तु उनसे वास्तविक तथ्यों को निकाल पाना असंभव सा कार्य है। आगे भी कई दशकों तक पाण्ड्य राजवंश की विभिन्न शाखाओं के उत्तराधिकारिओं के बीच पाण्ड्य राजगद्दी के लिए गृहयुद्ध होते रहे। चोड़ों की धीरे-धीरे छीजती जाने वाली सत्ता भी अब पाण्ड्य राजनीति में हस्तक्षेप करने लायक नहीं रह गयी और १२वीं शती का अन्त होते-होते पाण्ड्य सत्ता पुनः एक बार साम्राज्य पथपर अग्रसर होने लगी।

द्वितीय पाण्ड्य साम्राज्य

पाण्ड्य अन्तर्कलह में तृतीय कुलोत्तुंग के हस्तक्षेप चोड़ों के अन्तिम हस्तक्षेप सिद्ध हुए। मदुरै में विक्रम पाण्ड्य स्थापित हो गया। १२१६ ई० में **त्रिभुवनचक्रवर्ती** तृतीय राजराजदेव के राज्यासीन होने के बाद चोड़ सत्ता स्वयं इतनी क्षीण हो गयी कि वह अपने ही क्षेत्रों की रक्षा करने में असमर्थ थी। वीर सोमेश्वर के नेतृत्व में होयसड़ों ने अनेक चोड़ क्षेत्रों को हथिया लिया। उधर चोड़ों की उत्तर दिशा में शासन करने वाले गणपतिदेव काकतिय ने भी काञ्चीनगर पर अधिकार कर लिया। परिणामस्वरूप, पाण्ड्यों को अपनी खोयी हुई स्वतंत्रता पुनः प्राप्त कर लेने का अपूर्व अवसर प्राप्त हो गया। इसके बाद उन्होंने अपनी सत्ता का जिस तेजी से एक बार पुनः विस्तार किया, उसे नीलकान्त शास्त्री ने उनके द्वारा अपने लिए द्वितीय साम्राज्य–स्थापन की संज्ञा दी है[२] ।

विक्रम पाण्ड्य ने तृतीय कुलोत्तुंग की सहायता से अपनी पाण्ड्य राजगद्दी को प्राप्तकर उसे बचाये तो रखा, तथापि वह एक कमजोर शासक ही रहा प्रतीत होता है। किन्तु जटावर्मन् कुलशेखर के ११९० ई० में राजगद्दी धारण करने के साथ ही सारा परिदृश्य बदल गया। उसके बाद पूरी १३वीं शताब्दी के अन्त अथवा उसके कुछ बाद तक पाण्ड्य सत्ता दक्षिण में एक बार पुनः सिरमौर सत्ता बन गयी। उत्तर की ओर उसका विस्तार नेल्लूर और कुडप्पा जिलों तक हो गया। इस बीच उनके जो विभिन्न अभिलेख प्राप्त होते हैं, उनकी व्याख्याओं में बहुत ही मतभेद हैं, जो समकालिक अन्य राजवंशों के अभिलेखों के तुलनात्मक अध्ययनों से भी दूर नहीं हो पाते। इस सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ हैं। उनमें से न तो बहुतों की तिथियाँ निश्चित की जा सकी हैं, और न

१. नीलकान्त शास्त्री, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ १११ ।

२. दि पाण्ड्यन् किंगडम्, पृष्ठ १२२ और आगे ।

उनमें वर्णित घटनाओं के क्रम ही बिठाये जा सके हैं; और न विभिन्न राजाओं के पारस्परिक राज्यकालों को प्रामाणिक रूप में निश्चित किया जा सका है। अतः आगे सर्वाधिक संभावित और स्वीकृत पाण्ड्य इतिहास का क्रम ही उपस्थित किया जा सकेगा।

जटावर्मन् कुलशेखर ने मदुरै के क्षेत्रों पर ११९० से १२१७ ई० तक शासन किया। उसके पूर्व के दो शासकों के नाम लगभग एक ही साथ प्राप्त होते हैं–एक था विक्रम पाण्ड्य और दूसरा था श्रीवल्लभ। अतः यह निश्चय नहीं किया जा सका है कि वास्तव में जटावर्मन् कुलशेखर इन दोनों में किसका उत्तराधिकारी था। उसके अभिलेखों से किसी ऐतिहासिक महत्त्व की कोई भी घटना ज्ञात नहीं होती। उसके कुछ अभिलेखों से केवल कुछ भूमिदान के उल्लेख मात्र प्राप्त होते हैं। रामनाड से प्राप्त उसके अभिलेख में एक स्थानीय अधिकारी का उल्लेख है, जो कलवड़िनाडु में प्रशासन का एक प्रमुख कर्ताधर्ता था। उसका नाम था जयगोण्डशोलन शिवड्डुवन[१]। उसके अभिलेखों के प्राप्तिस्थानों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उसका राज्यक्षेत्र मदुरै, तिन्नेवली और रामनाड जिलों तक विस्तृत था।

मारवर्मन् सुन्दर पाण्ड्य ने जटावर्मन् कुलशेखर के बाद १२१६ ई० अथवा १२१७ ई० में राजगद्दी प्राप्त की। उसके शिलालेख बहुत ही बड़े-बड़े हैं, जिनमें लम्बी-लम्बी प्रस्तावनाएँ हैं। उसके शासन के सातवें वर्ष में प्रकाशित तिरुप्परंकुरम् अभिलेख[२] अनेक महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ देता है, जिसका पूरक है उसके १३वर्षों बाद प्रकाशित किया जाने वाला तिन्नेवली से प्राप्त एक अन्य अभिलेख। इनमें से पहला अभिलेख तो यह बताता है कि पाण्ड्यों ने चोड़ों के मूल्य पर अपनी सीमाएँ और भी अधिक विस्तृत कर लीं तथा पाण्ड्य सेनाओं ने तंजाऊर और उरियाऊर नगरों में आग लगा दी। चोड़ राज्य को लूटते हुए पाण्डयराज ने चोड़ राजधानी में ही अपना **वीराभिषेक** कराया। इसके बाद विजयी पाण्ड्यराज ने उत्तर दिशा की ओर बढ़ते हुए चिदंबरम् में स्थित नटराज मंदिर में पूजा-अर्चना की। किन्तु लौटते हुए उसने चोड़राज द्वारा झुककर माफी मांग लेने और पाण्ड्य अधिसत्ता स्वीकार कर लेने के बाद पुनः उसे उसकी राजगद्दी वापस सौंप दी[३]। इस प्रकार शताब्दियों बाद पाण्ड्य सत्ता ने अपनी पुरानी पराजयों का चोड़ों से बदला लेने में सफलता पायी और अपना बड़प्पन दिखाते हुए उनका राज्य भी उन्हें लौटा दिया। इस विजय से समकालिक राज्यों के बीच उसकी प्रतिष्ठा और बढ़ी होगी।

मारवर्मन् सुन्दर पाण्ड्य के २०वें वर्ष का अभिलेख भी उपर्युक्त तथ्यों को प्रायः वैसी ही भाषा में दुहराता है। उसमें एक अतिरिक्त तथ्य यह है कि मारवर्मन् ने कोंगुदेश

---

१. ऐनुअल् रिपोर्ट्स्, १९२३ का ३१३।
२. वहीं, १८९४ का १४०।
३. नीलकान्त शास्त्री, दि पाण्ड्यन् किंगडम्, पृष्ठ १२७-१२८।

के कई भागों को उनके शासकों से छीन लिया और चोड़ राजा द्वारा नियमित भेंट (कर) न भेजे जाने से क्रुद्ध होकर उस पर एक बार और दण्डात्मक आक्रमण किया। इस समय के कुछ होयसड़ अभिलेखों से यह प्रतीत होता है कि द्वितीय नरसिंह (होयसड़) यह नहीं चाहता था कि चोड़ बिल्कुल ही समाप्त हो जाँय। अत: उसने पाण्ड्यों के विरुद्ध दबाव बनाकर चोड़राज को उसकी राजगद्दी दिला दी[१]। फलत:, पाण्ड्यराज के चोड़ों के विरुद्ध किये गये आक्रमणों के कारण पाण्ड्य राज्यसीमाओं में कोई वृद्धि नहीं हो सकी।

मारवर्मन् सुन्दर पाण्ड्य के शासनकाल का अन्त १२३८-१२३९ ई० में हो गया। उसके बाद बहुत थोड़े दिनों के लिए राज्याधिकार जटावर्मन् कुलशेखर नामक शासक के पास था। किन्तु उसके बारे में कोई विशेष बात ज्ञात नहीं है। उसने एक दूसरे मारवर्मन् सुन्दर पाण्ड्य को अपना उत्तराधिकारी चुना, जिसे द्वितीय मारवर्मन् सुन्दर पाण्ड्य कहा जाना चाहिए। द्वितीय मारवर्मन् सुन्दर पाण्ड्य १२३८ ई० में ही शासक हुआ। वह १२५३ ई० तक शासन करता रहा। उसके अभिलेखों से केवल ग्रामदानों मात्र की जानकारी प्राप्त होती है। तथापि इस बात के कोई प्रमाण प्राप्त नहीं है, जिनसे यह कहा जाय कि उसके शासनकाल में राज्य की सीमाओं में कोई हानि हुई। उसने कई होयसड़ धावों को सफलतापूर्वक प्रतिवारित करने में सफलता पायी। वास्तव में होयसड़ शासक पाण्ड्यों से अनेक विवाह सम्बन्धों में भी बंधे हुए थे और अपनी राजनीतिक प्रतिद्वन्द्विताओं के बीच भी दोनों राज्यों के आपसी सम्बन्ध सामान्य ही बने रहे[२]।

जटावर्मन् सुन्दर पाण्ड्य (१२५१-१२७० ई०)

अगला शासक जटावर्मन् सुन्दर पाण्ड्य हुआ, जो बहुत ही शक्तिशाली सम्राट् के रूप में उभरा। उसके समय पाण्ड्य साम्राज्य की सीमाएँ सर्वाधिक रूप से विस्तृत हुईं। नेल्लूर और कुडप्पा (उत्तर दिशा में) तक का सारा दक्षिण भारत उसके अधिकार में आ गया। चोड़ नगण्य बना दिये गये और होयसड़ों को अपनी पिछली आक्रामक प्रवृत्तियों के कारण दण्ड भुगतना पड़ा। कोंगुदेश पाण्ड्यों के अधिकार में आ गया और काञ्चीनगर पाण्ड्यों की मानों दूसरी राजधानी ही बन गया। केरल राज्य को अधीनता मानने को विवश कर दिया गया। इन सभी कार्यों में उसके राजपरिवारी राजकुमारों ने उसकी भरपूर सहायता की। उन राजकुमारों में एक प्रसिद्ध नाम था जटावर्मन् वीर पाण्ड्य।

अभिलेखों में जटावर्मन् सुन्दर पाण्ड्य को **समस्तजगदाधार** का विरुद दिया गया है। तिन्नेवली, तिरुप्पुट्टुकुलि और काञ्चीपुरम् के मंदिरों को दिये जाने वाले दानों के विवरण उसके श्रीरंगम् मंदिर से प्राप्त होने वाले अभिलेख से प्राप्त होते हैं। तथापि, उसके शासनकाल का तैथिक दृष्टि से कोई पूरा-पूरा खाका खींचना संभव नहीं प्रतीत होता।

---

१. वहीं, पृष्ठ १३२-१३३।

२. नीलकान्त शास्त्री, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ १३९-१४०।

उसके संस्कृत अभिलेख तो पद्यमय हैं और उनमें कहीं भी कोई तिथियाँ दी ही नहीं गयी हैं। केवल एक अभिलेख[१] उसके शासन के सातवें वर्ष का तिरुप्पून्दीरत्ति से प्राप्त है, जो उसके शासन की प्रारंभिक घटनाओं को बताता है। उसी में उसकी विभिन्न विजयों के उल्लेख प्राप्त होते हैं, जिनका समाहार पीछे दिया जा चुका है। उसमें उसके कावेरी घाटी, कर्नाट राज्य और सिंहण देश पर भी विजयी होने के दावे किये गये हैं। कथित है कि उसने विजित राजाओं को हाथियों और रत्नों की भेंटे देने हेतु विवश किया। चिदंबरम् मंदिर में पूजा-अर्चना के बाद उसके द्वारा **तुलाभार** दान देने का भी वहाँ उल्लेख है।

उत्तर दिशा में सुन्दर पाण्ड्य की विजयें बहुत ही महत्त्वपूर्ण साबित हुईं। यह दावा किया गया है कि उसने गण्डरगोपाल को पराजितकर काञ्चीनगर पर अधिकार कर लिया तथा काकतियराज गणपतिदेव को हराकर नेल्लूर नगर में अपना **वीराभिषेक** कराया[२]। गणपतिदेव की पराजय के उल्लेख से यह निष्कर्ष निकलता है कि सुन्दर पाण्ड्य का यह उत्तरी अभियान गणपति के शासनान्त १२६० ई० के पूर्व ही कभी किया गया होगा। इन विजयों के फलस्वरूप सुन्दर पाण्ड्य ने **महाराजाधिराज-श्रीप्रामेश्वर** और **एमण्डलडमुम-कोण्डरूड़ीय** की उपाधियाँ धारण कीं[३]। उसे लूट का बहुत सा धन भी मिला। मंदिरों को सोने से लाद देने के कारण उसे **हेमाच्छादनराज** भी कहा गया, जो वास्तव में एक विष्णु मंदिर का नाम था, जिसे उसने निर्मित कराया था। एक अभिलेख में उसके रंगनाथ देवता के अनेक प्रकार से किये गये शृंगार के व्यापक विवरण प्राप्त होते हैं। यह निश्चितरूप से ज्ञात नहीं है कि जटावर्मन् सुन्दर पाण्ड्य के शासन का अन्तिम वर्ष क्या था। वह संभवत: १२६९-१२७० ई० तक तो अवश्य ही जीवित रहा।

जटावर्मन् सुन्दर पाण्ड्य के बाद के पाण्ड्य इतिहास को देखने के पूर्व पाण्ड्य राज्य में सहशासकों अथवा सहसंरक्षकों (को-रीजेण्टस्) की स्थिति वाली एक विचित्र प्रथा की ओर दृष्टिपात करना आवश्यक है। समसामयिक, विशेषत: चोड़, अभिलेखों में पाँच पाण्ड्यों अथवा तीन पाण्ड्यों के साथ उनके युद्ध सम्बन्धों की चर्चाएँ कई बार प्राप्त होती हैं। प्रश्न उठता है कि क्या एक ही समय पाण्ड्य राज्यक्षेत्रों में कभी-कभी कई शासक हो जाया करते थे ? ऐसी ही एक स्थिति जटावर्मन् सुन्दर पाण्ड्य के समय भी प्राप्त होती है, जब जटावर्मन् वीर पाण्ड्य नामक एक अन्य शासक की भी जानकारी उसके अनेक अभिलेखों से होती है। वह जटावर्मन् सुन्दर पाण्ड्य के अनेक युद्धों में अपनी

---

१. ऐनुअल् रिपोर्ट्स्, १८९४ का १६६।

२. वहीं, १९१३ के ३३२, ३४० और ३६१।

३. इन विजयों के फलस्वरूप पाण्ड्य राजाओं ने विजित प्रदेशों में संस्कृत और तमिल भाषा के न जाने कितने अभिलेखों का प्रकाशन कराया, जो दानपरक और प्रशस्तिमूलक हैं। देखें एइ०, जिल्द ३, पृष्ठ २। साउथ इण्डियन् इन्स्कृप्शन्स्, जिल्द ४, ५०७, ६२५-६२७, ६३०।

विजयों का दावा करता है। उसके अभिलेखों से यह ज्ञात होता है कि उसने १२५३ ई० में अपना शासन प्रारंभ किया[१] था। उसके अभिलेख तिन्नेवली, मदुरै, रामनाड तथा पुडुकोट्टै राज्य से प्राप्त हुए हैं। कुछ अभिलेख[२] तो काञ्चीपुरम् और कोयम्बटूर से भी प्राप्त हुए हैं। किन्तु इन सबके बावजूद यह नहीं स्वीकार किया गया है कि जटावर्मन् वीर पाण्ड्य कोई पूर्णस्वतंत्र शासक था। किन्तु यह भी ज्ञात नहीं है कि क्या वह जटावर्मन् सुन्दर पाण्ड्य के साथ सहशासक (को-रूलर) था या नहीं। वास्तव में प्रशासन के क्षेत्र में उसकी वास्तविक स्थिति के बारे में कुछ भी निश्चयपूर्वक कहा ही नहीं जा सकता।

जटावर्मन् सुन्दर पाण्ड्य के अन्तिम शासनवर्षों में ही उसका उत्तराधिकारी मारवर्मन् कुलशेखर प्रशासन से सहयुक्त हो चुका था। उसका सबसे पहला अभिलेख १२६८ ई० का है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि उस वर्ष एक ही समय कम से कम तीन पाण्ड्य शासक विद्यमान थे—जटावर्मन् सुन्दर पाण्ड्य, जटावर्मन् वीर पाण्ड्य और मारवर्मन् कुलशेखर। इस प्रकार के कई पाण्ड्य शासकों के एक ही साथ शासन करने का प्रमाण १३वीं शती के अन्तिम भागों में भारत की यात्रा करने वाले मार्को पोलो नामक यात्री से भी प्राप्त होता है, जो पाण्ड्य राज्य में पाँच भाइयों के सहराज्यत्व का उल्लेख करता है[३]। चीनी साक्ष्य भी इसका समर्थन करते हैं[४]। मुसलमान इतिहासकार वसाफ भी कुछ इसी तरह की सूचना देता[५] है। किन्तु वे सभी इस बात का उल्लेख करते हैं कि इन पाँच भाइयों में सबसे जेठे भाई का अधिकार सर्वोपरि था। पाण्ड्य राज्य में भाई रहे राजकुमारों के सहराज्य का साम्राज्य भौगोलिक आकार में बहुत विस्तृत हो गया था और चोड़ साम्राज्य की तरह राजपरिवारी लोग प्रांतीय गवर्नरों के रूप में अलग-अलग क्षेत्रों में शासन चलाते हुए अपने-अपने अभिलेखों के प्रकाशन, शासकीय आज्ञाओं को निकालने और अपने सिक्कों को चलाने में भी स्वतंत्र थे। मुख्य राजधानी मदुरै में सबसे मुख्य राजकुमार (जेठा भाई) ही प्रधान शासक के रूप में रहता था और विभिन्न सहशासकों द्वारा लड़े जाने वाले युद्ध उसी की ओर से लड़े गये कहलाते थे।

मारवर्मन् के बहुश: प्राप्त होने वाले अभिलेख मुख्यत: पाण्ड्य साम्राज्य के पूर्वी भागों से ही प्राप्त हुए हैं। वे उसके शासन के तीसरे से चौवालीसवें वर्ष के हैं, जिनसे यह निश्चय किया जा सकता है कि उसका शासन १३वीं शताब्दी के बाद भी कुछ वर्षों तक चलता रहा। मारवर्मन् कुलशेखर ने अपने शासन के प्रारंभिक वर्षों में ही मालैनाडु

१. देखें, कीलहार्न, इऐ०, जिल्द ४४, पृष्ठ १९६; नीलकान्त शास्त्री, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ १५३ का नोट १।
२. ऐनुअल् रिपोर्ट्स्, १९१९ का ४८३ और १९२३ का ३५।
३. यूल और कोर्डियर, ट्रैवेल्स् ऑफ् मार्को पोलो, पृष्ठ ३३१, ३३७ और ३७१।
४. वहीं।
५. इलियट ऐण्ड डाउसन्, जिल्द ३, पृष्ठ ३२।

(ट्रावनकोर) की विजय कर डाली तथा क्विलान को जीत लिया। वह सोनाडु और तोण्डैमण्लम् का अप्रतिरुद्ध स्वामी था तथा कोंगुदेश भी उसके अधिकार में था। उसने तिन्नेवली के मंदिर के प्राकार (चाहरदीवारी) का निर्माण कराया[१], जिसमें उसने केरल, चोड़ और होयसड़ राज्यों की लूट से प्राप्त धन को लगाया। **महावंश** नामक ग्रंथ से यह भी ज्ञात होता है कि उसने सिंहल राज्य की भी विजय की थी। उस समय का पराजित सिंहलराज तृतीय पराक्रमबाहु (१२८४ ई०) था। इस युद्ध का पाण्ड्य सेनापति था अरिय चक्रवर्ती, जिसका उल्लेख एक अभिलेख में प्राप्त होता[२] है। कम से कम एक अभिलेख से मारवर्मन् कुलशेखर के विरुद **भुवनेकवीर** का ज्ञान प्राप्त होता है।

किन्तु आगे चलकर पाण्ड्य राजकुमारों का सहराज्यत्व ही वहाँ उत्तराधिकार के युद्ध का कारण बना। यह एक विडम्बना ही है कि पाण्ड्य राज्य में ऐसे समय गृहयुद्ध छिड़ा था, जब अलाउद्दीन खलजी और उसके उत्तराधिकारिओं की ओर से दक्षिण भारत के राजाओं को एक-एक करके लूटने, अपदस्थ करने और उनके राज्यों पर मुसलमानी सत्ता को स्थापित करने के अनवरत युद्ध अभियान तुर्क आक्रामकों द्वारा जारी थे। इस सम्बन्ध की जानकारियाँ भी अधिकांशत: मुसलमानी साक्ष्यों से ही प्राप्त होती हैं।

१२९६ ई० से ही वीर पाण्ड्य और सुन्दर पाण्ड्य पाण्ड्य प्रशासन में एक साथ जुड़े हुए थे। उनमें आगे छिड़ने वाले युद्ध के वास्तविक कारण क्या थे, इसपर निश्चित नहीं हुआ जा सका है। कुलशेखर ने अपनी मृत्यु से कुछ पूर्व वीर पाण्ड्य को अपने उत्तराधिकारी के रूप में नियुक्त किया था। जेठा भाई सुन्दर पाण्ड्य इससे अप्रसन्न था और उसने अपने पिता कुलशेखर को ही मार डाला। फलत: वीर पाण्ड्य और सुन्दर पाण्ड्य में गृहयुद्ध छिड़ गया। वसाफ और अमीर खुसरू, दोनों ही, यह सूचना देते हैं कि इसयुद्ध की जानकारी मलिक काफूर को उसके गुप्तचरों ने दी[३]। गृहयुद्ध में सुन्दर पाण्ड्य हारा और उसने दिल्ली जाकर अलाउद्दीन की शरण ले ली[४]। इसके कारण ही प्राय: सभी मुसलमान इतिहासकारों की यह धारणा बनी कि इस घटना ने मदुरै के पाण्ड्य राज्य पर मलिक काफूर के आक्रमण का बहाना उपस्थित कर दिया। मार्को पोलो भी माबर पर मलिक काफूर के आक्रमण की यही पृष्ठभूमि बताता[५] है। ऊपर से देखने पर तो यह लगता है कि मलिक काफूर का आक्रमण सुन्दर पाण्ड्य को मदुरै की राजगद्दी को दिलाने की ओर प्रेरित था, किन्तु यह एक बहाना मात्र प्रतीत होता है। वास्तविकता तो यह रही

---

१. ऐनुअल् रिपोर्टस् १९२७ का २९।

२. वहीं, १९०३ का ११०।

३. इलियट ऐण्ड डाउसन्, जिल्द ३, पृष्ठ ८८।

४. अधिक संभव यह जान पड़ता है कि सुन्दर पाण्ड्य दिल्ली न जाकर दोरसमुद्र में ही मलिक काफूर के पास पहुँचा था।

५. मार्को पोलो, यूल ऐण्ड कोर्डियर, पृष्ठ ३३३ और आगे।

प्रतीत होती है कि मुसलमान शासक दक्षिण के सभी राज्यों को एक-एक कर हथिया लेने और अपना प्रत्यक्ष शासन कन्याकुमारी तक विस्तृत कर लेने की एक निश्चित योजना को कार्यान्वित करने में लगे हुए थे। पाण्ड्य राज्य पर टूट पड़ने में मलिक काफूर को इस नाते भी बहुत देर नहीं लगी कि उसके ठीक पूर्व मलिक काफूर होयसड़ राजधानी दोरसमुद्र (द्वारसमुद्र) को विजितकर वहाँ अपना डेरा जमाये हुए था[१]। किन्तु मलिक काफूर को वीर पाण्ड्य के विरुद्ध इस अभियान (१३१०-१३११ ई०) में कोई बहुत बड़ी सफलता हाथ लगी, ऐसा स्वीकार नहीं किया गया है। वह कुछ पाण्ड्य नगरों को लूट भर सका। दोनों भाइयों के झगड़े के कारण उनपर मुसलमानी अधिकार भी हो गये। इसके विपरीत जियाउद्दीन बर्नी मलिक काफूर के हाथों भारी लूट का सामान लगने का उल्लेख करता[२] है और साथ ही विजयी होकर उसके लौटने का दावा करता है। अमीर खुसरू भी अनेक नगरों की लूट और भारी धन मलिक काफूर के हाथों लगने का विवरण देता है[३]। किन्तु इस बात का कहीं कोई प्रमाण नहीं मिलता कि मलिक काफूर ने सुन्दर पाण्ड्य को मदुरै की राजगद्दी पर बिठाया। उस आक्रमण के दस वर्षों के भीतर ही दिल्ली के एक अन्य सुल्तान ने पुनः पाण्ड्य राज्य की लूट के लिये खुसरू खाँ के नेतृत्व में एक दूसरी सेना भेजी, जिससे यह जान पड़ता है कि वहाँ मुसलमानी सत्ता उस समय तक भी स्थापित नहीं हो पायी थी।

पाण्ड्य संस्कृति

ऊपर के विवरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि पाण्ड्य राज्य तैथिक कालक्रम की दृष्टि से बहुत प्राचीन काल से चला आ रहा राज्य था। किन्तु उसकी सीमाएँ, कुछ थोड़े से समय को छोड़कर, कभी भी बहुत विस्तृत नहीं रहीं। उसके अनेक राजाओं के जो अभिलेख प्राप्त होते हैं, उनके तमिल अंशों के पूरे-पूरे अर्थ भी अबतक एकरूप में नहीं निकाले जा सके हैं और उस सम्बन्ध में मतभेद भी बहुत हैं। तथापि कुछ बातें साफ-साफ दिखायी देती हैं। एक प्रमुख निष्कर्ष, जो सामने आता है, यह है कि आगे पल्लव और चोड़ शासकों के समय जो प्रशासन और संस्कृति का स्वरूप दिखायी देता है, उसके बीज पाण्ड्यों के समय ही बोये जा चुके थे।

प्रशासन के क्षेत्र में दक्षिण भारतीय साम्राज्यों के विकसित स्वरूप के अधीन, **राष्ट्र, कुर्रम्, नाडु** और **सभा** के जो उल्लेख पल्लव और चोड़ प्रशासनों के अन्तर्गत प्राप्त होते हैं, वैसे ही उल्लेख पाण्ड्य अभिलेखों में भी मिलते हैं। किन्तु शिन्नमनूर से प्राप्त[४] अभिलेख के संस्कृत वाले भाग से ऐसा नहीं जान पड़ता कि **नाडु** अथवा **कुर्रम**

---

१. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ् इण्डिया, जिल्द ३, पृष्ठ १५६-१५७।
२. इलियट ऐण्ड डाउसन्, जिल्द ३, पृष्ठ ५०।
३. वहीं, पृष्ठ ९०-९१ तथा २०४।
४. नीलकान्त शास्त्री, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ७७-७८।

का अर्थ **राष्ट्र** नामक इकाई से भिन्न प्रकार का था। संदर्भों से ऐसा प्रतीत होता है कि **नाडु, ग्रामम्** और **राष्ट्र** के बीच का, उन्हें जोड़ने वाला, एक प्राशासनिक तन्तु था।

प्रशासन के क्षेत्र में कोई ब्यौरेवार अथवा विस्तृत जानकारी नहीं प्राप्त होती। वास्तव में उसका कोई विस्तृत स्वरूप था ही नहीं। केवल कुछ विजेता शासकों के समय के ही कुछ उल्लेख हमें थोड़े-बहुत दिशा निर्देश देते हैं। जटिल परांतक के समय के दो उच्चाधिकारिओं को **उत्तरमंत्रिन्** और **महासामन्त** कहा गया है, किन्तु इनके वास्तविक कार्यों और पदों के बारे में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। सैनिक प्रशासन के क्षेत्र में काड़ुगुमालै वाले मारनजडयन के अभिलेख में **परांतक वीरर** और **तिरुमालै वीरर** के उल्लेख को अलग-अलग सैनिक टुकड़ियों का द्योतक स्वीकार किया गया[1] है। इनके अतिरिक्त मद्रास म्यूजियम अभिलेख में **मातंगगजाध्यक्ष** नामक हस्तिसेना की टुकड़ी और उसके स्वतंत्र सैन्याध्यक्ष अथवा संचालक का संदर्भ आता है। किन्तु इन सभी संदर्भों को समवेत करके देखने पर भी सैन्यविभाग का कोई स्पष्टस्वरूप सामने नहीं आता।

तथापि, इस तथ्य के प्रमाण प्राप्त होते हैं कि कभी-कभी एक ही व्यक्ति अपनी विशेष और विविध योग्यताओं के कारण एक ही समय कई-कई पदों पर नियुक्त होता था। ऐसा होने में उसकी सबसे बड़ी योग्यता तो यह रही होगी कि वह शासक राजा अथवा राजवंश का अत्यन्त ही विश्वासपात्र रहा होगा। संभव है, ऐसा व्यक्ति राजा का सहोदर भाई, सहचर, सहपाठी अथवा घनिष्ठ पारिवारिक मित्र भी रहा हो। ऐसे व्यक्ति की नियुक्ति के लिए नागरिक अथवा सैनिक अथवा फौजदारी प्रशासन के पदों के बारे में विभेद नहीं किया जाता था और वह कहीं भी पदस्थापित हो सकता था। मारंगारि नामक एक ऐसे ही अधिकारी का उल्लेख प्राप्त होता है, जो जितना दक्ष सैनिक कार्यों के क्षेत्र में था, उतना ही दक्ष कवि और वक्ता भी था। उसे **उत्तरमंत्री** कहा गया है, जिसके निश्चित तात्पर्य के बारे में निश्चित नहीं हुआ जा सकता। जटिल परांतक (८६२-८८० ई०प०) अर्थात् वरगुण महाराज के समय का यह मारंगारि नामक उच्चाधिकारी (**उत्तरमंत्री** = प्रधानमंत्री) मधुरकवि के नाम से भी ज्ञात था। राजा के मौखिक आदेशों (**आज्ञप्ति**) को वही लिखता, था जो वेल्वि(ड़ि)कुड़ि और मद्रास म्यूजियम अभिलेखों से स्पष्ट है[2]। उसके द्वारा अनमालै की पहाड़ी के पास एक भव्य विष्णु मंदिर के बनवाये जाने और **अग्रहार** ग्राम का दान दिये जाने के उल्लेख संबद्ध अभिलेखों में प्राप्त[3] हैं। यह भी ज्ञात होता है कि इस

१. वहीं, पृष्ठ ७६।
२. एइ०, जिल्द ८, पृष्ठ ३१७ और आगे; ट्रावनकोरा आर्के०, सीरिज़, जिल्द १, पृष्ठ १५७।
३. वहीं।

मधुरकवि के भाई, मारन एइनन्, ने उसके बाद उसका पद संभाला और पूर्वत: स्थापित उसके मंदिर को और भी अधिक साजसज्जायुक्त किया। उसे भी **उत्तरमंत्री** कहा गया है।

ग्रामशासन

पाण्ड्य शासन और संस्कृति के क्षेत्र में सबसे महत्त्वपूर्ण और रोचक तथ्य तो तत्कालीन ग्रामों के स्वरूप, उनकी आबादी, उनके आत्मशासन और उनके सांस्कृतिक कलेवर के भीतर छिपे हुए जान पड़ते हैं। विभिन्न पाण्ड्य शासक विद्या, कला और ग्राम संस्कृति के उन्नायकों के रूप में दिखायी देते हैं। उनके कुछ अभिलेख, जो अपेक्षाकृत अन्य अभिलेखों की तुलना में बड़े आकार वाले हैं, ऐसे हैं, जिनके लेखक बड़े विद्वान् और उच्चकोटि के कवि थे। उन्हें राजदरबारों द्वारा संरक्षण प्राप्त था और वे संस्कृत और तमिल दोनों ही भाषाओं में एक समान गति रखने वाले थे। कुछ अभिलेखों में उन कविओं (उनके रचनाकारों) के नाम भी सुरक्षित हैं। जटिल परांतक (वरगुण महाराज) के मद्रास म्यूजियम ताम्रफलक से ज्ञात होता है कि मगध से पाण्ड्य राज्य में आये हुए ब्राह्मणों के शब्दावलि नामक ग्राम में अपनी एक अलग बस्ती ही हो गयी थी। इससे जो सबसे महत्त्वपूर्ण बात ज्ञात होती है, वह यह है कि उत्तर भारत का दक्षिण भारत से एक जीवन्त सांस्कृतिक सम्बन्ध था।

तमिलनाडु, दक्षिणी आन्ध्र और दक्षिण-पश्चिमी कर्नाटक के इतिहास के अगले चक्रों में पाये जाने वाले अनेकानेक गांवों के नामान्त या तो 'मंगलम्' में अथवा 'पुरम्' अथवा 'कुड़ि' में अथवा 'उर' में प्राप्त होते हैं, जो मूलत: पाण्ड्य इतिहास की देन हैं। आगे चोड़ शासक प्रथम परांतक (दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी[1]) के समय जो ग्रामस्वशासन का विकसित, सुसंगठित, संविधानसम्पन्न और स्वतंत्ररूप से कार्यरत स्वरूप दिखायी देता है, वह मूलत: तिन्नेवली आदि के उन्हीं क्षेत्रों में विकसित हुआ, जो पाण्ड्य राज्य के हृदयस्थल थे। उसका अर्धविकसित स्वरूप तो पल्लव शासकों के समय भी उत्पन्न हो चुका था, जिसका उल्लेख पीछे किया जा चुका है। ग्रामनामों में जो 'मंगलम्' नामान्त वाले ग्राम थे, वे प्राय: **अग्रहार**रूप में दिये गये ब्राह्मणग्राम थे, जो वेदों, शास्त्रों और अन्य विद्याओं में निष्णात ब्राह्मणों द्वारा निवसित थे; उनकी सभाएँ (ग्रामसभाएँ) निश्चित संविधान के आधार पर निर्मित थीं, उनमें भूमिधारण करने वाले ब्राह्मण ही सदस्य होते थे और उनमें **वारियम्** नामक छोटी-छोटी ग्राम समितियाँ विभिन्न कार्यों के संपादन में रत थीं। इसके विपरीत 'उर' नामान्त वाले गांवों के निवासी मिश्रित रूपवाले ब्राह्मण और अब्राह्मण दोनों ही थे, जिनकी सभाएँ **उर** कहलाती थीं।

तिन्नेवली जिले के मानूर से प्राप्त मारनजडयन (वरगुण महाराज, लगभग ८००

---

१. देखें, आगे पृष्ठ ४३३-४३६।

ई०) के एक अभिलेख से जो सूचनाएँ प्राप्त होती[1] हैं वे चोड़ शासक प्रथम परांतक (९०७-९५५ ई०प०) के समय से लगभग १०० वर्षों पूर्व की हैं। आश्चर्यजनक रूप में वे चोड़ प्रशासन के अन्तर्गत ज्ञात ग्रामसभाओं के संविधान का पूर्वाभास कराती हैं। यद्यपि चोड़ कालीन उत्तर मल्लूर की ग्रामसभा के संविधान का जो विस्तृत स्वरूप आगे चलकर दिखायी देता[2] है, वैसा विकसितरूप मानूर अभिलेख से ज्ञात ब्राह्मण **ग्रामसभा** से प्राप्त नहीं होता, तथापि बीजरूप में उसका दर्शन तो पाण्ड्यों के समय हो ही जाता है। मानूर अभिलेख के सरकारी लिपिशास्त्री ने (ऐनुअल् रिपोर्ट, १९१३) उसका संक्षेप करते हुए लिखा है—"यह कथित है कि ग्रामभूमि के प्रत्येक बराबर के हिस्सेदार अथवा उत्तराधिकारिओं में केवल वह व्यक्ति ही **सभा** का पूर्ण सदस्य होगा, जो **मन्त्रब्राह्मण** और **धर्म** (**धर्मशास्त्र**) में पारंगत हो; और इन्हीं योग्यताओं का और भी कोई सदस्य होगा जिसने या तो भूमि का उतना ही भाग खरीद लिया हो, या उपहार में पा चुका हो अथवा उसे वह भाग **स्त्रीधन** के रूप में प्राप्त हुआ हो। इस प्रकार के हिस्सों वाला व्यक्ति ही पूर्ण सदस्य होगा। सदस्यता न तो चौथाई हिस्से वाले की होगी, न आधे वाले भाग की और न तीन-चौथाई वाले भाग की; जिन लोगों ने भूमि की हिस्सेदारी खरीदी होगी, वे उन्हीं को सदस्य के रूप में भेज सकेंगे, जो **परिशिष्टों** सहित वेदों के ज्ञाता होंगे; जो पूर्ण सदस्य नहीं होंगे, वे किसी भी समिति (वारियम्) के सदस्य नहीं हो सकेंगे; जो सदस्यता के पात्र होंगे वे सभा के निर्णयों में बाधा नहीं पहुँचायेंगे; जो निर्णयों में बाधा पहुँचायेंगे उन्हें ५ **काशुओं** का दण्ड लगेगा और उन्हें विहित नियमों का पालन करना ही होगा[3]"।

उपर्युक्त से स्पष्ट है कि ब्राह्मणों की **सभाओं** की सदस्यता का आधार भूमि सम्पत्ति ही था तथा उनकी छोटी-छोटी समितियाँ (**वारियम्**) भी हुआ करती थीं। किन्तु सदस्यता हेतु केवल भूमिसम्पत्ति ही आवश्यक नहीं थी, उसके लिए यह भी आवश्यक था कि सदस्यता का इच्छुक व्यक्ति वैदिक विद्वान् और धर्मशास्त्रों का ज्ञाता हो। निश्चय ही इन ब्राह्मणग्रामों (**ब्रह्मदेयों**) में वैदिक विद्याओं के पठन-पाठन का स्तर बहुत ही ऊँचा था। आगे लगभग १०० वर्षों बाद तिन्नेवली जिले के ही उत्तरमल्लूर अथवा चिंगलपुत्त के उत्तरमेरूर नामक ग्रामों की सभाओं के प्रथम परांतक के समय के जो संविधान ज्ञात होते हैं, उनमें भी ग्रामसभाओं की सदस्यता का आधार भूमिसम्पत्ति और वैदिक ज्ञान ही था[4]।

धार्मिक और सामाजिक क्षेत्रों में शासकों द्वारा मंदिरों और ब्राह्मणों को दिये जाने

---

१. ऐनुअल् रिपोर्टस् ऑन् एपिग्राफी, मद्रास, १९१३ में प्रकाशित।
२. देखें, आगे पृष्ठ ४३२-४३३।
३. ऐनुअल् रिपोर्टस् ऑन् एपिग्राफी, १९१३, देखें मानूर अभिलेख वाली रिपोर्ट।
४. देखें आगे पृष्ठ ४३४-४३५।

वाले भूमिदानों (**देवदेय** अथवा **ब्रह्मदेय**) का प्रचलन सर्वमुख्य प्रथा के रूप में दिखायी देता है। इनका मुख्य उद्देश्य विद्या और धर्मभाव को प्रश्रय देने की ओर अभिमुख था। जब भी कोई शासक कोई अभिलेख प्रकाशित करता था तो उसके दो उद्देश्य हुआ करते थे–एक तो किसी ग्राम या भूमिखण्ड अथवा राजस्व के भाग को अथवा नकद राशि को वह किसी ब्राह्मण को, किसी मंदिर या मठ या विहार या संघ को दिये जाने वाले दान को सभी सम्बद्ध लोगों की जानकारी में लाना चाहता था और दूसरे अपने वंश के इतिवृत्त के साथ अपने कार्यों का गुणगान करना चाहता था। मंदिरों को दिये जाने वाले दान उनके द्वारा किये जाने वाले कुछ कार्यों अथवा उद्देश्यों की पूर्ति के निमित्त ही होते थे, जैसे उनमें किये जाने वाले नित्यप्रति के कई बार के दीप प्रज्वालन[१] अथवा मंदिर के बगीचों की देखरेख।

पाण्ड्य राज्य के समय मदुरै के आसपास के क्षेत्रों में केवल ब्राह्मण धर्म और जैन धर्म का ही अधिक जोर था। यद्यपि वहाँ बौद्ध धर्म का प्रवेश अशोक के समय ही हो गया था, उसका जोर इस समय बहुत कम हो चुका था। श्वान्-च्वाङ्ग के यात्रा विवरणों[२] से स्पष्ट है कि भारतवर्ष के अन्य भागों की तरह ही सुदूर दक्षिण में भी बौद्ध धर्म अपनी अवनति की ओर अग्रसर था। उसकी अवनति के मुख्य कारणों में शैव पंथ के पुनरुद्धार वाला वह आन्दोलन था, जिसे **नायनार** संतों ने अपने सुन्दर गीतों, वाद्यों, मंदिरों में बैठकर गाते हुए सुरुचिपूर्ण, लयबद्ध और छन्दमय तथा कर्णप्रिय स्वरों द्वारा आगे बढ़ाया। यद्यपि उनका यह शैव पंथोद्धारक आन्दोलन जितना बोद्धों के विरुद्ध था, उतना ही जैनों के विरुद्ध भी था, उन्हें जितनी सफलता बौद्ध पंथ के विरुद्ध मिली, उतनी जैन पंथ के विरुद्ध नहीं मिली। दक्षिण भारत में जैन धर्म कभी भी बहुत कमजोर नहीं पड़ा। उसके मंदिर और मूर्तियाँ वहाँ स्थापित होती रहीं, कई राज्यों के शासक जैनोपासना में विश्वास वाले हुए और उन्हें राजाओं तथा साधारण जनों, विशेषत: वणिक् लोगों से, दान और सहायताएँ प्राप्त होती [३]रहीं। मारनजडयन के समय के रामनाड जिले से प्राप्त दो अभिलेख कुरुण्डै में एक जैन मंदिर की ओर निर्देश करते[४] हैं। यह स्थान पाण्ड्य क्षेत्र का एक प्रसिद्ध जैन केन्द्र था। पार्श्व भट्टारार की मूर्ति का जीर्णोद्धार ८७० ई० के

---

१. दि पाण्ड्यन् किंगडम्, पृष्ठ ८०-८२, और देखें, वेंकय्या, एइ०, जिल्द ९, पृष्ठ ९२-९३।

२. टॉमस् वाटर्स, जिल्द २, पृष्ठ २२८ के अनुसार मलकूट (मलयगिरि) में लोग "रुक्षवृत्ति के, काले, कठोर और उतावले थे; संस्कृति के प्रति लापरवाह थे; केवल व्यापार में प्रवीण थे, वहाँ पुराने विहार बहुत थे किन्तु कुछ थोड़े मात्र अभग्न अवस्था में थे, जिनमें भिक्षुओं की संख्या कम ही थी।"

३. ऐनुअल् रिपोर्टस् ऑन् एपिग्राफी, १९१६, भाग २, पैरा २।

४. वहीं, १९१४ का ४३० और ४३१।

ऐवरिमालै अभिलेख में उल्लिखित[१] है।

बौद्ध धर्म के विरोध में शास्त्रार्थ करने वाले मणिक्कवासगर नामक सन्त पाण्ड्य क्षेत्र के प्रारंभिक संतों में एक थे। वे किसी प्रारंभिक पाण्ड्य राजा के एक उच्चपदासीन राज्याधिकारी भी थे और चिदंबरम् में रहते थे। कहते हैं कि वे अपने शास्त्रार्थ कौशल से बौद्धों को शैवमत में दीक्षित कर लेते थे। तिरुज्ञानसंबंदर को सबसे बड़ा शैव सन्त माना जाता है। उनके बारे में कथित है कि उन्होंने किसी पाण्ड्य राजा को एक भीषणरोग से अपनी आश्चर्यकारी शक्ति से मुक्त किया था। इस शासक की पहचान अरिकेसरी परांकुश (७वीं सदी) से की गयी[२] है। यह भी कथित है कि पहले वह राजा जैन था, किन्तु संबंदर के प्रभाव में आकर वह शैव हो गया और जैनों पर अत्याचार करने लगा। किन्तु जैनों पर किये गये इन अत्याचारों की कथाओं पर विश्वास करने का कोई भी आधार नहीं दिखायी देता।

जैन धर्म का शास्त्रीय विरोध वैष्णवधर्मी **आड़वार** सन्तों ने भी उतना ही किया, जितना शैव **नायनार** सन्तों ने। ऐसा माना गया है कि पेरियाड़्ड़वार नामक वैष्णव संत जटिल परांतक के समकालिक[३] थे। वे अपने गीतों में नेडुमारन नामक पाण्ड्यराज का उल्लेख करते हैं। परांतक नेडुनजडयन के समय उसके मधुरकवि नामक **उत्तरमंत्री** ने दो विष्णुगृहों (वैष्णव मंदिरों) का निर्माण किया था, यह हम पीछे[४] देख चुके हैं। इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि पाण्ड्य राज्य में वैष्णव धर्म का अच्छा प्रभाव और प्रचलन था।

७१९ई० में मलयागिरि (द्रविड़देश) से चीन जाने वाले वज्रबोधि नामक प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् पाण्ड्य क्षेत्र के ही निवासी थे। उनके पिता काञ्चीदेश के किसी राजा के गुरु अथवा आचार्य रह चुके थे।

किन्तु उपर्युक्त सभी उल्लेख पाण्ड्य राज्य के उस काल तक के ही हैं, जिसका अन्त १०वीं शताब्दी का मध्य आते-आते हो चुका था। चोड़ साम्राज्य की अवनति (१२वीं शताब्दी) के बाद जब पाण्ड्यों ने एक बार पुनः अपनी स्वतंत्रता प्राप्त की और अपनी सत्ता का विस्तार किया तो उन्होंने पारंपरिक हिन्दू संस्कृति और कला को एक नया आयाम दिया, जो बहुत महत्त्वपूर्ण है। उसका सर्वप्रिय और सर्वमुख्य स्वरूप उनकी वास्तुकला में दिखायी दिया। उसका विवरण 'स्थापत्य और कला' (दक्षिण भारतीय) वाले अध्याय में आगे प्राप्त होगा[५]।

---

१. नीलकान्त शास्त्री, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ८४।
२. वहीं, पृष्ठ ८५।
३. गोपीनाथ राव, श्रीवैष्णवज़्, पृष्ठ १९।
४. देखें, पीछे पृष्ठ ३६५।
५. देखें आगे १५ वाँ अध्याय।

किन्तु मदुरै के पाण्ड्यों वाले साम्राज्यवादी युग की आर्थिक और सामाजिक जीवन की स्थितियों का वर्णन तबतक पूर्ण नहीं माना जायगा, जबतक १३वीं शताब्दी के अन्त में वेनिस के यात्री मार्को पोलो तथा वसाफ जैसे मुसलमानी लेखकों के कुछ विवरणों को नहीं सम्मिलित किया जाय। दोनों ही माबर और कायल जैसे बन्दरगाह क्षेत्रों के माध्यम से होने वाले उस व्यापार का विशद विवरण देते हैं, जो रोम, भूमध्यसागरीय क्षेत्रों, अदन, होर्मुज, किश तथा अरब और फारस से प्रारंभकर पश्चिम की ओर से आते हुए भारतवर्ष के इन सुदूर दक्षिणी क्षेत्रों में प्रवेश करता था। मुसलमान व्यापारिओं ने माबर (मलावार) नाम भारत के पश्चिमी समुद्र तट के उस भाग को दिया था जो नेल्लूर से प्रारंभकर क्विलान बन्दरगाह तक फैला हुआ था। माबर को वे 'हिन्द की कुञ्जी' कहते[१] हैं। कैल (कालीकट ?) को वे पाण्ड्य राज्य का सबसे बड़ा गोदाम बताते हैं। मार्को पोलो का कथन है कि मदुरै का पाण्ड्य राजा विदेशी व्यापारिओं को बहुत ही अधिक सुविधाएँ देकर, उनसे न्यायपूर्वक व्यवहार करते हुए, अपने राज्य के बन्दरगाहों में आमंत्रित करता था।

कायल के बन्दरगाह में व्यापारिक माल में घोड़ों का सर्वप्रमुख स्थान था। उनको प्रत्येक वर्ष खरीदने में पाण्ड्य शासक अपने राज्य की सर्वाधिक आय खर्च कर देते थे। ट्रावनकोर से प्राप्त एक अभिलेख में भी घोड़ों के व्यापारिओं का उल्लेख मिलता[२] है। मार्को पोलो किश, होर्मुज, दोफर, सोयेर और अदन के व्यापारिओं की धूर्तता और चालाकी तथा उतनी ही मात्रा में दक्षिण भारतीय राजाओं की दुर्बुद्धि तथा उनके साइसों की मूर्खता की उपहासभरी चर्चा करते हुए कहता है कि कैसे वे व्यापारी हजारों-हजारों घोड़े मदुरै के चारों राजाओं (सहराजाओं) को, प्रति घोड़े ५०० **सग्गी** सोना के बदले, बेचते हैं और न तो उन्हें यह बताते हैं कि उन घोड़ों की सही देखरेख कैसे की जायगी, कैसे वे स्वस्थ रखे जाँयगें और न तो यह कि कैसे उन्हें प्रशिक्षित करके युद्धों में बढ़िया सवारी योग्य बनाया जायगा। वसाफ का कथन है कि इन विदेशी व्यापारिओं से वहाँ के राजा का सबसे बढ़िया १४०० घोड़ों को प्रतिवर्ष खरीदने का सौदा था, जिसमें प्रत्येक घोड़े का दाम लाल सोने की २२० दीनार निश्चित किया गया था। किन्तु न तो दक्षिण भारत की जलवायु ही इन घोड़ों के रख-रखाव और जीवन के लिए उपयुक्त थी और न यहाँ के साइस ही यही जानते थे कि वे कैसे रखे जाँय, उन्हें क्या खिलाया जाय और उन्हें कैसे प्रशिक्षित किया जाय। फलतः, वे प्रतिवर्ष मरते थे और प्रतिवर्ष खरीदे जाते थे। उनपर का सारा खर्च इस प्रकार व्यर्थ चला जाता था। एक दक्षिण भारतीय शासक ने तो अरब व्यापारिओं को खुला निमंत्रण दे रखा था कि वे चाहे जितने घोड़े लावें, वह उन्हें खरीद लेगा[३]। देश के धन के इस व्यर्थ खर्च से और अधिक मूर्खता क्या हो सकती थी ?

---

१. वसाफ, उद्धृत नीलकान्त शास्त्री, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ १६९।

२. ऐनुअल् रिपोर्टस्, १९०७ का १६१।

३. ये विवरण नीलकान्त शास्त्री, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ १६९-१७०, से लिये गये हैं।

विदेशी व्यापारी पाण्ड्यदेश को मोतियों का देश कहते हैं । वे इस बात का उल्लेख करते हैं कि किस प्रकार वहाँ के राजागण नीलम, हीरे, मोती, प्रवाल और वैदुर्य आदि मणियों से सुसज्जित कण्ठहार, कर्णफूल, बाजूबन्द और पैजनी (स्त्रियों के सभी गहने) धारण कर राजदरबार में बैठते थे । उनकी मृत्यु के बाद उनके पुत्रगण उनके द्वारा इकट्ठी की हुई सम्पत्ति का कोई भी भाग स्वयं व्यय नहीं करते थे, अपितु वे स्वयं भी उतना ही इकट्ठा करने का प्रयत्न करते थे ।

मार्को पोलो मदुरै के सैनिकों की अप्रतिम वीरता का उल्लेख करते हुए उन्हें ''भयंकर लड़ाके'' बताता है । वह उस प्रथा का भी उल्लेख करता है जो काकतिय राज्य में **लेंक** तथा होयसड़ राजाओं के **गरुण** नामक उन अंगरक्षकों के रूप में विद्यमान थी, जो हरदशा में, हरकीमत पर, उनकी व्यक्तिगत रक्षा करते थे और उनकी मृत्यु के बाद उन्हीं की चिताओं पर यह कहते हुए जल जाते थे कि वे राजा के साथ जीवनभर रहे हैं और उसकी मृत्यु के बाद भी उसी के साथ रहेंगे । वह यह भी कहता[१] है कि मदुरै के राज्य में दर्जी तो होते ही नहीं थे, क्योंकि वहाँ के लोग नंगे बदन ही रहते थे । संभवत: वहाँ के सादे जीवन की प्रथा को वह पूरी तरह नहीं समझ पाया । पुन:, उसका कथन है कि वहाँ के लोग पृथ्वी की पूजारूप में उसके प्रति आदर भाव से सर्वदा जमीन पर ही बैठते हैं; गोबर से अपने घरों को लीपते हैं; स्त्री और पुरुष सभी दिन में कम से कम दो बार स्नान करते हैं; जो नहीं नहाते, उन्हें लोग हीनभाव से देखते हैं; दाहिने हाथ से भोजन करते हैं, बायें हाथ से नहीं; अपने ही बर्तनों से पानी पीते हैं; दूसरों के बर्तनों से नहीं पीते; उन बर्तनों को वे मुँह से कभी नहीं लगाते बल्कि ऊपर से धार गिराकर पानी पीते-पिलाते हैं; वे मदिरा का सेवन नहीं करते; बल्कि उनका नियम तो यह है कि शराबी व्यक्ति और समुद्रयात्रा करने वाला व्यक्ति किसी भी कर्ज, उधार, मुकद्दमे अथवा बन्धक आदि के मामलें में किसी की जमानत नहीं ले सकता; वे भविष्य, ज्योतिष, जन्मकुण्डली, शकुन-अपशकुन आदि में विश्वास करते हैं तथा वहाँ के सभी लोग पान चबाने (तेम्बुल = ताम्बूल = पान) के आदी हैं और वे उसे हमेशा मुंह में घुलाते रहते हैं । जो सम्पन्न है वे उसमें कर्पूर, सुगन्ध, मसाले और चूना डालकर खाते हैं ।

●

१. वहीं, पृष्ठ १७३-१७६ ।

अध्याय १ ३

चोल (चोड़) वंश

सर्वप्रथम 'चोल' या 'चोड़' नाम के उच्चारण पर विचार अपेक्षित है। स्वयं तमिलभाषी अथवा तमिलनाडुवासी लोग इस शब्द का उच्चारण कुछ जीभ टनकाकर 'चोल्ड़' और 'चोड्ड़' करते हैं। इसी प्रकार मराठी भाषी अथवा कन्नड़ भाषी लोग अंग्रेजी (रोमन लिपि) में जिस स्थान का नाम 'अइहोल' लिखा जाता है और उसके 'एल्' के नीचे कभी-कभी एक उच्चारण वाचक बिन्दु लगा दी जाती है, उसे 'अइहोड़' अथवा 'अहिहोड़' पुकारते[१] हैं। प्रोफेसर नीलकान्त शास्त्री ने अपनी पुस्तक 'दि चोल्(ड़्)ज़्' लिखते समय 'एल्' के नीचे सर्वदा ही बिन्दु दी है। स्पष्ट है उन जैसा संस्कृतज्ञ और तमिलज्ञ इस शब्द के वर्तमान तमिल उच्चारण का ही पक्षधर था। तथापि, बहुत बाद में उन्होंने 'ए हिस्ट्री ऑफ् दि पाण्ड्यन् क़िंगडम्' में 'चोल' उच्चारण का ही प्रयोग किया।

किन्तु उत्तर भारतीयों की जिह्वा के लिए 'ल्ड्ड़्' का उच्चारण अत्यन्त कठिन है। जो हिन्दी (खड़ी बोली) देवनागरी लिपि में लिखी जाती है, उसमें 'ड़' वर्ण तो है ही नहीं–यद्यपि घोड़ा, थोड़ा, रोड़ा, कोड़ा तथा छोड़ने, मोड़ने, फोड़ने जैसे शब्द हैं। इस प्रकार 'ड़' का घुसाव खड़ी बोली में हो गया है। स्वर्गीय भगवतशरण उपाध्याय जैसे मूर्धन्य इतिहासकार ने अपनी पुस्तक 'प्राचीन भारत का इतिहास' में 'चोड' शब्द का प्रयोग किया है। अत: समस्या यह है कि क्या लिखा जाय–चोल, चोल्ड़, चोड्ड़्, अथवा चोड या चोड़। यों, एक तर्क यह है कि जैसा तमिल लोग इसका उच्चारण करते हैं, वैसे ही हिन्दी में लिखने वाले लेखकों को भी करना चाहिए।

किन्तु प्रश्न यह है कि क्या तमिलनाडु के प्राचीन इतिहास में चाहे वह इतिहास राजनीतिक हो, साहित्यिक ग्रंथों का हो अथवा सांस्कृतिक विषयों से सम्बद्ध हो–यह शब्द सर्वदा 'चोल', 'चोल्ड़्' 'चोड्ड़्' अथवा 'चोड' रूप में, एक तरह ही, प्रयुक्त हुआ है? इसका उत्तर नकारात्मक ही है। चोड़ों की उत्पत्ति का विवरण देने वाली प्रथम राजेन्द्र की तिरुवालंगाडुप्रशस्ति उनके मूल पुरुष का नाम 'चोल'[२] देती है। इस वंश के जितने भी

---

१. ऐसा मुझे 'उत्तर भारत का राजनीतिक इतिहास' शीर्षक पुस्तक लिखते समय १९६० के दशक में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के मराठी विभाग के प्रोफेसर लेले ने बताया था। अत: मैंने सर्वत्र 'अहिहोड़' ही लिखा।

२. चोलाह्वयस्समज्जनिष्ट तदीयसुनुर्य्यन्नामृत: प्रथितमर्ककुलम् पृथिव्याम् ॥
चोलराजविविधोज्वलसम्पन्यक्पकृतस्वपुरसम्पदन्मिन्द्रम् यं वदन्त्य ॥३०॥
साउथ इण्डियन् इन्स्क्रृप्शन्स्, जिल्द ३, पृष्ठ ३८३ और आगे।

संस्कृत भाषा में निबद्ध अभिलेख हैं, उन सबमें वंशनाम अथवा देशनाम का बोधक शब्द 'चोल' ही दिखायी देता है। पल्लव राजाओं ने अपने संस्कृत भाषा वाले अभिलेखों में 'चोड' शब्द का प्रयोग किया। (देखें, साउथ इण्डियन् इन्स्क्रृप्शन्स्, जिल्द १)। तमिल भाषा की मुझे जानकारी नहीं है और वहाँ क्या है, मैं नहीं जानता। परन्तु अन्यत्र भी अन्यान्य राजवंशों यथा-चालुक्य, पल्लव अथवा अन्यान्य उत्तर भारतीयों–के अभिलेखों में 'चोल' की ही वर्तनी का प्रयोग हुआ है। इतिहासग्रंथ लेखन की सही पद्धति यह है कि मूल में जैसी भी नाम वाचक, स्थान वाचक, पुस्तक वाचक और लेखक वाचक वर्तनी प्रयुक्त हुई हो, वैसा ही, बिना किसी परिवर्तन के, लिखा जाय। अन्यथा लिखा हुआ अशुद्ध होगा। यही कारण है कि जब अंग्रेजी भाषा में रोमक लिपि द्वारा प्राचीन भारतीय ग्रंथों, स्थानों, लेखकों आदि के नामों को योरोपीय विद्वानों ने लिखना प्रारंभ किया तो उन्होंने उनके सही उच्चारण हेतु मात्राओं वाले चिह्नों (डायाक्रिटिकल् मार्क्स्) का अवश्यंभावी प्रयोग किया। इसी माध्यम से रोमक लिपि में अनेक वैदिक, संस्कृत, पालि और प्राकृत ग्रंथों का उन्होंने विशाल साहित्य उपस्थित कर दिया। अधुना, अज्ञान, अनिच्छा और आलस्य के कारण इस प्रवृत्ति में कमी आयी है।

पुन: 'चोल' अथवा 'चोड़' शब्द पर आ जाना अपेक्षित है। चोड़ देश के प्राचीन नामों, ग्रंथों, व्यक्तिओं, प्रान्तों आदि के नामों में ही अनेक भेद प्राप्त होते हैं। उत्तम चोल द्वारा दिया गया एक **ब्रह्मदेय** ग्राम उत्तमशोलचतुर्वेदिमंगलम्[१] कहा गया है। यहाँ उत्तम चोल (चोड़) का नाम उत्तम शोल मिलता है। चोल (चोड़) साम्राज्य के अनेक मण्डलों अर्थात् प्रान्तों के नाम 'शोलमण्डलम्' जैसी संज्ञाओं से अभिहित किये गये हैं–यथा जयगोण्डाशोल- मण्डलम्, मुम्मुडिशोलमण्डलम् (श्रीलंका), मुण्डिकोण्डशोलमण्डलम् (गंगपाड़ि) तथा निगरिलिशोलमण्डलम् (नोलम्बपाड़ि)। इसी प्रकार एक अन्य चोल (चोड़) शासक विक्रम भी विक्रमशोल कहा गया[२] है। प्रथम राजेन्द्र ने अपनी नयी राजधानी के रूप में जिस नये नगर, गंगैकोण्डचोलपुरम् की स्थापना की, उसका भी नाम कहीं-कहीं गंगैकोण्डचोल अथवा 'शोलपुरम्' मिलता है। **निगरिल्लशोल** प्रथम राजराज की एक उपाधि थी।

अत: अत्यन्त शुद्धता, प्राचीनता और संस्कृतनिष्ठता की दृष्टि से 'चोल' लिखना ही उचित है। किन्तु तमिल उच्चारणों की वर्तमान दृष्टि से 'चोड़' अथवा 'चोड़्ड़्' जैसी वर्तनी का प्रयोग भी स्वीकार्य होना चाहिए।

उत्पत्ति

चोड़ों की उत्पत्ति, काल्पनिक रूप में ही, उनके विभिन्न अभिलेखों, कुछ तमिल

---

१. ऐनुअल् रिपोर्ट्स् ऑन् एपिग्राफी, १९१२ का २६९; १९११ का ३८।

२. इस शासक के नामपर विक्रमशोलियम् अथवा विक्रमशोलन्–ऊला नामक एक ग्रंथ भी है। बाद में उसपर एक टीका भी लिखी गयी।

ग्रंथों (यथा **कलिंगत्तुप्परणि** और **ऊला** नामक ग्रंथों) तथा प्रशस्तियों में वर्णित है। जिन प्रसिद्ध अभिलेखों में उनके उल्लेख आते हैं, उनमें अन्बिल, तिरुवालंगाडु तथा कन्याकुमारी से प्राप्त होने वाले अभिलेख प्रमुख हैं। भिन्न-भिन्न स्थानों पर उन्हें सूर्य अथवा चन्द्र से जोड़ते हुए उन्हें क्षत्रियत्व प्रदान करने के प्रयत्न दिखायी देते हैं। इन अभिलेखों अथवा ग्रंथों में उनके पूर्वपुरुषों की संख्याएँ भी अलग-अलग प्रकार से दी गयी हैं। वे संख्याएँ १२ से ५२ तक बतायी गयी हैं। वीर राजेन्द्र के कन्याकुमारी से प्राप्त अभिलेख[१] में कथित है कि चोड़ नामक[२] उनका पूर्वपुरुष दक्षिण की ओर हिरण के रूप वाले एक राक्षस के पीछे चलता चला गया और उसे कावेरी नदी के किनारे पर मारकर, तथा नदी में स्नानकर, पुण्यार्थ दान देने हेतु कुछ ब्राह्मणों को खोजने लगा। किन्तु वहाँ किसी ब्राह्मण को न पाकर उसने आर्यावर्त से बहुत से अच्छे ब्राह्मणों को आमंत्रित कर कावेरी नदी के किनारे पर बसा दिया। उसने जंगलों को साफ किया; सुपारी के पेड़ों तथा अन्य फलदार वृक्षों को लगाया और प्रदेश को उन्नत बनाया। इस अभिलेख में कावेरी को वह नदी बताया गया है जो "जल के रूप में समुद्रमंथन में प्राप्त अमृत को भूमि पर ले आती है।"

स्पष्ट है, चोड़ शासक स्वयं अपने पूर्वज की उत्पत्ति के विषय में काल्पनिकता के ही शिकार थे। किन्तु उनके जिन पूर्वजों के नाम इन अभिलेखों में दिये गये हैं, उनमें करिकाल, किड़ि और कोच्चेनगणान को नीलकान्त शास्त्री ऐतिहासिक शासकों की श्रेणी में रखते हैं। कारण संभवतः यह है कि इनके नाम प्राचीन संगम साहित्य के कुछ ग्रंथों अथवा संग्रहों में प्राप्त होते हैं। आगे उनमें मनु, इक्ष्वाकु, विकुक्षि, पुरञ्जय, ककुत्स्थ, पृथु, धुन्धुमार, युवनाश्व, मान्धाता तथा मरुत्त जैसे सूर्यवंशी (अर्क कुल) राजाओं के साथ ही दुष्यन्त और भरत जैसे चन्द्रवंशी राजाओं के भी नाम दिये गये हैं। यह स्पष्टतः भ्रमात्मक है। इतना मात्र कहा जा सकता है कि चोड़ अपने को क्षत्रिय मानते थे।

करिकाल को चोड़ वंश के सर्वप्रथम शासक होने हेतु संगम साहित्य के उल्लेखों का हवाला दिया जाता है। कथित है कि वह तमिलदेश का प्रथम सम्राट् था तथा उसके पास एक बड़ी नौसेना थी। किन्तु इन परंपरागत विश्वासों के ऐतिहासिक होने में अनेक प्रकार के सन्देह भी व्यक्त किये गये हैं। तथापि, तेलुगू क्षेत्रों में तीसरी-चौथी शताब्दियों में सर्वप्रथम शासन करने वाले चोड़ शासक अपने को करिकाल से जोड़ते हैं। इस परंपरा

---

१. साउथ इण्डियन् इन्स्क्रृप्शन्स्, जिल्द ३, पृष्ठ ३८३ और आगे। ऐसे अभिलेखों में सूर्यवंशी और चन्द्रवंशी दोनों ही शाखाओं के प्राचीन पुरुषों के नाम प्राप्त होते हैं।

२. नीलकान्त शास्त्री, दि चोड़ज़्, पृष्ठ ११६, द्वितीय राजेन्द्र चोड़ का तिरुवालंगाडु अभिलेख चोड़ों को सूर्यकुल से जोड़ता है। वहाँ कथित है–चोलान्ह्वयस्समजनिष्ट तदीय सुनुरन्नामृतः प्रथितमर्ककुलम् पृथिव्याम्। श्लोक २८॥

को वेंकैय्या जैसे विद्वान् अभिलेखों के आधार पर सही ठहराते[१] हैं। अगली तीन-चार शताब्दियों तक उरियाऊर अथवा रेनाडु के चोड़ों का इतिहास अन्धकारमय है। इसका कारण यह है कि इस बीच कलभ्रों ने उनके क्षेत्रों पर आक्रमणकर उन्हें हीन स्थिति में डाल दिया था[२]। तेलुगू चोड़ों ने बीच की कई शताब्दियों तक अपने को कर्नाटक और तमिल (पल्लव) शासकों की अधिसत्ता स्वीकृत करके तथा बुद्धिमानीपूर्वक किये गये वैवाहिक सम्बन्धों के माध्यम से सुरक्षित कर किसी तरह बचाये रखा और काञ्ची के पल्लवों की अवनति के बाद तमिल क्षेत्रों की ओर बढ़कर धीरे-धीरे एक सशक्त सत्ता की स्थापना कर ली।

विजयालय (८५०-८७० ई०प०)

तमिल देश के उरियाऊर (उरगपुर) और तंजाऊर (तञ्जौर) क्षेत्रों पर अधिकार जमाकर अपने पैतृक राज्य को पुनर्स्थापित करने का श्रेय विजयालय को जाता है। यद्यपि वह पल्लव राज्य की अधिसत्ता स्वीकार करता रहा, उसने अपने शासनवर्षों की गिनती के आधार पर स्वतंत्ररूप से अपने अभिलेखों का प्रकाशन प्रारंभ कर दिया। ये अभिलेख पत्थरों पर खोदे गये। उसके द्वारा तंजाऊर की विजय का उल्लेख दक्षिणी आर्काट जिले के तिरुकोयिल्लूर से प्राप्त एक अभिलेख में हुआ है, जिसमें उसे उस नगर के विजेता (**तंजैकोण्ड**) और **परकेसरी** की उपाधियाँ दी गयी हैं[३]। तंजाऊर के पास के क्षेत्रों से उसके अभिलेख प्राप्त हुए हैं। नीलकान्त शास्त्री ने विजयालय का शासनकाल ८५० ई० से ८७० ई० तक निश्चित किया[४] है।

तंजाऊर पर अधिकार विजयालय की प्रथम, और कई दृष्टियों से बहुत ही महत्त्वपूर्ण, उपलब्धि थी। उसके पूर्व उस नगर और उसके आसपास के क्षेत्रों पर मुत्तरैयर नामक उस जाति का अधिकार था, जो मदुरै के उन पाण्ड्यों की अधिसत्ता स्वीकार करती थी, जिनके पल्लवों से सर्वदा ही सैनिक संघर्ष चलते रहते थे। इधर विजयालय पल्लवों का अधीनस्थ था, जिसे पल्लवराज ने तंजाऊर को जीतने और पाण्ड्यों को शिकस्त देने के कार्य में लगाया था। क्रिन्तु विजयालय ने स्वयं ही तंजाऊर पर अपना अधिकार कर लिया, और बहुत हद तक पल्लव और पाण्ड्य दोनों ही राज्यों से प्रतिस्पर्द्धा करते हुए,

---

१. ऐनुअल् रिपोर्टस् ऑन् एपिग्राफी, मद्रास, १९००, ४५वां पैराग्राफ। करिकाल की प्रशंसा में तिरुवालंगाडु अभिलेख कहता है :—
कलेश्चसकलक्षोणीभृतान्नायकम् यम् प्राहुः कलिकालमुन्नति-
मतामग्रेसरसद्गुणैः काञ्चीं यश्चनवीचकार कनकैरसोभूद-
दषुष्यान्वये कावेरीतटबन्धनप्रकटितस्फीतात्मकीर्त्तिभूत ॥ श्लोक ४२ ॥

२. दि क्लासिकल् एज्, पृष्ठ २६२-२६४।

३. ऐनुअल् रिपोर्टस् ऑन् एपिग्राफी, १९३६ का ५१वाँ।

४. दि चोड़ज़्, पृष्ठ ११२।

एक स्वतंत्र चोड़ राज्य की स्थापना कर ली, जो शीघ्र ही साम्राज्य का रूप लेने लगा[१] ।

प्रथम आदित्य (८७१-९०७ ई० प०)

विजयालय के पुत्र (प्रथम) आदित्य ने उसके उत्तराधिकारी के रूप में ८७१ ई० में चोल(ड़) राजगद्दी संभाली । उसके पूर्व वह **युवराज** रह चुका था और उसे प्रशासकीय और सैनिक दोनों प्रकार के अनुभव प्राप्त थे । राजवंश के आगे आने वाले अनेक शासकों के अभिलेखों में आदित्य के युद्धों सहित उसकी अनेक उपलब्धियों के उल्लेख प्राप्त होते हैं । वे अनबिल, तिरुवालंगाडु, कन्याकुमारी और करण्डै नामक स्थानों से प्राप्त हुए[२] हैं । उसकी सबसे बड़ी उपलब्धि पल्लव शासक अपराजित को उखाड़ फेकने की थी, जिसका उल्लेख तिरुवालंगाडु अभिलेख में हुआ[३] है । कन्याकुमारी से प्राप्त एक अभिलेख यह कहता है कि आदित्य ने हाथी पर सवार पल्लवराज अपराजित पर टूटकर उसे मार डाला । अभिलेखों में उसे तोण्डैनाड(डु) अर्थात् तोण्डैमण्डलम् का विजेता कहा गया है । फलत: पल्लव राज्य का अस्तित्व ही समाप्त हो गया और चोड़ राज्य की सीमाएँ दक्षिण- पश्चिम में राष्ट्रकूट सीमाओं को छूने लगीं । इस विजय की तिथि ८९० ई० के आसपास मानी गयी है । आदित्य की इन सफलताओं ने गंग राज्य को भी उसकी अधिसत्ता स्वीकार करने को विवश कर दिया । आदित्य ने **राजकेसरी** अथवा **राजकेसरीवर्मन्** की उपाधियाँ धारण की थीं, जिसका उल्लेख करते हुए गंग शासक द्वितीय पृथिवीपति ने मंदिरों को दान देते समय एक अभिलेख का प्रकाशन किया था । अपनी सत्ता को बनाये रखने के लिए पल्लव शासक ने भी एक राजकुमारी का विवाह आदित्य से कर दिया । उसने राष्ट्रकूट शासक द्वितीय कृष्ण की भी एक पुत्री से विवाह किया । इन दोनों ही वैवाहिक सम्बन्धों से उसे चोल(ड़) सत्ता को अच्छी तरह संगठित करने में भरपूर सहायता मिली होगी । आगे अवसर का लाभ उठाकर उसने गंग शासक द्वितीय पृथिवीपति से कोंगु का प्रदेश भी जीत लिया । वहाँ के तड़क्काड नामक नगर को भी उसने हथिया लिया । एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसके चेर राज्य से भी मित्रतापूर्ण सम्बन्ध थे ।

ऐसा माना गया है कि उसने उन अनेक मंदिरों का निर्माण कराया, जिनकी प्राणप्रतिष्ठा उसके पुत्र और उत्तराधिकारी परातंक ने करायी । कम से कम एक मंदिर की जानकारी तो स्पष्ट है, जिसका निर्माण उसने कराया । वह मंदिर तंजाऊर का दुर्गा मन्दिर

---

१. नीलकान्त शास्त्री, दि चोलड़्ज़्, पृष्ठ ११२-११३ ।

२. वहीं ।

३. वहीं । तिरुवालंगाडु अभिलेख का उल्लेख है:—
अपराजितमप्यसौ रणे जितवान् पल्लवमुल्लसद्बलम् । श्लोक ४९ ।।

था, जिसे उसने उस नगर की विजय के बाद निर्मित कराया था। स्पष्ट है कि वह अपने वंश के अन्य शासकों की तरह शिवभक्त था। उसकी मृत्यु चित्तूर जिले में स्थित कालहस्ति नामक स्थान के निकट तोण्डैमानाड में हुई।

प्रथम परातक (९०७-९५५ ई० प०)

प्रथम आदित्य ने चोड़ सत्ता का काफी विस्तार कर दिया था, जिसमें तात्कालिक राजनीतिक परिस्थितियों का उसे बहुत ही अच्छा लाभ मिला था। पल्लवों की सत्ता तिरोहित हो चुकी थी और पाण्ड्य राज्य आन्तरिक कठिनाइयों और विद्रोहों से परेशान था। गंगों सहित अन्य राज्य अधीनस्थ किये जा चुके थे और कोंगु प्रदेश भी चोड़ राज्य का अंग बन चुका था। चोड़ राज्य का शासनक्षेत्र चेन्नई से कालहस्ति तक तथा कावेरी (दक्षिण में) से मैसूर के कुछ भागों तक विस्तृत हो चुका था।

परातंक ने अपने ४८ वर्षों के शासन काल में अपने पिता के समय प्राप्त सफलताओं में और वृद्धि की। सबसे पहले तो उसने राष्ट्रकूट शासक तृतीय कृष्ण द्वारा अपने ही नप्ता (पुत्रीपुत्र) को चोड़ राजगद्दी पर बैठाने वाले प्रयत्न को असफल करके अपनी प्रतिष्ठा बढ़ायी तथा पाण्ड्य राज्य को जीतकर अपने राज्य की सीमा को कन्याकुमारी तक विस्तृत कर लिया। तत्पश्चात् उसने सिंहल (लंका) पर आक्रमण किया। किन्तु वहाँ उसे असफलता ही हाथ लगी। बाण और गंग शासक उसके अधीन हो गये और उत्तर में समस्त पल्लव क्षेत्रों सहित उसकी सीमाएँ आन्ध्र प्रदेश के नेल्लूर तक विस्तृत हो गयीं।

प्रथम परांतक की सबसे बड़ी उपलब्धि पाण्ड्य राज्य पर आक्रमण द्वारा उसे अपने राज्य में मिला लेने की थी, जो उसने अपने शासन के प्रारंभ होने के तीन वर्षों के भीतर ही प्राप्त कर ली। फलस्वरूप उसने **मदुरैकोण्डा** (मदुरै को जीतने वाला) की उपाधि धारण की। उसकी एक अन्य उपाधि **मधुरान्तक** (मदुरा का अन्त करने वाली) भी थी। किन्तु परांतक को पाण्ड्य देश को पूरी तरह आत्मसात करने में लगभग दो दशक लग गये[१]। यह इस तथ्य से प्रमाणित है कि वहाँ उसका प्रथम अभिलेख उसके शासन के चौबीसवें वर्ष का ही है। परातंक की पाण्ड्य देश के विरुद्ध लड़ाइयों तथा वहाँ के शासक द्वारा सिंहलराज से मदद लेने के प्रयत्नों के विवरण तिरुवालंगाडु के अभिलेख में भी प्राप्त[२] होते हैं।

परातंक के शासकीय जीवन की प्रारंभिक घटनाओं में सर्वप्रमुख प्रतीत होती है उसके समकालिक राष्ट्रकूट नरेश तृतीय कृष्ण द्वारा उसको हटाकर अपने नप्ता (नाती)

---

१. इस संघर्ष की चर्चा बौद्ध ग्रंथ चुल्लवंश (सं० गिगर, पालि टेक्स्ट्स् सोसायटी लन्दन) के ५२वें अध्याय में (श्लोक संख्याएँ ७० के बाद) मिलती है।

२. साउथ इण्डियन् इन्स्क्रृप्शन्स्, जिल्द ३, पृष्ठ ३८३ और आगे—श्लोक संख्याएँ ५१ और ५२।

कन्नरदेव (पुत्रीपुत्र) को चोड़ राजगद्दी पर बिठाकर चोड़ सत्ता को ही समाप्त कर देने का प्रयत्न (९४९ ई०)। कृष्ण ने अपने अधीनस्थ सामन्त शासकों की सहायता से यह कार्य पूरा करना चाहा। राष्ट्रकूट-चोड़ युद्ध लम्बा चला और राष्ट्रकूट सेनाएँ काञ्चीपुरम् और तंजाऊर तक चढ़ गयीं और कुछ दिनों तक उनपर अधिकृत भी हो गयीं। किन्तु अन्ततः परातंक गंगों आदि की सहायता से उन्हें प्रतिवारित करने में सफल रहा। यही नहीं, उसने बाणों सहित उन सभी छोटे-मोटे राजाओं पर अपने अधीनस्थों द्वारा आक्रमण कराकर उनका अन्त कर दिया। शोलिंगूर प्रस्तर अभिलेख की सूचना है कि गंग शासक द्वितीय पृथिवीपति ने बाण शासक को युद्ध में हराकर परातंक से **बाणाधिराज** की उपाधि प्राप्त की। स्वयं परातंक के अभिलेखों में कथित है कि उसने दो बाण राजाओं को उखाड़ फेंका और वैदुम्बों को जीता। इन वैदुम्बों का क्षेत्र तेलुगू देश में रेनाडु ७०० का क्षेत्र था। उसके अभिलेख तेलुगू और कन्नड़ दोनों ही भाषाओं में प्राप्त होते हैं।

परातंक बहुपत्नीव में विश्वास करता था। उसके अभिलेखों में उसकी कम से कम ग्यारह रानियों के उल्लेख प्राप्त होते हैं। इस कारण उसके अनेक राजवंशों से मित्रतापूर्ण सम्बन्ध हो गये, जिसमें केरल का नाम सर्वमुख्य है। केरल राजकुमारी और परांतक की रानी का पुत्र था अरिञ्जय। इस विवाह के फलस्वरूप मलयाली लोगों का बहुत बड़ी संख्या में चोड़ क्षेत्रों में आव्रजन हुआ, जो परांतक और उसके पुत्रों की सेवा में लग गये।

परातंक एक कुशल प्रशासक था। उसने अपने शासन के १२वें और १४वें वर्षों में दो अभिलेखों के प्रकाशन के माध्यम से उत्तरमेरूर नामक ब्राह्मण ग्राम **सभा** के स्थानीय प्रबन्धन के नियमों को निश्चित किया[१]। प्रथम राजराज के करण्डै ताम्रपत्र से यह ज्ञात होता है कि कृषि की उन्नति और विस्तार हेतु परातंक ने अपने सारे राज्य में अनेक नयी-नयी नहरों का निर्माण कराया। उसने **हेमगर्भ** और **तुलाभार** नामक यज्ञों का संपादन भी किया। तिरुवालंगाडु अभिलेख उसे परम शिवभक्त बताता है तथा लिडेन दानपत्र का उल्लेख है कि उसने चिदंबरम् के शिव मंदिर को स्वर्ण से भर दिया[२]। उसके पिता आदित्य द्वारा नये-नये मंदिरों के निर्माण की जो परंपरा आरंभ की गयी थी, उसे परातंक ने भी आगे बढ़ाया और शासन व्यवस्था में भी उसने अनेक सुधार किये।

अनिश्चित राज्यारोहणक्रम

प्रथम परांतक की मृत्यु और प्रथम राजराज के राज्यारोहण (९८५ ई०) के बीच के लगभग तीस वर्षों के बीच वाले काल में चोड़ राजगद्दी पर कितने और कौन-कौन

---

१. स्टडीज़ इन् चोड़ हिस्ट्री ऐण्ड ऐडमिनिस्ट्रेशन, नीलकान्त शास्त्री, पृष्ठ १६३ और आगे; टे०वे० महालिंगम्, साउथ इण्डियन् पॉलिटी, पृष्ठ ३४४।

२. दि चोड़ज़्, पृष्ठ १३५।

शासक कब-कब राज्यासीन हुए, यह अत्यन्त ही विवाद का विषय है। किसका कबतक शासन काल रहा, इसका निश्चयात्मक उत्तर नहीं दिया जा सकता। इस बीच कई चोड़ शासकों के नाम, उनकी अनेकानेक उपाधियों के साथ, प्राप्त होते हैं। उनके अलग-अलग कई स्थानों से प्राप्त अभिलेख भी मिलते हैं तथा कई अन्य राज्यों से उनके युद्धों अथवा सम्बन्धों के उल्लेख प्राप्त होते हैं। वास्तव में इसका कारण परांतक (प्रथम) की कई रानियों और कई पुत्रों का होना ही था। अपने शासन के भिन्न-भिन्न वर्षों में प्रस्तर अभिलेखों अथवा ताम्रपत्राभिलेखों को प्रकाशित करने वाले शासकों के निम्नलिखित चार नाम, उनकी उपाधियों के साथ, प्राप्त होते हैं :—

१. **मधुरैकोण्डा** राजकेसरी

२. **मधुरान्तक पाण्ड्यनैच्चुरम् इड़ाक्किन** सुन्दर चोड़

३. **वीरपाण्डियन-तल्लै-कोण्डा** परकेसरी

४. वेन्द्रादिवर्मन्, **पार्थिवेन्द्राधिपतिवर्मन् पार्थिवेन्द्र**

नीलकान्त शास्त्री के मत में इन विभिन्न राजाओं के शासनक्रम को निश्चित नहीं किया जा सकता और उनके शासनकाल एक दूसरे को अतिक्रमित करते हुए प्रतीत होते हैं। अभिलेखों में उल्लिखित इन विभिन्न शासकों तथा उनकी उपाधियों की वास्तविक पहचान के बारे में भी विवाद हैं, जिनमें पड़ना यहाँ सार्थक नहीं प्रतीत होता। प्रोफेसर शास्त्री[१] ने उनका उत्तराधिकार क्रम निम्नलिखित प्रकार से निश्चित किया है :—

राजकेसरी **गण्डरादित्य**-(९४९-५०—९५७ ई० प०)
परकेसरी अरिञ्जय-(९५६-९५७ ई० प०)
राजकेसरी सुन्दर चोड़ **मधुरैकोण्ड** (९५६-९७३ ई० प०)
परकेसरी द्वितीय आदित्य **पार्थिवेन्द्रकरिकाल**–(९५६-९६९ ई० प०)

इन अनेक शासकों के आपसी पारिवारिक अथवा व्यावहारिक सम्बन्ध क्या थे, इसका कोई अनुमान नहीं लगाया जा सकता। किन्तु यह अवश्य प्रतीत होता है कि वे बहुत सशक्त नहीं थे। पीछे हम देख चुके हैं कि तृतीय कृष्ण (राष्ट्रकूट) ने बहुत दिनों तक अपने लगातार किये गये आक्रमणों से प्रथम परातंक को परेशान कर रखा था। फलस्वरूप तृतीय कृष्ण (कन्नरदेव) ने चोड़ क्षेत्रों के बहुत बड़े क्षेत्रों पर अपना अधिकार जमा रखा था और उन्हें अपने अधीनस्थ और मित्र राजाओं में बांटने का उपक्रम शुरू कर रखा था। राजकेसरी **गण्डरादित्य** की मृत्यु (९५७ ई०) के समय उसका अधिकार तोण्डैमण्डलम् के बहुत थोड़े भाग पर ही बचा था और उसका उत्तराधिकारी परकेसरी अरिञ्जय बहुत ही अल्पशासी सिद्ध हुआ।

---

१. दि चोड़ज़्, पृष्ठ १४२।

अरिञ्जय का उत्तराधिकारी हुआ उसका पुत्र द्वितीय परांतक सुन्दर चोड़। उसकी उपाधि थी **मदुरैकोण्ड राजकेसरी**। उसका ध्यान सबसे पहले उन पाण्ड्य क्षेत्रों की ओर गया, जो राष्ट्रकूट आक्रमणों का लाभ उठाकर चोड़ अधिसत्ता से मुक्त होकर स्वतंत्र हो चुके थे। उस समय उनका शासक था वीर पाण्ड्य। लिडेन ताम्रपत्राभिलेख के अनुसार सुन्दर चोड़ ने वीर पाण्ड्य पर आक्रमणकर उसे बहुत ही क्षति पहुँचायी। उपर्युक्त अभिलेख के अनुसार ही सुन्दर चोड़ के पुत्र आदित्य ने बालक होते हुए भी वीर पाण्ड्य के साथ वैसे ही युद्धक खिलवाड़ किया, जैसे एक सिंह शावक मदमस्त हाथी के साथ करता है। अन्य अभिलेखों में कथित है कि वीर पाण्ड्य हारा और अपनी रक्षा हेतु सह्याद्रि पर्वत की ओर भाग गया। इस युद्ध में सिंहलराज ने वीर पाण्ड्य की सहायता की, जिससे क्रुद्ध होकर चोड़ सेनाओं ने उसपर आक्रमण कर दिया। किन्तु इस युद्ध में चोड़ सेनापति शिड़ियवेल्लार मारा गया[१]।

इस प्रकार सुन्दर चोड़ के समय चोड़ राजसत्ता का पुनर्स्थापन तो बहुत हद तक हो गया, किन्तु पाण्ड्य क्षेत्रों पर चोड़ों का पुनः पूरा अधिकार प्रथम राजराज के शासन के पूर्व नहीं हो सका, जिसका उल्लेख आगे किया जायगा। किन्तु चोड़ राज्य के उत्तरी भागों में सुन्दर चोड़ की सफलताएँ अपेक्षाकृत अधिक रहीं। पीछे जो क्षेत्र राष्ट्रकूटों के अधिकार में चले गये थे, उनमें राष्ट्रकूटों के अभिलेखों के प्रकाशन के प्रमाण नहीं मिलते। इससे लगता है कि सुन्दर चोड़ राष्ट्रकूटों को पीछे ढकेल देने में सफल रहा।

सुन्दर चोड़ का शासनकाल साहित्यिक, सांस्कृतिक और धार्मिक क्रिया-कलापों का काल था। उसके अधीन संस्कृत और तमिल दोनों भाषाओं में कृतियाँ लिखी गयीं। उसी के समय से उन ताम्रपत्रीय आभिलेखिक प्रशस्तियों के लेखन की परंपरा प्रारंभ हुई, जो आगे चलकर प्रस्तरीय अभिलेखों के साथ-साथ चोड़ इतिहास के एक प्रमुख स्रोत के रूप में उभरी। ये ताम्रपत्राभिलेख अधिकांशतः राजाओं की प्रशस्तियों के रूप में लिखे गये। **वीरशोलियम्** नामक ग्रंथ की एक टीका वीरशोल की प्रशस्ति के रूप में ही लिखी गयी। यह प्रशस्ति बुद्ध को सम्बोधित है, जिससे दक्षिण भारतीय बौद्ध संघों के साथ उसके मित्रतापूर्ण सम्बन्धों का प्रमाण प्राप्त होता है।

सुन्दर चोड़ का पुत्र द्वितीय आदित्य संभवतः किसी राजदरबारी उथलपुथल अथवा षड्यन्त्र में मारा गया और उसके बाद राजगद्दी पर उत्तम चोड़ का अधिकार हो गया। उसके समय तक चोड़ों ने अपने सभी पूर्वशासित प्रदेशों पर अधिकार जमा लिया था। इस समय के उत्तरमेरूर, काञ्चीपुरम्, तक्कोलम् और तिरुवन्नालई नामक स्थानों से प्राप्त होने वाले चोड़ अभिलेख इस बात को प्रमाणित करते हैं कि चोड़ शासन व्यवस्था दक्षिणी आर्काट, उत्तरी आर्काट, और चिंगलपुत्त जिलों में पूरी तरह पुनर्स्थापित हो चुकी थी। ये सभी

---

१. दि चोड़ज़्, पृष्ठ १५४।

अभिलेख भूमि विक्रय, बन्धकों अथवा सिंचाई जैसे विषयों से सम्बद्ध हैं, जो सभी साधारण और नित्यप्रति के क्रिया-कलापों की चर्चा करते हैं[१]।

प्रथम राजराज (९८५-१०१४ ई० प०)

प्रथम राजराज ९८५ ई० में राजगद्दी पर आसीन होने के पूर्व **युवराज** के रूप में प्रशासन का अनुभव प्राप्त कर चुका था। उसका पिता द्वितीय परांतक सुन्दर चोड़ था और माता थी वानवन महादेवी। उसके जन्म के समय के आनन्दमय अवसर के उल्लेख तिरुवालंगाडु अभिलेख में काव्यात्मक रूप में प्राप्त होते हैं। शासक के रूप में उसकी निजी योग्यताओं और कर्तृत्वशक्ति के आधार पर जो उपलब्धियाँ उसने प्राप्त कीं, उनसे उसकी महत्ता का तो प्रकटन होता ही है, आगे उसके पुत्र प्रथम राजेन्द्र के समय प्राप्त चोड़ राज्य की चतुर्दिक सफलताओं की आधारशिला भी रखी जाती हुई दिखायी देती है।

राजराज की समग्र उपलब्धियों का पूरा-पूरा खाका खींचने हेतु न तो कोई समसामयिक ग्रंथ है और न कोई बाणभट्ट, श्वान्-च्वाङ्ग अथवा बिल्हण जैसा कवि और लेखक है। तथापि उसके स्वयं लिखवाये हुए वे बहुत से प्रस्तराभिलेख हैं, जो विभिन्न मंदिरों के गर्भगृहों, उनकी भीतरी और बाहरी दीवारों, स्तम्भों, अन्तराल द्वारों अथवा ताखों जैसे विभिन्न स्थानों पर अंकित हुए पाये गये हैं। उनकी प्राथमिक भूमिकाओं के माध्यम से उसने चोड़ इतिहास लेखन की एक नयी परंपरा ही स्थापित कर डाली। दुर्भाग्यवश उसकी न तो कोई मूर्ति प्राप्त होती है और न उसकी कहीं से कोई चित्रकारी ही।

राजराज की विजयें

राजराज के शासन के २९वें वर्ष में प्रकाशित उसका तंजाऊर से प्राप्त अभिलेख[२] उसकी विजयों का निम्नलिखित समाहार उपस्थित करता है। तदनुसार, जिसने अपनी "विजयिनी सेना द्वारा काण्डलूरशालै के बन्दरगाह में (शत्रु के) जहाजों को नष्ट कर दिया; जिसने वेंगल-नाडु, गंगपाडि, तडिंगैपाडि, नोलम्बपाडि, कुडुमलैनाडु, कोल्लम्, कलिङ्गम्, ईड़मण्डलम् तथा सिंहल के राजा के राज्य को जीता तथा जो भयंकर शक्ति का मालिक था; जो इरट्टपाडि के अर्धलक्ष (लाख) का मालिक था तथा जिसने समुद्र के १२ हजार (द्वीपों) को जीता।" किन्तु यह निश्चित करना कठिन है कि ये विजयें तैथिक क्रम में वर्णित हैं कि नहीं। उसके विरुद **काण्डल्लून शालैक्कलमरुत्त** से लगता है कि सर्वप्रथम उसने केरल के शासक पर ही चढ़ाई की। चूंकि उसका यह विरुद उसके शासन के चौथे वर्ष के बाद प्रकाशित होने वाले सभी अभिलेखों में प्राप्त होता है, यह माना जा

१. देखिए, ग्रामस्वशासन सम्बन्धी उल्लेख, अध्याय १४।

२. उद्धृत, आर्० सतियनाथियेर, दि स्ट्रगल फॉर इम्पायर, पृष्ठ २३४; देखें ऐनुअल् रिपोर्ट्स् ऑन् एपिग्राफी, मद्रास, १९०८ का ४५३।

सकता है उसके पूर्व केरल की विजय सम्पन्न हो चुकी थी। किन्तु यदि तिरुवालंगाडु अभिलेख का हवाला देखा जाय तो यह प्रतीत होगा कि उसका प्रारंभिक अभियान पाण्ड्य देश के ही विरुद्ध हुआ था। वास्तव में चोड़ राज्य के विरुद्ध पाण्ड्य, केरल और सिंहल तीनों देशों के राजाओं ने एक संघ सा बना रखा था। अत: पाण्ड्यों और चेरों अर्थात् केरलों के ऊपर राजराज का एक ही साथ आक्रमण करना आवश्यक हो गया था। इस समय केरल का पराजित होने वाला शासक था रविवर्मन् तिरुवडि[१] (९८७-१०३६ ई० प०)। पाण्ड्यराज अमरभुजंग भी पराजित हुआ। परन्तु यह कहना कठिन है कि चोड़ सेनाएँ पहले केरल की ओर विजय हेतु गयीं और उधर से दक्षिण के पाण्ड्य क्षेत्रों की ओर मुड़ीं अथवा उनका प्रयाण पहले पाण्ड्यदेश पर हुआ और पुन: उत्तर-पश्चिम के समुद्री किनारों और पहाड़ी दर्रों से होकर केरल प्रदेश पर वें टूटीं। नीलकान्त शास्त्री के मत[२] में ये दोनों विजयें एक साथ नहीं, अपितु दो अभियानों में की गयीं। पश्चिम के इन अभियानों का श्रेय कुछ अभिलेख[३] चोड़ सेनापति और राजकुमार राजेन्द्र को देते हैं, जिसे वेंगी और गंगमण्डल का **महादण्डनायक** कहा गया है।

पाण्ड्य और केरल के विरुद्ध अभियानों से ही सम्बद्ध था राजराज की सेनाओं का सिंहल अथवा लंका के विरुद्ध सैनिक आक्रमण। कथित है कि उसने "भयंकर सिंगल (सिंहलराज) के अधीन रहने वाले इड़मण्डलम् को जीत लिया"। तिरुवालंगाडु अभिलेख का कथन[४] है कि लंका का राजा मार डाला गया और चोड़ सेनाओं ने समुद्र को पारकर लंका में प्रवेश कर लिया। फलस्वरूप, राजराज ने तंजौर में अपने द्वारा निर्मित मंदिर के खर्चों को चलाने के लिए लंका के अनेक गांवों का दान दिया। लंका का पराजित शासक पञ्चम महिन्द (महेन्द्र) था। फलस्वरूप, उत्तरी लंका राजराज के साम्राज्य के मुमुण्डिशोलमण्डलम् नामक एक मण्डल अर्थात् प्रशासित प्रान्त बन गया। यही नहीं, लंका की राजधानी अनुराधपुर को चोड़ सेनाओं ने ढहा दिया और सिंहलराज को दक्षिण दिशा के जंगलों और पहाड़ों की ओर भाग जाना पड़ा। राजराज ने बाद में वहाँ अभिलेख खुदवाये और पोलोन्नरुव में उसने एक बढ़िया शिव मंदिर (शिव देउल) बनवाया और उसके लिए ग्रामदान दिया।

---

१. वहीं, १९०८ का ४५३।

२. पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ १७१।

३. एपिग्राफिया कर्नाटिका, जिल्द ३, १२५ वाँ; ऐनुअल् रिपोर्ट्स् ऑन् एपिग्राफी, मद्रास, १८९५ का ५वाँ।

४. लंकानाथ कथमपि शरस्तीक्ष्णशृगैर्ज्जधान्। नौभिस्तीर्त्त्वा जलनिधिमसौ
यस्यदण्ड: प्रचण्डो लंकानाथं निरदद् तस्तेन रामोर्भिभूत: ॥८०॥

दक्षिण-पश्चिम में गंगपाडि, नोलम्बपाडि और तडिगैपाडि भी विजित किये जाकर चोड़ साम्राज्य में मिला लिये गये। ये सभी प्रदेश आधुनिक मैसूर के आसपास स्थित थे, जहाँ गंगों, नोलम्बों और तडिगों के छोटे-छोटे राज्य स्थित थे। नोलम्ब लोग संभवत: गंग राज्य के ही अधीन थे, जिसके पास का कोंगुदेश पहले से चोड़ राज्य का एक क्षेत्र था। इन विजयों के फलस्वरूप गंग क्षेत्रों पर अगले लगभग एक सौ वर्षों तक के लिए चोड़ सत्ता पूरी तरह स्थापित हो गयी।

इन उपर्युक्त क्षेत्रों पर चोड़ों की बहुत आसानी से प्राप्त की जाने वाली विजय का सर्वाधिक सहायक तत्त्व था मान्यखेट (मालखेड) के राष्ट्रकूटों का तेजी से होता हुआ ह्रास, जिनकी सत्ता को ९७३ ई० में उखाड़कर पश्चिमी चालुक्य शासक द्वितीय तैल (तैलप) **आहवमल्ल** प्राय: समस्त राष्ट्रकूट क्षेत्रों पर अधिकृत हो चुका था। फलत:, पश्चिमी चालुक्यों की चोड़ों से सैनिक भिड़न्त अब अवश्यम्भावी हो गयी। द्वितीय तैलप का ९९३ ई० का एक अभिलेख चोड़ों पर उसकी विजय का दावा करता है।

किन्तु राजराज का चालुक्यों के विरुद्ध असली संघर्ष तैलप के उत्तराधिकारी सत्याश्रय के समय ही प्रारंभ हुआ। तैलप की कठिनाई यह थी कि उत्तर में उसे परमारों (मुञ्जराज) का भी सैनिक संघर्षों में सामना करना पड़ा, जिसके कई दौर चले[१]। फलत:, उत्तर में परमारों से और दक्षिण में चोड़ों के बीच पिसते हुए सत्याश्रम को राजराज के विरुद्ध सैनिक असफलताएँ ही हाथ लगीं। १००३ ई० के बाद राजराज के अनेक अभिलेख रट्टपाडि और '७५०० देशों' की विजय प्राप्त करने का श्रेय देते हैं। यह अतिरंजन जान पड़ता है। तथापि, तिरुवालंगाडु अभिलेख का यह कथन ग्राह्य प्रतीत होता है कि "सत्याश्रय को राजराज की समुद्र की तरह (विशाल) सेना का सामना करने की कठिनाई से बचने हेतु युद्धस्थल छोड़कर भागना पड़ा।" उस कष्ट से बचने हेतु उसे स्वयं 'कष्टाश्रय' (कष्ट का घर) बनना पड़ा[२]। यह युद्ध तुंगभद्रा के किनारे पर लड़ा गया था, जहाँ राजराज के हाथियों ने भयंकर तबाही मचायी। करण्डै अभिलेख का राजेन्द्र के समय का एक अंश कहता है (श्लोक ५१) कि राजराज ने मान्यखेट पर अधिकार कर लेने की अपनी प्रतिज्ञा पूरी की।

धारवाड़ जिले के होट्टूर नामक स्थान से प्राप्त सत्याश्रय का १००७ ई० का एक अभिलेख[३] कहता है कि राजराज के पुत्र राजेन्द्र ने अपनी ९ लाख सेनाओं के साथ चालुक्य

---

१. विशुद्धानन्द पाठक, उत्तर भारत का राजनीतिक इतिहास, पृष्ठ ५७१ और आगे; मेरुतुंगकृत प्रबन्धचिन्तामणि के मुञ्जराजप्रबन्ध और भोजप्रबन्ध में परमार-चालुक्य संघर्षों के विस्तृत विवरण मिलते हैं। देखें, हजारी प्रसाद द्विवेदी का हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ २९-३१।

२. सत्याश्रयो यत्बलसिन्धुरोधात् कष्टं परित्यज्य पलायितीपि कष्टाश्रयश्रियमिदञ्च चित्रन्तैलप्रभावद्रवणं यदस्य ।८१।। साउथ इण्डियन् इन्स्कृप्शन्स्, जिल्द ३, पृष्ठ ३८३ और आगे, फलक ६।

३. साउथ इण्डियन् इन्स्कृप्शन्स्, जिल्द ६, पृष्ठ १०२।

राज्य पर जबरदस्त धावा बोलते हुए बीजापुर के रट्टपाडि तक के क्षेत्रों को आक्रान्त कर दिया। किन्तु शीघ्र ही सत्याश्रय ने संभलते हुए उसे लौट जाने को विवश किया।

सत्याश्रय की इन सैनिक असफलताओं का परिणाम यह हुआ कि चोड़ों को गंग और नोलम्ब जैसे आधुनिक मैसूर-क्षेत्रों सहित कर्नाटक के बेल्लारी के आसपास तक अपनी सीमाओं को बढ़ाकर तुंगभद्रा नदी तक पूरी तरह स्थापित हो जाने का मौका मिल गया। गंग और वेंगी के पुराने छोटे राज्य अब चोड़ साम्राज्य के अंग हो गये और अपने शासन के अन्तिम दिनों में राजराज ने **दण्डनायक** के विरुदों वाले अपने गवर्नरों की नियुक्ति वहाँ कर दी।

किन्तु पश्चिमी चालुक्यों की चोड़ों से प्रतिद्वन्द्विता पूर्वी समुद्र तट पर शासन करने वाले पूर्वी चालुक्यों के गंग राज्य के क्षेत्रों को लेकर चलती रही। वास्तव में जब से बादामी के शक्तिशाली शासक द्वितीय पुलकेशिन् ने अपने पल्लव विरोधी युद्धों को अंजाम देते हुए अपने ही भाई कुब्ज विष्णुवर्धन को वेंगी का स्वतंत्र राजा बनाकर[१] वेंगी को अपने करद के रूप में स्थापित किया, तभी से कर्नाटक और तमिल राज्यों के विभिन्न राज्य आपस में वेंगी को लेकर सैनिक टकरावों में उलझते रहे। प्रथमत:, बादामी के चालुक्य और पल्लवों के बीच, पुन: राष्ट्रकूट और पल्लव तथा चोड़ों के बीच और बाद में पश्चिमी चालुक्य और तंजाऊर के चोड़ों के बीच लगभग ३०० वर्षों तक वेंगी का पूर्वी चालुक्य राज्य उनके अपने संघर्षों के बीच पिसता रहा। सत्याश्रय की दृष्टि वेंगी पर टिकी तो थी, पर कई मोर्चों पर एक साथ फंसे रहने के कारण उसे बहुत सफलता नहीं मिल पायी। वहीं, राजराज भी वेंगी में चालुक्यों के हस्तक्षेप को स्वीकार करने को तैयार नहीं था और उसने उत्तर की ओर के अनेक क्षेत्रों को अपने साम्राज्य में मिला लिया। थोड़ा समय आगे वेंगी का राजदरबार आपसी गृहयुद्धों में बहुत वर्षों तक फंसा रहा। इसका लाभ उठाकर राजराज ने शक्तिवर्मन् नामक एक शक्तिशाली दावेदार की मदद की और वेंगी को अपना अधीन मित्र बना लिया। वेंगी फिर भी स्वतंत्र रहा और आगे चलकर चोड़ राजदरबार से उसके वैवाहिक सम्बन्ध[२] भी स्थापित हो गये। इस तरह आगे लगभग १०० वर्षों तक वह स्वतंत्र बना रहा। ग्यारहवीं शती में चोड़ों ने अन्तत: उसे आत्मसात करके पूर्वी चालुक्यों की स्वतंत्र सत्ता समाप्त कर दी[३]।

पूर्व दिशा में समुद्र को पारकर राजराज की नौसेना ने १२हजार द्वीपों वाले मालदीव को विजितकर अपने साम्राज्य का ही एक भाग बना लिया। इस विजय का

---

१. देखें, पीछे पृष्ठ १९४ और आगे।

२. वेंगी के राजकुमार और पुन: वहाँ के शासक बनने वाले विमलादित्य से राजराज ने अपनी पुत्री कुण्डवै ब्याह दी। यह कुण्डवै राजेन्द्र चोड़ की छोटी बहिन थी और अपने पिता को बहुत प्रिय थी। इण्डि, ऐण्टी०, जिल्द १४, पृष्ठ ५२।

३. देखें, वेंगी के पूर्वी चालुक्य-पृष्ठ २०९-२१०।

उल्लेख उसके अभिलेखों में सबसे अन्त में आता है[१]। अत: अनुमान लगाया जा सकता है कि यह उसके शासकीय जीवन के अन्तिम समय की घटना थी। दुर्भाग्य यह है कि उस नौसैनिक अभियान के कोई भी ब्यौरे प्राप्त नहीं होते। किन्तु इसका बड़ा ही महत्त्वपूर्ण परिणाम चोड़ साम्राज्य के पश्चिम एशिया से होने वाले व्यापार पर पड़ा, जिसका कुछ उल्लेख हम आगे राजराज की समग्र उपलब्धियों के विवेचन के समय करेंगे।

प्रथम राजराज की उपलब्धियों का मूल्यांकन

चाहे जिस किसी दृष्टिबिन्दु से देखें, प्रथम राजराज भारतवर्ष के महत्तम सम्राटों में से एक प्रमुखरूप में दिखायी देता है। यही नहीं कि उसने अपने पूर्वजों के बिखरे हुए साम्राज्य को सभी वंशगत शत्रुओं और विद्रोहों से मुक्त करके उसकी महत्तम भौगोलिक सीमाओं में आबद्ध किया, अपितु सुशासन हेतु केन्द्र से गांवों तक के प्रशासन की सभी इकाइयों को सुयोग्य गवर्नरों के माध्यम से अपने शासनादेशों द्वारा सुसंगठित भी किया। उसके अनगिनत आभिलेखिक आलेख प्रशासन की छोटी से छोटी बिन्दु पर उसकी अंगुली की विद्यमानता प्रकट करते हैं। चोड़ राजाओं में वह पहला था, जिसने सारे साम्राज्य की भूमि की पूरी पैमाइश और उसका सर्वेक्षण कराया; विभिन्न प्रकार की भूमियों का वर्गीकरण कराया; उन्हीं आधारों पर नये प्रकार से करों का निर्धारण किया; कर न चुकाने वालों को उनकी भूमि से बेदखल किया तथा मंदिरों के प्रशासनों के नियमन हेतु राज्याधिकारिओं की नियुक्ति की और ग्रामसभाओं के हिसाब-किताब देखने की व्यवस्था की। ये नियंत्रण एकतरफा नहीं थे, अपितु विभिन्न प्रकार के आपसी संतुलनों से युक्त थे।

पल्लव और पाण्ड्य शासकों द्वारा स्थापित और धर्मशास्त्रीय आदेशों पर आधारित अब तक की आभिलेखिक पद्धति यह थी कि प्रत्येक शासक प्रथमत: अपने पूर्वजों के क्रिया-कलापों का एक संक्षिप्त परिचय अपने अभिलेखों में देता था और उसके बाद यह लिखवाता था कि किस दानपरक अथवा अन्य उद्देश्य से सम्बद्ध अभिलेख लिखवाया गया। किन्तु राजराज ने इससे आगे बढ़कर सर्वप्रथम यह परंपरा प्रारंभ की कि सबसे पहले कुछ निश्चित शब्दावलियों में उसकी अपनी ही तत्कालीन उपलब्धियों का ब्यौरा उपस्थित किया जाय, जो प्रस्तर अभिलेखों की भूमिकाओं के रूप में उपस्थित की गयीं। फलस्वरूप, उसके प्रारंभिक वर्षों में जहाँ उसकी प्रशस्तियाँ छोटी-छोटीं दिखायी देती हैं, वहीं जितना ही उसका शासनकाल आगे बढ़ता गया, उसकी अगली उपलब्धियों के आधार पर ये प्रशस्तियाँ धीरे-धीरे बड़ी होती गयीं[२]।

उसकी विजयों के फलस्वरूप चोड़ राज्य के दक्षिण-पश्चिम में स्थित पुराने पाण्ड्य राज्य का अन्त हो गया और उसके क्षेत्र चोड़ साम्राज्य से मिला लिये गये। चोड़ों

१. ऐनुअल् रिपोर्ट्स् ऑन् एपिग्राफी, मद्रास, १९३३-३४ का ५० वाँ।
२. नीलकान्त शास्त्री, दि चोड़ज़् पृष्ठ १७०।

के विरुद्ध पाण्ड्यों की मदद करने वाले सिंहल (लंका) के राजा को भी उसके सैनिक दबाव का सामना करना पड़ा, उसकी राजधानी अनुराधपुर को चोड़ सेनाओं ने ध्वस्त कर डाला, राजराज ने सिंहल में अभिलेख खुदवाये[१] और उसने वहाँ शिव का एक सुन्दर मंदिर पोलोन्नरुव में बनवाया, जो वहाँ हिन्दू वास्तुकला का अकेला उदाहरण है। वह आज भी अच्छी अवस्था में वर्तमान है-—"कड़े इमारती पत्थरों (ग्रैनाइट) और चूने वाले पत्थरों द्वारा निर्मित है और दक्षिण भारतीय मंदिरों, विशेषत: तंजाऊर के राजराजेश्वर मंदिर–की शैली में ही बना हुआ है[२]।" आगे चलकर प्रथम राजेन्द्र ने उस मंदिर पर अपना एक लेख भी खुदवाया। पाण्ड्य और सिंहल के राज्यों के ऊपर अपनी विजयों के बाद राजराज ने पश्चिमी तट पर "मलया पहाड़ी" अर्थात् केरल के मलयागिरि क्षेत्र (राज्य) पर भी अधिकार जमा लिया। उत्तर दिशा में राष्ट्रकूटों के पराभव के बाद कल्याणी के जिस पश्चिमी चालुक्यों के शासक सत्याश्रय ने बार-बार चोड़ राज्य की उत्तरी-पश्चिमी दिशाओं में हस्तक्षेप करने का प्रयत्न किया, उसे राजराज ने सफलतापूर्वक रोका। उसने पश्चिमी चालुक्यों के उन प्रयत्नों को भी रोका, जिनके द्वारा वे वेंगी के पूर्वी चालुक्य क्षेत्रों को अपने वशीभूत रखना चाहते थे। अन्तत:, वेंगी के पूर्वी चालुक्य चोड़ों के मित्र और वैवाहिक सम्बन्धी बन गये। राष्ट्रकूटों की कमजोरी का लाभ उठाते हुए उसने चोड़ साम्राज्य की सीमाएँ दक्षिण दिशा में तुंगभद्रा नदी तक बढ़ा लीं।

आगे चलकर जिस चोड़ नौसेना ने दक्षिण-पूर्व एशिया के बर्मा जैसे देशों (कटाह क्षेत्र) की विजय की तथा जो विदेशी समुद्री व्यापार की वृद्धि में सहायक हुई, उस जलसेना की बुनियाद भी राजराज के समय में ही रखी गयी थी। इसी जलसेना की मदद से उसने दक्षिणी–पश्चिमी समुद्र तट से आगे बढ़कर १२००० द्वीपों वाले मालदीव पर अपना सैनिक और प्रशासकीय अधिकार कर लिया[३]। "इस सैनिक विजय का हमारे पास कोई विवरण तो नहीं है, किन्तु इसका (जलसेना का) कुछ वर्षों बाद राजेन्द्र ने बहुत ही परिणाम कारक उपयोग किया और राजराज तथा राजेन्द्र (पितापुत्र) इस लिहाज से उसी सरणि में बैठते हैं जैसे (मकदूनिया के) फिलिप और महान् एलैक्ज़ाडर। पहले भी जलसेना ने सीलोन की विजय में अपनी भूमिका निभायी थी। एक अच्छी जलसेना के महत्त्व का भान काण्डलूर (कण्डलार) के विरुद्ध अभियान के समय प्रथम राजराज के शासन के प्रारंभिक वर्षों में ही चेरों (केरल क्षेत्र) की नौसैनिक शक्ति को संज्ञाशून्य कर देने के समय हो चुका था[४]।"

---

१. आर्केलाजिकल् सर्वे रिपोर्ट्स्, सीलोन, १८९१, पृष्ठ १२ संख्याएँ ७८-८०; साउथ इण्डियन् इन्स्कृप्शन्स्, जिल्द २, भूमिका, पृष्ठ ५।

२. आर्केलाजिकल् सर्वे रिपोर्ट्स्, सीलोन, १९०६, पृष्ठ १७ और आगे।

३. नीलकान्त शास्त्री द्वारा **दि चोड़ज्** में रेनाडो का उद्धरण, पृष्ठ १९२, पादटिप्पणी ७२।

४. वहीं, पृष्ठ १८३।

आगे चलकर दक्षिण–पूर्व एशिया के विभिन्न देशों तथा पश्चिम एशिया के अरब देशों से प्रथम राजेन्द्र चोड़ अथवा उसके उत्तराधिकारिओं के समय दक्षिण भारतीय व्यापार की जो वृद्धि हुई, उसके पीछे चेरदेश (केरल क्षेत्रों) तथा मालदीव पर चोड़ अधिकार की बहुत बड़ी भूमिका रही होगी। अरबी साक्ष्यों[१] से ज्ञात होता है कि चीनी जहाज पहले केवल पूर्वी तट तक ही आते थे और पश्चिमी तट के मलावार जैसे बन्दरगाह तो उन्हें ज्ञात भी नहीं थे, किन्तु बाद में सिंहल होते हुए अरब देशों से भी उनके व्यापार होने लगे। यह चोड़ राज्य और चीनी राजदरबारों के आपसी सम्बन्धों और व्यापारिक तालमेल से ही संभव हुआ होगा, जिसकी प्रक्रियाएँ राजराज़ के समय ही प्रारंभ हो चुकी प्रतीत होती हैं।

राजराज की राजनीतिक सफलताओं और सैनिक विजयों की चमक-दमक भले ही कुछ शताब्दियों के बाद धूमिल हो गयी हो, किन्तु उसका सबसे महान् कृत्य आज भी पूरी शान से खड़ा है और विश्व के करोड़ों लोगों की आश्चर्यभावना को बढ़ाता हुआ विश्वकला की एक अमूल्य धरोहर बना हुआ है। वह है अपनी राजधानी तंजाऊर में अपने शासन के चौबीसवें वर्ष (१००९ ई०) में पूरी प्रकार निर्मित कर लिया जाने वाला उसका राजराजेश्वर (वृहदीश्वर) मंदिर जो अपनी सादगी के बावजूद अपनी विशालता, निर्माणमहिम्नता, सौन्दर्य और भव्यता में अपना कोई सानी नहीं रखता। इसकी निर्माण योजनाओं और सादे अलंकरण आदि के बारे में आगे कला वाले अध्याय में हम कुछ विशेष परिचय देंगे। यहाँ यह कहना पर्याप्त है कि ए० एल्० बैशम के शब्दों में यह मंदिर "उस समय तक बनाये गये सभी भारतीय मंदिरों में आकारदृष्टि से सबसे बड़ा है[२]।" ५०० फीट लम्बे और १५० फीट चौड़े चबूतरे पर बना हुआ यह मंदिर चारों तरफ दीवारों (प्राकार) से घिरा है। यह चाहरदीवारी दक्षिण भारतीय मंदिरों की ऊँची चाहरदीवारियों के निर्माण का सर्वप्रथम नमूना है। इसके बीच में **विमान, अर्द्धमण्डप, महामण्डप** और **नन्दीमण्डप** सभी एक कतार में बने हैं। सामने पूर्व की ओर एक गोपुर भी निर्मित है। जमीन की सतह से २०० फीट ऊपर उठा मंदिर का **गर्भगृह** अत्यन्त ही सुन्दर लगता है। "उसके अत्यन्त विशाल विमान की सुंदरता, सादगी का परित्याग किये बिना, अत्यन्त सम्मोहक है। सीधी रेखाओं में ऊपर उठते हुए शिखर के पिरामिड आकार वाले १८ तल्ले हैं।---सबके ऊपर एक कलश है। सबसे निचली सतह और मंदिर की सम्पूर्ण संकल्पना अनुपाततः विशिष्ट है। मंदिर में जितने भी अलंकरण है, वे सभी उसकी संपूर्ण संकल्पना की रेखांकन सीमा के भीतर ही आनुपातित[३] हैं"।

---

१. लल्लन गोपाल, इकोनॉमिक लाइफ ऑफ् नार्दन इण्डिया, पृष्ठ १४१-१४३।
२. दि वण्डर दैट वाज़् इण्डिया, पृष्ठ ३५७।
३. ए०के० कुमारस्वामी, ए हिस्ट्री ऑफ् इण्डियन् ऐण्ड इण्डोनेशियन् आर्ट, १९२६, पृष्ठ १२२।

राजराज स्वयं तो शैव मतानुयायी था, किन्तु प्राय: सभी प्राचीन भारतीय शासकों की सहिष्णु धार्मिक नीतियों का अनुसरण करते हुए उसने सभी धर्मों को बराबर तरजीह और प्रोत्साहन दिया। उसके अनेक अभिलेखों में शैव मंदिरों के साथ ही साथ उसके द्वारा वैष्णव मंदिरों की स्थापना करने के उल्लेख प्राप्त होते हैं। लिडेन ताम्रपत्राभिलेख से यह ज्ञात होता है कि शैलेन्द्र शासक मारविजयोत्तुंगवर्मन् के अनुरोध पर राजराज ने १००६ ई० में नागपट्टिनम् (बन्दरगाह) में चूड़ामणि विहार के निर्माण को प्रोत्साहित किया। यह मारविजयोत्तुंगवर्मन् श्रीविजय और कटाह क्षेत्रों का बौद्धधर्मी सम्राट् था[१]। यही नहीं, राजराज ने आनयिमंगलम् नामक गांव का दान भी उस विहार के पक्ष में कर दिया, जिसे पुनर्स्वीकृति देते हुए सम्बद्ध दानपत्र को उसके पुत्र राजेन्द्र चोड़ ने दुबारा ताम्रपत्रों पर खुदवाया। तीसरी बार श्रीविजय के शैलेन्द्र शासक ने प्रथम कुलोत्तुंग के समय चोड़ राजाओं द्वारा दानप्रदत्त गांवों की सूची पुन: प्रकाशित करने का आग्रह किया[२]।

राजराज एक प्रेमी पति, स्नेही पिता और भाई तथा पूर्ण पारिवारिक संवेदनाओं से सम्पन्न व्यक्ति था। अभिलेखों के दान वाले उल्लेखों तथा उसके विवाह सम्बन्धों के माध्यम से यह प्रतीत होता है कि उसकी कम से कम १५ रानियाँ थीं, जिनमें लोकमहादेवी दन्तशक्ति विंटकी प्रमुख प्रतीत होती है। किन्तु उसकी कुल सन्तानें अपेक्षाकृत कम ही थीं। उसके बाद उत्तराधिकार संभालने वाला राजेन्द्र उन सबमें प्रमुख था और राजराज का अकेला पुत्र था। उसकी माता का नाम त्रिभुवनमहादेवी था। राजराज अपनी बड़ी बहिन कुण्डवै का इतना आदर करता था कि राजराजेश्वर मंदिर के गर्भगृह की भीतरी दीवार पर जहाँ उसने उस मंदिर की कलशप्रतिष्ठा सम्बन्धी अपने अभिलेख को खुदवाया, ठीक उसी की बगल में कुण्डवै का भी अभिलेख है, जबकि अन्य रानियों, राजपुरुषों और राज्याधिकारिओं के अभिलेख या तो बाहर या स्तम्भों या दीवारों या ताखों में खुदे हुए हैं। वृहद् परिवार के अन्यान्य सदस्यों के प्रति उसके प्रेम, आदर और स्नेह का इजहार इस बात से भी होता है कि उसने अनेकों के प्रति आदरस्वरूप जनकल्याण के भी अनेक कार्य किये, यथा–सेम्बियन् महादेवी के नाम से उसने तिरुमुक्कूडल मन्दिर में एक मण्डप निर्मित कराया और मेलपाडि में चोलेश्वर का मंदिर बनवाया। यह सेम्बियन् महादेवी गण्डरादित्य की विधवा रानी और उत्तम चोड़ की माता थी[३]। उत्तम चोड़ का मधुरान्तक गण्डरादित्य नामक पुत्र राजराज के समय उसका उच्च राज्याधिकारी था[४]।

नीलकान्त शास्त्री के शब्दों में "नाम तो इतिहास की संगीत है और इस राजा को

१. र० च० मजूमदार, सुवर्णद्वीप, जिल्द १, पृष्ठ १६८।
२. दि चोड़ज़्, पृष्ठ ३१८।
३. वहीं, पृष्ठ १८६-१८७।
४. वहीं, पृष्ठ १६१।

यह संगीत बहुत प्यारी थी ।'' राजराज ने अपने नामों अथवा विरुदों को जोड़ते हुए अनेक पुरों, मण्डलों अथवा वलनाडु नामक नगरों और प्राशासनिक इकाइयों का नामकरण किया । ये नाम अथवा विरुद तमिल अथवा संस्कृत दोनों ही भाषाओं से प्रभावित हैं । यों तो प्राचीन भारतीय सभी प्रमुख शासक बड़े-बड़े विरुदों द्वारा अपनी विशेषताओं, धार्मिक विश्वासों अथवा राजनीतिक और सैनिक उपलब्धियों का बखान करने को आतुर दिखायी देते हैं, उत्तर भारतीय शासकों की अपेक्षा दक्षिण भारतीय शासक बहुत हद तक इसमें काफी आगे दिखायी देते हैं । राजराज के पूर्व प्रथम महेन्द्रवर्मन् और उसके पल्लव उत्तराधिकारिओं द्वारा भी अनेक विरुदों को धारण करने का शौक बहुश: ज्ञात है । राजराज भी इस प्रकार के विरुदों को पसन्द करता था, जो उसकी विभिन्नदिशायी उपलब्धियों, धार्मिक विश्वासों अथवा विजयों के उपलक्ष्य में धारण किये गये थे । यदि उन विरुदों का कोई वर्गीकरण किया जाय तो उन्हें निम्नलिखित वर्गों में बांटा जा सकता है :—

वंश की उत्पत्ति की ओर इशारा करने वाले विरुद:—**क्षत्रियशिखामणि, चोलमार्त्तण्ड, राजमार्त्तण्ड** तथा **रविकुलमाणिक्य;**[१] विभिन्न देशों के विजयसूचक विरुद:—**पाण्ड्यकुलशनि, केरलान्तक, सिंगलान्तक** तथा **तैलिंगकुलान्तक**

धार्मिक विश्वासों वाले विरुद:–**शिवपादशेखर;** व्यक्तिगत प्रभुत्ववाले विरुद:– **जननाथ, निगरिल्ल-शोल(ड), राजेन्द्रसिंह, राजाश्रय** तथा **नित्यविनोद** ।

नीलकान्त शास्त्री का कथन है[२] कि ''राजराज के तीस वर्षों का शासनकाल चोड़ राजतंत्र का निर्माणात्मक काल था । नौकरशाही और सेना के संगठन में, कला और वास्तु में, धर्म और साहित्य में हम उस शक्तिसम्पन्न क्रियात्मकता को पाते हैं जो तत्कालीन प्रगतिशील साम्राज्यवाद के रूप में प्रस्फुटित हुई । राष्ट्रकूटों के आक्रमणों से जो छोटा सा चोड़ राज्य अभी पूरी तरह उबर भी नहीं पाया था, वह राजराज के शासन के अन्त होते-होते एक सुसंगठित और वृहद् साम्राज्य के रूप में परिणत हो गया, जिसका कौशलपूर्ण संगठन और प्रशासन था, जिसके पास एक शक्तिशाली सेना थी, गहरे आयस्रोत थे और बड़े-बड़े कृत्यों हेतु सम्पन्न साधन थे ।''

प्रथम राजेन्द्र चोड़ (१०१४-१०४४ ई० प०): गंगैकोण्ड

चोड़ राज्य में प्राय: शासकगण अपने सर्वाधिक योग्य पुत्र को **युवराज** के पद पर सविधि स्थापित कर देते थे । इससे राष्ट्रकूट अथवा अन्य कई राज्यों की तरह उत्तराधिकार सम्बन्धी झगड़ों और युद्धों की संभावनाएँ नगण्य हो जाती थीं । इस प्रथा का

---

१. वंश के अनेक अभिलेखों में चोड़ वंश के पूर्वज (चोड़) को सूर्यवंश से जोड़ा गया है । देखें, पीछे पृष्ठ ३७४ ।

२. दि चोड़ज़्, पृष्ठ १६८ ।

पालन करते हुए प्रथम राजराज ने अपने एकमात्र पुत्र राजेन्द्र को १०१२ ई० में **युवराज** नियुक्त कर दिया। उसके पूर्व भी राजेन्द्र **महामण्डलेश्वर** जैसी उपाधियों के साथ कुछ चोड़ मण्डलों अर्थात् प्रांतों में प्रशासक रह चुका था। पीछे हम देख चुके हैं कि राजराज के अनेक युद्धों में वही सेनापति भी था। इस प्रकार वह १०१४ ई० में राज्यसत्ता को पूरी तरह अपने हाथ में लेकर स्वतंत्ररूप में सत्ता संभालने के पूर्व भी हर तरह से अच्छी तरह परिपक्व हो चुका था। **युवराज** पद प्राप्त करते समय संभवतः वह २५ वर्षों की आयु प्राप्त कर चुका था।

उसके अभिलेखों में उसके शासन को १०१२ ई० से ही प्रारंभ हुआ गिना गया है, जब उसने **युवराज** पद हासिल किया था। उसने स्वयं भी अपने पुत्र राजाधिराज को बहुत जल्दी ही १०१८ ई० में **युवराज** पद पर आसीन कर दिया, जब उसे केवल ४-६ वर्ष ही राज्यपद का भोग करते हुए हुआ था और अभी लगभग २५ वर्षों तक का उसका शासनकाल बाकी बचा था। यद्यपि राजाधिराज उसका ज्येष्ठ पुत्र नहीं था[१], तथापि वह उसके तीन पुत्रों में सर्वाधिक योग्य था। अतः उसे ही **युवराज** पद हेतु चुना गया। किन्तु राजेन्द्र ने अपने दो अन्य पुत्रों को भी ऊँचे शासकीय पदों पर नियुक्त किया और उसकी मृत्यु के बाद ये तीनों ही बारी-बारी से राजगद्दी पर बैठे। आगे राजेन्द्र (**गंगैकोण्ड**) जबतक (१०४४ ई० तक) जीवित रहा, उसके सभी अभिलेख **युवराज** राजाधिराज के नाम के साथ ही प्रकाशित किये गये और उसकी सारी उपलब्धियों में राजाधिराज का वास्तविक हाथ होना उन अभिलेखों की भूमिकाओं (**तिरु-मणि-वड़र**) में बताया गया है। राजाधिराज का अपना स्वतंत्र अभिलेख उसके **युवराज** पदेन शासन के २६वें वर्ष (१०४५ ई०) का[२] ही है। पितापुत्र के इन सम्मिलित अभिलेखों में उनके अलग-अलग विरुदों-**परकेसरी** राजेन्द्र और **राजकेसरी** राजाधिराज के उल्लेख साथ ही साथ प्राप्त होते हैं। अपने पिता के समय के सभी युद्धों में राजाधिराज के भाग लेने के उल्लेख अभिलेखों में उसकी अपनी भूमिकाओं (**तिंगड़ेरतरु**) के साथ मिलते हैं। हुल्ट्ज़ का मत[३] है कि "राजाधिराज अपने पूर्ववर्ती (प्रथम राजेन्द्र चोड़) का सह-संरक्षक रहा प्रतीत होता है और ऐसा नहीं लगता कि उसके (सह-संरक्षक) के रहते वह राजकीय कार्यों का स्वतंत्र नियंत्रक रहा हो।"

राजेन्द्र (प्रथम) गंगैकोण्ड की विजयें

राजेन्द्र की विजयों के सर्वप्रथम उल्लेख १०१७ ई० के उसके तिरुवालंगाडु[४]

---

१. देखें, कृष्णस्वामी आयंगार-ऐंशियेन्ट इण्डिया ऐण्ड साउथ इण्डियन् हिस्ट्री ऐण्ड कल्चर, १९४१, पृष्ठ ६१२; दि चोड़ज़्, पृष्ठ १९६।

२. साउथ इण्डियन् इन्स्कृप्शन्स्, जिल्द ३, पृष्ठ ५२।

३. वहीं।

४. वहीं, जिल्द ३, पृष्ठ ३८३ और आगे।

अभिलेख में प्राप्त होते हैं, जिनको आगे बढ़ाते हुए उसके १०२५ ई० के एक अन्य अभिलेख में भी उल्लिखित किया गया है। तबतक उसने कटाह अथवा कडारम् (दक्षिण-पूर्वी एशिया के समुद्री देश) की भी विजय कर डाली थी। किन्तु उसकी सम्पूर्ण विजयों का एक समवेत विवरण तो उसके १०२४ ई० वाले तिरुमालै प्रस्तराभिलेख में ही प्राप्त होता[१] है। तदनुसार "**परकेसरी** श्री राजेन्द्रचोड़देव ने अपनी वृहद् सेना से इडैतुरैयनाडु, वनवासी---कोल्लिप्पाकइ, मणिक्कदक्कम्, इल(ड़)म् के राजा का राजछत्र छीन लिया, और उसी इल(ड़)म् के राजा इन्द्र से वह सुन्दर राजमुकुट और कण्ठहार भी छीन लिया, जिसे पाण्ड्य देश के राजा ने उसके पास रख छोड़ा था; पूरे ईड़मण्डल को जीता; धनुष बाण की वर्षा करने वाले केरलराज से उसके परिवार की समस्त धनसम्पत्ति सहित उसके राजमुकुट और सूर्यमाला को छीन लिया, न जाने कितने प्राचीन द्वीपों को जीता; सम्पूर्ण स्वर्णनिर्मित उस राजमुकुट को भी छीन लिया जिसे अभेद्य, समझकर सान्दिमत्तिवु के दुर्ग में परशुराम ने रख छोड़ा था, जिन्होंने अपने क्रोध के कारण क्षत्रिय राजाओं को २१ बार बांध रखा था; इरट्टपाडि के साढ़े सात लाख (गांवों) को जीत लिया और उसके शासक जयसिंह के यश को जीता, जिसने मुसंगी में अपनी पीठ दिखा दी और जो अपने वीर योद्धाओं के साथ मारा गया; मदुरमण्डल, नामैक्कोणम्, पञ्चपल्ली, बढ़िया माशुण्डिदेश को जीता; आदिनगर के युद्ध में प्राचीन चन्द्रवंश के शासक इन्द्ररथ को हराया; कठिनाई से पहुँचे जाने वाले ओड्डविषय, बढ़िया कोसलनाडु (जहाँ ब्राह्मण इकट्ठा होते थे), तण्डभुडि, (जिसके बागों में मधुमक्खियाँ भरी रहती थीं) को जीता। धर्मपाल को एक युद्ध में हराया, रणशूर को उस तक्कल(ण)नाडम् में हराया, जिसका यश चारों दिशाओं में फैला रहता था; रणशूर पर जबरदस्ती चढ़ाई कर उस बंगालदेश पर आक्रमण किया, जहाँ का राजा भाग गया और जहाँ वर्षा कभी बन्द ही नहीं होती थी, जहाँ बहुत ही शक्तिशाली हाथी होते थे; वहाँ की स्त्रियों और धनसम्पत्ति उसने छीन ली; और महीपाल को भाग जाने को विवश करते हुए उसने उत्तिरनाडम् और गंगा को जीत लिया।"

उपर्युक्त विजयवर्णन को भौगोलिक आधार पर तीन भागों में बांटा जा सकता है। राजेन्द्र (प्रथम) की प्राथमिक विजित किश्त में वे देश थे, जो चोड़ राज्य के पश्चिम, दक्षिण-पश्चिम और दक्षिण दिशाओं में स्थित थे और वे सभी एक बार राजेन्द्र के आक्रमणों के पूर्व भी उसके पिता राजराज द्वारा विजित किये जा चुके थे। ये थे–समुद्रपार स्थित सिंहल (लंका) का राज्य, मदुरै का पाण्ड्य राज्य, उसके उत्तर पश्चिम में पड़ने वाला समुद्रतटी चेर अथवा केरल राज्य तथा उसके ऊपर का मैसूर वाला वह क्षेत्र, जो पहले राष्ट्रकूटों के अधीन था, किन्तु अब पश्चिमी चालुक्य राजाओं के अधीन आ चुका था। ऐसा निश्चित सा लगता है, कि इन राज्यों के वे शासक जो राजराज के द्वारा हराये

---

१. आर्० सतियनाथियेर, दि स्ट्रगल फॉर इम्पायर, पृष्ठ २८६-२८७।

जा चुके थे, या तो वे अथवा उनके उत्तराधिकारी पुन: सिर उठाने लगे थे और प्रथम राजेन्द्र को उन्हें कुचलने हेतु दुबारा आक्रमण करना पड़ा। राजेन्द्र ने अपने पिता के समय भी इनमें से कुछ राज्यों पर किये गये आक्रमणों में राजकुमार की हैसियत से भाग लिया था।

भौगोलिक दृष्टि से वनवासी के गंग क्षेत्र, राष्ट्रकूटों की पूर्वत: राजधानी रहे मान्यखेट नगर, तुंगभद्रा नदी के पार वाले वे क्षेत्र, जहाँ अब कल्याणी के पश्चिमी चालुक्यों का शासन स्थापित हो चुका था तथा जिसके शासक सत्याश्रय और जयसिंह थे, राजेन्द्र की विजयों के दूसरे चक्र के रूप में पहचाने जा सकते हैं। किन्तु इनकी विजयों तथा उनके लिए होने वाले युद्धों का तैथिक क्रम निश्चित करना वादविवाद का विषय हो सकता है।

राजेन्द्र की विजयों का तीसरा क्रम मात्र **दिग्विजय** जैसा प्रतीत होता है, जिसमें पूर्वी चालुक्यों के आगे गंग राज्य से होते हुए समुद्री किनारों का सहारा लेकर कलिंग (उड़ीसा), महाकोसल, उत्तरी और दक्षिणी राढ़ प्रदेश (आधुनिक उत्तरी और पश्चिमी बंगाल) और दक्षिणी तथा पूर्वी बंगाल (आधुनिक बंगलादेश) के वे छोटे-छोटे तथा कमजोर राज्य थे, जो राजेन्द्र की विजयिनी (धर्मविजयी) सेनाओं का मुकाबला करने में असमर्थ थे। वे क्षेत्र तमिलनाडु के चोड़ साम्राज्य क्षेत्रों से इतनी दूर थे कि उन्हें यदि साम्राज्य में मिला भी लिया गया होता तो भी उनपर स्थायी प्रशासन स्थापित करना असंभव ही होता।

इन तीनों दिशाओं की विजयों का विवरणात्मक उल्लेख हम आगे क्रमश: करेंगे।

नीलकान्त शास्त्री[१] के मत में प्रथम राजेन्द्र का पहला युद्ध कल्याणी के चालुक्य शासक सत्याश्रय के विरुद्ध हुआ। तदनुसार, अपने शासन के तीसरे वर्ष तक उसने इ-डैतुरैयनाडु (वनवासी) तथा अभेद्य दुर्गबन्दी वाले मणक्कैकडक्कम् (मान्यखेट) को जीत लिया था। इसके पूर्व १००३-१००६ ई० के बीच भी **युवराज** के रूप में उसने चालुक्य क्षेत्रों (रट्टपाडि) को अपने पिता राजराज की ओर से कभी जीता था। अत: यह कहना कठिन है कि सत्याश्रय ने क्या उन क्षेत्रों पर दुबारा अधिकार कर लिया, जो राजेन्द्र को उनपर पुन: अपने राज्यत्वकाल में आक्रमण करना पड़ा? सत्याश्रय १००७ ई० के अपने होट्टूर अभिलेख में कदाचित् इसी विजयोपलब्धि का उल्लेख करता है। इडैतुरैयनाडु (इड़ेदोर) २००० की पहचान कृष्णा और तुंगभद्रा नदियों के बीच वाले आधुनिक रायचूर वाले दोआब के एक बड़े हिस्से के रूप में की गयी[२] है। कोल्लुपाक्कै हैदराबाद के ४५ मील उत्तर स्थित कुलपक है। मणक्कैकडक्कम् अर्थात् मान्यखेट (राष्ट्रकूट राजधानी) के बारे में कन्याकुमारी अभिलेख कहता है कि वह तो राजेन्द्र की सेनाओं के मानों खेलवाड़ का क्षेत्र ही बन गया[३]। मान्यखेट पर राजेन्द्र की इस आसान जीत का कारण राष्ट्रकूटों

---

१. दि चोड़ज़्, पृष्ठ १९७।
२. वहीं।
३. ७०वाँ श्लोक।

की तेजी से बढ़ती हुई कमजोरी ही रही होगी। कृष्णस्वामी आयंगार (आयंगर) का कथन[१] है कि "दक्षिण भारतीय इतिहास के इस वादविवादास्पद सीमान्त (रायचूर दोआब) पर अधिकृत हो जाने के बाद उसने (राजेन्द्र ने) राष्ट्रकूट देश के सर्वाधिक दक्षिणी जिलों पर धावा बोल दिया।"

वनवासी (कदम्ब राजधानी) को क्या राजेन्द्र ने इसी अभियानक्रम में जीता या नहीं, यह निश्चय करना कठिन है, क्योंकि वनवासी, तमिलनाडु से प्रारंभकर रायचूर दोआब और मान्यखेट के मार्ग में न पड़ते हुए, बहुत दूर पश्चिम में स्थित थी।

राजेन्द्र की अगली विजय में समस्त इड़मण्डलम् अर्थात् सीलोन (सिंहल) का नाम आता है। पूर्वत:, राजराज के समय में भी लंका का उत्तरी भाग चोड़ों द्वारा जीत लिया गया था और उसकी राजधानी अनुराधपुर बुरी तरह ढहा दी गयी थी। चोड़ विजय के उपलक्ष्य में वहाँ हिन्दू मंदिर स्थापित किये गये थे और वहाँ के कई गांवों का दान देते समय राजराज ने अपने अभिलेख खुदवाये थे[२]। लंका का इतिहास पूर्णरूप में देने वाला बौद्ध ग्रंथ **महावंश** पञ्चम महिन्द (महेन्द्र) के ३६वें वर्ष में लंका पर चोड़ विजय का उल्लेख करते हुए तत्सम्बन्धी बहुत से विवरण देता है। ग्रंथ के सम्पादक गीगर[३] ने इस घटना की तिथि १०१७ ई० निश्चित की है। **महावंश (चुल्लवग्ग)** का वर्णन है[४] कि चोड़ों ने सिंहल की सारी सम्पत्ति (रत्न, राजमुकुट, सभी राजकीय आभूषण, वह तलवार जो तोड़ी नहीं जा सकती थी, आदि) लूट ली, वहाँ के शासक पञ्चम महिन्द (महेन्द्र) को अपनी रक्षा हेतु जंगलों में भागना पड़ा; परन्तु वह पकड़ा गया, और संधि कर लेने के बहाने धोखे से चोड़ राजधानी में ले जाया गया जहाँ उसे अपनी मृत्यु के पूर्व १२ साल कैदखाने में बिताने पड़े। प्राय: इसी प्रकार के विवरण चोड़ों के करण्डै (तंजाऊर जिला) अभिलेख में भी (श्लोक संख्या ५८-५९) प्राप्त होते हैं।

सीलोन (सिंहल) की अपनी विजय के फलस्वरूप उस संपूर्ण द्वीप पर राजेन्द्र का अधिकार व्याप्त हो गया और उसने अपने पिता के अधूरे कार्य को पूरा किया। उसने वहाँ अनेक अभिलेख खुदवाये, जो अब खण्डित अवस्था में ही प्राप्त होते हैं। वहाँ अनेक शैव और वैष्णव मंदिर बनवाये गये, जिनके अवशेष पोलोनरु में अब भी प्राप्त होते हैं। किन्तु सिंहली साक्ष्यों (**महावंश**) से यह ज्ञात होता है कि वहाँ के लोगों ने पञ्चम महिन्द के एक पुत्र (कस्सप = कश्यप) को चोरी से छिपा लिया था और महिन्द की मृत्यु के बाद उसे वहाँ का राजा घोषित कर दिया। उसने प्रथम विक्रमबाहु के नाम से अगले १२ वर्षों तक शासन किया।

---

१. गंगैकोण्ड चोड़, पृष्ठ ५४४
२. देखें पीछे पृष्ठ ३८६।
३. चुल्लवग्ग (अनूदित और संपादित गीगर), द्वितीय, पृष्ठ १३।
४. चुल्लवग्ग, ५५वां अध्याय, श्लोक संख्याएँ १६ और आगे।

राजेन्द्र के शासन (यौवराज्य से प्रारंभकर) के छठें वर्ष (१०१८ ई०) के अभिलेख से उसकी केरल, पाण्ड्य और अनेक समुद्री द्वीपों पर विजय के उल्लेख प्राप्त होते[१] हैं। इनके कुछ ब्यौरे उसके तिरुवालंगाडु और पूरे विवरण दसवें वर्ष में प्रकाशित १०२४ ई० के तिरुमालै प्रस्तराभिलेख से ज्ञात होते हैं। कथित है कि उसने केरल राज के "राजमुकुट और लाल किरणों को बिखेरने वाले कण्ठमाल" को छीन लिया तथा उसने "समुद्र द्वारा पूरी तरह सुरक्षित अनेक प्राचीन द्वीपों" को हथिया लिया जहाँ "शंखों की ध्वनि होती रहती थी।" उसने "शाण्डिमत्तिवु में रखे गये उस संपूर्ण स्वर्ण से बने मुकुट को भी छीन लिया, जो लक्ष्मी द्वारा पहनने योग्य था।"

तिरुवालंगाडु अभिलेख[२] के अनुसार राजेन्द्र ने 'दिग्विजय' की इच्छा से अपनी राजधानी की रक्षा की पूरी व्यवस्था की---अप्रतिम चोड़राज उत्तम चोड़ ने दक्षिण दिशा की विजययात्रा पाण्ड्यराज को जीत लेने की इच्छा से प्रारंभ की---**सूर्यकुलतिलक दण्डनाथ** (राजेन्द्र) ने पाण्ड्यराज पर चढ़ाई कर दी, उसने भागकर अगस्त्य ऋषि के गृह मलय पर्वत में शरण ले ली।---राजराज के पुत्र (राजेन्द्र) ने पाण्ड्य राजाओं के यशःरूपी कलंकरहित मोतियों को छीन लिया।"---"भयरहित **मधुरान्तक** (मदुरै को जीतने वाले राजेन्द्र) ने सह्याद्रि को पारकर बहुत बड़ी सेना के साथ केरल पर चढ़ाई कर दी।---अन्ततः वह राजधानी लौट आया[३]॥"

प्रश्न यह है कि राजेन्द्र के इन दक्षिणी अभियानों का वास्तविक स्वरूप क्या था? स्वयं तिरुवालंगाडु अभिलेख इन्हें **दिग्विजय** की संज्ञा देता है। पाण्ड्य, केरल और समुद्री द्वीपों (मालदीव सहित) की विजयें तो उसके पिता राजराज के समय ही की जा चुकी थीं। राजेन्द्र ने पाण्ड्यराज से जो मोतियों के मुकुट और हार आदि छीने तथा उसे भाग जाने को विवश किया, यह केवल एक रस्मी उल्लेख मात्र प्रतीत होता है। यह संभव है कि उस दिशा में अपने पिता के समय की जो उपलब्धियाँ थीं, उन्हें ही पक्का करने मात्र के लिए राजेन्द्र ने पाण्ड्य, केरल और पश्चिमी समुद्र के द्वीपों पर धावा बोला हो।

---

१. ऐनुअल् रिपोर्टस् ऑन् एपिग्राफी, मद्रास, १८९५ का २२वाँ और १९११ का ११वाँ।

२. निजभुजविजितेन पुण्यजातं धननिचयेन, चिकीर्षुय्यशस्वी।
प्रबलबल समन्वितो नरेन्द्रो धियमथ दिग्विजये न्यधत्त धिरः ॥८९॥
प्रथममथ दिशन्त्रिशंकु चिह्नान्त्रिरंगमदुत्तमचोलभूमिपालः।
पिहितनिजपुरावनः स पाण्ड्यः क्षितिपतिमप्रतिमोविजेतुकामः ॥९०॥
रविकुलतिलकस्य दण्डनाथः प्रबलबलानि जघान् पाण्ड्यराज मलयगिरि॥
मगस्त्यगिरि धामभीतशरणमगात स्वभुवं विहाय पाण्ड्यः ॥९१॥

३. अतिलंघ्यति सह्यमपनीतभयो मधुरान्तकसपदिकेरलेश्वरम्।
सबलं रूरोध तदनुक्षितिपक्षयकारि युद्धमभवत् भयंकरम् ॥९६॥
जित्वा केरलभूपतिभूभृतेश्छित्त्वा तपोरक्षिताम् पृथिवीम् पार्थिवनन्दनो।
निजपुरं प्रायात् स धामश्रियः ----------॥९७॥

इसमें उसकी सफलता का प्रमाण यह है कि उसने अपने एक पुत्र को **चोड़-पाण्ड्य** के विरुद के साथ मदुरै (पाण्ड्य राजधानी) में अपने गवर्नर के रूप में अधिकृत कर दिया। पाण्ड्य और चेर (केरल) क्षेत्रों में राजेन्द्र द्वारा प्रकाशित अनेक अभिलेख उसके शासन के प्रारंभिक वर्षों के तथा कुछ अन्तिम वर्षों के प्राप्त होते हैं। पाण्ड्य क्षेत्र का गवर्नर था **जटावर्मन्** सुन्दर चोड़-पाण्ड्य, जो बाद में केरल का भी, पाण्डय क्षेत्रों के अतिरिक्त, गवर्नर नियुक्त कर दिया गया।

चोड़-चालुक्य युद्धों के अनेक दौर चले। दोनों ही राजवंशों के अभिलेख इस बात का उल्लेख करते हैं कि उन्होंने एक दूसरे को हराकर विभिन्न क्षेत्रों में विजयें प्राप्त कीं। राजेन्द्र के संस्कृत भाषा वाले अभिलेखों में तो चालुक्यों के विरुद्ध युद्धों में उसकी सफलताओं के विशेष उल्लेख नहीं हैं, किन्तु उसके तमिल भाषा वाले अंशों में ऐसे उल्लेख प्राप्त होते हैं[१]। कल्याणी के शासक पञ्चम विक्रमादित्य का उत्तराधिकारी जयसिंह (१०१६ ई०) चोड़ों के विरुद्ध अत्यन्त ही क्रियाशील सिद्ध हुआ। चोड़ों और चेरों (केरलों) के विरुद्ध उसकी विजयों के उल्लेख उसके १०१९ ई० के बेलगांव से प्राप्त अभिलेख में तो मिलते ही हैं, बेल्लारी से प्राप्त अनेक अन्य आलेख भी इसका समर्थन करते हैं। दूसरी ओर राजेन्द्र की तमिल प्रशस्तियों में उसके द्वारा रट्टपाडि पर अधिकार कर लेने के उल्लेख हैं। किन्तु चोड़ों के इस दावे पर सन्देह व्यक्त किया गया[२] है। जयसिंह का अधिकार मुसंगी (मुयंगी = मास्की) में लड़े गये उपर्युक्त युद्ध के बाद भी तुंगभद्रा नदी के उत्तरी किनारों तक बना रहा[३]। वास्तव में चोड़ों और चालुक्यों के बीच होने वाले युद्धों के दो मोर्चे थे—एक तो पश्चिम में कल्याणी और मान्यखेट के आसपास के क्षेत्र और दूसरा पूरब में वेंगी राज्य के पूर्वी चालुक्यों का क्षेत्र। किन्तु पूर्वी मोर्चे पर दोनों के बीच होने वाले युद्धों के ब्यौरों के बारे में हमें कोई विशेष जानकारी नहीं मिलती। वेंगी के पूर्वी चालुक्य शासक शक्तिवर्मन् के बाद वहाँ के राजदरबार में उत्तराधिकार का संघर्ष छिड़ गया, जिसमें चोड़ों और चालुक्यों, दोनों ही राज्यों के शासकों ने हस्तक्षेप किया। किन्तु अन्ततः चोड़ शासक को अपेक्षाकृत अधिक सफलता प्राप्त हुई।

राजेन्द्र चोड़ का उत्तर-पूर्वी सैनिक अभियान केवल **दिग्विजय** के स्वरूपमात्र वाला था। उससे उसको न तो कोई भौगोलिक अधिग्रहण का लाभ हुआ और न उस क्षेत्र के राज्यों ने उसकी अधिसत्ता स्वीकार की। यद्यपि इन उत्तर-पूर्वी अभियानों के उल्लेख उसके तिरुवालंगाडु, तिरुमालै प्रस्तराभिलेख और तमिल प्रशस्तियों में हुए हैं, उनसे आक्रामित राज्यों और कुछ पराजित राजाओं के नामोल्लेख के अतिरिक्त कोई अन्य

---

१. दि चोड़ज़्, पृष्ठ २०४ और आगे।

२. वहीं, पृष्ठ २०४-२०५।

३. देखें जयसिंह का १०२४ का मीरज अभिलेख, इण्डियन् ऐण्टीक्वेरी, जिल्द ८, पृष्ठ १८।

जानकारियाँ नहीं प्राप्त होतीं। इन सभी युद्धों का समवेत काल एक अभिलेख[1] में दो वर्षों से भी कम बताया गया है। अत: उनसे किसी स्थायी परिणाम की आशा भी नहीं की जा सकती। तिरुवालंगाडु अभिलेख का कथन है कि स्वयं राजेन्द्र ने इस अभियान का संचालन भी नहीं किया। प्रत्युत् यह भार उसने अपने एक सेनापति को सौंप दिया तथा उसके लौटते समय गोदावरी नदी के किनारे उसने उसका स्वागत किया। तथापि, विजयिनी चोड़ सेनाओं ने जिन क्षेत्रों को रौंदा, जिनकी धनसम्पत्ति छीनी तथा जिनके शासकों को हराया, उनके संक्षिप्त उल्लेख तो यहाँ किये ही जाने चाहिए।

इस विजित राज्यों और उनके राजाओं के नामों की पहचान के बारे में विद्वानों में एकमत्य नहीं है। शक्करकोट्टम् बस्तर के पास की कोई जगह थी, जो चक्रतोया नदी के किनारे (संभवत: आजकल का चित्रकूट) थी। आदिनगर को उड़ीसा के जाजनगर से मिलाया गया है। वहाँ का हारने वाला राजा उड़ीसा का कोई सोमवंशी शासक था[2]। ओड्डविषय उड़ीसा था। कोसलनाडु महानदी के किनारे का महाकोसल है। तण्डभुक्ति दण्डभुक्ति का रूप है, जो आधुनिक मिदनापुर जिले का प्रदेश था। वहाँ का पराजित शासक धर्मपाल था, जिसके नाममात्र के अतिरिक्त उससे सम्बद्ध कोई भी अन्य जानकारी नहीं प्राप्त है। रणशूर भी उड़ीसा का ही कोई राजा[3] था। गोविन्द पूर्वी बंगाल के किसी भाग का शासक था। महीपाल वह पालवंशी शासक (९८८-१०३८) था[4], जिसके समय पाल सत्ता पूरी तरह पतनोन्मुख हो रही थी। तक्कणलाडम् और उत्तिरलाडम्, क्रमश: दक्षिणी राढ़ और उत्तरी राढ़ के वे प्रदेश थे, जो पश्चिमी बंगाल और उसके उत्तरी भागों में पड़ते थे और जहाँ के राढ़ी (बंगाली) ब्राह्मण बड़े प्रसिद्ध हुए। वहीं (महीपाल के राज्य में) चोड़ **दण्डनाथ** (सेनापति) को गंगा नदी प्राप्त हुई, जहाँ के जल से उसने लौटकर चोड़ राजधानी को पवित्र किया। नीलकांत शास्त्री के मत[5] में राजेन्द्र के इस **दण्डनाथ** द्वारा पूर्वी भारत की यह सैन्य यात्रा एक तीर्थयात्रा के समान ही थी और इसके दिग्विजयी स्वरूप से चोड़ सत्ता को कोई वास्तविक लाभ नहीं हुआ।

किन्तु इस अभियान का एक अप्रत्यक्ष परिणाम यह हुआ कि दक्षिण भारतीयों के

---

१. ऐनुअल् रिपोर्ट्स् ऑन् एपिग्राफी, मद्रास; १९११ का ४७६ वाँ।
२. विशुद्धानन्द पाठक, उत्तर भारत का राजनीतिक इतिहास, पृष्ठ २९५।
३. वहीं, पृष्ठ २६८। आर्० सतियनाथियेर उसे बंगाल प्रदेश के किसी शासक से मिलाते हैं। देखें, दि स्ट्रगल फॉर इम्पायर, पृष्ठ २३७-२३८।
४. उत्तर भारत का राजनीतिक इतिहास, पृष्ठ २६८-२६९। इस महीपाल की पहचान के बारे में बड़े मतभेद हैं! देखें, नीलकान्त शास्त्री, दि चोड़ज़्, पृष्ठ २२९-२३४। फलस्वरूप, उपर्युक्त विजयों के समय राजेन्द्र के सेनापति ने कौन सा मार्ग अपनाया, इस विषय पर भी मतभेद हैं।
५. पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ २०९।

अनेक दल, विशेषत: **ब्रह्मक्षत्रियों** के दल, बंगाल के कुछ भागों में बस गये। कर्णाट (कर्नाटक) के ये निवासी, मूलत: ब्राह्मण और बाद में क्षत्रियों के कर्म-राजकाज-को संभाल लेने के कारण ही, **ब्रह्मक्षत्र** कहलाये। इन्हीं का प्रतिनिधि था सामन्तसेन, जिसने बंगाल में सेन वंश की स्थापना[१] की। मिथिला के कर्णाटवंशी शासक भी इसी वर्ग में गिने गये हैं। दूसरी ओर दक्षिण भारतीय ग्रंथ **सिद्धान्तसारावली** की एक अनिश्चित तिथिवाली टीका[२] में यह कथित है कि राजेन्द्र चोड़ ने गंगा के किनारे पर बसे हुए शैवाचार्यों को बुलाकर काञ्चीपुरम् में बसाया।

विदेशी सम्बन्धों के बीच व्यापार और युद्ध

कडारम् (कटाह) विजय राजेन्द्र की अन्तिम, कदाचित् सर्वप्रमुख, सैनिक उपलब्धि थी। किन्तु इसके पूर्व कि हम दक्षिण-पूर्वी एशिया के द्वीपसमूहों में स्थित कडारम् अथवा कटाह वाले युद्ध का कोई विवरण दें, इसकी पृष्ठभूमि पर नजर डालना आवश्यक है। वास्तव में इसमें राजेन्द्र की युद्धजनित विजय की लालसा के साथ ही अन्तर्निहित व्यापारिक हितों की रक्षा और विभिन्न राज्यों-चोड़ राज्य, चीन, और दक्षिणी पूर्वी द्वीप के शैलेन्द्र राज्य के बीच के आपसी (वैदेशिक) सम्बन्धों के उतार-चढ़ाव के तन्तु भी छिपे हुए हैं। पीछे हम देख[३] चुके हैं कि राजराज चोड़ के समय ही चोड़ों ने एक सशक्त सैनिक बेड़े को जुटा लिया था और उसी के बल पर उन्होंने श्रीलंका और मालदीव सहित पश्चिमी समुद्र तट के १२००० द्वीपों की विजय कर उन्हें अपने साम्राज्य में मिला लिया था। इस नौसैनिक बेड़े का विस्तार और उसकी शक्तिवृद्धि का क्रम राजराज के पुत्र और उत्तराधिकारी प्रथम राजेन्द्र के काल में भी अनवरत चलता रहा। उसके समय उपर्युक्त पूर्वविजित क्षेत्रों पर उसके प्रत्यक्ष शासन की स्थापना भी हो चुकी थी। यह वही काल था जब चीन, श्रीविजय का शैलेन्द्र साम्राज्य, दक्षिणी भारत के सभी राज्य, विशेषत: चोड़ राज्य, तथा अरब और फारस देशों के व्यापारी पश्चिम से पूर्व और पूर्व से पश्चिम की ओर होने वाले समुद्री व्यापार के क्षेत्र में एक भारी प्रतियोगिता में फंसे हुए थे। चोड़ साम्राज्य इस व्यापार पथ के मध्य में स्थित था और उसकी तीनों-पश्चिमी, दक्षिणी और पूर्वी-दिशाओं में सभी देशों के जहाज और व्यापारी विभिन्न बन्दरगाहों पर जुटते थे और अपने माल का आदान-प्रदान करते थे। व्यापारिक नावों अथवा जहाजों के निर्माण तथा उनके द्वारा सामान ढोने से होने वाली व्यापारिक आय को अधिकाधिक हथियाने का प्रयत्न सभी ओर से किया जाता रहा होगा। दक्षिण-पूर्व एशिया के विभिन्न द्वीपों से व्यापार का

---

१. राखालदास बनर्जी, पालज़् ऑफ् बेंगाल, पृष्ठ ७३,७९।

२. श्लोक १११ की टीका। और देखें, साउथ इण्डियन् इन्स्कृप्शन्स्, जिल्द ३, भूमिका, पृष्ठ २२।

३. देखें पीछे पृष्ठ ३८४-३८५।

एक प्रमुख बन्दरगाह था नागपट्टन (नागपत्तन अथवा नागपट्टिनम्) जो चोड़ों के अधीन पूर्वी समुद्र तट पर स्थित था ।

इन बढ़ते हुए व्यापारिक सम्बन्धों के बीच ही चोड़, चीन और श्रीविजय के राज्यों के बीच आपस में दूतमण्डलों के आदान-प्रदान प्रारंभ हुए । दसवीं शताब्दी का अन्त होते-होते, सुंग वंश के समय, चीनी राज्य की अन्दरूनी अस्थिरता समाप्त हो चुकी थी और विदेशी व्यापार में उसकी रुचि बढ़ चुकी थी । चीनी शासक ने विभिन्न राज्यों को व्यापारवृद्धि हेतु दूतमण्डलों को भेजने का क्रम प्रारंभ किया और उनके दरबार में भी चोड़ों और शैलेन्द्र राजाओं ने अपने-अपने दूतमण्डल बहुमूल्य भेटों के साथ भेजे । चीन ने विशेषरूप से विदेशी व्यापारिओं को चीन आने के निमंत्रण दिये । इसका लाभ उठाते हुए राजराज का १०१५ ई० में पहला दूतमण्डल चीन पहुँचा, जिसको वहाँ पहुँचने में तीन वर्ष का समय लग चुका था । अत: यह मानना होगा कि यह दूतमण्डल चोड़ राजधानी से १०१२ ई० में यात्रा पर निकला होगा । चीनी लेखक चाऊ-कु-जुआ ने इस दूतयात्रा का विवरण दिया[१] है । चोड़ शासकों का दूसरा दूतमण्डल १०३३ ई० में 'श्री राजइन्द्र चोल' अर्थात् राजेन्द्र चोड़ के समय चीनी राजदरबार पहुँचा । किन्तु इसके विवरण उतने नहीं प्राप्त होते, जितने पहले दूतमण्डल के प्राप्त होते हैं । इसके पूर्व राजेन्द्र चोड़ की सेनाओं ने कडारम् (कटाह) की विजय द्वारा श्रीविजय के शैलेन्द्र राज्य को रौंद डाला था और उसके विभिन्न क्षेत्रों पर उसके अधिकार भी हो चुके थे । फलस्वरूप, राजराज द्वारा चीन भेजे गये प्रथम दूतमण्डल को जितना समय (तीन वर्ष) वहाँ पहुँचने में लगा था, उसकी तुलना में इस द्वितीय दूतमण्डल को चीनी राजदरबार तक पहुँचने में बहुत कम समय लगा । असंभव नहीं है कि समुद्री व्यापारिक मार्गों की रुकावटें ही चोड़-श्रीविजय युद्ध का असली कारण रही हों, जिसमें शैलेन्द्रों के विभिन्न द्वीपों और बन्दरगाहों पर अधिकार चोड़ तथा चीनी राजदरबारों के बीच सम्बन्धों की नजदीकी बढ़ाने में जहाजिओं और व्यापारिओं के लिए बाधक बनकर खड़े हो रहे हों । शैलेन्द्र राजाओं ने भी भारतीय दूतमण्डलों के चीन जाने के पूर्व ही अपने दूतों को वहाँ भेज रखा था । वहाँ के शासक मारविजयोत्तुंगवर्मन् ने १००८ ई० में गद्दी धारण करने के बाद चीन में अपने तीन दूतमण्डल भेजे थे । लिडेन म्यूजियम दानपत्र में उसके बारे में कथित[२] है कि वह श्रीविषय (श्रीविजय) का स्वामी था, "उसका अधिकार कटाह तक था और उसके झण्डे पर **मकर** का चिह्न था ।" कटाह को चोड़ तमिल प्रशस्तियों में कडारम् कहा गया है, जो आजकल के मलाया प्रायद्वीप का खेडा है । इन सभी दूतसम्बन्धों के बीच व्यापार सर्वप्रमुख तन्तु था । आगे भी चोड़ शासकों ने चीनी राजदरबार से अपना सम्बन्ध बनाये रखा और प्रथम

१. पृष्ठ ९६ ।
२. रमेशचन्द्र मजूमदार, दि स्ट्रगल फॉर इम्पायर पृष्ठ ७३०-७३१ ।

कुलोत्तुंग ने १०७७ ई० में वहाँ पुन: एक दूतमण्डल भेजा[१]। किन्तु भारतीय इतिहास का दुर्भाग्य यह है कि चोड़ साम्राज्य और चीन के बीच होने वाले वृहद् व्यापार की कोई भी जानकारी हमें किसी भारतीय स्रोत से नहीं प्राप्त होती और जो कुछ भी ज्ञात है वह या तो चीनी स्रोतों से अथवा अरबी स्रोतों से ही ज्ञात होता है। वीरराजेन्द्र के समय कडारम् में आपसी संघर्ष छिड़ गये थे और वहाँ के विभिन्न प्रतियोगिओं ने अपने झगड़ों को सुलझाने हेतु चोल(ड़) राजदरबार से सहायता मांगी थी। वीरराजेन्द्र प्रथम राजेन्द्र के एक अन्य पुत्र राजाधिराज के बाद गद्दी पर बैठा (१०६३-१०७० ई०)। उसके एक अभिलेख में कथित[२] है कि उसने "उस कटाह को आग में जला डाला" जो पहले कभी नहीं हुआ था। यह भी कहा गया है कि शैलेन्द्रराज वीरराजेन्द्र के "पैरों की पूजा करता था।"

कटाह युद्ध के पूर्व श्रीविजय के शैलेन्द्र साम्राज्य और गंगैकोण्डचोड़पुरम् के चोड़ राज्य के बीच मधुर सम्बन्धों के प्रमाण स्वयं चोड़ अभिलेखों से प्राप्त होते हैं। राजराज और शैलेन्द्र शासक चूड़ामणिवर्मन् के बीच मैत्री सम्बन्धों के उल्लेख कई अभिलेखों में मिलते हैं। राजराज के लिडेन म्यूजियम वाले ताम्रपत्र[३] से ज्ञात होता है कि चूड़ामणिवर्मन् ने चोड़ों के अधिकार वाले नागपट्टन बन्दरगाह में एक विहार का निर्माण करवाया और राजराज ने अपने शासन के २१वें वर्ष (१००६ ई०) में उस विहार के खर्चों को चलाने हेतु उसे एक गांव का दान दिया। शैलेन्द्रराज के नाम पर बने इस चूड़ामणिवर्मन् विहार के निर्माण का कार्य वास्तव में राजराज के पुत्र और उत्तराधिकारी प्रथम राजेन्द्र और चूड़ामणिवर्मन् के पुत्र मारविजयोत्तुंगवर्मन् के समय में ही पूरा हुआ और जिस गांव को राजराज ने दान दिया था, उस दान को प्रथम राजेन्द्र ने पुनर्स्वीकृत किया।

शैलेन्द्र राजाओं और चोड़ों के बीच मैत्री सम्बन्धों के प्रमाण कुछ तमिल ग्रंथों से भी प्राप्त होते हैं, जिनके मूल में उनके व्यापारिक सम्बन्ध ही थे। एक पुराने तमिल काव्यग्रंथ में कथित[४] है कि काड़गम से व्यापारिक माल कावेरी नदी के मुहाने पर स्थित बन्दरगाह पर आते थे। यह काड़गम कडारम् (आधुनिक खेड़ा) ही है।

कडारम् का युद्ध

इन मित्रतापूर्ण सम्बन्धों के बीच चोड़ राज्य और श्रीविजय की शैलेन्द्र सत्ता के बीच युद्ध क्यों छिड़ गया, यह एक उलझा हुआ प्रश्न है, जिसका उत्तर इतिहासकारों के पास नहीं है। युद्ध का दौर भी लम्बा चला और आगे वीरराजेन्द्र के समय तक यह चलता रहा। यद्यपि प्रथम राजेन्द्र चोड़ की तिरुवालंगाडु की संस्कृत प्रशस्ति में तो इस युद्ध की

---

१. चाऊ-कु-जुआ, पृष्ठ १००।

२. रमेशचन्द्र मजूमदार, दि स्ट्रगल फॉर इम्पायर, पृष्ठ ७३२-७३३।

३. वहीं, पृष्ठ ७३३।

४. दि चोड़ज़्, पृष्ठ ३१८।

चर्चा मात्र एक छोटे से पद में समाप्त कर दी गयी है, लिडेन म्यूजियम ताम्रपत्र में इसका एक विशद उल्लेख है। अन्य कई अभिलेखों में भी इसके उल्लेखों के कारण यह निश्चय किया गया है कि दोनों पक्षों के बीच युद्धों का प्रारंभ १०१४-१०१८ ई० में हुआ था, और उनके दौर १०२५ ई० तक चलते रहे। आगे भी प्रथम राजेन्द्र के अनेक अभिलेखों में इसके उल्लेख प्राप्त[१] होते हैं।

युद्ध के विवरण में कहा गया है कि राजेन्द्र चोड़ ने ज्वारभरे "समुद्र में अपने अनेक जहाजों को भेजकर कडारम् के राजा मारविजयोत्तुंगवर्मन् को कैद कर लिया; उसके हाथियों को छीन लिया, शत्रु के नगरद्वार पर जो **विद्याधरतोरण** निर्मित था, उसे ले लिया; रत्नमण्डित द्वारमण्डप को ले लिया और उस द्वार को भी ले लिया जो रत्नों का ही बना था।" आगे जिन स्थानों को चोड़ जलसेनाओं ने अपने कब्जे में किया, उनकी विशेषताओं के साथ उनके नाम गिनाये गये हैं। वे निम्नलिखित हैं :—

मलयूर—सुमात्रा का मलयू अथवा जम्बी।

माणक्कवारम्—नीकोबार द्वीपसमूह।

कडारम्—कटाह अथवा खेड़ा नामक मलाया प्रायद्वीप का बन्दरगाह।

यद्यपि सभी विजित क्षेत्रों की पहचान ठीक-ठीक नहीं की जा सकती, यह निश्चित है कि वे या तो सुमात्रा (सुवर्णद्वीप) में थे अथवा मलाया प्रायद्वीप में। विवरणों से यह प्रतीत होता है कि राजेन्द्र ने शैलेन्द्र साम्राज्य के अनेक करद अथवा अधीनस्थ क्षेत्रों को जीता और अन्ततः कडारम् पर अधिकार कर लिया। संघर्ष संभवतः कई दौरों का था और श्रीविजय तथा कडारम् अथवा कटाह पर चोड़ों का अधिकार उसकी अन्तिम परिणति थी। चूँकि इस विजय का सर्वप्रथम उल्लेख १०२४-१०२५ ई० के ही एक अभिलेख में हुआ है, यह निश्चय किया जा सकता है कि उसके पूर्व यह विजय संपूर्ण की जा चुकी थी।

किन्तु जैसे यह पूरी तरह ज्ञात नहीं है कि आखिरकार मित्रताओं के होते हुए भी इस भयंकर चोड़-शैलेन्द्र टकराव का वास्तविक कारण क्या था, उसी तरह यह भी जाना नहीं जा सकता कि अपनी सत्ता के चरमोत्कर्ष पर होते हुए भी शैलेन्द्र सत्ता इतनी जल्दी ढह कैसे गयी ? किन्तु इस जलीय युद्ध और दक्षिण-पूर्वी द्वीपसमूहों के अनेक महत्त्वपूर्ण स्थानों की विजय के बाद भी चोड़ों को कोई स्थायी लाभ हुआ, ऐसा भी नहीं प्रतीत होता। एक तो ये सभी स्थान उनके मुख्य केन्द्र से इतनी दूर थे कि उनपर स्थायी अधिकार रखना अथवा उन्हें अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर लेना चोड़ साम्राज्य के लिए कठिन ही नहीं, अपितु असंभव भी था; और दूसरे, प्रथम राजेन्द्र चोड़ के बाद चोड़ सत्ता ही ढीली पड़ने लगी। यद्यपि राजेन्द्र चोड़ के उत्तराधिकारिओं ने उन क्षेत्रों पर अपनी नाममात्र की अधिसत्ता को बनाये रखने की कोशिश जारी रखी और वीरराजेन्द्र ने अपने "पैरों की पूजा करने वाले"[२]

---

१. रमेशचन्द्र मजूमदार, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ७३१।
२. वहीं, पृष्ठ, ७३३।

शैलेन्द्रराज को कडारम् लौटा दिया, तथापि चीनी साक्ष्य यह बताते[१] हैं कि ग्यारहवीं शताब्दी के अन्त और बारहवीं शताब्दी के प्रारंभ होते-होते शैलेन्द्र राज्य ने चीनी अधिसत्ता स्वीकार कर ली थी।

यहाँ चोड़-श्रीविजय राज्यों के बीच होने वाले इस नौसैनिक टकराव के बारे में उसके कारणों और परिणामों की समीक्षा में नीलकान्त शास्त्री[२] के कथन को उद्धृत किया जा सकता है। "हमारे पास ऐसा कोई साक्ष्य नहीं है, जिससे इस संघर्ष के कारण का हम पता लगा सकें। सचमुच कोई कारण था भी, ऐसा भी नहीं प्रतीत होता। हम केवल यही अनुमान लगा सकते हैं कि या तो श्रीविजय की ओर से पूर्वी द्वीपसमूह से होने वाले चोड़-व्यापार में कुछ बाधाएँ खड़ी किये जाने के प्रयत्न किये गये, अथवा अधिक संभव यह है कि राजेन्द्र चोड़ अपनी उस दिग्विजयी सत्ता को पूर्व में भी अधिक दूर तक विस्तारित करना चाहता था, जो भीतरी क्षेत्रों में पूर्वत: सबको ज्ञात हो चुकी थी।---जो भी हो ऐसा नहीं प्रतीत होता कि सिवा इस बात के कि श्रीविजय राज्य ने राजेन्द्र की अधिसत्ता को कुछ दिखावटी मात्रा तक स्वीकृति दे दी हो, चोड़ों को इस अभियान से कोई वास्तविक और स्थायी लाभ हुआ।---हर दशा में, ऐसा कदापि नहीं लगता कि इन विजित क्षेत्रों पर चोड़ों ने किसी प्रत्यक्ष शासन का प्रयत्न किया हो। संभव है वे कभी-कभी कुछ भेंटें और कर आदि उनसे प्राप्त कर लेते रहे हों।"

कडारम् के युद्ध के बाद के लगभग बीस वर्षों के बचे हुए अपने राज्यत्व के काल में राजेन्द्र ने पूरी शान्तिपूर्वक शासन किया। उसका पुत्र राजाधिराज बहुत पहले ही **युवराज** नियुक्त किया जा चुका था और उसके दो अन्य पुत्र नवविजित प्रान्तों में **दण्डनाथ** (सेनापति) अथवा गवर्नरों के रूप में स्थापित थे। १०४४ ई० तक राजेन्द्र के जितने भी अभिलेख प्रकाशित हुए, उन सब में **युवराज** राजाधिराज का नाम उसके साथ आता है। राजाधिराज का अकेले अपने नाम से प्रकाशित अभिलेख १०४५ ई० का ही है, जिससे यह अनुमान लगाया गया है कि उसके पूर्व (१०४४-१०४५ ई० के बीच) कभी राजेन्द्र की मृत्यु हो चुकी थी। किन्तु अपने शासन के अन्तिम बीस वर्षों के बीच जो भी सैनिक भिड़न्ते चोड़ों की किसी क्षेत्र में हुईं, उनमें कहीं भी राजेन्द्र ने स्वयं युद्धों में कोई भाग नहीं लिया और उनका भार उसके पुत्रों पर ही था। इस बीच सुन्दर पाण्ड्य ने पाण्ड्य राज्य में चोड़ों की अधिसत्ता उखाड़ फेंकने की कोशिश में विद्रोह कर दिया, जिसे राजाधिराज ने सफलतापूर्वक दबाया[३]। उसी प्रकार उसने केरल में पनपने वाले विद्रोह को भी दबाया। पञ्चम महिन्द (महेन्द्र) की चोड़ों की कैद में रहते हुए मृत्यु के बाद उसके पुत्र के नेतृत्व

१. रमेशचन्द्र मजूमदार, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ७३३।
२. दि चोड़ज़्, पृष्ठ २२०।
३. साउथ इण्डियन् इन्स्कृप्शन्स्, जिल्द ३, पृष्ठ ५६।

में श्रीलंका में भी चोड़ों के अधिकार से मुक्ति पा लेने के प्रयत्न और विद्रोह प्रारंभ हो चुके थे और उन्हें भी राजाधिराज को कुचलना पड़ा[१] ।

दक्षिण-पश्चिम दिशा में राजेन्द्र के शासन के अन्तिम वर्षों (१०४२ ई०) में द्वितीय जयसिंह (चालुक्य) की मृत्यु के बाद कभी, चोड़ों को एक बार फिर पश्चिमी चालुक्यों से भिड़ना पड़ा और **जगदेकमल्ल** चालुक्य से उसके युद्धों के संदर्भ अनेक चोड़ अभिलेखों में प्राप्त होते हैं[२] । संभवतः चालुक्य शासक प्रथम सोमेश्वर के वेंगी में हस्तक्षेप के कारण राजाधिराज को चालुक्यों पर आक्रमण करना पड़ा और धन्नाड (धान्यकटक) के युद्ध में चोड़ सेनाओं की विजय[३] हुई ।

प्रथम राजेन्द्र की समग्र उपलब्धियों का समाहार यहाँ अपेक्षित है । पीछे हम नीलकान्त शास्त्री की उस उक्ति का हवाला दे चुके हैं, जिसमें वे प्रथम राजराज और उसके पुत्र प्रथम राजेन्द्र को मकदूनियाँ के शासकद्वय (पितापुत्र) द्वितीय फिलिप और महान् सिकन्दर की समतुल्यता में रखते[४] हैं । वास्तव में जिस चोड़ राज्य की महत्ता और एक विशाल साम्राज्य के रूप में उसके प्रारंभ और विकास की नींव राजराज ने रखी, उसी नींव पर उस साम्राज्य के विशाल आकार का सृजन किया राजेन्द्र ने । योग्य पिता (राजराज) के योग्यपुत्र (प्रथम राजेन्द्र) ने सचमुच उसकी सैनिक, प्राशासनिक, धार्मिक और सांस्कृतिक नीतियों को ही आगे बढ़ाते हुए बत्तीस वर्षों तक सफलतापूर्वक चोड़ साम्राज्य की श्रीवृद्धि की । उसके समय चोड़ वंश के परंपरागत शत्रु राष्ट्रकूटों की राजनीतिक सत्ता को समाप्त कर उनकी राजधानी मान्यखेट तक चोड़ सेनाएँ पहुँचती रहीं, राष्ट्रकूटों के उत्तराधिकारी पश्चिमी चालुक्यों को तुंगभद्रा के दक्षिणी किनारों तक ही सीमित रहने को विवश किया गया तथा वनवासी के कदम्बों को चोड़ अधिसत्ता स्वीकृत करने को मजबूर होना पड़ा । अनेक पश्चिमी चालुक्य राजाओं ने पूर्वी चालुक्यों को अपने अधीन रखने के प्रयत्न में जो बार-बार वहाँ की राजनीति और उत्तराधिकार के मामलों में हस्तक्षेप किया, उसमें उन्हें चोड़ों ने सफल नहीं होने दिया और वेंगी के राजदरबार को सैनिक सहायताएँ पहुँचाकर तथा बाद में उनसे वैवाहिक संबंध स्थापित करके उन्हें अपने वशीभूत किये रखा[५] ।

राजराज के समय चोड़ नौसेना को शक्तिशाली बनाने का उपक्रम प्रारंभ हुआ था और उसी के समय पाण्ड्य, केरल, पश्चिमी-दक्षिणी द्वीपों सहित मालदीव तथा लंका पर सैनिक अभियान प्रारंभ कर उन सभी क्षेत्रों को अधीनस्थ करने के प्रयत्न प्रारंभ किये

१. ऐनुअल् रिपोर्ट्स् ऑन् एपिग्राफी, मद्रास, १८९४ का १७२वाँ ।
२. फ्लीट, डाइनेस्टीज़् ऑफ् दि कनारीज़् डिस्ट्रिक्ट्स्, पृष्ठ ४३६ ।
३. दि चोड़ज़्, पृष्ठ २२४ ।
४. वहीं, पृष्ठ १८३ ।
५. दि स्ट्रगल फॉर इम्पायर, पृष्ठ २४१ ।

गये थे। इन सारी प्रक्रियाओं को राजेन्द्र ने चालू रखा और उन सभी राज्यों को जीतकर चोड़ साम्राज्य का अंग बना लिया। आगे वहाँ होने वाले विद्रोहों को उसके **युवराज,** पुत्र और उत्तराधिकारी राजाधिराज ने सफलतापूर्वक दबाया।

राजराज से आगे जाते हुए राजेन्द्र ने कलिंग, कोसल, और बंगाल के अनेक भागों की **दिग्विजय** के अतिरिक्त दक्षिण-पूर्व एशिया के श्रीविजय के शक्तिशाली शैलेन्द्र साम्राज्य के विभिन्न भागों पर अपने नौसैनिक बेड़े की मदद से विजय प्राप्तकर अपने सामुद्रिक व्यापार में आने वाली सभी बाधाओं को भी दूर किया। तथापि शैलेन्द्र साम्राज्य से उसके मैत्री सम्बन्ध पुन: विधिवत् बने रहे और चीनी राजदरबार से चोड़ों के पूर्वत: स्थापित दूतसम्बन्धों का तांता टूटा नहीं।

राजेन्द्र चोड़ सभी भारतीय शासकों की तरह ही धार्मिक क्षेत्र में पूर्ण सहिष्णु था और उसने जहाँ शैव मंदिरों का निर्माण कराया, वही वैष्णव मंदिरों का भी निर्माण कराया। तंजाऊर में उसका वृहदीश्वर मंदिर अपनी आधुनिक भग्नावस्था के बावजूद भी अपनी भव्यता की गवाही देता है। उसी की बगल में उसने दुर्गा का भी एक मंदिर बनवाया, जो उसके द्वारा बनवाये गये अम्मा अर्थात् दुर्गा के अनेक अन्य मंदिरों में प्रमुख[१] था।

चोड़ शासक अनेक विरुदों को धारण करने के शौकीन थे। उसका एक विरुद था **मुडिगोण्डचोल**(ड़) और दूसरा था **पण्डितचोड़**। मुडिगोण्डचोल(ड़) का अभिप्राय उसकी पाण्ड्य, केरल और सिंहल के राज्यों पर उसकी विजयें ही हैं। एक बार तो उसे वीरराजेन्द्र भी कहा गया है। किन्तु उसका सर्वप्रमुख विरुद था **गंगैकोण्डचोल**(ड़), जिसका अर्थ होता है गंग देश की विजय करने वाला (**कोण्ड** या **कोण्डा**) चोल(ड़) शासक। यह विरुद उसने वनवासी के गंगों पर विजय प्राप्त करने के उपलक्ष्य में धारण किया था। उसी उपलक्ष्य में उसने अपनी दूसरी राजधानी गंगैकोण्डचो(ल)ड़पुरम् की स्थापना की। इस नये नगर का नाम तिरुवालंगाडु अभिलेख में गंगापुरी [२]बताया गया है। किन्तु ऐतिहासिकों और पुरातत्त्वज्ञों के लिए खेद की बात यह है कि आजकल जैसे राजेन्द्र की एक अन्य वास्तुकीर्त्ति-वृहदीश्वर मंदिर, भग्न और जर्जर अवस्था में घासफूस के झुरमुटों सें अर्धलिपटी अवस्था में पड़ा हुआ है, उसी तरह उसका प्रिय नगर गंगैकोण्डचोल(ड़)-पुरम् भी अपनी ढही हुई दीवारों, अपने कड़े इमारती पत्थरों (ग्रैनाइट) के अवशेषों, सिंचाई हेतु पास में निर्मित तालाब की तलहटियों में भरे हुए बालू, धूल और सभी दिशाओं में उगे हुए घास के जंगलों के बीच केवल वहाँ के वृद्धों के इशारों मात्र से पहचाना जा सकता है। केवल इतना मात्र आभास हो सकता है कि यहाँ कभी कोई विशाल नगर था। नीलकान्त शास्त्री ने १९५५ ई० में चेन्नई (तत्कालीन मद्रास) से छपने वाले एक अखबार

---

१. देखें, स्थापत्य और कला सम्बन्धी अध्याय, पृष्ठ ४६३।

२. एपि० इण्डिका, जिल्द १५, पृष्ठ ४९।

का हवाला देते हुए गंगैकोण्डचोड़पुरम् की दुर्दशा का चित्र खीचा है[१]। तदनुसार, नगर "उदैयारपाड़ैय्यम् तालुका में स्थित था, जहाँ १६ मील लम्बा एक बांध है, जो उस समय के सबसे बड़े जलीय बंधे का किनारा था; ६० मील ऊपर बहने वाली कोलेनूर नदी के पानी से एक चौड़ी नहर द्वारा वह जलबन्ध भरा जाता था; जिसे भरने के लिए वेड्ड़ार नदी का भी पानी एक छोटी नहर से उसमें डाला जाता था। इन सबके अवशेष अभी भी दिखायी देते हैं, जलबन्ध नष्ट हो चुका है, उसके पेटे में जंगली पौधे और घासें उग गयी हैं। वहाँ बताया जाता है कि इसे किसी आक्रामक सेना ने जानबूझकर नष्ट कर दिया था। बन्धे की दक्षिणी छोर पर आज भी गंगाकुण्डपुरम् नामक एक गांव बसा हुआ है; नजदीक ही एक मंदिर है और पक्के इमारती (कड़े) पत्थरों के ढेर वहाँ बिखरे हुए हैं और वहाँ के वृद्ध ग्रामीण वहाँ एक पुराने महल के होने की बात बताते हैं।" "जब निचली कोलेरून ऐनीकट (नहर) अंग्रेजों के समय बनायी गयी तो गंगैकोण्डचोल(ड़)पुरम् के परकोटे वाली दीवार को तोड़कर तथा अन्य भवनों के इमारती पत्थरों को उखाड़कर उसके निर्माण के सामानों को जुटाया गया।"

राजेन्द्र चोड़ विद्या और विद्वानों का बहुत बड़ा आश्रयदाता था। उसकी **पाण्डिचोल**(ड़) वाली उपाधि का यही अभिप्राय था। दक्षिणी आर्काट जिले में स्थित एण्णायिरम् से प्राप्त उसके १०२५ ई० के एक अभिलेख[२] से ज्ञात होता है कि उसने वैष्णव संप्रदाय के एक वैदिक संस्थान को उसकी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु, ४२ वेल्लि[३] भूमि दान में दी थी। उस वैदिक कालेज में वेद, व्याकरण, मीमांसा और न्याय का अध्यापन १४ आचार्यों द्वारा किया जाता था। उनमें तीन **ऋग्वेद** पढ़ाते थे, चार **यजुर्वेद** पढ़ाते थे और दो **सामवेद** पढ़ाते थे। पाँच अध्यापकों को **सूत्रों** को पढ़ाने का काम सौंपा गया था। साथ ही वे अलग **रूपावतार** (व्याकरण बोधक ग्रंथ), व्याकरण, वेदान्त और **प्रभाकर** की मीमांसा का भी अध्ययन कराते थे। इन सबकी तनख्वाहें निश्चित थीं, जो धान (अन्न) के रूप में दी जाती थीं। इस शिक्षानीति को राजेन्द्र के पुत्रों ने भी चालू रखा।

प्रथम राजेन्द्र के उत्तराधिकारी

प्रथम राजेन्द्र ने अपने पुत्र राजाधिराज (१०४५-१०५२ ई०प०) को १०१८ ई० में ही अपना **युवराज** घोषित कर दिया था और वह राजेन्द्र के पूरे शासनकाल में सहशासक बना रहा। अपने पिता के अधिकांश युद्धों में वह चोड़ सेनाओं का संचालक भी रहा, और जब सिंहल, पाण्ड्य और केरल क्षेत्रों में विद्रोह उठ खड़े हुए तो उसने वीरता दिखाते हुए क्रूरतापूर्वक उन विद्रोहों को दबाया। राजेन्द्र के शासन के ही अन्तिम दिनों

---

१. इस अखबार का विवरण इण्डियन् ऐण्टीक्वेरी, जिल्द ४, पृष्ठ २७४ पर भी छपा था।
२. दि स्ट्रगल फॉर इम्पायर, पृष्ठ २४०।
३. एक वेल्लि लगभग डेढ़ एकड़ के बराबर होती थी।

में पश्चिमी चालुक्यों से चोड़ों के पुन: सैनिक संघर्ष प्रारंभ हो गये, जो १०५२ ई० में राजाधिराज की युद्धस्थल में ही मृत्यु तक चलते रहे। राजाधिराज ने अनेक चालुक्य नगरों और भवनों को धराशायी और मटियामेट किया तथा उसकी चालुक्यों पर कोप्पम् के युद्ध में विजय हुई और सोमेश्वर हारा। तथापि स्वयं राजाधिराज युद्धभूमि में ही मारा गया। उसका **युवराज** और छोटा भाई द्वितीय राजेन्द्र वहीं युद्धभूमि में ही राजा घोषित हुआ[१] और उसने चालुक्यों के विरुद्ध युद्ध जारी रखते हुए कोल्हापुर तक पहुँचकर वहाँ अपना एक विजयस्तम्भ (कीर्त्तिस्तम्भ) खड़ा किया। तथापि ऐसा नहीं लगता कि चोड़ों ने पश्चिमी चालुक्यों को कोई विशेष हानि पहुँचायी। चालुक्य राज्य का कोई भी भाग वे अपने अधिकार में नहीं ला सके।

राजाधिराज ने अपने पिता प्रथम राजेन्द्र की वैदिक विद्याओं को प्रोत्साहन देने की नीति चालू रखी और त्रिभुवनि (पाण्डीचेरी के पास) से प्राप्त १०४८ ई० का उसका एक अभिलेख यह बताता है कि ७२ वेल्लि भूमि का दान करके वैदिक शिक्षा के एक विद्यालय की उसने सहायता की, जहाँ २६० विद्यार्थी और १२ अध्यापक निवास करते थे। उसके उत्तराधिकारिओं के अभिलेखों में उसे **'अश्वमेधयाजिन्'** कहा गया है और ''हाथी की पीठ पर मृत्यु को प्राप्त करने वाला'' बताया गया है। यह निश्चित ही उसके युद्धभूमि में मारे जाने का द्योतक है।

द्वितीय राजेन्द्र (१०५२-१०६३ ई०प०)

द्वितीय राजेन्द्र की कोप्पम् के युद्ध (१०५२ ई०) में विजय प्राप्त करने का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। किन्तु पश्चिमी चालुक्य सोमेश्वर द्वारा वेंगी के पूर्वी चालुक्य राज्य में हस्तक्षेप के फलस्वरूप उसे उसपर दुबारा १०६२ ई० में आक्रमण करना पड़ा। उसने अपनी पुत्री मधुरान्तकी का विवाह वेंगी के राजकुमार राजेन्द्र[२] से कर दिया और इस वैवाहिक सम्बन्ध से दोनों वंशों में एकता हो गयी। यही राजेन्द्र आगे चलकर प्रथम कुलोत्तुंग नाम से प्रसिद्ध हुआ तथा चोड़ राज्य का स्वामी बना।

प्रथम वीरराजेन्द्र (१०६३-१०७० ई० प०)

द्वितीय राजेन्द्र के बाद उसका छोटा भाई प्रथम वीरराजेन्द्र चोड़ राजगद्दी पर बैठा। उसने भी १०६९-१०७० ई० में सोमेश्वर चालुक्य पर आक्रमण किया, किन्तु चालुक्य

---

१. कृष्णस्वामी आयंगार, ऐंश्येण्ट इण्डिया, पृष्ठ ६२४; साउथ इण्डियन् इन्स्कृप्शन्स्, जिल्द ५, १८९६ का ११४; एइ० जिल्द १५, पृष्ठ २३।

२. इस समय वेंगी तथा गंगैकोण्ड्चोड़पुरम् के क्रमश: पूर्वी चालुक्य और चोड वंश के अनेक राजकुमारों और राजाओं के कई नामों में एकरूपता है, जो बड़ा ही भ्रमकारक है। ऐसी ही दशा साम्राज्यभोगी गुप्त सम्राटों, उनकी रानियों और राजकुमारों के नामों के समान ही असम राज्य में कुछ एकदम समकालिक नामों की भी प्राप्त होती है।

सेनाओं के युद्धस्थल पर न आने के कारण वह केवल एक विजयस्तम्भ मात्र स्थापित करके अपनी राजधानी लौट आया। चोल(ड़) अभिलेख उसके द्वारा पाँच बार सोमेश्वर को हराने का दावा करते हैं और वेंगी पर उसकी अधिसत्ता बताते हैं। उसे सिंहल में एक विद्रोह को भी दबाना पड़ा। १०६९ ई० में कड़ारम् क्षेत्र में अपने किसी मित्र को राज्यासीन करने हेतु भी उसे युद्धरत होना पड़ा। आगे जब कल्याणी के चालुक्य राज्य में द्वितीय सोमेश्वर और षष्ठ विक्रमादित्य के बीच राजगद्दी हेतु युद्ध छिड़ा तो उसमें भी उसने षष्ठ विक्रमादित्य की ओर से हस्तक्षेप किया था[१]। १०६७ ई० का एक अभिलेख तिरुमुकूडाल (चिंगलपुत्त जिला) में एक वैदिक कालेज और उसके छात्रावास के लिए उसके द्वारा दिये जाने वाले दान का उल्लेख करता है।

वीरराजेन्द्र का उत्तराधिकारी हुआ उसका पुत्र अधिराजेन्द्र, जिसका यौवराज्यकाल और स्वतंत्र राज्यकाल दोनों ही मिलाकर दो वर्षों (१०६८-१०७० ई०) से अधिक का नहीं था। उसकी मृत्यु अप्राकृतिक रूप से हुई और उसके बाद उत्तराधिकार प्रथम कुलोत्तुंग को प्राप्त हुआ। फलत: अधिराजेन्द्र के साथ ही विजयालय द्वारा पुनर्स्थापित चोड़ वंश का अन्त हो गया और प्रथम कुलोत्तुंग के माध्यम से एक बार फिर नये सिरे से उसका उद्भव हुआ। किन्तु इससे संबद्ध परिस्थितियाँ कुछ इस प्रकार उलझी थीं कि उनका ठीक प्रकार पूर्वापर, कारण और परिणाम निश्चित करना कठिन है। इस समय के जितने भी ग्रंथ अथवा अभिलेख हैं, वे परस्पर भिन्न-भिन्न रूप में, संभवत: पक्षपात सहित, चोड़ राज्य के इस उत्तराधिकार क्रम का विवरण देते हैं।

द्वितीय राजेन्द्र अर्थात् प्रथम कुलोत्तुंग (१०७०-११२० ई० प०)

गंगैकोण्डचोड़पुरम् के चोड़ शासकों ने वेंगी के पूर्वी चालुक्यों को कल्याणी के पश्चिमी चालुक्यों के चंगुल में फंसकर उनकी अधिसत्ता में चले जाने से बचाने हेतु, उनके परिवार से कई विवाह सम्बन्धों को स्थापित किया[२]। साथ ही द्वितीय सोमेश्वर के बाद जब कल्याणी के राजदरबार में उत्तराधिकार का युद्ध प्रारंभ हो गया तो चोड़ों को अपनी ओर मिला लेने हेतु षष्ठ विक्रमादित्य ने भी एक चोड़ राजकुमारी से विवाह कर लिया। प्रथम कुलोत्तुंग द्वितीय राजेन्द्र की पुत्री मधुरान्तकी से ब्याहा गया था और वही विवाह आगे चलकर उसके द्वारा चोड़ राजगद्दी प्राप्त कर लेने का माध्यम बना। यद्यपि विक्रमादित्य ने चोड़ राजधानी की ओर कूच करके अपने साले को राजगद्दी दिलाने का प्रयत्न किया

---

१. दि स्ट्रगल फॉर इम्पायर, पृष्ठ २४२।

२. आर्० सतियनाथियेर, दि स्ट्रगल फॉर इम्पायर के शब्दों में द्वितीय राजेन्द्र, प्रथम कुलोत्तुंग चोड़, दो प्रकारों से प्रथम राजराज महान् का नाती था। उसकी मां अमंगादेवी प्रथम राजेन्द्र चोड़ की पुत्री थी और उसका पिता (पूर्वी चालुक्य शासक प्रथम राजराज) चोड़ शासक प्रथम राजराज की कुण्डवै नामक पुत्री का पुत्र था। इस प्रकार से प्रथम कुलोत्तुंग ७५% चोड़ था।

था, किन्तु उसमें वह असफल ही रहा। ऐसा मत भी व्यक्त किया गया है कि प्रथम कुलोत्तुंग चोड़ शासक द्वारा गोद ले लिया गया था[१]। किन्तु वीरराजेन्द्र के अभिलेखों, स्वयं कुलोत्तुंग के अभिलेखों, **विक्रमांकदेवचरित** तथा **विक्रमशोलनऊला** जैसे ग्रथों में उसके गोद लिये जाने का कोई उल्लेख नहीं मिलता। इसका भी कोई प्रमाण नहीं है कि उसका चोड़ राजदरबार में ही पालन पोषण हुआ था। वस्तुत:, वीरराजेन्द्र की मृत्यु के उपरान्त चोड़ राज्य में जो अव्यवस्था फैली, उसका लाभ उठाते हुए ही उसने चोड़ राजगद्दी प्राप्त कर ली। कल्याणी के शासक षष्ठ विक्रमादित्य का उसके विरुद्ध वह हस्तक्षेप भी कोई काम नहीं कर सका, जिसकी विशद चर्चा बिल्हण अपने **विक्रमांकदेवचरित** काव्य में करता है। फलत:, चोड़ राजगद्दी पर कुलोत्तुंग के आसीन होने से वेंगी और गंगैकोण्डचोड़पुरम् की दो राजधानियों से शासित होने वाले पूर्वी चालुक्य और चोड़ों के दोनों राज्य एकीकृत सत्ता के भीतर आ[२] गये।

प्रथम कुलोत्तुंग के राज्यारोहण के साथ एक नवचोड़ सत्ता का नया अध्याय प्रारंभ हुआ। उसने वेंगी में अपने पुत्र को अपना वाइसराय नियुक्त कर दिया और पश्चिमी चालुक्यों के कुचक्रों के प्रतिवारण के लिए उसका द्वार ही बन्द कर दिया। उसने अनावश्यक युद्धों से परहेज किया और तुंगभद्रा नदी के दक्षिणी किनारों सहित गंगपाडि (गंगवाड़ि, कदम्ब क्षेत्र) पर चालुक्यों को अधिकृत हो जाने से भी रोका नहीं। मैसूर के कुछ भागों को जब होयसड़ों ने हथिया लिया तो भी वह कुछ दिनों के लिए चुप लगा गया। वास्तव में वेंगी (कदम्ब क्षेत्र) का उसके हाथ से निकल जाना अल्पकालिक ही साबित हुआ और कुलोत्तुंग के उत्तराधिकारिओं ने उसे पुन: प्राप्त कर लिया।

"कुलोत्तुंग के राजनय की बुद्धिमानी इस बात में निहित है कि उसने अपने लक्ष्यों का निर्धारण अपने साधनों के अनुपात में ही किया; उसने संभव महद् को छोड़कर असंभव महत्तर को कभी नहीं चाहा और अपनी महत्ता की भावनाओं के अनुरूप अपनी प्रजाओं की भलाई करने में ही अपने को लगाया। उसने अपनी प्रजाओं के लिए एक शताब्दी तक बनी रहने वाली शान्ति और सुशासन को सुनिश्चित किया[३]।"

१०७० ई० के बाद अगले ५० वर्षों के शासनकाल में उसने कई सफलताएँ हासिल कीं। **कलिंगत्तुप्परणि** और स्वयं कुलोत्तुंग के अभिलेखों से यह प्रमाणित होता है कि चोड़ राजगद्दी पर उसके आसीन होने के पूर्व वहाँ जो अशान्ति और अव्यवस्था थी, उसका उसने अंत किया। वेंगी और गंगैकोण्डचोड़पुरम् की क्रमश: पूर्वी चालुक्य और चोड़ सत्ताओं के कुलोत्तुंग के माध्यम से एकीकरण को पश्चिमी चालुक्य षष्ठ विक्रमादित्य

१. यह विवरण द्वितीय कुलोत्तुंग के राजदरबारी कवि द्वारा कलिंगत्तुप्परणि में प्राप्त होता है।
२. दि चोड़ज़्, पृष्ठ २९७।
३. वहीं,

कभी भी अपने गले नहीं उतार सकता था और उसने तुरंत कुलोत्तुंग का विरोध प्रारंभ कर दिया। कुलोत्तुंग ने बुद्धिमानीपूर्वक विक्रमादित्य के बड़े भाई और पश्चिमी चालुक्यों की कल्याणी वाली राजगद्दी के वास्तविक शासक (सोमेश्वर) को अपनी ओर मिला लिया[१]। बिल्हण अपने **विक्रमांकदेवचरित** में विक्रमादित्य की ओर से लड़ने वाले अनेक सरदारों और सामन्तों की एक लम्बी सूची देता है और कुलोत्तुंग की पराजय का उल्लेख करता है। किन्तु चोड़ अभिलेखों में ठीक इसके विपरीत विवरण प्राप्त होते हैं। तदनुसार, विक्रमादित्य की सेनाएँ चोड़ राज्य में कोलार जिले तक चढ़ गयीं, किन्तु चोड़ सेनाओं ने उन्हें पीछे तुंगभद्रा के किनारों तक ढकेल दिया[२]। **विक्रमशोलनऊला** में तो यहाँ तक कहा गया[३] है कि कुलोत्तुंग कोंकण और कन्नड़ प्रदेशों को जीतता हुआ पश्चिमी समुद्र तट तक पहुँच गया। इस क्रम में उसने वनवासी को भी अधिकृत कर लिया होगा। किन्तु उसका यह अधिकार बहुत थोड़े दिनों तक ही बना रहा।

विक्रमादित्य के विरुद्ध युद्धों से मुक्ति पा जाने के बाद कुलोत्तुंग को दक्षिण दिशा की ओर उन्मुख होना पड़ा। वास्तव में प्रथम राजेन्द्र की मृत्यु के बाद चोड़ सत्ता संभालने वाले उसके उत्तराधिकारिओं की आपेक्षिक कमजोरी और पाण्ड्य तथा सिंहल राज्यों में चोड़ों की अधीनता से सर्वदा मुक्त हो जाने के प्रयत्नों के बीच वहाँ के चोड़ शासन की जड़ें बिल्कुल हिल गयी थीं। अत: उन्हें चोड़ों के वास्तविक प्रशासकीय अधिकार में बनाये रखना असंभव था। सिंहल तो चोड़ों के हाथ से बिल्कुल ही जाता रहा और उसने अपनी स्वतंत्रता घोषित कर दी। किन्तु पाण्ड्य और केरल में होने वाले विद्रोहों को दबाने में कुलोत्तुंग ने अपनी सारी शक्ति लगा दी। **कुलोत्तुंग-शोलन** तथा **पिड़ड़यैतमिड़** जैसे ग्रथों से इन उपद्रवों से सम्बद्ध अनेक युद्धों के विवरण प्राप्त होते हैं। पाण्ड्य देश के इस प्रथम चक्र के उपद्रवों को शान्त कर देने में कुलोत्तुंग की सफलताओं के बावजूद भी सम्बद्ध युद्धों के १५वें १६वें वर्षों में वहाँ पुन: विद्रोह की आग जल उठी। किन्तु कुलोत्तुंग के बहुप्रसिद्ध सेनापति नरलोकवीर ने इन्हें दबाकर पुन: पाण्ड्य क्षेत्र में चोड़ सत्ता प्रतिष्ठापित कर दी। इसके बाद के वहाँ से अनेक चोड़ अभिलेख प्राप्त होते हैं, जो कुलोत्तुंग के शासन के २८वें वर्ष के बाद के हैं।

वेंगी में कुलोत्तुंग ने सप्तम विजयादित्य को अपने गवर्नर के रूप में नियुक्त किया था। किन्तु उन दोनों के बीच सम्बन्ध बहुत अच्छे नहीं रहे। विजयादित्य की मृत्यु के बाद कुलोत्तुंग ने अपने पुत्र राजराज **मुमुडिचोड़** को ही वहाँ का गवर्नर नियुक्त कर दिया। किन्तु उसने एक वर्ष के भीतर ही वह पद त्याग दिया। उसके बाद वहाँ बारी-बारी से अनेक चोड़ राजकुमार गवर्नरों के रूप में नियुक्त किये जाते रहे।

---

१. विक्रमांकदेवचरित, षष्ठम्, २६-२७; ३८-३९ और ५४।
२. इसके विवरण कलिंगत्तुप्परणि (१३वाँ, ६२) में भी मिलते हैं।
३. नीलकान्त शास्त्री, दि चोड़ज़्, पृष्ठ ३०८।

किन्तु आगे चलकर वेंगी कलिंग के विरुद्ध चोड़ों के सैनिक अभियान का कारण बना। वास्तव में कलिंग वेंगी के उत्तरी भागों पर अपने अधिकार की तलाश में था, जो चोड़ राज्य को कभी भी सह्य नहीं हो सकता था। फलत:, चोड़ सेनाओं ने कलिंग पर चढ़ाई कर दी और उसके दक्षिणी भूभागों को हथियाकर उसे वेंगी के साथ मिला दिया। इस युद्ध का चोड़ संचालक विक्रम चोड़ था। गोदावरी नदी और महेन्द्र पर्वत के बीच का दक्षिणी कलिंग वाला भाग चोड़ राज्य का अंग बन गया। किन्तु कलिंग के विरुद्ध होने वाले अभियान का यह पहला दौर ही था और बाद में उसका एक दूसरा दौर भी १११० ई० के आसपास चला। इस दूसरे अभियान का सेनापति करुणाकर था। इसके विशद विवरण स्वयं कुलोत्तुंग के अभिलेखों और **कलिंगत्तुप्परणि** में प्राप्त होते हैं। चोड़ सेनाएँ उत्तरी कलिंग तक पहुँच गयीं। इस युद्ध का कारण यह बताया गया है कि कलिंगराज ने वार्षिक कर अथवा भेंट चोड़ राजदरबार को भेजनी बन्द कर दी थी। इस समय कलिंग का शासक अनन्तवर्मन् चोडगंग (१०७८-११४७ ई०) था, जो चोड़ राजदरबार से वैवाहिक सम्बन्धों[१] से बँधा होने के बावजूद भी चोड़ आक्रमण का शिकार हुआ। वास्तव में राजनीतिक और सैनिक महत्त्वाकांक्षाओं के आगे आपसी (वैवाहिक) सम्बन्ध कभी भी बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं होते। किन्तु अपने शासन के अन्तिम वर्षों में कुलोत्तुंग को गंगवाडि और नोलम्बवाडि तथा तलक्काड़ से हाथ धोना पड़ा, जिनपर होयसड़ों ने अधिकार जमा लिया। विष्णुवर्धन होयसड़ के अभिलेखों में कथित है कि उसकी सेनाओं[२] ने रामेश्वरम् तक धावा बोला। यही नहीं, चालुक्य शासक षष्ठ विक्रमादित्य ने भी १०१८ ई० में वेंगी पर अधिकार जमा लिया। वहाँ से उसे हटाने का कुलोत्तुंग ने कोई प्रयत्न नहीं किया।

वैदेशिक और अन्तर राज्यीय सम्बन्ध

सांग वंश के चीनी इतिहास ग्रंथों से यह ज्ञात होता है कि १०७७ ई० में चोड़ राज्य से एक दूतमण्डल चीनी राजदरबार में भेजा गया था। भूलवश वहाँ चोड़ शासक का नाम देव कुलो (त्तुंग) और चोड़ देश का नाम ति-हुआ-किया-लो (चूलियन्) दिया गया है। चूलियन् का चोड़ या चोल से मिलान तो स्पष्टत: ठीक बैठता है। किन्तु देव-कुलो(त्तुंग) देवकुल अथवा दिवाकर पढ़ा जा सकता है। किन्तु जो तिथि (१०७७ ई०) दी गयी है, उससे यह निश्चित है कि देव-कुलो (त्तुंग) कुलोत्तुंगदेव ही था। दूतमण्डल में कुल ७० व्यक्ति थे और जो भेंटे (उपहार) वे चीनी शासक के लिए ले गये थे, उसके बदले में उन्हें ८१८०० ताम्र (सिक्के) नकद के रूप में दिये गये। चीनी साक्ष्यों में सर्वदा

---

१. उड़ीसा का शासक राजराज देवेन्द्रवर्मा (१०७८ ई०) चोड़ राजकुमारी राजसुन्दरी से ब्याहा था। उसी का पुत्र था अनन्तवर्मा चोड़-गंग (१०७८-११४७)। देखें, उत्तर भारत का राजनीतिक इतिहास, पृष्ठ २९८-३००।

२. विष्णुवर्धन ने उपर्युक्त क्षेत्रों पर अपना अधिकार जमा लेने के बाद तलकाडुगोण्ड की उपाधि धारण की। देखें, स्ट्रगल, फॉर इम्पायर, पृष्ट २४४।

ही बाहर से आने वाले दूतों को चीनी अधिसत्ता की स्वीकृति के रूप में और उपहारों को 'कर' के रूप में चित्रित किया गया[१] है। चीनिओं की यह आदत भी थी कि वे शक्तिशाली से शक्तिशाली विदेशी शासकों के दूतों को भी उचित सम्मान और स्वागत नहीं देते थे। इस समय भेंट किये जाने वाले इन उपहारों को भी वे 'कर' ही कहते हैं। इन उपहारों में शीशे वाले सामान, कपूर, चिकन (कामदार कपड़े), गैंडों की सींगें, हाथीदाँत, सुगन्ध, गुलाबजल, हींग, सुहागा और लवंग आदि ही सम्मिलित थे, जो सभी शोभा और उपभोग की वस्तुएँ थीं। उन्हें 'कर' (**ट्रिब्यूट**) की संज्ञा देना चीनी लोगों की निजी महत्ता वाली ग्रंथि का ही द्योतक है। वास्तव में भारतीय दूतों को लौटते समय चीनी दरबार से जो (भेंटें) प्राप्त हुईं, उनका मूल्य तो भारतीय उपहारों की अपेक्षा बहुत ही अधिक प्रतीत होता है।

चोड़ साम्राज्य के श्रीविजय के शैलेन्द्र साम्राज्य से क्या और कैसे संबंध थे, इसका ठीक-ठीक स्वरूप साक्ष्यों के परस्पर विरोधों के कारण निश्चित कर सकना कठिन प्रतीत होता है। **कलिंगत्तुप्परणि**[२] में एक आकस्मिक संदर्भ यह है कि कुलोत्तुंग ने कडारम् को विनष्ट कर दिया। वहीं, मा-टवान्-लिन् का चीनी साक्ष्य इस बात की ओर इंगित करता है कि चीनी राजदरबार में श्रीविजय और चोड़ दोनों ही दरबारों द्वारा भेजे गये दूतमण्डलों में श्रीविजय के दूतमण्डल को चोड़ दूतमण्डल की अपेक्षा श्रेष्ठतर स्थान दिया गया। तदनुसार, १०६८-७७ ई० के बीच चोड़ सत्ता श्रीविजय के साम्राज्य के अधीन थी[३]। इसके विपरीत वीरराजेन्द्र (चोड़राज) का दावा है कि उसने श्रीविजय की राजगद्दी के एक दावेदार को अपनी एक सेना भेजकर १०६८ ई० में शैलेन्द्र राजगद्दी पर बिठाने में सहायता की थी। कथित है कि उस दावेदार ने वीरराजेन्द्र की सहायता मांगी थी। यह भी ज्ञात है कि १०९० ई० में श्रीविजय के शासक ने कुलोत्तुंग के राजदरबार में एक दूतमण्डल भेजकर उससे यह अनुरोध किया कि नागपट्टन में जो विहार (श्री शैलेन्द्र चूड़ामणि विहार) राजराज और प्रथम राजेन्द्र के समय श्रीविजय के राजाओं ने बनवाये थे, उनको दान में दिये गये गांवों की गिनती के साथ पुन: ताम्रपत्र प्रकाशित[४] किये जाँय तथा कर माफ कर दिये जाँय। सम्बद्ध लेख में भेजे गये दो दूतों के नाम दिये गये हैं– राजविद्याधर श्रीसामन्त और अभिमानोत्तुंगसामन्त। अत: निष्कर्ष यह निकलता है कि श्रीविजय के शैलेन्द्र राज्य और चोड़ राज्य के बीच सम्बन्ध मित्रतापूर्ण ही थे और उन दोनों में कोई टकराव नहीं था। इसका एक और प्रमाण सुमात्रा से प्राप्त होता है। लोबो-तोआ

---

१. जर्नल् ऑफ् दि रॉयल एशियाटिक सोसायटी, लन्दन, १८९६, पृष्ठ १९०; चाऊ-कु-जुआ, पृष्ठ १०० ।

२. षष्ठम्, श्लोक १३ ।

३. उद्धृत, नीलकान्त शास्त्री, दि चोड़ज्, पृष्ठ ३१७ ।

४. लघु लिडेन ताम्रपत्र, आर्केलाजिकल् सर्वे ऑफ् साउदर्न इण्डिया, चतुर्थ, पृष्ठ २२४; द्वितीय, पृष्ठ ६-७; और पृष्ठ ३९-४० ।

से प्राप्त १०१८ ई० (१०८८ शक संवत्) का एक अभिलेख वहां तमिल व्यापारिओं के एक संघ समूह का उल्लेख करता[१] है ।

भारतवर्ष के भीतरी राज्यों से भी कुलोत्तुंग के मधुर और मित्रतापूर्ण सम्बन्धों की जानकारी मिलती है । गंगैकोण्डचोड़पुरम् के एक मंदिर में गाहडवाल शासक (या तो मदनपाल अथवा गोविन्दचन्द्र–१११४-११५४ ई०) की एक प्रशस्ति उत्खचित है । यह प्रशस्ति खण्डित है, किन्तु गाहड़वाल वंश की प्रशस्ति के साथ वह कुलोत्तुंग के नामोल्लेख सहित उसके शासन के ४१वें वर्ष का उल्लेख करती है । संभव है, दोनों राजवंशों के बीच कोई वैवाहिक संबंध उनकी आपसी मित्रता का आधार रहा हो । साथ ही, गोविन्दचन्द्र के ११२९ ई० के एक ताम्रपत्राभिलेख में चोड़ देश के निवासी वागीश्वररक्षित का उड़ीसा के शाक्यरक्षित के शिष्यरूप में उल्लेख हुआ है ।[२]

अन्य चोड़ शासकों की तरह कुलोत्तुंग को भी विरुदों से बहुत लगाव था । उसके प्रारंभिक अभिलेखों में तो उसका मूल नाम राजेन्द्र ही मिलता है, किन्तु बाद में वह सर्वत्र **कुलोत्तुंग** ही कहा गया है जो एक विरुद ही है । इसके अतिरिक्त वह **राजकेसरी** और **परकेसरी** भी कहलाता था । **त्रिभुवनचक्रवर्ती, सर्वलोकाश्रय, विष्णुवर्धन, विक्रमचोड़** और **कुलशेखर-पाण्ड्य-कुलान्तक** उसकी अन्य उपाधियाँ थीं[३] ।

कुलोत्तुंग के दो सेनापतिओं-नरलोकवीर और करुणाकर के नाम भी उसके अभिलेखों में प्राप्त होते[४] हैं, जिन्होंने क्रमश: पाण्ड्य देश के विद्रोहों को दबाकर वहाँ चोड़ सत्ता पुन: स्थापित की थी तथा कलिंग देश की विजय की थी । ये दोनों कुलोत्तुंग की मृत्यु के बाद भी जीवित रहे और कुछ वर्षों तक विक्रम चोड़ की भी सेवा करते रहे ।

प्रथम कुलोत्तुंग एक उच्चकोटि का प्रशासक था और ऐसा प्रतीत होता है कि वह युद्धों में अधिक रुचि न लेकर अपनी प्रजा की भलाई के कामों में अधिक रुचि लेता था । उसके अभिलेखों से ज्ञात होता है कि उसने अनेक करों को समाप्त कर दिया और **शुंगनदविरत्त** की उपाधि धारण की[५] । किन्तु इनका कोई ब्योरा नहीं प्राप्त होता । उसने

---

१. नीलकान्त शास्त्री, दि चोड़ज़्, पृष्ठ ३१९ ।
२. वहीं, पृष्ठ ३२५; स्ट्रगल फॉर इम्पायर, पृ० २४२ ।
३. दि चोड़ज़्, पृष्ठ ३३०-३३१ ।
४. वहीं, पृष्ठ ३३३-३३४ ।
५. स्ट्रगल फॉर इम्पायर, पृष्ठ २४४; साउथ इण्डियन् इन्स्कृप्शन्स्, जिल्द ८, सं० २२३ तथा ऐनुअल् रिपोर्टस् ऑन् एपिग्राफी १९०७ का ४४वाँ ।

१०८६ ई० में सारे राज्य की भूमि का एक नया सर्वेक्षण कराया[१] तथा दूसरा सर्वेक्षण १११० ई० में कराया। यह शुद्ध संयोग ही कहा जा सकता है कि १०८६ ई० में ही इंगलैण्ड में भी **डोम्सडेबुक** नामक भूमि-सर्वेक्षण कराया गया था।

प्रथम कुलोत्तुंग के उत्तराधिकारी : विक्रम चोड़ (११२०-११३३ ई०)

प्रथम कुलोत्तुंग का उत्तराधिकारी हुआ उसका पुत्र विक्रम चोड़। ११२० ई० में कुलोत्तुंग की मृत्यु के दो वर्षों पूर्व–१०१८ ई० से ही वह शासन से सम्बद्ध हो चुका था। उसकी प्रशंसा में राजकवि ओट्टकुट्टन ने **कलिंगत्तुप्परणि** और कुछ **ऊलाओं** की रचना की। विक्रम चोड़ ने ११२६ ई० में षष्ठ विक्रमादित्य की मृत्यु का लाभ उठाते हुए वेंगी पर पुनः चोड़ों का अधिकार जमा लिया। साथ ही, उसने कोलार सहित गंगवाडि के कुछ भागों वाले आधुनिक मैसूर से होयसड़ों को हटाकर वहाँ चोड़ अधिकार पुनः स्थापित कर लिया। दुर्भाग्यवश ११२५ ई० में उसे उत्तरी और दक्षिणी आर्काट जिलों में भयंकर बाढों और अकाल का सामना करना पड़ा। किन्तु ११२८ ई० का वर्ष उसके लिए यादगार रहा, जब उसने चिदंबरम् स्थित प्रसिद्ध नटराज मंदिर को प्रभूत दान दिया। **त्यागसमुद्र** और **अकलंक** जैसी उसकी उपाधियाँ उसकी दानशीलता का परिचय देती हैं। ११२१ ई० का उसका एक अभिलेख तिरुवाडुतुरू स्थित एक चिकित्सा विद्यालय का उल्लेख करता है, जहाँ **चरकसंहिता** और **अष्टाङ्गहृदयसंहिता** जैसे ग्रंथों का अध्यापन किया जाता था।

द्वितीय कुलोत्तुंग (११३५-११५० ई०)

अपने पिता विक्रम चोड़ की मृत्यु (११३५ ई०) के बाद ही द्वितीय कुलोत्तुंग पूर्णस्वतंत्र शासक के रूप में राज्यस्थ हुआ। उसने भी धार्मिक दानों की परंपरा कायम रखी। किन्तु उसके ऊपर एक काला धब्बा यह है कि उसने वैष्णवों पर अत्याचार किये तथा गोविन्दराज की मूर्ति को समुद्र में फेंकवा दिया। किन्तु उसका शासनकाल ओट्टकुट्टन (**कलिंगत्तुप्परणि** के रचयिता), शेक्किलार (**पेरियप्पुराणम्** के रचयिता) तथा कम्बन (**कम्बन रामायण** के रचयिता) जैसे विद्वानों के संरक्षण का काल था।

द्वितीय राजराज (११५०-११७३ ई०)

द्वितीय राजराज के समय पाण्ड्य राज्य में विभिन्न पक्षों के बीच उत्तराधिकार का युद्ध छिड़ गया, जिसमें सिंहल के राजा ने हस्तक्षेप किया। फलतः, चोड़राज को भी हस्तक्षेप करना पड़ा। उसने कुलशेखर के पक्ष में एक निर्णायक युद्ध में विजय प्राप्त की और वीर पाण्ड्य (पराक्रम पाण्ड्य के पुत्र) को पाण्ड्य राजगद्दी पर बिठा दिया। किन्तु बाद में शीघ्र ही चोड़ों ने कुलशेखर को ही राजा बना दिया। किन्तु चोड़ों और सिंहलिओं

१. स्ट्रगल फॉर इम्पायर, पृष्ठ २४४।

के द्वारा बार-बार अपने-अपने पक्ष बदलते रहने के कारण पाण्ड्य राज्य में फैली अव्यवस्था कई दशकों आगे तक चलती रही ।

तृतीय कुलोत्तुंग (११७८-१२१६ ई०)

द्वितीय राजाधिराज का तृतीय कुलोत्तुंग से सम्बन्ध क्या था, यह ज्ञात नहीं है । किन्तु वही उसका उत्तराधिकारी हुआ । उसके समय भी पाण्ड्य दरबार के षड्यन्त्र और इधर-उधर पाला बदलने का क्रम जारी रहा, जिसके ब्यौरों में पड़ने की यहाँ आवश्यकता नहीं है । तृतीय कुलोत्तुंग की सर्वप्रमुख उपलब्धि ११९०-११९४ ई० के बीच कभी आंध्र क्षेत्र के कोंगुदेश पर चोड़ों द्वारा अधिकार कर लेना थी । दक्षिणी और उत्तरी आर्काट के जिलों में उसने अपने अधीनस्थ सामन्तों को बैठा दिया और उन दोनों के बीच आपसी सम्बन्ध ठीक ही बने रहे । किन्तु ११९६ ई० के आसपास कुलोत्तुंग ने उन सामन्तों से कांची नगर छीन लिया । गंगैकोण्डचोड़पुरम् अब भी चोड़ राजधानी बनी रही । तेलुगूचोड़ क्षेत्रों पर उसका अधिकार बना रहा, किन्तु उन क्षेत्रों में भी १२०१-१२०२ ई० के आसपास अकाल पड़े, जिनकी सहायता में राज्यातिरिक्त संस्थाएँ भी लगायी गयीं । उसकी योग्यताओं के कारण उसके समय तक चोड़ साम्राज्य अपनी पूरी शक्ति और सम्पन्नता के साथ बना रहा । किन्तु कई दृष्टियों से चोड़ साम्राज्य का वही अन्तिम मुख्य शासक था ।

तृतीय कुलोत्तुंग के बाद भी द्वितीय राजराज (१२१६-१२४६ ई०) तथा तृतीय राजेन्द्र (१२४६-१२७९ ई०) चोड़ राजगद्दी पर बैठे, किन्तु उनकी कमजोरी के कारण सभी क्षेत्रों में उपद्रव और विद्रोहों का क्रम प्रारंभ हो गया और फलस्वरूप चोड़ नाम की महान् सत्ता तिरोहित हो गयी ।

चोड़ साम्राज्य का पतन

जन्म-मरण, उत्थान और पतन प्रकृति के नियम हैं । साम्राज्यों के पतन के समान कारण रहे हैं–उत्तरवर्ती राजाओं की व्यक्तिगत कमजोरियाँ और अयोग्यताएँ, भीतरी विद्रोह और बाहरी आक्रमण, उत्तरोत्तर बढ़ती आर्थिक कमजोरियाँ, राजस्व और व्यापार की उत्तरोत्तर होती कमी, केन्द्रीय सत्ता की ढीलाई तथा अधीनस्थ राज्यों और सामन्तों द्वारा स्वतंत्र होकर अपनी निजी सत्ताओं के स्थापन के प्रयत्न आदि इन कारणों में मुख्य रूप में गिनाये जा सकते हैं । चोड़ सत्ता भी इनका अपवाद सिद्ध नहीं हुई । अत: संक्षेप में उसके पतन का चित्र खींचा जाना चाहिए ।

विजयालय के राज्यारोहण (८५० ई० प०) से प्रारंभकर तृतीय कुलोत्तुंग (१२१६ ई० प०) तक चोड़ सत्ता का लगभग ४०० वर्षों का लम्बा जीवन अपनी दीर्घावधि की दृष्टि से अप्रतिम रहा प्रतीत होता है । इस बीच प्रथम राजराज (९८५ ई०) से प्रथम कुलोत्तुंग (११७० ई०) तक तो उसका साम्राज्य काल ही लगभग दो सौ वर्षों का रहा । किन्तु पूरी तरह सम्राट् का पद और सुख भोगने वाले उसके तीन ही सदस्य-

प्रथम राजराज, प्रथम राजेन्द्र और राजाधिराज-मात्र रहे। प्रथम कुलोत्तुंग के समय से चोड़ सत्ता का पराभव प्रारंभ हो गया। कुलोत्तुंग का समकालिक पश्चिमी चालुक्य शासक षष्ठ विक्रमादित्य उससे बहुत ही अधिक महत्त्वाकांक्षी और सैनिकता में बढ़-चढ़कर था। उसने वेंगी और गंगवाडि सहित चोल(ड़) साम्राज्य के उत्तर-पश्चिमी भागों में अपने सैनिक दबावों द्वारा उन्हें तुंगभद्रा नदी के उत्तर ही बंधे रहने को विवश कर दिया। साथ ही, पूर्वी चालुक्यों के राज्य और उनके राज्याधिकार वाले युद्धों तथा संघर्षों में बार-बार हस्तक्षेप करके उसने कुलोत्तुंग को सर्वदा ही उलझाये रखा। कुलोत्तुंग चोड़-पूर्वी चालुक्य वैवाहिक सम्बन्धों[१] और वेंगी के आन्तरिक मामलों में भरसक कम से कम हस्तक्षेप करते हुए वहाँ चोड़ प्रभाव को संरक्षित रखने में सफल तो रहा, किन्तु उसे वेंगी और गंगैकोण्डचोड़पुरम् की राजगद्दियों को एक करने में सफलता नहीं प्राप्त हुई। उसी के समय सिंहल का राज्य प्राय: पूरी तरह स्वतंत्र हो गया और पाण्ड्य तथा केरल के अधीनस्थ राज्यों में बार-बार होने वाले विद्रोहों का उसे सामना करना पड़ा। आगे पाण्ड्य राज्य में उत्तराधिकार के युद्ध छिड़ गये और लंका के शासकों का हस्तक्षेप उनमें बढ़ गया, जो चोड़ राज्य के हस्तक्षेप का भी कारण बना।

यद्यपि कुलोत्तुंग ने प्रशासन के क्षेत्र में प्रजा की भलाई के अनेक कार्य किये, भूमिसर्वेक्षण कराया और राजकीय राजस्वों की वसूली की नयी व्यवस्था की, इस बात के उदाहरण भी हैं कि अनेक पुराने जोतदारों ने राजकीय कर चुकाना ही बन्द कर दिया था[२]। उसके समय से सामन्तों के राज्यशासन में अधिकाधिक नियुक्ति होने लगी और उनके अधिकारों की सीमाएँ बढ़ती गयीं[३]। विभिन्न प्रशासकीय इकाइयों में जबसे वे **दण्डनायक** और **महादण्डनायक** की उपाधियों के साथ नियुक्त होने लगे, तो वे अपने अधिकारों को बढ़ाते हुए स्वयं भी स्वतंत्र हो जाने के प्रयत्न करने लगे। वेतन के बदले उन्हें सेवाभूमि देने की जो प्रथा थी, उसके फलस्वरूप केन्द्रीय प्रशासन की पकड़ नीचे की प्राशासनिक इकाइयों पर ढीली होने लगी और 'राज्य के भीतर राज्य' (**इम्पीरियाएट इम्पीरियो**) की अवस्था उभरने लगी। तृतीय कुलोत्तुंग का समय आते-आते (११६३-१२१६ ई०) यह प्रवृत्ति अपनी चरमबिन्दु को छू चुकी थी। केन्द्रीय और क्षेत्रीय सामन्तीय सत्ताएँ समानान्तर रूप में उठ खड़ी हुईं, जिनकी एक ही परिणति होने वाली थी–चोड़ सत्ता का तिरोहण। यद्यपि चोड़ सत्ता का ऊपरी स्वरूप और शरीर वही था, जो उसकी चरमोन्नति के समय था, उसकी आत्मा जर्जर हो चुकी थी।

---

१. देखें, पीछे पृष्ठ ४०८ और आगे।
२. दि चोड़ज़्, पृष्ठ ५०२।
३. वहीं, पृष्ठ ३७३-३७४।
४. वहीं, पृष्ठ ४०७।

कुलोत्तुंग के समय ही होयसड़ों ने मैसूर के आसपास के क्षेत्रों पर अपना अधिकार जमा लिया। विजयादित्य के समय से ही उन्होंने अपनी सत्ता को मजबूत करना प्रारंभ कर दिया था। १२२६ ई० तक उन्होंने दक्षिणी और उत्तरी आर्काट जिलों पर अपना अधिकार कर लिया था और वे वहाँ अपने अभिलेख खुदवाने लगे थे। १२४५ ई० के आसपास कांचीपुरम् चोड़ों के हाथ से निकल चुका था और उस तिथि के बाद उनके वहाँ से कोई अभिलेख नहीं प्राप्त होते।

राजाधिराज और कुलोत्तुंग (प्रथम) के बाद शैलेन्द्रवंशी श्रीविजय राज्य अथवा चीन से किसी प्रकार के दौत्य संबंधों, राजनीतिक सम्बन्धों अथवा व्यापार-सम्बन्धों के भी कोई विवरण नहीं प्राप्त होते। स्वाभाविक सा लगता है कि उनकी उत्तरोत्तर बढ़ती हुई कमजोरी में उनकी नौसेना की पकड़ सामुद्रिक गतिविधियों में कमजोर पड़ने लगी और सामुद्रिक व्यापार में चीनी साम्राज्य, श्रीविजय साम्राज्य और अरबों की हिस्सेदारी बढ़ गयी। आगे चलकर यह उनकी आर्थिक विपन्नता का कारण बना होगा।

सेन्द्रमंगलम् के **माण्डलिक** शासक कोपरेरुन्जिङ्ग का जीवनक्रम चोड़ सत्ता की अवनति और अवसान को बहुत ही अच्छी प्रकार से उपस्थित करता है। उसने अपना जीवन द्वितीय राजराज के अधीन एक सामन्त के रूप में प्रारंभ किया। किन्तु १२३१ ई० में उसी को हराकर वान्देवाश पर अधिकार कर लिया। यही नहीं, उसने राजराज को सेन्द्रमङ्गलम् में कैद भी कर लिया। द्वितीय नरसिंह होयसड़ के हस्तक्षेप के बाद वह पुनः एक सामन्त बन गया, किन्तु १२४३ में फिर उसने अपनी स्वतंत्रता घोषित कर दी। यद्यपि जटामङ्गलम् सुन्दर पाण्ड्य ने उसे पराजित किया, तथापि कोपरेरुन्जिङ्ग के अधिकार सूचक अभिलेख उत्तरी और दक्षिणी आर्काट जिले, चिंगलपुत्त, तंजाऊर, कर्नूल और गोदावरी जिलों से प्राप्त हुए हैं। उसका दावा है कि उसने चोड़ों, होयसड़ों, पाण्ड्यों और काकतियों को पराजित किया। कड्डलूर, चिदंबरम्, वृद्धाचलम् और काञ्ची आदि सभी चोड़ क्षेत्र उसके अधिकार में चले गये।

चोड़कालीन तमिल कृतिकार एवं कृतियाँ

दक्षिण भारतीय भाषाओं में तमिल का कालगत विस्तार, संख्यात्मक आयत्त और प्रभाव सर्वाधिक विस्तृत है। उसका प्रारंभ तो उस संगम साहित्य से ही हुआ, जो ईसा संवत् की कई शताब्दियों पूर्व से प्रारंभ होकर उसकी कई शताब्दियों बाद तक चलता रहा। किन्तु आधुनिक तमिल का विकास लगभग ६०० ई० सम्वत् के बाद ही हुआ। नीलकान्त शास्त्री ने तमिल के सम्पूर्ण विकास को चार युगों में बांटते हुए प्रथम युग को ५०० ई० से ८५० ई० तक तथा द्वितीय युग को ८५० ई० से १२०० ई० तक तथा तीसरे काल को उसके बाद १६०० ई० प० तक निश्चित किया[१]। चोड़ शासन काल

---

१. ए हिस्ट्री ऑफ् साउथ इण्डिया, हिन्दी अनुवाद, पटना, पृष्ठ ३७४ और आगे।

इस साहित्यिक विकास के द्वितीय युग मात्र तक सीमित रहा और यहाँ उसी कालावधि की कुछ प्रमुख तमिल कृतियों और उनके कृतिकारों के संक्षिप्त विवरण उपयुक्त रहेंगे ।

साहित्य, संगीत, भक्ति और नृत्यकला के एक अद्भुत संगम ने दक्षिण भारतीय इतिहास के उत्तर प्राचीन काल को एक विशेष स्वरूप प्रदान किया । धार्मिक दृष्टि से यह काल पौराणिक हिन्दू धर्म के पुनरुत्थान का संक्रमण युग था । बौद्ध धर्म तेजी से अवनति को प्राप्त हो रहा था और जैन धर्म को नवोदित शैव और वैष्णव संप्रदायों से जबरदस्त प्रतियोगिता झेलनी पड़ रही थी । शैव **नायनारों** और वैष्णव **आल(ड़)वारों** ने अपने भक्ति गीतों द्वारा दक्षिण भारत में एक धार्मिक उथल-पुथल सी मचा दी । अपने-अपने वीणा वाद्यों के साथ नर्तन और गान करते हुए एक स्थान से दूसरे स्थान की यात्रा करने वाले इन यायावर गीतकार साधु-संतों ने मंदिरों, तीर्थों, नगरों और गांवों में घूमघूमकर सर्वसाधारण लोगों के बीच अपने मधुर और कर्णप्रिय गीतों द्वारा एक विशाल भक्तिपरक साहित्य को जन्म दिया, जो तमिल साहित्य की अमूल्य धरोहर बन गया । नीलकान्त शास्त्री के शब्दों में "नम्बी आण्डार नम्बी द्वारा शैव संप्रदाय तथा नाथमुनि द्वारा वैष्णव संप्रदाय के लिए दसवीं ग्यारहवीं सदी—में संकलित भजनों के नियमानुसार संस्करणों में इस प्रकार का जितना साहित्य सुरक्षित है, तमिल हिन्दूवाद के इस स्वर्णयुग में अवश्य ही इससे कहीं अधिक साहित्य का निर्माण हुआ होगा । उदाहरणस्वरूप, नानसम्बन्दार का एक भजन नियमानुसार प्रकाशित संग्रह में कहीं नहीं मिलता है, किन्तु वह तंजौर जिले में तिरुविडेयवायिल मंदिर के एक पत्थर पर खुदा हुआ है[१] ।"

सबसे पुरानी शैव रचना है **कराइक्काल अम्मई** (कारीकल = कराइकाल की नारी) जो लगभग ५५० ई० के आसपास की है । लेखिका (अम्मई) तिरुवालंगाडु के शिव मंदिर में नृत्य भी देखती थी और देवस्तुति भी गाती थी । उसने दो अन्य तमिल पुस्तकें भी लिखीं और उसी के साथ तमिल साहित्य के प्रबन्ध साहित्य का भाग प्रारंभ हुआ । उसके बाद के लेखक एयडिगल काडवर्कोन ने **क्षेत्रतिरुवेणवा** लिखा, जिसमें २१ शिव मन्दिरों का भी उल्लेख है । अप्पर दार्शनिक विचारधारा के लेखक थे, जिनका **पदिगम्** ३०७ शिवस्तोत्रों का एक संग्रह है । "इसमें भक्तिरस की जो तीव्रता पायी जाती है, उससे अधिक तीव्रता सिर्फ वाणिक्कवाशगर के **तिरुवासगम्** में ही देखने में आती है" ।

नानसम्बन्दार शैव मत के सबसे विख्यात कृतिकार थे । उनके द्वारा गाये गये ३८४ भजन **शैव ग्रंथावली** के प्रथम तीन भागों में संग्रहीत किये गये हैं । मान्यता है कि उन्होंने अप्पर और शिरुतोण्डार से भी भेंट की थी । उनके भजनों में साहित्यिक गुण भरे हुए हैं तथा उनमें जैन तथा बौद्ध धर्म की निन्दाएँ की गयी हैं, जो उस समय की धार्मिक

---

१. ए हिस्ट्री ऑफ् साउथ इण्डिया, हिन्दी अनुवाद, पटना, पृष्ठ ३७४ और आगे ।

प्रतिद्वन्द्विता का द्योतक है। नानसम्बन्दार तीन सर्वप्रसिद्ध शैव गीतकारों में प्रथम थे। दूसरे हुए, ३००० पद्यों वाली शैवमतावलम्बी अध्यात्मविद्या की पुस्तक **तिरुमंदिरम्** के लेखक, तिरुमूलर। सुन्दरमूर्ति **देवारम्** के तीसरे भजनकार थे, जिन्होंने १०० भजनों की रचना की। वे ईश्वर को एक घनिष्ट मित्र के रूप में स्वीकार करते थे। अत: वे 'ताम्बिरान तोलन' (ईश्वर के मित्र) नाम से विख्यात हुए।

शैव भक्तों और भजनकर्ताओं की कुल संख्या ६३ मानी जाती है, जिनमें सुन्दरमूर्ति अन्तिम थे। नम्बी आण्डार नम्बी ने दसवीं-ग्यारहवीं सदी में इन सभी ६३ भजनगायकों की संक्षेप में जीवनगाथाएँ लिखीं और १२वीं सदी में शेक्किलार ने उन्हीं को विस्तृत रूप देकर महाकाव्यात्मक बना दिया। किन्तु इन ६३ शैव संतों के अतिरिक्त भी अन्य कई प्रमुख शैव सन्त हुए–यथा सुन्दरमूर्ति के मित्र तथा **तिरुवालुर-मुमालिक-कोवल** के रचयिता चेरमान पेरुमाल और **तिरुवाशगम्** के लेखक माणिक वाशगर।

आगे नये भक्ति गीतों की परंपरा तो कुछ शिथिल पड़ गयी, किन्तु वीणावादन के साथ प्रत्येक मंदिर में उनके गायन की परंपरा यथावत् चलती रही। बाद में इन भक्तिगीतों के कई संग्रह प्रकाशित किये गये। शैव **समयाचार्यों** ने **तेवारम्** तथा **तिरुवाचकम्** नामक दो गीत संग्रह तैयार किये। बाद में जो गीत रचे गये, वे ११वीं शताब्दी में नम्बी अण्डार नम्बी द्वारा **तिरु-इशैअप्प** नाम से संग्रहीत किये गये। यह संग्रह तो **तिरु-मुरइ** नामक एक अन्य विशाल संग्रह का केवल एक भाग है। **तिरु-मुरइ** में कुल मिलाकर २९ गीत संग्रह हैं, जो विभिन्न शिव मंदिरों में शिव की अलग-अलग प्रार्थनाओं के रूप में रचित हैं।

पेरियपुराणम् के संग्रहकर्ता शेक्किलार १२वीं शताब्दी के मध्य में हुए थे। यह ग्रंथ आधा तो ऐतिहासिक है, जिसमें चोड़ शासक, द्वितीय कुलोत्तुंग, से सम्बद्ध घटनाओं-युद्धों के मुलम्मेदार विवरण हैं, किन्तु शेष आधा भाग कोरा मिथक है। तथापि इसे शैवसिद्धान्त का एक प्रसिद्ध ग्रंथ माना जाता है। जिसमें ६३ शैव संतों के जीवनवृत्तों के विवरण प्राप्त होते हैं।

बाद के तीन शिवाचार्यों के नाम बहुत प्रसिद्ध हैं :—

१. **शिवज्ञानबोधम्** के रचयिता मेकण्डदेव
२. **शिवज्ञानसिद्धियर** के कर्ता अरुण्नादि शिवाचार्य
३. **शिवप्रकाशम्** के रचयिता उमापति शिवाचार्य।

इनमें मेकण्डदेव वेड़ाड़ार (अब्राह्मण) जाति में उत्पन्न होते हुए भी उतने ही आदृत थे, जितने ब्राह्मणकुलोत्पन्न शिवाचार्य।

वैष्णव संतों का गीत साहित्य

दक्षिण भारतीय सन्त साहित्यकारों (गीतकारों) के दो वर्ग थे–एक शैव संतवर्ग,

जिन्हें **नायनार** कहा जाता था और दूसरा वैष्णव संतवर्ग, जिन्हें **आल(ड़)वार** का अभिधान मिला। ये दोनों ही वर्ग पुनरुत्थानवादी हिन्दू परंपरा के वाहक बने। वैष्णव भक्ति गीतों के अन्तिम संग्रह का नाम है **नलयीर दिव्यप्रबन्धम्,**[१] जिसमें ४००० गीतों को इकट्ठा किया गया है। प्रारंभिक **आल(ड़) वारों** में पोयगई, पूडम और और पेय की गिनती की जाती है। उनकी रचनाएँ अपने उदार दृष्टिकोणों, शुद्धताओं और भक्तिभावनाओं से ओतप्रोत हैं। उनके बाद होने वाले वैष्णव संत तिरुमलिशाई थे, जो पल्लवराज प्रथम महेन्द्रवर्मा (सातवीं शती का प्रथम चतुर्थांश) के समकालिक थे। कहा जाता है कि वैष्णवभक्ति अपनाने के पूर्व उन्होंने जैन और बौद्ध जैसे पंथों को भी अपना कर देखा था। आठवीं शताब्दी में होने वाले तिरुमंगई ने सर्वाधिक भक्तिगीत लिखे और वैष्णवगीत संग्रहों में उन्हीं के द्वारा रचित गीत सर्वाधिक रूप से मिलते हैं। वे परम भक्त तो थे ही, बहुत उच्च कोटि के कवि भी थे। उनकी रचनाओं को संबंदर की रचनाओं के समान ही उच्चकोटि का माना जाता है। पेरियालवार (पेरिय **आल(ड़)वार**) ने अपनी विदुषी पुत्री (श्रीरंगम् के भगवान को अपना प्रेमी मानने वाली) के साथ मिलकर लगभग ६५० वैष्णवगीतों का एक संग्रह तैयार किया। उस पुत्री का नाम आण्डाल था। बाद के **आल(ड़) वारों** में नम्मानवार और उसके शिष्य मधुर कवि के नाम आते हैं। नम्मानवार जात्या वेल्ला(ड़ा)र थे जबकि मधुर कवि जन्मना ब्राह्मण थे। तथापि, नम्मानवार को बहुत ही अधिक आदर प्राप्त हुआ, जिसका कारण यह था कि उनकी कविताओं में उपनिषदों के दार्शनिक रहस्यों का उद्घाटन हुआ है। वे एक सिद्ध योगी बताये जाते हैं। उन्होंने राम और कृष्ण के बालरूपों की अनेक कथाओं को मनोहारी कविताओं के रूप में उपस्थित किया। बाद में होने वाले नाथमुनि नम्मानवार के शिष्य बताये जाते हैं। यद्यपि नम्मानवार ने स्वयं तो ४००० गीतों को लिखा, किन्तु उनके शिष्य मधुर का केवल एक ही गीत जाना जाता है, जो उन्होंने अपने गुरु की प्रशंसा में ही लिखा।

८५० ई० के पश्चात् (तमिल विकास के तीसरे युग के बाद) जिन भक्ति संगीत लेखकों और संग्रहकर्ताओं के नाम मुख्यत: लिये जा सकते हैं, उनमें नम्बी आण्डार नाम्बी (दसवी शताब्दी के अन्त तथा ग्यारहवीं शताब्दी के आरंभ में होने वाले) का नाम सर्वप्रथम आता है। उन्होंने **नायनार** गीतों का संग्रह तो तैयार किया ही, स्वयं भी नानसम्बन्दर और अप्पर पर क्रमश: छह और एक प्रबन्ध की रचना की। **शिरुतोण्डार तिरुवंदादि** में उन्होंने ६३ **नायनार** संतों के जीवनवृत्त लिखे। द्वितीय कुलोत्तुंग (११३३-११५० ई०) के समय में एक अन्य प्रसिद्ध नायनार शेक्किलार हुए, जिनका **शिरुतोण्डार पुराणम्** या

---

१. इस विवरण के लिए लेखक नीलकान्त शास्त्री का कृतज्ञ हैं। देखें, ए हिस्ट्री ऑफ् साउथ इण्डिया, हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ ३८१।

पेरिय पुराणम्[१] बहुत ही चर्चित और प्रसिद्ध है। उमापतिशिवाचार्य ने **शेक्किलार नायनार पुराणम्** की रचना की। शेक्किलार वेल्ला(ड़ा)र जाति में उत्पन्न होने के बावजूद बहुत ही आदृत थे और चोल(ड़) राजदरबार में ऊँचा पद प्राप्त करने में समर्थ हुए। उन्होंने कुम्भकोणम् के निकट तिरुनागेश्वरम् नामक शिव मंदिर बनवाया। उनके **पेरियपुराणम्** का तमिल के भक्ति साहित्य में बहुत ही ऊँचा स्थान है।

इसी समय **कलिंगत्तुप्परणि** के रचयिता ओट्टकुट्टन तथा **कम्बन रामायण** के लेखक कम्बन भी हुए थे। ओट्टकुट्टन, शेक्किलार और कम्बन समकालीन थे और द्वितीय कुलोत्तुंग (११३५-११५० ई० प०) के राजदरबारी लेखक थे।

●

१. इस ग्रंथ में चालुक्य पल्लव संघर्षों (पञ्चम का छठाँ) का भी उल्लेख हुआ है। तदनुसार, जब चालुक्यराज ने पल्लवों पर आक्रमण किया तो प्रथम परमेश्वरवर्मन् (पल्लव शासक ६७०-६९५ ई०) ने अपने सेनापति शिरुतोण्ड को वातापी (चालुक्य राजधानी) पर चढ़ जाने को आदेश दिया था। किन्तु चालुक्य राजकुमार विजयादित्य उसे रोकने में सफल रहा।

अध्याय १४
चोड़ प्रशासन

केन्द्रीय प्रशासन

दक्षिण भारत की राज्यसंस्थाओं में किसी भी समय प्रजातंत्र, उच्चकुलतंत्र (अभिजाततंत्र), **संघ** अथवा **गण** जैसी इकाइयों का कोई भी उल्लेख नहीं प्राप्त होता। वहाँ एक ही प्रकार की राज्यसंस्था थी और वह थी नृपतंत्र की संस्था। इस नृपतंत्र की सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि में कौटिलीय **अर्थशास्त्र, मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति** अथवा बाद में निर्मित निबन्धग्रंथों का कितना योगदान था, यह निश्चित करना कठिन है। किन्तु दक्षिण भारतीय अभिलेखों, विशेषत: चोड़ अभिलेखों, और वहाँ विरचित कुछ फुटकल ग्रंथों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मोटे तौर पर वर्णाश्रम धर्म की रक्षा और उसके पालन का कर्त्तव्य ही राज्य और राजा का कर्त्तव्य माना जाता था। यह निश्चित सा है कि राजा मनमानी करते हुए कभी भी निरंकुश हो जाने को स्वतंत्र नहीं था। चोड़ शासन के अन्तर्गत स्थानीय शासन की वैध और सांविधानिक पहलू से मजबूत इतनी अधिक संस्थाएँ विकसित हो चुकी थीं कि नीचे से ऊपर तक प्रशासन की ऐसी कड़ी का जन्म हो गया, जिसमें किसी भी एक संस्था के मनमानी करने की संभावना ही नहीं थी। एक गंग राजा का अभिलेख[१] कहता है कि "राजा का कर्त्तव्य प्रजा का पालन मात्र है।"

प्राय: सभी दक्षिण भारतीय शासक वैदिक यज्ञों के सम्पादन में विश्वास करते थे, जिनमें **अश्वमेध** सर्वप्रमुख था। किन्तु पल्लव शासकों के बाद वैदिक यज्ञों के संपादन की प्रथा धीरे-धीरे समाप्त हो गयी और उसके बदले दान और दक्षिणा की प्रथा जोर पकड़ने लगी। चोड़ शासकों में तो केवल राजाधिराज ने ही एकबार **अश्वमेध** यज्ञ का संपादन किया[२] था। दान कई प्रकार के होते थे–यथा ब्राह्मणों को दिये गये भूमिदान (**ब्रह्मदेय**), मंदिरों (देवताओं) को दिये गये भूमिदान (**देवदेय**), सोने के रूप में दिये गये दान (स्वर्णदान), अपने वजन के बराबर दिया जाने वाला स्वर्णदान (**तुलापुरुष दान**), **हिरण्यगर्भ** अथवा वैदिक विद्याओं का अध्यापन कराने वाली शिक्षा संस्थाओं और अध्यापकों को दिये जाने वाले दान। यद्यपि अधिकांश चोड़ शासक स्वयं शैवधर्मोपासक थे, उन्होंने (राजराज, प्रथम राजेन्द्र और प्रथम कुलोत्तुंग ने) श्रीविजय साम्राज्य के शैलेन्द्र

---

१. सम्यग् प्रजा पालन मात्र अधिगत राजप्रयोजनस्य। एपि० इण्डिका, जिल्द १४, पृष्ठ ३३५।

२. नीलकान्त शास्त्री, दि चोड़ज़, पृष्ठ ४५१।

राजाओं द्वारा नागपट्टन[१] में स्थापित श्रीविजय विहार को भी भूमिदान किये[२]। मंदिरों की स्थापना, उन्हें तथा पहले से स्थापित मंदिरों को भूमिदान और स्वर्णदान करने अथवा उनकी नित्यप्रति की पूजा सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वस्तु, अन्न, पशु (गाय और भेड़ें) जैसी दानव्यवस्थाएँ करने में शासक गण के साथ ही व्यक्तिगत लोगों तथा **नगरम्** जैसी संस्थाओं और व्यापारिक समूहों को पुण्यलाभ की प्रत्याशा रहती थी।

प्रथम राजराज के समय से प्रारंभ कर आगे लगभग २०० वर्षों तक चोड़ राज्य एक साम्राज्य के रूप में परिवर्तित हो गया और यह स्वाभाविक था कि वंश के शासकगण **दिग्विजयी, चक्रवर्ती, त्रिभुवन चक्रवर्ती, चक्रवर्तीगल** जैसी बड़ी-बड़ी साम्राज्य-सूचक उपाधियाँ धारण कर लें। दक्षिण भारतीय राजाओं में अनेकानेक उपाधियों को धारण करने का एक गजब का शौक था और चोड़ शासक भी इसमें किसी से पीछे नहीं थे। इन राजकीय उपाधियों की संख्या इतनी अधिक है कि उन सबका यहाँ उल्लेख भी नहीं किया जा सकता। किन्तु मुख्यत: या तो वे किसी मंदिर या नगर की स्थापना के बाद अथवा किसी प्रदेश या राज्य की विजय के बाद अथवा कुछ व्यक्तिगत विशेषताओं के उपलक्ष्य में धारण की जाती थीं। प्रथम राजेन्द्र ने गंग राज्य पर विजय के बाद **गंगैकोण्ड** (**गंगैकोण्डा**) की उपाधि धारण की थी और उसी उपलक्ष्य में चोड़ों के लिए तंजाऊर (तंजापुरी) की जगह एक नयी राजधानी गंगैकोण्डचोड़पुरम् (गंगापुरी) की स्थापना की। इसी प्रकार लंका, केरल और पाण्ड्य क्षेत्रों की विजयों के बाद भी उसने अपने को **सिंगलान्तक, मधुरान्तक** और **केरलान्तक** कहना प्रारंभ किया[३]।

चोड़ सम्राटों की एक बहुत बड़ी विशेषता यह दिखायी देती है कि राजपरिवार में आपसी प्रेम, सौहार्द और आदर का बड़ा भारी वातावरण था। राजराज और प्रथम राजेन्द्र ने इस भावना को बहुत ही प्रोत्साहित किया। उन्होंने अपनी रानियों, बहिनों, पुत्रियों आदि सबका अधिक से अधिक ध्यान रखा[४]। इन सबके साथ राजकुमार, सेवकों, और कार्यों में लगे हुए सभी राजपरिवारी लोगों का राजदरबार में ही रहना होता था और सबकी राजदरबार की ओर से ही व्यवस्था होती थी। उनके अपने-अपने काफिले होते थे, जिनका उल्लेख **उडैयार कोम्डमड्डाराय** के **तनिक-शेवगम्** (सेवकम्) अथवा **पञ्चवन महादेवियार**

---

१. पट्टन शब्द मूलत: संस्कृत का पत्तन है (बन्दरगाह)। इसके कई रूप हैं–जैसे पट्टण, पट्टिण, पट्टिन, पट्टन,

२. देखें पीछे पृष्ठ ३९९।

३. पीछे पृष्ठ ४०३-४०४।

४. राजराज की प्रमुख रानी लोकमहादेवी थी, जिसने उसके साथ तुलाभार और हिरण्यगर्भ नामक यज्ञों का संपादन तिरुवलंजुलि के मंदिर में किया। उसकी बड़ी बहिन कुण्डवै उसे बहुत ही प्रिय थी और आदृत थी। कुण्डवै नामक उसकी एक पुत्री भी थी। देखें, पीछे पृष्ठ ४०६।

के **शत्रुभयंकरत्तेरिदंवेड़म्** जैसे पदों से हुआ है[१]। चाउ-कु-जुआ चोड़ राजदरबार में सम्पन्न होने वाले बड़े-बड़े भोजों के आयोजन का उल्लेख करता है और वहाँ होने वाले नृत्य, गान और संगीत, खानपान और वस्त्र आदि की विशद चर्चा करता है[२]।

सभी चोड़ शासक शैवमतानुयायी थे। और शैवों की परंपरानुसार शैवाचार्यों से दीक्षा लेनी आवश्यक होती है। राजराज से प्रारंभकर आगे के अनेक चोड़ राजाओं द्वारा इस हेतु शैव गुरुओं को **राजगुरुओं** के रूप में नियुक्त करने के उल्लेख उनके अनेक अभिलेखों में प्राप्त होते[३] हैं। राजराज के **राजगुरु** थे ईशानसर्वदेव और प्रथम राजेन्द्र के **राजगुरु** थे सर्वशिव। प्रथम कुलोत्तुंग ने अपने **राजगुरु** के निर्देश पर १०८ **चतुर्वेदि-भट्ट** लोगों को **ब्रह्मदेय** (ग्रामदान) दिया था।

प्रशासन के क्षेत्र में राजा अथवा सम्राट् का मुख्य कार्य था शासकीय आज्ञाओं को निर्गत करना। इस हेतु अधिकारिओं को राजा के सम्मुख प्रतिवेदन करना पड़ता था। उसके मौखिक आदेशों को सेक्रेटरी अथवा सचिव लोग लिखकर[४] उन आज्ञाओं को सम्बद्ध केन्द्रीय अथवा स्थानीय अधिकारिओं के पास अग्रसारित करते थे। ऐसी आज्ञाएँ प्राय: मंदिरों की दीवारों पर लिखायी भी जाती थीं। चोड़-पाण्ड्य राज्यों के गवर्नर भी इसी प्रथा का अनुपालन करते थे। किन्तु इस बात का कोई प्रमाण नहीं प्राप्त होता कि राजा या सम्राट् की शासन में सहायता हेतु किसी मंत्री अथवा मंत्रिपरिषद् का भी कोई विधान था या नहीं। किन्तु इतने बड़े साम्राज्य का प्रशासन बिना किसी बड़ी नौकरशाही से संपन्न होता होगा, यह संभव नहीं दिखायी देता। इस बात के भी कोई प्रमाण नहीं हैं कि राजा या सम्राट् को नयी विधि बनाने का कोई अधिकार था। उसकी अगर स्वयंस्थापित कोई विधि थी तो वह थी उसकी **व्यवस्था** अथवा राजाज्ञा, जो आवश्यकतावश नयी परिस्थितियों के उत्पन्न होने पर निकाली जाती थी। यह राजकीय आदेश के रूप में होती थी, जो पूर्वस्वीकृत सामाजिक अथवा धार्मिक नियमों अथवा अन्यान्य प्राशासनिक संस्थाओं के नियमों के अनुरूप ही निकाली जाती थी। सब कुछ **धर्मानुसार** होना चाहिए, यही ध्येय था।

विशाल और दीर्घजीवी चोड़ साम्राज्य के प्रशासन को चलाने वाली एक विस्तृत नौकरशाही थी। नौकरशाही के विस्तृत स्वरूप के ब्यौरे चोड़ अभिलेखों में भरे पड़े हैं। राजा के बाद सबसे प्रमुख स्थान **युवराज** का होता था। राजाओं द्वारा अपने जीवित रहते

---

१. दि चोड़ज़्, पृष्ठ ४५१।
२. चाऊ-कु-जुआ, पृष्ठ ९५।
३. ऐनुअल् रिपोर्ट्स ऑन् एपिग्राफी, मद्रास, १९०२ का ४१३वाँ; मैसूर आर्केलाजिकल् रिपोर्ट्स १९१७, पृष्ठ ४२-४४।
४. कलिंगत्तुप्परणि (पञ्चम, ३२८) में इस व्यक्तिगत सचिव को तिरुमंदिरओलै कहा गया है। देखें, एपि० इण्डिका, जिल्द २१, पृष्ठ २२१, २३३ और २४४।

हुए ही अपनी सहायता हेतु **युवराजों** की नियुक्ति चोड़ इतिहास में एक बद्धमूल परंपरा बन गयी और किसी भी चोड़ शासक ने इसका उल्लंघन नहीं किया। जहाँ प्रथम राजराज ने अपने एकमात्र पुत्र प्रथम राजेन्द्र को अपनी मृत्यु (१०१४ ई०) के केवल दो वर्षों (१०१२ ई०) पूर्व ही **युवराज** नियुक्त किया था, वहीं राजेन्द्र ने तो अपने पुत्र राजाधिराज को अपना स्वतंत्र शासन प्रारंभ होने के छह वर्षों के भीतर ही (१०१८ ई०), अपनी मृत्यु (१०४५ ई०) के २६-२७ वर्षों पूर्व ही, अपना **युवराज** नियुक्त कर दिया था[१]। विद्वानों में इस बात पर मतभेद है कि राजाधिराज अपने तीन भाइयों में सबसे जेठा था या नहीं। तथापि उसका अपने पिता द्वारा **युवराज** नियुक्त किया जाना इस बात को स्पष्ट करता है कि योग्यता और उपयुक्तता ही उस पद की सबसे बड़ी कसौटी थी, न कि शासक राजा का ज्येष्ठ पुत्र होना। ये **युवराज** शासक राजाओं के साथ अभिलेखों का प्रकाशन करते-कराते थे, प्रशस्तियों में उनके भी गुणगान और प्रशासकीय तथा सैनिक कार्यों के उल्लेख होते थे, वे राज्ञाओं के पालन में नौकरशाही के मार्गदर्शक होते थे, सैनिक अभियानों का संचालन करते थे और दूरस्थ विजित और अथवा शासित प्रान्तों-प्रदेशों में यदि कभी उपद्रव और विद्रोह हो जाँय तो उन्हें दबाते और शान्त करते थे। इस प्रथा का चोड़ साम्राज्य को यह लाभ हुआ कि उसमें उत्तराधिकार के कोई युद्ध हुए ही नहीं। प्रत्युत् समकालिक दोनों चालुक्य वंशों (बादामी और कल्याणी के) तथा राष्ट्रकूट राज्य में इस प्रथा के बद्धमूल न होने के कारण अनेक अवसरों पर उत्तराधिकार-युद्धों की नौबत आती रही।

चोड़ राज्य की नौकरशाही अन्य राज्यों की अपेक्षा अधिक सुसंगठित और कुशल थी[२]। तथापि, यह नौकरशाही लोगों के व्यक्तिगत जीवन, उनके क्रिया-कलापों और पहले से स्थापित मंदिर-मठ, ग्रामों की सभाओं (**सभा** और **उर**) तथा **नगरम्** (नगर की व्यापारिक और स्थानीय संस्थाओं) के कार्यों में नित्यप्रति का कोई भी हस्तक्षेप नहीं करती थी। किन्तु कृषि, व्यापार, सिंचाई, मंदिरों के हिसाब-किताब तथा भूमिसम्बन्धी राजकीय व्यवस्थाओं के पालन कराने, दान की शर्तों का पालन कराने, भूमिसर्वेक्षण और भूमिराजस्व की विधिवत् वसूली, न्यास और गिरवी तथा कर्जों के सूद आदि की वसूली के कार्यों के परीक्षण और संवीक्षण हेतु राज्य की ओर से सभी जगह सचिव नियुक्त किये जाते थे और वे सम्बद्ध सभाओं की बैठकों में आवश्यकता होने पर भाग लेते थे। नीलकान्त शास्त्री के शब्दों[३] में "उस समय के आलेखों को जितना ही पढ़ा जाय, उतना

---

१. ऐनुअल् रिपोर्ट्स्, १९२७ का २४१वाँ; १९२२ का १२४वाँ और देखें, नीलकान्त शास्त्री, दि चोड़ज़्, पृष्ठ २३५ का नोट १०।

२. नोबुरू करासिमा, साउथ इण्डियन् हिस्ट्री ऐण्ड सोसायटी, ऑक्सफोर्ड, १९८४ (भूमिका, २६-२७) ने यह तर्क उपस्थित किया है कि प्रथम राजराज, प्रथम राजेन्द्र और प्रथम कुलोत्तुंग ने चोड़ नौकरशाही को अधिक से अधिक केन्द्रीकृत किया।

३. दि चोड़ज़्, पृष्ठ ४६२।

ही इस बात के लिए प्रशंसा के स्वर उभरने लगते हैं कि उस समय केन्द्रीय नियंत्रण और स्थानीय भूमिकाओं के बीच एक बहुत ही बढ़िया समन्वय स्थापित था, राज्य के कार्यों और सामाजिक संगठनों के कार्यों के बीच एक स्पष्ट रेखा खींची हुई थी। इसमें व्यक्ति की कोई भूमिका नहीं थी। राज्य और व्यक्ति के बीच समस्या तो कहीं थी ही नहीं। यह उस समाज का स्वरूप था, जिसे समुदायों का संघ ही कहा जा सकता है।''

नौकरशाही में लगे विभिन्न वर्गों के अपने-अपने पद, विरुद और विशेषाधिकार होते थे। वे **एनाडि, मारायन** जैसे सैनिक विरुद थे, जबकि साधारण शासन में नियुक्त अधिकारिओं को **कडिगैमारायन** तथा **वाचियमारायन, अरैय्यन, पेररैय्यन** आदि कहा जाता था। बड़े अधिकारिओं को **पेरुन्दरम्** और नीचे के अधिकारिओं को **शिरुत्तरम्** कहा जाता था। किन्तु इस बात की कोई जानकारी नहीं है कि इन अधिकारिओं की नियुक्ति की प्रक्रियाएँ क्या थीं अथवा उनकी तरक्की और स्थानान्तरण कैसे और किस आधार पर किये जाते थे। जन्म, वंश और अन्य प्रकार के पारिवारिक सम्बन्ध इनमें कारकतत्त्व रहे हो सकते हैं। जैसे **युवराज** पद पर नियुक्ति हेतु व्यक्तिगत योग्यता ही मुख्य मापदण्ड थी, वैसे ही व्यक्तिगत गुण, योग्यता और कुशलता नौकरशाही के चयन में भी मुख्य आवश्यकता मानी गयी होगी। उनके व्यक्तित्व और योग्यता के सम्बन्ध में शासक की व्यक्तिगत जानकारी की भूमिका भी रही होगी। नौकरशाही को वेतन के रूप में सेवाभूमि का आवंटन ही मुख्यरूप से ज्ञात होता[१] है और नकद वेतन देने की कोई प्रथा ज्ञात नहीं होती। यह सेवाभूमि **जीवित** कही जाती थी। यह **जीवित** उसे सम्बद्ध सेवाभूमि की या तो उपज हो सकती थी अथवा उसकी वह आय जो जमीन के वास्तविक जोतदार या भूमिमालिक द्वारा राज्य को देय होती थी। सेवाभूमि का मालिकाना हक (भूस्वामित्व) राज्य सेवकों को नहीं प्राप्त होता था। यह अधिकार या तो व्यक्तिगत जोतदार का ही होता था अथवा समग्र ग्रामसमुदाय का होता था। इस प्रकार की सेवाभूमि या तो पूरे गाँव की हो सकती थी, या पूरे जिले की अथवा पूरे **नाडु** की। किन्तु सेवाभूमि प्राप्त करने वाले नौकरशाह चाहें तो उसका संपूर्ण राज्यप्रदत्त अधिकार किसी अन्य को हस्तान्तरित भी कर सकते थे[२]। तथापि, राजकीय कागजपत्रों अथवा पड़ोसिओं के ज्ञान और विचारों द्वारा ऐसी स्थितियों के नियंत्रण होते रहते थे।

चोड़ साम्राज्य का भूराजस्व विभाग बहुत ही विस्तृत, संगठित और व्यापक रहा प्रतीत होता है। ऐसा लगता है कि इसका धीरे-धीरे विस्तार ही होता गया। यह इस बात से प्रमाणित है कि जहाँ सुन्दर चोड़ की अन्बिल दानपट्टिका से संख्यात्मक दृष्टि से कुछ कम ही अधिकारिओं की जानकारी होती है, वहीं आगे प्रकाशित किये जाने वाले दानपत्रों

---

१. ऐनुअल् रिपोर्टस् ऑन् एपिग्राफी, मद्रास, १९२३ का ४१०वाँ।
२. दि चोड़ज़्, पृष्ठ ४६४।

अथवा शासकीय **व्यवस्थाओं** में कई और अधिकारिओं के उल्लेख किये गये हैं। अन्बिल दानपत्र[१] के अनुसार शासक के मुख (श्रीमुखम्) से जो भूमिदान **एकभोग** के रूप में ब्रह्माधिराज अनिरुद्ध को दिया गया, वह **आणत्ति** उपाधिधारी अधिकारी द्वारा नीचे के समुदायों को सूचित किया गया तथा उस राजकीय आज्ञा को अनेक लोगों (राज्यकर्मिओं) ने पुष्ट किया। आगे प्रकाशित किये जाने वाले लिडेन, तिरुवालंगाडु, चाराल और करण्डै के दानपत्राभिलेख इस प्रशासकीय संगठन में और अधिक व्यापकता और राज्याधिकारिओं की अधिकता की ओर निर्देश करते हैं। उनमें दानपत्र के आज्ञा की तिथि, सरकारी कागजों में उसके अंकन की तिथि, उसके प्रकाशन की तिथि और पुनः उसके कार्यान्वयन आदि की तिथियाँ अलग-अलग उल्लेखों के साथ दी गयी हैं। प्रथम परान्तक के समय के एक दानपत्र की इन विविध प्रक्रियाओं का पालन न होने की शिकायत राजा से की गयी और उन्हें ठीक करते हुए अपने कर्त्तव्य का पालन न करने वाले लोगों को दण्डित किया गया। ऐसा ही एक उदाहरण उत्तम चोड़ के समय का भी मिलता है[२]।

संक्षेप में राजाज्ञाओं को सभी सम्बद्ध कार्यालयों, व्यक्तिओं, संस्थाओं अथवा विभागों तक पहुँचाने, उन्हें अंकित कराने और कार्यान्वित कराने की प्रक्रिया यह थी कि **आणत्ति** उन्हें राजा द्वारा बोले गये आदेश से प्राप्त करता था; वहीं **उत्तरमंत्री** उन्हें लिखता था जो उस समय कार्यनियुक्त (**ओलैएड्डुम**) था; **ओलैनायकम्** उनका हर तरह से मिलान करता था; पुनः एक **करुमि** उसे सरकारी कागजपत्रों में लिखने का आदेश देता था, तथा पुनः अनेक अफसर उसका मिलान और जाँच आदि करके उसे स्थानीय कागजपत्रों में अंकित करते थे। अन्ततः **मंयिर-ओलै** उसे **पट्टिनकुर्रम्** के **नट्टार** के पास इस हेतु भेजता था कि वह दान विधिवत् दानदत्त भूमि की सीमाओं आदि का उल्लेख करते हुए तैयार करे। यह सबकुछ **पुरवुवरि** नामक अधिकारी के समक्ष किया जाता थ।

राजस्व विभाग के अधिकारिओं के कार्य बहुविध थे। वे मंदिरों की आय और व्यय का लेखाजोखा रखते थे; उनमें किसी भी गड़बड़ी या चोरी को रोकते थे; कभी-कभी धन देकर ग्रामीणों से राज्य के लिए भूमि खरीदते थे; स्थानीय संस्थाओं (**सभा**) द्वारा तैयार किये गये उनके उन प्रस्तावों आदि का सत्यापन करते थे, जिनमें भूमिकरों आदि की मुक्ति वाले निर्णय होते थे और सामुदायिक उत्तरदायित्वों को निश्चित करते थे। कुछ मामलों में लोगों को दण्डित करने हेतु उनको मजिस्ट्रेट के अधिकार भी प्राप्त थे।

राजागण स्वयं प्रशासन को चुस्तदुरुस्त रखने हेतु राजकीय यात्राएँ करते थे और

---

१. दि चोड़ज़्, पृष्ठ ५७७।
२. वहीं, पृष्ठ ४६६-४६७।
३. आर्केलाजिकल् सर्वे ऑफ् साउदर्न इण्डिया, जिल्द २, पृष्ठ ११६, १२८; जिल्द ४, पृष्ठ २०८-२०९।

मौकों पर ही स्थानीय मामलों का निपटारा, मुकद्दमों के निर्णय और प्रशासकीय आज्ञाएँ निकालते थे।

राजकीय राजस्व और आर्थिक प्रशासन

कृषि और व्यापार राजकीय आय के दो प्रमुख स्रोत थे। देश के भीतरी और बाहरी व्यापार हेतु बढ़िया सड़कें (**पेरुवड़ि**) बनायी गयी थीं तथा दक्षिण-पूर्व एशिया के देशों-जावा, सुमात्रा, बर्मा, चीन तथा दक्षिण में सिंहल और पश्चिमी एशिया के अरब देशों से होने वाला व्यापार बड़ी उन्नत अवस्था में था। इसी उद्देश्य से चोड़ शासकों-विशेषत: राजराज और राजेन्द्र ने एक बहुत ही बढ़िया और युद्धकुशल नौसेना तैयार कर रखी थी। उन्होंने श्रीविजय के शैलेन्द्र साम्राज्य में राजनीतिक और सैनिक हस्तक्षेप करते हुए भी उनके द्वारा बनवाये गये बौद्ध विहारों को भूमिदान देकर उनसे मैत्री सम्बन्ध भी स्थापित किये तथा चीनी राजदरबार में कई बार अपने दूतमण्डल भेजे[१]। इस बात के अनेक आभिलेखिक प्रमाण मिलते हैं कि इस समय **नगरम्** जैसी नगरों की व्यापारिक और वाणिज्यिक संस्थाओं के अतिरिक्त व्यापारिओं के बहुत बड़े-बड़े संघ अथवा समुदाय भी थे, जो व्यापार हित में न केवल विदेशों की यात्रा करते थे, अपितु वहाँ जाकर बस भी गये थे। अलंकारों और बहुमूल्य गहनों को बनाने वाले बहुमूल्य धातुओं के उद्योग, सूत की बुनाई-कढ़ाई तथा नमक उद्योग बड़ा ही विकसित था। भूराजस्व या तो भूमि की उपज के रूप में अथवा नकद के रूप में वसूला जाता था। यह प्राय: उपज का १/३ भाग[२] होता था जो अधिक ही प्रतीत होता है। यह या तो राज्याधिकारिओं द्वारा सीधे वसूला जाता था अथवा स्थानीय संस्थाएँ उसे राज्य की ओर से वसूलती थीं। भूस्वामित्व तीन प्रकारों का था। प्रथमत:, राजा अथवा राज्य का, जिसके किसी भी भाग को वह **ब्रह्मदेय** और **देवदेय** के रूप में दान दे सकता था और उसके सभी भोग तथा आय दानग्रहीता को सौंप सकता था; द्वितीयत:, उस जोतदार का स्वामित्व होता था, जो उसपर सचमुच काबिज होता था और तृतीयत:, ग्रामसभा, मंदिर या मठ का जिसपर सामुदायिक अधिकार होता था। खेती की उन्नति हेतु कावेरी नदी का जल पूरी तरह उपयोग में लाने हेतु करिकाल के समय से ही प्रथम परान्तक, राजेन्द्र और प्रथम कुलोत्तुग जैसे राजाओं ने बड़े-बड़े बन्धे, तालाब, कुल्याएँ अथवा एनीकट बनवाये। फलत:, धान की खेती इतनी बड़ी मात्रा में होती थी कि वही धान विनिमय के रूप में प्रयुक्त होता था, अध्यापकों के वेतन उसी के माप से दिये जाते थे तथा मंदिरों के खर्च को चलाने हेतु वह या तो भूमि कर की एवज में या दानरूप में दिया जाता था। ग्रामसभाओं में पानी के तालाबों की देखरेख और मरम्मत तथा पानी के प्रबन्धन हेतु समितियाँ बनी होती थीं तथा ग्रामसभाएँ नयी अकृष्टभूमि तथा

---

१. देखें, पीछे पृष्ठ ३१७-३१८।

२. टे०वे० महालिंगम्, साउथ इण्डियन् पॉलिटी, पृष्ठ १६५।

वनों को कृषियोग्य बनाने का उत्तरदायित्व संभालती थीं। प्रथम कुलोत्तुंग जैसे शासकों द्वारा भूमि की आय को सुनिश्चित करने हेतु समय-समय से भूमि सर्वेक्षण कराये गये, भूमि की पैमाइश करायी गयी, सीमाओं के पुनर्निधारण किये गये, विभिन्न प्रकार की भूमियों के वर्गीकरण किये गये और करों के पुनर्निधारण किये गये[१]। उसके पूर्व ऐसे ही सर्वेक्षण राजराज ने भी कराये थे। राजकीय अथवा मंदिरों की भूमि पर कृषिकर्म करने हेतु बेगारें (**विष्टि**) ली जाती थीं। तथा कभी-कभी अकाल भी पड़ जाते थे। ११५२ ई० में एक भीषण अकाल पड़ा था। ऐसी आपदाओं के समय भूराजस्व माफ भी कर दिया जाता था। प्रथम कुलोत्तुंग की इस बात के लिए प्रशंसा की गयी है कि उसने अनेक प्रकार के शुल्कों की वसूली बन्द करने का आदेश दिया[२]। यदि किसी व्यक्ति, संस्था, समूह अथवा समुदाय ने राजकीय करों को लगातार नहीं चुकाया तो वह दण्डित होते हुए जुर्माना भरने को विवश होता था और जमीन से वह बेदखल कर दिया जाता था। उसकी जमीन, चाहे वह मंदिर की ही जमीन क्यों न हो, बिक जाती थी। यदि वही उसे पुनः खरीदने को तैयार हो जाता था तो बकाया लगान के कई गुना दण्ड उसे चुकाना होता था।

आय का अधिकांश व्यय राजदरबार, नये-नये मंदिरों, भवनों और नगरों (राजधानी नगर) के बनवाने, थल और जल सेना के साजोसामान, साधारण नागरिक प्रशासन, तालाबों और नहरों के निर्माण और रख-रखाव तथा मठों द्वारा उपकारी कार्यों को चलाये जाने और विद्यालयों और विद्वानों के वेतनादि पर खर्च किया जाता था।

सैनिक शासन

सेना का निर्माण उसके तीन अंगों-हस्ति, अश्व और पदाति बल से होता था। अभिलेखों से ज्ञात होता है कि सेना की कम से कम ७० टुकड़ियाँ थीं, जिनके नामकरण राजकीय विरुदों के अनुसार किये गये थे। ये सैनिक टुकड़ियाँ युद्ध तो लड़ती ही थीं, नागरिक प्रशासन में भी हिस्सा लेती थीं और दान भी देती थीं। सेना की सैनिक छावनियाँ (**कड़गम्** अथवा **पैडविडु**) होती थीं और उनके प्रशिक्षण, अनुशासन तथा रख-रखाव पर बड़ा जोर दिया जाता था। पदाति सेना में केरल से आने वाले रंगरूट भी शामिल थे। चोड़ सेना में कुल १ लाख ५० हजार सैनिक थे और हस्तिसेना की संख्या भी ६० हजार थी। अश्व सेना प्रायः उत्तम अरबी घोड़ों से निर्मित थी, जिन्हें अरब के चालाक व्यापारी

१. ऐनुअल् रिपोर्ट्स् ऑन् एपिग्राफी, १९२७ का ११३वाँ। ये सर्वेक्षण इस कारण कराये जाते थे कि कभी-कभी नदियाँ अपना मार्ग बदल देती थीं; जिससे खेतों की सीमाएँ बिगड़ जाती थीं, बाढ़ की मिट्टी और बालू में वे दब जाती थीं, लोग अपनी जमीन बढ़ाकर दूसरों की जमीन जोत लेते थे, रास्तों पर लोग कब्जाकर लेते थे तथा भूमि की उर्वरता और अनुर्वरता घटबढ़ जाती थी।

२. साउथ इण्डियन् इन्स्कृप्शन्स्, जिल्द ८, सं० २२३ तथा ऐनुअल् रिपोर्ट्स्, १९०७ का ४४वां।

प्रति वर्ष अपने विभिन्न प्रदेशों से ले आकर चोड़ राजाओं सहित अन्य भारतीय राजाओं को हजारों की संख्या में बेचते थे[१]। वे इतने चालाक थे कि उन घोड़ों की उचित व्यवस्था और रख-रखाव के गुर भारतीयों को नहीं बताते थे, जिससे वे यहाँ बहुत दिनों तक जीवित नहीं रह पाते थे और उनका बाजार हमेशा बना रहता था[२]। राजा की सेवा में या युद्धभूमि में उसकी रक्षा हेतु जो सैनिक नियुक्त होते थे वे अपनी जानपर खेलकर उसे सभी खतरों से बचाते थे और उसकी मृत्यु के बाद उसकी चिता पर ही जल भी जाते थे। राजा या राजकुमार और **युवराज** स्वयं सेनाओं का युद्धभूमि में नेतृत्व करते थे। इसी तरह युद्ध में लड़ते हुए राजादित्य और प्रथम राजाधिराज तक्कोलम् और कोप्पम् के युद्धों में युद्धस्थल में ही मारे गये थे। सेनापतिओं को **नायक, सेनापति, दण्डनायक** और **महादण्डनायक** की उपाधियाँ दी जाती थीं। वे या तो **वड्डर** (वड्ाड़ार) अथवा ब्राह्मण[३] होते थे। जो सैनिकता अथवा युद्ध में बड़ी उपलब्धि हासिल करते थे, उन्हें **क्षत्रियशिखामणि** की उपाधि मिलती थी। प्रथम कुलोत्तुंग का सेनापति करुणाकर तोण्डैमान उसका मुख्यमंत्री भी था और उसने कलिंग के विरुद्ध युद्ध में चोड़ सेना का नेतृत्व किया था[४]। उसके नेतृत्व में वहाँ युद्धनीति का खुलकर दुरुपयोग हुआ था। चोड़ सेना के सम्बन्ध में चालुक्य, सिंहल, पाण्ड्य अथवा केरल क्षेत्रों से होने वाले सभी युद्धों के संदर्भों में प्राप्त उल्लेखों से यह ज्ञात होता है कि युद्धनीति का खुला और क्रूर उल्लंघन होता रहता था, जैसे लड़कियों और स्त्रियों को प्रताड़ित करना, उन्हें छीन लेना और कभी-कभी किसी की नाक कान तक काट लेना[५]। मंदिरों और महलों को बनवाने में जो बहुत ही अधिक धन खर्च किया जाता था, उसका बहुत बड़ा भाग सैनिक लूट, शत्रु देश के विनाश, विजितों से छीनी हुई सम्पत्ति और उनकी प्रजा को नाना प्रकार की हानि पहुँचाकर ही प्राप्त किया जाता था, जो एक तरफ तो प्रशंसा दिलाता था किन्तु दूसरी ओर अप्रशंसनीय अथवा निन्दनीय भी कहा जा सकता है।

चोड़ों की सैनिक महत्ता का विवरण उनकी नौसैनिक शक्ति का कुछ परिचय दिये बिना पूरा नहीं हो सकता। नौसेना के निर्माण का कार्य प्रथम राजराज ने प्रारंभ किया, उसके पुत्र प्रथम राजेन्द्र ने उसे आगे बढ़ाया और बाद के शासकों ने भी उसे, कुछ थोड़ी ही मात्रा में सही, जारी रखा। किन्तु चोड़ों के पास युद्धक जलपोत थे, इसमें सन्देह व्यक्त किया

---

१. इलियट ऐण्ड डाउसन् जिल्द ३, पृष्ठ ३३-३४; मार्को पोलो, जिल्द २, पृष्ठ ३४०, ३४५।

२. देखें, लल्लन गोपाल, इकॉनामिक लाइफ ऑफ् नार्दन इण्डिया, पृष्ठ १५३।

३. प्रथम राजेन्द्र का सेनापति था कृष्णरामन् ब्रह्माधिराज; टे०वे० महालिंगम, साउथ इण्डियन् पॉलिटी, पृष्ठ १३७।

४. कलिंगत्तुप्परणि, उद्धृत, टे०वे० महालिंगम्, साउथ इण्डियन् पॉलिटी, पृष्ठ ११४।

५. दि चोड़ज् पृष्ठ २५७; टे०वे० महालिंगम्, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ २८१।

गया है। यहाँ तक कहा गया है कि उन्होंने श्रीविजय के शैलेन्द्र साम्राज्य के विरुद्ध जो विजयें प्राप्त कीं और उनके बन्दरगाह नगरों को अपने कब्जें में कर लिया, वे युद्ध भी व्यापारिक जहाजों पर ही लड़े गये थे[1]। तथापि अपनी जलसेना के बल पर ही चोड़ों ने मालदीव और सिंहल को जीता, शैलेन्द्र साम्राज्य पर विजय प्राप्तकर चीन से और दक्षिण-पूर्व एशिया के राज्यों से होने वाले अपने व्यापार को सुरक्षित किया तथा अपने साम्राज्य की व्यापारिक समृद्धि को सुरक्षित किया। उन्होंने बंगाल के कमजोर राज्यों तथा कलिंग की विजय पहले ही कर ली थी। अपनी जलसेना के बलपर उन्होंने बंगाल की खाड़ी को चोड़ों की एक झील के रूप में परिवर्तित कर दिया।

प्रान्तीय शासन

किसी भी बड़े साम्राज्य का छोटे-छोटे प्रशासकीय क्षेत्रों में विभाजित किया जाना स्वाभाविक होता है। चोड़ साम्राज्य ९ प्रांतों अथवा **मण्डलों** में विभाजित[2] था, जिनके नाम या तो उन्हें विजित करने वाले अथवा उनपर शासन करने वाले राजाओं-राजकुमारों अथवा गवर्नरों के नाम पर पड़े थे, यथा–जयगोण्डाशोलमण्डलम्, मुम्मुडिशोलमण्डलम् (सीलोन), मुडिकोण्डशोलमण्डलम् (गंगपाडि), निगरिलिशोलमण्डलम् (नोलम्बपाडि), शोलमण्डलम् (त्रिचनापल्ली = तिरुचिरापल्ली, तंजाऊर और दक्षिणी आर्काट का दक्षिणी भाग), वेंगीमण्डलम्, मालैमण्डलम् (केरल), अधिराजराजमण्डलम् (कोयम्बटूर और सेलम जिले) और राजराजपाण्डिमण्डलम् (पाण्ड्य क्षेत्र)। इनके शासन हेतु राजकुमार, विश्वस्त राजपरिवारी व्यक्ति अथवा उच्चपदस्थ राज्याधिकारी नियुक्त किये जाते थे, जो **दण्डनायक** तथा **महादण्डनायक** जैसी सामन्तसूचक उपाधियाँ धारण करते थे।

प्रत्येक मण्डल कई **वलनाडुओं** में विभाजित[3] होता था। वलनाडु को कहीं-कहीं **कोट्टम्** भी कहा गया है। तोण्डैमण्डलम् २४ **वलनाडुओं (कोट्टमों)** में बंटा हुआ था। प्रत्येक **वलनाडु** की सीमा का निर्धारण प्राय: दो ओर की दो नदियों से किया जाता था। राजाओं के नाम पर समय-समय से **वलनाडुओं** के नाम भी बदल दिये जाते थे। उदाहरण के लिए कुलोत्तुंग के समय में प्रथम राजेन्द्र के नाम का **क्षत्रियशिखामणि वलनाडु कुलोत्तुंगशोलवलनाडु** के रूप में परिवर्तित हो चुका था। जैसे इनके नाम बदल जाते थे, वैसे ही राज्य और साम्राज्य के घटते-बढ़ते रहने से अथवा कुछ अन्य कारणों से सीमाएँ भी बदल जाती थीं।

प्रत्येक **वलनाडु** कई **नाडु**(ओं)[4] में विभाजित थे। इन्हें भी कभी-कभी **कोट्टम्**

---

१. आर्० सतियनाथियेर, दि स्ट्रगल फॉर इम्पायर, पृष्ठ २५१।
२. टे०वे० महालिंगम्, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ३०४।
३. ऐनुअल् रिपोर्ट्स्, १९२७ का ३३३वाँ।
४. यहाँ नाडु सबसे छोटी प्रशासकीय इकाई है। किन्तु आजकल सारे तमिल क्षेत्र को ही तमिलनाडु कहा जाता है।

कहा गया है। किन्तु अधिकतर इनका दूसरा व्यापक नाम था **कुर्रम्**। **तोण्डैमण्डलम्** में **वलनाडु**(ओं) का उल्लेख नहीं मिलता। वहाँ केवल **कुर्रम्** ही ज्ञात होते हैं[१]। प्रत्येक **नाडु** अथवा **कुर्रम्** ५०-५० गांवों की इकाइयों में विभाजित होता था। इनमें एक गांव मुख्य होता था, जहाँ पूरी इकाई का प्रधान निवास करता था।

उपर्युक्त विभिन्न इकाइयों की शासन व्यवस्था की कुछ फुटकल जानकारियाँ चोड़ इतिहास से ज्ञात होती हैं। उनके सर्वोपरि प्रशासक या तो राजकुमार अथवा राजपरिवारी व्यक्ति होते थे। प्रथम राजेन्द्र ने पाण्ड्य देश की विजय के बाद वहाँ मदुरै में एक महल बनवाया और अपने पुत्र का वहाँ के गवर्नर के रूप में अभिषेक किया और उसे **शोलपाण्ड्य**[२] (वह चोड राजकुमार जो पाण्ड्य देश का शासक था) की उपाधि दी। इसी प्रकार वीरराजेन्द्र ने अपने दोनों पुत्रों को क्रमशः तोण्डैमण्डलम् और पाण्डय देश का गवर्नर नियुक्त किया और उन्हें **शोलेन्द्रन्** और **शोलपाण्ड्य** की उपाधियाँ[३] दीं। किन्तु यह असंभव था कि सर्वदा ही राजपरिवारी अथवा योग्य व्यक्ति गवर्नरी हेतु सुलभ हों। ऐसी दशा में या तो विजित शासक अथवा उसके किसी नजदीकी सम्बन्धी को ही विजयी राजा की अधिसत्ता स्वीकार कर लेने पर गवर्नर के रूप में नियुक्त कर दिया जाता था। प्रथम कुलोत्तुंग को पाण्ड्य और केरल प्रान्तों में ऐसा ही करना पड़ा। किन्तु इसका दुष्परिणाम यह होता था कि ज्योंही केन्द्रीय सत्ता कमजोर पड़ती थी--ऐसे गवर्नर अपनी स्वतंत्रता का प्रयत्न और विद्रोह प्रारंभ कर देते थे। चोड़ साम्राज्य के बारे में ऐसा १३वीं शताब्दी में स्पष्टतः दिखायी देने लगता[४] है।

ठीक इसी तरह, अराजपरिवारी गवर्नरों की तरह कई छोटी-छोटी प्राशासनिक इकाइयाँ ऐसी भी थीं, जो सामन्त शासकों द्वारा अर्धस्वतंत्ररूप में, केवल केन्द्रीय अधिसत्ता की स्वीकृति मात्र तक, सीमित रूप में शासित थीं। ऐसे सामन्तों की उपाधियाँ थीं-- **नायक, सामन्त, दण्डनायक, मण्डलेश्वर, राजा, महाराजा** और **उडैयार**। ये **पञ्चमहाशब्दों** के अधिकारी थे अर्थात् पाँच प्रकार के वाद्यों के साथ केन्द्रीय राजदरबार में प्रवेश कर सकते थे तथा हाथी की सवारी, चँवर, पालकी और गद्दी का प्रयोग कर सकते थे। जबतक केन्द्रीय सत्ता सशक्त रहती थी तबतक ये सामन्तगण अपने अभिलेखों में सम्राट् का उसकी उपाधियों के साथ उल्लेख करते-कराते थे, किन्तु उसके कमजोर होते ही वे स्वतंत्रतासूचक बड़ी-बड़ी उपाधियाँ स्वयं धारण कर लेते थे।

---

१. टे०वे० महालिंगम्, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ३०६।
२. ऐनुअल् रिपोर्ट्स्, १९१७ का ३६३वाँ।
३. वहीं १८९० का ११३वाँ; साउथ इण्डियन् इन्स्कृप्शन्स्, जिल्द ५, सं० ९७६।
४. दि चोड़ज़्, पृष्ठ ३७५ तथा ४०७। कोपपेरून्जिङ्ग (१२२९-१२७८ ई०) ऐसा ही एक सामन्त था, जिसने चोड साम्राज्य का अन्त ही कर डाला। दि स्ट्रगल फॉर इम्पायर, पृष्ठ २४८-२४९।

स्थानीय स्वशासन

ग्राम (गांव) अत्यन्त प्राचीन काल से ही, प्राय: सर्वदा ही, सभी प्रशासनों के केन्द्र में रहा है। किन्तु ग्राम प्रशासन का जैसा विकास, विस्तार, स्वरूपीकरण और कार्यक्षेत्र का आयत्त चोड़ प्रशासन के समय दिखायी देता है, वैसा और कहीं अथवा कभी नहीं दिखायी देता। चूंकि भूमि सभी प्रकार के ग्रामीण क्रिया-कलापों के केन्द्र में थी, उस भूमि के उपयोग, उपभोग, अधिकार और अन्य प्रकारों से उससे सम्बद्धता ही गांव के विकास और प्रबन्ध के केन्द्र में सबसे बड़ा कारक बनकर उभरी। प्राचीन भारत की राज्यसंस्था को स्वयं कोई वैसी नयी विधि बनाने की स्वतंत्रता नहीं थी, जैसी आज की विधायिकाओं को है। वह तो केवल समाज में प्रचलित प्रथाओं, परंपराओं और धर्मों के (प्रचलित सामाजिक-धार्मिक प्रथाओं) पालन कराने मात्र तक सीमित अधिकारों वाली एक संस्था थी। वह ग्राम, ग्रामवासिओं में प्रचलित, मान्य और स्वीकार्य प्रथाओं-परंपराओं, सामाजिक-धार्मिक विधियों द्वारा चलता था और ग्राम निवासिओं द्वारा उनकी ग्रामसंस्थाओं के माध्यम से ही शासन होता था। प्रथमत: ग्रामभूमि और ग्रामनिवासिओं का समन्वयीकरण, और पुन: ग्रामवासिओं का भूमि के अतिरिक्त सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक क्षेत्रों के क्रिया-कलापों से समन्वयीकरण हुआ। ग्रामसभा इस समन्वयीकरण का साधन और माध्यम बनी। ग्राम, ग्रामीण भूमि, ग्रामीण क्रिया-कलाप और ग्रामसभा सबका उद्भव और विकास एक स्वयंभूत प्रक्रिया थी, जिसमें बाहर का या ऊपर का कोई हाथ नहीं था। वास्तव में राज्यसंस्था तो बहुत बाद में आयी।

ग्रामसभा

चोड़ शासन काल में ग्रामसभा के स्वरूप, उसके कार्यों, उसकी क्रियाप्रणाली और उसके संगठन का सर्वप्रमुख परिचय हमें प्रथम परांतक (९००-९५५ ई०) के समय से ही प्राप्त होता है। इन सभी क्षेत्रों में ग्रामसभा के विकास को नवीं से तेरहवीं शताब्दियों के बीच में देखा जा सकता है। किन्तु चोड़ों के समय ग्रामसभा के बहुविध स्वरूप से यह नहीं समझ लेना चाहिए कि उस स्वरूप का उद्भव भी उसी समय हुआ था। वास्तव में ग्रामसभा का उद्भव प्राचीन काल के संगम साहित्य के ग्रंथों में पूरी तरह दिखायी देता[१] है। वहाँ **नगरम्, वणञ्जियर, मणिग्रामम्, मणरम्** (गांव के लोगों के इकट्ठा होने वाला स्थान : प्राय: एक बड़ा बरगद का वृक्ष) और **पोदि(डि)यिल** का उल्लेख आता है। इनकी विशेष चर्चा यहाँ न करके इतना देखना मात्र पर्याप्त है कि पूर्वी गंग राजाओं, पल्लव शासकों तथा पाण्ड्यों के अभिलेखों में ग्रामसभाओं के संगठन और कार्यों के कई उल्लेख प्राप्त होते हैं। लेखों में दन्तिवर्मन् द्वारा शासित तोण्डैमण्डलम् में लगभग २०

१. टे० वे० महालिंगम्, साउथ इण्डियन् पॉलिटी, पृष्ठ ३३६-३३७।

ग्रामसभाओं के उल्लेख प्राप्त[१] होते हैं, जिनमें प्रथम परांतक (चोड़) के समय वाली प्रसिद्ध उत्तरमेरूर की **सभा** भी सम्मिलित थी। इन्हें **सभा** अथवा **महासभा** का नाम दिया गया है। उस समय तक पाण्ड्य क्षेत्रों में भी अनेक **सभाएँ** उपस्थित हो चुकी थीं। तिन्नेवली जिले के एक ऐसे गांव की **सभा** का संविधान भी ज्ञात होता है, जो **ब्रह्मदेय** (ब्राह्मणों को दान में दिया गया) गांव[२] था। आगे चोड़ों के समय की **सभा** का संविधान देखते हुए हम यह पायेंगे कि उत्तरमेरूर नामक गांव की **सभा** का जो संविधान था, उसका पूर्वरूप बहुत पहले से ही स्थापित हो चुका था।

सभा अथवा **महासभा** गांव की अकेली संगठित इकाई नहीं थी। उसके अतिरिक्त भी अनेक इकाइयाँ, समूह (**ग्रुप्स्**), समुदाय (**असोशियेशन्स्**) अथवा संघसमूह (**कारपोरेशनस्**) थे। वे अपने जातिगत, पेशेगत, अथवा सभी जातियों और पेशों के सामूहिक हितों की रक्षा, विकास और विस्तार से सम्बद्ध थे और अपने-अपने नियमों द्वारा चलाये जाते थे। इन संस्थाओं, उनके नियमों और क्रिया-कलापों की अन्त:स्वायत्तता राजा और राज्य द्वारा पूरी तरह मान्य थी; ठीक वैसे ही जैसी ग्राम **सभा** अथवा **महासभा** को मान्यता प्राप्त थी। चूंकि ब्राह्मणों और मंदिरों के तत्त्व दक्षिण भारतीय समाज में बड़े प्रभावकारी थे, उनसे सम्बद्ध समुदायों अथवा समूहों की संख्याएँ भी कुछ ज्यादे ही ज्ञात होती हैं। किन्तु ग्रामसभा सबके ऊपर और सबकी नियन्त्रक थी। इन समुदायों के अतिरिक्त व्यापार और वाणिज्य तथा नगरों से सम्बद्ध भी कुछ संस्थाएँ थीं, जो अपने सदस्यों की हितरक्षा में निरत थीं। इन सबके अलग-अलग क्षेत्र थे और अलग-अलग हित थे, जिन सबपर समवेत रूप में **सभा** या **महासभा** (ब्राह्मणों के ग्राम की **सभा**) और **उर** (अब्राह्मण ग्राम की **सभा**) थे। इसमें सभी समूहों, समुदायों अथवा संघसमुदायों के लोग सदस्य होते थे।

वड़ञ्जियर या **वड़ञ्जीयर** और **मणिग्रामम्** व्यावसायिक समूहों की स्वशासन वाली सभाएँ थीं[३] जिनके नाम प्राय: ग्रामों के नामों पर रखे गये थे। कुछ धार्मिक समूह भी थे, जो विशेष-विशेष मंदिरों के प्रबन्ध से सम्बद्ध थे। इन्हें **मूलपरुडैयार** कहा जाता था। सुचिन्द्रम् में यह संस्था **महासभा** के नियंत्रण में ही कार्य करती थी, किन्तु बाद में अनावश्यक होने पर यह भंग कर दी गयी। शैव ब्राह्मणों (**शिवब्राह्मण**) और वैष्णव ब्राह्मणों (**वैखानस**)के भी अलग-अलग अपने-अपने समूह थे। काञ्चीपुरम् की दो **सेरि**(यों) के लोगों को उत्तम चोड़ ने एक मंदिर की व्यवस्था देखने हेतु लगाया था।

---

१. सी० मीनाक्षी, ऐडमिनिस्ट्रेशन ऐण्ड सोशल लाइफ अण्डर की पल्लवज़् पृष्ठ १२५। पीछे देखें, 'मदुरै का पाण्ड्य राज्य' वाला अध्याय, पृष्ठ ३६६ और आगे तथा 'काञ्चीपुरम् के पल्लव, वाला अध्याय पृष्ठ २८४।

२. सी० मीनाक्षी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ३४२-३४४; देखें 'मदुरै का पाण्ड्य राज्य' वाला अध्याय, पृष्ठ ३६६ और आगे।

३. दि चोड़ज़्, पृष्ठ ४८८-४८९।

सेरि नामक इस विशेष क्षेत्र समूह का प्रतिनिधित्व **सभा** की कार्यसमिति में होता था, जो प्रथम परान्तक के समय की उत्तरमेरूर की **सभा** के संविधान से ज्ञात होता है। इसी तरह कुम्हारों, सुनारों, लोहारों, धोबियों और गड़ेरियों के भी अपने-अपने संघ अथवा समूह होते थे। किन्तु ये सभी समूह, समुदाय अथवा संघ **ग्रामसभा** की साधारण सदस्यता के भी भोगी थे।

ग्राम का समग्र प्रतिनिधित्व करने वाली संस्थाएँ थीं **सभा** और **उर**। **सभा** नामक संस्था ब्राह्मण ग्रामों की व्यवस्था देखने वालों की साधारण लोगों की संस्था थी और **उर** अब्राह्मण निवासिओं वाले ग्रामों की संस्थाओं का नाम था। यहाँ ब्राह्मणग्राम का यह अभिप्राय नहीं है कि उन ग्रामों में केवल ब्राह्मण ही बसते थे। मतलब यह है कि अन्य जातियों की संख्या बहुत कम थी और वहाँ अधिसंख्य रूप में केवल ब्राह्मण ही बसते थे। इसी प्रकार **उर** नामक ग्रामों में ब्राह्मणों की संख्या नगण्य होती थी। **सभा** को **ग्रामसभा** भी कहा जाता था। अधिकांश ब्राह्मण ग्राम **ब्रह्मदेय** थे, जिन्हें प्रायः **चतुर्वेदिमंगलम्** नाम से सम्बोधित किया गया है। कहीं-कहीं **सभा** और **उर** का एक साथ भी विधान था[१]। वहाँ **उर**[२] के निवासिओं के साथ ही साथ ब्राह्मणों के निवास भी बसा दिये जाते थे। इनकी बस्तिओं को **मंगलम्** कहा जाता था, जिनको दान में देने के लिए पूर्वतः स्थापित निवासिओं से भूमि खरीदी जाती थी। ऐसे ग्रामों में **सभा** (ब्राह्मणसभा) और **उर** (अब्राह्मण सभा) दोनों का एक ही साथ सह-अस्तित्व हो जाता था। इसी तरह धार्मिक भेद के कारण कभी-कभी एक ही गांव में दो **उर** संस्थाओं का भी आविर्भाव हो जाता था। १२२७ ई० में **सत्तमङ्गलम्** (**सत्यमंगलम्**) में हिन्दू देवदान और जैनों को दिये गये दान के आधार पर एक ही गांव में दो **उरों** की समानान्तर स्थिति का ज्ञान प्राप्त होता है। दोनों ही **उर** कहलाते थे। पूरे ग्राम के लाभ वाले कार्यों जैसे तालाबों के निर्माण हेतु भूमि आवंटित करने, फूलों वाले बगीचों को लगाने, भूमिकर से मुक्ति दिलाने आदि हेतु ये दोनों ही **उर** मिलकर एक साथ काम करते थे[३]।

उर के संगठन अथवा उसके संविधान का हमें कोई प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है। इसकी बैठकों में सभी ग्रामवासी उपस्थित होते थे। किन्तु उनमें ग्रामवृद्धों का नेतृत्व संभवतः अधिक होता था। **उर** की कार्यसमिति को **आडुन्गाड़म्** कहा जाता था, जो अपने छोटे

---

१. नीलकान्त शास्त्री, दि चोड़ज़्, पृष्ठ ४९३ : स्टडीज़् इन चोड़ हिस्ट्री ऐण्ड ऐडमिनिस्ट्रेशन, पृष्ठ ७३-१६३।

२. यहाँ **उर** नामक सभा की वर्तनी के बारे में कुछ कहना आवश्यक है। पहले के जितने भी लेखक हैं, वे यहाँ ह्रस्व 'उ' का ही प्रयोग करते हैं। किन्तु आर० चम्पकलक्ष्मी ने दीर्घ 'ऊ' का प्रयोग करते हुए इसे **ऊर** रूप में दिया है। देखें, रीसेण्ट पर्सपेक्टिव्स् ऑफ् अर्ली इण्डियन् हिस्ट्री, सप्तम अध्याय, पृष्ठ २९० और आगे।

३. ऐनुअल् रिपोर्ट्स्, १९१२ का ४६६ वाँ।

रूप में **गड़म्** (गणम्) नाम से भी ज्ञात होती है। किन्तु इस कार्यसमिति की संख्या क्या थी अथवा उसके सदस्यों की नियुक्तिप्रक्रिया क्या थी, इसकी कोई जानकारी नहीं है। कुछ **गड़म्** (ों) के सदस्यों में कभी-कभी **भट्ट** लोगों अथवा विद्वान् ब्राह्मणों के भी सदस्यरूप में होने के ज्ञान प्राप्त होते हैं। कुछ पल्लव अभिलेखों में **आडुम्गड़त्तार** का उल्लेख हुआ है, जिसका अभिप्राय **उर** की कार्यकारिणी से हो सकता है। "ऐसा प्रतीत होता है कि यह साधारण ग्राम संस्था की कार्यसमिति थी, जिसमें संभवतः गाँव की विभिन्न जातियों (समूहों) के लोग हो सकते थे। यद्यपि यह ज्ञात नहीं होता कि समिति के सदस्यों (गड़त्तार) का गांव की पूरी **उर** नामक संस्था से कैसा समन्वय या सम्बन्ध था[१]"।

सभा का संगठन और संविधान

ब्राह्मण ग्रामों की ग्राम संस्था को **सभा** अथवा **ग्रामसभा** शब्द से संबोधित किया जाता था। इसी के संगठन, संविधान और क्रियाप्रणाली के चोड़ अभिलेखों में अधिक विवरण प्राप्त होते हैं। ग्राम के सभी निवासी **सभा** के सदस्य होते थे। उनकी कार्यसमितियाँ होती थीं, जिन्हें **वारियम्** कहा जाता था। **सभा** द्वारा किसी विशेष कर्त्तव्य में नियुक्त व्यक्ति **वारियर** कहलाता था। माणूर से प्राप्त एक पाण्ड्य अभिलेख में **वारियम्** में नियुक्त किये जाने वाले या चुने जाने वाले व्यक्ति की योग्यताएँ निश्चित की गयी[२] हैं। **सभा** की कार्यकारिणी (**वारियम्**) के सदस्यों को **वारियपेरुमक्कल (ड़)** की संज्ञा प्राप्त थी।

वारियम् के सदस्यों की संख्या और उनकी नियुक्ति की प्रक्रिया सभी सभाओं में एक समान नहीं थी। उसका सबसे बढ़िया उदाहरण प्रथम परान्तक के समय के उत्तरमेरूर (चिंगलपुत्त जिले के एक छोटे से गांव) के ९१९ ई० के एक अभिलेख[३] से प्राप्त होता है। उस गांव में आज भी पल्लवों और चोड़ों के समय का **वैमेघतटाक** (जल की झील) प्राप्त होता है, जो वहाँ की सभा द्वारा नियुक्त एक समिति के प्रबन्ध के भीतर आता था। उस तटाक समिति को **एरिवारियम्** कहा गया है। उस **सभा** की, ९१९ ई० के एक प्रस्ताव द्वारा, ५ उपसमितियों को नियुक्त किया गया। तत्सम्बन्धी प्रस्ताव (**व्यवस्था**) को उन राजकीय अधिकारिओं की उपस्थिति में लिया गया, जिन्हें राजा ने अपनी आज्ञा (**श्रीमुखम्**) द्वारा उस बैठक में उपस्थित रहने का आदेश दिया था। मन्तव्य यह था कि गांव के सभी तीस परिवारों (कुडुम्बु = कुटुम्ब) को प्रतिनिधित्व दिया जाय, जो गांव के १२ **सेरि**(यों) अर्थात् वार्डों में विभाजित थे। साथ ही प्रत्येक **सेरि** का भी प्रतिनिधित्व निश्चित किया गया। चुनाव की वास्तविक प्रक्रिया का आधार गोटी (लाटरी) डालने का

---

१. टे०वे० महालिंगम्, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ३५३।
२. आर्केलाजिकल् सर्वे ऑफ् इण्डिया, १९०४-१९०५, पृष्ठ १३१-१४५।
३. टे०वे० महालिंगम्, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ३४२ और आगे।

था। ये गोटियाँ उन्हीं लोगों के नामों के मध्य डाली जाती थीं, जिन्हें विभिन्न परिवारों ने अपने प्रतिनिधित्व के लिए अलग-अलग चुनकर भेजा था। कौन से लोग चुने जाँयेंगे, इसका पूर्वनिश्चित नियमों के आधार पर निश्चय कर दिया गया रहता था। ताड़पत्रों पर लिखित नामों को एक मिट्टी के घड़े में रखा जाता था, जो किसी बालक द्वारा निकाले जाते थे। जो लोग **वारियम्** के लिए चुने जा सकते थे, उनकी योग्यताएँ वहाँ निश्चित की गयी हैं। उनमें से प्रत्येक के पास कर देने योग्य १/४ **निलम्** (**वेलि**)[१] जमीन होनी चाहिए थी, अपनी जमीन पर अपना घर होना चाहिए था और उन्हें **वेद, शास्त्र** और भी साधारण विषयों में निष्णात होना चाहिए था। उन्हें भौतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से साफ-सुथरा होना चाहिए था; पिछले तीन वर्षों में उनका चुनाव **वारियम्** के लिए नहीं हुआ रहना चाहिए था और उन्हें **पेरुमक्कड़** (उपसमितियों के सदस्यों) का कोई नजदीकी सम्बन्धी नहीं होना चाहिए था। किन्तु **सेरि** और कुडुम्ब दोनों के प्रतिनिधित्व का यह फार्मूला काम नहीं आया और दो ही वर्षों बाद (९२१ ई० में) उसे बदलना पड़ा। **सेरि** पीछे छूट गया और आगे केवल कुडुम्बों का ही प्रतिनिधित्व बचा रहा। **सभा** की कार्यसमिति के संविधान में यह परिवर्तन भी राजकीय अधिकारिओं के समक्ष ही किया गया और **सभा** की बाकायदे बैठक में उस हेतु भी **व्यवस्था** (प्रस्ताव) निकाली गयी[२]।

उत्तरमेरूर में **सभा** की कार्यकारी समितियों की यह चुनाव व्यवस्था अन्यत्र कहाँ-कहाँ लागू थी, इसकी तो कोई जानकारी नहीं है, किन्तु आगे (९९६ ई० में) राजराज के समय के कुछ गांवों की कम से कम दो बार की **व्यवस्था**(ओं) का ज्ञान प्राप्त होता है। उनसे यह स्पष्ट लगता है कि आवश्यक होने पर चुनाव प्रणाली में सुधार और परिवर्तन किये जाते रहे।

पल्लव और चोड़कालीन **सभा**(ओं) के[३] संगठन, उपसमितियों की सदस्य संख्याओं, उनके सदस्यों के चुनाव की प्रक्रिया; किसी मिट्टी के बर्तन में विभिन्न उम्मीदवारों के पर्चों को डालकर किसी अबोध बालक द्वारा उनमें से एक पर्चे अथवा आवश्यकतानुसार कई पर्चों को निकलवाने की प्रथा आदि के क्रमशः विकसित होते हुए स्वरूप के पूरा होने में दो-तीन शताब्दियों का समय अवश्य लग गया होगा। जब-जब आवश्यक हुआ, उन प्रक्रियाओं में परिवर्तन भी होते रहे। ऐसे सभी परिवर्तनों के उल्लेख तो यहाँ आवश्यक नहीं है, किन्तु हमें **सभा** से संबंधित उसकी सम्पूर्ण संरचना, उसकी बैठकों की

---

१. एक वेलि जमीन डेढ़ एकड़ के बराबर होती थी।

२. दि चोड़ज़्, पृष्ठ ४९६।

३. सभा या महासभा उन ब्राह्मणग्रामों की सभाएँ थीं, जो अग्रहार अथवा ब्रह्मदेय रूप में ब्राह्मणों को दान में दिये गये थे। वे ब्राह्मण वेदशास्त्र आदि विषयों के पारंगत विद्वान् होते थे और उनका शैक्षिक और सांस्कृतिक स्तर औरों से ऊँचा होता था। यह सभा के लिये सदस्यता हेतु योग्यताओं के विवरण से स्पष्ट होता है।

कार्यप्रक्रिया, समय-समय पर होने वाले परिवर्तनों के आधार, उनके अधिकार और कर्त्तव्य आदि विषयों का विचार करना चाहिए।

पीछे हम देख चुके हैं कि **ग्रामसभा** गांव के सभी निवासिओं की संस्था थी, और सभी लोग उसके सदस्य थे। साधारण सभा की बैठकें आवश्यकतानुसार, मुनादी द्वारा सूचना देकर, किसी मंदिर, मठ अथवा बड़े बरगद के पेड़ के नीचे होती थीं। किन्तु गांव के अनेक मामलों को देखने और आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए उसकी एक कार्यकारिणी भी होती थी, जिसकी सदस्य संख्या ३० थी। इसके सदस्य गांव के सभी परिवारों (कुडुम्बु) द्वारा अपने-अपने कुटुम्ब के एक-एक व्यक्ति के रूप में सुझाये गये नामों से लाटरी द्वारा (कुल ३० की संख्या में) चुने जाते थे। पुनः इन तीस सदस्यों को पाँच उपसमितियों में (प्रत्येक उपसमिति में छह सदस्यों के हिसाब से) पुनः लाटरी द्वारा चुना जाता था। लाटरी लिखित पर्चों वाले विभिन्न नामों में एक की होती थी, जो किसी मिट्टी के बर्तन में रखे हुए होते थे और किसी अबोध बालक को उसमें से एक पर्चा (अथवा पाँच पर्चे) निकालने को कहा जाता था। कार्यकारिणी के सदस्यों की योग्यताएँ क्या होनी चाहिएँ, यह पीछे देखा जा चुका है। इन योग्यताओं में भूमि और भवन की मिल्कियत, वेदादि विषयों में पारंगता[१], कम से कम ३५ वर्षों और अधिक से अधिक सत्तर वर्षों की अवस्था, पीछे कभी **ग्रामसभा** की आय आदि में किसी प्रकार की जालसाजी अथवा चोरी न किये होना, सच्चरित्र होना, तथा पिछले तीन वर्षों में सम्बद्ध उपसमिति का सदस्य न होना प्रमुख थे। साथ ही यह भी आवश्यक था कि चुने जाने वाले सदस्य का कोई निकट सम्बंधी किसी अन्य उपसमिति का सदस्य न हो। ३० सदस्यों की कार्यसमिति क्रमशः छह-छह सदस्यों वाली ५ उपसमितियों में विभक्त होती थी। ये पाँच उपसमितियाँ थीं– १. बगीचों-बागों वाली उपसमिति २. तटाक (जल) उपसमिति जो **एरिवारियम्** कहलाती थी। ३. झगड़ों को निबटाने वाली समिति ४. स्वर्ण उपसमिति-जिसका काम था सभी लोगों के लिए शुद्ध स्वर्ण की स्वार्थरहित निगरानी। उस समय राज्य का कोई निश्चित सिक्का विधान नहीं था और स्वर्ण ही बहुमूल्य आदान-प्रदान का साधन था। ५. पाँचवीं उपसमिति **पञ्चवारवारियम्** कहलाती थी, जिसके कार्यों का कुछ निश्चित ज्ञान नहीं है।

इन पाँचों के अतिरिक्त एक और विशेष समिति का नाम मिलता है–**संवत्सरवारियम्**। सालभार में बदल जाने और पुनः चुने जाने वाले (संवत्सर + वारियम्) इसके सदस्य इन पाँच उपसमितियों के अतिरिक्त वे लोग होते थे, जो संभवतः विद्वान, अधिक वृद्ध तथा

---

१. उन सदस्यों की योग्यताओं के मापदण्ड घटाकर आधे कर दिये जाते थे, जो वेद, स्मृति और भाष्य आदि में पारंगत होते थे। देखें, अ०स० अल्तेकर, स्टेट ऐण्ड गवर्नमेण्ट, द्वितीय संस्करण, पृ० २३२।

अनुभवी होने के साथ ही साथ पहले किसी न किसी समिति में काम कर चुके होते थे[१]। इस **संवत्सरवारियम्** के सदस्यों की संख्या १२ होती थी, जो अन्य समितियों की अपेक्षा दुगुनी थी[२]। ऐसा क्यों था, यह ज्ञात नहीं होता। संभव है, इसके जिम्मे अन्य समितियों के समवेत संवीक्षण का कार्य रहा हो, जो उसके सदस्यों की विशेष योग्यताओं के आधार पर समझा जा सकता है।

किन्तु **सभा** की इन समितियों की संख्या में समय-समय और क्षेत्र-क्षेत्र में बदलाव होते रहते थे। तिरुप्पारकडल की **सभा** में केवल ४ ही उपसमितियाँ थीं[३]। वहीं कावेरीप्पाकम् की **सभा** में ८ उपसमितियाँ थीं[४]। इस प्रकार यह जान पड़ता है कि दसवीं और ग्यरहवीं शताब्दियों में उपसमितियों की संख्या स्थानभेद और आवश्यकताभेद के कारण घटती बढ़ती रहीं।

प्रथम राजराज के समय के उत्तमशोलचतुर्वेदिमंगलम् नामक गांव से सम्बद्ध दो **व्यवस्थाओं** से जान पड़ता[५] है कि आगे समय-समय पर उपसमितियों में चुने जाने योग्य सदस्यों की योग्यताओं में भी आवश्यकतानुसार परिवर्तन किये जाते रहे। पहली **व्यवस्था** के अनुसार केवल **मन्त्रब्राह्मण** में निष्णात लोग ही चुने जाने योग्य माने गये और दूसरी **व्यवस्था** में वे सभी लोग अयोग्य घोषित कर दिये गये, जिन्होंने किसी ब्राह्मण की सम्पत्ति चुरायी हो अथवा अन्य कोई जघन्य पाप किया हो। ऐसा परिवर्तन करते समय राज्य की ओर से किसी अधिकारी के माध्यम से कोई हस्तक्षेप नहीं किया जाता था। किन्तु राजकीय हस्तक्षेप का यह अभाव प्रथम राजराज के समय तक ही दिखायी देता है। प्रथम कुलोत्तुंग के समय के कुछ ऐसे अभिलेख प्राप्त होते हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि राज्याधिकारिओं की शिकायत पर राजा हस्तक्षेप करता था[६]। तथापि यह निर्णय नहीं निकाला जा सकता कि ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, ग्राम **व्यवस्था**(ओं) में राजकीय हस्तक्षेप बढ़ता गया। कामदवल्लिचतुर्वेदिमंगलम् नामक ग्राम के १२३२ ई० के एक प्रस्ताव के अनुसार **ग्रामकार्यम्** (सभा के क्रिया-कलापों) को चलाने हेतु उस पुरानी व्यवस्था को ही चालू रखने का निश्चय किया गया[७], जिसके अनुसार कार्यसमिति में वे ही लोग चुने जा सकते थे, जो बिना किसी वेतन या भत्ते के एक-एक वर्ष तक कार्य करने को तैयार हों। इस **व्यवस्था** में किसी प्रकार के केन्द्रीय हस्तक्षेप का वहाँ प्रमाण नहीं है।

---

१. वहीं, पृष्ठ २३४।
२. टे०वे० महालिंगम्, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ३५३।
३. साउथ इण्डियन् इन्स्कृप्शन्स्, जिल्द ३, संख्या ९९।
४. वहीं, जिल्द ३, सं० १५६।
५. ऐनुअल् रिपोर्ट्स १९१२ का २६९; १९११ का ३८; मद्रास एपिग्राफिकल् रिपोर्ट्स्, १९१३, रिपोर्ट, पैरा १३।
५. टे०वे० महालिंगम्, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ३५५।
७. नीलकान्त शास्त्री, दि चोड़ज़्, पृष्ठ ५००।

ग्रामसभा के कार्य

ग्रामसभा के कार्यों का क्या स्वरूप और क्षेत्र था, यह उसकी कार्यसमिति और उपसमितियों के गठन से अनुमानित किया जा सकता है। यद्यपि ग्रामीण शान्ति और व्यवस्था का कोई उल्लेख तो नहीं मिलता, प्राय: सम्पूर्ण भारत की ही तरह, दक्षिणी राज्यों में भी ग्रामीण शान्तिस्थापन **सभा** के कार्यों में प्रमुख रहा होगा। किन्तु उससे भी अधिक आवश्यक यह समझा गया कि पूरे गांव की सुख-समृद्धि बनी रहे। इसी हेतु **ग्रामसभा** की तटाक समितियाँ उन्हें खुदवाने, उनमें जमे हुए बालू और गन्दगी को हटाने, पानी की चोरी रोकने और तटाकों आदि की मरम्मत और देखभाल के प्रति उत्तरदायी मानी गयीं। यही बात बाग-बगीचों वाली समिति के लिए भी लागू होती थी। स्वर्णसमिति शुद्ध सोने को परीक्षित करने, उसकी नाप-तौल ठीक रखने और नकली सोने से समाज और राज्य को होने वाली हानि से बचाने की जिम्मेदारी संभालती थी। सदस्यों की वेद, स्मृति और अन्यशास्त्रों में पारंगता वाली योग्यता से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि चूंकि **सभा** ब्राह्मणों की संस्था थी और सम्बद्ध ग्राम **ब्रह्मदेय** अथवा **अग्रहार** थे, वहाँ विद्याध्ययन और अध्यापन की अच्छी व्यवस्था आवश्यक थी। मंदिरों और मठों तथा क्षेत्रों (**सत्रों**) आदि की व्यवस्थाएँ भी **सभा**(ओं) के कार्यों में रहे होंगे।

ग्रामीण और राजकीय आय का मुख्य साधन अथवा स्रोत कृषि थी। अत: ग्रामीण कृषि से सम्बद्ध सभी कार्य तथा कृषि राजस्व की वसूली और उसे राज्यकोष में सुरक्षितरूप में जमा करा देना **सभा** का संभवत: सबसे बड़ा उत्तरदायित्व था। जंगलों को साफकर तथा अकृष्टभूमि को कृषियोग्य बनाने की जिम्मेदारी भी **सभाओं** की ही थी। दक्षिण भारतीय ब्राह्मण कृषिकर्म में बहुत कुशल थे और वे वहाँ के शूद्रों की मजदूरी के बल पर दान में प्राप्त अपनी भूमि पर खेती का प्रबन्ध तो करते ही थे, दानपत्रों की शर्तों से यह स्पष्ट होता[१] है कि कृषिक्षेत्र के विस्तार का उत्तरदायित्व भी उन्हें सौंपा जाता था। इसमें पेड़ लगाना, तटाक और कुल्याओं को बनाना, झाड़-झंखाड साफ करना सम्मिलित था और उन **ग्राम- सभाओं** के माध्यम से ये कार्य होते रहे होंगे, जो एक ब्राह्मण की जगह कई-कई ब्राह्मणों को दान में दिये गये थे।

ग्रामसभाओं की अनेक **व्यवस्थाएँ** राजस्व और आर्थिक प्रशासन से सम्बद्ध हैं। **कुडमै** अथवा **कुडिमै** अर्थात् साधारण राजस्व सहित **विनियोगम्** (**सभा** द्वारा खर्च किये जाने वाले शुल्कों) की वसूली भी **सभाएँ** ही करती थीं। यह आवश्यक था कि वे नियत कर ही वसूलें, अधिक नहीं वसूलें। राजकीय राजस्व और **सभा** द्वारा खर्च किये जाने वाले शुल्क (**विनियोगम्**) अलग-अलग एकत्र किये जाते थे और उनका अलग-अलग

१. देखें, एकभोग के रूप में अनिरुद्ध ब्रह्माधिराज को दिये गये अन्बिल दानपत्र की शर्तें। दि चोड़ज़् पृष्ठ ५७७।

हिसाब-किताब होता था। अधिक वसूली या अधिक खर्च दण्डनीय अपराध था। यदि किसी जोतदार ने अपना कर लगातार नहीं चुकाया तो वह बकाये का पाँच गुने के दण्ड का भागी होता था। ऐसा भी होता था कि उसकी जमीन ही नीलाम कर दी जाय। **ग्रामसभा** के हिसाब के लिए लेखक नियुक्त किये जाते थे जो स्थानीय **व्यवस्था**(ओं) का अक्षरश: पालन करते थे। उनके स्थानान्तरण प्रत्येक वर्ष किये जाते थे[१]।

यदि कभी अकाल, सूखा अथवा अन्य कोई विपत्तिमूलक अवस्था उत्पन्न हो जाती थी, तो राजस्व आदि में छूट के लिये **सभा** ही राजा या केन्द्रीय शासन से आग्रह करती थी। किन्तु एक बार लगान तय हो जाने के बाद उसका यह कर्त्तव्य था कि वह उसे पूरी तरह वसूले और राजकोष में जमा करावे। यदि कोई खेतमालिक एक ही साथ कई वर्षों का लगान चुकता कर देना चाहे तो उसे यह छूट प्राप्त थी और सरकारी कागजों में वह अंकित कर लिया जाता था तथा **सभा** उसे प्रतिवर्ष कर देने से मुक्त कर देती थी[२]।

कुछ भूमिप्रकारों पर **ग्रामसभाओं** का ही स्वत्वाधिकार होता था, जिसे वे चाहें तो बेंच भी सकती थीं। ये जमीनें प्राय: अकृष्ट अथवा परती जमीनें होती थीं[३]। दक्षिण भारतीय अभिलेखों से ज्ञात होता है कि **ग्रामसभाएँ** बैंकरों का भी काम करती थीं। वे जमाधन रखती थीं, और उनकी सूद को जमाकर्ता की इच्छानुसार निश्चित कार्यों में लगाती थीं। प्राय: ऐसे ही सूदों से मंदिरों में दीया-बत्ती अथवा मठों में **अन्नसत्र** चलाये जाते थे[४]। उत्तरमेरूर ग्राम की **सभा** से सम्बद्ध एक मनोरंजक तथ्य यह जान पड़ता है कि तीन शताब्दियों पूर्व किसी मंदिर के प्रति ऐसी ही किसी जिम्मेदारी का पालन उक्त **सभा** ने नहीं किया था और उतने दिनों बाद जब १२१५ ई० में मंदिर ने उसे याद दिलाया तो **सभा** ने अपनी भूल मानी और सभी बाकी धन को कुछ थोड़ी-थोड़ी मात्रा में चुकता कर दिया[५]। **ग्रामसभाएँ** प्राकृतिक विपत्तियों के समय स्वयं भी कर्ज उगाहकर तथा अपनी ही (**ग्रामसभा** की) भूमि को बंधक रखते हुए, अकाल राहत सहायताएँ विपन्न लोगों को वितरित करती थीं[६]। **ग्रामसभाएँ** विद्याध्ययन तथा अन्य सांस्कृतिक क्रिया-कलापों को बढ़ावा देती थीं। उत्तरमेरूर की **सभा** ने तीन बार व्याकरण, **भविष्यपुराण** और **यजुर्वेद** के अध्यापन हेतु व्यवस्थाएँ कीं। ये **सभाएँ** साधारण विश्रामगृह और धर्मशालाएँ भी बनवाती थीं।

---

१. दि चोड़ज़्, पृष्ठ ५०२।
२. अ० स० अल्तेकर, स्टेट ऐण्ड गवर्नमेण्ट, पृष्ठ २३६।
३. ऐनुअल् रिपोर्ट्स् ऑन् एपिग्राफी १९१० का ३१२, ३१९ और ३२९।
४. इण्डियन् ऐण्टीक्वेरी, जिल्द १२, पृष्ठ १२०, २५६; एपि० इण्डिका, जिल्द ६, पृष्ठ १०२, २५३)।
५. एपिग्राफिकल् रिपोर्ट्स्, मद्रास, १८९९-१९००, पृष्ठ २०।
६. वहीं, १८९८ का ६७।

प्रश्न यह उठता है कि इन व्यापक कार्यों के लिये **सभाएँ** धन कहाँ से जुटाती थीं। पीछे हम देख चुके हैं कि ग्रामकार्यों के लिये **सभा** को **विनियोगम्** (**ग्रामसभा** के कार्यों के खर्च) हेतु स्वयं भी कर लगाने का अधिकार था। **ग्रामसभाओं** को केन्द्रीय सत्ता की ओर से भी यह अधिकार प्राप्त था कि वे जो केन्द्रीय राजस्व वसूल करती थीं, उनका कुछ हिस्सा ग्रामकार्यों को सम्पन्न कराने हेतु अपने पास रख लें। १०वीं शताब्दी में एक **ग्रामसभा** द्वारा स्थानीय मंदिर से २५ **काशु** इस शर्त पर कर्ज लिया गया[१] कि सभाक्षेत्र के कुछ बाजारों से प्राप्त शुल्कों का कुछ भाग वह मंदिर सूद के रूप में वसूल कर सकेगा। उत्तरमेरूर की **सभा** को अपने क्षेत्र के तालाबों की जमीं हुई मिट्टी को साफ करने के लिए दो दान स्थायीरूप से मिले हुए थे। वास्तव में लोग धर्मभावना और पुण्यलाभ की इच्छा से भी इस प्रकार के दान बहुधा दिया करते थे।

ग्रामसभा की साधारण सभाओं की बैठकें महत्त्वपूर्ण निर्णयों हेतु अथवा उपसमितियों के निर्वाचन के समय डुगडुगी और शंखध्वनि या मुनादी द्वारा सूचना दिये जाकर किसी मंदिर, मठ, **ब्रह्मस्थान,** बरगद या इमली के पेड़ की छायातले अथवा किसी धर्मशाले (**सत्र**) में हुआ करती थीं, जिनमें सभी लोग उपस्थित होते थे। ये **सभाएँ** प्रायः उस समय अवश्य ही होती थीं, जब किसी विशेष परिस्थिति का सामना करना होता था और कर्जों, न्यासों, बन्धक आदि रखने की आवश्यकताएँ उत्पन्न हो जाती थीं। ऐसी स्थिति अकाल, सूखे, बाढ़ अथवा ऐसी ही अन्य परिस्थितियों के उत्पन्न होने पर होती थी। ऐसी **सभाओं** में विरोध के स्वर भी दुष्ट लोगों द्वारा उठाये जाते थे। कम से कम एक तमिल **ग्रामसभा** का एक नियम यह ज्ञात होता है कि इस प्रकार की दुष्टता करने वाले लोगों पर पाँच-पाँच **काशु** के दण्ड लगाये जाते थे[२]।

ग्राम स्वशासन पर केन्द्रीय सत्ता का नियंत्रण अप्रत्यक्ष ही था। चोड़ अभिलेखों से यह ज्ञात होता है कि कभी-कभी तो राज्याधिकारी उसकी बैठकों में उपस्थित होते थे। परन्तु यह नियमतः हमेशा होता रहा हो, ऐसा नहीं प्रतीत होता। लेकिन जब भी कोई ऐसा विषय हो, जिसमें केन्द्रीय सत्ता का सम्बन्ध हो तब राज्याधिकारी अवश्य ही **ग्रामसभा** की बैठकों में पर्यवेक्षक के रूप में उपस्थित होते रहे होंगे। किन्तु **ग्रामसभा** के हिसाब-किताब की समय-समय पर जाँच-पड़ताल राज्य की ओर से अवश्य करायी जाती थी। यह सब तभी तक संभव था जब तक केन्द्रीय सत्ता समर्थ और सशक्त थी। अन्यथा **ग्रामसभाएँ** आत्मस्वतंत्र थीं। संक्षेप में राज्यशासन का अधिकार पर्यवेक्षण मात्र तक सीमित था।

ग्रामसभाओं के कुछ न्यायिक अधिकार भी थे। संभवतः प्रत्येक **ग्रामसभा** में

---

१. वहीं, १९१० का ३२।
२. ऐनुअल् रिपोर्ट्स, संख्या ४२३, १.६; अ० स० अल्तेकर द्वारा उद्धृत, स्टेट ऐण्ड गवर्नमेण्ट, पृष्ठ २४१।

एक न्यायिक समिति (**न्यायत्तार**) होती थी, जो झगड़ों को निपटाती थी, मुकद्दमों में दोष अथवा दोषरहितता का निश्चय करती थी और आवश्यक होने पर सजाएँ सुनाती थी। चोड़ साम्राज्य के अधीन **जूरी** प्रथा का प्रचलन था[१]। हत्या के विभिन्न मामलों का अलग-अलग प्रकार से निश्चय किया जाता था और ऐसा नहीं था कि प्रत्येक हत्याभियुक्त को मृत्युदण्ड दिया ही जाय। यदि किसी व्यक्ति द्वारा दुर्घटनावश अथवा अनजाने में हत्या हो जाती थी तो उसे किसी मंदिर के दीपप्रज्वालनहेतु खर्च देकर मृतात्मा की शान्तिहेतु तथा उसके पुण्यलाभ के लिए प्रायश्चित्त मात्र का दण्ड दिया जाता था। चोड़कालीन दण्ड व्यवस्था अत्यन्त नरम थी, यह इस बात से इंगित होता है कि पारिवारिक यौन व्यभिचार, चोरी तथा जालसाजी जैसे अपराधों के लिए भी केवल गधे पर बिठा कर घुमाने मात्र का दण्ड दिया जाता था[२]।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि केन्द्रीय सत्ता केवल विदेशी आक्रमणों से राज्य की रक्षा, आन्तरिक शान्ति और सुव्यवस्था तथा प्रजाओं की साधारण सुख-समृद्धि की वृद्धि की ओर ध्यान देने मात्र तक अपने को सीमित रखती थी। स्थानीय मामलों की देखरेख **ग्रामसभाओं** की जिम्मेदारी थी और जबतक कोई बड़े महत्त्व की अथवा राजकीय आय अथवा प्रजाहित में केन्द्रीय प्रबन्धन की आवश्यकता नहीं आ पड़े, तबतक उनके क्रिया-कलापों में कोई हस्तक्षेप नहीं किये जाते थे। ग्राम प्रशासन जन इच्छा और जनहित के सिद्धान्त पर पूरी तरह सुसंगठित था और उसके सामुदायिक स्वरूप को सचमुच ग्राम्य गणतंत्र (**विलेजरिपब्लिक्स्**) की संज्ञा देना कोई अत्युक्ति नहीं है।

●

---

१. आर्० सतियनाथियेर, दि स्ट्रगल फॉर इम्पायर, पृष्ठ २५४।
२. वहीं।

अध्याय १५
दक्षिण भारतीय स्थापत्य और कलाएँ

कन्नड़ वास्तु (स्थापत्य[1] कला)

भारतीय इतिहास में कालविभाजक रेखाएँ कौन कौन सी हैं, इस विषय पर काफी मतमतान्तर हैं। ६५० ई०, ७१२ ई०, १००० ई० और १२०० या १३०० ई० के पक्ष में अलग-अलग तर्क दिये जाते हैं, जिनका विवेचन यहाँ आवश्यक नहीं है। तथापि उत्तरी भारत और दक्षिणी भारत के मध्य ६०० ई० या ६५० ई० को कई दृष्टियों से एक कालविभाजक माना जा सकता है, जब अधिकांश क्षेत्रों की मानव गतिविधियाँ उत्तर से हटकर दक्षिण की ओर से संचालित होती हुई दिखायी देती हैं। भारतीय वास्तु और कलाओं के क्षेत्र में यह स्थिति गुप्त युग में ही प्रारंभ हो चुकी थी और ७५० ई० पश्चात् तक वास्तु के क्षेत्र में एक युग का अन्त और दूसरे युग का प्रारंभ हो चुका था। एक दृष्टि से यह काल उत्तरी वास्तु-प्रवृत्तियों की अन्तिम परिणति और अवसान का द्योतक प्रतीत होता है। दूसरी ओर वास्तु स्वरूपों, प्रकारों और शैलियों के दक्षिणापथ और दक्षिण की ओर अग्रसरण दिखायी देते[2] हैं। इस दक्षिणाभिमुखी अग्रसरण के प्रतीक बने नयी विधाओं और शैलियों वाले मन्दिर, जो मंदिरों के एक नये स्वरूपीकरण और विकास एवं विस्तार के द्योतक हैं। धीरे-धीरे सारा दक्षिण का क्षेत्र मंदिर-क्षेत्र के रूप में परिवर्तित हो गया।

मंदिरों के इस नये स्वरूपीकरण (फॉर्मेशन) का प्रारंभ दक्षिणापथ से ही हुआ और कन्नड़ (कर्नाटक) क्षेत्र उसके उद्गमस्थल के रूप में उभरा। महाराष्ट्र, लाट, गुर्जर और कर्णाट (कर्णाटक = कर्नाटक) से अपनी सत्ता का प्रारंभ करने वाले बादामी के चालुक्य शासक इस प्रक्रिया के प्रथम वाहक बने। यद्यपि चालुक्य वंश के अधिकांश शासक वैष्णव पंथ को मानने वाले थे, उनके समय वैष्णव, शैव और जैन तीनों ही संप्रदायों के मंदिरों के निर्माण हुए, जिनमें उनके, उनकी रानियों और जैनों (कवियों और लेखकों) के निर्बाध सहयोग प्रत्यक्षतः परिलक्षित होते हैं।

गुहामंदिर

बादामी में सबसे पहले निर्मित होने वाले मंदिर प्रारंभिक चालुक्यों के समय के

---

१. 'स्थापत्य' संस्कृत के स्थापति शब्द से निःसृत है। इसका अर्थ है वास्तुकार (घर-द्वार, भवन, मंदिर (रथ), महल आदि को बनाने वाला)। भोजपुरी भाषा में इसी का रूपान्तर (तद्भव) थवई है, जिसे बोलचाल में राजमिस्त्री कहते हैं।

२. एस्० के० सरस्वती, दि क्लासिकल् एज, पृष्ठ ४६६।

हैं और वे गुहामंदिर हैं। इनमें ५७८ ई० का एक वैष्णव मंदिर सबसे पुराना है। उसके बरामदे में अनन्तशायी विष्णु और नरसिंह की बहुत ही सुन्दर मूर्तियाँ निर्मित हैं। सबसे बाद का जैन गुहामंदिर अहिहोड़ में है, जिसमें अनेक तीर्थंकरों की मूर्तियाँ उकेरी गयी हैं।

अहिहोड़ और पट्टदकल के मंदिर (चालुक्य)

कर्नाटक स्थित अहिहोड़ नगर मंदिरों का नगर कहा जा सकता है। वहाँ लगभग ७० मंदिर बने हुए हैं। वास्तुशास्त्र के विद्वानों के मत में यहाँ के मंदिर उत्तर भारतीय नागर शैली और दक्षिण भारतीय द्राविड़ शैली की निर्माण प्रक्रिया में सन्धिस्थल और संक्रमण के द्योतक हैं। दोनों के मिलनवाली इस शैली को बेसर[१] शैली कहा जाता है। संक्रमण का यह युग लगभग ४५० ई० से प्रारंभ होकर ६०० ई० तक [२]चला। चालुक्य स्थापत्य कला का प्रारंभ अहिहोड़ के मंदिरों से ही हुआ, जहाँ नागर स्थापत्य कला के अनेक मंदिर प्राप्त होते हैं। इनके गर्भगृह त्रिरत्नयोजना के अनुसार बने हुए हैं, उनपर शिखरों के निर्माण हुए हैं, शिखरों पर कोण आमलक बने हुए हैं और गर्भगृह के सामने एक कमरा बना हुआ है। पाँचवी सदी में निर्मित अनेक नागर शैली के मंदिर अहिहोड़ से १६ किलोमीटर की दूरी पर स्थित[३] पट्टदकल में भी प्राप्त होते हैं। वहाँ के आर्य (नागर) शैली वाले शिखरों से युक्त मंदिर निम्नलिखित हैं :— पापनाथ मंदिर, जम्बूलिंग मंदिर, करसिद्धेश्वर मंदिर और काशी विश्वनाथ मंदिर। "पापनाथ मंदिर पूर्ण आर्यावर्त्ती शिखर और कोण आमलक से युक्त तथा दीवारों पर बने हुए सुन्दर ताखों से युक्त है" और इसे "आर्य और द्राविड़ शैलियों का संकर (मिश्रित उत्पत्ति वाला) कहा जा सकता है, जो प्रारंभिक चालुक्य शैली की विशेषता[४] है।"

प्रारंभिक चालुक्य मंदिर अहिहोड़ स्थित लाड़खान और कोन्तगुणि के हैं। उनके मण्डपों की दीवारों में जालीदार परदे बने हैं, जो बीच बीच में निर्मित स्तंभों के सहारे एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। उन स्तम्भों के भारीभरकम स्वरूप और उनकी बनावट की सादगी के आधार पर उनका काल ५७८ ई० में बनी बादामी की गुहा संख्या ३ के पूर्व का निश्चित किया [५]गया है।

---

१. इस बेसर शैली का पूर्ण विकास परवर्ती चालुक्यों के समय हुआ। देखें, एस्० के० सरस्वती, स्ट्रगल फॉर इम्पायर, पृष्ठ ६२४।
२. हिस्ट्री ऑफ् इण्डियन् ऐण्ड इण्डोनेशियन् आर्ट, ए० के० कुमारस्वामी, डोवर पब्लिकेशन् १९२६, पृष्ठ ९६।
३. यह नगर तमिलनाडु और कर्नाटक की सीमा पर स्थित सत्यमंगलम् वन से चोरी छिपे चन्दन के पेड़ों को काटकर उन्हें बाहर पहुँचाये जाने और उनके तस्कर व्यापार का अब केन्द्र बन चुका है, जहाँ की आरा मिलें उन्हें विदेशों में भेजती हैं।
४. ए० के० कुमारस्वामी, पूर्वोक्त, पृष्ठ ९६।
५. एस्० के० सरस्वती, दि क्लासिकल् एज, पृष्ठ ५०६।

गुप्त कालीन मंदिरों की निर्माण परंपरा में अहिहोड़ का जैन कवि रविकीर्त्ति द्वारा निर्मित बेगुति मंदिर अन्तिम स्वीकार किया गया है। इसका निर्माण शक सम्वत् ५५६ अर्थात् ६३४ ई० में हुआ था। उस समय चालुक्य शासक द्वितीय पुलकेशिन् शासनस्थ था, जिसकी प्रशंसा में रविकीर्त्ति ने उस मंदिर में एक अभिलेख भी खुदवाया (एपि० इण्डिका जिल्द ६, पृष्ठ १-१२)। निर्माण की दृष्टि से इसमें शैलीगत कई नवीनताएँ हैं, जो उसकी कारीगरी और तकनीक से परिलक्षित होती हैं। उसकी बाहरी दीवारों के अलंकरण हेतु उसमें छोटे-छोटे अर्धस्तंभ (**पिलास्टर**) बने हैं, जिनमें छोटे-छोटे कोष्टकाकार शीर्ष निर्मित किये गये हैं। इन अर्धस्तंभों के भीतर की खाली जगहों को भित्तिचित्रों से सजाया गया है। मंदिर की बनावट में जैविक विन्यास और संतुलन स्पष्टत: दिखायी देता है। मंदिर एक चौकोर भवन है, जिसमें **गर्भगृह** और उसका **प्रदक्षिणा मार्ग** एक चिपटी छत से आच्छादित है, जिसको आधार देने हेतु नीचे स्तंभ बने हुए हैं। प्रारंभ में यह कदाचित् चारों ओर से खुला हुआ था। आगे का **मण्डप गर्भगृह** से एक **अन्तराल** (सम्पर्क मार्ग) से जुड़ा हुआ है। बाद के मंदिर वास्तुओं पर इसकी निर्माण प्रक्रिया का अवश्य प्रभाव पड़ा होगा[१]।

किन्तु आठवीं शताब्दी में पट्टदकल में बनाये जाने वाले मंदिर द्राविड़ शैली वाले ही हैं। उनमें सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं संगमेश्वर मंदिर, विरूपाक्ष मंदिर, मल्लिकार्जुन मंदिर, मलयनाथ मंदिर, सुमेश्वर मंदिर और जैन मंदिर। इनपर पल्लव कला के स्पष्ट प्रभाव दिखायी देते हैं। द्वितीय विक्रमादित्य (७३४-७४५ ई०) की रानी महादेवी अथवा लोकमहादेवी द्वारा निर्मित कराया गया, महदाकार में बना, विरूपाक्ष मंदिर लोकेश्वर नाम से शंकर भगवान का देवालय है और उसकी निर्माण तिथि ७४० ई० मानी गयी है। इसका निर्माण कांची नगर से लाये गये वास्तुकारों, कारीगरों और मजदूरों द्वारा कांचीपुरम् के कैलाशनाथ मंदिर की योजनानुसार किया गया था। द्वितीय विक्रमादित्य ने ७४० ई० में उस नगर (काञ्चीपुरम्) पर आक्रमण किया था और पल्लवराज को हराकर स्वयं कैलाशनाथ के मंदिर में अपना एक लेख खुदवाया था। वहाँ से वापस आते समय ही मजदूर और मिस्त्री लाये गये होंगे (एस० के० सरस्वती, दि स्ट्रगल फार इम्पायर, पृष्ठ ६१५)। विरूपाक्ष मंदिर का **गर्भगृह मण्डपम्** से अलग है; उसके चारों ओर एक **प्रदक्षिणा मार्ग** है; चौकोर शिखर ऊँचाई में उठे हुए कई तल्लों वाला है; **मण्डपम्** के चारों ओर मजबूत दीवारें हैं, जिनमें पत्थर की जालियाँ या खिड़कियाँ बनी हुई हैं। मंदिर के विभिन्न स्थानों पर शिव, नाग, नागिन और **रामायण** के अनेक चित्र उकेरे गये हैं। बहुत विशालकाय यह मंदिर बिना गारा–मसाले के बड़े बड़े प्रस्तरखण्डों को जोड़कर बनाया गया है। उसपर उसके निर्माता वास्तुकार गुण्ड का नाम लिखा हुआ है, जिसके

१. वहीं।

कार्य से प्रसन्न होकर उसे **त्रिभुवनाचार्य** की उपाधि दी गयी थी। आज भी यह मंदिर पूजा पाठ में प्रयुक्त होता है। उससे थोड़ी ही दूर पर निर्मित संगमेश्वर मंदिर भी प्राय: उसी शैली में बना हुआ है, जो विरूपाक्ष मंदिर के रचनाकाल (७४० ई०) के ४० वर्षों बाद बनवाया गया। ए० के० कुमारस्वामी के मत में विरूपाक्ष मंदिर भारतीय वास्तुनिर्माण में एक अलग नमूना[१] है। पर्सी ब्राउन के शब्दों[२] में इस मंदिर में "समग्ररूप से देखने पर एक सुस्पष्टता सुन्दर नजर आती है। यह सबसे अच्छा बाहर से लगता है। इसका निर्माण एक व्यापक योजना के आधार पर हुआ है।" वे पुन: कहते हैं कि "मूर्तिकला भवन निर्माण कला में अनवरत किन्तु अनुशासित धारा में प्रवाहित होती है।----विरूपाक्ष मंदिर अतीत काल के उन दुर्लभ भवनों में से है, जिनमें उन व्यक्तियों की आत्मा अभी भी निवास करती है, जिन्होंने उसकी कल्पना करके अपने हाथों से चरितार्थ किया है।"

चालुक्य भित्तिचित्र

छठीं शताब्दी के बाद के चालुक्य कालीन, विशेषत: अहिहोड़ से प्राप्त, भित्तिचित्रों में निजी व्यक्तित्व के उभार के कुछ स्वरूप सामने आने लगते हैं। यद्यपि उनकी गुणात्मकता बहुत अच्छी प्रतीत नहीं होती, चाहे उनकी रंग लगाने की प्रक्रिया और प्लस्टरी की दृष्टि से देखें अथवा संपूर्ण साजसज्जा की दृष्टि से, तथापि देवमूर्तियों और उनकी संगिनियों की मूर्तियों में एक स्त्रियोचित सौन्दर्य और भावात्मकता का दर्शन होता है। ऐसा कुछ इसके पूर्व कन्हेरी, बादामी और अजन्ता में भी नहीं दिखायी देता। अहिहोड़ में बनी मूर्तियों की कोमलता और अवयव–विस्तार दक्षिण की देन है और अहिहोड़ को वे एक ओर आंध्र पद्धति (स्कूल) और दूसरी ओर पल्लव पद्धति से जोड़ती[४] हैं।

बादामी की तीसरी गुहा में उकेरी गयी अनन्तशायी विष्णु की मूर्ति की गत्यात्मक और शक्तिसंपन्न भावभंगिमा वहाँ के अनेक भित्तिचित्रों में दिखायी देती है। वहाँ के मुख्य देवताओं के शरीर अनुपातत: आकार में विशाल और भारीभरकम रूप में बने हुए हैं। किन्तु वे पूर्ण हैं और मजबूती से निर्मित हैं। उनके शरीरों के भीतर एक अन्तर्निहित ऊर्जा है, जो गहरे और सशक्त जीवनस्रोत से निकलती[५] है।

राष्ट्रकूटों के मंदिर

औरंगाबाद के समीप, लगभग ३० मील की दूरी पर स्थित, इलौरा के गुहामंदिर कदाचित् सबसे बढ़िया हैं। यहाँ ५वीं शताब्दी से लेकर आठवीं शताब्दी तक बनायी गयी हिन्दू, बौद्ध और जैन धर्मावलम्बिओं की लगभग ३५ गुहाएँ हैं। वहाँ का सबसे बढ़िया

१. पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ९५।
२. उद्धृत, नीलकान्त शास्त्री, ए हिस्ट्री ऑफ् साउथ इण्डिया, हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ ४६१।
३. वहीं, पृष्ठ ४६२।
४. एस्० के० सरस्वती, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ५२४।
५. वहीं।

मंदिर पहाड़ी को काटकर राष्ट्रकूट शासक प्रथम कृष्ण (७५६-७७३ ई०) द्वारा बनवाया गया वह कैलाशनाथ का मंदिर है, जो गुहामंदिर का अत्यन्त भव्य और विकसित स्वरूप है। इसकी कल्पना गुहामंदिरों की महिम्नता के रूप में की गयी होगी। "राजा पहाड़ी को काटकर उसमें एक बड़ा खोह[1] (पोल) मात्र बनवा देने से संतुष्ट नहीं था। पूरी पहाड़ी का मुखभाग ही काट डाला गया और पहाड़ पर ही एक भव्य मंदिर बना डाला गया, मानों वह एक पर्वतीय मूर्त्ति के स्वरूप में ही उठा दिया गया हो। इस मंदिर को गर्भगृह, सभागार, द्वार, पूजास्थानयोग्य स्तम्भों, छोटे छोटे गर्भगृहों, सभी के सभी को देवी-देवताओं की मूर्तियों से परिपूर्ण करते हुए, ऐसा छोटे बड़े चित्रों से अलंकृत किया गया है, जिनके सौन्दर्य और शक्ति का स्वरूपीकरण शायद ही बाद की भारतीय कला में कहीं देखने को मिले[2]।"

पूरी पहाड़ी के मुखाग्र भाग को ऊपर से नीचे तक काटते हुए, मंदिर के विभिन्न अंशों को आधा भाग तक निर्मित करते हुए उसके पूर्ण आयाम की कल्पना करने वाले उन वास्तुकारों, संगतराशों और कारीगरों का वह समूह भी धन्य रहा होगा, जिनके मस्तिष्कों में उसके नक्शे सर्वदा ही विद्यमान रहे होंगे। उनकी पत्थर काटने वाली वे छीनियाँ भी धन्य थीं, जो न एक बार अधिक चलीं और न एक बार कम। पहाड़ों को काटकर मंदिर निर्माण करने की इस परिकल्पना के पीछे कम व्यय होने का भी कारण प्रमुख रहा होगा। जमीनी मंदिरों को बनाने में दूर दूर से निर्माण सामग्री लाने-ढोने, मजदूरी की अधिकता, अधिकाधिक मिस्त्रियों और मजदूरों को लगाने और बाँस-पटरा-बल्ली लगाने की आवश्यकताएँ होती थीं। पहाड़ियों के ऊपरी धरातलों के नीचे पहाड़ी मुखों अथवा उसके भीतरी भागों को काटकर गुहा मंदिरों अथवा पूरे मंदिरों को बनाने में यह सब कुछ बच जाने की स्थिति ने भी ऐसे मंदिरों के निर्माण की प्रक्रिया आगे बढ़ाया होगा। इलौरा का यह कैलाशनाथ मंदिर पहाड़ी-मुख को काटकर बनाये जाने के बाद भी बाहर से एक पूरी तरह स्वतंत्र मंदिर के रूप में हैं और इसे स्वतंत्र पहाड़ी मंदिर की संज्ञा दी जा सकती है। यह जमीनी और पहाड़ी मंदिरों के बीच की प्रथम कड़ी है। इसे पर्सी ब्राउन[3] ने "भारत में निर्मित होने वाली महदाकारीय एकल कृति" के रूप में व्याख्यायित किया है। इसके निर्माण के साथ ही हिन्दू मंदिरों के निर्माण का प्राचीनकाल समाप्त हो गया और उसका मध्यकाल प्रारंभ हो गया।

ए० के० कुमारस्वामी कैलाशनाथ मंदिर को पट्टदकल के पापनाथ मंदिर की ही एक प्रतिकृति स्वीकार करते[4] हैं। इसके **गर्भगृह** में लिंग (शिवलिंग), द्राविड़ शैली का

---

१. गुहा, गुफा, खोह आदि शब्द एक ही मूल के हैं।
२. ए० एल्, बैशम, दि वण्डर दैट वाज़् इण्डिया, १९५९ संस्करण, पृ० ३५४।
३. पर्सी ब्राउन, इण्डियन् आर्किटेक्चर (हिन्दू ऐण्ड बुद्धिष्ट) पृ० ९०।
४. ए० के० कुमारस्वामी पूर्वोक्त, पृष्ठ ९९।

शिखर, १६ स्तम्भों पर टिका हुआ चपटा **मण्डपम्**, नन्दी के लिए एक अलग पोर्च (स्तम्भहीन बरामदा) तथा **प्रदक्षिणा मार्ग** के बाहर बने हुए ५ और देवगृह तथा तीन नदी-देवियों के लिए स्थान इसकी कुछ अन्य विशेषताएँ हैं। इसके दो और **ध्वजस्तम्भ** हैं, जो अन्य स्तम्भों की भांति ही उत्तरी आर्य शैली में बने हुए हैं। शेष अन्य सभी निर्माण द्राविड़ शैली के[१] हैं।

कैलाशनाथ मंदिर की मूर्ति-चित्रकारियाँ भारत में पायी जाने वाली कुछ सर्वाधिक उभरी हुई मूर्ति-चित्रकारियों में प्रमुख हैं। कैलाश पर्वत को अपनी बीसों भुजाओं से उठाकर रावण द्वारा फेकें जाने की कोशिश: डरी हुई पार्वती का शंकर की बाहों को पकड़कर सहमते हुए दिखाया जाना और शंकर द्वारा अपने पैरों से कैलाश को दबाये रखने वाली वहाँ की चित्रित मूर्तियाँ अत्यन्त ही जीवन्त और अनूठी हैं। ठीक उसी प्रकार, वहाँ के गंगावतरण, त्रिपुरान्तक के रूप में शिव और गरुड पर सवार विष्णु की मूर्तिकारियाँ भी अत्यन्त ही मनोहारी और आकर्षक हैं।

पर्सी ब्राउन कहते [२]हैं कि "मंदिर के विभिन्न भवनगत अंग-जैसे–कार्निस, भित्तिस्तम्भ, ताखे और द्वारमण्डप सभी स्पष्टरूप से साफ-साफ बनाकर जिस व्यवस्थित और क्रमबद्ध ढंग से रखे गये हैं और फिर मंदिर का जो समग्ररूप सामने उभरकर आता है, वह अत्युत्कृष्ट है। और फिर तीन स्तरों में एक शानदार अटारी ऊपर उठती है, जिसका स्पष्टरूप से बाहर की ओर निकला हुआ नुकीला सामने का हिस्सा और उसके ऊपर खूबसूरत बुर्जी है।-----उसमें सहायक देवस्थानों का वही प्रयोजन है जो गीत में टेकवाली पंक्ति का होता है।"

कन्नड़ वास्तुओं में एलीफैण्टा की गुफाओं का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है, जो भारतीय गुहानिर्माणों की अन्तिम कड़ी के रूप में दिखायी देती हैं। गुहाओं में बने हुए आठवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के वहाँ के दो मंदिरों में अलग-अलग लिंगों की स्थापनाएँ की गयी हैं। उनके अलग-अलग **गर्भगृह** और **प्रदक्षिणामार्ग** हैं तथा मुख्यत: महेश के रूप में शिव की मूर्तिकारी के अतिरिक्त और भी मूर्तियाँ बनायी गयी हैं।

मंदिरों के सामान्य आकार प्रकार तथा बनावट

मंदिरों के निर्माण के पीछे देवपूजन, उनकी पारिवारिक कल्पनाएँ, जनमानस में प्रचलित धार्मिक विश्वास और भारतीय संस्कृति के मूलभूत विचारों की अवधारणाएँ ही प्रमुख प्रतीत होती हैं। लोगों ने विभिन्न देवों, बोधिसत्वों और तीर्थंकरों आदि को अधिमानवों का रूप देकर मंदिरों के रूप में उनके निवास स्थानों कीं कल्पनाएँ कीं और उनके अनेक नाम दिये। मंदिरों के लिए **गृह, भवन, आलय, गुहा, वेश्म, मण्डप,**

---

१. वहीं।

२. उद्धृत, नीलकान्त शास्त्री, ए हिस्ट्री ऑफ् साउथ इण्डिया, हिन्दी अनुवाद, पृ० ४६५।

विमान और **रथ** जैसे नामों के प्रयोग अभिलेखों, काव्यों तथा अन्य लेखनों में प्राप्त होते हैं। चूंकि इनमें से अधिकांश लेखन काव्यमय हैं, अलग-अलग अभिधानों के उल्लेख छन्द, पद्य और अलंकारों के समायोजन की दृष्टि से ही किये गए हुए प्रतीत होते हैं। आगे चलकर राजस्थान और गुजरात में जैनियों द्वारा निर्मित मंदिरों को **बसति** या **बसड़ि** कहा गया।

६ठीं शताब्दी के बाद निर्मित होने वाले भारतीय मंदिरों के आकार-प्रकार और भीतरी निर्माण प्राय: एक ही तरह के हैं। उनके सबसे भीतरी अंश में मुख्य देवता की मूर्ति हेतु एक **गर्भगृह** होता था। इस **गर्भगृह** का मुख्य द्वार मंदिर के **मण्डप** (**मण्डपम्**) की ओर खुलता था। यद्यपि **मण्डप** का एक स्वतंत्र रूप होता था, तथापि यह **गर्भगृह** से एक **अन्तराल** (दोनों ओर आने जाने वाले मध्यवर्त्ती मार्ग) के माध्यम से जुड़ा होता था। **मण्डप** का उपयोग भक्तों द्वारा पूजास्थान के रूप में किया जाता था। मण्डप के आगे भी एक **अर्द्धमण्डप** होता था। **गर्भगृह** के ऊपर मुख्य शिखर बनाया जाता था, जिसकी अन्य दिशाओं में भी छोटे छोटे शिखर बनते थे। मुख्य देवता के **गर्भगृह** के अतिरिक्त भी अन्य देवपरिवारी देवी-देवताओं के छोटे-छोटे कमरों वाले **गर्भगृह** मुख्य मंदिर की विभिन्न दिशाओं में स्थापित होते थे। मंदिरों के पूर्ण आकार चौकोर भूमि पर प्राय: ऊँचे उठे हुए जमीनी आधारों पर बनाये जाते थे। ६०० ई० के पूर्व वाले मंदिरों में लकड़ी के भी उपयोग किये जाते थे, किन्तु बाद में लकड़ी का प्रयोग बन्द हो गया और पूरे के पूरे मंदिर ईंट-गारे-चूने और इमारती पत्थरों (ग्रेनाइट) से या तो जमीन पर बनाये जाने लगे अथवा पहाड़-पहाड़ियों को काटकर बनाये जाने लगे।

शिल्पशास्त्र के ग्रंथों में मंदिरों तथा अन्य भवनों के निर्माण के विधानों (नियमों) के उल्लेख प्राप्त होते हैं। उन ग्रंथों में अनेक आज भी उपलब्ध हैं। मंदिरों में सौन्दर्य की दृष्टि से प्रभूत चित्रकारी, अलंकरण और निर्माण-प्रक्षेप किये जाते थे। "भारी-भारी कार्निस, अपने आकारों और ऊँचाई के अनुपात में चौड़े और मजबूत स्तंभ तथा शिखरों के चौड़े चौड़े आधारों के कारण भारतीय स्थापत्य एक प्रचण्ड मजबूती"[१] का स्वरूप उपस्थित करता है।

आगे चलकर मंदिरों के निर्माण की जो दो शैलियाँ विकसित हुईं, उन्हें **आर्य शैली** और द्राविड़ शैली के नाम दिये गये हैं। दोनों के संगमस्थल को **बेसर शैली** कहा गया है। आर्य शैली और द्राविड़ शैली के मंदिरों में मुख्य भेद उनके शिखरों की बनावट में ही होते हैं। आर्य शैली के शिखर ऊपर जाते हुए गोल किस्म के बनते हैं, जिनके बहिर्भागों पर गोलाइदार रेखांकन (**कर्वीलिनियर आउटलाइन**) किये गये होते हैं और द्राविड़ शैली के शिखरों के स्वरूप चौकोर तथा कटे हुए शीर्ष वाले पिरामिडों की तरह

१. ए० एल्० बैशम, पूर्वोक्त, पृष्ठ ५५७।

निर्मित किये जाते हैं । चूंकि दक्षिण भारत के मंदिरों का मुसलमानों द्वारा उतना अधिक विनाश नहीं हुआ जितना उत्तरी भारत के मंदिरों का हुआ, द्राविड़ शैली के शिखरों के अधिकाधिक प्रमाण नर्मदा की दक्षिणी दिशा में प्राप्त होते हैं ।

चोलो (ड़ों) के साम्राज्य काल में तमिलनाडु मंदिरों से पट सा गया । उनकी ऊँचाई, विशालता और आयत्त इतने बढ़ गये कि उन्हें देखकर आश्चर्य ही होता है । महान् राजराज (९८५-१०१४ ई०) ने, उस समय तक जितने भी मंदिर निर्मित हुए थे, उनकी तुलना में सर्वाधिक विशाल आयत्त और ऊँचाई वाला राजराजेश्वर का शिव मंदिर (तंजाऊर में) बनवाया । उसी की तरह एक अन्य मंदिर उसके पुत्र और उत्तराधिकारी प्रथम राजेन्द्र (१०१४-१०४४ ई०) ने कुम्भकोणम् के निकट अपनी नयी राजधानी गंगैकोण्डशोल्लपुरम् में भी निर्मित कराया । राजराजेश्वर मंदिर का शिखर लगभग २०० फीट ऊँचा है, जो एक महदाकार और ऊँचे तथा चौड़े आधार (नींव) पर खड़ा है, पिरामिड की तरह ऊपर उठता गया है और उसके शीर्ष के रूप में एक गुम्बद बना हुआ है । इसके साथ ही द्राविड़ शैली के शिखरों के निर्माणों का स्वरूप निश्चित हो गया । उपर्युक्त दोनों मंदिरों के स्तम्भों से युक्त **मण्डपों** में अत्यन्त ही सुन्दर और अलंकृत चित्र उकेरे गये हैं । राजराजेश्वर मंदिर तो अनेक चोल(ड़) राजाओं के अभिलेखों के अतिरिक्त चालुक्य, पल्लव और कुछ अन्य राजवंशों के अभिलेखों के अंकन से भी भरा हुआ है ।

तमिलनाडु में चोलो(ड़ों) के उत्तराधिकारी पाण्ड्य राजाओं ने मंदिरों को राजमहलों और दुर्गों की नकल पर बड़ी-बड़ी चाहरदीवारियों (प्राचीर या प्राकार = परकोटा) से आवेष्टित करना प्रारंभ कर दिया । इन प्राकारों में चारों ओर विशाल दरवाजे (मुखद्वार) बनाये जाते थे, जो **गोपुरम्** कहलाए । ये **गोपुर** कभी-कभी तो मुख्य शिखरों से भी ऊँचे होते थे । दीवारों पर बीच-बीच में बुर्ज भी बनते थे ।

पल्लव स्थापत्य

पल्लव कालीन मंदिर वास्तु तीन सौ वर्षों (६००-९०० ई०) के सतत् विकास की देन हैं । इनमें लगभग प्रथम एक सौ वर्ष के विकास तो अत्यन्त ही गौरवशाली हैं । इसी युग में दक्षिण भारतीय द्राविड़ शैली का विकास संपूर्णरूप में दिखायी देता है । साम्राज्यभोगी पल्लवों के शासनकाल का प्रारंभ जब सातवीं सदी के आगमन से शुरू हुआ, तभी से दक्षिण भारतीय स्थापत्य शैलियों का मध्ययुग भी प्रारंभ हो गया । यह युग पूर्णत: संक्रमण का युग था । इस काल में दो प्रकार के मंदिरों के निर्माण हुए । प्रथम प्रकार था छोटे पर्वतों के भीतर की खुदाई वाले मंदिरों (**एक्स्क्वेटेड**) का और दूसरा प्रकार था जमीनी बनावट (**स्ट्रक्चरल्**) वाले मंदिरों का ।

पल्लव कालीन मंदिरों को चार शैलियों में विभाजित किया गया है, जो उनके चार प्रसिद्ध राजाओं के नाम से जानी जाती हैं । वे हैं :—

१. महेन्द्र शैली—६००-६३० ई० पश्चात् तक ।

२. मामल्लशैली—६३५ से ६७५ ई० पश्चात् तक ।

३. राजसिंह शैली—६७५ से ८०० ई० पश्चात् तक ।

४. अपराजित शैली-नवीं शताब्दी के कुछ प्रारंभिक दशकों तक ।

स्पष्ट है, इन कालगत खण्डों में एक से अधिक पल्लव शासक हुए। महेन्द्र शैली के नाम से प्रसिद्ध प्रथम कालखण्ड में प्रथम महेन्द्रवर्मा के अधीन कृष्णा जिले में निर्मित पहाड़ी को खोदकर बनवाया गया मंदिर महेन्द्र शैली का प्रथम उदाहरण है । इसके पूर्व सभी मंदिर "ईंट, लकड़ी, धातु (प्रस्तर) और गारे[१]" या चुनाई किये जाने वाले तरल पदार्थों (चूना, सुर्खी आदि) से जमीनी आधार पर (**स्ट्रक्चरल्**) ही निर्मित किये जाते थे । यह प्रथम महेन्द्रवर्मा के दक्षिणी आर्काट जिले में स्थित मण्डगपट्टु से प्राप्त[२] अभिलेख से स्पष्ट होता है । इस अभिलेख के उल्लेखों की पुष्टि उसी शासक के काञ्चीपुरम् से प्राप्त एक अन्य अभिलेख से भी होती[३] है । प्रथम महेन्द्रवर्मा बहुमुखी प्रतिभा का धनी था और उसके अभिलेखों में जो उसके अनेक विरुद प्राप्त होते हैं, उनमें एक विरुद था **विचित्रचित्त** । सचमुच वह व्यक्तिगत विचित्रताओं से भरा हुआ था, जो उसके राजनीतिक, सैनिक और साहित्यिक जीवन के परिप्रेक्ष्य में ही अच्छी तरह दृष्टव्य है । जोविओं डूब्रियेल उसे "तमिल सभ्यता के इतिहास में महत्तम व्यक्तियों में से एक" स्वीकार करते हैं । कृष्णा जिले की पहाड़ी (चट्टान) को खोदकर निर्मित किये गये उपर्युक्त मंदिर के अतिरिक्त उसने उडवायूर और तिरुचिरापल्ली (त्रिचनापल्ली) जैसे स्थानों में भी वैसे ही मंदिर बनवाये । इन मंदिरों की विशेषताएँ हैं उनके चौकोर स्तम्भ, जिनके जमीनी भाग पर सिंह बने हैं तथा जिनके मध्यभाग आठ पहलों वाले हैं और उनके ब्रैकेट (दिवारगीरी)[४] प्राय: सादे हैं । बड़ी-बड़ी गदाओं पर झुके हुए द्वारपालों के चित्र भी उकेरे गये हैं । उनमें कार्निस बने होते हैं, जो चैत्यनुमा खिड़कियों में ताखों से युक्त होते हैं । इन ताखों को **कुडु** कहा जाता है । उनके मेहराबों के अग्रभाग काफी सादे हैं ।

इन मंदिरों को **मण्डप** की संज्ञा दी गयी है । ये **मण्डप** १५ से २० फीट के आसपास ऊँचे हैं और अलंकृत स्तम्भों से सजे हुए हैं । उनके भीतर कुछ कोठरियाँ भी बनी हुई हैं ।

पल्लव मंदिरों के निर्माण की दूसरी शैली को मामल्ल शैली का नाम दिया गया है । इन मंदिरों को **रथ** की संज्ञा दी गयी है, जिनकी मुख्य संख्या सात होने से इन्हें

---

१. ए० के कुमारस्वामी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ १०२ ।

२. मण्डगपट्टु अभिलेख, एपि० इण्डिका, जिल्द १७, पृष्ठ १७ ।

३. जोविओं डूब्रियेल, काञ्जीवरम् (काञ्चीपुरम्) इन्स्कृप्शन् ऑफ् महेन्द्रवर्मन् फर्स्ट, पाण्डिचेरी, १९१९; पल्लव ऐण्टीक्विटीज़; एपि० इण्डिका, जिल्द १७, पृष्ठ १७ ।

४. दीवारगीरी दीवारों में मूर्ति आदि रखने के स्थान का नाम है ।

सप्तरथ (**सेविन् पैगोडाज़्**) के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त हुई है। सर्वाधिक प्रसिद्ध उनमें पाँच पाण्डव भाइयों के निमित्त बने मंदिर (पञ्चरथ) ही हैं। इन **सप्तरथों** और **गंगावतरण** वाले दृश्य के निर्माण का काल था सातवीं शती के पूर्वार्ध का अगला भाग। मामल्ल शैली के ये मंदिर आधुनिक मामल्लपुरम् (महाबलिपुरम्), चेन्नई से ३२ मील दूर दक्षिण, में समुद्र के बिल्कुल किनारे समुद्र में नीचे तक घुसी हुई पहाड़ियों को काटकर बनाये गये हैं।

२६ दिसंबर २००४ ई० को आयी हुई प्रलयंकारी सुनामी (समुद्री लहरों) के प्रथम वेग में समुद्र का पानी पहले तो बहुत नीचे गया और फिर बाद में लहरों ने सैकड़ों मीटर ऊपर उठते हुए किनारे पर सब कुछ अपने आगोश में ले लिया। लहरों के नीचे जाने वाले वेग के समय इन रथों के बगल वाले तटीय मंदिर (शोर टेम्पुल) की बालू में बहुत दूर नीचे धंसी हुई नीवें तथा निचले तल्ले दिखायी दिये थे। ३० दिसंबर २००४ ई० के चेन्नई से प्रकाशित 'हिन्दू' अखबार के पृष्ठ २२ की रिपोर्ट में उल्लिखित हैं "ए०एस०आई०" (आर्केलॉजिकल् सर्वे ऑफ् इण्डिया) के वहाँ सुनामी आने के समय उपस्थित रहने वाले एक कर्मचारी ने कहा"—"एक अत्यन्त बड़ा जलावेग आया, मानों कोई जलीय बांध (डाम) टूट गया हो। सभी जगह धुंध छा गयी। जब सामान्य समुद्र तट से कई सौ मीटर नीचे लहरें चली गयीं, तीन पर्वतखण्ड (रॉक्स्) दिखायी दिये। उनके नीचे एक चौड़ी नींव थीं, जो ऊपर उठती हुई पतली नोंक जैसी थी। वे (पर्वतखण्ड = रॉक्स्) नंगे बड़े बड़े ढोके नहीं थे।" इस 'शोर टेम्पुल' को द्वितीय नरसिंहवर्मन् **राजसिंह** ने बनवाया था, जो रथ (मामल्लपुरम्) के बिल्कुल बगल में ही है। इन सबकी नीवें एक साथ जुड़ी हुई हैं[१]। आश्चर्य यह है कि ये शिलाखण्ड उतने गहरे समुद्र में आज से १३-१४ सौ वर्षों पूर्व नींव के रूप में कैसे संजोये गये होंगे। यों, मामल्लपुरम् भारतवर्ष को दक्षिण-पूर्व एशिया से जोड़ने वाला बहुत बड़ा बन्दरगाह था। संभव है, सामुद्रिक **इञ्जीनियरिंग** का कोई तकनीकी उपाय उस समय भी विद्यमान हो।

मामल्लपुरम् उस समय एक बन्दरगाह शहर था, जिसे **महामल्ल** (मामल्ल) उपाधिधारी प्रथम नरसिंहवर्मन् (६३०-६६८ ई०) ने महाबलिपुरम् नाम से बसाया था। वहाँ उसकी रानी के साथ उसकी एक चित्रित मूर्ति भी प्राप्त होती[२] है। बहुत अच्छा पहलवान होने के कारण उसे **महामल्ल** (**मामल्ल**) की उपाधि मिली थी।

इन रथों को पहाड़ियों को काटकर उनके भीतर बनाये जाने के कारण कभी-कभी

---

१. इस सम्बन्ध में मामल्ल के एक तमिलभाषी, और अत्यन्त छोटे, अभिलेख तथा बालू के बीच में बने हुए मंदिर के अवशेषों के बारे में देखे, 'दि हिन्दू' अखबार का २९ अप्रैल २००५ का संस्करण।

२. वराह गुहा में सिंहविष्णु और महेन्द्रवर्मन् (प्रथम) के भी भित्तिचित्र उनकी रानियों के साथ बनाये गये हैं।

गुहामंदिर भी कहा जाता है। उनमें त्रिमूर्ति, वराह, दुर्गा और पाँच पाण्डवों के मंदिर सर्वप्रमुख हैं। पञ्चपाण्डवों और वराह के मंदिरों के सामने बरामदे भी बने हुए हैं, जो अठपहले स्तम्भों (खम्भों) पर खड़े हैं। इन खम्भों को मजबूती देने हेतु उनके निचले (भूमि) भागों पर बैठे हुए सिंह बनाये गये हैं। इन्हें बाद में निर्मित होने वाले **यालि** नामक द्राविड़ी शैली के स्तम्भों का पूर्ववर्ती स्वीकार किया जाता है, जिनके शीर्षभाग पर **पलगई** नामक शीर्षफलक (अबैकस्) बने हुए हैं।

गुफाओं और रथों में पल्लवयुगीन (मामल्लयुग की) अत्यन्त सुन्दर भित्तिचित्रकारियाँ उकेरी हुई प्राप्त होती हैं। वराह गुफा में वराह-अवतार, वामन-अवतार, सूर्य, दुर्गा और गजलक्ष्मी के चित्र हैं। दुर्गा गुहा में तो उपर्युक्त चित्रों से भी अधिक भव्यचित्र है अनन्तशायी विष्णु के और महिषमर्दिनी दुर्गा के। पञ्चपाण्डवों के रथों में कृष्ण के चित्र भी **कृष्णदुधाधारी** और **गोवर्धनधर** के रूप में चित्रित हैं।

इन चित्रों के अतिरिक्त 'अर्जुन तपस्या' नाम से ज्ञात, पत्थरों पर काटकर **तीर्थम्** नामक उस मंदिर की दीवार पर बने चित्रों का वह मोहक समूह भी है, जो प्रकृति को पूरी जीवन्तता से उकेरने का एक अत्यन्त ही प्रभावोत्पादक नमूना है। यहाँ एक चपटी (सपाट) पहाड़ी दीवार को बीच में खोह (गुफा = गुहा) जैसे काटकर उसके भीतर की दोनों ओर दीवारों पर देवी-देवताओं, मानवों, नागों, नाना प्रकार के पशुओं के चित्रसमूह, प्रार्थना करते हुए हाथ जोड़ी हुई मुद्राओं में चित्रित किये गये हैं। बायीं ओर शिवमूर्ति के सामने एक कृशकाय योगी (भगीरथ) का उद्ध्र्वबाहु (बाहों को ऊपर उठाये) चित्र तपस्या में रत दिखाया गया है। इसी खोह में और भी अनेक चित्र हैं, जैसे जलीय नागों, ऊपर उड़ते हुए देवताओं तथा नीचे जंगलों में रहने वाले पशुओं और अन्य जीवों, विशेषत: विशालकाय हाथियों के। विद्वानों की राय में यह सारा का सारा चित्रसमूह पहाड़ से भूमि पर उतरती हुई **गंगावतरण** का चित्र है। इन चित्रों में एक वह चित्र भी है, जिसमें नकली तपस्वी बिल्ली अपने दोनों पिछले पैरों पर खड़ी हुई प्रार्थनारत दिखायी गयी है, और उसकी धूर्त्तता के धोखे में आकर चूहों का समूह उसके पैरों के पास खेल रहा[१] है। वहीं बन्दर परिवार का एक समूह भी अपनी विभिन्न मुद्राओं में, कुछ सोये हुए, कुछ उछलकूद करते हुए और कुछ एक दूसरे के शरीरों से जुएँ निकालते हुए, दिखाया गया है, जो पशु आकृतियों का अत्यन्त ही प्राकृतिक और सजीव चित्रण है।

नीलकान्त शास्त्री[२] कहते हैं : "पत्थरों पर उकेरी गयी मूर्तियों के क्षेत्र में पल्लवकालीन चित्रकारों का कोई सानी नहीं हुआ। कल्पना का मूलभूत सादापन और एक साथ कई चित्रों को उचित प्रकार से जगह-जगह बैठाने वाले गोवर्धनधर कृष्ण के चित्र में अथवा महिषासुर से लड़ते हुए दुर्गा के चित्र में अथवा "पत्थरों को काटकर चित्रसमूह"

---

१. इस तरह के धूर्त्तता वाले विवरण हितोपदेश और महाभारत जैसे ग्रंथों में प्राप्त होते हैं।

२. दि चोड़ज्, पृष्ठ ७२३।

बनाने वाले गंगावतरण के अधिक उलझानवाले दृश्यांकन में अथवा अर्जुन तपस्या वाले चित्रांकन में मामल्लपुरम् की चित्रावलियाँ विश्वकला के इतिहास में सर्वोत्तम चित्रों की सूची में अवश्य स्थान पाने योग्य हैं। मामल्लपुरम् में ही वराह गुफा में सिंहविष्णु और प्रथम महेन्द्रवर्मन् की उनकी रानियों के साथ बने भित्तिचित्रों की उच्चकलाकारी बड़ी प्रशंसा की पात्र हैं।''

पाँच पाण्डवों के रथ पहाड़ीनुमा एकाश्म (एक ही पहाड़ी से बने हुए) बड़े इमारती पत्थरों (ग्रेनाइट) के अलग-अलग मंदिर हैं, जिनके बड़े-बड़े शिलाखण्ड (बोल्डर) नीचे समुद्र में बड़ी दूर तक बालू में घुसे हुए हैं। उन रथों की आधारभूत दीवारें बहुत नीचे तक घुसी[1] हैं। ये नकुलरथ, सहदेव रथ, भीमरथ, अर्जुनरथ, भीमरथ और धर्मराज (युधिष्ठिर) रथ नाम से प्रसिद्ध हैं। ये सभी शैवमंदिर हैं, जो पिरामिड के आकार में बने गोल शिखरों से युक्त तीन-तीन तल्लों के बने हैं। उनके सामने छोटे-छोटे **पञ्जरम्** नाम से **मण्डप** बने हुए हैं। इन मंदिरों के शीर्षफलक **पलगई** के बिना ही निर्मित हैं। सप्तरथों (**सेविन पैगोडाज़**) में नकुल-सहदेव रथ को एक ही रथ मानते हुए द्रौपदी रथ, गणेश रथ तथा किनारे के मंदिर वाले रथ समेत सात रथ पूरे हो जाते हैं। ये सभी रथ एक आकार प्रकार में नहीं बने हैं। कुछ चौकोर और कुछ आयताकार हैं। उनके ऊपरी भाग पर गुम्बद हैं, जिन्हें **स्तूपी** या **स्तूपिका** कहते हैं। कुछ गुम्बद मेहराबी भी हैं। मेहराबों को **कुडु** कहा जाता है। ए० के० कुमारस्वामी कहते हैं—''सातवीं शताब्दी में निर्मित इन मंदिरों के भित्तिचित्र बहुत ही उच्चकोटि के हैं। गुप्त युग में बने भित्तिचित्रों की तुलना में ये आयत्त, पतली काययष्टियों और अवयवों की गत्यात्मकता में भिन्न प्रतीत होते हैं। इनके मुख अधिक गोल हैं और गालों की अस्थियाँ उभरी हुई हैं। दैवी और मानव आकृतियाँ अत्यन्त ही भव्य हैं और पशु-आकृतियों के चित्रांकन में तो यह वास्तुविद्यासमुदाय सभी अन्य समुदायों (संप्रदायों = स्कूलों) से आगे है। देवताओं की चार भुजाएँ हैं, द्वारपालों की केवल दो और **लिंगम्** सिलिण्डर जैसे गोल हैं, खाड़ेदार अथवा अलंकृत नहीं[2] हैं।''

राजसिंह शैली

पल्लव शासक, **राजसिंह** उपाधिधारी, द्वितीय नरसिंहवर्मन् (६९५-७२२ ई० प० तक) ने इस शैली का प्रारंभ किया, जो लगभग अगले लगभग दो सौ वर्षों (८वीं-९नवीं शताब्दी) तक अपनायी जाती रही। इस शैली के सभी मंदिर भूमिनिर्मित

---

१. सम्प्रति ये पानीगत और बालूगत आधार समुद्र के पानी के बहुत नीचे (लगभग सैकड़ों मीटर) तक हैं। मूल बनावट के समय वहाँ संगतराश लोग कैसे जाकर काम करते होंगे, यह आश्चर्य की ही बात है। देखें, चेन्नई से प्रकाशित 'हिन्दू' दैनिक (अंग्रेजी) अखबार, ३० दिसंबर २००४ में प्रकाशित आर्केयालॉजिकल् सर्वे ऑफ् इण्डिया के कर्मचारी की सुनामी लहरों के नीचे जाने के समय का चित्र (फोटो) तथा तत्सम्बन्धी विवरण।

२. पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ १०४।

(**स्ट्रक्चरल्**) हैं, जिनमें पत्थरों के टुकड़ों को काट काटकर उन्हें जोड़ते हुए मंदिर निर्मित किये जाते थे। द्वितीय नरसिंहवर्मन् **राजसिंह** ने महाबलिपुरम् के समुद्रतट पर एक विशाल मन्दिर (**शोर टेम्पुल**) बनवाया। किन्तु उससे भी अधिक प्रसिद्ध, अलंकृत और बहुत मानों में नयी परिपाटियों को जन्म देने वाले दो अन्य मंदिरों को उसने अपनी राजधानी काञ्चीपुरम् में बनवाया, जो कैलाशनाथ और वैकुण्ठ पेरुमल के नाम से प्रसिद्ध हैं। छठीं शताब्दी के बाद काञ्चीपुरम् नगर विद्या और कला के क्षेत्र में दक्षिण भारत का सर्वप्रमुख केन्द्र बनकर उभरा। उसी समय शैवधर्म के पुनरुत्थान के रूप में **नायनार** और **आल(ड़)वार** सन्तों की गीतपरम्परा का भी प्रारंभ हुआ। **राजसिंह** की विरुदावली तो बहुत लम्बी (लगभग २५० विरुदों वाली) है, किन्तु यहाँ उसके दो विरुदों को प्रमुखरूप से उल्लिखित किया जा सकता है। वह अपने को **शंकरभक्त** और **आगमप्रिय** कहलाते हुए गर्व का अनुभव करता था। इनसे उसके शैवमतानुयायी होने और मूल संस्कृत आगमों में उसकी रुचि का सहज ही अनुमान हो जाता है। काञ्चीपुरम् के विद्याक्षेत्र में अग्रणीरूप में उभरने के पीछे इस तथ्य का महत्त्व स्वत: ही स्पष्ट हो जाता है। काञ्ची में उसके द्वारा बनवाये गये दोनों मंदिरों में एक शैव मंदिर है और दूसरा वैष्णव मंदिर।

वास्तव में काञ्चीपुरम् द्राविड़ शैली में निर्मित मंदिरों का जन्मस्थान कहा जा सकता है[१]। उनकी विशेषता यह है कि यहाँ सभी द्राविड़ शैलियों वाले निर्माणों के दर्शन होते हैं। कैलाशनाथ का मंदिर बुर्जियों से मण्डित परकोटे से घिरा है और दक्षिण भारतीय मंदिरों में (**प्राकार** = परकोटा) चाहरदीवारी और **गोपुरम्** के निर्माण की प्रक्रिया को यहाँ से प्रारंभ होता हुआ देखा जा सकता है। उसकी छत चिपटी है, **मण्डपम्** स्तम्भों पर आधारित है। **गर्भगृह** (**स्तूपिका**) सहित निर्मित है। यहाँ के स्तम्भों में भी जमीनी भाग पर आधाररूप में बैठे हुए सिंह बने हैं। सब मिलाकर मंदिर की बनावट की प्रक्रिया बड़ी जटिल है। जिन प्रस्तरखण्डों से यह निर्मित हुआ है, उनमें निचले भाग में तो **ग्रेनाइट** अर्थात् कड़े और मजबूत इमारती पत्थरों का प्रयोग हुआ है, किन्तु ऊपर वाले भागों में बलुआ पत्थरों (**सैण्डस्टोन**) का प्रयोग किया गया है। **विमान** (**गर्भगृह**) तथा स्तम्भयुक्त **मण्डप** द्राविड़ शैली के मंदिर निर्माण के आवश्यक अंग होते हैं। इन्हें जोड़ने हेतु **अन्तराल** का निर्माण होता था। पूर्वत: ये तीनों अलग अलग होते थे, परन्तु बाद में सबका निर्माण एकीकृत रूप में किया जाने लगा। कैलाशनाथ मंदिर के प्रवेशद्वार के साथ ही आयताकार एक दोमंजिली बनावट है, जिसके ऊपरी भाग में मेहराबदार गोल शिखर है। इसी निर्माण को **गोपुरम्** का प्राथमिक स्वरूप माना जा सकता है। काञ्चीपुरम् के कैलाशनाथ मंदिर में **स्तूपी** सहित **विमान**, **स्तम्भ**, **मण्डप**, **गोपुरम्** और परकोटे जैसे उन चारों तत्त्वों का प्राधान्य है, जो आगे चलकर सभी बड़े दक्षिण भारतीय मंदिरों के आवश्यक अंग बन गये।

---

१. देखें, वासुदेव उपाध्याय, प्राचीन भारतीय स्तूप, गुहा एवं मंदिर, पृष्ठ २६६-२६७।

राजसिंह द्वारा ७८० ई० में निर्मित वैकुण्ठ पेरुमल का मंदिर पल्लव शैली का अधिक विकसित उदाहरण है। इसमें भी एक परकोटा है जिसकी पूर्वी दीवार पर ड्योढ़ी (बुर्ज) बनी है। मंदिर का **मण्डप** स्तम्भों से युक्त है और वर्गाकार है, जहाँ से **गर्भगृह** में जाने का मार्ग (**अन्तराल**) बना है। इस **गर्भगृह** के ऊपर **पिरामिड** के प्रकार के चार गोल बुर्ज हैं, जिनपर अठकोणी **स्तूपिकाएँ** निर्मित हैं। सबसे नीचे **गर्भगृह** के चारों ओर एक **प्रदक्षिणामार्ग** है।

अपराजित (नंदिवर्मन्) शैली

पल्लव कला (स्थापत्य) का सबसे अन्तिम विकास द्वितीय नन्दिवर्मन् के समय हुआ। परन्तु वह कुछ नयी विशेषताओं से युक्त युग नहीं है। तथापि, इस समय बनाये गये मंदिरों की संख्या बहुत है। काञ्चीपुरम् में मुक्तेश्वर और मतंगेश्वर, चिंगलपुत्त के निकट ओरगडम् में वाडामल्लीश्वर, तिरुत्तरणी में विराटेश्वर तथा गुडीपल्लम् में परशुरामेश्वर मंदिर इसी समय बनाये गये। काञ्चीपुरम् में बनाये गये दो प्रारंभिक मंदिरों के प्रवेश द्वारों पर दो खम्भों पर टिके हुए द्वारमण्डप हैं। अन्य चार मंदिर अर्धवृत्ताकार रूप में बने हुए हैं। वे सभी साधारण मंदिर है जो पल्लव कला के क्षीण होते हुए स्वरूप के द्योतक हैं।

परवर्ती चालुक्य–होयसड़ शैली

शिल्पशास्त्र की पुस्तकों में वास्तुकला की **बेसर** शैली के प्रचलन का क्षेत्र विंध्य के दक्षिण और कृष्णा नदी के उत्तर के क्षेत्रों वाले मध्यवर्ती भाग के बीच बताया गया है। इसे ही चालुक्य शैली का नाम दिया गया है। वास्तव में ये चालुक्य ईसवी सम्वत् सातवीं और आठवीं शताब्दियों में वातापी से शासन करने वाले पश्चिमी चालुक्य नहीं थे, अपितु वे परवर्ती चालुक्य थे जिन्होंने दसवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक कल्याणी को राजधानी बनाकर कन्नड़ क्षेत्रों पर राज्य किया। आगे चलकर दोरसमुद्र के होयसड़ शासकों ने भी इस शैली के मंदिरों का निर्माण करना जारी रखा। अत: इसे कभी-कभी **चालुक्य-होयसड़ शैली** की भी संज्ञा दी जाती है। भौगोलिक दृष्टि से इसके सर्वप्रमुख क्षेत्र थे मैसूर के आसपास के प्रदेश। एच० डी० सांकलिया ने इस शैली को "पूर्वप्रचलित **द्राविड़** शैली का ही एक सुधारित बहिर्विकास माना है, जो चालुक्यों के अधीन रहने वाले मंदिरवास्तुकारों द्वारा सम्पन्न किया [१]गया।" इस शैली का भी जन्म उन पश्चिमी चालुक्य शासकों के समय ७वीं-८वीं शताब्दियों में ही हुआ जब अहिहोड़, बादामी और पट्टदकल में **नागर** और **द्राविड** शैली के मंदिर मिश्रितरूप में एक ही स्थानों में निर्मित हुए थे। फलतः, दोनों शैलियों के सिद्धान्तों का मेल बढ़ा। तथापि **बेसर** शैली के विकास में **नागर** शैली के वास्तुसिद्धान्तों का जोर बहुत अधिक नहीं रहा। अपितु केन्द्रभाव में

---

१. एच्० डी० सांकलिया, आर्केलॉजी, आफ् गुजरात, पृष्ठ ६० ।

द्राविड़शैली की ही प्रधानता रही[१] ।

चालुक्य शैली के मंदिरों में भी **विमान** और **मण्डपम्** जैसे दो निर्माणक तत्त्वों की प्रधानता रहती है । **विमान** के ऊपर कई तल्लों में गुम्बदनुमा शीर्ष के साथ एक **पिरामिड** जैसा गोल शिखर बनाया जाता था । इसी शिखर के चारों ओर ताखों में अलंकृत कलाचित्र (**मोटिफ**) एक दूसरे के ऊपर बनाये जाते हुए ऊपरी भागों तक चले जाते हैं । यह **नागर** शिखरों के प्रभाव के कारण ही है । किन्तु चालुक्य अथवा **बेसर** शैली में **गर्भगृहों** के चारों ओर कोई प्रदक्षिणा मार्ग नहीं होता । **मण्डपम् विमान** से अपेक्षाकृत चौड़े होते हैं । किन्तु बाहर की दीवारों के अलंकरण में **नागर** और **द्राविड़** दोनों ही प्रभाव दिखायी देते हैं । इन दीवारों में **रथों** को खाली जगहों में बिठाया जाता है और पुनः उनमें अर्धस्तम्भों (**पिलास्टर**) की योजना रहती है । ये दोनों **नागर** और **द्राविड़** शैलियों के मेल के रूप में दिखायी देते हैं । इस शैली का केवल एक उदाहरण डम्बल के डोड्ड बासप्प मंदिर में प्राप्त होता है, जो चालुक्य क्षेत्र में ही पड़ता था । कुछ चालुक्य मंदिरों में **मण्डपम्** की विभिन्न दिशाओं में, उसे घेरते हुए, दो, तीन या चार-चार **गर्भगृह** भी बनाये गये हैं । मंदिरों के बाहरी भागों पर रंगीन चित्र भरे पड़े हैं, जिनकी पालिश बहुत ही चमकदार होती है । "सब मिलाकर यदि देखा जाय तो यह प्रतीत होगा कि भारतीय वास्तुकला के सर्वाधिक अलंकृत और पूर्ण पुष्पित रूप में ही चालुक्य वास्तुकला अभिव्यक्त हुई है ।"

श्रवणबेलगोला दक्षिण भारत में मैसूर के हासन जिले में स्थित जैनिओं का सबसे बड़ा तीर्थ है । अब वह मात्र एक गांव के रूपं में शेष बचा है । यहाँ दो पवित्र पहाड़ियाँ हैं–एक है चिक्का और दूसरी है डोट्टबेट्ट । बेट्ट नाम उस विशेष प्रकार के निर्मित पूजास्थल का है जिसमें आकाश की ओर खुला हुआ एक आंगन होता है और उसके चारों ओर कमरे होते हैं तथा बीच में एक विशाल मूर्ति स्थापित होती है, जो प्रायः किसी तीर्थंकर की होती है । इन्हीं मूर्तियों में एक विशाल मूर्ति है गोमटेश्वर की, जो किसी तीर्थंकर की न होकर प्रथम तीर्थंकर ॠषभदेव के चामुण्डराज नामक पुत्र की है । यह मूलतः वहीं के एक शिलाखण्ड से मूलस्थान पर ९८३ ई० में निर्मित की गयी थी और ५७ फीट ऊँची है । **कायोत्सर्ग** (शरीर छोड़ते हुए) मुद्रा में तपस्यारत यह मूर्तिमुद्रा इतनी शान्त और ॠजु तथा दुःख-भाव रहित है कि उसे यह ध्यान ही नहीं है कि उसके पैरों के पास साँप लिपटे हुए हैं, उनपर चीटियों ने वल्मीक बना लिये हैं, जो जंघों तक पहुँच चुके हैं और उसके कंधों तक घासों के झुरमुट उग चुके हैं । एक दूसरी २० फीट ऊँची प्रस्तरमूर्ति इलिवाला पर भी निर्मित है ।

चूंकि श्रवणबेलगोला जैनिओं का सर्वप्रमुख दक्षिण भारतीय तीर्थ है, वहाँ जैन **जिनों** अथवा तीर्थकरों की सैकड़ों मूर्तियाँ और मंदिर देखने को मिलते हैं । आगे चलकर

---

१. एस्० के० सरस्वती, दि स्ट्रगल फॉर इम्पायर, पृष्ठ ६२३ ।

इन मंदिरों को जैनों ने **बसति** नाम दिया। चोल(ड़)—द्राविड़ शैली में ये मंदिर बारहवीं शताब्दी तक निर्मित होते रहे। "इस गाँव में व्यक्तिगत घरों में कम से कम दो धातु निर्मित (संभवत: कांस्य) मूर्तियाँ भी सुरक्षित[१] हैं।" गांव के ही एक मठ में कुछ तीर्थंकरों के जीवन से सम्बद्ध कुछ चित्रकारियाँ (पेण्टिंग) भी रखी हुई हैं[२]।

मैसूर क्षेत्र में ऐसा कोई नगर या गांव नहीं, जहाँ चालुक्य-होयसड़ शैलियों का कोई मंदिर न रहा हो, चाहे वह अब खण्डहर हो गया हो या पूर्णरूप में बचा हो[३]। अत: यहाँ कुछ प्रमुख उदाहरणों तक ही सीमित रहना होगा। हैदराबाद (आंध्र) में कुक्कनूर स्थित कल्लेश्वर का एक मंदिर ऐसा ही है, जो द्राविड़ शैली के पुराने मंदिरों के बाद का प्रतिनिधि कहा जा सकता है। इसमें **गर्भगृह,** उसके सामने का **अन्तराल,** पुन: **मण्डपम्** और इसके आगे स्तम्भहीन छज्जा (बरामदा) है जिसमें नन्दी की मूर्ति स्थापित है। इस प्रकार के मंदिरों के कलाचिह्न (**मोटिफ**) बनावट वाले हैं, न कि मूर्तियों वाले। धारवाड़ जिले के गडग नामक स्थान के दक्षिण–पूर्वी दिशा में स्थित लक्कुण्डी का मंदिर इसका दूसरा उदाहरण है। यह एक जैन मंदिर है। ये उदाहरण चालुक्य वास्तुकला के प्रारंभिक रूपों के हैं। इसी प्रारंभिक निर्माण काल के अन्य मंदिर हैं—हवेरी का सिद्धेश्वर मंदिर, हरलहल्ली का सोमेश्वर मंदिर और निरलगी का सिद्धमाहेश्वर मंदिर। ये सभी धारवाड़ जिले में स्थित हैं।

१२वीं शताब्दी के आते आते चालुक्य-होयसड़ शैली के मंदिर अपने पूर्ण विकास की अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं। उनकी संख्याएँ भी बहुत हैं। उस समय का एक महत्त्वपूर्ण मंदिर है लक्कुण्डी का काशी विश्वेश्वर मंदिर[४]। इसमें दो **देवगर्भगृह** हैं, जिनमें दूसरा **गर्भगृह** पूर्व की दिशा में अक्षाकार (ऐक्सियल्) रूप में प्रथम गृह के सम्मुख निर्मित है। शिखर अलंकरणों से इतना अधिक भरा हुआ है कि उसकी लम्बाई की कल्पना ही उनमें धूमिल हो जाती है। ऐसे अलंकरण मंदिर के प्रत्येक भाग में नीचे से ऊपर तक बनाये गये हैं। "काशी विश्वेश्वर का मंदिर अलंकृत वास्तु का एक बहुत ही प्रधान निर्माण [५]है।" हैदराबाद के इट्टगी में स्थित महादेव मंदिर ऐसा ही एक दूसरा उदाहरण है। यह काशी विश्वेशर मंदिर से भी आकार में बड़ा और अलंकरण में अधिकता लिये हुए है। कुरुवट्टी (बेल्लारी जिला) के मल्लिकार्जुन मंदिर को इसी सरणि में रखा गया है।

धारवाड़ जिले के डम्बल नामक स्थान में निर्मित डोड्डा वासप्प अथवा डोड्डावासवन्न

---

१. ए० के० कुमारस्वामी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ११८।

२. वहीं, पृष्ठ ११९; और देखें इसी पृष्ठ पर निर्दिष्ट पादटिप्पणियाँ।

३. दि स्ट्रगल फॉर इम्पायर, पृष्ठ ६२४।

४. जेम्स् फर्ग्यूसन्, हिस्ट्री ऑफ् इण्डियन् ऐण्ड ईस्टर्न आर्किटेक्चर, जिल्द १, पृ० ४२८-४२९। अभिलेखों में काशी विश्वेश्वर मंदिर को **"देवालय चक्रवर्त्ती"** कहा गया है।

५. एस्० के० सरस्वती, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ६२७।

का मंदिर वह अकेला उदाहरण है, जो नक्षत्ररूपी आधारवाली बनावट का प्रतिनिधि है। यहीं से चालुक्य शैली और होयसड़ शैली का मिलन स्थल प्रारंभ होता[१] है। इसमें एक केन्द्रीय धुरी के चारों ओर एक वर्गाकार गोलाई में बिन्दुओं सहित पुष्पनुमा एक ऐसी नक्षत्रवत शक्ल बनती है, जो नियमित अन्तराल पर सभी बिन्दुओं को छूती है। यह योजना "अन्यत्र तो केवल **गर्भगृह** तक सीमित थी, किन्तु यहाँ (डम्बल के मंदिर में) यह **मण्डपम्** की बनावट में भी लागू की गयी है और वह भी नक्षत्र-आकृति का ही बना है। इसके **गर्भगृह** में वह योजना षट्कोणीय है, "किन्तु उसके मण्डप में अष्टकोणीय है। इस प्रकार कजिन्स् के शब्दों[२] में "**गर्भगृह** की आयोजना में कुल चौबीस पुष्पवत् कोण बनते हैं और **मण्डपम्** की आयोजना में बत्तीस पुष्पवत् कोण।" ये कोण दीवारों में तथा ऊपर बने शिखरों में भी बनाये गये थे, जो अपनी चमक-दमक के कारण मंदिरों की ऊचाइयों को अत्यन्त ही आकर्षक स्वरूप देते थे।

यहाँ चालुक्य-होयसड़ मंदिरों की बनावट[३] पर कुछ ध्यान देना चाहिए। इन मंदिरों का मुख्य कक्ष परकोटे से घिरा रहता है। उसमें क्रमिक रूप में कोठरियाँ बनी रहती हैं। साथ ही उनमें स्तम्भसहित बरामदे भी होते हैं। इन मंदिरों के तीन भाग होते हैं—**गर्भगृह** परकोटे से जुड़ा होता है तथा साथ ही **नवरंग** (स्तम्भसहित) कमरे भी होते हैं। सामने चारों दिशाओं में खुला हुआ एक **मण्डपम्** होता है, जो स्तम्भों पर आधारित होता है। इसे **मुखमण्डप** कहा जाता है। किन्तु शुद्ध होयसड़ शैली के मंदिरों में एक ही **गर्भगृह** नहीं होता, अपितु दो, तीन या चार-चार **गर्भगृह** भी होते हैं। पहले बने हुए मंदिरों में चाहरदीवारी केवल कोणों पर घूमती हुई दिखायी देती है, किन्तु होयसड़ शैली के मंदिरों की दीवारें इस प्रकार कई कोणों पर घूमती हुईं ऊपर जाती हैं कि ताखों के अतिरिक्त उनमें तारों की आकृतियाँ बनती जाती हैं। किन्तु चालुक्य और होयसड़ दोनों ही प्रकार के मंदिरों की योजनाओं में ज्यामिति का अष्टभद्र प्रकार दिखायी देता है। होयसड़ मंदिरों के चबूतरे भी आयताकार न होकर बाहर की ओर कई किनारों का निर्माण करते हुए दिखायी देते हैं। चारों ओर सीढ़ियों से युक्त ये चबूतरे काफी लम्बे चौड़े होते हैं। चूंकि इन मंदिरों में भीतर कोई **प्रदक्षिणापथ** नहीं होता, अत: इन चबूतरों के बाहरी भागों को ही प्रदक्षिणा मार्गों के रूप में प्रयुक्त किया जाता है।

होयसड़ मंदिरों के **विमानों** की दीवारों के तीन भाग[४] होते हैं, जो **कार्निस** से जुड़े होते हैं। इनमें अलग अलग पट्टियाँ खुदी होती है, जिनमें नीचे से ऊपर की ओर

---

१. वहीं, पृष्ठ ६२८।
२. आर्केलाजिकल् ऐण्टीक्वीटिज़् ऑफ् वेस्टर्न इण्डिया, पृष्ठ ३२।
३. देखें, वासुदेव उपाध्याय, प्राचीन भारतीय स्तूप, गुहा एवं मंदिर, पृष्ठ २७९-२८०।
४. उद्धृत, वहीं, पृष्ठ २८०।

हाथियों का जुलूस, अश्व-पंक्तियाँ तथा लता, पुष्प, कीर्त्तिमुख और सूर्य के स्वरूप खुदे होते हैं। पौराणिक दृश्य और हंस-पंक्तियाँ भी वर्तमान हैं। दीवारों के भित्तिस्तम्भ और ताखों में विभिन्न देवताओं की चित्राकृतियाँ अत्यन्त ही मनमोहक और शिल्पकला के उत्कृष्ट नमूनों के रूप में सामने आती हैं। **अष्टभद्र** प्रणाली के कारण गुम्बदों की दीवारों में लम्बी-लम्बी धारियाँ दिखायी देने लगती हैं।

परवर्ती चालुक्यों के बाद हलेबिद या दोरसमुद्र से लगभग तीन सदियों तक शासन करने वाले होयसड़ों ने मंदिर-वास्तुकला तथा मूर्तिकला के क्षेत्र में नयी प्रवृत्तियों और शैलियों का सूत्रपात किया। उनके निर्माणक्षेत्र प्रधानतः मैसूर के आसपास के क्षेत्र हैं। हलेबिद का होयसलेश्वर मंदिर उनकी विशिष्ट कला का सर्वोत्कृष्ट नमूना है। उनके मंदिरों के नये प्रकार की बनावट से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है उन मंदिरों में निर्मित मूर्तियों के निर्माण की प्रक्रिया और उनमें प्रयुक्त किये जाने वाले नये प्रकार और रंगों के पत्थर। ये पत्थर काफी मुलायम होते हैं, जो पार्श्ववर्ती क्षेत्रों में अधिकता से पाये जाते हैं। इनके दाने कड़े इमारती पत्थर ग्रेनाइट या बलुआ पत्थरों की अपेक्षा काफी सूक्ष्म होते हैं और इनका रंग काला होता है। दोरसमुद्र अब मात्र एक ग्राम के रूप में ही बचा है। किन्तु वहाँ हिन्दू और जैन मंदिरों के अनेकानेक अवशेष अब भी वर्तमान हैं।

हलेबिद का होयसलेश्वर मंदिर (१२वीं सदी) गुम्बदहीन[१] है। अन्य होयसड़ मंदिरों की तरह ही इसका **गर्भगृह** एक विशाल स्तंभसहित कक्ष से जुड़ा हुआ है। उसके पूरब **नन्दीमण्डप** बना है। इस मंदिर की विशेषता यह है कि इसमें दो मंदिरों का एक ही साथ जुड़ाव देखा जाता है। तथापि मीनार या गुम्बद के अभाव में यह मंदिर अधूरा ही जान पड़ता है। इन जुड़े हुए मंदिरों के मण्डप आमने-सामने दिखायी देते हैं। बाहरी दीवार तारे के आकार की है और भीतरी दीवार कोण के आकार की। फर्ग्युसन् ने होयसलेश्वर मंदिर को "चालुक्य-होयसड़ वास्तु संप्रदाय की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि" बताया[२] है। दुर्भाग्य यह है कि प्राचीन हलेबिद (हलेबिदु) या दोरसमुद्र के इस वर्तमान उजड़े हुए, फिर भी प्राचीन महत्ताओं की स्मृतियों को संजोये हुए, गांव की दशा दुर्दिन वाली ही है और मंदिर चारों तरफ उगे हुए झुरमुटों और घासों के बीच में अदृश्य सा हो गया है। उसका ऊपरी भाग भी टूटा हुआ है।

मैसूर से ४० किलोमीटर दूर सोमनाथपुर का केशव मंदिर होयसड़ शैली का पूर्ण विकसित रूप है। विशाल प्रांगण के भीतर बना हुआ यह मंदिर तीन **गर्भगृहों** से युक्त है। तीनों के ऊपर अलग **विमान** बने हुए हैं। उन विमानों के खण्डों की कई श्रेणियाँ

---

१. वासुदेव उपाध्याय, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ २८२।
२. हिस्ट्री ऑफ् इण्डियन् ऐण्ड ईस्टर्न आर्किटेक्चर, जिल्द १, पृष्ठ १७१।

हैं जो एक के ऊपर एक बनी हुई हैं। इसके **सभामण्डप** की छत में निर्मित शिल्प अत्यन्त ही प्रसिद्ध हैं।

"होयसड़ मंदिरों की बनावट के प्रदर्शक नमूनों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह चालुक्य मंदिर नमूनों का ही एक विकसित रूप है। चालुक्य (मंदिर) आन्दोलन की जो प्रवृत्तियाँ थीं, वे ही इसमें प्रफुल्लित रूप में दिखायी पड़ती हैं। तथापि शुद्ध वास्तु शिल्प की दृष्टि से होयसड़ मंदिर देखने वालों को बहुत आकृष्ट नहीं कर पाते। जो साधारण भाव उत्पन्न होता है, वह यह है कि यह मंदिर वास्तुकार की देन न होकर एक चित्रकार की देन है। अकेले-अकेले मंदिरों पर की गयी चित्रकारी भी अत्यधिक है। हलेबिद का होयसलेश्वर मंदिर (बाद में बनने वाले मंदिरों का अन्त) इस तथ्य को भलीभांति उजागर करता है[१]।"

चोड़-द्राविड़ शैली

चोड़ शासकों का राज्यकाल बहुत ही लम्बा था। उन्होंने अपनी सत्ता के चरमोत्कर्ष (१०वीं शताब्दी के बाद-तेरहवीं शती तक) के दिनों के पूर्व भी अनेक मंदिरों का निर्माण कराया था, जो अधिकांशत: अब, खण्डहर मात्र के रूप में बचे हैं। वे प्रारंभिक युग के मंदिर[२] द्राविड़ शैली में निर्मित मंदिरों के पूर्व के हैं और उनकी पूरी सूची न देकर उनमें से कुछ, अपेक्षाकृत अधिक गण्य, मंदिरों मात्र का उल्लेख यहाँ पर्याप्त होगा। नारट्टमलई का विजयालय चोड़ेश्वर उनमें प्रथम प्रतीत होता है, जिसे प्रथम प्रसिद्ध चोड़ शासक विजयालय (८५०-९०७ ई० प०) ने निर्मित कराया था। इसे आरंभिक चोड़ शैली के मंदिरों का एक अनुपम नमूना माना गया है, जो पश्चिमाभिमुखी रूप में बना है। कन्नानूर (पुदुकोट्टई) का सुब्रह्मण्यम् मंदिर उसी शैली का दूसरा उदाहरण है, जो प्रथम आदित्य के शासनकाल की देन है। कुम्भकोणम् का वाके(गे)श्वर मंदिर भी प्राय: उसी समय और उसी कोटि का मंदिर है। इसके बाहरी ताखों पर भी अन्यान्य देवताओं की मूर्तियाँ बिठायी गयी हैं।

मंदिर निर्माण की अगली विकास अवस्था हमें त्रिचनापल्ली (तिरुचिरापल्ली) में स्थित श्रीनिवासनल्लूर के कोगंदनाथ मंदिर में दीख पड़ती है, जिसका रचना काल प्रथम परांतक (९०७-९५७ ई०) के समय का है। कोडुमवालूर (पुदुकोट्टई) में मूवरकोइन (तीन का मंदिर) का चोड़ मंदिर अपनी मूर्तियों के सौष्ठव और सौन्दर्य तथा कला की उत्कृष्टता के लिये प्रसिद्ध था। इसके केन्द्रीय देवस्थानों के अतिरिक्त कई अन्य देवस्थान **(गर्भगृह)** भी हैं, जिनकी संख्या धीरे धीरे १५ हो जाती है।

---

१. एस्० के० सरस्वती, दि स्ट्रगल फॉर इम्पायर, पृष्ठ ६३१।

२. नीलकान्त शास्त्री, ए हिस्ट्री ऑफ् साउथ इण्डिया, हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ ४७३ और आगे; ब्यौरों के लिए देखें, नीलकान्त शास्त्री, दि चोड़ज्, पृष्ठ ६९८ से ७०९ तक।

किन्तु चोल(ड़) मंदिर वास्तु का असली प्रारंभ तो द्राविड़ शैली में निर्मित तंजौर (तञ्जाऊर) के उस राजराजेश्वर मंदिर से हुआ, जिसे प्रथम राजराज (९८५-१०१४ ई० प०) ने अपनी बढ़ी हुई सैनिक शक्ति, उत्तम शासन-व्यवस्था, वृहद् चोल(ड़) साम्राज्य के स्थापन, नौसैनिक बेड़ों की मारकक्षमता एवं व्यापार-वाणिज्यजन्य आर्थिक सम्पन्नता के प्रतीकरूप में निर्मित कराया[१] । प्रथम राजराज केवल चोड़ शासकों मात्र में ही नहीं, प्राचीन भारतीय "महत्तम शासकों में एक" कहा गया है । उसे इस महत्ता का स्पष्टत: भान भी था, जो मंदिर के राजराजेश्वर नाम से ही प्रकट होता है । जहाँ अन्य मंदिर या तो स्थानविशेष के नाम से अथवा देवविशेष के नाम से नामोल्लिखित हैं, वहीं यह मंदिर एक मानुज अथवा राजकीय नाम से विश्रुत है, यह उसके विशेष और महद्स्वरूप का परिचायक है । ए० एल्० बैशम के शब्दों में "उस समय तक बनाये गये सभी भारतीय मंदिरों में आकारदृष्टि से यह सर्वाधिक बड़ा मंदिर है ।" इसका निर्माणकार्य १००९ ई० में पूरा हुआ था ।

राजराजेश्व मंदिर भारतीय मंदिरों में सबसे बड़ा और सबसे ऊँचा है । ५०० फीट लम्बे और १५० फीट चौड़े चबूतरे पर बना हुआ यह मंदिर चारों तरफ दीवारों से घिरा हुआ है । दक्षिण भारतीय मंदिरों के चारों ओर इस प्रकार की चाहरदीवारी बनाये जाने का यह प्रथम उदाहरण है, जो संभवत: रक्षा की दृष्टि से कम अपितु राजशाही महलों की बनावट की नकल के रूप में ही अधिक समझा जा सकता है । इसके बीच **विमान, अर्द्धमण्डप, महामण्डप** और उसके भी सामने एक **नन्दीमण्डप**-सभी एक कतार में निर्मित हैं । सामने पूर्व की ओर एक **गोपुर** निर्मित है । यद्यपि **गोपुरों** के निर्माण की यह परंपरा आगे चलकर पाण्ड्य शासकों के समय से ही विशेषरूप से प्रचलित हुई, राजराजेश्वर मंदिर का **गोपुर** भी मंदिर के परकोटे की तरह ही, एक नये चलन के रूप में स्वीकार किया जाता है । इस विशाल **गोपुर** के आगे एक छोटा **गोपुर** भी है, जिसके नीचे मुख्य मंदिरद्वार है । मंदिर का मुख्य भाग तो है उसका भव्य **विमान,** जो पश्चिमी दिशा में **गर्भगृह** की जमीन से २०० फीट ऊपर तक उठा हुआ है, उसकी सुन्दरता इस कारण निखर उठती है कि उसके सभी भागों के निर्माण बड़ी सादगी से हुए हैं और उसमें अनावश्यकता उबाऊ अलंकरण नहीं किये गये हैं । ये सादे हिस्से हैं—"उसका वर्गाकार लम्बमान आधारतल, लम्बा शुण्डाकार मध्यभाग तथा सबसे ऊपर शानदार गुम्बदाकार कलश[२] ।"

मंदिर का गर्भगृह ४५ फीट वर्गाकार रूप में निर्मित है, जिसके चारों तरफ ७ फीट चौड़ा प्रदक्षिणा मार्ग है । इस मार्ग की दीवारों पर अत्यन्त सुन्दर भित्तिचित्र बने हुए हैं । भीतर के महान् आकार वाले शिवलिंग को पहले राजेश्वर और अब वृहदीश्वर लिंग कहा[३] जाता है ।

---

१. नीलकान्त शास्त्री, दि चोड़ज्, पृष्ठ ७१० ।
२. उद्धरण नीलकान्त शास्त्री, ए हिस्ट्री ऑफ् साउथ इण्डिया, हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ ४७८ ।
३. विस्तृत ब्यौरों हेतु, देखें नीलकान्त शास्त्री, वहीं, पृष्ठ ४७६-४७८ ।

राजराजेश्वर मंदिर की विशेषताओं का समाहार करते हुए ए० के० कुमारस्वामी कहते हैं[१] : "चोल(ड़) कला के क्लासिकी उदाहरणों में १००० ई० के आसपास निर्मित तंजौर के राजराजेश्वर **विमान** तथा गंगैकोण्डचो(शो)लपुरम् के उसके पुत्र (प्रथम) राजेन्द्र चोल(ड़) द्वारा १०२५ ई० में बनवाये **विमान** प्रमुख हैं। पहले में मुख्य मंदिर के अतिरिक्त दो गोपुरों के अतिरिक्त एक अन्य छोटा मंदिर तथा अन्य निर्माण, विशेषत: सुब्रह्मण्यम् मंदिर के निर्माण, तो बाद के हैं। मंदिर के अन्य संलग्नक निर्माणों के साथ अत्यन्त विशाल **विमान** की सुंदरता, सादगी का परित्याग किये बिना, अत्यन्त सम्मोहक है। सीधी रेखाओं में ऊपर उठते हुए शिखर के पिरामिड आकार के १८ तल्ले हैं, जिनमें प्रत्येक को **पञ्चरम्** निर्माणों के द्वारा सुशोभित किया गया है। सबके ऊपर एक **कलश** है। सबसे निचले तल और मंदिर की संपूर्ण संकल्पना अनुपातत: विशिष्ट है। मंदिर में जितने भी अलंकरण हैं, वे सभी उसकी संपूर्ण संकल्पना की रेखांकन सीमा के भीतर ही आनुपातित हैं।"

तंजौर के राजराजेश्वर मंदिर के निर्माण के बीस वर्षों के भीतर ही प्रथम राजराज के पुत्र और उत्तराधिकारी प्रथम राजेन्द्र चोल(ड़) द्वारा बनवाये गये गंगैकोण्डचोल्ल (शोल्ल)पुरम् का वृहदीश्वर मंदिर (तिरुचिरापल्ली) चोड़ वास्तु का दूसरा अनुपम नमूना है। इसमें राजराजेश्वर मंदिर के निर्माण की सारी परिकल्पना तो प्राय: वही है, किन्तु भीतर की आत्मा कुछ भिन्न ही है। पर्सी ब्राउन[२] ने इसे "तंजौर मंदिर के पुरुषत्त्व के प्रतीक रूप के विपरीत स्त्रीत्व स्वरूप" का प्रतिनिधि माना है। इस मंदिर में कामुक सौन्दर्य का दर्शन होता है। इस सौन्दर्य का कारण है इसका शोभन अलंकरण, जो **विमान** की वक्राकृतियों में स्पष्टत: दृष्टिगोचर होता है। तंजौर के मंदिर में **विमान** में सीधी-सीधी रेखाएँ मात्र हैं। गंगैकोण्डचोल्ल(शोल्ल)पुरम् का मंदिर, मंदिर की बजाय, मानों एक किला जैसा लगता है, जिसमें दक्षिण पश्चिमी कोण पर एक दुर्गनुमा निर्माण है और वैसा ही, किन्तु छोटा, निर्माण पश्चिमी कोणपर भी है। वैसा ही मंदिर का भौमिक आयत्त एक चतुर्भुज के आकार में ३४० फीट लम्बा और १०० फीट चौड़ा है और उसका मण्डप १७५ फीट लम्बा तथा ९५ फीट चौड़ा है। **गर्भगृह** और **मण्डप** के बीच में एक **अन्तराल** (दोनों तरफ जाने का मार्ग) है। **गर्भगृह** चौकोर और १०० फीट के वर्ग में है। **अन्तराल** के दोनों दरवाजे पूर्व और पश्चिम दिशाओं में हैं, जिनपर द्वारपालों के चित्र बने हैं। दोनों ओर सीढ़ियाँ भी बनी हैं[३]।

मण्डप की पूर्वी दिशा में मुख्य द्वार है, जो अलंकरणों से भरपूर है। **मण्डप** आठ पंक्तियों में निर्मित १४० स्तम्भों पर आधारित है। ये स्तंभ **मण्डप** की चौड़ाई वाले भाग

---

१. हिस्ट्री ऑफ् इण्डियन् ऐण्ड इण्डोनेशियन् आर्ट, पृष्ठ १२२।
२. जर्नल ऑफ् इण्डियन् सोसायटी ऑफ् इण्डियन् आर्ट, कोलकाता, जिल्द २, पृष्ठ ४।
३. नीलकान्त शास्त्री, दि चोल(ड़)ज़्, १९५५, पृष्ठ ७१३।

में हैं। मंदिर का **विमान** १६० फीट ऊँचा है, जो तंजौर वाले मंदिर से छोटा है। किन्तु वह मंदिर की शोभा को बढ़ाने वाला ही है और मंदिर की संपूर्ण योजना में वृद्धिकारक है। किन्तु जहाँ तंजौर मंदिर के **विमान** में तेरह तल हैं, इस मंदिर में केवल आठ तल ही हैं। **विमान** निर्माण के इसी भाग में वे कामुक वक्राकृतियाँ निर्मित हैं, जो तंजौर मंदिर के शालीन सौन्दर्य और सादगी से आगे बढ़ती हुई एक नयी रीति को जन्म देती हुई दिखायी देती हैं। ये आकृतियाँ **विमान** के कोणों और मुड़ावों पर निर्मित हैं। "अलंकरण की यह समृद्धि ऊपर बने हुए **कलश** के भीतर तक दृष्टिगत होती है, जहाँ शीर्ष पर वे चार **कुडु चैत्य** अलंकरणों के रूप में सजाये गये हैं और ऐसे लगते हैं मानों वे पंख[१] हों।" पर्सी ब्राऊन के शब्दों[२] में "समग्ररूप में देखने पर बहुश: तृप्त कर देने वाली अपनी परिपूर्णता के साथ इस अमर चोल(ड़) कृति का सौन्दर्य पूरी तरह परिपक्व है।"

"चोल(ड़) वंश के इन दो महत्तम शासकों के अधीन चोल(ड़) युग की द्राविड़ वास्तुकला अपनी अभिव्यक्ति की चरम बिन्दु को प्राप्त कर लेती है। तंजौर के **विमान** में वृहद् आकार वाले वास्तु के महदाकार स्वरूप और महत्त्वाकांक्षी ऊँचाई के बीच एक बढ़िया समन्वय स्थापित किया गया है। निर्माणकल्पना को यहाँ **विमान** का स्वरूप आच्छादित कर देता है और सारा अलंकरण इस परिधि के भीतर गौण ही है। गंगैकोण्ड-चो(शो)ल्लपुरम् में भी वास्तुस्वरूप वैसा ही है, किन्तु अलंकरण की मात्रा बढ़ गयी है, यद्यपि अब भी वह वास्तुरेखाओं के नीचे की स्थिति में ही है। किन्तु इसमें एक चंचल अधीरता सीमाओं को पार करती हुई बहुत मात्रा में प्रस्फुटित होती हुई दिखायी देती[३] है।"

उपर्युक्त दोनों मंदिरों के अतिरिक्त उन दोनों से ही सटे हुए दुर्गा मंदिरों का उल्लेख भी आवश्यक है। इन्हें **अम्मा** का मंदिर कहा जाता है। तमिल(ड़) भाषा में अम्मा का अर्थ होता है 'देवी'। यद्यपि तंजौर के वृहदीश्वर (राजराजेश्वर) मंदिर का संगी दुर्गा मंदिर (अम्मा मंदिर) बाद में बना, गंगैकोण्डचो(शो)ल्लपुरम् का मंदिर (अम्मा मंदिर) वहाँ के वृहदीश्वर की संगिनी के रूप में प्रचलित है। किन्तु प्रथम राजेन्द्र चोल(ड़) द्वारा निर्मित यह दुर्गा (अम्मा) मंदिर अपनी योजना की दृष्टि से राजराजेश्वर मंदिर के अधिक नजदीक प्रतीत होता है, बजाय गंगैकोण्डचो(शो)ल्लपुरम् के वृहदीश्वर वाले मंदिर की योजना के। तमिलनाडु में प्रत्येक दुर्गा मंदिर अलग-अलग नामों से जाना जाता है। आगे इसे तिरुकामकोट्टम् कहा जाने लगा। राजराजेश्वर मंदिर की बगल वाला दुर्गा मंदिर १३वीं शती में निर्मित हुआ और उसका नाम है वृहन्नायकी मंदिर। बाद की शताब्दियों में कई चोल(ड़) शासकों ने ऐसे अनेक **अम्मा** (दुर्गा) मंदिरों का निर्माण कराया। परवर्ती चोल(ड़) काल में **गोपुरम्** और **मण्डपम्** का महत्त्व बढ़ता गया और उसी अनुपात में

---

१. नीलकान्त शास्त्री, दि चोल(ड़)ज़्, पृष्ठ ७१४।

२. जर्नल् ऑफ् इण्डियन् सोसायटी ऑफ् इण्डियन् आर्ट, जिल्द २, पृष्ठ ५।

३. एस्० के० सरस्वती, दि स्ट्रगल फॉर इम्पायर, पृष्ठ ६२१।

उनके आकार भी वृहत्तर होते गये । यहाँ तक कि पाण्ड्यों का काल आते-आते अनेक **गोपुरों** का निर्माण तो इतने विशाल और उन्नतरूपों में हुआ कि वे मुख्य **विमानों** से भी ऊँचे दिखायी देने लगे । किन्तु इन गोपुरों का प्रचलन बहुत पूर्व पल्लव शासकों द्वारा निर्मित मंदिरों के समय से ही प्रारंभ हो गया था, जिनकी विशेष चर्चा यहाँ आवश्यक नहीं है ।

१२वीं शताब्दी में **दारासुरम्** का ऐरावतेश्वर मंदिर (तंजाऊर जिला) में बना, जो द्वितीय राजराज के समय में बनने के कारण राजराजेश्वर भी कहलाता है । तृतीय कुलोत्तुंग के समय तक इसमें अनेक जुड़ाव किये जाते रहे । इसकी विशेषता यह है कि इसमें एक **प्राकार** (परकोटा) न होकर कई **प्राकार** बने थे और सभी के अलग-अलग **गोपुर** भी बने थे । किन्तु उनमें से आज केवल एक ही बचा है । इसकी संयोजना तंजौर के प्रथम राजराजेश्वर मंदिर की संयोजना की तरह ही है । किन्तु एक बड़ा भेद यह है कि इसके **महामण्डपम्** के आगे एक ऐसा **अग्रमण्डपम्** है, जिसके दक्षिण भाग में एक **'पोर्च'** (स्तंभरहित छज्जा) भी है । **अग्रमण्डपम्** में नीचे खम्भे बने हुए हैं । इस **अग्रमण्डपम्** की विशेष संज्ञा है **राजगम्बीरन् तिरुमण्डलम्** । इसके निर्माण का उद्देश्य इसमें पहियों वाले रथ को हाथियों द्वारा खींच कर ले जाने का था । इस प्रथा के कारण ही मंदिर का नाम **ऐरावतेश्वर** पड़ा । प्रथम राजराज और प्रथम राजेन्द्र चोल(ड़) द्वारा बनवाये गये मंदिरों की अपेक्षा इसमें कारीगरी, अलंकरण और अभिप्रायों (मोटिफ्स्) का अत्यधिक प्रयोग हुआ है ।

चोड़ चित्रकला

पल्लव चित्रकारों ने पत्थरों पर जो (जमीनी या दीवारों पर) चित्र उकेरे, उनका आकार प्रकार काफी बड़ा है । किन्तु चोल(ड़) चित्रकारों द्वारा पत्थरों पर उकेरे जाने वाले चित्र अपने आयत्तों में बहुत छोटे हैं । चोड़ों के समय तक **नायनारों** और **आल(ड़) वारों** द्वारा जो सन्तचरित साहित्यिक रूप में विकसित किये गये थे, वे ही चोड़ चित्रकारों द्वारा अपने चित्रों में रूपायित हुए । इनके पीछे तमिलदेश में बहुप्रचलित पौराणिक देवकथाओं को आधाररूप में देखा जा सकता है । ऐसे ही वृत्त छोटे-छोटे पत्थरों पर उकेरे गये । कुम्भकोणम् के नागेश्वर मंदिर में तो कुछ इतने छोटे चित्र हैं, जिनका आयत्त केवल छह इञ्च x चार इञ्च मात्र का है । जो बड़े हैं, वे भी दो फीट x एक फीट से बड़े नहीं हैं । त्रिभुवनम् के कम्पहरेश्वर मंदिर में **रामायण** की कथाओं के आधार पर ऐसे कुछ बड़े चित्र प्राप्त होते[२] हैं ।

चोड़ों के समय के धातुकीय (कांस्य) चित्रों के अतिरिक्त जो भित्तिचित्र बने, वे

---

१. नीलकान्त शास्त्री, दि चोड़ज्, १९५५, पृष्ठ ७१७-७१८ ।

२. वहीं, पृष्ठ ७२३ ।

मंदिर वास्तु के अधीन बनावट के रूप में ही प्राप्त होते हैं। ऐसे चित्र दीवारों, स्तम्भों, चबूतरों, छतों (निचली) तथा ऐसे ही उपयुक्त स्थानों की शोभा बढ़ाने मात्र के उद्देश्य से बनाये गये हैं। किन्तु चोड़ चित्रकार इन स्थानों को अनेकानेक चित्रों द्वारा कभी भी न तो बोझिल होने देते थे और न दन्तकारों अथवा स्वर्णकारों की नक्काशी की ही नकल करते थे। चोड़ चित्रकला के तीन स्वरूप दिखायी देते हैं; मानवाकृति, देवाकृति और अलंकरण वाले चित्र। मानवाकृतियाँ तो बहुत ही कम हैं और यह स्पष्ट है कि उनके निर्माण का चलन खत्म हो गया था। देवाकृतियों में शिव को विभिन्न रूपों में, विशेषत: कांस्य मूर्तियों के रूप में, रूपायित अथवा मूर्तिकृत रूप में उपस्थित करने की एक लम्बी परंपरा विकसित[१] हुई। तथापि वैष्णव और जैन मूर्तियों का निर्माण भी जारी रहा। किन्तु इनके निर्माण में किसी निश्चित शास्त्रीय विधि का ही पालन किया जाता रहा हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

यों तो कांस्य मानवाकृतियों का निर्माण दसवीं शताब्दी के प्रारंभ के बाद से ही चालू हो गया था, स्वयं प्रथम राजराज की रानी चोड़ महादेवी की कालहस्ति मंदिर में रखी प्रतिमा उल्लेखनीय है। प्रतिमा के पदस्थल पर एक लेख खुदा हुआ है, जो यह बताता है कि स्वयं राजेन्द्र चोड़देव ने नच्चपट्टालगन (मूर्तिकार) द्वारा इसे निर्मित कराया था। इस प्रकार इस प्रतिमा को प्रथम तिथियुक्त चोड़ प्रतिमा स्वीकार किया गया है। कालहस्ति के ही कालट्टि उडैयार मंदिर में तृतीय कुलोत्तुंग की एक अन्य तिथ्यांकित कांस्य प्रतिमा भी है, जो बाल्य आकार की दांये हाथ में, **कटकमुद्रा** (युद्धमुद्रा) में एक तलवार लिये हुए है और मनुष्य की छाती की ऊँचाई के बराबर है। लेख से यह प्रमाणित है कि उडैयनम्बि नामक किसी व्यक्ति ने इसे भेंट रूप में प्रदान किया था। नीलकान्त शास्त्री के मत[२] में युवाशक्ति और उत्कण्ठा का भाव लिए यह प्रतिमा संभवत: उस शासक के राज्याभिषेक के समय स्थापित की गयी थी। अनेक स्त्री प्रतिमाएँ विभिन्न मंदिरों के विभिन्न ताखों में भी बनी हुई हैं।

चोड़ क्षेत्र के विभिन्न मंदिरों में या तो पत्थरों की अथवा कांसे की अनेक देवप्रतिमाएँ स्थापित की हुई प्राप्त होती हैं, जो या तो शिव की अथवा विष्णु और उनके अवतारों की हैं। वीणाधर दक्षिणामूर्ति की दो प्रतिमाएँ पुदुकोट्टा (ह्) जिले के तिरुकट्टाल और कोडुम्बलूर के मंदिरों के ताखों में स्थापित हैं। तिरुकोट्टाल मंदिर की मूर्ति संभवत: त्रिपुरान्तक की है और कोडुम्बलूर वाली मूर्ति त्रिपुरसुन्दरी की है। कोडुम्बलूर में अर्धनारीश्वर की एक अन्य अत्यन्त ही सुन्दर, किन्तु कुछ-कुछ खण्डित, मूर्ति भी

---

१. वहीं, पृष्ठ ७२३-७२४।
२. वहीं, पृष्ठ ७२६।

विद्यमान है। तिन्नेवली जिले का तिरुवालीश्वरम् मंदिर तो प्रारंभिक चोड़ युग में निर्मित प्रस्तर मूर्तियों का मानों एक अजायबघर ही है।

कांस्यमूर्तियाँ

धातुकीय मूर्तियों को कांस्यमूर्ति का एक समवेत नाम दे दिया गया है, बिना इस बात का कोई भेद किये कि किस मूर्ति में कितना ताँबा अथवा अन्य धातुओं का मिश्रण है। ये मिश्रण अलग-अलग मात्राओं में होते थे। इन कांस्य प्रतिमाओं के निर्माण का तकनीकी ज्ञान तंजाऊर के एक अभिलेख से प्राप्त होता है, जो यह बताता है कि वे या तो पूरी ठोस, या भीतर से कुछ थोड़ी पोपली या अधिक पोपली अथवा मोटी परतों वाली होती थीं। चोड़ युग की जो अनेकानेक कांस्य प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं, उनसे उस युग के अत्यन्त ही अधिक विकसित कांस्य उद्योग और कांस्य कला के प्रमाण प्राप्त होते हैं।

अधिकांश कांस्य प्रतिमाएँ देवप्रतिमाएँ ही है, जो शिव के विभिन्न रूपों की हैं। नागेश्वर मंदिर की **नटराज** प्रतिमा अबतक ज्ञात सभी प्रतिमाओं में सबसे बड़ी और सर्वसुन्दर प्रतिमा[१] है। इसके अतिरिक्त तंजाऊर में स्थापित प्रतिमा; नल्लूर की **कालिकाताण्डव** की अष्टभुजी प्रतिमा; तिरुवरंगुलम् की **चतुरताण्डव** प्रतिमा जैसी अनेक प्रतिमाएँ मद्रास (चेन्नई) अजा़यबघर में रखी हुई हैं। "रोडिन जैसे आधुनिक समालोचक मूर्तिकारों से भी इस दैवी नर्तक के ब्रह्माण्डीय स्वरूप और कल्पना को मूर्तरूप देने वाले चोड़ मूर्तिकार के मूर्तिरूपायन की प्रतिभा को भरपूर प्रशंसा प्राप्त हुई है।"

नटराज के मूर्तिकरण की प्रशंसावाले ग्राउसें(ट) के शब्दों को नीलकान्त शास्त्री[२] उद्धृत करते हैं :—

"चाहे उसके चारों ओर प्रभामण्डल का घेरा हो या न हो, वह विश्व चक्र को पूरी तरह भर देता है और उसके बाहर भी निकल जाता है। नर्तकों का राजा लय और छन्द मात्र है। ऊँचाई का रूप है। एक हाथ से जिस डमरू को वह बजाता है, वह समस्त विश्व के सभी जीवों को उसी लय में समाहित कर देता है और सभी उसी के साथ नाचने लगते हैं। उसके उड़ते हुए बाल और गलवस्त्र इस ब्रह्माण्डीय गत्यात्मकता को बताते हैं, जिससे तत्त्वों का स्वरूपीकरण होता है और फिर सबकुछ धूलि बन जाता है। उसके बायें हाथों में एक में वह अग्नि है, जो इस ब्रह्माण्ड को जीवरूप प्रदान करती है और पुनः उसे ब्रह्माण्ड चक्र में आत्मसात कर लेती है। देवता (ईश्वर = शंकर) का एक पैर राक्षस को दबा देता है और "नृत्यकार का मृतकों के शरीरों के ऊपर नर्तन होता है।" तथापि दाहिने हाथों में एक अन्य हाथ **अभयमुद्रा** में अभय प्रदान करता है। अतः यह सच है कि ब्रह्माण्डीय विधि से देखने पर यह भूमण्डलीय नियति भी दयावान दीखती है, ठीक

---

१. दि चोड़ज़्, पृष्ठ ७३०।
२. वहीं पृष्ठ ७३०-७३१।

वैसे ही जैसे भविष्य में उत्पत्ति का सिद्धान्त। और यह भी सच है कि एक कांस्य मूर्ति में नर्तकराज व्यापक मुस्कान से भरा हुआ है। वह जीवन और मृत्यु पर सुख और दुःख पर एक प्रकार हंसता है, अथवा यदि हमें कहने की स्वतंत्रता हो तो उसकी मुस्कान मृत्यु भी है, जीवन भी है; सुख भी है, दुःख भी है। इस महद् दृष्टि में सभी बातें पूरी तरह समझ में आ जाती हैं, उनकी व्याख्या मिल जाती है और उनका तार्किक अन्त समझ में आ जाता है। यही कला दार्शनिक अवधारणाओं के सही व्याख्याता का रूप ले लेती है। प्लाटिक कला के रूप में रूपायित यह (नृत्य)लय अपने सौन्दर्य में एक आदर्श लय ही है। कई बाहों का होना देखने में पहले तो पहेली जैसा लगता है, किन्तु वास्तव में वह एक अन्तर्निहित विधान का ही अंग है। हाथों का प्रत्येक जोड़ा सौन्दर्य का ही रूप है और नटराज का समग्र रूप भयंकर आनन्द की समन्वयता का प्रसन्नतामय अभिरूप है और यह प्रदर्शित करता है कि इस ईश्वरीय नर्तक का नर्तन केवल एक **लीला** है—जीवन और मृत्यु की लीला, सृष्टि और विनाश की लीला, अनादि और अनन्त की लीला। बायें वाले हाथों में पहला **गजहस्त** (हाथी के सूंड़ की तरह) की कुछ ढीलीढाली मुद्रा में कमर पर झुका हुआ है। और अन्ततः यदि हम मूर्ति के पिछले हिस्से की ओर देखें तो, ये हाथ विश्व के बोझ को उठाये हुए स्थिर रूप में दिखायी देते हैं, उसके शरीर की पूर्णता भौतिक तत्त्वों की स्थिरता और अनश्वरता को उजागर करती है तथा पैरों की गत्यात्मकता ब्रह्माण्ड की अत्यन्त ही आश्चर्यजनक गति का प्रतीक उपस्थित करती है।''

●

अध्याय १६

आर्थिक और व्यापारिक प्रतिस्पर्द्धाएँ

किसी भी देश अथवा क्षेत्र के ऐतिहासिक तानेबाने तो बनते हैं उसके राजनीतिक इतिहास से, किन्तु उसकी रीढ़ होती है उसकी आर्थिक-व्यापारिक समृद्धि। इस दृष्टि से यदि भारतीय इतिहास के प्रवाह पर एक सरसरी दृष्टि डाली जाय, तो कृषिक दृष्टि से देश के भीतरी भागों और व्यापारिक दृष्टि से तितरफा समुद्री किनारों का महत्त्व आसानी से समझा जा सकता है। पूर्वी समुद्री किनारों का व्यापारिक उपयोग तो अपेक्षाकृत बाद की ही शताब्दियों से प्रारंभ हुआ, किन्तु पश्चिमी किनारे व्यापार हेतु ईसा सम्वत् की लगभग तीन-चार हजार वर्षों पूर्व से ही उपयोग में लाये जाने लगे थे। हड़प्पायी लोगों से लेकर १३वीं-१४वीं शताब्दियों तक के प्राचीन और उत्तर प्राचीन भारतीय जो भी शक्तिशाली शासक हुए, वे सभी के सभी उस तट के बन्दरगाहों तक अधिकारस्थ रहने के प्रयत्न में सफल होते हुए दिखायी देते हैं। गुजरात के प्रान्त पर अधिकार बनाये रखने में चन्द्रगुप्त मौर्य, अशोक मौर्य, रुद्रदामन्, आन्ध्र सातवाहनों, शक क्षत्रप शासकों, गुप्त सम्राटों, हर्षवर्धन तथा प्रतीहार शासकों जैसे सभी उत्तर भारतीय सत्ताओं को सफलताएँ हाथ लगीं। यही हाल दक्षिण की सभी छोटी-बड़ी समुद्रवर्ती सत्ताओं का भी दिखायी देता है। इसी उद्देश्य से उन्होंने आपस में बार-बार युद्ध भी किये, जिनके संदर्भगत निर्देश आगे दिये जाँयगें।

प्राकृतिक विशेषताएँ

ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तर भारतीय व्यापार कभी भी उतना विस्तृत और आयपरक सिद्ध नहीं हुआ, जितना दक्षिण भारतीय व्यापार। तीनों ओर समुद्रों से घिरा होना उसकी सबसे बड़ी व्यापारिक सुविधा थी, जिसके विपरीत उत्तर भारत के उत्तरी, उत्तर-पश्चिमी और उत्तर-पूर्वी भागों में स्थित अत्यन्त ऊँची हिमालयी पर्वतशिखरों तथा विशाल मैदानी भागों की पारस्परिक दूरियाँ बहुत बड़ी व्यापारिक बाधाओं का काम करती थीं। इनमें यात्रागत कठिनाइयाँ भी बहुविध थीं। दक्षिण भारत में व्यापारिक उत्पादों-विशेषतः सामुद्रिक रत्नों, बहुमूल्य पत्थरों तथा मिर्च-मसालों, हाथीं दांत और चन्दन आदि की अपेक्षाकृत अधिक प्राप्तियाँ थीं, जिनकी ही मांग विदेशों में अधिक थी।

कौटिलीय **अर्थशास्त्र**[१] से ज्ञात होता है कि उस समय तक उत्तर की ओर जाने

---

१. स्थलपथेऽपि हैमवतो दक्षिणपथान्छ्रेयान् हस्त्यश्वगंधदन्ताजिनरुप्यसुवर्णपण्याः सारवत्तराः इत्याचार्यः। नेतिकोटिल्यः। कम्बलाजिनाश्च पण्यवर्ज्याः शंखवज्रमणिमुक्ता सुवर्णपण्याश्च प्रभूततराः। सप्तम, १२वाँ अध्याय।

वाले व्यापक स्थलीय मार्गों की अपेक्षा व्यापार हेतु दक्षिण की ओर जाने वाले स्थलीय मार्गों और दक्षिणी किनारों से प्रारंभ होने वाले जलीय मार्गों को अपेक्षया अधिक महत्त्व दिया जाने लगा था। कारण यह था कि दक्षिण में बहुमूल्य रत्नों, मोतियों, हीरों, सीपी और सोना की प्राप्ति उत्तर भारत की अपेक्षा अधिक थी[१]।

पश्चिमी देशों से दक्षिण भारतीय व्यापार का तो सबसे व्यापक परिचय वह अज्ञातनामा यूनानी–मिस्री यात्री देता है, जिसने पूर्वी अफ्रीका से भारतवर्ष तक की प्रथम शताब्दी ईसवी में स्वयं समुद्री यात्रा की थी और **पेरिप्लस् ऑफ् दि इरीथ्रियन् सी** नामक प्रसिद्ध पुस्तक लिखी थी। पुस्तक के नाम का यदि अंग्रेजी रूपान्तरण किया जाय तो वह होगा **ए गाइड टु दि इण्डियन् ओशन** तथा हिन्दी रूपान्तर होगा **भारतीय समुद्र की निर्देशिका**। दुर्भाग्य यह है कि पुस्तक का लेखक स्वयं न तो अपना नाम कहीं बताता है और न हीं अपने बारे में कोई विशेष परिचय देता है। इतना मात्र अनुमानित है कि वह मूलतः यूनानी था, जो व्यापार के सिलसिले में मिस्र में जाकर बस गया था। उसकी पुस्तक से उसके एक सिद्धहस्त और अनुभवी समुद्रयात्री होने का परिचय तो प्राप्त होता ही है, यह भी स्पष्ट है कि वह स्वयं के निजी व्यापार में भी गहरी रुचि वाला व्यक्ति था, जिसकी सम्बद्ध जानकारियाँ प्रभूत थीं।

पेरिप्लस् के लेखक ने अफ्रीका के पूर्वी तटों से प्रारंभकर मिस्र, लाल सागर, अदन और अरब से होते हुए फारस और ओमान की खाड़ियों के अनेक बन्दरगाहों और व्यापारिक नगरों को पार करते हुए भारत के पश्चिमी तटों तक और पुनः उसके बाद, उसके पश्चिमी तटों से होते हुए दक्षिण के द्रविड़ देश और पुनः वहाँ से उत्तर दिशा के गंगासागर तट की यात्रा की थी। इस मार्ग में पड़ने वाले सभी व्यापारिक नगरों, बाजार-हाटों, मण्डियों और बन्दरगाहों के परिचय के साथ ही दोनों दिशाओं में होने वाले आयात-निर्यात का बहुत विस्तृत विवरण उससे प्राप्त होता है[२]।

यहाँ उसके द्वारा वर्णित पश्चिमी तट से लेकर पूर्वी तट के बन्दरगाहों तथा व्यापारिक नगरों का केवल उल्लेखमात्र करना समीचीन प्रतीत होता है। गुजरात और लाट तट के बन्दरगाहों में बैरिगजा (भृगुकच्छ = भड़ौच = भरुच) पैठान (प्राचीन प्रतिष्ठान), तगरुम् (तगर), सोपारा (प्राचीन सूर्पारक), कलियेन (कल्याण), सेमिलन्, मण्डगोर, पालैपत्तनम्, मोलिजिगर और ओरन्नावेयस् प्रमुख थे। वह गोवा बन्दरगाह से आगे बढ़ते हुए दमिरिका (द्रविड़) देश के नौरा बन्दरगाह (आधुनिक कन्नानूर), टिण्डिस् (आधुनिक पोन्नानी), मुजिरिस् (आधुनिक मुचिरिकोट्ट अर्थात् क्रंगानूर) न्येलकन्द (नीलकण्ठ = कोट्टपम्) के विवरणों के सिलसिले में कहता है कि द्रविड़ देश के ये सभी बन्दरगाह

१. वहीं; देखें, आर० के (रवीन्द्र कुमार) दुबे का लेख–इण्डियाज़् कन्ट्रीब्यूशन् टू दि माइनिंग, एक्स्ट्रैक्शन् ऐण्ड रिफानिंग ऑफ् गोल्ड।

२. देखें० विशुद्धानन्द पाठक, प्राचीन भारत का आर्थिक इतिहास, पृष्ठ ५५-५९।

मिस्रदेश से आने वाले व्यापारिक यात्रिओं से भरे रहते थे। दक्षिण-पूर्व की ओर बढ़ते हुए वह वकारे (आधुनिक पोरकाड), परेलिया (आधुनिक पराली-ट्रावनकोर का पुराना नाम), बलित (वर्क्कलई), कुमारी (कन्याकुमारी) और कोल्कि (कोर्कई) का उल्लेख करता है। ये सभी भारत और श्रीलंका के बीच वाली मन्नार की खाड़ी पर स्थित बन्दरगाह थे, जो पाण्ड्य देश की समुद्री सीमाओं पर पड़ते थे। चोड़ देश के बन्दरगाहों में अरगर (उरैयूर = उरियाऊर) कमर (कारीकल = कराईकल), पोदुका (आधुनिक पुडुचेरि), और सोपतम् अर्थात् समुपत्तनम् (मद्रास = चेन्नई) का उल्लेख है। वहाँ से पूर्वी समुद्रतट के उत्तर दिशा वाली बंगाल की खाड़ी के बन्दरगाहों में मसलिया (मछलीपट्टन = मसूलीपत्तनम्) का उल्लेख ही मुख्य है। उसके आगे भी **पेरिप्लस्** का लेखक उत्तर दिशा की ओर हमें गंगासागर तक की यात्रा कराता है।

ऊपर के विवरणों से स्पष्ट है कि ईसा की प्रथम शताब्दी तक आते-आते भारतवर्ष और भूमध्यसागरीय तथा पश्चिम एशियायी देशों के बीच होने वाला व्यापार इस ऊँचाई को पार कर चुका था कि भारतवर्ष के समुद्रतटों पर बसा हुआ प्रत्येक छोटा-बड़ा नगर और कस्बा किसी न किसी प्रकार के व्यापारिक केन्द्र का रूप ले चुका था। तत्कालीन प्रमुख राजसत्ताओं-शक क्षत्रपों और आंध्र सातवाहनों–ने इस प्रवृत्ति को खूब प्रोत्साहित किया।

गुप्तोत्तर काल

गुप्तकाल की अवनित के युग (छठीं शताब्दी के अन्त) में कास्मस् इण्डिको प्लूयेस्टस् नामक एक अन्य विदेशी यात्री ने भी भारतवर्ष की एक व्यापारिक यात्रा की थी, जिसका विवरण अनुवादों के माध्यम से प्राप्त होता[१] है। किन्तु वह भारतवर्ष के पश्चिमी तट के व्यापार का ही विशेष उल्लेख करता है। वहाँ के बन्दरगाहों में वह सिन्धस् (सिन्ध = बारबेरिकम्), गुजरात और कल्याण की चर्चा के बाद दक्षिण में मलयदेश (मलावार) के उन पाँच बन्दरगाहों का विशेष परिचय देता है, जो व्यापारिक दृष्टि से उस समय अत्यधिक प्रसिद्धि में थे। वे थे परती, मंगलोर (मंगारोथ), सालोपत्तन, नालोपत्तन (**पेरिप्लस्** का न्येलकन्द = नीलकण्ठ) और पोन्दोपत्तन। पोन्दोपत्तन बन्दरगाह मंगलोर और कालीकट के बीच में स्थित था। कास्मस् पूर्वी तट से निर्यात की जाने वाली वस्तुओं में मुसव्वर (लवंग) और ढेंकुआर (घीकुमार) तथा चन्दन की लकड़ी का विशेष उल्लेख करता है। ये निर्यात की वस्तुएँ पूर्वी तट से समुद्री मार्ग द्वारा श्रीलंका से होकर पश्चिमी जगत के फारस और अफ्रीका के देशों को पहुँचती थीं। मलावार तट से निर्यातित होने वाली वस्तुओं में काली मिर्च का स्थान सर्वोपरि था। वास्तव में मलावार क्षेत्र (मलय

---

१. क्रिश्चियन् ज्याग्रफी ऑफ् कास्मस् (मिक्रिण्डल द्वारा किया गया अंग्रेजी अनुवाद), १९वाँ, पृष्ठ १६१ आदि।

अथवा श्वान्-च्वाङ्ग के विवरणों का मलयकूट) तथा पाण्ड्य राज्य (द्रविड़ देश) में काली मिर्च, दालचीनी और चन्दन की लकड़ी के उत्पादन बड़ी मात्रा में होते थे। इन क्षेत्रों से पश्चिमी जगत को जटामासी और कुष्ठ (कूंठ = एक प्रकार की सुगंधित लकड़ी) भी भेजी जाती थी। रोम देश में इन सभी वस्तुओं की बेहद बड़ी मांग थी।

कास्मस् के अनुसार, आयातित होने वाली वस्तुओं में मासपर्णि कम्बोज से तथा शिल्ह अथवा शिल्हक और हींग तुरुष्क (तुर्की), बाह्लीक और रमठ देश से आती थीं। किन्तु अरब से जिस एक पशु का सर्वाधिक आयात होता था, वे थे बढ़िया जाति के अरबी घोड़े, जिन्हें भारतवर्ष में वनायुज कहा जाता था। चूंकि अरब देशों से आयातित इन घोड़ों का अधिकतम आयात आगे चलकर १२वीं-१३वीं शताब्दियों में मदुरै के पाण्ड्य राजाओं द्वारा किया जाता था[१], आगे उसकी चर्चा पाण्ड्यों के इतिहास के अन्तिम वर्षों के संदर्भ में की जायगी।

श्वान्-च्वाङ्ग के आकस्मिक उल्लेख

इस संदर्भ में सातवीं शती ई० पश्चात्, ६३०-६४६ ई० के बीच, प्रायः सारे भारतवर्ष की विस्तृत यात्रा करने वाले चीनी धर्मयात्री श्वान्-च्वाङ्ग के विवरणों में जो अर्थ, व्यापार, नागरिक समृद्धि और विदेशी व्यापार से सम्बद्ध सामुद्रिक तटों और व्यापारिक केन्द्रों के बारे में आकस्मिक उल्लेख हैं, उनकी ओर ध्यान देना बड़ा लाभप्रद प्रतीत होता है। यद्यपि भारतवर्ष में श्वान्-च्वाङ्ग की यात्राओं का उद्देश्य शुद्ध रूप से धार्मिक था और उसकी दृष्टि मुख्यतः यहाँ के बौद्ध तीर्थों तथा बौद्ध धर्म, विशेषतः महायान सम्प्रदाय की मूल पुस्तकों को खोजकर उन्हें चीन ले जाने का था, वह अपनी यात्राओं के विवरण में यहाँ के विभिन्न क्षेत्रों के लोगों के साधारण जीवन, कृषिक स्थिति और आर्थिक सम्पन्नता का भी उल्लेख करता है। चूंकि वे सोद्देश्य न होकर पूरी तरह आकस्मिक हैं, उनका महत्त्व अत्यधिक है।

उसका कथन है कि उज्जैन की "जनसंख्या घनी और लोग धनी थे[२]।" वहाँ के लोगों के व्यवहार की समता वह सौराष्ट्र के लोगों से करता है, "जो पश्चिम की ओर जाने वाले समुद्री मार्ग पर स्थित था।" वहाँ के सभी निवासी "समुद्र से ही अपनी जीविका चलाते थे और व्यापार द्वारा वस्तुओं के क्रय-विक्रय का काम[३] करते थे"। श्वान्-च्वाङ्ग के विवरण के आधार पर ये निष्कर्ष सहज रूप में निकाले जा सकते हैं कि उस समय तक समुद्री नगरों की सुख-समृद्धि में कोई कमी नहीं हुई थी। अधिकांशतः ये नगर पश्चिमी और दक्षिणी समुद्र तटों पर ही बसे हुए थे। पूर्वी समुद्र तट के ताम्रलिप्ति नगर के बारे में वह कहता[४] है कि वहाँ के निवासी "विभिन्न देशों से बहुमूल्य रत्नों और वस्तुओं

---

१. देखें पीछे १२वाँ अध्याय, पृष्ठ ३७०-३७१।
२. टॉमस् वाटर्स्, ऑन् युवान्-च्वाङ्गस् ट्रैवेल्स् इन इण्डिया, जिल्द २, पृष्ठ २५०।
३. वहीं।
४. वहीं, पृष्ठ १९०।

के वहाँ इकट्ठे होने के कारण प्राय: बहुत ही धनसम्पन्न'' थे । इसी प्रकार की प्रशंसा वह उड़ीसा तट पर बसे हुए चरित्र नामक नगर की भी करता है । उसने आन्ध्र देश के प्रमुख नगर धान्यकटक से आगे दक्षिण दिशा की ओर बढ़ते हुए काञ्चीनगर की यात्रा की थी । वह कहता है कि वहाँ की ''भूमि उपजाऊ थी, जिसपर फल-फूल की भरपूर उत्पत्ति होती थी । वहाँ अन्य बहुमूल्य धातुएँ भी उत्पन्न होती थीं'' । टॉमस् वाटर्स् ने श्वान्-च्वाङ्ग की हुई-ली द्वारा लिखी हुई **जीवनी** को उद्धृत करते हुए कहा है कि काञ्चीपुर दक्षिण भारत का समुद्री बन्दरगाह था, जहाँ से सिंहल की यात्रा की जाती थी । सुदूर दक्षिण के काञ्चीनगर ''की भूमि की उर्वरता और वहाँ प्राप्त होने वाले बहुमूल्य रत्नों और अन्य वस्तुओं'' की प्रशंसा करते वह अघाता नहीं है । उसका कथन है कि मलकूट (मलयकूट) अर्थात् मलयागिरि की भूमि तो बहुत उपजाऊ नहीं थी, ''किन्तु पास पड़ने वाले छोट-छोटे द्वीपों में जो भी बहुमूल्य वस्तुएँ इकट्ठी की जाती थीं, वे वहाँ लायी जाती थीं और उनके स्वरूप तथा मूल्य पर वहीं विचार किया जाता[१] था ।'' स्पष्ट है, यह नगर जौहरियों और रत्नों के व्यापार का केन्द्र था । वहाँ से वे वस्तुएँ देश के भीतरी भागों के अतिरिक्त विदेशों को भी निर्यात की जाती रही होंगी । बहुमूल्य पत्थरों और रत्नों को बनाने वाले तथा उनकी कटाई-छँटाई करने वाले शिल्पी भी वहाँ रहते होंगे । मलयकूट के लोगों के बारे में श्वान्-च्वाङ्ग कहता है कि वहाँ के निवासिओं की रुचि संस्कृति में तो नहीं थी, किन्तु ''व्यापार में वे बहुत दक्ष'' थे । वह मलयगिरि के चन्दनों की भी भूरि-भूरि प्रशंसा करता है । अन्य स्त्रोतों से हमें ज्ञात है कि ये चन्दन अत्यन्त प्राचीन काल से ही विदेशों को निर्यात किये जाते थे । वह व्यापार आज भी जीवित है तथा तमिलनाडु और कर्नाटक के दक्षिणी-पश्चिमी भागों में तस्करी का एक बड़ा स्त्रोत है ।

भड़ौंच की चर्चा करते हुए श्वान्-च्वाङ्ग कहता[२] है कि वहाँ की ''भूमि अनुपजाऊ थी और वहाँ उत्पत्ति कम ही होती थी । समुद्र के जल को गरम करके नमक निकाला जाता था और लोगों के जीवन का सारा आधार समुद्र ही था । लोग धोखेबाज और निम्न प्रकार के थे ।''

मालवा के दक्षिण-पश्चिम में समुद्र और एक नदी का संगम स्थल था । वहाँ मालवा से २४००-२५०० ली की दूरी पर अटलि नामक एक ''व्यापारिक नगर था, जो घनी आबादी वाला और रत्नों से भरपूर था ।''------''यहाँ के निवासी धनी और आर्थिक दृष्टि से उन्नतिशील थे; किसानों की अपेक्षा व्यापारी ही अधिक थे । भूमि मरुस्थली थी, जहाँ फल-फूल कम ही उत्पन्न होते थे ।----लोग निम्न विचार वाले थे, जिन्हें

---

१. वहीं, पृष्ठ २२६-२२७ ।
२. वहीं, पृष्ठ १९४ ।

नैतिकता की अपेक्षा धन-सम्पत्ति अधिक प्रिय थी''[१]।

सूरत का उल्लेख करते हुए वह कहता है कि ''यह नगर मालवा के अधीन था और लोग धनसम्पन्न और वैभवशाली थे।---चूंकि यह नगर समुद्र की ओर जाने वाले राजपथ पर स्थित था, इसके सभी निवासी समुद्र का उपयोग करते थे और सभी व्यापारी वर्ग के लोग थे''।---''यहाँ की आबादी धनी थी और प्रवाहित होने वाले नालों-नदियों से इसे पानी की आपूर्ति होती[२] थी।'' सिन्ध की चर्चा में वह कहता है कि ''वहाँ की उपज में जल्दी पकने वाला गेहूँ, बाजरा, सोना और चाँदी थी''।---''वहाँ बैल, भेड़ें और खच्चर पाये जाते थे।'' वहाँ ''कई प्रकार के नमक भी प्राप्त होते थे और बाहरी देशों के लोग उस नमक (सैन्धव = सेंधा नमक) को दवा के रूप में प्रयोग में लाते[३] थे।''

आन्तरिक व्यापार पथ

समुद्रों से होकर व्यापार जितना ही अधिक बढ़ता गया तथा दक्षिणापथ और सुदूर दक्षिण के भीतरी भागों में जितनी ही अधिक तेजी से कृषिक विकास हुआ, उतना ही अधिक भीतरी नगरों, मुख्य ग्रामों, व्यापारिक पथों और बाजार-हाटों में नयी-नयी बस्तियों, नगरों, विहारों, मठों, और अन्याय प्रकार के जनसंकुलों की भी वृद्धि हुई। पश्चिमी समुद्र तट से पूर्वी समुद्र तट तक लोग अनेक मार्गों से होकर पहुँचने लगे। सातवाहन युग और उसके बाद इस प्रक्रिया में और भी तेजी आयी। बाजार-हाटों के नये जाल अधिकांशत: बौद्ध और जैन विहारों तथा मठों के आसपास बिछते गये। ये बौद्धस्थल थे–तेरे, मोकर्दन, कराड, कोण्डपुर, धरणिकोट्ट और अमरावती। ये सभी स्थल उत्तर में स्थित विदर्भ और दक्षिणापथ से आपस में स्थलीय मार्गों द्वारा जुड़े हुए थे। पूर्वी आन्ध्र देश में धान्यकटक और वेंगी कलिंग के माध्यम से उत्तर और दक्षिण को जोड़ते थे। पश्चिम दिशा में गुजरात स्थित भृगुकच्छ (भड़ौच) नासिक, कोण्डपुर, नार्गार्जुनिकोण्डा और अमरावती को जोड़ता था। ये सभी धीरे-धीरे बाजार-हाटों के नये-नये केन्द्र बन गये। पश्चिम में पालघाट के अन्तराल से कावेरी घाटी होते हुए कोडुमनाल, करूर, अरिकामेडु, कोक्कई और अलगनकुलम् होकर एक अन्य मार्ग पूर्वी समुद्र तट तक जाता था। प्राय: इसी मार्ग से पश्चिमी देशों तथा भूमध्यसागरीय क्षेत्रों से होने वाले व्यापार के माल पूर्वी समुद्र तट तक पहुँचते थे। पहले वह माल मुजिरिस् (कोच्चि के पास क्रंगानूर = कडल्लूर) बन्दरगाह पर आता था और पुन: पालघाट होते हुए स्थलीय मार्ग द्वारा पूर्वी तट तक जाता था। इन मार्गों पर कृषक, शिकारी और पशुपालक लोगों की बस्तियों के कारण अन्य बाजार-हाटों के विकास को बढ़ावा मिला। बीच-बीच के पहाड़ी और पठारी भागों के बीच से

---

१. वहीं, पृष्ठ २४४।

२. वहीं, पृष्ठ २४८।

३. वहीं, पृष्ठ २५२।

होकर बहने वाले नदी-नालों के माध्यम से भी अनेक मार्ग पश्चिमी और पूर्वी तटों को आपस में जोड़ते थे। बीच में स्थित उपर्युक्त सभी स्थान भी धीरे-धीरे विदेशों से होने वाले व्यापार के महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गये। दक्षिण भारत के अनेक स्थानों से विदेशी और भारतीय सिक्कों के कई बड़े-बड़े ढेर प्राप्त हुए हैं। उनसे यह प्रमाणित होता है कि मुजिरिस् (कोच्चि के पास का क्रंगानूर बन्दरगाह) से पालघाट की पहाड़ी होते हुए कावेरी घाटी के माध्यम से पूर्वी समुद्र तट के विभिन्न स्थानों तक पश्चिमी देशों का माल पहुँचता था।

इन भीतरी नगरों और मार्गों के अतिरिक्त बाजार-हाटों का विस्तार ग्रामीण अञ्चलों में भी हुआ। वहाँ के उत्पादक समूह वहीं अपने–अपने विभिन्न प्रकार के उत्पादों को स्थानीय स्तरों पर बेचने लगे। वहाँ भी शुल्क लगाये जाने लगे। शुल्क वसूल किये जाने वाली ये वस्तुएँ थीं-वस्त्र, औषधि, सुगन्ध, मसाले, तेलवाले बीज, खांड़, सफेद चीनी, सभी प्रकार के रत्न, अन्न, कसैली और पान के पत्ते[१]। ये शुल्क ग्राम प्रशासन से सम्बद्ध संस्थाएँ वसूलती थीं तथा उनके निश्चित भाग केन्द्रीय राजस्व के खातों में भी पहुँचता था।

कृषिक आधार

किन्तु दक्षिण भारत की आर्थिक समृद्धि में वहाँ के समुद्री तटों से होने वाले व्यापार मात्र का अकेला हाथ था, यह निष्कर्ष निकाल लेना सही नहीं होगा। उसमें वहाँ की कृषि-व्यवस्था और कृषिक उन्नति का भी बहुत बड़ा योगदान था। इस हेतु दक्षिणापथ और सुदूर दक्षिण की भौगोलिक बनावट का विश्लेषण करना आवश्यक है। दक्षिणापथ का पश्चिमी भाग छोटे-छोटे पर्वतों, पठारों तथा प्रायः सूखे रहने वाले प्रदेशों से आबाद था और वहाँ कृषिक उत्पत्ति प्राप्त करना बहुत ही कठिनाई भरा काम था। किन्तु पश्चिमी घाटों से निकलने वाली गोदावरी, कृष्णा, कावेरी और तुंगभद्रा जैसी बड़ी नदियों तथा उनमें अलग-अलग समाहित हो जाने वाली उन सैकड़ों छोटी-मोटी नदियों के पूर्वाभिमुख होकर पूर्वी समुद्र में जा मिलने से उत्पन्न होने वाले डेल्टा प्रदेशों के भीतरी भाग बहुत ही अन्नबहुल और उपजाऊ थे। फलतः, इन पर अपना-अपना अधिकार बनाये रखने हेतु विभिन्न शासन-सत्ताओं के बीच लगातार युद्ध होते रहते थे। इन नदियों पर बनने-बनाये जाने वाले बाँधों, उनसे निकाली जाने वाली सिंचाई की नालियों तथा पुष्करिणियों से जो सिंचाई की सुविधाएँ उन पूर्वी-दक्षिणी भागों को प्राप्त हुईं, उनसे वहाँ की कृषिक उन्नति के माध्यम से उन क्षेत्रों की सम्पन्नता बहुत ही बढ़ी। आन्ध्र से लेकर तमिलनाडु तक का सारा प्रदेश "धान का कटोरा" बन गया।

---

१. आर० पी० नन्दी, १९८४ (अन्नमलाई) वाले भारतीय इतिहास काँग्रेस के वार्षिक अधिवेशन का भाषण (प्राचीन भारत), पृष्ठ ५६।

दक्षिण में कृषि के विस्तार का क्रम आन्ध्र प्रदेश में शासन करने वाले प्रारंभिक पल्लव शासकों के समय ही प्रारम्भ हो चुका था । इक्ष्वाकु और प्रारंभिक पल्लव शासकों ने अपने क्षेत्रों में पड़ने वाले जंगलों को साफकर उनपर खेती करने-कराने का क्रम प्रारंभ किया और वहाँ से उन्हें बहुमूल्य लकड़ियों तथा हाथियों की भरपूर प्राप्तियाँ हुईं । ये दोनों ही वंश उत्तर भारत की वर्णधर्म वाली संस्कृति और संस्कृत साहित्य की धर्मशास्त्रों वाली परंपरा के पोषक थे । अत: अपने यज्ञयागादि कर्मों के लिए उन्होंने उत्तर भारतीय ब्राह्मणों को आमंत्रितकर अपने क्षेत्रों में बसाया और उन्हें भूमिदान **(ब्रह्मदेय)** देकर उन्हें वहाँ स्थिर कर लिया । ये ब्राह्मण पहले से ही कृषिकर्म में निरत और कुशल थे । प्राय: इन्हें जो भूमिक्षेत्र दान में दिये गये, वे या तो पर्वतीय थे अथवा जंगली थे, जिन्हें इन्होंने कृषियोग्य बनाया[१] । ये स्वयं तो अपने हाथों से खेती नहीं करते थे, किन्तु मजदूर वर्ग वाले अन्य लोगों से, उन्हें कुछ पारिश्रमिक देकर, अपनी खेती कराते थे । किन्तु पानी और सिंचाई के इन्तजाम वे ध्यानपूर्वक करते थे, जिनके बहुबिध उल्लेख दानपरक अभिलेखों में प्राप्त होते हैं ।

इन आगन्तुक ब्राह्मणों और स्थानीय शासकों का एक ऐसा सहयोगात्मक सम्बन्ध बना, जो धीरे-धीरे अत्यन्त घनिष्ट हो गया । भूमिदाता राजा और भूमि प्राप्तकर्ता ब्राह्मणों के परस्पर हितों का एक अन्योन्याश्रयी सम्बन्ध इसका प्रमुख परिणाम हुआ । धीरे-धीरे दक्षिण में सिंचित खेती का विस्तार हुआ और धान वहाँ की मुख्य फसल हो गयी । यही धान वहाँ व्यापारिक वस्तुओं के विनिमय का माध्यम बना और विभिन्न वस्तुओं के दाम भी धान की मात्रा के रूप में ही तय किये जाने लगे ।

धीरे-धीरे ब्राह्मणों और मंदिरों को दिये जाने वाले दानों–**ब्रह्मदेय** और **देवदेय**-ने एक नयी सामाजिक व्यवस्था को जन्म दिया । इस व्यवस्था के तीन तत्त्व थे–भूमिदाता राजा या शासक, उसे प्राप्त करने वाला ब्राह्मण अथवा विचौलियों के रूप में मंदिर-मठ, विहार, भिक्षुसंघ अथवा ऐसी अन्य संस्थाएँ, तथा वे कृषक जो स्वयं खेतों के या तो छोटे-छोटे मालिक थे (**वेड्डूर** लोग) अथवा अन्य भूमि मालिकों के खेतों पर मजदूरी पर काम करते थे और शुद्ध मजदूर थे ।

प्रथम सहस्राब्दि का मध्यकाल आते-आते दक्षिण भारत में नये-नये और पूर्व की अपेक्षा बड़े-बड़े जमीनी और पर्वतीय मंदिरों के निर्माण तेजी से तथा अधिक मात्रा में होने लगे । पहले वे बादामी, काञ्चीपुरम् और महाबलिपुरम् जैसे नगरों में ही बनाये जाते थे । किन्तु अब वे गांव-देहातों में भी बनाये जाने लगे तथा व्यापारिक पथों पर भी निर्मित होने लगे । अब उन बड़े-बड़े मंदिरों में अन्नसंग्रह हेतु बड़े-बड़े कोठार भी बनने लगे, जिनमें

---

१. रोमिला थापर, दि पेंगुइन् हिस्ट्री ऑफ् अर्ली इण्डिया, पृष्ठ ३३६ ।

मंदिरों की खेती योग्य भूमि से प्राप्त अन्नों को इकट्ठा किया जाने लगा। इन सबके पीछे कृषिक उत्पत्ति हेतु नयी तकनीकों के प्रयोग मुख्यरूप से दिखायी देंगे, जिनके कारण कृषिक उत्पत्ति में भरपूर अवशेष (अधिशेष: **सरप्लस्**) बचना प्राय: एक क्रम सा बन गया। मंदिरों और ब्राह्मणों ने इन अधिशेषों से अपने को तो पूरी तरह अन्नसम्पन्न किया ही, वे अब उनके क्रय-विक्रय से व्यापारिक लाभ भी कमाने लगे। मंदिरों ने इन अधिशेषों से सभी मंदिर संलग्न मजदूरों और कार्यकर्ताओं का भरण पोषण करते हुए उनसे अन्नसत्रों तथा पाठशालाओं को चलाने और साधु-सन्यासिओं, भिक्षुओं और अपाहिजों तथा यायावरों को कुछ दिनों मात्र की लघुकालिक व्यवस्थाएँ भी करनी प्रारंभ कर दीं[१]।

खेती के विकास में **एरियट्ट** नामक व्यवस्था ने भी महत्त्वपूर्ण योगदान किया। **एरियट्ट** व्यक्तिगत लोगों द्वारा प्रदत्त वह दान था, जो सिंचाई की व्यवस्थाओं के हेतु ही दिया गया होता था। इनसे तालाबों की मरम्मत और देखरेख की जाती थी। सारी दक्षिण भारतीय कृषि बड़े-बड़े बांधों, उनसे निकाली गयी नहरों और नहरों से निकाली गयी कुल्याओं द्वारा ही की जाती थी। पानी इकट्ठा किये जाने वाले बड़े-बड़े बांध वहाँ की मुख्य विशेषता थे, जिनके निर्माणों के प्रारंभ प्रारंभिक पल्लव शासकों के समय ही हो चुके थे। उनके अभिलेखों[२] से प्रमाणित है कि इन तालाबों की दीवारें ईंटों से चुनी जाती थीं, तथा उनकी दीवारों की मजबूती हेतु उन्हें पत्थरों से बनाने और उनसे कुल्याओं के निकालने का क्रम उस समय तक प्रारंभ हो चुका था।

इन तालाबों की देखरेख सहकारी आधार प्राय: ग्रामसभाओं की तालाब-समितियाँ करती थीं और कोई पानी न तो चुरावे, न व्यर्थ बहावे तथा न आवश्यकता से अधिक ले, इन बातों की ओर ये समितियाँ बराबर नजर रखती थीं। ऐसा करने वाले उनके द्वारा दण्डित किये जाते थे।

दक्षिण भारत के उन ब्राह्मण भूमिदान प्राप्तकर्ताओं को दानदत्त भूमि की अनेक सुविधाओं के साथ ही उन्हें सम्बन्धित भूमि पर खेती के विकास हेतु अनेक उत्तरदायित्व भी संभालने पड़ते थे। उन्हें सिंचाई के नये साधन जुटाने तथा उनका प्रबन्धन करने, जैसे तालाबों, कुओं, नहरों, कुल्याओं आदि के निर्माण आदि की जिम्मेदारियाँ दान की शर्तों में ही सम्मिलित थी[३]। दान की ऐसी शर्तों का एक अच्छा उदाहरण सुंदर चोड़ द्वारा अनिरुद्ध नामक ब्राह्मण को दिया जाने वाला **एकभोग** रूप के दान का वह दानपत्र है,

१. सी० मीनाक्षी, ऐडमिनिस्ट्रेशन् ऐण्ड सोशल लाइफ अण्डर दि पल्लवज़, पृष्ठ १०४।
२. आर्० पी० नन्दी, भारतीय इतिहास कांग्रेस (१९८४) के सत्र का अध्यक्षीय भाषण।
३. रोमिला थापर, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ३४० और आगे।

जो चोड़कालीन दानव्यवस्था का एक प्रमुख उदाहरण उपस्थित करता[१] है। किन्तु इन उदाहरणों से ये निष्कर्ष नहीं निकाले जा सकते कि सिंचाई के सारे उपक्रम और उपाय केवल व्यक्तिगत लोगों की क्रियाशीलता मात्र तक सीमित थे। चोड़ और पल्लव राजाओं ने तो इस क्षेत्र में अनेक कार्य किये। अनेक आभिलेखिक साक्ष्य अनेक चोड़ शासकों द्वारा, नये-नये तालाबों के निर्माण की सूचनाएँ[२] देते हैं। स्पष्टत:, इन शासकों ने कृषिक उन्नति के विभिन्न साधनों को जुटाकर अपने राजकीय राजस्व में भरपूर वृद्धि की होगी।

सैनिक धावों-प्रतिधावों के बीजरूप में आर्थिक-व्यापारिक उद्देश्य

विवेच्य काल की एक मुख्य सैनिक प्रवृत्ति यह थी कि सभी सत्ताएँ एक दूसरे के विरुद्ध व्यापारिक महत्त्व के स्थानों पर अपना कब्जा जमाने और उन्हें बनाये रखने हेतु बराबर सैनिक टकरावों में उलझती रहीं। ये टकराव हर्ष-पुलकेशिन् के समय से प्रारंभ होकर पश्चिमी चालुक्य-पल्लव, राष्ट्रकूट-प्रतीहार, राष्ट्रकूट-पूर्वी चालुक्य, राष्ट्रकूट-चोड़ तथा कल्याणी के चालुक्यों और चोड़ों के समय तक (लगभग १३वीं शताब्दी तक) बराबर चलते रहने वाले युद्धों के पूरे क्रम में जारी रहे। इस बीच सैनिक दृष्टि से अपना-अपना वर्चस्व कायम करने की प्रवृत्ति तो एक गौड़ कारण ही रही प्रतीत होती है। वास्तव में इस युग के सभी संघर्षों के बीजरूप में वास्तविक कारण कृषिक, आर्थिक और व्यापारिक ही थे, जिनका विवेचन यहाँ आवश्यक प्रतीत होता है।

हर्ष और पुलकेशिन् के समय का पश्चिमाभिमुख सारा उत्तर भारतीय व्यापार मालवा से होकर ही गुजरता था[३]। लाट (दक्षिणी गुजरात) तथा गुर्जर (गुजरात) उस व्यापार के मुख्य केन्द्र थे, जहाँ के समुद्र तटों पर अनेक बन्दरगाह बसे हुए थे। इन क्षेत्रों को हर्ष और पुलकेशिन्-दोनों ही–अपनी–अपनी प्रभाव सीमा में बनाये रखने हेतु प्रयत्नशील थे। उसी कारण दोनों पक्षों का आपसी संघर्ष भी हुआ। अहिहोड़ अभिलेख से यह प्रकट होता है कि पुलकेशिन् ने अपने लिए एक कुशल नौसैनिक बेड़े का इन्तजाम कर लिया था, जिसके बलपर उसने पुरी नामक द्वीप (एलीफैण्टा) और गोवा (रेवतीद्वीप) पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। वास्तव में पुलकेशिन् के पूर्व ही उसके चचा मंगलेश ने रेवतीद्वीप (गोवा) पर अपना अधिकार करने हेतु एक नौसैनिक आक्रमण किया[४] था। विभिन्न पश्चिमतटीय द्वीपों पर आक्रमण कर उनपर चालुक्य अधिकार को स्थायी बनाने के इस क्रम को ही पुलकेशिन् ने जारी रखा। अहिहोड़ अभिलेख (श्लोक २१)

१. नीलकान्त शास्त्री, दि चोड़ज़्, १९५५, पृष्ठ ५७७-५७८।
२. देखें, विशुद्धानन्द पाठक, प्राचीन भारत की आर्थिक संस्कृति, पृष्ठ ११६-११७; पृष्ठ ११८-११९; नीलकान्त शास्त्री, दि चोड़ज़्, १९५५, पृष्ठ ५८३-५८४।
३. वाटर्स, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ २५०।
४. पुनरपि च जिघृक्षोरसैन्यमाक्रान्तसालम्।
रुचिरबहपतांक रेवतीद्वीपमाशु। अहिहोड़ अभिलेख, १३वाँ श्लोक।

की सूचना है कि उसने पुरी अर्थात ऐलीफैण्टा द्वीप को अधिकृत करने हेतु उसे अपने जहाजी बेड़ों से ही घेरा था, जिसमें सैकड़ों नावें शामिल थीं[१]। दक्षिण-पश्चिम दिशा के जिन कदम्ब, गंग और आलूप तथा कोंकण के मौर्य राज्यों को उसने अपने वशीभूत किया, उसमें भी उसका उद्देश्य यही रहा प्रतीत होता है कि वह उन सभी समुद्रवर्ती क्षेत्रों पर अपनी अधिसत्ता स्थापित कर पश्चिम दिशा से होने वाले उनके व्यापार में अपनी भी हिस्सेदारी स्थापित करे। गंग राज्य की राजधानी वनवासी तक उसके अधिकृत हो जाने का परिणाम यह हुआ होगा कि मैसूर के उन क्षेत्रों तक उसका प्रभाव क्षेत्र स्थापित हो गया होगा, जो दक्षिण भारतीय व्यापार को सुदूर दक्षिण होते हुए पूर्वी समुद्र तटों तक पहुँचाने के माध्यम रहे होंगे। उसे "९९ हजार गावों वाले तीन महाराष्ट्रों का स्वामी कहा गया है[२]", जिससे तात्पर्य महाराष्ट्र, कोंकण और कुन्तल (कर्नाटक) से है। ये सभी प्रदेश गुजरात के समुद्र वाले किनारे से लेकर दक्षिण में कुन्तल (मैसूर क्षेत्र) तक फैले हुए थे।

पुलकेशिन् का अपना पैतृक और मूल क्षेत्र पहाड़ी, और पठारी होने के कारण कृषिक उत्पत्तियों के बहुत अनुकूल नहीं था। फलत:, उसे कृषिक उत्पत्तियों से होने वाले राजकीय आय की भी कमी रही होगी। उधर दक्षिण दिशा में रायचूर का 'धान का कटोरा' कहा जाने वाला वह क्षेत्र अत्यन्त उपजाऊ, हरियाली भरा, सुपाड़ी के पेड़ों से भरपूर और नदियों, झीलों और तालाबों से आवृत्त था, जिसपर पल्लवों का अधिकार था। पल्लवों से पश्चिमी चालुक्यों के जो अनवरत युद्ध चले, वे कदाचित् इसी दोआब पर अधिकार को लेकर प्रारंभ हुए थे। पल्लवों के मूल अधिकार कृष्णा नदी के उत्तरी भागों वाले उस आन्ध्र प्रदेश पर भी थे, जिन्हें जीतकर पुलकेशिन् ने अपने छोटे भाई कुब्ज विष्णुवर्धन को वहाँ स्थापित कर दिया और एक नये राजवंश की ही स्थापना कर दी, जो 'पूर्वी चालुक्य' कहलाया। यह कुब्ज विष्णुवर्धन पहले उत्तरी महाराष्ट्र और गुजरात के चालुक्य क्षेत्रों पर उसके गवर्नर के रूप में शासन करता था। उसके द्वारा वेंगी को राजधानी बनाकर पश्चिमी आन्ध्र पर स्थापित होकर एक नये राजवंश की स्थापना से पुलकेशिन् के नेतृत्व में उन सभी पूर्वतटीय समुद्र तटों पर चालुक्यों की अधिसत्ता स्थापित हो गयी, जिनपर अनेक बन्दरगाह स्थित थे तथा जिनसे होकर उत्तर दिशा में पड़ने वाले दक्षिण कोसल, महानदी और कलिंग से दक्षिण की ओर धान्यकटक आदि नगरों से होते हुए काञ्चीपुर तक अनेक मार्ग जाते थे। इस प्रकार पूर्व दिशा की ओर पुलकेशिन् का बढ़ाव भी पल्लवों के विरुद्ध उसके युद्धों का एक प्रमुख कारण रहा। उसके बीज में भी कृष्णा नदी के डेल्टा क्षेत्रों

---

१. अपरजलनिधेर्लक्ष्मी यस्मिन् पुरीपुरभृत्प्रभैः ।
मद्गजघटाकारैर्न्नावां शतैरवमृदन्ति ॥ अहिहोड़ अभिलेख एइ०, जिल्द ६, पृष्ठ १-१२, श्लोक २१ ।

२. अगमदधिपतित्त्वं यो महाराष्ट्रकाणाम् ।
नवनवतिसहस्त्र ग्रामभाजां त्रयाणाम् ॥ वहीं श्लोक २७ ।

पर तथा रायचूर दोआब के उत्तरी भागों पर उसके द्वारा अधिकार किये जाने के प्रयत्न ही थे।

पल्लव राजाओं की जो आगे चलकर सैकड़ों वर्षों तक चालुक्य राजाओं से सैनिक भिड़न्तें होती रहीं और कभी तो पल्लव वातापीनगर पर अधिकृत हो जाते रहे तथा कभी पश्चिमी चालुक्य काञ्चीपुर को रौंद देने में सफल हो जाते रहे, उन सबके मूल में उनकी व्यापारिक और कृषिजन्य उत्पत्तिवाली आर्थिक प्रतिद्वन्द्विताएँ ही रहीं।

पश्चिमी चालुक्यों के बाद महाराष्ट्र और कर्नाटक की मुख्य सत्ता के रूप में राष्ट्रकूट शासक उभरे। आर्थिक और व्यापारिक मामलों में उनकी भी वही नीति बरकरार रही, जिसका अनुसरण हर्ष और पुलकेशिन् ने उत्तर दिशा में और पुलकेशिन् तथा पल्लवों ने पूर्व और दक्षिण दिशाओं में किया था। राष्ट्रकूटों के सैनिक टकराव मुख्यत: उत्तर भारत में स्थापित गुर्जर प्रतीहार शासकों से ही रहे और वे उत्तर भारत पर बार-बार आक्रमण करते रहे। इसके मूल में मालवा के उपजाऊ मैदानों से होकर, गुजरात होते हुए जो भारतीय व्यापार अरब तथा भूमध्यसागरीय प्रदेशों से होता था, उसके मार्गों, प्रमुख नगरों और बन्दरगाहों पर राष्ट्रकूटों की आखों का गड़ा होना था। वे मालवा और गुजरात के मुख्य क्षेत्रों और केन्द्रों को अपने अधिकार में बनाये रखने के प्रयत्न में हमेशा जुटे रहे। इसके विपरीत गुर्जर प्रतीहार भी उसी प्रयत्न में लगे थे। फलत: दोनों पक्षों में टकराव होते, यह स्वाभाविक था।

गुजरात के समुद्री तटों के अनेक स्थानों पर आने वाले अरब व्यापारिओं ने अपनी बस्तियाँ बसा ली थीं। उनसे प्राप्त होने वाली चुंगी सहित अनेक अन्य व्यापारिक लाभों से आकृष्ट होकर राष्ट्रकूट शासकों ने उन्हें अनेक सुविधाएँ दे रखी थीं, जिनके स्पष्ट उल्लेख अरब इतिहासकारों, सौदागरों और यात्रियों से हमें प्राप्त होतें हैं। अरबों ने अपनी बस्तियों में मस्जिदें बना ली थीं, उनमें नमाज पढ़ने को वे स्वतंत्र थे और उन्हें अपनी बस्तियों में अपने ही व्यक्तिगत नियमों के पालन की पूरी स्वतंत्रताएँ प्राप्त थीं[१]। चूँकि इस तरह की सुविधाएँ अरबों को गुर्जर प्रतीहार राज्य में प्राप्त नहीं थीं और वे शासक उत्तर भारत वाले अपने राज्यक्षेत्रों में मुसलमानी बढ़ाव और प्रभाव नहीं बढ़ने देने को कृतसंकल्प थे, इसी कारण अरब लोग (सुलेमान सौदागर) प्रतीहारों को अपना सबसे बड़ा शत्रु और **बौरा** = वल्लभराय = राष्ट्रकूट शासक, को अपना मित्र बताते हैं। वास्तव में इस प्रतिद्वन्द्विता के अन्तस्तल में कारण आर्थिक और व्यापारिक ही थे।

राष्ट्रकूट राजाओं के वेंगी के पूर्वी चालुक्य राज्य तथा गंगैकोण्डचोड़पुरम् के चोड़ों से भी बराबर सैनिक संघर्ष चलते रहे, जिसका मूल कारण और उद्देश्य कृष्णा नदी के डेल्टा वाले क्षेत्रों तथा तुंगभद्रा नदी के दोनों किनारों पर पड़ने वाले उन उपजाऊ क्षेत्रों पर अधिकार कर लेने तथा उन्हें अपने-अपने अधिकारों में बनाये रखने में था, जो रायचूर का

---

१. इलियट ऐण्ड डाउसन्, जिल्द १, पृष्ठ ३,१३,२१ और ३४।

दोआब कहा जाता है । ये दोनों ही राज्य समुद्रवर्ती थे और उनमें अनेक बन्दरगाह स्थित थे, जो पूर्व-एशियायी देशों से होने वाले भारतीय व्यापार के द्वारों का काम करते थे । विशाखापट्टनम्, काञ्चीपुरम् और नागपट्टनम् इस व्यापार के वैसे ही आगम और निर्गम स्थल = द्वार थे, जैसे पश्चिमी समुद्र तट के मलावार क्षेत्र वाले बन्दरगाह पश्चिमी व्यापार के द्वार थे । इन सत्ताओं के बीच के आपसी संघर्षों के लिए आकर्षण का केन्द्र यह व्यापार ही था ।

राष्ट्रकूट-चोड़ सत्ताओं के बीच होने वाले इन सैनिक संघर्षों की विरासत कल्याणी से शासन करने वाले चालुक्य सत्ता को भी प्राप्त हुई, जो दोनों वंशों के शासनों के प्रारंभ से अन्त तक चलती रही । इस कृति के सम्बद्ध स्थलों से उनके ब्यौरे देखे जा सकते हैं ।

मालवा का जो क्षेत्र परस्पर अधिकारों के लिए कनौज-बादामी तथा कनौज-मान्यखेट के बीच अप्रत्यक्षरूप से संघर्षों का कारण बनता रहा, वह दसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में प्रतीहारों की अवनति और परमारों के उदय के साथ एक स्वतंत्र राज्य के रूप में अपनी निजी भूमिका निभाने लगा । परमारों और कल्याणी के चालुक्यों की जो सैनिक भिड़न्तें मुञ्ज परमार और द्वितीय तैलप के समय प्रारंभ हुईं, वे इन दोनों राज्यों के ऐतिहासिक काल के अन्त तक बराबर चलती हुई दिखायी देती हैं । द्वितीय जयसिंह (चालुक्य १०१५-१०४२ ई०) और भोज परमार (१०१०-१०५५ ई०) के समय इनका सबसे बड़ा जोर दिखायी देता है । दोनों ही वंशों के अभिलेखों से ज्ञात होता है कि १०२४ ई० के पूर्व भोज परमार ने कोंकण, कर्णाट और लाट को चालुक्यों से छीन लिया था[१] और **कोंकणविजयपर्व** तथा **कोंकणग्रहणविजयपर्व** मनाया था । यद्यपि बाद में द्वितीय जयसिंह ने अपने खोये हुए इन प्रदेशों को वापस जीत लेने में सफलता पा ली थी, इतना स्पष्ट है कि कुछ दिनों तक तो समुद्री किनारों को छूने वाले इन प्रदेशों पर मालव शासक के अधिकार हो ही चुके थे, जो समुद्रों तक उसके पहुँच जाने के प्रयत्न की ओर ही इंगित करता है । उसके पुत्र और उत्तराधिकारी प्रथम सोमेश्वर के समय तो मालव क्षेत्रों को वशीभूत करने हेतु चालुक्यों ने एक बार ही नहीं, अपितु दो-दो बार उनपर आक्रमण किया । यहाँ तक कि उन्होंने धारानगरी को जलाकर उसे मटियामेट कर डाला[२] ।

वेंगी के पूर्वी चालुक्य राज्य पर अपनी–अपनी अधिसत्ता स्थापित करने के प्रयत्न में कल्याणी के चालुक्यों और गंगैकोण्डचोड़पुरम् के चोड़ों के बीच होने वाले सैनिक संघर्षों का तांता तो कभी टूटा ही नहीं[३] । वास्तव में राजराज चोड़ (९८५-१०१४ ई०) और प्रथम राजेन्द्र चोड़ (१०१४-१०४६ ई०) के समय चोड़ साम्राज्य दक्षिण भारत

---

१. एइ०, जिल्द १३, पृष्ठ ७१-७२; कार्पस्, जिल्द ४, पृष्ठ ५० तथा २५६ ।
२. हैदराबाद आर्केलाजिकल् सीरिज़्, सं० ८, पृष्ठ १३, श्लोक ४३ ।
३. देखें पीछे 'कल्याणी के चालुक्य' शीर्षक–अध्याय, सं० ५ ।

की सर्वशक्तिशाली सत्ता के रूप में उभर चुका था। उन दोनों ने अपनी विजयें भीतर के स्थलीय क्षेत्रों पर ही नहीं, अपितु पल्लव, पाण्ड्य, केरल तथा सिंहल जैसे सभी समुद्रवर्ती क्षेत्रों को जीतकर या तो उन्हें अपने अधीन करके उन सबपर अपने गवर्नरों की नियुक्ति कर दी अथवा अपने प्रभाव क्षेत्रों में लाकर लगभग सारे समुद्री व्यापार पर एकाधिकार सा कर लिया। उनके पास एक सशक्त और विशाल समुद्री सेना थी, जिसके बलपर [1]उसने "कण्डलूरशालै के बन्दरगाहों में शत्रुओं के जहाजों को नष्ट कर दिया----जो इरट्टपाडि के अर्धलक्ष (५० हजार) का मालिक था" और जिसने "समुद्र के १२ हजार द्वीपों को जीता"। ये १२ हजार द्वीप कौन थे अथवा कहाँ थे, यह बहुत कुछ निश्चित सा है। वे मदुरै और केरल राज्यों के पश्चिम में पड़ने वाले मालदीव तथा उसके पास के वे हजारों छोटे-छोटे द्वीप थे, जो आज भी वर्तमान हैं। पाण्ड्य और केरल राज्यों तथा उनके पश्चिम में पड़ने वाले इन द्वीपों पर चोड़ अधिकार हो जाने का परिणाम यह हुआ होगा कि उसके शासक अब सारे पश्चिमी देशों से होने वाले व्यापार को नियन्त्रित करने लगे होंगे।

राजराज की नौसैनिक क्षमताओं तथा उसकी सामुद्रिक विजयों की तुलना में उसके पुत्र प्रथम राजेन्द्र (१०१४-१०४६ ई०) की पूर्व सागरीय उपलब्धियाँ अधिक व्यापक, स्थायी एवं महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुईं। उनसे दक्षिण-पूर्व एशियायी देशों, चीन तथा चोड़ सत्ता के बीच आपस के ऐसे सांस्कृतिक और व्यापारिक अन्तरसम्बन्ध स्थापित हुए, जिनके बीज तो बहुत पहले बोये जा चुके थे, किन्तु जिनके प्रतिफल उस काल के बाद विशेषरूप से दिखायी देने लगे। उस समय का श्रीविजय साम्राज्य धीरे-धीरे अत्यन्त शक्तिशाली हो गया था और वह एक तरफ चीन और दूसरी ओर चोड़ साम्राज्य-दोनों को ही-कठिन व्यापारिक चुनौतियाँ देने लगा था। राजराज के समय से ही चीनी राजदरबार और चोड़ राजदरबार के बीच राजनीतिक और व्यापारिक दूतमण्डलों के आदान प्रदान प्रारंभ हो चुके थे। वैसी ही प्रक्रिया शैलेन्द्र वंश के श्रीविजय राज्य और चीन के बीच भी चल रही थी। किन्तु व्यापारिक गतिविधियों और आवागमन के बीच इन दोनों में आपसी काट करने वाली कुछ प्रतियोगिताएँ भी थीं। १०१५ ई० तथा १०३३ ई० में राजेन्द्र चोड़ द्वारा चीन को दो दूतमण्डल भेजे जा चुके[2] थे। चूँकि १०१५ ई० में चीनी राजदरबार तक पहुँचने वाले दूतमण्डल को तीन वर्षों का समय लग गया था, यह अनुमान लगाया गया है कि शैलेन्द्रों ने उसके रास्तों में रुकावटें पैदा की थीं। चोड़ साम्राज्य के पूर्वी तट पर बसा हुआ नागपट्टनम् बन्दरगाह चीन, शैलेन्द्र साम्राज्य और अरब लोगों के व्यापारिक मार्गों के मध्य में पड़ता था। उसका अत्यधिक व्यापारिक लाभ उठाने को चोड़ सत्ता अधिकाधिक उद्यत

---

१. देखें, आर० सतियनाथियेर, स्ट्रगल् फॉर इम्पायर, पृ० २३४ तथा ऐनुअल् रिपोर्टस् ऑन् एपिग्राफी, मद्रास, १९०८ का ४५३।

२. चाऊ-कु-जुआ, पृष्ठ ९६।

रही होगी। उसे व्यापारिक माल की अदला-बदली, चुंगी और नावों और जहाजों की मरम्मत आदि से लाभ होते रहे होंगे। किन्तु इनमें कई बार शैलेन्द्र शासक रुकावटें भी पैदा करते थे।

इन परिस्थितियों में ही राजेन्द्र चोड़ ने दक्षिण-पूर्व के शैलेन्द्र साम्राज्य की सत्ता को दबाने हेतु उसके द्वीपों पर एक बड़ा भारी नौसैनिक आक्रमण किया और उसने कटाह = कडारम् के बन्दरगाह नगर पर अपनी जलसेनाओं के माध्यम से अधिकार कर लिया। यह स्थान आजकल के मलाया प्रायद्वीप का खेड़ा नामक बन्दरगाह है।

इसके फलस्वरूप दक्षिण-पूर्व एशियायी देशों से होने वाले चोड़ व्यापार की सभी कठिनाइयाँ समाप्त हो गयीं, और पुनः चोड़ों और शैलेन्द्रों के आपसी सम्बन्ध पटरी पर आ गये। कटाह युद्ध के पूर्व भी दोनों राज्यों में दूतों का आना जाना था, जो बाद में भी पक्का होता गया। इन सम्बन्धों के प्रमाण स्वयं चोड़ अभिलेखों से प्राप्त होते हैं। राजराज चोड़ के समय शैलेन्द्र शासक चूड़ामणिवर्मन् ने नागपट्टन बन्दरगाह में एक बौद्ध विहार का निर्माण करवाया था, जिसके खर्चों को चलाने हेतु राजराज ने कुछ गांवों का १००६ ई० में दान दिया था। इस विहार का नाम भी शैलेन्द्रराज के नामपर चूड़ामणिविहार ही था। आगे चलकर प्रथम राजेन्द्र ने उस दान को पुनर्स्वीकृत किया था[१]।

इन दूत सम्बन्धों और मित्रता के सम्बन्धों के बीच लड़े जाने वाले कटाह अथवा कडारम् के युद्ध (१०१८-१०२५ ई० प० के बीच) का वास्तविक कारण क्या था, इसका निश्चय इतिहासकार लोग आज भी नहीं कर सके हैं। नीलकान्त शास्त्री[२] ने कुछ अनुमान मात्र लगाये हैं, जिनके ब्यौरों में पड़ने की यहाँ अवश्यकता नहीं है। उनके मत में राजेन्द्र चोड़ की इस सामुद्रिक विजय से उसकी श्रीवृद्धि अथवा अधिकारवृद्धि में कोई इजाफा हुआ, ऐसा प्रतीत नहीं होता। राजेन्द्र चोड़ के कुछ उत्तराधिकारिओं के कुछ अभिलेखों से इतना अवश्य ज्ञात होता है कि शैलेन्द्र शासक प्रथम कुलोत्तुंग के समय तक (१०७०-१०२० ई०) चोड़ों की नाममात्र की अधिसत्ता स्वीकार करते रहे[३]।

प्रथम कुलोत्तुंग के बाद चोड़ साम्राज्य तेजी से ढहने लगा। उसके उत्तर में आन्ध्र प्रदेश के काकतियों ने तथा दक्षिण-पश्चिम में समुद्र के किनारों पर शासन करने वाले पाण्ड्य राजाओं ने धीरे-धीरे अधिकांश चोड़ क्षेत्रों को आत्मसात करना प्रारंभ कर दिया। जिन चोड़ों ने पाण्ड्य, केरल और सिंहल को जीतकर **मधुरान्तक, केरलान्तक** और **सिंगलान्तक** जैसी उपाधियाँ धारण कर उनके क्षेत्रों पर अपने गवर्नर नियुक्त कर रखे थे

---

१. राजेन्द्र का लिडेन ताम्रपत्र और देखें, रमेशचन्द्र मजूमदार, उपरिनिर्दिष्ट, पृष्ठ ७३०-७३१।

२. दि चोड़ज़्, पृष्ठ २२०।

३. वहीं, पृष्ठ ३१९।

तथा प्राचीन मदुरै राज्य के अनेक क्षेत्रों पर अपना शासन स्थापित कर वहाँ से न जाने कितने अभिलेख प्रकाशित कराये थे, उन्हें पाण्ड्यों ने एक नयी ऊर्जा से समन्वित होकर पीछे ढकेल दिया। १३वीं शती में तो मदुरै के पाण्ड्य राज्य की शक्ति इतनी बढ़ गयी कि उसे नीलकान्त शास्त्री जैसे इतिहासकारों ने उनके 'द्वितीय साम्राज्य' की संज्ञा दे डाली[१]। सुन्दर पाण्ड्य ने अपने राज्य क्षेत्रों की सीमाएँ उत्तर दिशा में नेल्लूर और कुडप्पा जिलों (आन्ध्र प्रदेश) तक फैला लीं। उसके अभिलेखों में यह भी कथित है कि उसने कावेरी क्षेत्रों (काकतिय), कर्नाटक तथा सिंहल देश के राजाओं पर विजय प्राप्तकर विजित राजाओं से हाथियों और रत्नों की भेटें वसूलीं। उसके तथा उसके बाद के समय में तीन सगे भाई पाण्ड्य राज्य पर साथ ही साथ शासन करते थे, जिस कारण मदुरै राज्य का स्वरूप एक सहराज्य का हो गया था। उनके नाम थे जटावर्मन् सुन्दर पाण्ड्य, जटावर्मन् वीरपाण्ड्य और मारवर्मन् कुलशेखर। संभवत: यह व्यवस्था मदुरै राज्य की तत्कालीन विशालता और उसकी शासन व्यवस्था को ठीक से चलाने हेतु की गयी थी। ये तीनों ही शासक अलग-अलग क्षेत्रों पर शासनस्थ थे।

इस समय पाण्ड्य सत्ता दक्षिण भारत की सिरमौर सत्ता बन चुकी थी। संयोग से उसके पश्चिमी तथा दक्षिणी तटों पर अनेक बन्दरगाह थे। उनके माध्यम से पश्चिम के अरब, अफ्रीकी और भूमध्यसागरीय देशों तथा दक्षिण-पूर्व के एशियायी द्वीपसमूहों के विभिन्न देशों से उसके बहुत निकट वाले व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हो गये थे। समुद्रवर्ती होने के कारण उसे अच्छे और बहुमूल्य समुद्री रत्नों की भरपूर प्राप्ति होती थी। इन दोनों के कारण उनके कोष अत्यन्त ही धन और रत्नसंपन्न थे।

१३वीं शताब्दी के अन्त में दक्षिण भारत की व्यापारिक यात्रा करने वाले वेनिस-निवासी मार्को पोलो तथा वसाफ जैसे मुसलमान यात्रिओं ने मदुरै राज्य के विदेशों से होने वाले व्यापार के अनेक रोचक विवरण दिये हैं। वे माबर (मलावार क्षेत्र) तथा कायल (कालीकट) को वहाँ के मुख्य बन्दरगाह स्थलों और व्यापारिक केन्द्रों के रूप में उपस्थित करते हैं। उस व्यापार का फैलाव वे रोम, भूमध्यसागरीय क्षेत्रों, अदन, होर्मुस्, किश, अरब और फारस तक पश्चिमी दिशा से भारतवर्ष के अनेक दक्षिणी नगरों और बन्दरगाहों तक बताते हैं। उनकी दृष्टि में माबर एक बड़ा भौगोलिक क्षेत्र था, जो उत्तर में नेल्लूर से लेकर दक्षिण में क्विलान् बन्दरगाह तक फैला हुआ था। इस क्षेत्र को उन्होंने पश्चिमी समुद्र के किनारे फैले हुए मलावार (मलय क्षेत्र) का पर्याय ही मान लिया था। माबर को

---

१. देखें पीछे 'मदुरै का पाण्ड्य राज्य' शीर्षक १२वाँ अध्याय; नीलकान्त शास्त्री, दि पाण्ड्यन् किंगडम्, पृष्ठ १२२ और आगे।

वे 'हिन्द की कुञ्जी'[१] कहते हैं। कैल (कालीकट) को वे भारतीय व्यापार का सबसे बड़ा गोदाम बताते हैं। मार्को पोलो के अनुसार पाण्ड्य शासक विदेशी व्यापारिओं को हर प्रकार की सुविधाएँ देते थे, उनसे न्यायपूर्वक व्यवहार करते थे और उन्हें अपने राज्य के बन्दरगाहों में आने के लिए प्रेरित करते थे।

पीछे हम कास्मस् इण्डिको प्लूयेस्टस् के उस विवरण का हवाला दे चुके हैं कि अरब देशों से दक्षिण भारत में जिस पशु का आयात सर्वाधिक संख्या में होता था, वह अरबी घोड़ा था। संस्कृत ग्रंथों में इसे ही वनायुज कहा गया है, जिसके उल्लेख कालिदास के समय से ही प्राप्त होते हैं। कायल का बन्दरगाह पाण्ड्य शासकों के समय का इन घोड़ों के आयात का प्रमुख स्थल था। वास्तव में सुन्दरवर्मन्, जटावर्मन् और मारवर्मन् नामक पाण्ड्य राजाओं की सैनिक और राजनीतिक शक्ति इतनी बढ़ गयी थी कि वे उत्तरी दिशा में आन्ध्र प्रदेश के नेल्लूर सहित काकतियों, चोड़ों और होयसड़ों के अपने सभी पार्श्ववर्ती क्षेत्रों को अपने साम्राज्य में समाहित करने लगे। फलतः, उन्हें इन सभी सत्ताओं से बारी-बारी से अनवरत युद्ध लड़ने पड़े। इन्हीं युद्धों की आवश्यकता के कारण उन्हें अपनी सेना में घुड़सवार टुकड़ियों की संख्याएँ बढ़ानी पड़ी होंगी। ट्रावनकोर से प्राप्त एक अभिलेख[२] में विदेशी घोड़ों के आयात का उनके व्यापारिओं सहित उल्लेख प्राप्त होता है।

मार्को पोलो किश, होर्मुस्, दोफर, सोयेर और अदन नामक स्थानों में रहकर भारतवर्ष से घोड़ों का व्यापार करने वाले उन अरब व्यापारिओं की धूर्तताभरी चालों और उसी मात्रा में पाण्ड्य राजाओं की बेवकूफी का एक मनोरंजक चित्र उपस्थित करता है। वह कहता[३] है कि वे व्यापारी हजारो घोड़ों को पाण्ड्य देश के चारों राजाओं (सहराजाओं) को प्रतिघोड़े ५०० संग्गी सोने के बदले बेंच तो देते हैं, किन्तु यह नहीं बताते हैं कि उन घोड़ों की देखरेख तथा उनके प्रशिक्षण कैसे किये जाँयेगे। फलतः वे बीमार पड़कर निकम्मे हो जाते हैं और हर साल मर जाते हैं। फिर भी मदुरै के एक शासक ने तो उनसे यह पक्का सौदा ही कर रखा था कि वह प्रत्येक वर्ष १४०० घोड़ों को प्रतिघोड़ा लाल सोने वाली २२० दीनारों के भाव से खरीदता रहेगा। किन्तु यहाँ की प्रतिकूल जलवायु, साइसों की मूर्खता और रख-रखाव का पूरा-पूरा गुर उन व्यापारिओं द्वारा न बताये जाने के कारण वे हमेशा मरते ही रहते थे। इन उल्लेखों से यह स्पष्ट है कि मदुरै के शासकों के पास समुद्री व्यापार और पास पड़ने वाले सामुद्रिक क्षेत्रों से प्राप्त रत्नों का इतना अधिक संचय था कि वे व्यर्थ की इन मूर्खताओं के प्रति जागरूक नहीं थे। इसी प्रकार की धन-सम्पत्ति

---

१. वसाफ, उद्धृत, नीलकान्त शास्त्री, दि पाण्ड्यन् किंगडम् पृष्ठ १६९।
२. ऐनुअल् रिपोर्टस् ऑन् एपिग्राफी, १९०७ का १६१।
३. देखें, नीलकान्त शास्त्री, दि पाण्ड्यन् किंगडम्, पृष्ठ १६९-१७०।

उस समय के अन्य दक्षिण भारतीय राज्यों-यादवों, काकतियों और होयसड़ों के पास भी थी। उसी धन-सम्पत्ति और रत्नों की ढेरों के लालच से दिल्ली के सुल्तान अलाउद्दीन खलजी ने अपने सिपहसालारों को उनपर आक्रमण करने हेतु बार-बार भेजा और विषम सन्धियों के माध्यम से उन्हें लूटते रहने की नीति अपनायी।

१२वीं-१३वीं शताब्दियों में अपनी राजनीतिक सत्ता के उच्चतम शिखर पर पहुँचने वाले काकतिय राज्य ने भी सामुद्रिक व्यापार में अत्यधिक रुचि ली। उसका शासक गणपतिदेव (११९९-१२६१ ई०) इस ओर सर्वाधिक रुचि रखने वाला शासक दिखायी देता है। वह जब राजगद्दी पर बैठा तो उत्तर-पूर्वी दिशा में समुद्री किनारों पर कई छोटे-छोटे सरदारों का अधिकार था। ये सरदार द्राक्षाराम, पीठापुरम्, श्रीकुर्मम् जैसे मुख्य समुद्रवर्ती क्षेत्रों पर काबिज थे[१]। उस समय समुद्री व्यापार के ये ही स्थान मुख्य पूर्वी केन्द्र थे। पहले ये सरदार चोड़ अधिसत्ता स्वीकार करते हुए अपने-अपने क्षेत्रों में अर्धस्वतंत्ररूप में थे। किन्तु बाद में उन सभी पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने वाला कोई मुख्य सरदार नहीं निकला। उन सरदारों में सर्वप्रमुख था वेलनाडु का पृथ्वीश्वर नामक सरदार। किन्तु वह भी उन छोटे-छोटे सरदारों पर अपना आधिपत्य स्थापित नहीं कर सका, जो गणपतिदेव के पक्ष में बढ़िया सुअवसर साबित हुआ। उसने इन सभी सरदारों को जीतकर, एक नीति के तहत, पुन: उन्हें अपने-अपने क्षेत्रों पर शासन करते रहने का अधिकार दे दिया। उसने आगे बढ़ते हुए वेजवाड़ा को अधिकृत कर लिया तथा उसकी सेनाएँ कृष्णा नदी के मुहाने पर स्थित दीवी द्वीप पर चढ़ गयीं। किन्तु वहाँ के शासक सरदार को अपनी अधिसत्ता स्वीकार कर लेने की कीमत पर उसने उसका वह समुद्री क्षेत्र भी लौटा दिया। इस प्रकार १२११ ई० तक वेलनाडु (पूर्वी समुद्र तट का क्षेत्र) उसकी प्रभावसीमा के भीतर पूरी तरह आ गया[२]।

गणपतेश्वरम् अभिलेख[३] में गणपतिदेव को चोड़, कलिंग, सेउण, वृहत्कर्ण, टक और लाट देश के राजाओं को दबाने का श्रेय दिया गया है। वहाँ यह भी कथित है कि उसने दीवी द्वीपसमूह सहित सारे वेलनाडु को अधिकृत कर लिया था। इनमें से कई राज्य या तो पश्चिम दिशा में अथवा पूर्व दिशा में समुद्रतटीय क्षेत्रों पर बसे हुए थे। व्यापारिक दृष्टि से उत्तर-पूर्व दिशा वाले कलिंग क्षेत्रों पर उसकी विजय का बहुत महत्त्व है। इस तथ्य की पुष्टि १५वीं शती में लिखे जाने वाले **शिवयागसार** नामक वीरशैवसिद्धान्ती ग्रंथ से भी होती है। उससे ज्ञात होता है कि गणपतिदेव के एक ही अभियान मात्र से वहाँ के तथा उसके पास वाले समुद्री क्षेत्रों के सभी प्रदेश उसके अधिकार में आ गये[४]। तथापि यह निर्णय निकाल सकना कठिन प्रतीत होता है कि क्या गणपतिदेव

---

१. याजदानी सं०, दि अर्ली हिस्ट्री ऑफ् दि डेकन, पृष्ठ ६०१।

२. एपि० इण्डिका, जिल्द ३, पृष्ठ ९१।

३. वहीं।

४. याजदानी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ६०८।

के ये उत्तर-पूर्वी धावे उसके लिए कोई स्थायी लाभ देने वाले सिद्ध हुए अथवा वे कोरे सैनिक धावों के रूप में ही आये और समाप्त हो गये ।

गणपतिदेव की सैनिक विजयों की अपेक्षा उसके आर्थिक और व्यापारिक योगदानों का अधिक महत्त्व है । प्रशासन और आर्थिक समृद्धि में उसकी विशेष रुचि थी । उसका मोतुपल्ली अभिलेख इस बात की सूचना देता है कि आसपास के छोटे-छोटे सरदारों वाले क्षेत्रों में व्यापारी लोग बहुत ही उत्पीड़ित थे । वे सरदार क्षेत्रीय बन्दरगाहों में आने वाले व्यापारिक जहाजों के माल पर बहुत ही अधिक कर लगाकर उनके व्यापार को ही चौपट करने में लगे हुए थे । फलतः, व्यापारिओं के मुनाफे कम हो जाते थे । साथ ही, यदि व्यापारी लोग उन करों को चुका नहीं पाते थे तो वे सरदार उनका सारा माल ही जब्त कर लेते थे । गणपति ने इन सारे नाजायज़ क्रिया-कलापों को बन्द कर दिया; बन्दरगाहों में आने वाले व्यापारिओं को अनेक छूटें और सुविधाएँ दीं तथा उनके माल और जीवन की सुरक्षा का पूरा प्रबन्ध किया । इससे उसके राज्य की व्यापारिक आय उसी प्रकार बढ़ी होगी, जैसे मदुरै के शासकों द्वारा विदेशी व्यापारिओं को दी गयी अनेक सुविधाओं के कारण उनको भरपूर आय होने लगी थी । साधारण जनता को भी अनेक लाभ हुए होंगे । यह भी निश्चित सा लगता है कि इन उपक्रमों के कारण नये-नये व्यापारिक नगरों और केन्द्रों की संख्या और उनके कारोबार में वृद्धि हुई होगी । यह भी निश्चित है कि व्यापार की उन्नति से कृषिक उन्नति भी प्रभावित हुई होगी और उसमें विकास हुआ होगा ।

●

विशेष शब्दार्थिका

अक्करिवृत्ति	अक्षरज्ञान कराने वाले अध्यापक को भूमिरूप में दी जाने वाली वृत्ति (वेतन)।
अग्रहार (ब्रह्मदेय, ब्रह्मदाय)	ब्राह्मणों को दी गयी करमुक्त दानभूमि; दान में दिये गये करमुक्त ग्राम।
अन्तराल	गर्भगृह और मुख्य मण्डप को जोड़ने वाला सम्पर्क मार्ग।
अवभृथ स्नान	यज्ञ के बाद सर्वदानोपरान्त किया जाने वाला स्नान।
अन्त:पुराध्यक्ष (अन्त:पुर।धिकारिन् अथवा भाणसवरगड़े (कर्नाटक में)	अन्त:पुर की देख-रेख का अधिकारी।
अष्टभद्र	होयसड़ मंदिरों की गुम्बदों पर दिखायी देने वाली लम्बी-लम्बी धारियाँ, जो सभी ओर से अठपहली दिखायी देती हैं।
आलवार (आड़वार)	दक्षिण भारत के वैष्णव संतों का पन्थ।
आणत्ति	चोड़ राजाओं के दानसम्बन्धी आदेशों या शासनों (श्रीमुख से निकली आज्ञाओं) को नीचे के अधिकारिओं तक पहुँचाने वाला अधिकारी।
आप्तपुरुष	सूचना देनेवाला विश्वस्त अधिकारी = दूतक।
आज्ञप्ति	पाण्ड्य शासकों के मौखिक आदेश।
ईति	प्राकृतिक उपद्रव (कृषि के लिए शत्रुरूप); ईतियाँ छह बतायी गयी हैं–अतिवृष्टि, अनावृष्टि, चूहों के उपद्रव, टिड्डीदल, सुग्गे और युद्धजनित उपद्रव।
उर	तमिल देश की अब्राह्मण ग्रामों की ग्रामसभा।
एकभोग	केवल एक ब्राह्मण को अकेले भोग हेतु दिया गया भूमिदान।
एड़ादि	चोड़ शासन में प्रचलित एक सैनिक विरुद।
कण्ठिका	माला, गले का वह कण्ठहार जो राजत्वसूचक रूप में नवाभिषिक्त राजा को पहनाया जाता था।

कुडमै (कुडिमै)	चोड़कालीन साधारण करों का नाम ।
कडिगैमाराधन	चोड़कालीन प्रशासन का बड़ा अधिकारी ।
कीर्त्तिस्तंभ	विजयस्वरूप स्थापित किया जाने वाला प्रस्तरस्तम्भ, जिसमें प्राय: विजयों के विवरण रहते थे ।
कोट्टम्	वलनाडु के नीचे की प्राशासनिक इकाई ।
गर्भगृह	मंदिर के बीचोबीच सर्वमुख्य देवता का प्रतिष्ठा स्थान ।
गरुणसेना	यादव और होयसड़ राजाओं के व्यक्तिगत अंगरक्षकों की सेना (उनका दल) । इन अंगरक्षकों को लेंक अथवा अलंकार (अंगकार) भी कहा जाता था ।
गुहामंदिर	पहाड़ों को काटकर उनकी गुहाओं में बने हुए मंदिर ।
ग्रामिक, ग्रामणी, ग्रामपति, ग्रामकूट, महत्तर, ग्रामकूटक, गाउण्ड	ग्राम शासन के प्रधान के अलग-अलग माम । प्रथम तीन पदनाम उत्तर भारत में और दक्षिण भारत में और शेष दक्षिण भारत में प्रचलित ।
घटिका (घट्टिका)	शास्त्रों का अध्यापन कराने वाले विद्यालय ।
चूड़िवारम्	ग्राम से प्राप्त राजस्व का वह भाग जो ग्रामकार्यों हेतु ग्राम में ही रख लिया जाता था ।
जीवित	सैनिक सेवा के बदले दी गयी करमुक्त भूमि ।
तलवृत्ति (स्थलवृत्ति)	मंदिर या किसी धार्मिक स्थान (स्थल) को दी गयी करमुक्त भूमि (वृत्ति = भोग भूमि) ।
त्रिवर्ग	धर्म, अर्थ और काम
तोरण	मंदिर का मुख्य द्वार । इसे गोपुर भी कहते थे । इसके ऊपर भी चारों ओर प्रकोष्ठ बने रहते थे ।
दण्डनायक, प्रचण्डदण्डनायक, महाप्रचण्डदण्डनायक, सेनापति, बलाधिकृत	मुख्य सेनापति अथवा बड़ा सेनाधिकारी ।
दूतक (इसे लेखक भी कहते हैं)	राजाज्ञाओं (शासनों) को लिखने वाला अधिकारी ।
देवदाय, देवदेय, देवदान	मंदिर को दान में दी हुई करमुक्त भूमि ।
देवदासी	मंदिरों की सेवा में लगी स्त्रियाँ, नर्तकियाँ अथवा गायिकाएँ ।
नगरम् (निगमम्)	नगरों अथवा बाजार-हाटों की स्थानीय संस्थाएँ, नगर सभाएँ ।

नवरंग	मंदिर के भीतरी भाग वाला स्तम्भों सहित निर्मित हाल।
नगरसेट्टि	नगर संस्था का प्रधान।
नायनार	दक्षिण भारत के शैवसंत-शैवपन्थ।
नाडु (कोट्टम्, कुर्रम्)	वलनाडु से छोटी प्राशासनिक इकाई। इसे कभी-कभी कोट्टम् अथवा कुर्रम् भी कहा जाता था।
निगम	बाजार-हाटों वाले नगरों की प्राशासनिक सभा।
प्रकृति	साधारण प्रजा अथवा राज्य के निर्माणक सात तत्त्व (सप्त प्रकृतियाँ)।
प्रदक्षिणा मार्ग	मंदिर में गर्भगृह (प्रधान देवता के प्रतिष्ठास्थल) के बाहर वाला चतुर्दिक् प्रदक्षिणा करने का मार्ग। होयसड़ मंदिरों में गर्भगृह के पास प्रदक्षिणा मार्ग नहीं बनाया जाता था। उनमें वह मंदिर के एकदम बाहरी भाग में उसके बाहरी चबूतरे के चारों ओर बनता था।
पञ्चप्रधान	होयसड़ राज्य का वह मंत्रिसमूह, जो पाँच विभागों में पाँच मंत्रिओं के अधीन काम करता था।
पलगई	यालि के शीर्षभाग पर बना हुआ शीर्षफलक।
पट्टन (पट्टनस्वामी)	समुद्रीनगर या बन्दरगाह। उसकी शासनव्यवस्था के प्रधान को पट्टनस्वामी कहा जाता था।
पालिध्वज	राज्यलक्ष्मी के प्रतीक वाली राज्यपताका।
प्राकार (परकोटा)	मंदिरों के बाहर बनायी जाने वाली विशाल चाहरदीवारी।
प्राड्विवाक	न्यायमंत्री अथवा मुख्य न्यायाधीश।
परिहार	राजकीय करों से मुक्ति के विवरण।
पुरोहित (धर्माचार्य, धर्मांकुश)	धार्मिक तथा याज्ञिक कार्यों में राज्य का प्रमुख परामर्श-दाता।
पुर (पुरपति, नगरपति अथवा नागरक)	नगर शासन का प्रधान। पुर को पेट भी कहा जाता था।
बहत्तर या बाहत्तर नियोगाधिपति	होयसड़ और काकतिय राज्यों में यह एक बड़ा शासनाधिकारी था, जो अकेले ७२ विभागों की देखरेख करता था।

ब्रह्मदेय-ब्रह्मदाय, ब्रह्मदान अथवा अग्रहार	ब्राह्मणों को दिये गये वे भूमिदान (ग्रामदान) जो राजकीय करों से मुक्त थे ।
बसति, वसति, बसडि	जैनमंदिर, मठ अथवा स्थल ।
ब्रह्मक्षत्र	वे क्षत्रिय राजवंश, जिनके पूर्वज ब्राह्मण थे । किन्तु उन्होंने ब्राह्मण कर्म त्यागकर क्षत्रिय कर्म अपना लिया था ।
भट्टवृत्ति	शास्त्रों को पढ़ाने वाले अध्यापकों को दी जाने वाली वृत्ति (प्राय: करमुक्त भूमि) ।
भाण्डागारिक	राजकीय भण्डारों का अधिकारी । अर्थशास्त्र में इसे सन्निधाता कहा गया है । किन्तु शिलाहारवंशी अभिलेखों में वर्णित भाण्डगारिक अर्थशास्त्र का समाहर्ता प्रतीत होता है ।
भाग (बलि)	भूमि की उत्पत्ति (कृषि) पर आमतौर से १/६ भाग में लिया जाने वाला राजकीय भूमिकर ।
भुक्ति	राष्ट्रकूट काल में यह विषय (जिले) से नीचे की शासकीय इकाई थी । गुप्तकाल तथा हर्ष के समय तक भुक्ति प्रान्तों की बोधक थी ।
मण्डल	पल्लव और चोड़ शासन में प्रान्तों को मण्डल कहा जाता था । इसका प्रधान माण्डलिक अथवा मण्डलेश्वर (महामण्डलेश्वर) कहा जाता था ।
मण्डप	गर्भगृह के आगे बना हुआ मंदिर का विशाल बरामदा (हाल) जो स्तम्भों पर टिका होता था ।
मणरम्	तमिल प्रदेश की अत्यन्त प्राचीन ग्रामसभा का नाम मणरम् था । वास्तव में मणरम् का अर्थ होता है वटवृक्ष । चूंकि उन वृक्षों के नीचे ही ग्रामसभा की बैठकें होती थीं, अत: उसका नाम भी मणरम् हो गया ।
महाजन	ग्रामसभा के साधारण सदस्य, जो अपने-अपने परिवारों का प्रतिनिधित्व करते थे ।
मात्स्यन्याय	वह न्याय (नियम) जो मछलियों में प्रचलित है । जैसे पानी में बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है, वैसे ही शक्तिशाली पुरुष जब कमजोरों को समाप्त

	करने लगते हैं तो वही मात्स्यन्याय (लॉ ऑफ् दि फिश) = अराजकता की स्थिति कहलाती है ।
महाक्षपटलिक, अक्षपटलिक, शासनाधिकारिन्, श्री करणाधिप	सरकारी कागजपत्रों को रखने वाले दफ्तर का प्रधान अधिकारी । ये अलग-अलग पदनाम एक ही अधिकारी के बोधक हैं ।
मुखनाशी	मंदिर के सामने वाले बरामदे (मण्डप) की छोटी सी ड्यौढ़ी ।
मुखमण्डप	कुछ मंदिरों में कई मण्डप होते थे । मुखमण्डप वह हाल था, जो मंदिर में घुसते ही उसके बाहर वाले भाग में होता था ।
मेलावारम् तथा चूड़िवारम्	ग्रामों से प्राप्त होने वाले राजकीय राजस्व का वह भाग जो पूरा-पूरा केन्द्रीय शासन को भेज दिया जाता था । इसे मेलावारम् कहा जाता था । इसके विपरीत ग्रामकार्यों (ग्रामकार्यम्) हेतु कुछ भाग रख लिया जाता था, जिसे चूड़िवारम् कहा जाता था ।
यालि	द्राविड़ शैली में बने हुए मंदिरों के स्तम्भ ।
युक्तक, नियुक्तक, आयुक्तक	राजकीय दफ्तरों के लेखक (कायस्थ, क्लर्क) ।
राजपण्डित (विद्याचक्रवर्ती)	राज्य का प्रधान विद्वान् या पण्डित ।
राष्ट्र	राष्ट्रकूट राज्य में प्रांतों को राष्ट्र कहा जाता था । इसका प्रधान राष्ट्रपति कहा जाता था । चोड़ राज्य में प्रान्तों को मण्डल कहा जाता था ।
लेंक (अंककार अथवा गरुण)	यादव और होयसड़ राज्यों के राजाओं के वे व्यक्तिगत अंगरक्षक जो हर दशा में अपनी जान की बाजी लगाकर भी उनकी रक्षा करते थे ।
विषय	जिले जैसी प्रशासकीय इकाई । इसका प्रधान विषयपति कहा जाता था ।
वेड्ड़र (वेल्लर)	वे कृषिविहीन स्थानीय श्रमिक अथवा थोड़ी जमीन वाले काश्तकार, जो ग्रामदान प्राप्तकर्ता ब्राह्मणों के खेतों में पारिश्रमिक लेकर उनकी खेती का काम करते थे । वे प्राय: शूद्रजातीय थे ।
सत्र (अन्नसत्र = सत्रालय)	प्राय: मंदिरों से सम्बद्ध वे स्थान, जहाँ छात्रों, भिक्षुओं,

	साधु-सन्यासिओं और यायावर लोगों को मुफ्त भोजन मिलता था ।
सभा (ब्राह्मण सभा)	ब्राह्मण ग्रामों की ग्रामसभा ।
सहगमन	होयसड़ राजाओं के व्यक्तिगत अंगरक्षक उसकी मृत्यु के बाद स्वयं भी उसकी ही चिता पर जलकर आत्महत्या कर लेते थे । इसे सहगमन कहा जाता था ।
स्कन्धावार (महास्कन्धावार)	सैनिक शिविर ।
संवत्सरवारियम्	बाह्मण ग्रामसभाओं की वह उपसमिति, जिसका कार्यकाल केवल एक वर्ष का होता था ।
सांधिविग्रहिक (महासांधिविग्रहिक)	शान्तिकाल और युद्ध के समय अन्तरराज्यीय सम्बन्धों को देखने वाला मंत्री । राजा के मौखिक शासनों (आदेशों) को भी वही लिखता था ।
स्थिरभूतकटक	स्थायी सेना ।
सिद्धादाय	राजकीय करों का सामूहिक नाम ।
शासनम्	राजा के मौखिक आदेश ।
श्रेणी	एक से अधिक आजीविका-साधनों में लगे हुए, अनेक जातियों के, लोगों का व्यावसायिक संघ ।
वारियम्	चोड़कालीन ब्राह्मण ग्रामसभाओं की उपसमितियाँ ।
विष्टि	बेगार ।
विमान	मंदिर
विनियोग (ग्रामविनियोगम्)	ग्राम कार्यों हेतु अलग किया गया धन (बजट के विभिन्न मदों के लिए निश्चित धन) ।
व्यवस्था	ग्रामसभाओं अथवा मंदिरों के आधिकारिक प्रस्ताव ।

●

ग्रंथसूची

शोध पत्रिकाएँ

इण्डियन् इकोनॉमिक ऐण्ड सोशल रिव्यू	दिल्ली, १९६४ से
इण्डियन् ऐण्टीक्वेरी (इऐ०)	
इण्डियन् हिस्टॉरिकल् रिव्यू	दिल्ली, १९७४ से
एपिग्राफिया इण्डिका	आर्केलॉजिकल् सर्वे ऑफ् इण्डिया, कोलकाता और दिल्ली, १८९२ से।
एपिग्राफिया कर्नाटिका	मैसूर आर्केलॉजिकल् डिपार्टमेण्ट, मैसूर, मद्रास और बंगलोर, १९१४ से १९५५ तक।
ऐनुअल् रिपोर्टस् ऑन् साउथ इण्डियन् एपिग्राफी	आर्केलॉजिकल् सर्वे ऑफ् इण्डिया, मद्रास (चेन्नई), १८८७ से।
कर्नाटक इन्स्कृप्शन्स्	सं० पञ्चमुखी, कई जिल्दों में।
जर्नल् ऑफ् दि आन्ध हिस्टॉरिकल् रिसर्च सोसायटी	राजमुहन्द्री, १९२६ से।
बाम्बे कर्नाटक इन्स्कृप्शन्स्	---
साउथ इण्डियन् इन्स्कृप्शन्स्	सं० हुल्टज़्, वैंकेय्या तथा अन्य लोगों द्वारा सम्पादित, कई जिल्दों में।

मूल ग्रंथ

कलिंगत्तुप्परणि	जयगोण्डार
पेरियपुराणम्	शेक्किलार
मानसोल्लास	सोमेश्वर, बड़ौदा संस्कृत सीरिज से प्रकाशित, ४ खण्डों में।
विक्रमांकाभ्युदय	सोमेश्वर, (अभी तक केवल पाण्डुलिपियों में)
विक्रमांकदेवचरित	बिल्हण, बूह्लर संपादित-१८७५

	सं० विश्वनाथ शास्त्रि भारद्वाज, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, सं० रामेश्वर शर्मा, वाराणसी १९२७
विक्रमार्जुनाभ्युदयकाव्य	लुई राइस् द्वारा संपादित, बिब्लियोथिका कर्नाटिका से प्रकाशित १९१८।

आधुनिक ग्रंथ

अल्तेकर अनन्त सदाशिव	दि राष्ट्रकूटज़् ऐण्ड देयर टाइम्स्, पूना, १९३३।
	स्टेट ऐण्ड गवर्नमेण्ट इन् ऐंशियेण्ट इण्डिया, मोतीलाल बनारसीदास, १९५८
	विलेज कम्यूनीटिज़् इन् वेस्टर्न इण्डिया।
इलियट ऐण्ड डाउसन्	हिस्ट्री ऑफ् इण्डिया ऐज़् टोल्ड बाई इट्स् ओन् हिस्टोरियन्स्, जिल्द १-४। पुनर्मुद्रित।
उपाध्याय वासुदेव	प्राचीन भारतीय स्तूप, गुहा एवं मंदिर, पटना, १९७२।
कुमारस्वामी ए० के०	हिस्ट्री ऑफ् इण्डियन् ऐण्ड इण्डोनेशियन् आर्ट, डोवर, १९२६।
कोल्हो	होयसड़वंश, १९५२।
कृष्णराव बी ह्वी०	ए हिस्ट्री ऑफ् दि अर्ली डाइनेस्टीज़ ऑफ़् आन्ध्रदेश।
गांगुली दिनेशचन्द्र	दि ईस्टर्न चालुक्यज़्।
गोपालन् आर्	हिस्ट्री ऑफ् दि पल्लवज़् ऑफ् काञ्ची।
घोषाल उपेन्द्रनाथ	हिन्दू रेवेन्यू सिस्टम, कोलकाता, १९२९
डुब्रियल् जोबिओ जी०	ऐंश्येण्ट हिस्ट्री ऑफ् डेखन, कास्मो पब्लिकेशन्, १९२०, पुनर्मुद्रित १९८०
	दि पल्लवज़् ऑफ् काञ्ची
डेरेट जे० डंकन् एम्	दि होयसड़ज़्, ऑक्सफोर्ड, १९५७।
थापर रोमिला–संपादित	रीसेण्ट पर्सपेक्टिवस् ऑफ् अर्ली इण्डियन् हिस्ट्री, पेंगुइन १९९५; हिस्ट्री ऑफ् अर्ली इण्डिया, पेंगुइन, २००२।

देसाई पी० बी० — ए हिस्ट्री ऑफ् कर्नाटक, कन्नड़ रिसर्च इन्स्टीट्यूट, धारवाड़, १९७०।

पाठक विशुद्धानन्द — उत्तर भारत का राजनीतिक इतिहास, लखनऊ, १९७३।

पाठक विश्वंभर शरण — प्राचीन भारतीय आर्थिक संस्कृति, लखनऊ, २००५ ऐंश्येण्ट हिस्टोरियन्स् ऑफ् इण्डिया, एशिया पब्लिशिंग हाउस।

भण्डारकर रामगोपाल — दि अर्ली हिस्ट्री ऑफ् दि डेकन, बाम्बे, १८९५, पुनर्मुद्रित, सुशील प्रकाशन १९५७।

बैशम ए० एल्० — दि वण्डर दैट वाज़् इण्डिया, लण्दन

मजूमदार र० च० और पुसालकर अ० द० — दि क्लासिकल् एज़्, मुम्बई;
दि एज् ऑफ् इम्पीरियल् कनौज, मुम्बई
दि स्ट्रगल फॉर इम्पायर मुम्बई।

महालिंगम् टेरलिण्डु वेंकटराव — साउथ इण्डियन् पॉलिटी, मद्रास, १९५५
काञ्चीपुरम् इन् अर्ली साउथ इण्डियन् हिस्ट्री, एशिया पब्लिशिंग हाउस, १९५८।

मीनाक्षी सी० — ऐडमिनिस्ट्रेशन् ऐण्ड सोसायटी अण्डर दि पल्लवज़्,

नोबोरू करसिंग — साउथ इण्डियन् हिस्ट्री ऐण्ड सोसायटी, नयी दिल्ली, १९८४।

पिल्लई कनकसभाई — तमिलस् १८०० ईयर्स् एगो

फ्लीट जॉन फेथफुल — अर्ली डाइनेस्टीज़् ऑफ् दि कनारीज़् डिस्ट्रिक्ट्स् ऑफ् दि बाम्बे प्रेसीडेन्सी।

फर्ग्युसन् जेम्स् — हिस्ट्री ऑफ् इण्डियन् ऐण्ड ईस्टर्न आर्किटेक्चर।

याजदानी गुलाम–सम्पादित — दि अर्ली हिस्ट्री ऑफ् दि डेकन, दो जिल्दों में, ऑक्सफोर्ड, १९६०।

राइस् लुई — माइसूर ऐण्ड कुर्ग फ्रॉम् इन्स्कृप्शन्स्, १९०९।

वाटर्स् टॉमस्	ऑन् युवान्-च्वाङ्गस् ट्रैवेल्स् इन् इण्डिया, जिल्द २, १९०५, लण्दन ।
विल्सन् एच्० एच्०	ए ग्लोसरी ऑफ् जुडिशियल् ऐण्ड रेवेन्यू टर्म्स्, लण्दन, १८५५, पुनर्मुद्रित १९६८ ।
वेंकटकृष्णराव भवराजु	ईस्टर्न चालुक्यज़् ऑफ् वेंगी, हैदराबाद, १९७३ ।
वेंकटरमनैय्या एन्	दि ईस्टर्न चालुक्यज़् ऑफ् वेंगी, १९५०
सरकार दिनेशचन्द्र	सक्सेसर्स ऑफ् सातवाहनज़्
स्मिथ विण्सेण्ट	दि अर्ली हिस्ट्री ऑफ् इण्डिया, चतुर्थ संस्करण ।
सेट्टि वसन्था	स्टडीज़् इन् कर्नाटक हिस्ट्री
शास्त्री नीलकान्त ए० के० एन्०	दि चोड़ज़्, मद्रास, १९५५
	स्टडीज इन चोड़ हिस्ट्री ऐण्ड ऐडमिनिस्ट्रेशन्, १९३२
	फॉरेन् नोटिसेज़् ऑफ् साउथ इण्डिया, १९३९
	ए हिस्ट्री ऑफ् साउथ इण्डिया, (हिन्दी अनुवाद, पटना) १९७२ ।
	दि पाण्ड्यन् किंगडम्, मद्रास, १९७२ ।
हर्थ एफ़् ऐण्ड राकहिल डब्ल्यू०डब्ल्यू०	चाऊ-कु-जुआ, सेंटपीटर्सबर्ग, १९११ ।